कल्याण
वर्ष
१२
अङ्क
४

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियराम ॥

रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥

जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण ५६६००]

वार्षिक मूल्य
भारतमें ४≡)
विदेशमें ६॥≡)
(१० शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।)
विदेशमें ।≡)
(८ पेंस)

Edited by Hanumanprasad Poddar.
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur (India)

॥ श्रीहरिः ॥

कल्याण-प्रेमियों तथा ग्राहकोंसे नम्र निवेदन

मानसांककी पहले संस्करणमें ४०६०० प्रतियाँ छापी गयी थीं, और उस समय ऐसा ही समझा गया था कि दुबारा छपनेकी प्रायः सम्भावना नहीं है। कारण, बहुत भारी घाटा देकर ही अंक छापा गया था परन्तु सब अङ्क बहुत जल्दी समाप्त हो गये और तीन हजारके लगभग पुराने ग्राहकोंको वी० पी० भेजनी रह गयीं, तब खर्चका खयाल छोड़कर लाचार होकर पुनः १०५०० प्रतियोंका दूसरा नया संस्करण छापा गया है। इसमेंसे लगभग ५००० प्रतियाँ जा चुकी हैं।

ग्राहक बनने-बनानेवाले प्रेमियोंकी सेवामें नम्र निवेदन है कि बहुत शीघ्र रुपये भेजकर ग्राहक बन जायँ।

व्यवस्थापक—कल्याण, गोरखपुर

कल्याण कार्तिक संवत् १९९५ की

विषय-सूची

नन्दकुमार

रे मन क्यों भटकत फिरे भज श्रीनंदकुमार ।
नारायण अजहूँ समुझ भयो न कछू बिगार ॥

श्रीहरिः

* कल्याण *

[भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र]

वर्ष १३

सं० १९९५-९६ की

निबन्ध-सूची, कविता-सूची तथा चित्र-सूची

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार

प्रकाशक—घनश्यामदास जालान

कल्याण-कार्यालय

गीताप्रेस, गोरखपुर ।

वार्षिक मूल्य ४=)
विदेशोंके लिये ६।।=)

प्रति संख्या ।)

क—

कल्याणके आगामी विशेषाङ्क—**श्रीगीतातत्त्वांकके**—एक बहुरंगे चित्रका इकरंगा नमूना

भगवान् सर्वमय
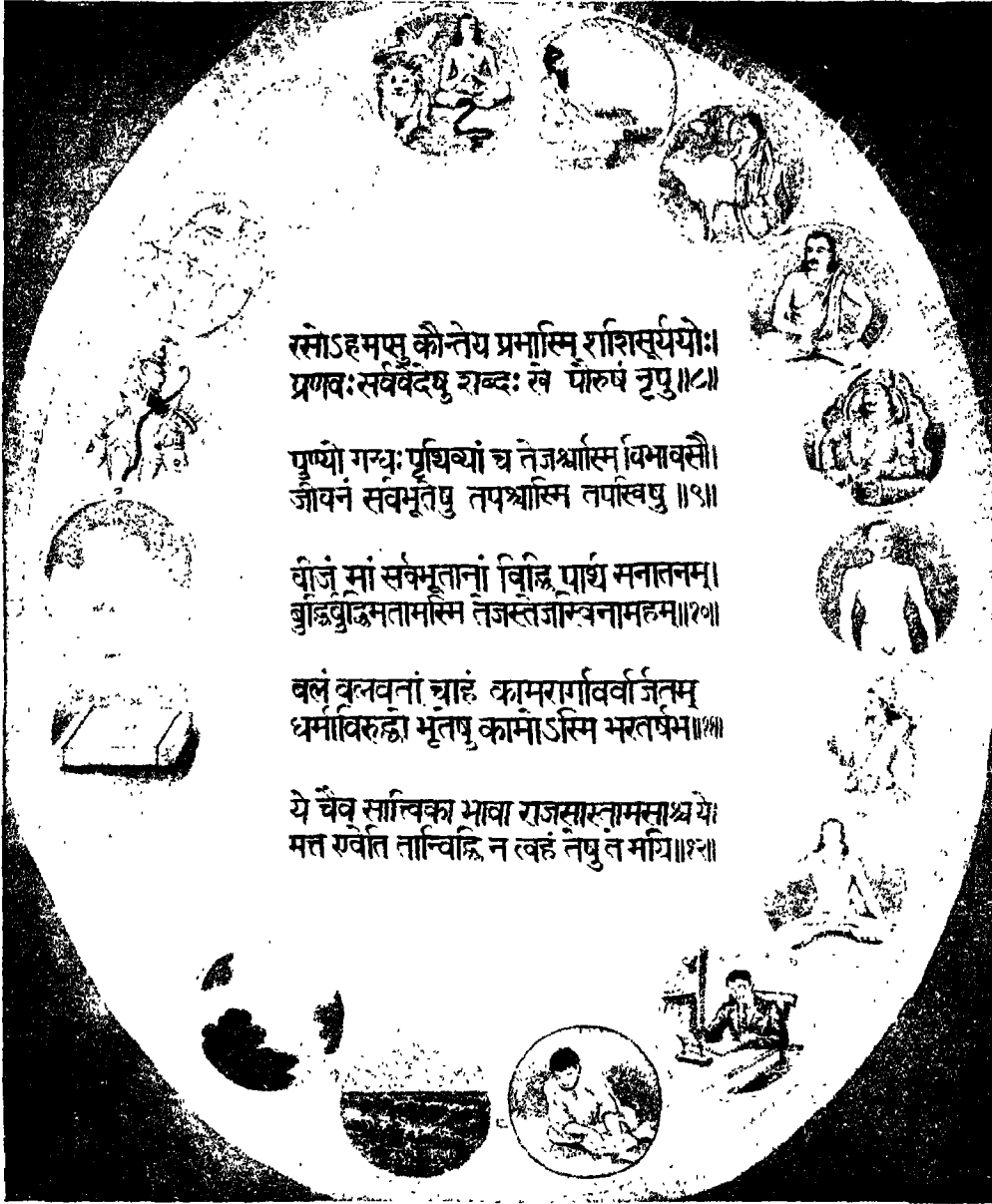
मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय । मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ (७ । ७)

इसमें रंगीन-सादे सैकड़ों चित्र, श्रीमद्भगवद्गीताकी सविस्तार टीका और संत-महात्माओंके अनुभवपूर्ण लेख रहेंगे। अङ्क बहुत ही सुन्दर, सुपाठ्य और संग्रहणीय होगा।

श्रीगीतातत्त्वांकसहित पूरे सालका वार्षिक मूल्य है केवल ४=) । आप ग्राहक बनिये और अपने मित्रोंको बनाइये ।

"कल्याण"—गोरखपुर

श्रीहरिः

कल्याणके तेरहवें वर्षकी लेख-सूची

पद्य-सूची

चित्र-सूची

सुनहरे

बहुरंगे

दुरंगे (सिल्हौटा)

दुरंगे (सुनहरी)

इकरंगे

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्गं सीतासमारोपितवामभागम् ।
पाणौ महासायकचारुचापं नमामि रामं रघुवंशनाथम् ॥

वर्ष १२ } गोरखपुर, कार्तिक १९९५, नवम्बर १९३८ { संख्या ४
पूर्ण संख्या १४८

मनुष्य-शरीरका लाभ

लाभ कहा कंचन तन पाये ।
भजे न मृदुल कमल-दल-लोचन
दुखमोचन हरि हरषि न ध्याये ॥
तन मन धन अरपन ना कीन्हों
प्रान प्रानपति गुननि न गाये ।
जोबन, धन, कलधौत धाम सब
मिथ्या आयु गँवाय गँवाये ॥
गुरुजन गरब बिमुख-रँग-रात,
डोलत सुख संपति बिसराये ।
ललितकिसोरी मिटै ताप ना
बिनु दृढ़ चिंतामनि उर लाये ॥

—ललितकिशोरीजी

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी महाराज)

[श्वेताश्वतरोपनिषद्]

[मणि ११]

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निर्मलं परमामृतम् ।
अनन्तं जगदाधारं वन्देऽहं परमेश्वरम् ॥

छप्पय-देव एक अद्वैत, करण बिनु कर्ता धर्ता ।
सब भूतोंमें गूढ, विश्वपोषक संहर्ता ॥
सबका अपना आप, बुद्धि वृत्तिनका साक्षी ।
शुद्ध, बुद्ध, निर्मुक्त, नित्य अच्युत अविनाशी ॥
भोला ! मन कर निर्विषय, कुछ भी मत कर ध्यान रे ।
आप आपमें लीन हो, यदि चाहे कल्यान रे ॥

डोरूशंकर—हे देवी ! आपने याज्ञवल्क्य और मैत्रेयीका जो संवाद सुनाया, उसे सुनकर मुझे अत्यन्त शान्ति प्राप्त हुई, अबतक जो कुछ मैंने सुना है, उससे यह सिद्ध होता है कि सब वेदवेत्ता चेतन ब्रह्मको जगत्का कारण मानते हैं । वेदवेत्ताओंके सिवा जो लोग अन्य विद्याओंमें कुशल हैं, वे ब्रह्मको जगत्का कारण नहीं मानते किन्तु ब्रह्मसे अन्यको ही अपने-अपने मतानुसार जगत्का कारण मानते हैं । क्या वेदवेत्ताओंने कभी अन्य कारणोंका भी विचार किया है ? यदि किया है, तो अन्य कारणोंको किस युक्तिसे उन्होंने कारण नहीं माना और अन्तमें ब्रह्मको ही क्यों कारण माना है ? अन्य सब कारणवादियोंके मतसहित मैं ब्रह्मकारणवादियोंका मत सुननेकी इच्छा करता हूँ ।

देवी-(प्रसन्न होकर) हे वत्स ! इस सम्बन्धमें मैं तुझे श्वेताश्वतर नामक ऋषि और संन्यासियोंका संवाद सुनाती हूँ, ध्यान देकर सुन—

श्वेताश्वतर और संन्यासियोंका संवाद

पूर्वकालमें श्वेताश्वतर नामक एक ऋषि थे । चिरकालतक तप करनेसे उनके पाप नष्ट हो गये थे । एक समय उन ऋषिके आश्रममें बहुतसे महात्मा संन्यासी एकत्र हुए, सब संन्यासियोंकी तरफसे एक संन्यासी श्वेताश्वतर ऋषिसे इस प्रकार कहने लगा—

संन्यासी—हे वेदशाखाके प्रवर्तक मुनि ! आपका कल्याण हो ! हम अतिथि संन्यासी आपके आश्रममें भिक्षा माँगने आये हैं । आप कृपा करके हमको ब्रह्मविद्यारूपी भिक्षा दीजिये । जो ब्रह्मविद्या आपको ब्रह्माजीके उपदेशसे प्राप्त हुई है, उस ब्रह्मविद्याको हम सब संन्यासी सुनना चाहते हैं, कृपया हमको ब्रह्मविद्याका श्रवण कराइये, जिसके सुननेसे हमारे संशयकी निवृत्ति हो । भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंमें जगत्के भिन्न-भिन्न कारण माने गये हैं, इसलिये बहुत दिनोंसे इस सम्बन्धमें हम सबमें विवाद होता चला आ रहा है, अभीतक हम किसी एक निश्चयपर नहीं पहुँच सके हैं । हमने सुना है कि इस लोकमें यजुर्वेद शाखाके प्रवर्तक आप पापरहित हैं, ब्रह्माके समान सब शास्त्रोंके ज्ञाता हैं, निष्पक्ष हैं और शत्रु, मित्र तथा पुत्रमें समान बुद्धिवाले हैं, जो सिद्धान्त आपने अङ्गीकार किया है, वही हम सबको स्वीकार करना चाहिये, ऐसा निश्चय करके हम आपके पास आये हैं । आप हमारा संशय दूर कीजिये और हमको ब्रह्मविद्याका उपदेश दीजिये ।

जब संन्यासियोंने ऐसा प्रश्न किया तो श्वेताश्वतर मुनि इस प्रकार कहने लगे—

श्वेताश्वतर-हे संन्यासियो ! जैसे जगत्का कारण विचारनेके लिये तुम एकत्र हुए हो, इसी प्रकार पूर्वमें किसी समय किसी एक देशमें किसी विशेष निमित्तसे सम्पूर्ण वेदवेत्ता ब्राह्मण एकत्र

हुए थे। उनमें कुछ तो ब्रह्मविद्यामें कुशल थे और कुछ अन्य विद्याओंमें। सब अज्ञानी जीवोंका उद्धार करनेके लिये ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण अन्य ब्राह्मणोंसे इस प्रकार कहने लगे—

ब्रह्मवेत्ता—हे ब्राह्मणो! इस समाजमें हम सबको ऐसा कोई विचार करना चाहिये, जिससे सब लोगोंका उपकार हो। लौकिक कथाओंसे चित्तमें विक्षेप होता है, उन विक्षेप करनेवाली लौकिक कथाओंको छोड़कर यदि हम वेदवचनका विचार करेंगे तो अज्ञानी जीवोंपर उपकार होगा। वेद-विचारके सिवा अन्य किसी प्रकारसे भी अज्ञानी जीवोंका कल्याण होना सम्भव नहीं है, इसलिये लोकोपकारकी प्रीतिवाले हम सबको जगत्के कारणके सम्बन्धमें विचार करना चाहिये।

हे संन्यासियो! यह बात सुनकर सब सभासद् बहुत प्रसन्न हुए और सबने मिलकर जगत्का कारण सुननेके लिये ब्रह्मवेत्ताओंसे अपनी इच्छा प्रकट की। तब ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण उन सब ब्राह्मणोंको तर्कमें कुशल देखकर अनेक प्रकारकी युक्ति-प्रयुक्तियोंसे उन्हें जगत्का कारण समझाने लगे—

कारण बिना कार्य

ब्रह्मवेत्ता—हे ब्राह्मणो! कोई-कोई ऐसा कहते हैं कि बिना ही कारणके जगत् उत्पन्न हुआ है, पर उनका यह कथन युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि इस लोकमें कारण बिना कोई कार्य उत्पन्न नहीं होता। दृष्टिसे अदृष्टिका अनुमान किया जाता है। यदि कारण बिना कार्यकी उत्पत्ति मानी जाय तो मिट्टी बिना घटकी उत्पत्ति और तन्तु बिना पटकी उत्पत्ति होनी चाहिये। यदि बिना कारण ही कार्य हो जाता हो तो पुत्रकी उत्पत्तिके लिये पुरुषको स्त्रीकी और स्त्रीको पुरुषकी आवश्यकता न पड़ती। इसी प्रकार धनकी प्राप्तिके लिये निर्धनको धनवान्के पास जानेकी जरूरत न पड़ती, भूख-प्यास मिटानेके लिये अन्न-जल प्राप्त करनेको भटकना न पड़ता, और सर्दी-गर्मी दूर करनेके लिये वस्त्र तथा गृहादिकी जरूरत न पड़ती। ऐसा होनेसे कोई व्यवहार ही नहीं हो सकता। कारण बिना कोई कार्य नहीं होता, इसलिये जगत्रूप कार्यका भी कोई कारण अवश्य मानना चाहिये।

यदि बहिर्मुखवादी कार्यकी उत्पत्तिमें कारणके अभावको ही कारण मानें, तो उसके मतानुसार अंकुरादि कार्यकी उत्पत्तिमें बीजादि कारणका अभाव कारण मानना पड़ेगा और ऐसा माननेसे पूर्वोक्त व्यवहारका लोप हो जायगा, यह महान् दोष है, इसलिये उनका मत अत्यन्त विरुद्ध है। जो कारणके अभावको कारण मानते हैं, उनसे यह पूछना चाहिये कि जिस कारणके अभावको तुम कारण मानते हो वह कारण अत्यन्ताभाव, प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अन्योन्याभाव इन चारों अभावोंमेंसे कौन-सा है?

कार्योत्पत्तिमें कारणका अत्यन्ताभाव

यदि कारणकी उत्पत्तिमें कारणका अत्यन्ताभाव कारण माना जाय तो इस प्रकारकी प्रतिज्ञा करनी पड़ेगी कि यह जगत् बिना कारण ही उत्पन्न हुआ है। जब बिना कारण ही कार्य उत्पन्न होता हो, तो सभी स्थलोंमें कारणका अत्यन्ताभाव सुलभ होना चाहिये और सभी स्थलोंमें कार्यकी उत्पत्ति होनी चाहिये, परन्तु सब स्थलोंमें कार्यकी उत्पत्ति देखनेमें नहीं आती, किन्तु कारणसे ही कार्यकी उत्पत्ति देखनेमें आती है, इसलिये सर्वत्र कार्यकी उत्पत्तिमें कारणका अत्यन्ताभाव सम्भव नहीं है।

कार्योत्पत्तिमें कारणका प्रागभाव

यदि जगत्रूप कार्यकी उत्पत्तिमें कारणका प्रागभाव कारण है, यह दूसरा पक्ष माना जाय तो यह भी सम्भव नहीं है क्योंकि प्रागभावको कार्यकी उत्पत्तिमें कारण माननेवालोंसे पूछना चाहिये कि जिस समय घटादि कार्यकी उत्पत्ति होती है, उस समय प्रागभावका नाश हो जाता है या नहीं?

यदि घटादि कार्यकी उत्पत्ति होनेपर प्रागभावका नाश हो जाता है, तो उस प्रागभावका घटादि कार्यकी उत्पत्तिके पूर्व नाश होता है या उत्पत्तिके पीछे नाश होता है? इनमेंसे प्रथम पक्ष सम्भव नहीं है क्योंकि जैसे इस लोकमें घटरूप कार्यकी उत्पत्तिसे पूर्व नष्ट हुआ कुम्हार उस घटका कारण नहीं होता, इसी प्रकार घटकी उत्पत्तिसे पूर्व नष्ट हुआ प्रागभाव भी घटकी उत्पत्तिमें कारण नहीं हो सकता। यदि प्रथम नष्ट हुए प्रागभावको घटादि-की उत्पत्तिमें कारण माना जाय तो प्रथम नष्ट हुए कुम्हारसे भी घटकी उत्पत्ति होनी चाहिये, परन्तु नष्ट हुआ कुम्हार घटका कारण नहीं हो सकता इसलिये घटादि कार्यकी उत्पत्तिमें पूर्व नष्ट हुए प्रागभावको कारण कहना अत्यन्त विरुद्ध है। यदि यह माना जाय कि घटादि कार्यकी उत्पत्तिके पीछे प्रागभाव कारणका नाश हो जाता है, तो यह दूसरा पक्ष भी नहीं बनता क्योंकि यह प्रागभाव एक है या अनेक है, यह प्रश्न उठता है। यदि एक है, कहो, तो एक प्रागभाव इस वर्तमान कालमें नष्ट हो गया या विद्यमान है? यदि वादी यह प्रथम पक्ष माने कि वर्तमान कालमें प्रागभाव नष्ट हो गया, तो सम्भव नहीं है क्योंकि यदि एक प्रागभाव नष्ट हो जाय तो कारण विना कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती, इसलिये इस समयमें घटादि कार्यकी उत्पत्ति न होनी चाहिये, परन्तु अब भी घटादि कार्यकी उत्पत्ति देखनेमें आती है, इसलिये इस समयमें उस प्रागभावका नाश नहीं हो सकता। वर्तमान समयमें एक प्रागभाव विद्यमान है, यदि वादी ऐसा कहे तो भी सम्भव नहीं है क्योंकि वादी कार्यकी उत्पत्तिके बाद प्रागभाव कारणका नाश मानता है। जब अनेक कार्यकी उत्पत्ति होनेपर भी प्रागभावका नाश नहीं होता, तो प्रागभावका कब नाश होता है? और इस जगत्के कारणरूप एक प्रागभावका जब नाश हो जाता है, तो कार्यरूप यह जगत् फिर उत्पन्न होता है या नहीं? यदि उत्पन्न होता है, यह पक्ष वादी अङ्गीकार करे तो सम्भव नहीं है, क्योंकि वादीने पहले प्रागभावको जगत्का कारण माना है। यदि प्रागभाव कारणके नाश होनेपर भी जगत्की उत्पत्ति होगी, तो कारण विना ही कार्यकी उत्पत्ति माननी पड़ेगी। ऐसा होनेसे तन्तु विना वस्त्रकी उत्पत्ति तथा अन्न-जल विना भूख-प्यासकी निवृत्ति माननी पड़ेगी, इसलिये प्रागभावरूप कारणके नाश होनेके बाद भी जगत्की उत्पत्ति होनी है, यह कहना अत्यन्त विरुद्ध है।

और इस प्रागभावरूप कारणके नाश होनेके बाद कार्यरूप जगत्की उत्पत्ति नहीं होती, यह दूसरा पक्ष वादी अङ्गीकार करे, तो यह भी सम्भव नहीं है क्योंकि जिस प्रकार प्रागभावके नाश होनेपर भी जगत्रूप कार्यकी उत्पत्ति नहीं होगी, इसी प्रकार श्रवणादि साधनके बिना ही मनुष्यको संसारकी निवृत्तिरूप मोक्षकी प्राप्ति हो जायगी। ऐसा होनेसे मोक्षकी प्राप्तिके लिये ब्रह्मचर्यादि अनेक साधनोंके करनेकी आवश्यकता नहीं होगी और अनादि अनन्तरूप जगत्की अन्तरूपता सिद्ध होगी, अन्तरूपता होनेसे जगत्में अनादिपना भी नहीं रहेगा; क्योंकि लोकमें जितने पदार्थ नाशवान् हैं, वे सब उत्पन्न होनेवाले हैं जैसे कि घटादि नाश होनेके पीछे फिर उत्पन्न होते हैं। यदि वादी इस जगत्को उत्पत्ति-नाशवाला मानेगा, तो जिस पुरुषको वह मुक्त मानता है, उसको भी फिर संसारकी प्राप्ति होगी। यदि मुक्तको भी फिर संसारकी प्राप्ति हुई तो मुक्तिके सारे साधन ही व्यर्थ मानने पड़ेंगे। इससे सिद्ध हुआ कि जगत्का कारण एक प्रागभाव नहीं है।

जगत्के कारणरूप अनेक प्रागभाव

यदि जगत्के कारणरूप प्रागभाव अनेक हैं, यह दूसरा पक्ष वादी अङ्गीकार करे, तो प्रतियोगी-के भेदसे अभावका भेद मानना पड़ेगा। जैसे घटके

तथा पटके कारणके भेदसे घटाभाव तथा पटाभावका परस्पर भेद होता है, इसी प्रकार प्रागभावके भेदके कारण प्रतियोगीका भेद मानना पड़ेगा। अब पहले यह जानना चाहिये कि उस प्रागभावका प्रतियोगीपना किसमें है ? कारणमें है या कार्यमें ? इन दोनोंमेंसे यदि प्रागभावका प्रतियोगीपना कारणमें है, यह प्रथम पक्ष वादी अङ्गीकार करे तो प्रागभाव अनादि होना चाहिये और अनादि प्रागभावका कोई भी कारण नहीं हो सकता, इसलिये उसके मतमें विरोध आवेगा। यदि प्रागभावका प्रतियोगीपना कार्यमें है, यह दूसरा पक्ष वादी स्वीकार करे, तो यह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि कार्यके अभावमें कारणपना सिद्ध होगा और वादीने कार्यके अभावमें कारणरूपता मानी नहीं है किन्तु कारणके अभावमें उसने कारणरूपता मानी है, इसलिये वादीके कथनमें विरोध आता है। यदि वादीके माने हुए कारणके अभावमें कारणरूपता सिद्ध न होगी तो कारण विना कार्यकी उत्पत्ति माननी पड़ेगी, यह महान् दोष है।

यदि वादी प्रागभावको कारण माने तो उससे पूछना चाहिये कि उस प्रागभावमें प्रागभावरूप कारण है, अथवा घटका प्रागभाव तथा पटका प्रागभाव इत्यादि विशेष रूपोंसे उस प्रागभावमें कारणरूपता है। इनमेंसे यदि उस प्रागभावमें प्रागभावरूप ही कारणपना है, यह प्रथम पक्ष वादी स्वीकार करे, तो वह सम्भव नहीं है क्योंकि यदि प्रागभावरूपसे प्रागभावकी कारणता हो, तो घटके प्रागभावसे पटादि कार्योंकी उत्पत्ति होनी चाहिये किन्तु प्रागभावसे पटके कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती। यदि घटका प्रागभावपना तथा पटका प्रागभावपना इत्यादि विशेष रूप प्रागभावके कारण हैं यह दूसरा पक्ष वादी माने, तो भी सम्भव नहीं है, क्योंकि घटका प्रागभाव घटका कारण है तथा पटका प्रागभाव पटका कारण है। ऐसा कहनेसे प्रतियोगीपनेके सम्बन्धसे घटरूप विशेषणविशिष्ट जो प्रागभाव है वह घटका कारण है तथा पटरूप विशेषणविशिष्ट जो प्रागभाव है, वह पटका कारण है इसलिये जब घटविशिष्ट प्रागभाव है, इस प्रकारका विशिष्ट ज्ञान हो, तभी प्रागभावमें घटरूप विशेषणसे विशिष्टरूपता सिद्ध होगी और जब प्रथम घटरूप विशेषणका ज्ञान होगा तभी विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न होगा क्योंकि जो-जो विशिष्ट ज्ञान होता है, वह विशेषणके ज्ञानसे उत्पन्न होता है। जैसे प्रथम दण्डरूप विशेषणका ज्ञान होता है, पीछे दण्डवाला पुरुष है, यह विशिष्ट ज्ञान होता है, दण्डरूप विशेषणके ज्ञान बिना 'दण्डवाला पुरुष है' यह विशिष्ट ज्ञान नहीं होता, इसलिये घटविशिष्ट प्रागभावके कारणमें घटरूप विशेषणका ज्ञान अवश्य होना चाहिये परन्तु जिस समय घटका प्रागभाव होता है, उस समय घटरूप विशेषण उत्पन्न नहीं होता, इसलिये उस घटमें प्रागभावकी विशेषणरूपता सम्भव नहीं है क्योंकि वर्तमान पदार्थ ही विशेषणरूप होता है इसलिये घटप्रागभावत्वरूपसे तथा पटप्रागभावत्वरूपसे उस प्रागभावमें कारणता सिद्ध नहीं होती।

पूर्वपक्षी—हे सिद्धान्ती ! हमारे पक्षमें यह दोष नहीं है। यदि हम विशिष्ट ज्ञानमें विशेषणको कारण मानते हों, तब तो यह दोष हो सकता है परन्तु हम विशिष्ट ज्ञानमें विशेषणको कारण नहीं मानते, हम तो कारणके अभावको ही सर्वत्र कारण मानते हैं, इसलिये हमारे मतमें उपर्युक्त दोष सम्भव नहीं है।

सिद्धान्ती—हे वादी ! सर्ववादी विशिष्ट ज्ञानमें विशेषणको कारण मानते हैं, यदि आप उस कारणताको न मानेंगे, तो विशेष ज्ञानके सिवा दूसरे किसी उपायसे विशिष्ट ज्ञान हो नहीं सकता, इसलिये घटविशिष्ट प्रागभाव है, ऐसा विशिष्ट ज्ञान आपके मतमें कभी भी नहीं हो सकता।

पूर्वपक्षी—जैसे 'वन्ध्यापुत्र है' इस वाक्यसे वन्ध्यापुत्रका विकल्परूप ज्ञान होता है, इसी प्रकार

प्रागभावकालमें घटके न होनेपर भी घटरूप विशेषणका विकल्परूप ज्ञान हो सकता है और विकल्परूप ज्ञानके बाद 'घटविशिष्ट प्रागभाव है' यह विशिष्ट ज्ञान हो सकता है।

सिद्धान्ती—आपके मतमें जैसे वन्ध्यापुत्र अत्यन्त असत्य है, इसी प्रकार प्रागभावकालमें घट भी अत्यन्त असत्य है, इसलिये जैसे 'वन्ध्यापुत्रका प्रागभाव है' इस विशिष्ट ज्ञानके होनेपर भी उस प्रागभावमें वन्ध्यापुत्रकी कारणता नहीं है, इसी प्रकार 'घटका प्रागभाव है' इस विशिष्ट ज्ञानके होनेपर भी उस प्रागभावमें घटकी कारणता सम्भव नहीं है।

पूर्वपक्षी—जिस कालमें घटरूप कार्य उत्पन्न नहीं हुआ है, उस कालमें यद्यपि उस प्रागभावका उस घटके साथ सम्बन्ध नहीं है, तो भी जब घटरूप कार्य उत्पन्न होगा तब उस घटरूप विशेषणके साथ उस प्रागभावका सम्बन्ध हो जायगा, उस भावी सम्बन्धको अंगीकार करके उस घटकी उत्पत्तिसे पूर्व भी घटविशिष्ट प्रागभाव है यह कथन बन सकता है। जैसे बाल्यावस्थामें यद्यपि राजाके पुत्रका राजापनेके साथ सम्बन्ध नहीं है परन्तु युवावस्थामें उस राजपुत्रका राजापनेके साथ सम्बन्ध हो जायगा, इसलिये उस भावी सम्बन्धको मानकर सब लोग राजपुत्रको राजा कहते हैं।

सिद्धान्ती—युवावस्थामें राजाके पुत्रका राजापनेके साथ सम्बन्ध होता है, इसलिये उस भावी सम्बन्धको लेकर बाल्यावस्थामें यद्यपि राजाके पुत्रमें राजापनेका कथन सम्भव है परन्तु भावी सम्बन्धको लेकर उस प्रागभावमें घटविशिष्टरूपताका कथन सम्भव नहीं है क्योंकि जिस कालमें घटरूप कार्य उत्पन्न होता है, यदि उस कालमें वह प्रागभाव रहता हो, तो उस प्रागभावका घटके साथ सम्बन्ध हो सकता है परन्तु घटरूप कार्यकी उत्पत्तिके बाद वह प्रागभाव रहता नहीं; इसलिये भावी सम्बन्धको लेकर भी घटकी उत्पत्तिसे पूर्व उस प्रागभावमें घटविशिष्टरूपता सम्भव नहीं है, यदि वादी घटरूप कार्यकी उत्पत्तिसे पीछे उस कार्यके साथ उस प्रागभावका सम्बन्ध माने, तो उस प्रागभावमें नित्यरूपता सिद्ध होगी, क्योंकि प्रागभावको माननेवाले सब वादी कार्यकी उत्पत्ति होनेपर उस प्रागभावका नाश मानते हैं, यदि कार्यकी उत्पत्ति होनेपर भी उस प्रागभावका नाश नहीं हुआ, तो कार्यकी उत्पत्तिके सिवा दूसरा कोई पदार्थ उस प्रागभावको नाश करनेवाला है नहीं, इसलिये वह प्रागभाव नित्य ही होगा। जो पदार्थ तीनों कालमें अबाधित हो, उसका नाम नित्य है। इस प्रकारकी नित्यरूपता प्रागभावमें सम्भव नहीं है क्योंकि कार्यकी उत्पत्तिसे पूर्व कार्यके उपादान कारणमें रहनेवाले अभावका नाम प्रागभाव है। प्रागभाव शब्दका यह अर्थ उस नित्य प्रागभावमें घट नहीं सकता। यदि वादी प्रागभावको स्वरूपसे नित्य माने तो उस नित्य प्रागभावमें अनेकरूपता नहीं सिद्ध होगी। यदि वादी प्रागभावको नित्य मानकर उसे अनेकरूप माने तो उससे पूछना चाहिये कि प्रतियोगीरूप उपाधिके भेदसे अभावका भेद होता है, स्वरूपसे भेद नहीं होता, इसलिये नित्य प्रागभावका भेद नित्य पदार्थरूप उपाधिके भेदसे है अथवा अनित्य पदार्थरूप उपाधिके भेदसे है? इन दोनोंमेंसे नित्य पदार्थरूप उपाधिके भेदसे उस नित्य प्रागभावका भेद है, यह प्रथम पक्ष वादी माने, तो सम्भव नहीं है क्योंकि जो पदार्थ प्रागभाव और प्रध्वंसाभावका प्रतियोगी नहीं होता, वह पदार्थ नित्य होता है। जैसे आत्मा प्रागभाव और प्रध्वंसाभावका प्रतियोगी नहीं है, इसलिये आत्मा नित्य है। नित्य पदार्थोंमें प्रागभावकी प्रतियोगिता सम्भव नहीं है और प्रतियोगीके भेदसे ही अभावका भेद होता है, इसलिये नित्य पदार्थरूप उपाधिके भेदसे नित्य प्रागभावका भेद सम्भव नहीं है यदि अनित्य पदार्थरूप उपाधिके भेदसे नित्य पदार्थका भेद है, यह दूसरा पक्ष वादी

माने, तो भी सम्भव नहीं है क्योंकि जैसे अनित्य घटादि पदार्थोंके भेदसे प्रध्वंसाभावका भेद है, इसी प्रकार अनित्य घटादि पदार्थोंके भेदसे यदि उस प्रागभावका भेद माना जायगा तो प्रागभावसे भिन्न प्रध्वंसाभावका मानना व्यर्थ होगा, क्योंकि वह प्रागभाव ही प्रध्वंसाभावरूप होगा। यदि वादी प्रागभावको प्रध्वंसाभावरूप ही मानेगा, तो प्रागभावमें कारणरूपता सिद्ध नहीं होगी, किन्तु जैसे प्रध्वंसाभाव घटादि कार्योंका विरोधी है, इसी प्रकार प्रागभाव भी घटादि कार्योंका विरोधी ही होगा, इस प्रकार कारणका प्रागभाव जगत्का कारण है, यह दूसरा पक्ष सिद्ध नहीं होता।

कारणका प्रध्वंसाभाव जगत्का कारण

इस लोकमें नित्यरूपसे प्रसिद्ध मृत्तिका आदि तथा अनित्यरूपसे प्रसिद्ध तन्तु आदि भावपदार्थोंको ही सब लोग घट-पटादिका कारण मानते हैं। इन भावकारणोंको छोड़कर इनके अभावको जो कारण मानता है, वह किस प्रयोजनको सिद्ध करनेके लिये मानता है?

पूर्वपक्षी—इस लोकमें जबतक बीजादि कारणोंका नाश नहीं होता, तबतक अंकुरादि कार्योंकी उत्पत्ति नहीं होती किन्तु पृथिवी-जलादिके सम्बन्धसे जब बीजका नाश हो जाता है तब अंकुरकी उत्पत्ति होती है, इस व्यवस्थाको देखकर हम बीजादि भावपदार्थोंको अंकुरादि कार्योंका कारण नहीं मानते किन्तु बीजादि भावपदार्थोंके अभावको ही अंकुरादिका कारण मानते हैं।

सिद्धान्ती—जब बीजादिका नाश होता है तभी अंकुरादिकी उत्पत्ति होती है, इस आपके वचनसे आपका यह अभिप्राय जाननेमें आता है कि बीजादि कारणोंका प्रागभाव अंकुरादिका कारण नहीं है किन्तु बीजादि कारणोंका प्रध्वंसाभाव ही अंकुरादिका कारण है, परन्तु बीजादि कारणोंका प्रध्वंसाभाव भी अंकुरादिकी उत्पत्तिमें कारणरूप नहीं होता क्योंकि यदि कारणका प्रध्वंसाभाव कार्यकी उत्पत्तिमें कारण होता हो तो जीवोंकी जठराग्निमें बीजादि अनेक कारणोंका प्रध्वंसाभाव होता है, इसलिये बीजादि कारणोंके प्रध्वंसाभावसे उदरमें अंकुरादि कार्योंकी उत्पत्ति होनी चाहिये परन्तु ऐसा नहीं होता, इसलिये कारणके प्रध्वंसाभावमें कारणरूपता सम्भव नहीं है। अथवा जो पदार्थ जिस पदार्थकी उत्पत्ति करता है, वह पदार्थ उस पदार्थका कारण होता है जैसे तन्तु पटकी उत्पत्ति करता है, इसलिये तन्तु पटका कारण है और जो वादी बीजादिमें अंकुरादि कार्योंकी जनकता नहीं मानता, उसके मतानुसार बीजादिमें कारणरूपता ही नहीं है, इसलिये अकारणरूप बीजादिके अभावको जो वादी कारणाभाव कहता है, उसका वचन वदतोव्याघात दोषवाला है। यानी वह अपने वचनसे ही अपने वचनको काटता है।

और जो वादी बीजादि कारणोंके अभावको अंकुरादि कार्योंकी उत्पत्तिमें कारण मानता है, उसके मतमें अनवस्था दोषकी प्राप्ति होती है क्योंकि जैसे उस वादीके मतमें बीजादिका अभाव कारणाभावरूप है, इसलिये वह बीजाभाव अंकुरादिका कारण है, इसी प्रकार उन बीजादिके अभावका अभाव भी बीजाभावरूप कारणका अभावरूप है, इसलिये बीजादिके अभावका अभाव भी अंकुरादिका कारण हो सकता है, इसी प्रकार तीसरा अभाव, चौथा अभाव इत्यादि सम्पूर्ण अभावोंको कारणका अभावरूप होनेसे अंकुरादि कार्योंकी उत्पत्तिमें कारणरूपता हो सकती है, इस प्रकार कारणोंकी अवस्था प्राप्त होती है।

कारणका प्रध्वंसाभाव कार्यकी उत्पत्तिमें कारण है, यह कथन प्रत्यक्ष प्रमाणसे भी विरुद्ध है क्योंकि इस लोकमें कुण्डल-कंकणादि कार्योंकी उत्पत्तिके पीछे उन कुण्डल-कंकणादि कार्योंमें सब लोगोंको सुवर्णरूप कारण प्रत्यक्ष प्रतीत होता है, पटरूप कार्यकी उत्पत्तिके बाद पटमें सब लोगोंको

तन्तुरूप कारण प्रत्यक्ष दिखायी देता है। इत्यादि जो-जो भाव कार्य हैं, उनमें उनका कारण अनुगत प्रतीत होता है। यदि कारणका प्रध्वंसाभाव हो गया हो, तो कुण्डलादिमें सुवर्ण और पटमें तन्तु प्रतीत न होना चाहिये। इसलिये कार्यकी उत्पत्तिमें कारण-का प्रध्वंसाभाव कारण है, यह कथन लोगोंके अनुभवसे विरुद्ध है।

बीजके नाशसे अंकुररूप कार्यकी उत्पत्ति जो पूर्ववादीने कही, वह भी ठीक नहीं है क्योंकि बीजरूप कारणके नाशमें अंकुरकी उत्पत्ति नहीं होती किन्तु बीजके नाश होनेपर भी उस बीजके भीतरके अवयवोंका नाश नहीं होता, इसलिये बीजके अवयव ही अंकुरकी उत्पत्तिमें कारण हैं, इस प्रकार कारणका प्रागभाव ही जगत्‌का कारण है, इस पक्षमें जो-जो विकल्प किये थे और उन विकल्पोंमें जो-जो दूषण दिये थे, वे सब विकल्प और दूषण प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव इन तीनों पक्षोंमें प्राप्त होते हैं, इसलिये प्रध्वंसाभाव जगत्‌का कारण नहीं हो सकता और यह घट पटसे भिन्न है और यह पट घटसे भिन्न है, इस प्रकारके ज्ञानका विषय जो भेदरूप अन्योन्याभाव है, इसमें किसी भी वादीको जगत्‌की कारणता प्रतीत नहीं होती, इसलिये कारणका अन्योन्याभाव जगत्‌का कारण है, यह चौथा पक्ष भी सम्भव नहीं है। (क्रमशः)

प्यारे कृष्ण !

(श्री 'शान्त')

श्रीकृष्ण ! मुझे मालूम नहीं, कुछ-कुछ मालूम होनेपर भी कभी याद नहीं आती कि मैं तुमसे कबसे बिछुड़ा हुआ हूँ ? युगपर युग बीत गये, जन्मपर जन्म बीत गये, कभी तिनका होकर लोगोंके पैरोंके नीचे कुचला जाता रहा, कभी लकड़ी बनकर आगमें जलता रहा, कभी कीड़े-मकोड़े बनकर लोगोंको सताता रहा, कभी समुद्रकी उत्ताल तरंगोंमें बहता रहा और कभी अनेकों पशु-पक्षियोंकी योनियोंमें पैदा होकर लोगोंके द्वारा विताड़ित होता रहा। स्वर्गमें जाकर विषयोंके भोगमें फँस गया, नरकमें जाकर निदारुण यन्त्रणा सहकर तड़पता रहा, न जाने किस-किसको पुकारा, किसके-किसके चरणोंकी शरण ली, परन्तु तुम्हें नहीं पुकारा। कई बार स्त्री होकर लोगोंका भोग्य बना और न जाने कितनी बार पुरुष होकर कितनोंकी चापलूसी करता रहा !! श्रीकृष्ण ! एक बार भी सच्चे हृदयसे मैंने तुम्हारे चरणोंकी शरण नहीं ली, एक बार भी आर्त स्वरसे तुम्हें नहीं पुकारा ! पुकारनेकी इच्छा भी नहीं हुई !! मैं जलते हुए लोहेके द्रवको अमृत समझकर पीनेके लिये दौड़ा, उससे जलकर जलते हुए सोनेके द्रवकी ओर दौड़ा, उससे लौटकर खारे समुद्रमें कूद पड़ा और वहाँ भी भूखा-प्यासा रहकर अनेक जल-जन्तुओंसे विताड़ित हुआ। कहाँ नहीं गया, किसके दरवाजेपर मैंने सिर नहीं पटका ? परन्तु हाय री मेरी दुर्बुद्धि ! एक बार भी तुमने सच्चे स्वामीकी स्मृति नहीं की !!

यह सब होता रहा, इस सब दौड़-धूपके अंदर एक प्रेरणा थी श्रीकृष्णकी। हाँ, श्रीकृष्ण ! तुम्हारी ही प्रेरणा थी। तुम हृदयमें बैठकर यही प्रेरणा कर रहे थे कि मैं सच्चा सुख पाऊँ, सच्ची शान्ति पाऊँ और अपने स्वामीकी सन्निधिमें जाकर अपने प्रियतमका आलिंगन पाकर सर्वदाके लिये उनके हृदयसे सट जाऊँ—एक हो जाऊँ। यह इच्छा तुम्हारी दी हुई इच्छा थी। परन्तु मैं इतना पागल था कि यह नहीं समझ रहा था यह इच्छा किसकी दी हुई है ! यह भी नहीं समझ रहा था कि किसके पास जानेसे यह इच्छा पूरी होती है ! मैं बिना जाने अनजान पथसे चल पड़ा उस ओर, ढूँढ़ने लगा उन विषयोंमें सुख और शान्तिको, जहाँ स्वप्नमें भी उनके दर्शन नहीं हो सकते !

परन्तु अब मैं समझ गया। यह कैसे कहूँ कि मैं समझ गया ? तुम्हारे प्रेमियोंसे सुनता हूँ, तुम्हारे प्रेमियोंने जो कुछ तुम्हारा सन्देश सुनाया है, उससे अनुमान करता हूँ कि मेरी इच्छा अनन्त आनन्द और सुखकी अभिलाषा सच्ची थी। फिर भी मेरा मार्ग ठीक न था। मैं मरुस्थलमें पानी ढूँढ़ रहा था। मैं संसारमें सुखके लिये भटक रहा था। भला संसारमें सुख कहाँ ! भटक चुका, खूब भटक चुका, जान गया कि सुख तो तुम्हारे चरणोंमें ही है। अब प्रभो ! तुम्हारे चरणोंमें आ गया हूँ, ये तुम्हारे लाल तलुवे, ये तुम्हारे कमल-से कोमल चरण सर्वदा मेरे हृदयसे सटे रहें, इनकी शीतलतासे मेरे हृदयकी धधकती हुई आग शान्त हो जाय। प्रियतम ! एक बार मेरे वक्षःस्थलपर अपने चरणोंको रख दो न। रख दो, बस मेरी एक बात मान लो !

मैं भी कैसा अज्ञानी हूँ ! हृदयके तहमें तो अब भी विषयोंकी लालसा है और वाणीसे तुम्हारी प्रार्थना कर रहा हूँ। इसीसे मालूम होता है श्रीकृष्ण ! कि तुम दूरसे ही मुझे देखकर हँस रहे हो और मेरे पास नहीं आ रहे हो। मैंने तुम्हारे प्रेमियोंके द्वारा, तुम्हारे दूतोंके द्वारा सुने हुए सन्देशको सच्चे रूपमें अभी ग्रहण नहीं किया है। थोड़ी देरके लिये उन संदेशोंको सुन लेनेपर भी मनने उन्हें ठीक रूपसे ग्रहण नहीं किया है। यदि मन तुम्हारे सन्देशको सत्य मानता, उसका विश्वास हो जाता कि सच्चा रस तो श्रीकृष्णके स्मरणमें ही है। यदि वह अनुभव कर लेता कि विषयोंमें रस नहीं है, तो फिर वह कभी स्वप्नमें भी विषयोंकी ओर नहीं जाता, तुम्हारे चरणोंका रस लेनेमें ही मस्त होता। ऐसा नहीं होता, जैसा कि मनकी आज स्थिति है। श्रीकृष्ण ! परन्तु मैं करूँ ही क्या ? मनको मनाना मेरे हाथमें तो है नहीं, वह बड़ा बलवान् है, अपने हठपर डटा हुआ है। काम, क्रोध, लोभ आदिसे उसने दोस्ती कर रक्खी है, वह तुम्हारा सन्देश सुनकर भी अनसुना कर देता है। सब कुछ देखते-सुनते हुए भी उसी मार्गसे चलने लगता है, जिससे चलनेका उसे अभ्यास हो गया है।

इसका एक उपाय है, तुम सन्देश मत भेजो। आओ, स्वयं आओ, मेरी बात तो सुन ही रहे हो न ! एक क्षणके लिये मेरी आँखोंके सामने प्रकट हो जाओ। थोड़ी देरके लिये मेरे हृदयमें आकर बैठ जाओ और सन्देशके स्थानपर अपने मुँहसे तुम मनको आदेश दे दो कि मन, तुम मेरे हो, मेरी सेवामें रहो, एक क्षण भी मुझे छोड़कर मत जाया करो। मेरे सर्वस्व, मेरे श्रीकृष्ण ! वह तुम्हारी आज्ञा मानेगा। मेरा विश्वास है तुम्हारी आज्ञा अवश्य मानेगा। कर दो न ऐसा ही। मैं सर्वदाके लिये तुम्हारे चरणोंकी सन्निधि पा जाऊँ। श्रीकृष्ण ! क्या कहते हो ? मेरा हृदय कलुषित है। वह तुम्हारे आनेयोग्य नहीं है। मेरी आँखें दूषित हैं, वे तुम्हारा दर्शन करनेयोग्य नहीं हुई हैं, परन्तु मेरा वश क्या है ? मेरी आँखों और हृदयको शुद्ध करनेवाला और है ही कौन ! तुम स्वयं पवित्र कर लो और आ जाओ। यदि उनके शुद्ध होनेपर ही तुम आओगे, तब तो मैं करोड़ों कल्पमें भी तुम्हारे दर्शनोंका अधिकारी नहीं बन सकूँगा। श्रीकृष्ण ! तुम बड़े दयालु हो, बड़े भक्तवत्सल हो। तुमने स्वयं स्वीकार किया है कि मैं प्रेमपरवश हूँ। परन्तु मैं भूल कर रहा था, मैं भक्त नहीं हूँ, मैं तुमसे प्रेम भी नहीं करता। मैं सच्चे हृदयसे अपनेको दयापात्र भी नहीं मानता। कहाँ है मुझमें दीनता ? मैं तो अभिमानका पुतला हूँ। तब क्या मुझपर दया नहीं करोगे ? श्रीकृष्ण ! इसी अवस्थामें तो मैं वास्तवमें दयाका पात्र हूँ। यदि मैं अपनेको दयापात्र समझता, तब तो दयापात्र होता ही। उसमें तुम्हारी दयालुता क्या होती ! मेरी दशा तो इतनी दयनीय हो गयी है, कि मैं अपनेको दयापात्र भी

नहीं समझता, इसलिये मैं और भी दयाका पात्र हो गया हूँ। जैसे भयंकर रोगसे ग्रस्त प्राणी उन्माद-के कारण अपने रोगको नहीं समझ पाता और इसीसे लोग उसपर विशेष दया करते हैं। वैसे ही अज्ञानवश अपने रोगको न समझनेवाला मैं क्या तुम्हारा विशेष दयापात्र नहीं ?

मैंने तुम्हारी लीला सुनी है, मैंने तुम्हारी कथा सुनी है। तुम पतितोंको पतितपावन बना देते हो, अधमोंको अधमोंके उद्धारका साधन बना देते हो। तुम प्रेमियोंके नचानेपर नाचते हो और वे जो-जो कहते हैं, करते हो। मैं तुम्हारे दरवाजेपर तुम्हारे चरणोंके पास लेटकर तुमसे प्रार्थना कर रहा हूँ। उठा लो मुझे, एक बार अपने करकमल मेरे सिरपर रख दो। एक बार कह दो, तुम मेरे हो। अपना लो न प्रभु ! सब संसार तो तुम्हारा है ही। तो क्या मुझे ही बाहर रखना चाहते हो ? मैं भी तुम्हारा ही हूँ, फिर यह कहनेमें क्यों देर करते हो ? स्वामिन् ! तुम मुस्कुरा रहे हो, क्यों मुस्कुरा रहे हो ? क्या मेरे अज्ञानपर ? हाँ, मैं हँसने ही योग्य हूँ। तुम यही इशारा कर रहे हो न कि तू तो मेरा है ही। सभी अवस्थाओंमें मेरा रहा, मैंने कभी तुझे छोड़ा नहीं। तुम यही कह रहे हो न नाथ ! कि पाप करते समयमें भी मैं तेरे साथ रहा, तेरे पीछे खड़ा होकर तुझे देखता रहा, एक क्षणके लिये भी तुझे नहीं छोड़ा। मैं तुझसे प्रेम करता हूँ और तूने ही मुझे छोड़ दिया है, मेरी ओरसे आँखें बंद कर ली हैं। तू संसारकी सुन्दरतापर मुग्ध हो गया है और तूने मेरी ओर देखना ही छोड़ दिया है। सत्य है प्रभो ! तुम्हारा कहना ठीक है, तुमने मुझे नहीं छोड़ा, तुमने मुझपर अनन्त प्रेमकी वर्षा की। मेरे साथ तुम्हें ऐसे स्थानोंमें भी जाना पड़ा, जहाँ तुम्हें नहीं जाना चाहिये था, परन्तु हे अनन्त प्रेमस्वरूप ! अब मेरी त्रुटिपर, मेरे अपराधपर दृष्टि मत डालो, यह शरीर, ये इन्द्रियाँ, ये प्राण, मन, बुद्धि, अहंकार, आत्मा जो कुछ कभी मैं था, हूँ और होऊँगा, वह सब तुम्हारा ही था, तुम्हारा ही है और तुम्हारा ही होगा। अब ऐसी कृपा करो कि मैं इस सत्यपर स्थिर हो जाऊँ और प्रतिक्षण तुम्हारे चरणकमलोंको अपने हृदयसे सटाये रहूँ। मेरे जीवनसर्वस्व ! मेरे प्राणोंके प्राण ! मेरे स्वामी ! मेरे हृदयमें प्रेमकी ऐसी ज्वाला जगा दो, जिसमें मेरी सारी अहंता और ममता जलकर खाक हो जायँ, हृदयके मन्दिरमें तुम्हें बैठनेकी जगह बन जाय। प्रियतम ! अपना ऐसा विरह दो, कि सारा हृदय आँसू बनकर आँखोंको धो डाले और आँखें सर्वत्र, सर्वदा तुम्हारी अनूप रूपराशिका मधु पीकर छक जाय।

प्रभो ! दे दो न अपने लिये व्याकुलता। मैं तुम्हारे लिये तड़फड़ाता हुआ घूमा करूँ—

हे नाथ रमण प्रेष्ठ क्वासि क्वासि महाभुज।
दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम्॥
हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन।
मग्नमुद्धर गोविन्द गोकुलं वृजिनार्णवात्॥
हे देव हे दयित हे भुवनैकबन्धो
हे कृष्ण हे चपल हे करुणैकसिन्धो।
हे नाथ हे रमण हे नयनाभिराम
हा हा कदा नु भवितासि पदं दृशोर्मे॥
युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम्।
शून्यायितं जगत् सर्वं गोविन्दविरहेण मे॥

श्रीकृष्ण ! ये आँखें तुम्हारे अतिरिक्त और किसी-को क्यों देखती हैं ? चाहे तो तुम इनके सामने आओ और चाहे इन्हें जला दो। ये वाणी दूसरेका नाम क्यों लेती हैं ? चाहे तो इससे तुम्हारा ही नाम निकले और चाहे यह नष्ट हो जाय। श्रीकृष्ण ! मेरे कान तुम्हारा ही मधुर आलाप सुनें, तुम्हारी ही बाँसुरीकी तान सुनें, या बहरे हो जायँ। मेरी चित्तवृत्ति और किसीको न देखे,

न सुने, न स्पर्श करे। मेरी क्यों? यह तुम्हारी ही चित्तवृत्ति है, लगा लो अपने चरणोंमें प्रभो। मेरे दयालु प्रभु! मेरे प्रेमी प्रभु! लगा लो न, रहा नहीं जाता। खिंच रहा है चित्त, एक बार तो कृपा कर दो। कृपा तो तुम्हें करनी ही है। बिना कृपा किये तो तुम रह ही नहीं सकते, फिर देर क्यों कर रहे हो? अभी कर दो न, यह देखो एकटक आँख खुले, मुँह बाये, तुम्हारी ओर देख रहा हूँ मेरे प्यारे कृष्ण!

दिवाली

(लेखक – पूज्यपाद श्रीश्रीभोलानाथजी महाराज)

चिराग़े नूरे वहदत फिर चमक उट्ठे ज़मानेमें।
नज़र आये न फिर जिससे कहीं तारीकियाँ दिलकी॥

हे प्रभो! एकता और प्रेमके प्रकाशका दीपक इस संसारमें फिर चमक उठे जिससे फिर हृदयके अन्धकार (अज्ञान और मोह) का अत्यन्त अभाव ही हो जाय।

आजके दिन दुनियाँका एक बड़ा हिस्सा खुशियोंमें मगन है। घर-घर चहल-पहल नज़र आ रही है। कामोंमें लगे हुए लोग छुट्टियाँ मना रहे हैं। चारों तरफ़ सजावट हो रही है। आखिर यह क्या दिन है? इस खुशीका क्या कारण है! मालूम होता है दिवाली आयी है, जिसकी हर साल हर मनुष्यको प्रतीक्षा रहती है। इस दिनकी रौनक़ और त्योहारोंके मुक़ाबिले कुछ अजीब सजधजकी होती है। इस त्योहारके पाँच बड़े हिस्से यों किये जा सकते हैं—लक्ष्मी-पूजन, खाँडके खिलौने, दीपक जलाना, दरो-दीवारकी सफ़ाई और जूआ। गोया, ये पाँच चीज़ें इसके बड़े हिस्से हैं। अब प्रश्न यह हो सकता है कि आखिर लक्ष्मी-पूजनके क्या अर्थ हैं? इसका उत्तर यह है कि संसारमें मनुष्यमात्रको धनकी आवश्यकता है। इसके बिना जगत्‌में गुज़ारा नहीं हो सकता। गोया दुनियाँदार लोगोंके लिये यह ज़िन्दगीका एक बड़ा भारी हिस्सा है। इसलिये, इस त्योहारमें उस शक्तिका पूजन किया जाता है जो धनकी रानी है। जो किसीपर भी प्रसन्न होकर सब कुछ दे सकती है। इसलिये यह पूजन ग़ैरज़रूरी नहीं। हाँ, अगर किसी तरफ़से यह आवाज़ आये कि धन तो मिथ्या है तो हम पूछ सकते हैं कि यह 'मिथ्या' सृष्टिके व्यवहारमें है या पारमार्थिक दृष्टिसे? अगर सृष्टिके व्यवहारसे कहा जाय तो मिथ्या कैसे हुआ क्योंकि सृष्टिमें मिथ्याका मिथ्यासे सम्बन्ध ज़रूरी है। यहाँतक कि 'मिथ्या' का शब्द भी मिथ्या-सृष्टिमें ही बनता है; और अगर पारमार्थिक दृष्टिसे कहा जाय तो वहाँ दूसरा कोई है ही नहीं कि जिसको मिथ्या कह सकें। ख़ैर कुछ भी हो, जहाँतक संसार है वहाँतक इसकी ज़रूरत है। यह मानना ही पड़ेगा।

दूसरे यह लक्ष्मी है क्या? ईश्वरकी शक्ति या कोई और? अगर कुछ और है तो सृष्टिकी रचना प्रभुने इसी शक्तिसे की या किसी औरसे? अगर किसी औरसे तो वह मिथ्या है या सत्? अगर मिथ्या है तो क्या किया? और अगर सत् है तो यह सत् ईश्वरसे भिन्न कैसे हो सकता है? और अगर दूसरेसे रचना की तो प्रभु शक्ति-हीन हुए? नहीं, वे तो सर्व-शक्तिमान् हैं। इसलिये लक्ष्मी उन्हींकी शक्ति है। और सत्‌की शक्ति भी सत् ही होती है; रहा सत्-शक्तिका खेल करना और किसी समय खेलको समेट लेना सो यह भी असत् कैसे हुआ क्योंकि जबतक खेल रहा वह सत् रहा और सिमट गया तो उसी शक्तिमें जा मिला जिसका था, फिर वह भी असत् कैसे हुआ? असत् तो कुछ है ही नहीं जो हो, और अगर असत् हो गया तो वह सत् ही हुआ।

इसलिये लक्ष्मी-पूजन दूसरे शब्दोंमें ईश्वरीय-शक्तिका पूजन है। अब यह प्रश्न पैदा होता है कि लक्ष्मी या शक्ति ईश्वरसे एक है या दो। अगर दो हैं तो ये कब मिले थे? और उसके पहले, क्या ईश्वर शक्ति-हीन थे? और अगर एक हैं तो दो हुए कैसे? क्रिया-रूपमें नाम दो रक्खे गये हैं। वस्तुतः ईश्वर-पूजन और लक्ष्मी-पूजन एक ही हैं।

ऐश्वर्य किसका है? ईश्वरका। जबतक उसकी याद न की जाय और उसका पूजन न किया जायगा तबतक वह मिलेगा कैसे? इसलिये लक्ष्मी-पूजन बहुत ज़रूरी है।

प्रश्न—निराकारके लिये आकारकी क्या ज़रूरत है? इस क़िस्मकी सूरतोंका पूजन क्यों होता है?

उत्तर—दिलके भाव इकट्ठे हो-होकर साकार ही बन जाते हैं। जब किसीसे बहुत प्रेम आता है तो निराकार कभी-न-कभी साकार शरीरद्वारा प्रकट किया जाता है, कभी चिट्ठियाँ लिखी जाती हैं, कभी मिठाइयाँ भेजी जाती हैं। यह स्वाभाविक गुण है कि मनुष्य अपने भावोंको प्रकृतिके द्वारा प्रकट करे। अब लक्ष्मी-पूजन तो ईश्वर-पूजन हुआ!

प्रश्न—ईश्वरपूजनका स्वरूप क्या है?

उत्तर—सत्य, प्रेम और दया। इसलिये नित्यप्रतिकी क्रियामें जो इन बातोंको अमलमें लाना है वही ईश्वर-पूजन या लक्ष्मी-पूजन है। और सालकी साल अपने प्रेमको इस ज़ोरसे इस रूपमें प्रकट करना भी लक्ष्मी-पूजन है। जब यह नियम है कि शक्ति और शक्तिमान् एक है और वह सत्य है तो फिर सत्यके त्यागसे काम कैसे चल सकता है? इसलिये ईश्वरके स्वरूपको हृदयमें रखकर यानी सत्य, प्रेम और दयाको हृदयमें स्थान देकर सब कार्य करना ही ऐश्वर्य-संग्रहका एक मात्र कारण है। बस, लक्ष्मी-पूजनवाले विष्णुभगवान् यानी सत्त्वगुणको हृदयमें लानेहीसे कामयाब हो सकते हैं और जो बग़ैर सत्यके सफलता लाभ कर रहे हैं वह भी किसी समयके सत्यका ही नतीजा है। अब, जो आजका असत्य है वह ज़रूर किसी समय बड़ी तकलीफ़ देगा।

जिस क़दर आपके हृदयमें ईश्वर, उसका विश्वास और प्रेम बढ़ेगा उसी क़दर लक्ष्मी ज़्यादा आवेगी। आखिर, वह तो वहीं रहेगी जहाँ उसके पति विष्णुभगवान् रहेंगे। यह बात अमलसे समझमें आ सकती है, बातोंसे नहीं।

कहा जाता है लक्ष्मी और सरस्वती दोनोंकी लड़ाई रहती है गोया जहाँ ज्ञान आया, धन गया और जहाँ धन आया, ज्ञान गया। यानी या तो चार्वाकमत पैदा हुआ और या बिल्कुल त्यागका दृश्य सामने रख दिया। एकमें प्रभु नहीं दूसरेमें सृष्टि नहीं, परन्तु अब दोनोंकी सुलह हो गयी है—गोया प्रभु और सृष्टि दोनों ही रहेंगे। चेहरेसे बाल खूबसूरत होंगे और बालोंसे चेहरा खूबसूरत लगेगा। मायासे प्रभुका ध्यान और शृंगार बढ़ेगा और प्रभुके ध्यानसे मायाकी शोभा होगी। गोया अब सांसारिक और पारमार्थिक जीवनका दृश्य हर शख्सके सामने होगा। अब रागमें वैराग्य और वैराग्यमें रागका समय होगा। त्याग सिर्फ़ इतना होगा कि 'सब कुछ ईश्वरका है' और राग इतना होगा कि 'हम सब उसकी आज्ञाओंका पालन उसीकी सृष्टिमें रहकर कर रहे हैं। अब माया और ब्रह्म मिल रहे हैं। 'दो' 'एक' में कहा जाता है और 'एक' का ज्ञान 'दो' से होता है। मायाके अभावमें तो ईश्वरका नाम भी न रहेगा और उस (ईश्वर) का नाम न रहनेसे मायाका अस्तित्व ही असम्भव है। अब माया मिथ्यारूपमें न देखी जायगी बल्कि ब्रह्मसे एक करके सत्-रूपमें सत्कार्य करेगी। सृष्टि सत्य होगी, उसका खेल सत्य होगा, प्रभु हृदयमें होंगे, संसार उनमें (प्रभुमें) होगा। विज्ञान (Science) की सफलताका ज़रिया यह होगा कि वह प्रभुके प्रेम और विश्वासमें अधिक सहायक होगी। यह प्रभुके स्वागतके लिये सजावटका काम करेगी। शाबास! तेरे त्याग और कुर्बानीपर! जैसे बादशाहके आनेपर पहले बाज़ार सजते हैं उसी तरह पारमार्थिक जीवनके आखिरी दृश्य और हृदयमें भगवान्‌के आनेसे पहले विज्ञान (Science) दुनियाँको खूब सजा रहा है।

ऐ खुश आँ रोज़ कि आई व बसद नाज़ आई।
बेहिजाबाना सूए महफ़िले मा बाज़ आई॥

'ऐ सुन्दर वह दिन कि जब तू आए अपनी अनन्त कृपाकटाक्षोंके साथ आए और आवरण उतार कर हमारी सभाकी तरफ़ तू फिर आए।'

शरीर और आत्मा दोनोंके लिये खुराककी ज़रूरत है इसलिये लक्ष्मी और भगवान् दोनोंहीकी आवश्यकता है। एकके लिये दुनियाँ दूसरेके लिये भगवान्।

प्रकाश

इससे साबित होता है कि लक्ष्मी-पूजन या ईश्वर-पूजन और उनको बुलानेके लिये प्रकाशकी अधिकताकी ज़रूरत है यानी जबतक हृदयमें प्रभुके प्रेमका दीपक या ज्ञानका दीपक नहीं जलता, सच्चा लक्ष्मीपूजन मुश्किल है। अँधेरी रातमें किस क़दर दीपक जलाये जाते हैं—कैसे सुन्दर मालूम होते हैं! देखिये, दीवारोंपर, छतोंपर, कमरोंमें, घरोंमें सब जगह दीपक जल रहे हैं लेकिन एक जगह प्रायः हमेशा खाली रह जाती है और वह है 'हृदय'—उसके अन्धकारमें कभी दीपक न जलाया गया। अफ़सोस! लक्ष्मी या ईश्वरका निवास तो वहीं होता है और वहीं अँधेरा है। उठिये, अगर प्रेमका दीपक नहीं मिलता तो किसी महात्माकी झोंपड़ीसे कोई जलता चिराग़ उठाकर ही वहाँ रख दीजिये—वहीं वे (भगवान्) आकर बैठेंगे।

प्रकाशके दो अंग हैं—गरमी और रोशनी। प्रेम और कर्मकी गरमी हो और ज्ञानका प्रकाश हो! लेकिन खैर! यह दीपक जलाना आसान नहीं, अक्सर मेहमान (अतिथि) भी जब घरमें

आते हैं तो कुछ कर ही लेते हैं। बाहरके दीपक आप जलायें, वहाँ वे जला लेंगे, लेकिन घर तो खाली कीजिये। बड़े शानदार मेहमान हैं—बादशाह और शाहंशाह जिनके आगे काँपते हैं। अच्छा, अगर वह (घर—हृदय) सज नहीं सकता तो खाली ही कर दीजिये, वह खाली होना ही उसके लिये एक सजावट होगी। यह भी एक बड़ी भारी शोभा होगी। निकालिये दिलसे बाहर जो कुछ भी उसमें भरा है, उनके आनेसे वह घर खुद ही सज जायगा। नहीं, उसके खाली होते ही तो उनको (भगवान्‌को) ज़बरदस्ती आना पड़ेगा क्योंकि जब ग्लाससे पानी निकल जाता है तो हवा तो उसमें अपने आप ही भर जाती है; वह तो बेचारी कोई खाली जगह ढूँढ़ती है। लेकिन जब वे (प्रभु) आपके दिलमें आ सकेंगे और अपने आपको बिल्कुल अकेला पायेंगे तो शायद उनका जी न लगे। आप कहेंगे वे अकेले कैसे हुए ? वे तो अपनी शक्ति (लक्ष्मीजी) के साथ होंगे। तो उसका जवाब यह है कि शक्ति और वे दो नहीं हैं, बस, वे अकेले ही तो हुए।

अपना यह दावा कोई दिलमें नहीं तेरे सिवा।
उनका यह इल्ज़ाम अच्छा क़ैद तनहाई हुई॥

अपना तो यह फ़ैसला है कि अब हमारे हृदयमें सिवा प्रभुके कोई रहा ही नहीं और वे इस जुर्ममें हमको मार रहे हैं कि हमको अच्छा अकेले क़ैद किया!

बाहरके दीपक मिट्टीके होते हैं उनमें तेल और रूई जलायी जाती है। आप अपने दिलके दीपकको भावकी बत्ती बनाकर उसपर प्रेमके आँसुओंका तेल छिड़क दीजिये। रहा उसका (हृदयप्रदीपका) जलना सो वह तो उनकी कृपासे ही हो जायगा। इस प्रकाशका मतलब यह भी है कि एक तरफ़ तो यह आग कुल अन्धकारको नष्ट करती है और दूसरी तरफ़ अन्धकारमें छिपी हुई वस्तुओंको प्रकट करती है—गोया उसका काम एक तरफ़ मिटाना और दूसरी तरफ़ बनाना है। अब प्रभु उसमें आ गये, दीपकको जला बैठे, अन्धकारको नष्ट किया और खुद प्रकट हो गये। लेकिन अब वहाँ उनका अकेले बैठनेको दिल नहीं चाहता, वे आपको बुला रहे हैं और उनकी शक्ति आप बच्चोंकी तरह-तरहकी वस्तुएँ देकर प्रसन्न करना चाहती है। पहले आपने उनके बुलानेके लिये सब कुछ हृदयसे निकाला लेकिन जब वे आये तो उसको अकेला देखकर सजाने लगे।

तू अगर मेरा बने सारा जहाँ मेरा है फिर।
तू अगर मेरा नहीं तो फिर कोई मेरा नहीं॥

यह प्रेमकी आग पहले सिवा अपने ध्येयकी सब कुछ जला देती है और जब ध्येय सामने आता है तब उसके बलसे खींची हुई बाक़ी चीज़ें रौनक़ बढ़ानेके लिये खुद ही आ जाती हैं।

खाँडके खिलौने

खिलौनोंमें सिवा खाँडके कुछ नहीं होता, लेकिन न मालूम शक्लें क्यों पसंद आती हैं। वे शक्लें उसी खाँडकी हैं, उसीमें रहती हैं और उसीमें मिट जाती हैं। जिस तरह खाँडका नामरूप खाँडसे एक है उसी तरह लक्ष्मी प्रभुसे एक हैं, यह उनमें उन्हींके संकल्पद्वारा सृष्टि बनाकर उन्हींमें अपने बच्चों (जीवों) को खिलाती है और अन्तमें उन्हींके साथ मिला देती है। बाज़ खाँडके खिलौने बहुत ही सुन्दर मालूम होते हैं और बाज़ डरावने। बच्चे अक्सर डरावने खिलौनोंसे डर जाते हैं लेकिन वे भी वस्तुतः खाँड ही होते हैं। डरावना देव किस चीज़का बना हुआ है ? खाँडका। यह शेर किससे बना है ? खाँडसे। अजगर किससे बना है ? खाँडसे। इसी तरह सांसारिक भयानक वस्तुओंमें भी प्रभु खुद विराजमान हैं और वे तमाम चीज़ें उन्हींकी आज्ञासे प्रकट हुई हैं। फिर किसीकी क्या मजाल है कि कोई दुःख दे सके, बच्चे भयंकर खिलौनोंको देखकर डरते हैं और बड़े लोग हँसते हैं। जिस तरह हर खिलौनेमें खाँड और मिठास मौजूद है उसी तरह संसारकी हर वस्तुमें प्रभु छिपे हुए हैं।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

कूड़े-कर्कटको बाहर फेंकना।

इसका मतलब यह है कि अगर जीव रोज़ाना नहीं, हफ्तेवार नहीं; माहवार नहीं तो कम-से-कम सालहीमें अपने दिलके कूड़े-कर्कट (पापों) को साफ़ करके दिलमें उनके प्रेमके दीपकको जलाकर कुछ अरसेके लिये तो बैठ जाया करे जिससे लक्ष्मी और प्रभु दोनों प्रसन्न हों। क्योंकि वे खुद प्रकाश हैं इसलिये उनको प्रकाश अच्छा लगता है। ऐ दिल! अगर तुझे कहीं भाग्यवश कोई फ़ुरसतका समय मिल जाय तो तू अपने उस थोड़े-से समयको उस चाँदके मुखड़ेवाले प्रभुके ध्यानमें बग़ैर सोचे-समझे लगा दे क्योंकि उसका थोड़े समयका भी सुख सांसारिक तमाम खुशियोंसे बढ़कर है। जब तेरा ध्यान प्रभुमें लगेगा तो सांसारिक वासनाएँ तेरे मनसे खुदबखुद उठ जायँगी। जब इस प्रकार

द्वैत न रहेगा तो रागद्वेष भी न रहेगा। उसका परिणाम दुःख-सुख भी तेरे सामने न आयेंगे। गोया तू हर तरह प्रसन्न होगा।

बफ़राग़े दिल ज़माने नज़रे ब माहे रूए,
बे अज़ाँ कि चतरे शाही हमारोज़ हाओ हुए।

अगर चित्तको किसी समय फ़ुरसतका समय मिले तो उस वक्त एक निश्चिन्त और एकाग्र दृष्टिसे प्रभुकी ओर तक लेनेमें जो आनन्द है वह सांसारिक तमाम सुखप्रद पदार्थोंको एकत्रित कर लेनेपर भी प्राप्त नहीं किया जा सकता।

पहले तो दिलमें फ़ुरसतका मिलना ही कठिन है क्योंकि जाग्रत अवस्थामें तो वह दिनभर सांसारिक झंझटोंमें जकड़ा रहता है, और स्वप्नावस्थामें उन्हीं बातोंको याद करके हँसता और रोता रहता है, इसलिये वहाँ भी फ़ुरसत कहाँ! रही सुषुप्ति अवस्था, उसमें तो थककर कुछ ऐसा रूप अख्तियार कर लिया कि बेहोशीकी हालत हो गयी, इसलिये वहाँ फ़ुरसतका सवाल ही पैदा नहीं होता। ऐसे मसरूफ़ या चञ्चल मनमें अगर कहीं कोई समय फ़ुरसतका मिल जाय तो उसको बिना सोचे-समझे प्रभुके ध्यानमें लगा देना चाहिये—यह ख़याल करते हुए कि कौन कह सकता है कि ऐसा समय फिर आयेगा कि नहीं?

जूआ

जूआ खेलना—क्या जीवोंसे? नहीं, नहीं, बल्कि प्रभुसे। छिपकर? नहीं, ज़ाहिरी तौरपर, लाखों दीपकोंके प्रकाशमें। ताकि कहीं ग़लतीकी जगह न रहे। लीजिये, प्रभु आ गये, खेल शुरू कीजिये। लेकिन आप दाँवपर क्या लगायेंगे? उनके साथ कोई मामूली बाजी तो लगायी नहीं जा सकती। क्या धनसे खेलें? नहीं, धन तो सब उन्हींका है। शक्तिसे? वह तो मिली ही वहाँसे है। विद्यासे? वह तो उस ज्ञानके समुद्रकी कोई नन्ही-सी बूँद है। फिर आखिर करें क्या? क्या खेलना छोड़ दें? नहीं, रस्म कैसे पूरी होगी? अच्छा जो कुछ भी तुम्हारे पास तुम्हारा है उसे दाँवपर लगा दो। प्रभु इस बातका ख़याल नहीं करेंगे कि वह चीज़ छोटी है या बड़ी। उन्हें तो कुछ खेलना है। हाँ, याद आ गयी। हमारे पास एक चीज़ है जिससे हम खेल सकते हैं। और वह है हमारा अपना आप (मैं, मेरा, खुदी, अहंकार)। आइये तो फिर इसीसे खेलना शुरू करें। उधर प्रभु भी तो कह रहे हैं कि हम भी तो वही चीज़ दाँवपर लगायेंगे जो तुमने लगायी है। बस, तो फ़ैसला हो गया। दोनों तरफ़से 'मैं', 'मेरा' दाँवपर लग चुका। इधर हमारा 'मैं', 'मेरा,' उधर प्रभुका 'मैं' 'मेरा',! क्या अच्छा दाँव है! अच्छा, खेल शुरू कीजिये। प्रभुको जल्दी जाना है! लेकिन खूब याद आयी। हर तरह फ़ायदा-ही-फ़ायदा है, आखिर क्यों न हो बड़े जो सामने बैठे हैं। यह उन्होंने कृपाका बहाना बनाया है। आखिर जीत हमारी ही हुई। खेल ख़त्म कीजिये क्योंकि अगर हम हार गये तो हमें उसके प्रेमका हार मिला इसलिये कि हारमें 'मैं', 'मेरा' गया—मैं, मेरा, खुदी और अहंकार······। उसके जानेसे ही प्रभु मिलते हैं। गोया इस हारमें जीत ही मिली क्योंकि अपना आप खोकर हारे और प्रभुसे जा मिले। और अगर कहीं भाग्यवश जीत गये तो कहना ही क्या है? प्रभुको ही पा लिया। हरदो हालतमें जीत, हारे तो भी और न हारे तो भी! नहीं, सच बात तो यह है कि हम ही हारे क्योंकि अगर जीते तो भी 'हम' न रहे और अगर हारे तो भी गये!

जब वह आया तो गुम गये बस हम,
उसके जल्वामें यह असर देखा!

वाह! वाह!! कैसा सुन्दर जूआ है। हारे तो भी उनके नज़दीक हो गये और जीते तो वे पास आ गये। मेरी प्रभुसे प्रार्थना है कि वे जल्दी ही संसारके जीवोंको सांसारिक और पारमार्थिक जीवनका सुख प्रदान करें। यह संसार लक्ष्मीसे बना, उसके बाद प्रभुका नाम प्रकट हुआ और प्रभुका नाम पहले ही था तो लक्ष्मीने संसार बनाया। गोया ये एक हैं। उनको मेरा प्रणाम है।

इधर मादियत (प्रकृति) कि तरक्की हदको पहुँची और उधर रूहानियत (पारमार्थिक-सत्ता) चुपकेसे बढ़ती गयी, अब दोनों सीमा एक जगह मिल गयीं इसलिये त्याग किसका करे? एक शरीर बन गया दूसरा प्राण। फिर त्याग किसका हो? मायाका? वह तो ईश्वरकी शक्ति है! और ईश्वरका त्याग बनता ही नहीं। हाँ, इतना त्याग ज़रूरी है कि 'यह सब तू है या तेरा है'।

हे प्रभो! हम दिवालीपर दीपक जलाते हैं तेरी यादमें और लक्ष्मीकी यादमें; लेकिन वे हवाके मामूली झोकोंसे बुझ जाते हैं। क्या तुझको भी दिवाली मनानेका शौक है? क्या तू भी अपनी शक्ति (लक्ष्मी) की यादमें दीपक जलाना चाहता है? क्या तू चाहता है कि लक्ष्मी-पूजन आलमगीर (Universal सार्वभौम) हो, तो तू हमारे दिलोंमें अपने प्रेमका

सच्चा दीपक जला दे क्योंकि वहाँ हम नहीं जला सकते और तू जला सकता है। इससे तेरी ही शक्तिका पूजन हो; दूसरे शब्दोंमें तेरा ही पूजन होगा और संसारमें कहीं अन्धकार न रहेगा। बाहरके दीपक हम जलाते हैं अन्दरका तू जला।

मैं आशा करता हूँ कि इस दिवालीपर कोई दिन तेरे प्रेमके दीपकसे खाली न रहेगा। यह मुद्दतका बुझा हुआ दीपक फिर जलेगा और दिवाली पूरे मानोंमें मनायी जायगी। आ और इनको जला दे! अपने प्रेमसे भड़का दे, अब कोई घर उजड़ा और बरबाद न रहे। इसमें तेरा ही काम होगा और हमारा कल्याण होगा।

अब संसारका कोई हिस्सा ऐसा न हो जहाँ प्रकाश न हो, लक्ष्मी न हो, और जहाँ तू न हो। यह दिवाली इस मर्तबा आपको मनानी ही पड़ेगी वरना आपकी शक्ति आपसे नाराज़ हो जायगी और कहेगी कि मेरे पति मेरे स्वागतमें उन जगहोंपर (दिलोंमें) दीपक क्यों नहीं जलाते कि जहाँ आप लोग पहुँच नहीं सकते।

मेरी माँ! क्या देख रही हो! लाखों घर तुझसे खाली हैं। हाँ, अचानक आग कैसी भड़की? यह प्रकाशकी ज्वालाएँ किधरसे निकली!—यह हैं ग़रीबोंकी आहें, जिनमें दुःखकी आगके भभूके नज़र आ रहे हैं। क्या ग़रीब इन्हीं दीपकोंसे तेरा स्वागत करेंगे? क्या यह भड़कती हुई आग, मनुष्योंको भस्म करनेवाली तुझको अच्छी लगेगी? नहीं, तू इन्हें पसन्द नहीं करेगी। आ, और इनकी ग़रीबीकी आगको बुझा और वहाँ खुशहालीके दीपक जला दे। आखिर तुझको भी तो कोई दीपक जलाना ही चाहिये। मेरी यह हार्दिक इच्छा है कि अब संसारका कोई हिस्सा, कोई क़ौम, कोई फ़िरक़ा, कोई मनुष्य, सांसारिक और पारमार्थिक सुखसे खाली न रहे। खुशहालीका दीपक हर घरमें चमकता हो और उसकी किरणोंसे प्रभुका मार्ग साफ़ होता रहे—गोया सांसारिक और पारमार्थिक जीवन इकट्ठा हो जावें। मेरी माँ! सुन लिया जो मैंने कहा है? अच्छा प्रणाम!!!

जब कभी चलती है बादे इन्तज़ारे रहबरा।
सीनए दरियामें हक करता है इक सूरत अयाँ॥

जब कभी मनुष्योंमें (Guide) जगद्गुरु, अवतारसे सच्चा मार्ग देखनेके लिये तीव्र इच्छाकी हवा चलती है तो उस सत्यरूपी समुद्रके हृदयमें एक लहर पैदा हो जाती है। बस, उस लहरका नाम कुछ भी रख लीजिये।

प्रार्थना

साफ़ अब अश्कोंसे आँखोंको मसीहा कर दे,
रोनेके बज़्मे मोहब्बतको दोबाला कर दे।
दोज़ख़े दिलमें ज़रा अपना उजाला कर दे,
ज़िल्लते जहलसे फिर मेरा किनारा कर दे॥
ढूँढता हूँ जिसे मैं गोशए वीरानीमें,
मुझको उस सूरते जेबाका शनासा कर दे।
कोरे चश्मीने मुझे मुद्दतों हैरान किया,
ख़ाके दरबारसे फिर 'नाथ' को बीना कर दे॥

जीवनके विकासकी धारणाएँ

(लेखक—रायसाहेब श्रीलालचन्दजी)

१—भगवान् अपनी पूर्ण शक्तियोंके साथ मेरे हृदयमें परिपूर्ण हैं।

२—मेरे अन्दर और बाहर भगवान् हैं, मैं सुरक्षित हूँ। भगवान् मेरे आगे, पीछे, दायें, बायें, ऊपर, नीचे सब दिशा-उपदिशाओंमें व्याप्त हैं, मैं अभय हूँ।

३—भगवान्‌के निरन्तर साथके कारण मेरी आत्मशक्ति बढ़ रही है।

४—मेरे दोष क्षीण हो रहे हैं। मेरा जीवन उन्नत हो रहा है। मैं दिनों-दिन अधिक-से-अधिक नीरोग हो रहा हूँ। मैं अनन्त शक्तिभण्डारसे जुड़ा हुआ हूँ, मैं पापसे अलग हूँ। आयु, प्राण और जीवनसे सदा युक्त हूँ।

५—भगवान्‌की कृपासे मेरे अन्दर चेतनता, उत्साह, सावधानता, धैर्य, बल, पराक्रम, सत्य, प्रेम, दृढ़ता और स्थिरता आदि सद्गुण बढ़ रहे हैं।

६—भगवान्‌को मुझसे प्रेम है, उनके प्रेमसे मुझे नित्य नवजीवन प्राप्त हो रहा है।

७—भगवान्‌की कृपासे प्राप्त हुआ जीवन उनकी प्रेरणासे सद्विचार, सदाचार और सद्व्यवहारमें लग रहा है।

श्रीग्वारिया बाबाका वृन्दावन-वास

(लेखक—आचार्य श्रीअनन्तलालजी गोस्वामी)

प्रभुके प्यारे आचार्य, संत-महन्त, महात्मा और भक्तोंके विचित्र रहस्यमय रहन-सहन एवं चरित्रको साहित्यिक रूपमें लिखना सरल नहीं है। उन प्रेम-पथिकोंकी भाषा, भाव, वेश, सभी तो विचित्र होते हैं। प्रेमियोंकी भाषाको 'अटपटी वाणी' तो कहते ही हैं। ऐसे ही प्रेमियोंमेंसे एक श्रीवृन्दावननिवासी 'ग्वारिया दादा' थे। आपका श्रीकृष्णमें सखाभाव था। आप अपने प्यारे कन्हैयासे मिलनेके लिये व्रजके 'वनकु-ञ्जन' में विचरते ही रहते थे। जब आपको भावुक और स्वार्थी भक्त अधिक घेर लेते तब आप 'मौनव्रत' धारण कर लेते थे। किसी भी मन्दिरके जीर्णोद्धार अथवा शुभ कार्यमें व्यय करते तो हजारों ही रुपये। ये रुपये उनके पास कब कहाँसे आते थे किसीको मालूम नहीं।

ग्वारिया बाबाको बुरा कहनेवाला किसीको न देखा। आप सङ्गीतशास्त्रके पूर्ण पण्डित थे, किन्तु भगवत्-मन्दिरके सिवा अन्यत्र कभी कहीं भी गान-वाद्य नहीं करते।

गोपकुमार सखासे रूठना, मनाना, खोजना, पुकारना, बस, यही ग्वारिया दादाके जप, तप, दान, धर्म सब कुछ थे। कृष्णके कैदी बने, हाथोंमें हथकड़ी डाले कभी कुञ्जगलियोंमें, कभी ज्ञानगुदड़ीमें, कभी राधारमणके रासमण्डलपर बन्दी बने, विचरते थे। सौ वर्षकी अवस्थामें भी बीस सेर रूईके लवादेको लादे हुए ग्वारियाकी दौड़को देखकर नवयुवकोंको झेंप आती थी।

आपके सारे शरीरके चँवरसे चमचमाते सफेद बालोंसे एक चमक-सी निकलती थी। प्रेमानन्दमें छके हुए प्रसन्नमुखमें आकर्षक तेज था। कहाँतक लिखा जाय, आपकी सभी बातें विचित्र थीं।

कौन जानता था कि, नन्दनन्दन-सखा अपनोंको छोड़कर जानेकी सूचना दे रहे हैं। आजसे आठ दिन पूर्व आपने एक सूचना (नोटिस) छपायी थी। उस अन्तिम नोटिसकी प्रतिलिपी यह है।

दिल्लीमें

मङ्गतानकी पकड़ झूँठी निकरी ! भाई ! ग्वारिया डरपोक नहीं, सिंह है। वाह रे हम, शेख-चिल्लीको गुरू, ग्वारिया किसीसे डरनेवारो नहीं है, हमकूँ कोई कहा डरपावेगो, जब ईश्वरसे भी नहीं डरू हूँ। तब और सूँ कब डरूँगो।

भाई पुलिस देवता और सब सम्प्रदायवारे महात्मा आपसमें चेला-सेवकके नाते पै लड़नो नहीं, मैं महा-कङ्गाल हूँ, मेरे पास एक कौड़ी कफनको भी नहीं रहैगो। कफन लड़नेवारेके सिर परैगो, भण्डारेकी कोई आवश्यकता नहीं—

भण्डारेको अन्न खानेसे भजनमें रजन होन लगै है। वेदवाक्य, गोपवाक्य भाई एक समझनो, नौकरी करनेमें तो मैं पक्को हूँ। परन्तु मल मैं अपनो ही धोउँगो ग्वारिया वीर कृष्णसे—जीवसे नहीं, जीवको तौ सदा पिटोकरा हूँ।

× × ×

आ० शु० १३ रवि० सं० ९४ को रात्रिके ९ बजे ब्रह्मचारीजीके मन्दिरसे आप रमणरेती (वृन्दावन-परिक्रमा) में जा बैठे। वनवासी संत भक्तोंसे कहा कि 'आज मरूँगो।' प्रेमयोगी ग्वारिया दादा (बाबा) रमणरेतीमें राधारमणकी रटनमें बैठे ही रह गये। चिन्मय देहसे सखा श्यामसुन्दरकी प्रेमकुञ्ज-कुटीरमें और इस शरीरसे साधु-महात्माओंके काँधेपर चढ़ नामकीर्तनके साथ यमुनातीर पहुँच गये।

दादा तुम तो छुपकर अपने प्यारेके पास सदैवको गये हो किन्तु तुम्हारे इस निधनकी पूर्ति असम्भव है !

गोपकुमार ग्वारियाका अभाव समय-समयपर खटकता ही रहेगा।

पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके उपदेश

(प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

(१) दरिद्री वही है जो विषयोंमें फँसा हुआ है और धनी वही है जिसे किसी भी चीजकी इच्छा नहीं है। दुनियाकी ख़्वाहिशको छोड़ दो और सब सहन करो यही महापुरुषोंका लक्षण है।

(२) पशु वही है जो स्वभावको वशीभूत नहीं करता। हमें यदि अफीम खानेकी आदत है और हम उसे त्याग न कर सकें तो हम पशु ही हैं।

(३) जीव पागलोंकी तरह घूम रहा है। इसका असली अनुराग किसीमें नहीं है। बावले कुत्तेकी तरह चारों ओर डोल रहा है। जो चीज नाना होती है उसमें पूर्ण अनुराग हो ही नहीं सकता। विषय अनेक हैं, इसलिये उनमें असली अनुराग नहीं हो सकता। भगवान् एक हैं, अतः उन्हींमें पूर्ण अनुराग होना सम्भव है। अनुराग निरन्तर चिन्तनसे होता है। वाणीसे उसीका गुणगान करे, हृदयसे उसीका चिन्तन करे और नेत्रोंसे उसके सिवा और किसीको न देखे।

सीयराममय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी॥

इस प्रकार जगत् नहीं, बस सियाराम-ही-सियाराम देखे। सियाराम ही इष्ट रहे। उसके सिवा जो कुछ मनमें आवे उसे हटाता रहे।

एक बार श्रीमन्महाप्रभु गौराङ्गदेवजी बैठे थे। उनके किसी शिष्यने पूछा 'महाराज, परमात्मा निराकारसे साकार कैसे हो गये?' यह सुनकर श्रीमहाप्रभुजी रोने लगे और कहा कि हमारे यहाँ ऐसा कौन है जो ऐसा प्रश्न करता है। अरे, जब परमात्मामें सारी शक्तियाँ हैं तो क्या वह निराकारसे साकार नहीं हो सकता? फिर उससे कहा, 'जाओ सौ बार गंगाजीमें स्नान करो।'

संसारी बातोंसे सुख या शान्ति मिल जायगी ऐसा सोचना मूर्खता है।

अपने मन और बुद्धि गुरुको बेच दो। वे जैसा कहें वैसा ही करो। जिस गृहस्थके यहाँ अतिथियोंका सत्कार होता है, ब्राह्मणोंका पूजन होता है, साधुओंकी सेवा होती है और सब लोग परस्पर प्रेमसे रहते हैं, वह घर वास्तवमें स्वर्ग ही है।

अपने प्यारेके सिवा किसी दूसरेका चिन्तन न करना ही भक्ति है। यह एक सुकुमार पौधेके समान है। इसकी रक्षा करनेकी जरूरत है। ज्ञान तो विशाल वृक्षके समान है। उसे किसी रक्षककी अपेक्षा नहीं है। भक्त तो यदि पन्द्रह दिन भी नास्तिकोंकी बातें सुन ले तो अपनी भक्ति खो बैठेगा।

प्र०—मनुष्योंके पाप कैसे दूर होते हैं?

उ०—भगवान्के चिन्तनसे।

प्र०—पाप होता कैसे है?

उ०—संसारके चिन्तनसे।

प्र०—महाराजजी, जो भक्ति नहीं करता किन्तु जिसके आचरण शुद्ध हैं और जो देशकी सेवा भी करता है, वह कैसा है?

उ०—क्या यह भक्ति नहीं है?

प्र०—नहीं, वह तो केवल देशकी ही सेवा करता है।

उ०—क्या संसार भगवत्स्वरूप नहीं है?

प्र०—किन्तु यदि वह ईश्वरको मानता ही न हो, केवल देशसेवा ही करता हो?

उ०—जो ईश्वरको नहीं मानता उसका कल्याण कदापि नहीं हो सकता। प्रत्येक प्राणीको भगवत्स्वरूप समझो। अच्युतभाववर्जित जो भी कर्म करोगे वह निष्फल ही होगा। अच्युतभावके बिना तो ज्ञान भी निष्फल है। आजकलके लोग ऐश्वर्य-मदसे उन्मत्त हैं, इसीसे ईश्वरको नहीं मानते। जब यह मद उतर जाता है तो झट ईश्वरमें विश्वास हो जाता है।

प्र०—क्या पत्थरकी मूर्ति भगवान् हैं ?

उ०—मूर्ति पत्थरकी नहीं होती वह तो भगवान्‌की है। यदि हम श्रद्धापूर्वक एक वृक्षकी उपासना करें तो वह भी मूर्तिमान् होकर नाचने लगेगा। मूर्तिमें भी उपासना करके भगवान्‌का प्राकट्य किया जा सकता है।

कल्याण

सारा संसार मनके ही आधारपर स्थित है और मनके ही अनुसार तुम्हें उसका रंग-रूप भी दिखलायी देता है। तुम्हारा मन यदि शुद्ध है तो तुम्हें जगत्‌में भी शुद्धपन अधिक दीखेगा। याद रक्खो, जिनको अपने मनमें भगवान् विराजमान दीखते हैं, उन्हें सारे जगत्‌में भगवान् दीख सकते हैं। और जिनके मनमें पाप भरे हैं उनको जगत् पापोंसे भरा दीखता है। जीवन्मुक्त महापुरुष समस्त संसारको ब्रह्ममय देखते हैं, भक्त जगत्‌को भगवान्‌से परिपूर्ण पाते हैं और इसीलिये दोनों सर्वत्र तथा सर्वदा परम शान्ति और परमानन्दको प्राप्त रहते हैं।

यदि सुख और शान्ति पाना चाहते हो तो पहले मनमें सुख और शान्तिकी मूर्तियाँ स्थापन करनेकी चेष्टा करो। अपने मनके विचारके अनुसार वस्तु तुम्हें प्राप्त होगी और तुम भी वैसे ही बन जाओगे। तुम यदि निश्चय कर लो कि पाप-ताप न तो तुम्हारे अन्दर हैं और न कभी तुम्हारे समीप आ सकते हैं तो निश्चय समझो कि पाप-ताप तुम्हारे पाससे भाग जायँगे—इतना ही नहीं, तुम जहाँ भी जाओगे वहाँ दूसरोंके पाप-तापोंको भी भगा सकोगे।

तुम अपने मनमें निश्चय करो कि मैं सदा-सर्वदा भगवान्‌की संरक्षकतामें हूँ, भगवान् कभी भी मुझको अकेला नहीं छोड़ते, वे निरन्तर मेरे बाहर-भीतर सर्वत्र विराजित रहते हैं, भगवान्‌की इस नित्य सन्निधिके प्रभावसे पाप-ताप मेरे पास आ ही नहीं सकते। काम-क्रोधादिका प्रवेश मेरे मनमें कभी हो ही नहीं सकता। मैं नित्य शुद्ध हूँ, निष्पाप हूँ, दुर्विचार और दुर्गुणोंसे सर्वथा रहित हूँ, मन तथा शरीरसे नीरोग एवं बलवान् हूँ और नित्य आनन्दको प्राप्त हूँ। इस प्रकारकी धारणा बारम्बार करते रहो। कुछ ही समयमें देखोगे—तुम वास्तवमें ऐसे ही बनते जा रहे हो।

यह सत्य है और ध्रुव सत्य है कि भगवान् नित्य तुम्हारे साथ हैं, वे सर्वथा तुम्हारा संरक्षण करते हैं। और आत्मदृष्टिसे तुम्हारा स्वरूप भी नित्य शुद्ध-बुद्ध और निष्पाप है। तुम इस सत्य तत्त्वको भूलकर अपनेको पापात्मा, दोष और कुविचारोंसे युक्त, निर्बल और असहाय मान बैठे हो, और ऐसा मानते-मानते वस्तुतः ऐसे ही हो भी चले हो। अब इसके विपरीत अभ्यास करो, प्रतिपल भगवान्‌का, भगवान्‌की कृपाका और भगवान्‌की शक्तिका अपने अन्दर अनुभव करो।

इसका यह अर्थ नहीं है कि तुम पाप करते रहो, दुष्ट विचार और दुर्गुणोंमें प्रीति करके उन्हें बढ़ाते रहो, भगवान्‌को न मानकर पार्थिव पदार्थोंपर अभिमान करो और ऐसा करते हुए भी अपनेको शक्तिमान् और बलवान् मान बैठो, और भगवान्‌को भूलकर केवल अहङ्कारमें ही डूबे रहो। मनके शुभ निश्चयके अनुसार हो शुभ आचरण भी करो। यह सत्य है कि भगवान्‌की कृपाके बलसे तुम्हारे मनका निश्चय अटल हो जायगा और तुम्हारे आचरण अपने-आप शुभ बनने लगेंगे, परन्तु तुम नित्य उस कृपाका अनुभव करते रहो और कृपाके बलसे तमाम बुराइयोंको हटाते हुए कल्याणके मार्गमें बढ़ते रहो। दुष्ट विचार, दुर्गुण और दुष्कर्मोंको त्यागकर प्रभुस्मरण, अहिंसा, सत्य, क्षमा, सन्तोष, प्रेम, दया, सेवा, सरलता और पर-हित-रति आदि शुभ विचार, सद्‌गुण और सत्कर्मोंके ग्रहण करनेपर कहीं विपत्ति आ जाय, बड़े भारी संकटका सामना करना पड़े तो घबड़ाकर इन्हें छोड़ मत दो, मनमें जरा भी ऐसा सन्देह न आने दो कि अशुभको छोड़कर शुभको ग्रहण करनेसे ऐसा हुआ है। विश्वास रक्खो ये विपत्ति और संकट वास्तवमें विपत्ति और संकट नहीं हैं, ये तो भगवान्‌के भेजे हुए तुम्हारे मददगार हैं जो विपत्ति और संकटका स्वाँग भरकर कसौटीमें कस-कसकर तुम्हें सर्वथा निर्दोष बनानेके लिये आये हैं। इन्हें देखकर घबड़ाओ मत। इनका स्वागत करो, और अपनी सरल, शुभ, शुद्ध और अटल साधनासे अपनी चालपर सुदृढ़ रहकर—इनके नकली स्वाँगको हटाकर इन्हें अपने सच्चे सहायकके रूपमें प्राप्त कर लो।

याद रक्खो—साधनमार्गके ये संकट तुम्हें शीघ्र-से-शीघ्र मुक्तिमन्दिरमें ले जानेवाले, भगवान्‌के शीघ्र दर्शन करानेवाले और तुम्हारी साधनाको पूर्णतया सफल बनानेवाले हैं। घबड़ाहट, विषाद, भय, आलस्य और संशय आदि ही वास्तविक विघ्न हैं, उन्हींसे बचो।

भगवान्‌के पावन मार्गमें सबसे बड़े विघ्न तीन हैं, विषयभोगोंकी कामना, मान-बड़ाईका मोह और अश्रद्धा। जहाँतक हो सके इन तीनोंसे बचो। बुरे विचार, बुरे गुण और बुरे कर्म तबतक पूरी तौरसे नहीं मिटेंगे जबतक ये तीनों रहेंगे। भगवान् ही एकमात्र प्राप्त करने योग्य वस्तु हैं, मान-बड़ाईका मोह हमें बार-बार मृत्युके मुखमें ले जानेवाला है और अश्रद्धा सारे परमार्थविचारोंका नाश करनेवाली है, बार-बार ऐसा विचार करके मान-बड़ाईके मोह तथा अश्रद्धाका त्याग करो और एकमात्र भगवान्‌को प्राप्त करनेकी साधनामें लग जाओ और भगवान्‌की सर्वत्र सत्ता, उनकी कृपा और उनकी शक्तिपर विश्वास करनेसे सहज ही तुम ऐसा कर सकोगे।

मनको विशुद्ध बनाते रहोगे, बुरी भावनाओंका त्याग करते रहोगे तो भगवान्‌की कृपाका अनुभव तुम्हें होगा ही। निरन्तर सद्भावनाओंको मनमें लानेकी चेष्टा करो। सद्भावनाओंके आते ही बुरी भावनाएँ अपने-आप नष्ट हो जायँगी। सद्भावनाओंसे सद्गुणोंकी और सत्कर्मोंकी वृद्धि होगी, और तुम परम शान्ति और परमानन्दको प्राप्त कर सकोगे। याद रक्खो, परम शान्ति और परमानन्द एक भगवान्‌में ही हैं और भगवान् तुमसे कभी अलग नहीं हैं, वे नित्य तुम्हारे साथ हैं, तुमपर नित्य उनकी कृपाकी अनवरत वर्षा हो रही है, तुम सदा उनकी कल्याणमयी छत्र-छायामें हो, तुम्हारा सारा फिक्र उनको है और वे ही स्वयं नित्य तुम्हारा योगक्षेम वहन कर रहे हैं। 'शिव'

पशु-धन

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

आज भारतवर्षकी जैसी दुर्दशा है, उसे देखकर विचारवान् पुरुषमात्र प्रायः दहल उठेंगे; भारतवर्षकी वह पुरानी सभ्यता, उसकी शिक्षाप्रणाली और उसका बल-बुद्धि, तेज आदिसे भरा हुआ जीवन आज कहाँ है ? जिस भारतवर्षसे अन्य समस्त देशोंके सहस्रों नर-नारी शिक्षा ग्रहण कर अपना जीवन उन्नत बनाते थे, आज उसका वह अलौकिक गौरव कहाँ है ? आज तो वह सर्वथा बलहीन, विद्याहीन, बुद्धिहीन और गौरवहीन होकर पराधीन हो गया है। इस अवनतिका कारण क्या है ? विचार करनेसे अनेकों कारण जान पड़ते हैं। उन्हीं कारणोंमेंसे पशुओंका ह्रास भी एक प्रधान कारण है। इसी विषयपर कुछ लिखनेका प्रयत्न किया जा रहा है।

पूर्वकालमें इस देशमें पशुओंकी कितनी अधिकता थी, यदि इस बातपर पूर्णरूपसे विचार किया जाय तथा उनकी संख्याका हिसाब लगाया जाय तो बहुत-से लोग उस संख्याको असम्भव-सा समझेंगे। किन्तु यह ऐतिहासिक और प्रामाणिक बात है। वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डमें कथा आती है कि भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके पास त्रिजट नामका एक ब्राह्मण आया और उसने उनसे धनकी याचना की। महाराजने उससे कहा कि 'मेरे पास बहुत-सी गौएँ हैं, आप अपने हाथसे एक डण्डा फेंकिये, वह डण्डा जहाँ जाकर गिरे, यहाँसे वहाँतक जितनी गौएँ खड़ी हो सकें, आप ले जाइये।' विचार करनेसे पता चलता है कि जहाँ विनोदरूपमें एक याचकको इस प्रकार हजारों गौएँ दानमें दी जा सकती हैं, वहाँ दान देनेवालेके पास कितनी गौएँ हो सकती हैं ? भागवतमें राजा नृगका इतिहास बहुत ही प्रसिद्ध है, वे हजारों गौओंका दान प्रतिदिन किया करते थे। केवल पाँच हजार वर्ष पहलेकी बात है कि नन्द-उपनन्द आदि गोपोंके पास लाख-लाख गौएँ रहा करती थीं, यह बात भी भागवतमें ही है। महाभारतके विराटपर्वसे भी यह पता चलता है कि राजा विराटके पास लाखों गौएँ थीं, जिनका हरण करनेके लिये कौरवोंकी विशाल सेनाने दो भागोंमें विभक्त होकर विराटनगरपर चढ़ायी की थी।

उस समय जिस प्रकार गौओंकी अधिकता थी, उसी प्रकार अन्य पशुओंकी भी बहुलता थी। घोड़े, हाथी आदि पशुओंकी संख्याका अनुमान लगाइये, एक अक्षौहिणी सेनामें इक्कीस हजार आठ सौ सत्तर (२१८७०) हाथी, पैंसठ हजार छ सौ दस (६५६१०) घुड़सवारोंके घोड़े और सतासी हजार चार सौ अस्सी (८७४८०) रथोंके घोड़े होते हैं। ऐसी तेईस अक्षौहिणी सेना लेकर जरासन्धने सत्तरह बार भगवान् श्रीकृष्णपर चढ़ायी की थी एवं प्रति बार भगवान्ने सबका विनाश कर दिया था। महाभारतके उद्योगपर्वमें कौरवोंकी ओरसे ग्यारह अक्षौहिणी और पाण्डवोंकी ओरसे सात अक्षौहिणी सेना कुरुक्षेत्रके मैदानमें इकट्ठी हुई थी, ऐसा उल्लेख मिलता है। उनमें केवल ग्यारह मनुष्य ही शेष बचे थे, बाकी सबकी सब सेना मारी गयी थी। इस प्रकारके बड़े-बड़े संहार होते रहनेपर भी करोड़ों पशु वर्तमान थे। किन्तु बड़े दुःखके साथ लिखना पड़ता है कि आज उस अनुपातसे विचार करनेपर रुपयेमें एक आना भी पशुओंकी संख्या नहीं रही है।

देश, जाति, धर्म, समाज तथा स्वास्थ्यकी रक्षा और वृद्धिमें पशुधन एक मुख्य हेतु माना गया है। आर्थिक दृष्टिसे पशुधनका होना सबके लिये गौरवकी बात समझी गयी है। खासकर वैश्यजातिके लिये तो यह केवल आर्थिक महत्त्व ही नहीं रखता, बल्कि

पशुपालन उनके धर्मका एक मुख्य अंग भी है। मनुस्मृतिमें कहा है—

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदञ्च वैश्यस्य कृषिमेव च॥
(१।९०)

अर्थात् 'वैश्योंका धर्म पशुओंका पालन करना, दान देना, यज्ञ करना, वेद-शास्त्रोंको पढ़ना, व्यापार, व्याज और कृषिद्वारा जीविका चलाना है।

यहाँ यह बात भी ध्यानमें रखनेकी है कि कृषिकर्म करनेवाले सभी मनुष्य वैश्योंके ही तुल्य हैं। अतः उन सबके लिये भी पशुपालन धर्मका एक मुख्य अंग हो जाता है किन्तु आज भारतवर्षमें बहुत ही कम वैश्य और कृषिकर्म करनेवाले लोग ऐसे हैं जो आर्थिक और धार्मिक दृष्टिसे इतना महत्त्व रखनेवाली वस्तुकी ओर यथोचित ध्यान देते हों। वैश्य और किसान पशुओंकी सहायतासे खेत जोतकर उपजाये हुए अन्नसे सम्बन्ध रखते हैं, उनकी नस-नसमें पशुओंके परिश्रमसे उत्पन्न हुए अन्नका रक्त दौड़ता है। किन्तु मूक पशुओंकी दशा सुधरे, उनकी वृद्धि हो, वे पुष्ट हों, इस बातकी ओर उनका ध्यान बहुत ही कम रहता है।

सब पशुओंकी उन्नतिकी बात तो दूर रही, पशुओंमें सर्वश्रेष्ठ गौएँ, जिनका महत्त्व शास्त्रोंमें धर्मकी दृष्टिसे भी बहुत अधिक बताया गया है और जिसका आदर्श स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने व्रजमें गौओंको चराकर दिखाया है तथा जिसे वैश्योंके लिये धर्मका प्रधान अंग बताया है एवं (गीता १८।४४) जो देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य आदि सबको अपने दूध-दहीके द्वारा तृप्त करनेवाली हैं, आज उनकी कितनी उपेक्षा हो रही है, यह देखकर चित्तमें खेद हुए बिना नहीं रह सकता। प्रतिवर्ष लाखोंकी संख्यामें गौओंका ह्रास होता चला जा रहा है तथापि हिन्दू-जनता उनकी रक्षासे इस प्रकार उपराम-सी हो रही है, मानो उसे इस बातकी खबर ही नहीं है। इसका भयानक परिणाम यह हो रहा है कि मनुष्य-जीवनके लिये धर्म और स्वास्थ्य दोनोंकी दृष्टिसे अत्यन्त आवश्यक माने हुए दूध, घी, दही आदिका सर्वसाधारणके लिये प्राप्त होना कठिन होता जा रहा है। दूध, दहीके अभावसे भारतीय सन्तानका स्वास्थ्य किस प्रकार गिरता जा रहा है, यह तो धर्मको न माननेवाले भी प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं। जहाँ कुछ दिन पहले इसी देशमें पवित्र दूध पैसे सेर, पवित्र घी तीन-चार आने सेर मिलता था, वहाँ आज पवित्र दूध दो आने सेर और पवित्र घी एक रुपये सेर भी सब जगह सर्वसाधारणको नहीं मिल पाता है। यदि समय रहते भारतवासी सावधान नहीं होंगे, इसी तरह गोधनकी उपेक्षा करते रहेंगे तथा गौओंके बढ़ते हुए ह्रासको रोकनेकी चेष्टा नहीं करेंगे तो भविष्य और भी भयानक हो सकता है। उस समय कोई उपाय करना भी कठिन हो जायगा, इसलिये विचारवान् मनुष्योंको चाहिये कि वे पहलेसे ही सावधान हो जायँ। खासकर प्रत्येक हिन्दूके लिये तो इस समय यह एक प्रधान कर्तव्य हो गया है कि वे इस ओर ध्यान दें और सब प्रकारसे गौओंकी रक्षाके लिये चेष्टा करें।

गौओंका ह्रास होनेमें निम्नलिखित कारण मुख्य हैं—

१—(क) जनताके अंदर प्रतिदिन धर्म और ईश्वरका भय कम होता जा रहा है। अतः कम दूध देनेवाली और दूध न देनेवाली गौओंको कसाईके हाथ बेचनेमें अधिकांश हिन्दू जनता भय नहीं करती।

(ख) बहुत-से निर्दय किसान दूध न देनेवाली गौओंको अपने घरसे निकाल देते हैं। वे मारी-मारी फिरती हैं और अन्तमें मवेशीखानेमें पहुँचायी जाकर कसाईके हाथमें पड़ जाती हैं।

२—प्रतिवर्ष सूखे और ताजे मांसके लिये तथा चमड़ेके लिये लाखों जीवित गौओंकी हत्या की जाती है।

३–बहुत-से धनके लोभी हीनवृत्तिवाले मनुष्य अधिक दूध देनेवाली गौओंको खरीदकर उनके बछड़ों-को तो निरर्थक समझकर कसाईके हाथ बेंच देते हैं और फूँकेके द्वारा उन गौओंको विवश करके उनका सारा दूध निकाल लेते हैं। परिणाम यह होता है कि कुछ ही दिनोंमें वे गौएँ निकम्मी हो जाती हैं। और उस समय वे उन्हें भी कसाईके हाथ बेंच डालते हैं।

४–साँड़ अच्छे न मिलनेके कारण गौओंकी नस्ल बिगड़ती जाती है, उनसे अच्छी सन्तान उत्पन्न नहीं हो सकती। उनके बच्चे बहुत ही कम आयुवाले, कमजोर और दुबले-पतले होते हैं।

५–गौओंके निमित्त छोड़ी हुई गोचरभूमिको जमींदार और किसान आदि लोभवश जोतते जाते हैं। अतः चारेके अभावमें प्रतिवर्ष हजारों गौएँ मर जाती हैं।

६–मांस खानेवाले मनुष्योंके लिये और बाढ़, महामारी, अकाल आदि दैवी कोपके कारण प्रतिवर्ष लाखोंकी संख्यामें गौएँ नष्ट हो जाती हैं।

इस ह्रासको रोकनेके लिये निम्नलिखित उपाय काममें लाये जा सकते हैं—

१–धार्मिक पुरुषोंको चाहिये कि पत्र और व्याख्यानादिद्वारा लोगोंमें धार्मिक भाव उत्पन्न करें, जिससे धार्मिक भावोंकी वृद्धि होकर लोगोंमें गौओंके प्रति दयाका सञ्चार हो और वे लोग गौओंको कसाईके हाथ न बेचें तथा दूध न देनेवाली गौओंकी उपेक्षा भी न करें।

२–पशुओंके अभावसे देशकी दुर्दशा दिखाकर सरकारके पास अपील करते हुए, जो प्रतिवर्ष हजारों टन मांस विदेशमें भेजनेके लिये गौओंकी हत्या की जाती है, उसे बंद कराना चाहिये।

३–मांस खानेवाले भारतवासियोंको मांसकी अपेक्षा दूध-घीमें अधिक लाभ दिखाकर तथा गौओंके ह्राससे देशका पतन अनिवार्य है, यह समझाकर प्रेमपूर्वक शान्तिसे मांस खानेसे रोकना चाहिये।

४–अतिशय तत्परताके साथ फूँकेकी प्रथा (जो कि कानूनके भी सर्वथा विरुद्ध है) को ग्राम-ग्राममें चेष्टा करके सरकारके द्वारा बंद कराना चाहिये।

५–प्रत्येक ग्राममें अच्छी नस्लकी गौओंकी वृद्धि हो, इसके लिये धनिक एवं गोशालाध्यक्षोंको अच्छी नस्लके साँड़ोंको पालना चाहिये। अथवा सरकारसे अच्छी नस्लके साँड़ोंका प्रबन्ध करवाना चाहिये।

६–सरकार, धनिक, जमींदार, किसान आदिसे प्रार्थना करके सभी ग्रामोंमें गोचरभूमि छुड़वानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

७–जहाँ बाढ़, भूकम्प, अकाल आदि दैवी कोपसे चारेके अभावके कारण गौएँ मरती हों, वहाँ तन, मन, धन लगाकर उनके चारे आदिका प्रबन्ध करके उनको मृत्युके मुखसे बचानेके लिये यथेष्ट परिश्रम करना चाहिये।*

८–प्रत्येक किसान और गृहस्थको अपने-अपने घरोंमें यथाशक्ति कम-से-कम एक या दो गौओंको अवश्य पालना चाहिये।

९–पूर्णरूपसे आन्दोलन करके ऐसे कानून बनवाने चाहिये, जिनसे गोवध कतई बंद हो जाय।

विचारवानोंको उचित है कि उपर्युक्त उपायोंको काममें लाते हुए यथाशक्ति गौओंकी रक्षा करें। अर्जुन-ने तो केवल गोरक्षाके लिये बारह वर्षका वनवास स्वीकार किया था, इस समय यदि उतना न हो सके तो जितनी बन सके उतनी चेष्टा तो तन, मन, धनसे करनी ही चाहिये।

---

* इस समय तमाम राजपूतानेमें और पंजाबके हिसार जिलेमें वर्षा न होनेके कारण गौओंको बड़ा ही कष्ट हो रहा है। लाखों गौएँ चारेके अभावमें मर रही हैं। उनकी रक्षाके लिये सबको दिल खोलकर सहायता करनी चाहिये। —सम्पादक

श्रीबाबा गम्भीरनाथजी

(लेखक—श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय एम० ए०)

भारतवर्षमें जिन धर्मसम्प्रदायोंने जनसमाजकी चिन्ताधारा, भावधारा और कर्मधारापर व्यापकरूपसे आध्यात्मिक प्रभाव फैलाकर अनेक शताब्दियोंसे अपनी जीवनी शक्तिको सुरक्षित रक्खा है, नाथयोगीसम्प्रदायका उनमें एक विशेष स्थान है। इसी नाथयोगीसम्प्रदायको साधारणतः जोगीसम्प्रदाय कहा जाता है। इसका निर्णय करना कठिन है कि कितने युगसे यह सम्प्रदाय विद्यमान है। प्रत्येक युगमें बहुत-से सिद्धयोगी पुरुषोंका इस सम्प्रदायमें आविर्भाव हुआ है जिन्होंने इसके गौरवको समुज्ज्वल करके जनसमाजपर इसके प्रभावका विस्तार किया है। योगी गुरु गोरखनाथ इसी सम्प्रदायमें हो गये हैं। उनकी अलौकिक योगशक्ति, असाधारण तत्त्वानुभूति, सर्व जीवोंके प्रति प्रेम और अद्भुत संगठन-शक्तिके प्रभावसे इस सम्प्रदायकी प्रतिष्ठा भारतवर्षके सब प्रदेशोंमें और भारतके बाहरके भी कुछ देशोंमें आर्य-अनार्य, पण्डित-मूर्ख, सदाचारी-कदाचारी सभी श्रेणीके लोगोंमें फैली हुई है। इतिहासज्ञगण अभीतक इस बातका निश्चय नहीं कर सके हैं कि गोरखनाथने किस युग और किस स्थानमें जन्म ग्रहण किया था। ऐसा अनुमान करनेका यथेष्ट कारण है कि वे आचार्य शङ्करके पहले हो गये हैं। ईसवी ग्यारहवीं सदीमें भी उनके विद्यमान रहनेके प्रमाण मिलते हैं और महात्मा कबीरके साथ उनके कथोपकथनकी भी बात पायी जाती है। जोगीसम्प्रदायके मतानुसार बाबा गोरखनाथ अमर हैं, वे कभी प्रकटभावसे कभी अप्रकट-भावसे सब युगोंमें वर्तमान रहते हैं, सभी युगोंमें अधिकारी पुरुषोंको उनके दर्शन होते हैं और उनके साथ बातचीत भी होती है। वर्तमान युगमें वे सिद्धदेह-से विराजमान हैं, वे साक्षात् शिवावतार हैं।

गोरखनाथको वर्तमान जोगीसम्प्रदायका प्रवर्तक कहा जाता है, किन्तु वे इसके आदिप्रवर्तक नहीं हैं। यह अवश्य ही सत्य है कि प्रधानतः उनके असाधारण प्रभावसे ही इस सम्प्रदायने सम्यक् रीतिसे संघबद्ध, संगठित और सुनियन्त्रित होकर एक विशिष्ट रूप ग्रहण किया है और अन्यान्य सम्प्रदायोंकी प्रतियोगिताके होते हुए भी यह लोकसमाजमें अपनी प्रतिष्ठाकी रक्षा करता आ रहा है। इस अर्थमें उनको प्रवर्तक कहना अयुक्त भी नहीं है। जोगीसम्प्रदायके साधुओं-के नामके साथ 'नाथ' उपाधि लगायी जाती है, इस कारण इनको नाथजोगी कहा जाता है। अपने देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धिके ऊपर एवं विश्वप्रकृतिके ऊपर 'नाथत्व' या स्वामित्व या ईश्वरत्व प्रतिष्ठित करने और अपनेको सब प्रकारके बन्धन और अधीनतासे मुक्त करनेका लक्ष्य—इस उपाधिके द्वारा सर्वदा स्मृति-पथमें जाग्रत् रहता है। यह सम्प्रदाय 'सिद्धयोगी-सम्प्रदाय' नामसे भी परिचित है। समुचित योगसाधनाके द्वारा 'काय' अथवा देह या शरीरको सिद्ध किया जा सकता है और इसको जडधर्मसे मुक्त करके क्षयविनाशादिरहित अमरत्वसम्पन्न बनाया जा सकता है—इस सम्प्रदायकी यह एक विशिष्ट शिक्षा है। बहुसंख्यक सिद्ध महापुरुषके नाम और उनके सम्बन्धमें विविध अलौकिक किंवदन्ती इस सम्प्रदायमें प्रचलित हैं।

श्रीश्रीबाबा गम्भीरनाथजी वर्तमान युगमें जोगीसम्प्रदाय-के सर्वश्रेष्ठ सिद्ध महापुरुषके नामसे विख्यात थे। वे सिद्धावस्थामें अपने लौकिक जीवनके शेष भागमें सोलह-सतरह वर्षके लगभग जोगीसम्प्रदायकी प्राचीन केन्द्रभूमि गोरखपुरमें रहते थे और गोरखनाथ-मन्दिरके

प्रबन्धका भार ग्रहण करके उसको समुचित रीतिसे परिचालित करते थे। २३ मार्च १९१७ ई० को मधुकृष्णा त्रयोदशी तिथिको महावारुणीके दिन गोरखनाथ-मन्दिरमें ही उनके व्यावहारिक जीवनका अवसान हुआ। बंगालके प्रसिद्ध धर्माचार्य महात्मा श्रीमत् विजयकृष्ण गोस्वामी अपने शिष्योंसे श्रीबाबा गम्भीरनाथके सम्बन्धमें कहा करते कि 'हिमालयके नीचे इस प्रकारके शक्ति-शाली महापुरुष और नहीं हैं। ये भ्रकुटिमात्रसे सृष्टि-स्थिति-प्रलय करनेका सामर्थ्य रखते हैं। ऐश्वर्यभावकी सिद्धि प्राप्त करके अब माधुर्यभावमें निमग्न हैं।' व्रज-विदेही श्रीश्रीरामदास काठियाबाबा उनको 'नित्यमुक्त योगी' कहते थे। महापुरुष श्रीमत् स्वामी सच्चिदानन्द कहते हैं कि वे तो साक्षात् विश्वेश्वर हैं। साधुसमाजमें सर्वत्र ही वे असाधारण सिद्ध महापुरुष माने जाते थे। किन्तु वे अपनी शक्ति और ऐश्वर्यको छिपाकर साधारण मनुष्योंकी भाँति इस प्रकार जीवन बिताते थे कि स्थूल-दृष्टिमें वे एक साधारण साधुस्वभाव प्रेमिक सज्जन पुरुषके सिवा और कुछ नहीं मालूम पड़ते थे; उनके अंदर इतनी शक्ति, इतना योगैश्वर्य, इतनी तत्त्वानुभूति है इस बातकी धारणा करना भी आध्यात्मिक सूक्ष्मदृष्टि-सम्पन्न महात्माओंके अतिरिक्त दूसरोंके लिये कठिन होता था।

बाबा गम्भीरनाथजीकी जन्मभूमि काश्मीर देशके अन्तर्गत जम्बूप्रदेशमें थी। वे युवावस्थामें घर त्यागकर योगी गुरु गोरखनाथकी तपोभूमि गोरखपुरमें उपस्थित हुए और गोरखपुरके तत्कालीन महन्त बाबा गोपालदासको गुरुरूपमें वरण करके योगसाधनामें प्रवृत्त हुए। मन्दिरके वृद्ध साधु कहते थे कि बाबा गम्भीरनाथ पहले-पहल जब गोरखपुरमें आये थे उसी समय उनका असाधारण देहसौष्ठव, असाधारण गाम्भीर्य, असाधारण बुद्धिशक्ति, असाधारण वैराग्य और असाधारण भगवद्भक्तिमण्डित अपूर्व मुखश्री दर्शकमात्रके हृदयको आकर्षित करते थे। गुरुने योगसाधनामें दीक्षित करके उनका नाम 'गम्भीरनाथ' रक्खा। सम्भवतः उनके स्वाभाविक निस्तरङ्ग गाम्भीर्यको देखकर ही गुरुने उनको यह नाम प्रदान किया था। वस्तुतः भावमें गम्भीर, ज्ञानमें गम्भीर, वाक्यमें गम्भीर, दृष्टिमें गम्भीर, सभी बातोंमें इस प्रकारके गम्भीर महापुरुष कोई कदाचित् ही दीख पड़ते हैं।

वे कुछ काल गुरुके निकट रहकर गुरुसेवा, मन्दिर-सेवा और साधुसेवा करते रहे, उसके बाद नित्य-निरन्तर एकनिष्ठ योगसाधनाके लिये उन्होंने आश्रम छोड़ दिया। वे कुछ वर्ष काशीधाममें गंगातटपर और कुछ वर्ष प्रयागके उस पार झूँसीमें एक निर्जन गुफामें ऐकान्तिक साधनामें निमग्न होकर योग और ज्ञानके उच्च सोपानकी साधना करते रहे। इसके बाद परिव्राजकवृत्ति अवलम्बन करके भारतवर्षके अनेकों सुप्रसिद्ध तीर्थों और तपोभूमिमें पर्यटन करते रहे। वे प्रायः पैदल ही यात्रा करते थे और प्रगाढ़ साधनाके अनुकूल आध्यात्मिक प्रभावसम्पन्न स्थानोंमें महीने-दो-महीने और कहीं-कहीं इससे भी अधिक समयतक ठहरकर गहरी साधनामें डूब जाते थे। इस प्रकार कई वर्षतक पर्यटनके साथ साधनाभ्यासके बाद—विचित्र देश, काल और अवस्थाविपर्ययके बीचमें भी आत्मस्थ रहनेके अनुशीलनके बाद—योग, ज्ञान और भक्तिके अन्तरङ्ग साधनाभ्यासके उद्देश्यसे और योग, ज्ञान और भक्तिकी चरम अवस्थाको प्रत्येक दशामें अपने स्वभावमें परिणत करनेके उद्देश्यसे, योगिवर गम्भीरनाथने गयाधामके निकटवर्ती पहाड़ कपिलधारामें आसन ग्रहण किया। वहाँ उस समय कुछ आश्रम इत्यादि नहीं था। वे वहाँ खुले आकाशमें शीत, ग्रीष्म, वर्षाको समानरूपसे सहन करते हुए गहरी समाधिमें डूबे रहते थे। इस स्थानपर वे बारह-तेरह वर्षतक रहे। क्रमशः इस निर्जन प्रदेशमें भी सेवकगण आ जुटे, आदमियोंका आना-जाना आरम्भ हुआ। एक मारवाड़ी भक्तने एक योगगुफा बनवा दी।

इस स्थानपर सुनियत साधनके फलस्वरूप वे 'ब्रह्मविद्वरिष्ठ' रूपसे प्रतिष्ठित हुए; उनका बाहर-भीतर समाधि और व्युत्थान एक हो गया; ब्रह्मज्ञान, ब्रह्मध्यान, ब्रह्मानन्दरसपान उनका स्वभाव ही बन गया; समस्त योगैश्वर्यको कुक्षिगत करके वे सभी अवस्था-में प्रशान्त, मधुर प्रेमानन्दघनस्वरूपमें विराजने लगे। वे जिस समय कपिलधारामें सम्यक् सिद्धावस्थामें विराज रहे थे उसी समय महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामी-ने उनके दर्शन किये और मानसरोवरके परमहंस ब्रह्मानन्दकी कृपा प्राप्त करके कपिलधारासे थोड़ी दूरपर आकाशगंगाकी गुहामें साधन-भजन करने लगे। योगिराज गम्भीरनाथ सिद्धावस्थामें कभी-कभी सितार बजाकर भजन करते थे। दूरसे ही भजनकी मोहिनी शक्तिसे आकर्षित होकर भक्त विजयकृष्ण वन-जंगल, काँटे-कंकड़का खयाल न करते हुए आकाश-गंगाके पहाड़से कपिलधाराके पहाड़पर आ पहुँचते थे। बाबा गम्भीरनाथके अहिंसा और प्रेमके अचिन्त्य प्रभावसे बाघ, सर्प इत्यादि हिंस्र जन्तु भी हिंसावृत्ति भूलकर उनके पास बैठे रहते थे और अनेक समय दर्शनार्थी अन्य मनुष्योंके उपस्थित होनेपर भी वे प्रशान्त और निरुद्विग्नभावसे साधु-संग करते रहते थे।

इसी बीच गोरखपुरके महन्तके अधिकारोंके दुरुपयोगसे गोरखनाथ-मन्दिरमें कुछ कदाचार और गड़बड़ी फैल गयी ! इस बातसे क्षुब्ध होकर बहुत-से साधु और गोरखपुरके कतिपय सम्भ्रान्त भद्रपुरुषोंने उनसे कई बार प्रार्थना की कि वे मन्दिरके अध्यक्ष-पदको ग्रहण करें। गुरुधाम और सम्प्रदायकी अमर्यादाका विवरण सुनकर उन्होंने गोरखपुरमें रहना स्वीकार किया। उनके आनेसे आश्रममें पुनः शान्ति और शृंखलाकी प्रतिष्ठा हो गयी, समस्त कदाचार दूर हुए, सभी लोग अपनी-अपनी मर्यादाके अनुसार कर्तव्यका सम्पादन करने लगे, विशाल देवोत्तरसम्पत्ति-की प्रजामें पुनः सन्तोष और आनन्द दिखायी दिया। मन्दिरमें सच्चे धर्मजिज्ञासु पुरुषोंका आना-जाना फिरसे शुरू हुआ; देवसेवा, साधुसेवा, अतिथिसेवा और दरिद्रसेवामें मन्दिरकी अर्थशक्ति और कर्मशक्तिका सद्व्यवहार होने लगा। वे कई बार साधु-समाजके साथ कुम्भमेलामें सम्मिलित हुए, देश-विदेशके साधु और सज्जनोंकी दृष्टि विशेषरूपसे उनकी ओर आकृष्ट हुई। इसके फलस्वरूप बहुत दूर-दूरसे साधु-महात्मा और गृहस्थ भक्त उनके दर्शन और उपदेश पानेके लिये आने लगे। किन्तु सिद्धावस्थामें भी उन्होंने बहुत सालतक दीक्षा-दान करने और गुरुका आसन ग्रहण करना स्वीकार नहीं किया। अन्तमें १९०९ ई० से दो-एक विशिष्ट धर्मपिपासु सज्जनोंको शिष्य बनाना आरम्भ किया। उनके जीवनके अन्तिम कई वर्षमें प्रायः दो सौ शिक्षित धर्मपिपासु बंगाली सज्जनोंने उनसे दीक्षा ली थी।

मन्दिरसम्बन्धी सभी कार्योंके सुप्रबन्धका भार ग्रहण करनेपर भी उन्होंने महंत-पद ग्रहण नहीं किया और तत्कालीन महंतकी मर्यादाको भी किसी प्रकारसे हानि नहीं पहुँचायी। महंतके रहनेके लिये जो दो-तल्ला कोठी है उसीके नीचेके तल्लेमें बगलकी एक छोटी-सी कोठरीमें उन्होंने अपना आसन लगाया। वहीं एक कोठरी उनका ध्यानगृह, बैठकखाना, आफिस, जिज्ञासुओंके लिये उपदेशदान-गृह और उनके लिये समाधिमन्दिर था। उस कोठरीमें एक चारपाई थी। वे उसीके ऊपर आसनस्थ होकर अधिकांश समय अर्धबाह्यावस्थामें विराजमान रहते थे। नीचे एक दरी बिछी रहती थी। साधु, भक्त, कर्मचारी और आनेवाले लोग सब उसीपर बैठते थे और आवश्यकता-नुसार अपनी-अपनी बात कहकर उपदेश ग्रहण करते थे। उस समय वेशभूषामें वे एक प्राचीन सम्भ्रान्त गृहस्थकी भाँति दीख पड़ते थे। कौपीनके ऊपर एक

साफ सादी धोती रहती थी, बदनपर एक सादी चादर और पाँवमें काष्ठपादुका। प्रशान्त मुखमण्डलपर घनी लम्बी श्वेत-कृष्ण मूँछें दाढ़ी और मस्तकपर कन्धेतक लटके हुए अधपके केश शोभा पाते थे। साम्प्रदायिक चिह्नमें थे कानमें छेद और कुण्डल, गलेमें नाद और शेली। वे आसनपर अन्तर्मुखीन अवस्थामें सर्वदा विराजमान रहते थे। जिस किसीको जो बात कहनी होती थी, वह वहीं आकर कहता था। यदि उसपर कोई आज्ञा देनी हुई तो वे 'हाँ', 'हूँ', 'अच्छा', 'नहीं' कहते थे। यदि कभी कोई पुरुष दुःख-कष्टकी बात लेकर उपस्थित होता तो उनकी स्वाभाविक अन्तर्निबद्ध दृष्टिमेंसे स्नेह और करुणाकी धारा इस प्रकारसे प्रवाहित होती कि उसीसे हृदय शान्तिसे भर जाता। वे सर्वदा आत्मस्थ अवस्थामें विराजते थे तथापि इस ओर सर्वदा उनकी जाग्रत् दृष्टि रहती थी कि आश्रमकी व्यवस्थाके सम्बन्धमें कोई त्रुटि न हो—वे एकाध शब्दोंमें ही आश्रमके कर्मचारियोंको जो आदेश या इशारा करते थे उसीसे यह प्रकट होता था कि आश्रम-सम्बन्धी कोई भी बात उनकी नज़रसे बाहर नहीं है; समस्त कर्तव्यके प्रति, सभी आगन्तुक और अभ्यागतोंके प्रति, सभी दीन-दुखी प्रार्थनाकारियोंके प्रति, आश्रमके बाघ, हाथी तथा वानरोंके प्रति उनकी दृष्टितक सेवा-परायणभावसे पड़ती थी। इतना होते हुए भी बाबा गम्भीरनाथकी ओर देखनेसे उनकी आँखें सदा निमीलित या अर्धनिमीलित ही दीखती थीं।

इस प्रसङ्गमें योगिराजके जीवनचरित-लेखकने लिखा है, 'भगवान्को शास्त्रमें सगुण और निर्गुण दोनों बतलाया गया है। भगवान्की भाँति संसारी भी कोई नहीं है और उनकी भाँति असंसारी भी कोई नहीं है। अनेक जटिलताओंसे भरे हुए विश्वब्रह्माण्डके समस्त कार्योंके कर्ता भी वे हैं, पर साथ ही वे कोई भी कार्य नहीं करते। कोई भी कर्म या कर्मफल उनको स्पर्श नहीं करता। जगत्के अनेकों गुणों, अनन्त विकारों और अनन्त भावोंके अध्यक्ष और आश्रय वे हैं, तथापि वे नित्य गुणातीत, भावातीत, विकारलेशशून्य हैं और नित्य आत्मस्वरूपमें विराजमान हैं। वे 'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्' हैं, साथ ही वे 'निश्चलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' भी हैं। एक ओर तो वे 'स एवेदं विश्वं कर्म', 'स विश्वकृद् विश्ववित्' हैं, 'संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः' हैं, दूसरी ओर वे 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' 'साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च' हैं। वे पूर्णरूपसे संसारी हैं और पूर्णरूपसे असंसारी भी हैं। यह किस प्रकारसे सम्भव है, किस प्रकार इतने बड़े विराट् संसारके सब कर्म सुचारुरूपसे विहित विधानसे सम्पन्न करके भी भगवान् नित्य आत्मस्थ निर्विकार निष्क्रिय अवस्थामें विराजते हैं इसका अनुमान बाबा गम्भीरनाथके जीवनको देखकर कुछ-कुछ लगाया जा सकता है। श्रीभगवान् जिस प्रकारसे नित्य विराजमान होकर भी विश्वसंसारकी परिचालना करते रहते हैं, मानो उसी प्रकारसे विराजित रहकर बाबा गम्भीरनाथजी भी अपने कर्मजीवनमें अपने क्षुद्र संसारका परिचालन कर गये हैं।

'नित्य-निरन्तर आत्मसमाहित अवस्थामें विराजित व्यक्तिके लिये भी दैनन्दिन जीवनके नित्य-नैमित्तिक कर्मसम्पादनमें नियमनिष्ठाकी रक्षा करना किस प्रकार सम्भव है, अपनी चेतनाके प्रायः समस्त अंशको ब्रह्मानन्द-रसपानमें डुबाकर भी एक मनुष्य एक विस्तीर्ण संस्थाके विभागके सब कार्योंको किस प्रकार सुशृंखलितरूपसे चला सकता है, आदर्श संन्यास और आदर्श गार्हस्थ्य एक-ही-एक स्थानमें किस प्रकार एक दूसरेको आलिङ्गन करते हुए सम्यक्भावसे सामर्थ्यमण्डित होकर रह सकते हैं, मठाध्यक्ष गम्भीरनाथकी जीवन-यात्रा-प्रणाली इस बातकी सजीव साक्षी है। उनके जीवनमें कर्म, ज्ञान और भक्तिका अपूर्व समन्वय था। ब्रह्मज्ञानकी चरमभूमिमें अवस्थित होकर भी उनका चित्त सर्वदा भक्तिरससे अभिसिञ्चित होकर प्रकाशित होता था और जनसाधारणके लिये उपयोगी भक्तिधर्म और तदनुरूप सेवापूजादि कर्ममें भी उनकी किसी प्रकारकी

अवहेलना या शिथिलता नहीं पायी जाती थी। सब जीवोंके प्रति मैत्री और समदर्शितामें प्रतिष्ठित रहकर भी सामाजिक व्यवहारमें वे सामाजिक रीति-नीतिकी रक्षा करनेमें और लोगोंके प्रति पदोचित मर्यादा प्रदर्शन करनेमें त्रुटि नहीं करते थे। किन्तु विभिन्नजातीय लोगोंके साथ नाना प्रकारके व्यावहारिक सम्बन्धकी रक्षा करनेपर भी उनके आचरणमें किसीने कभी राग, द्वेष, क्रोध, घृणा, क्षोभ या अभिमानका बाह्यिक निदर्शन भी नहीं देखा। जातिवर्णनिर्विशेष सबके प्रति उनका स्निग्ध, मधुर दृष्टिपात और गम्भीर सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार, अतिथि-अभ्यागतोंकी नारायणरूपमें सेवा और इतर जीव-जन्तुओंके भोजनाच्छादन और स्वास्थ्यविधानके लिये उनके प्रयत्नको देखकर लोग मुग्ध हो जाते थे।

उनके उपदेशमें कई विशेषताएँ थीं। वे कभी किसी मत-मतान्तरकी आलोचना नहीं करते, कभी किसी मार्ग या सम्प्रदायके सम्बन्धमें अनादरसूचक कोई वाक्य उच्चारण नहीं करते थे, किसीके संस्कारपर आघात नहीं करते थे, किसीके भावके विरोधी शब्द नहीं कहते थे। उनके उपदेशमें किसी साम्प्रदायिक मतवादकी गन्ध भी नहीं पायी जाती थी। नाथयोगीगण प्रधानतः शैव-श्रेणीके अन्तर्गत आते हैं, किन्तु योगिराज गम्भीरनाथजी अपने शिष्योंको शैव, शाक्त, वैष्णव प्रभृति किसी सम्प्रदायकी चहारदीवारीके अंदर बाँधकर नहीं रखते थे, तथापि किसी सम्प्रदायके साथ उन लोगोंका विरोध नहीं रहता था। वे लोग उनके उपदेशसे एक ऐसी विश्वजनीन आध्यात्मिक दृष्टि प्राप्त करते थे कि जिससे वे सभी सम्प्रदायोंके सब प्रकारके उत्सव-अनुष्ठानोंमें बड़ी प्रसन्नतासे योग देते थे, सभी सम्प्रदायोंसे अपने लिये आध्यात्मिक भोजन संग्रह कर सकते थे। वे शिक्षा देते थे कि सभी प्रकारकी सीमाबद्धतासे, सभी प्रकारके उपाधिजालसे, सर्वविध भेदबुद्धि, राग-द्वेष और संकीर्णतासे मुक्तिप्राप्तिके उद्देश्यको ही धर्मसाधना कहते हैं। विशेष-विशेष धर्ममत, साधनप्रणाली और आचार-व्यवहार, समस्त विधिनिषेध उसी धर्मसाधना और सार्वजनीन अभेदभूमिकी प्राप्तिके उपायरूपसे अवलम्बन किये जाते हैं। यदि उसीको लेकर फिर नयी-नयी क्षुद्र सीमाओंकी सृष्टि हो, उपाधिजालका विस्तार हो, भेदबुद्धि, राग-द्वेष और संकीर्णताकी वृद्धि हो, तब तो धर्मसाधनाका उद्देश्य ही व्यर्थ हो जाता है, धर्मके नामपर अधर्मको ही ग्रहण किया जाता है। धर्मपिपासुगण मतवादकी संकीर्ण सीमाको पारकर यथार्थ मनुष्यत्वकी सार्वजनीन भूमिमें अधिरोहण करें और अपनी-अपनी प्रकृति, रुचि, बुद्धि, संस्कार और सामर्थ्यकी ओर एवं पारिवारिक, सामाजिक और साम्प्रदायिक सीमाओंकी ओर विचारपूर्ण दृष्टि करके अपने-अपने अधिकारके अनुसार साधनपथमें निष्ठा रक्खें और समस्त मानवीय प्रकृतिको सामर्थ्य-मण्डित करनेके लिये कर्म, ज्ञान और भक्तिका सामञ्जस्य करनेके लिये वैषम्य और मलिनताके परे परम कल्याणके पथमें अग्रसर हों, यही योगिराज गम्भीरनाथके उपदेशका लक्ष्य था।

जोगिसम्प्रदायने हठयोगके लिये विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की है, किन्तु यद्यपि सिद्ध योगिराज गम्भीरनाथने हठयोग और राजयोग दोनोंमें सम्यक् सिद्धि प्राप्त की थी, पर वे शिष्योंको हठयोगका उपदेश नहीं देते थे। वे कहते थे कि इस युगमें, विशेषतः गृहस्थोंके लिये, हठयोगका जटिल मार्ग ठीक नहीं है। लोकसमाजकी वर्तमान भीतरी और बाहरी अवस्थामें अकपट विचारसंवलित भक्तियोग और निष्काम प्रेमपूर्ण सेवाकर्म ही सर्वापेक्षा अनुकूल साधनपथ है। आजकल सभी सम्प्रदायके साधनमें विचार, भक्ति और सेवाकी प्रधानता दीख रही है। जीवनके सब विभागोंके ऐक्य-साधनके लिये और समग्र जीवनको एकत्वनिष्ठ करनेके लिये विचार, भक्ति और सेवाको

योगयुक्त करना आवश्यक है। भक्ति, ज्ञान और कर्म जब योगयुक्त होते हैं और एक परम चरम तत्त्वको केन्द्र बनाकर अनुशीलित होते हैं, तब उनमें विरोध नहीं रहता। तब समस्त जीवन निर्मल आनन्दके साथ परम तत्त्वमें समाहित होनेके लिये अग्रसर होता है।

योगिराज सर्वदा ही जिज्ञासुओंको स्मरण करा देते थे कि एक ही अद्वितीय परम तत्त्व विभिन्न साम्प्रदायिक उपासकोंके निकट और विभिन्न दार्शनिक विचार-बुद्धिके निकट विभिन्न नामोंसे, विभिन्न रूपोंसे, विभिन्न भावोंसे और विभिन्न उपाधिसे परिचित होता है। ये नाम, रूप, भाव और उपाधि असंख्य हैं किन्तु परम-तत्त्व एक है और उस तत्त्वका स्वरूप एक है। किसी प्रकारके नामरूपादिका आश्रय लिये बिना बुद्धि और हृदय उस परमतत्त्वको चिन्ता, ध्यान-धारणा, प्रेमभक्ति और उपासनाका विषय नहीं बना सकते। अतएव नामरूप एकबारगी मिथ्या नहीं है। किन्तु ध्यान-धारणा और प्रेमभक्ति जब परिपूर्णताको प्राप्त होते हैं, तब साधक और उसके साध्य इष्ट—तत्त्वके बीच नाम-रूपादिका कोई व्यवधान नहीं रह जाता, उस समय साधकका 'अहम्' परमतत्त्वके साथ अभिन्नताकी उपलब्धि करता है। यही जीवनकी कृतार्थता है। किन्तु उस तत्त्वके सम्बन्धमें कुछ कहते मात्र ही नाम-रूपकी उपाधि उपस्थित हो जाती है, सुतरां विभिन्नता भी आती है। यथार्थ धर्मसाधनाके लिये साम्प्रदायिक और दार्शनिक मतवादकी विचित्रताओंमें रहते हुए भी सर्वदा यह स्मरण रखना आवश्यक है कि हम किसी विशिष्ट नाम, रूप, उपाधि और भावका अवलम्बन करके जिस परमतत्त्वकी उपासना करते हैं, अन्यान्य दार्शनिक और उपासकगण अन्यान्य नाम, रूप, उपाधि और भावधाराका अवलम्बनकर उसीकी आराधना करते हैं। अतएव सब धर्ममत, सब साधनप्रणाली, सब सम्प्रदायोंके तीर्थ और मन्दिर, सब सम्प्रदायोंकी वेशभूषा और साम्प्रदायिक चिह्न इत्यादिके प्रति सम्मानका भाव रखना उचित है। अपने आध्यात्मिक जीवनकी पूर्णता प्राप्त करनेकी अनुकूलताके लिये इस सम्मानबोधको हृदयमें प्रतिष्ठित करना आवश्यक है। जिस परिमाणमें भेदबुद्धि और तज्जनित विद्वेष, घृणा और भयको चित्तमें हम पोषण करते हैं उसी परिमाणमें हमलोग अपनी धर्महानि करते हैं। जिस परिमाणमें अभेददृष्टि और तत्प्रसूत प्रेम-बुद्धिका हृदयमें विकास होता है उसी परिमाणमें मानवजीवन योगयुक्त होकर सार्थक होता है और उसी परिमाणमें समग्र जगत् सुन्दर मधुर और आनन्दमय मालूम होता है और उसी परिमाणमें सब प्रकारके विद्वेष, घृणा, भय, दुःख, ताप, यन्त्रणा नष्ट हो जाते हैं; इस अभेददृष्टिका अभ्यास ही धर्मसाधनाका केन्द्रस्थानीय सत्य है। सब विधिनिषेध, सब रीति-नीति, सब कर्मविभाग और आचार-व्यवहारका भेद, सब स्वधर्मनिष्ठा और वैशिष्ट्य-की रक्षा—इसी केन्द्रकी ओर लक्ष्य रखकर ही करनी चाहिये। वर्णाश्रमधर्मकी विचित्र नियमप्रणालीके भित्ति-रूपमें यही मूलनीति विद्यमान है।

योगिराज गम्भीरनाथ इस प्रकारसे प्रत्येक शिष्यके व्यावहारिक जीवन, साम्प्रदायिक साधना और दार्शनिक मतवादकी विशिष्टताकी रक्षा करके भी सर्वत्र अभेददृष्टि, सर्व जीवोंके प्रति प्रेम और सेवामय जीवनयापनके अनुशीलनकी शिक्षा देते एवं देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और हृदयके समस्त कार्योंको योगसाधनामें परिणत करनेके कौशलका उपदेश करते। विशेष साधनामें वे शिष्योंको नामसाधनाकी दीक्षा देते, और वे कहते थे कि गुरुके दिये हुए नामकी शक्ति असीम है; अटूट विश्वासके साथ भगवान्के नामकी सेवा करनी चाहिये, नामकी शक्तिसे सब कुछ आप ही प्राप्त होगा।
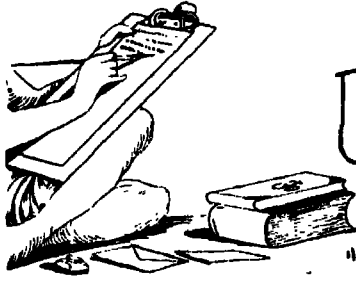
(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

समय बीता जा रहा है। जो समयको अमूल्य जान लेगा वह एक पल भी फालतू काममें नहीं बितायेगा। भगवत्-चिन्तनके बिना जो किसी दूसरे काममें समय बिताया जाता है वही फालतू है। जिसको भगवान्‌के नाम और ध्यानमें आनन्दरूपी अमृतका रस मिलने लगता है वह उसको छोड़ नहीं सकता। आनन्दमयके ध्यानमें कुछ कष्ट नहीं है। ध्यान तो बड़ी प्रसन्नताके साथ अनायास ही होता रहता है। भगवान्‌की प्राप्तिके साधनमें कुछ कष्ट नहीं है, भूलसे कष्ट माळूम होता है, भगवान्‌की प्राप्तिका साधन तो बहुत ही सुलभ है।

(२)

अब तुम्हारा भजन-ध्यान कैसा बनता है? समय बीता जा रहा है, सावधान होनेपर फिर एक पलक भी जहाँतक बन सके भजन-ध्यानके बिना नहीं जाने देना चाहिये। जबतक संसारमें आकर निरन्तर ध्यानका साधन नहीं किया, तबतक कुछ नहीं किया। जिसे संसारका चिन्तन करते समय मृत्यु मारेगी वह संसारमें चक्कर लगाता फिरेगा और भगवान्‌के भजन-ध्यानमें जिसके प्राण जायँगे उसको भगवत्प्राप्ति होगी। इससे सब समय भगवान्‌के नामका जप और भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान करना चाहिये। कुछ भरोसा नहीं कि मृत्यु किस समय आ जाय। जो जीते ही श्रीभगवान्‌में युक्त हैं उनकी तो बात ही क्या है। वे तो जीवन्मुक्त हैं, उनके तो दर्शन ही लाभदायक हैं। ऐसे पुरुषोंका मिलना भगवान्‌की कृपासे ही होता है। मिलनेके बाद कुछ बाकी नहीं रह जाता। जिस दिन ऐसे पुरुष मिल जायँगे उसी दिन उनके समान होनेमें कोई शङ्का नहीं है। जबतक वैसा नहीं होता, तबतक उनका मिलना हुआ ही नहीं; साधारण मनुष्योंके साथ ही मुलाकात हुई।

(३)

पिछले पाप चाहे जितने हों, कोई चिन्ता नहीं। निरन्तर निष्कामभावसे भजन होना चाहिये। पिछले सब पाप भजनके प्रतापसे नाश हो सकते हैं—

जबहिं नाम हिरदै धरयो, भयो पापको नास।
जैसे चिनगी आगकी, परी पुराने घास॥

आपने लिखा कि पारस मिल गया, सो पारस मिलनेपर तो आनन्द ही होना चाहिये, फिर दुःखका काम ही क्या? आपने लिखा कि सूरदासको लकड़ी पकड़ाये बिना कहाँ भाग सके, सो ठीक है। सुननेमें आता है कि कलियुगमें तो नामका आश्रय लेना चाहिये। भगवान्‌के इस नामको ही लकड़ी

समझकर पकड़ लेना चाहिये फिर उसको रास्ता बतानेवाले भगवान् तो खड़े ही हैं ।

कलियुग केवल नाम अधारा । सुमिरि सुमिरि उतरहु भव पारा ॥

कृपा-दयाकी बात नहीं लिखनी चाहिये । कृपा-दया तो कृपासिन्धुकी सबके ऊपर बनी ही है । समय बीता जा रहा है, असली कमाईको नहीं छोड़ना चाहिये । शरीर, भोग तथा संसारको मिथ्या जानकर उनका आसरा छोड़कर श्रीनारायणका आश्रय लेना चाहिये । संसारके काममें थोड़ा समय बिताना चाहिये । पेट तो अपना पशु भी भरते ही हैं, उत्तम उसीको समझना चाहिये कि जो दूसरेके हितके लिये अपने प्राण भी देनेके लिये तैयार है । सभी लोग स्वार्थमें डूबे पड़े हैं । चेतना चाहिये । मनुष्यके शरीरका असली फल प्राप्त करना चाहिये ।

(४)

आपने लिखा कि············आये पीछे नामजपकी चेष्टा ज्यादा हो रही है सो नामजपकी चेष्टा ज्यादा रहनी ही चाहिये । आपने लिखा कि ध्यानके वास्ते जब बैठता हूँ तब अनेकों प्रकारकी फुरनाएँ होने लगती हैं सो भक्तिसहित नामका जप और मनसे सगुण भगवान्‌का ध्यान हो, इसकी चेष्टा करनी चाहिये, फिर कोई हर्ज नहीं । आपने लिखा कि वैराग्यका अभ्यास ज्यादा करनेकी चेष्टा करता हूँ सो ठीक है । विचारसे भी वैराग्य होता है परन्तु भजन, ध्यान, सत्संगका तीव्र अभ्यास करनेसे शीघ्र ही तीव्र वैराग्य हो सकता है । भगवान्‌के गुणानुवाद और प्रेमभक्तिके शास्त्र बाँचनेका अभ्यास करना चाहिये । आपने लिखा कि फुरना ज्यादा रहनेके कारण मन स्थिर नहीं होता, जिससे ठीक-ठीक ध्यान नहीं हो पाता । एकमात्र नामजपके आधारसे ही रहता हूँ सो ठीक है । निरन्तर प्रेमसहित एकमात्र नामके जपका आधार रहनेपर, तो सब बातें आप ही हो सकती हैं । केवल प्रेमसहित नामजपका अभ्यास होनेके लिये ही शास्त्र और सत्संगके अभ्यासकी चेष्टा करनी चाहिये । फिर कोई चिन्ता नहीं । ध्यान और वैराग्य उसके अधीन हैं ।

जो कुछ हो उसीमें आनन्द मानना चाहिये । सब प्रभुकी दृष्टिके सामने होता है, उसमें अपने मनको मैला करना मालिकका तिरस्कार करना है और मालिककी शरणमें कलंक लगाना है । सब कुछ मालिकका है, ऐसा समझना चाहिये । स्वामी अपनी वस्तुको चाहे जिस प्रकार बरते, सब उसीका है । मैं भी उसीका हूँ, मेरा तो कुछ है ही नहीं । ऐसा मानकर हर समय आनन्दमें मग्न रहते हुए प्रेमसहित निरन्तर श्वासद्वारा नामका जप होता रहे ऐसी चेष्टा करनी चाहिये । नामके जपके साथ भगवान्‌की मोहिनी मूर्ति याद आ जानी चाहिये । उसको अपने मनसे और नेत्रोंसे कभी न भूले, हर समय अपने सामने देखता हुआ प्रसन्नचित्तसे आनन्दमें ही मग्न होता रहे । चित्तकी प्रसन्नता कभी कम नहीं होनी चाहिये ।
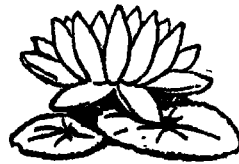
गीता श्रीभगवान्के वचन हैं

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥

यह श्लोक भगवान् वेदव्यासने कहा है । इसका मतलब है, गीताको ही भली प्रकार पढ़ना चाहिये, फिर अनेक शास्त्रोंके विस्तारकी क्या जरूरत ? क्योंकि गीता स्वयं भगवान्के मुखारविन्दसे निकली है । जो स्वयं श्रीभगवान्के मुखारविन्दसे प्रकट हुई है, उसकी महिमाका वर्णन कौन कर सकता है ? श्रीभगवान्के पादपद्मके अँगूठेसे श्रीगंगाजी निकली हैं । उनका तो शास्त्रोंमें इतना माहात्म्य बताया है कि—

गङ्गा गङ्गेति यो ब्रूयात् योजनानां शतैरपि ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति ॥

गंगाजीके समीप जाकर नहीं, चार सौ कोस दूर बैठकर भी जो *'गंगा' 'गंगा'* ऐसा कहेगा, वह सब पापोंसे छूटकर विष्णुलोकको चला जायगा । जब पैरके अँगूठेसे निकली हुई भगवती भागीरथीका इतना माहात्म्य है तब जो साक्षात् श्रीमन्नारायणके मुखारविन्दसे निकली है, उस गीतारूपी गंगामें जिन्होंने स्नान कर लिया हो उनके पुण्यको कौन कह सकता है ?

गीता हमारी माता है, जैसे हम माताके बिना जन्म नहीं ले सकते, ऐसे ही गीताके बिना ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते । इस भवसागरसे छूट नहीं सकते । हम सब मोहसागरमें गोता खा रहे हैं । 'यह मेरा लड़का, यह मेरी स्त्री, यह मेरा धन, यह मेरा परिवार । मैं पैदा करता हूँ तब ये सब खाते हैं, मैं पैदा न करूँगा तो ये भूखों मरेंगे । मैं धन कमाता हूँ, मैंने यह काम किया, अब मैं उस कामको करूँगा ।' यह सारी ममता और मोहकी बातें हैं । इन बातोंमें फँसकर हम सबके पालनकर्ता प्रभुको भूल जाते हैं, अपनेको ही सब कुछ मानने लगते हैं । इसीसे हम बार-बार जन्म लेते हैं और बार-बार मरते हैं । यदि हमारा यह मोह क्षय हो जाय तो हम जन्म-मरणके चक्करसे छूट जायँ; चौरासी लाख योनियोंमें जो हम घूमते हैं हमारा वह घूमना छूट जाय । जन्म-मरणका कारण मोह ही है और उस मोहके नाशको ही मोक्ष कहते हैं । वह मोक्ष भगवती श्रीगीताजीकी शरणमें जानेसे ही प्राप्त होता है । गीता मोहरूपी अन्धकारका नाश करनेके लिये सूर्यके समान है । इसकी उत्पत्ति ही मोह-नाश करनेके लिये हुई थी ।

कौरव और पाण्डव भाई-भाई थे । कौरव सौ थे और पाण्डव पाँच । कौरव कहते थे, 'हममें शक्ति है, हम बहुत हैं, हम जो करेंगे वही होगा, राज्य हमारा, धन हमारा, प्रजा हमारी ।' पाण्डव कहते थे—'श्रीकृष्ण ही हमारे स्वामी हैं, वे ही सबके ईश्वर हैं, वे जो करेंगे वही होगा । हम थोड़े हैं तो क्या हुआ, हमारे सिरपर आनन्दकन्द श्रीकृष्ण हैं ।' एक तरफ अहंकारका पुतला दुर्योधन था, दूसरी तरफ श्रीकृष्णको ही सर्वस्व समझनेवाले धर्मराज थे तथा नरावतार अर्जुन थे । युद्ध आरम्भ हुआ । दुर्योधनने अपने रथपर अहंकारको बिठाया, उसने कहा—'मेरे साथ देवताओंको भी परास्त करनेवाले भीष्मपितामह हैं । दिक्पालोंको भी कँपानेवाले द्रोणाचार्य हैं, संसारको जीतनेवाला कर्ण है, ग्यारह अक्षौहिणी सेना है ।' पाण्डवोंने कहा—'हमारे साथ एक भी राजा चाहे न हो हमें परवा नहीं । हमारे साथ श्यामसुन्दर अकेले हों तो हमारा बेड़ा पार है । भगवान् वासुदेव हमारे रथपर बैठ जायँ; बस, हमारा सब काम बना-बनाया है ।'

भगवान् तो भक्तवत्सल हैं, उन्हें आप जो भी बनाना चाहें वे वही बन जाते हैं । अर्जुनने प्रार्थना की, वे उनके सारथी बन गये ।

जिसके रथपर केसो । उसको कौन अँदेसो ॥

जिसके रथपर साक्षात् नन्दनन्दन बैठे हैं उसे फिर चिन्ता किस बातकी ? कबीरसाहबने कहा है—

कबीर मैं का चिंतवाँ, मम चिंते का होय ।
मेरी चिंता हरि करें, चिंता मोय न कोय ॥

परन्तु मोह तो इसीका नाम है जिसकी चिन्ता न करनी चाहिये उसीकी चिन्ता करें । अर्जुनको मोह हो गया । वे सोचने लगे —'मैं जिनसे युद्ध कर रहा हूँ वे तो मेरे भाई ही हैं, इनसे लड़नेमें मेरी हानि है, इनके नाशसे कुलधर्मका नाश हो जायगा । नाश हो जानेसे अधर्म बढ़ जायगा, फिर स्त्रियाँ दूषित हो जायँगी, जिससे वर्णसंकर उत्पन्न हो जायँगे । वर्णसंकर होनेसे उनके दिये हुए जलपिण्डको पितर नहीं ग्रहण करेंगे । इससे वे सब नरकमें जायँगे । इसलिये मुझे युद्ध नहीं करना चाहिये ।'

ये बातें तो ठीक थीं, किन्तु कही गयी थीं सब मोहवश । अपनेको ही कर्ता मानकर सब बातें सोची गयी थीं । बात तो पण्डितोंकी-सी थी, किन्तु थी मोहसे सनी हुई इसीसे अज्ञानजन्य थी । मोहमें और प्रेममें इतना ही तो अन्तर है । प्रेममें संसारी इन्द्रिय-सुखकी कोई कामना नहीं होती । मोहमें इन्द्रियसुखकी भावना होती है । मोहमेंसे यदि इन्द्रियसुखकी वासना निकाल दी जाय तो वही प्रेम हो जाता है । मोह तो अर्जुनको हुआ, किन्तु उन्होंने अपना मोह किसी दूसरेसे नहीं कहा । भगवान्से उन्होंने दीनतासे कहा—'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' 'मैं आपका शिष्य हूँ, मेरी रक्षा करो, मैं आपकी शरण हूँ ।' 'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि' 'जो कल्याणकारी हो वह मुझसे निश्चय करके कहिये ।'

भगवान्ने उनकी ऐसी बातें सुनी । वे हँसे और बोले

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥

जो बात नहीं सोचनेकी है, उसका तो तुम सोच करते हो और बातें पण्डितोंकी-सी करते हो । पण्डित-लोग चाहे प्राण चले जायँ चाहे रह जायँ, दोनोंकी चिन्ता नहीं करते । अर्थात् उन्हें जन्म-मरणकी कोई चिन्ता ही नहीं । बस, श्रीगीताजीका आरम्भ यहींसे हुआ है । बल्कि गीताका सार इतनेमें ही आ जाता है, आगे तो बस इसी आधे श्लोकका भाष्य है ।

गीताकी प्राप्ति श्रद्धासे होती है, पाण्डित्यसे नहीं होती, तपसे नहीं होती, यज्ञसे नहीं होती । बस, गीताज्ञानको श्रद्धावान् ही प्राप्त कर सकता है 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' इसलिये भाइयो ! आप गीताज्ञानको प्राप्त करना चाहते हैं तो पहले श्रद्धाकी शरण लीजिये । गीताके आरम्भमें श्रीभगवानुवाच आता है, फिर यह श्लोक है 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' बस, इसीपर सोचिये—'श्रीभगवानुवाच' श्रीभगवान् बोले । हाँ, श्रीभगवान् बोले ? क्या यह भगवान्की आज्ञा है ? किसी ऋषिकी नहीं, किसी कविकी नहीं । स्वयं भगवान् कहते हैं, स्वयं भगवान् बोलते हैं, फिर शङ्काके लिये स्थान कहाँ ? भगवान् बोलते हैं, भगवान्के वचन हैं तो फिर हमें क्या चिन्ता !

इसलिये मेरी आप सब भाइयोंके चरणोंमें प्रार्थना है कि आप श्रीगीताजीका अध्ययन करें । गीताको सभी पढ़ सकते हैं । इसके लिये किसीको मनाही नहीं, आप इसे प्रेमसे पढ़ें । ऐसा नहीं कि अठारह अध्याय केवल कण्ठस्थ कर लें । कण्ठस्थ कर लें तो उत्तम ही है, किन्तु यह सोचकर पढ़ें कि ये भगवान्के वचन हैं, भगवान् बोल रहे हैं, कोई दूसरा नहीं बोलता ।*

---

* मद्रास प्रान्त गुंटूर जिलेमें दुसुन्दरूके निकट आन्ध्रवाल्मीकी आश्रममें जो वर्षव्यापी अखण्ड हरिनामसंकीर्तन-यज्ञ हो रहा है उसमें गत गीता-जयन्तीके अवसरपर ब्रह्मचारी श्रीप्रभुदत्तजी महाराजका यह लिखित भाषण पढ़ा गया था ।

भजनकी आवश्यकता

(लेखक—ब्रह्मनिष्ठ श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्री १०८ स्वामी जयेन्द्रपुरीजी महाराज मण्डलेश्वर)

रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि।
इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते॥
चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः।
उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना॥

ब्रह्म ही राम है, सबका आत्मा है, ब्रह्मनिष्ठा ही भजन है। ब्रह्मात्मनिष्ठा स्वभावसे ही सदा प्राप्त है। जैसे कुम्हार घट बनानेका प्रयत्न करता है, उसे आकाश कहींसे लाना नहीं पड़ता, वह तो सर्वदा प्राप्त था। जैसे कूप खोदनेका ही प्रयत्न किया जाता है, जल कहींसे नहीं लाया जाता, वह तो पहलेसे ही मौजूद था। इसी प्रकार अनात्मनिष्ठा हटानेके लिये ही प्रयत्न किया जाता है, आत्मनिष्ठाके लिये कुछ भी प्रयत्न नहीं करना पड़ता। अविद्यासे अनात्मनिष्ठा हमने ही अपनेमें लगायी है, इसलिये उसे हमको ही हटाना होगा। सुरेश्वराचार्यजी यही तो कहते हैं—

अनात्मप्रतिषेधेन स्वात्मानं समुपास्महे। (वार्तिकामृत)

अनात्मभावनाका तिरस्कार ही आत्माकी उपासना है। सद्विचार एवं असद्विचारमें महान् अन्तर है, सद्विचार महान् एवं सुखप्रद है, असद्विचार तुच्छ एवं दुःखप्रद है। असद्विचार सब अनर्थोंका कारण है, और सद्विचार तमाम अनर्थोंका नाशक है। जिसने सद्विचारको पाया, उसने सब कुछ पाया, जिसने उसको गँवाया, उसने सब कुछ गँवाया। असद्विचार-रूप राक्षसको जो मार देता है, वही सद्विचाररूप देवताको प्राप्त होता है।

सर्वान्तर्यामी स्वस्वरूप (राम) की निष्ठा ही रामका मुख्य भजन है। रामका भजन भाव (प्रेम) से होता है, भाव न हो तो भजन कहाँ ? अगर संसारमें भाव है, तो भजन भी संसारका ही होगा। संसारका भाव छूटे बिना रामभजन नहीं हो सकता। जबतक संसारके विषयभोग प्रिय लगते हैं, तबतक राम प्रिय नहीं लगता। जितनी-जितनी संसारकी तुच्छता—असारता समझी जायगी, उतनी-उतनी रामकी विशेषता—महत्ता भी समझमें आती जायगी। चाहे जैसे बुरे-भले कर्म करते रहें, एवं मनसे भी अनेक प्रकारके सांसारिक चिन्तन करते रहें, आधा या पाव घण्टा उलटी-सीधी माला घुमा दी जाय, बस यही भजन है, ऐसा समझना भूल है। यद्यपि कुछ न करनेवालेसे कुछ करनेवाला अच्छा ही है तथापि ऐसे भजनाभाससे क्या विशेष फल हो सकता है ?

संतोंने क्या ही अच्छा कहा है—

माला मनसे लड़ पड़ी, क्या फेरे तू मोय।
तुझमें है यदि साँच तो, राम मिला दूँ तोय॥
मन दिया कहुँ औरही, तन मालाके संग।
कहे कबीर कोरी गजी, कैसे लागे रंग॥

'अजी ! हमारी कम उमर है, अभी हमने संसारमें कुछ देखा ही नहीं है। जब बड़े-बूढ़े होंगे, तब भजन-सत्संग आदि सत्कार्य कर लेंगे।' ऐसा समझनेवालोंकी बुद्धि बूढ़ी हो गयी है। जब व्यवहारके तुच्छ कार्य भी बुढ़ापेमें नहीं हो सकते, तब अमूल्य भगवद्-भजन किस प्रकार होगा ? जिसने पहले कुछ भजन किया है, वही बुढ़ापेमें भजन कर सकता है। भजन-को पीछे डालनेवाला, सभी ओरसे पीछे ही रह जाता है।

शरीर क्षणभङ्गुर है, उसका अन्त कब होगा ? यह अनिश्चित है। अमुक समयतक शरीर रहेगा, ऐसा पता किसीको भी नहीं है, इसलिये जबसे समझनेकी बुद्धि प्राप्त हो, तभीसे रामभजनमें डट जाना चाहिये। बाल्यादि सभी अवस्थाओंमें एवं

ब्रह्मचर्यादि सभी आश्रमोंमें भजन हो सकता है। रामभजनके लिये सभी अवस्थाएँ, सभी देश तथा सभी काल अनुकूल हैं। उत्साह और प्रेम होना चाहिये।

काल करे सो आजहि कर ले, क्या तनकी परतीत।
कबलग झूठ मनोरथ बाँधे, आयू होत व्यतीत॥

याद रक्खो ! रामभजनमें मनोराज्य (मनोरथ) बड़ा भारी प्रतिबन्धक है, यही तमाम अनर्थोंकी जड़ है। अफीम आदि नशेके समान मनोराज्य भी एक प्रकारकी बहुत बुरी आदत है। एकान्त समय मनोराज्यके लिये अनुकूल होता है, उसमें कई घण्टे व्यर्थ ही व्यतीत हो जाते हैं। राजाका वैभव देखकर तुच्छ मनुष्यको राजा होनेकी इच्छा होती है। जब उसे बाहर राज्यका मिलना एवं राजा बनना असम्भव मालूम होता है, तब वह मनसे राजा बन जाता है— मन-ही-मन महल, मकान, किले, बाग-बगीचे, पलटन आदि सभी कुछ बना डालता है, मनसे राजा बननेमें एवं महल आदिके बनानेमें कुछ भी रुकावट नहीं है। इस प्रकारके विविध मनोरथोंसे बद्ध जीव अपनी इच्छारूपी खाजको खुजाता है। विष्णुपुराणमें कहा है—

आमृत्युतो नैव मनोरथाना-
मन्तोऽस्ति विज्ञातमिदं मयाद्य।
मनोरथासक्तिपरस्य चित्तं
न जायते वै परमार्थसंगि॥
(४।२।११९)

'यह मैंने अच्छी तरह जान लिया है कि मृत्युपर्यन्त भी इन झूठे मनोरथोंका अन्त नहीं हो सकता। मनोरथोंमें आसक्त चित्तवाले कभी ईश्वरभजनमें नहीं लग सकते।' इसलिये कल्याणके अभिलाषियोंको चाहिये कि वे इन मनोरथोंके जालसे बचनेका प्रबल प्रयत्न करें। और इनसे बचकर भजनमें लग जायँ।

कुछ लोग कहते हैं कि रामभजनमें लगे रहनेसे व्यवहार बिगड़ जाता है, परन्तु ऐसा कहनेवाले प्रमादवश कुछ भी विचार नहीं करते। भजन किसी भी व्यावहारिक कार्यको बिगाड़ता नहीं है, प्रत्युत सुधारता है। भजन करनेसे बुद्धि निर्मल होती है, निर्मल बुद्धिसे किया हुआ व्यावहारिक कार्य भी पुण्यमय एवं सुखप्रद होता है। भजन नहीं करनेवालेकी बुद्धि मलिन होती है, मलिन बुद्धिसे किया हुआ व्यावहारिक कार्य पापमय एवं दुःखप्रद होता है। इसलिये याद रक्खो कि भजन व्यवहार एवं परलोक दोनोंको सुधारता है। कुछ लोग कहते हैं—'गृहस्थीमें भजन नहीं हो सकता, गृहस्थके लिये भजन नहीं है, 'गृहकारज नाना जंजाला—' यह उन लोगोंकी समझकी बड़ी भारी भूल है। कोई भी मनुष्य चौबीस घण्टे व्यावहारिक कार्य नहीं कर सकता, हँसी-मजाक, प्रमाद, आलस्य आदि फजूलके कामोंमें बहुत-सा समय व्यर्थ ही व्यतीत हो जाता है, यह सबके अनुभवकी बात है। याद रक्खो ! प्रमादत्यागी विचारशील मनुष्य हर समय अपने चित्तको रामभजनमें लगा सकता है। अपने अमूल्य श्वास कभी व्यर्थ नहीं खोने चाहिये, उन श्वासोंको हरिभजनमें लगाकर अपने जीवनको सार्थक बनाना चाहिये। भक्तोंके आदर्श जीवनका मनन करो, मनुष्यशक्तिके सामने असम्भव कुछ नहीं है।

मनकी चालबाजियोंको पहचानो, अवकाशके समय अयुक्त मन नाना प्रकारके विषयजालोंमें फँस जाता है। मनकी ऊटपटांग बातोंका कभी अनुमोदन न करो, शुद्ध बुद्धिसे अपने कर्त्तव्यका निश्चय करो। मनको नियमित बनाओ, अयुक्त मनके कार्य दिनभरमें अनन्त होते हैं। वह हजारों-लाखों जगह दौड़ता रहता है। मनकी दौड़में कामना ही कारण है, कामना ही मनको इधर-उधर भटकाती रहती है। कामनाका निरोधकर मनको एकाग्र बनाये बिना वास्तविक भजन नहीं हो सकता। सत्संगसे कामनाओंका निरोध होता है। इसलिये भजनकी जड़ सत्संग है। गुसाईं तुलसीदासजीने क्या ही अच्छा कहा है—

बिनु सतसंग न हरिकथा, तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गये बिनु रामपद, होइ न दृढ़ अनुराग॥

याद रक्खो ! भ्रम (आत्माको भूल जाना) ही संसारका मूल है, और स्व-स्वरूपकी ध्रुवा स्मृतिरूप भजन ही कल्याणका मूल है । भ्रमके खेतमें भ्रमके ही वृक्ष उत्पन्न हुए हैं । यदि स्व-स्वरूपकी ध्रुवा स्मृति होती तो दुःखमय संसारका अनुभव क्योंकर होता ? इसलिये यही कर्तव्य है—

ब्रह्मामृतं भज सदा सहजप्रकाशं
सर्वान्तरं निरवधि प्रथितप्रभावम् ।
यद्यस्ति ते जिगमिषा सहसा भवाब्धेः
पारे परे परमशर्मणि निष्कलङ्के ॥

हे भ्रममें पड़े हुए जीव ! यदि तू संसारसागरके परले पार, जो परमानन्दस्वरूप एवं सकल क्लेशरूपी कलङ्कसे शून्य है, जानेकी तीव्र इच्छा करता है, तो स्वयंप्रकाश, सर्वान्तर्यामी, अनन्तस्वरूप, प्रसिद्ध प्रभावशाली, अविनाशी, अमृत, अभय, रामरूप परब्रह्मका निरन्तर भजन किया कर ।
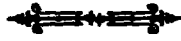
महाकवि तुलसीदासजी और अद्वैतवाद

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० श्रीप्रमथनाथजी तर्कभूषण)

गोस्वामी तुलसीदासजीकी सुमधुर, सरल और गम्भीर भावयुक्त कविताके सम्बन्धमें कुछ नयी बात कहनी बाकी है, ऐसा नहीं प्रतीत होता । तुलसीदासजीकी कविता अनुलनीय है, अनन्यसाधारण है और अनिर्वचनीय है । यह बात सर्वसहृदयसम्मत है । इसमें न कोई मतभेद है, न हो सकता है । वे आदिकवि महर्षि वाल्मीकिके अवतार थे, इस लोकोक्तिके सम्बन्धमें भी किसीका मतभेद है या हो सकता है, ऐसी बात भी नहीं मालूम होती ।

उनका प्रेमभक्तिमय रामचरितमानस दार्शनिक सिद्धान्तरूपी महान् भित्तिपर ही प्रतिष्ठित है, इस लेखमें इसी विषयपर कुछ आलोचना की जायगी । महाकवि तुलसीदासजी नैयायिक आदिकी तरह द्वैतवादी थे, या भगवत्पाद आचार्य शङ्कर प्रभृतिकी भाँति अद्वैतवादी थे, अथवा आचार्य रामानुजकी तरह विशिष्टाद्वैतवादी थे, इस विषयको लेकर बड़ा मतभेद है । इस लेखमें इन तीनों मतोंका पृथक्-पृथक् स्वरूप दिखलाकर गोस्वामीजीके रामचरितमानसकी उक्तियोंके द्वारा ही यह प्रतिपादन करनेकी चेष्टा की जायगी कि इनमें गोस्वामीजीका अपना मत कौन-सा था ।

१—निर्गुण निराकार एकमात्र ब्रह्म ही वास्तव तत्त्व है, इसी ब्रह्मका उपनिषदोंमें सत्, चित् और आनन्द— इन तीन शब्दोंद्वारा प्रतिपादन किया जाता है । एक ही परमार्थ सद्ब्रह्म चित् या आनन्द शब्दके द्वारा निर्दिष्ट होनेपर भी आनन्द और चित् परस्पर विभिन्न वस्तु नहीं है । एक ही वस्तुके नाम हैं सत्, चित् और आनन्द । यह ब्रह्म-वस्तु स्वयंप्रकाश है । इसीसे उपनिषद् कहते हैं—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

'सूर्य, चन्द्रमा और ताराओंके प्रकाशसे वह प्रकाशित नहीं होता, बिजलीकी प्रभासे वह प्रकाशित नहीं होता, तब अग्निकी प्रभासे वह प्रकाशित होगा ऐसी तो सम्भावना ही कहाँ है ? वह (ब्रह्म) प्रकाशित होता है, इसीसे सब वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं, संसारकी सभी वस्तुएँ उसीके प्रकाशसे प्रकाश प्राप्त करती हैं ।'

इस ब्रह्माद्वयवादमें जीव और प्रपञ्चकी पृथक् सत्ता नहीं है। जीव और ईश्वर दोनों ही ब्रह्ममें ही कल्पित हैं। इस ब्रह्मतत्त्वका ज्ञान होनेपर समस्त प्रपञ्च, जीव और ईश्वरका अस्तित्व विलुप्त हो जाता है और एक सच्चिदानन्द ब्रह्म ही रह जाता है। जीवके इस ब्रह्मात्मभावका प्रकाश ही मुक्ति है, यही परम पुरुषार्थ है।

२—गौतम और कणाद आदिके मतमें जीव, जगत् और परमात्मा परस्पर भिन्न-भिन्न हैं। इनका अभेद सम्भव नहीं है। जगत् और परमात्मासे जीव सम्पूर्ण-रूपसे पृथक् है, इस प्रकारका ज्ञान ही जीवकी मोक्ष-प्राप्तिका कारण है। अभेदज्ञान ही बन्धनका कारण है और भेदज्ञान ही मोक्षका कारण है।

३—आचार्य रामानुजके मतानुसार चित् और जड परमात्माके शरीर-स्थानीय हैं और परमात्मा ही चित्-जडके आत्मा-स्थानीय हैं। अतएव जीव, जड और परमात्मा ये त्रिविध वस्तुएँ परस्पर विभिन्न हैं। जीव और जडशरीरविशिष्ट परमात्माके स्वरूपका साक्षात्कार होते ही संसारबद्ध जीव मुक्त हो जाता है। इस ज्ञानकी प्राप्तिके प्रधानतम उपायका ही श्रुतियोंने निदिध्यासन या भक्तिके नामसे निर्देश किया है।

यह तो निश्चितरूपसे बतलाना बहुत कठिन है कि गोस्वामीजीने इन तीनोंमेंसे किस एक मतका दृढ़ताके साथ अवलम्बन किया था। परन्तु वे निर्गुण ब्रह्मवादी होकर भी सगुण ब्रह्मवादी थे, यह तो उनकी अपनी उक्तिसे ही प्रकट है।

रामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें वे कहते हैं—

जय सगुन निर्गुन रूप राम अनूप भूप सिरोमने।

इसके बाद फिर उनके ऐसे वचन मिलते हैं—

जे ब्रह्म अज अद्वैत अनुभवगम्य मनपर ध्यावहीं।
ते कहहु जानहु नाथ हम तव सगुन-जस नित गावहीं॥

उपर्युक्त दोनों स्थलोंमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको यथाक्रमसे निर्गुण भी कहा गया है और सगुण भी। इस निर्गुण और सगुण ब्रह्मवादमें कौन-सा वाद उनको मान्य है इस विषयमें पहली कवितामें कुछ भी संकेत नहीं है। परन्तु दूसरी कवितामें स्पष्ट ही कहा गया है कि जो लोग निर्गुण, अज, अनादि, अद्वैत ब्रह्मतत्त्वका ध्यान करते हैं, वे वैसे ही किया करें; परन्तु हम तो नाथ! आपका सगुण-यश ही नित्य गाते हैं।

अध्यात्मभूमिपर अनारूढ विद्वानोंके लिये 'अगुण ब्रह्म कैसे सगुण हो सकता है' इस कठिन प्रश्नका समाधान चाहे सम्भव न हो परन्तु परमार्थतत्त्वदर्शी महाकवि तुलसीदासजीके लिये इस प्रश्नका समाधान कठिन नहीं था। इसीसे उन्होंने मुक्तकण्ठसे घोषणा की है—

अगुनहि सगुनहि नहिं कछु भेदा। गावत मुनि पुरान बिधि बेदा॥

निर्गुण और सगुण ब्रह्ममें जरा भी भेद नहीं है, मुनिगण, पुराण, चतुर्मुख ब्रह्मा और वेद यही गाते हैं।

इसपर तार्किक भेदवादी ऐसा कह सकते हैं कि 'बाधितमर्थं वेदोऽपि बोधयितुं न समर्थः' अर्थात् 'जो प्रमाणद्वारा बाधित है, ऐसी किसी वस्तुको वेद भी नहीं समझा सकते। मुनिगण, पुराण और चतुर्मुख ब्रह्माने कहा है इसीलिये विवेचक व्यक्ति क्यों इस बातपर विश्वास करेंगे। सगुण और निर्गुणमें कोई भेद नहीं है, एक अद्वितीय भगवान् सगुण भी हैं और वही निर्गुण भी हैं, वे एक होते हुए ही अनेक हैं। इस प्रकारके परस्पर-विरुद्ध वचनोंको यथार्थ माननेवाले न्यूनाधिकरूपमें पागल नहीं हैं तो और क्या हैं?'

भेदवादियोंके इस प्रकारके प्रश्नों अथवा उपहासके तीव्र कटाक्षोंकी तृणकी तरह उपेक्षा करके उन्होंने निःसङ्कोचरूपसे गाया है—

निर्गुन ब्रह्म सगुन भये कैसे। जल हिम उपल बिलग नहिं जैसे॥

'निर्गुण और निराकार ब्रह्म सगुण और साकार कैसे हो सकते हैं ?' 'क्यों नहीं हो सकते। इसमें असङ्गतिकी कौन-सी बात है ? एक ही जल जमकर बरफकी शिला हो जाता है; फिर वही गलकर जल हो जाता है। तरलता और कठिनतामें परस्पर विरोध होनेपर भी जल तो जल ही रहता है, वह तो दूसरी चीज नहीं हो जाता। इसी प्रकार आपाततः निर्गुणत्व और सगुणत्व परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेपर भी वे वस्तुतत्त्वके भेदका समर्थन नहीं कर सकते। सच्चिदानन्दात्मक ब्रह्म उपासकोंके दृष्टिभेदके अनुसार कभी सगुण और कभी निर्गुण प्रतीत होनेपर भी वे सदा एक ही हैं, एक ही थे और अनन्त कालके लिये एक ही रहेंगे। यही है सब मुनियोंका, समस्त पुराणोंका, सम्पूर्ण वेदोंका और वेदोंके प्रकाश करनेवाले विधाताका श्रीभगवत्तत्त्वके सम्बन्धमें सार सिद्धान्त। भारतका विश्वविजयी सनातन हिन्दूधर्म अनादिकालसे इसी सिद्धान्तपर सुप्रतिष्ठित है। इसीसे महाभागवत और परमार्थतत्त्वदर्शी महाकवि गोस्वामी तुलसीदासजी बिना सङ्कोच पुकार कर कहते हैं—

अगुनहि सगुनहि नहिं कछु भेदा। गावत मुनि पुरान बिधि बेदा॥

मुनिगण-शिरोमणि श्रीशुकदेव गोस्वामीने भी श्रीमद्भागवतमें बार-बार यही कहा है। श्रीवृन्दावनमें यमुनापुलिनपर आनन्दकन्द श्रीकृष्णके साथ भोजन करते हुए गोपबालकोंके सौभाग्यका वर्णन करते हुए श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या
दास्यं गतानां परदैवतेन।
मायाश्रितानां नरदारकेण
साकं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः॥

'ज्ञानियोंकी रागद्वेषविमुक्त विशुद्ध मनोवृत्तिमें जो अखण्ड सच्चिदानन्दरूपसे प्रकाशित होते हैं, दास्यभक्ति-परायण भक्त साधकोंके लिये जो साक्षात् करुणानिधान परदैवतके रूपमें प्रकट होते हैं, और मायाश्रित व्यक्तियोंके सामने जो मनुष्य-बालकके रूपमें प्रतीत होते हैं, उन्हीं साक्षात् भगवान्के साथ कृतपुण्य-पुञ्ज व्रजगोपबालक इस प्रकार विचित्र भोजनरूप लीला-विहार कर रहे हैं।

पुराणशिरोमणि श्रीमद्भागवत महापुराणमें असंदिग्ध भाषामें इसी सिद्धान्तकी घोषणा की गयी है, जैसे—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

'तत्त्ववेत्ता लोग जिस अद्वैत ज्ञानको तत्त्व कहते हैं वही तत्त्व ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् इन तीन नामोंसे निर्दिष्ट होता है।' इस श्लोकका तात्पर्य श्रीगोस्वामीजी महाराज इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

ब्यापक ब्रह्म अखंड अनंता। अखिल अमोघ एक भगवंता॥
सोइ सच्चिदानंद घनस्यामा। अज बिज्ञानरूप गुनधामा॥
अगुन अदभ्र गिरा गोतीता। समदरसी अनवद्य अजीता॥
निर्गुन निराकार निर्मोहा। नित्य निरंजन सुख संदोहा॥

श्रीमद्भागवतमें ब्रह्म-मोहनलीलाके प्रसङ्गमें चतुरानन ब्रह्माकी उक्ति है—

अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य
स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि।
नेशे महि त्ववसितुं मनसान्तरेण
साक्षात्तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः॥

हे भगवन्! यह जो आपका नील-जलद-कान्ति शरीर है, यह भौतिक या मायिक नहीं है। यह आपके भक्तोंकी इच्छानुसार ही अभिव्यक्त होता है। इस वपुकी कितनी महिमा है जो मैं जगत्-रचयिता स्वयं ब्रह्मा भी समाहितचित्तके द्वारा उसे समझनेमें समर्थ नहीं हो रहा हूँ। फिर सुख, चैतन्य और आत्मभूत तुम्हारे साक्षात् स्वरूपकी महिमा मैं कैसे समझ सकूँगा। अर्थात् वह बोधगम्य नहीं है, साक्षात् बोध-स्वरूप है।

सृष्टिके प्रारम्भमें इन्हीं चतुरानन ब्रह्माके मुखसे निकले हुए अनादिनिधन वेदोंमें भगवान्‌का तत्त्व बतलाते हुए क्या कहा गया है, उसे देखिये—वेद कहते हैं-

अणोरणीयान् महतो महीयान्
आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।

वे परमात्मा अणु (छोटे) से अणुतर (अत्यन्त छोटे) हैं, और महान् (बड़े) से भी महत्तर (अत्यन्त बड़े) हैं, वे सब प्राणियोंके आत्मा हैं पर गुहामें छिपे है ।

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति विश्वं न हि तस्य वेत्ता
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥

उसके हाथ नहीं है पर वह पकड़ता हैं, पैर नहीं है पर दौड़ता है, कान नहीं है पर सब कुछ सुनता है, आँख नहीं हैं परन्तु सबको देखता है, वह अखिल विश्वको जानता है परन्तु उसे समग्ररूपसे कोई नहीं जान सकता । ऐसा परस्परविरुद्ध धर्मोंका आश्रयस्वरूप जो सबका आदिभूत तत्त्व है, उसीको शास्त्रकारगण महापुरुष कहते हैं ।

इस मुनिगणसम्मत, चतुरानन ब्रह्माके द्वारा स्वीकृत तथा पुराण और वेदोंमें वर्णित आत्मभूत ईश्वर-तत्त्वका अवलम्बन करके परमज्ञानी और साथ ही परमभक्त गोस्वामी तुलसीदासजीने भगवान् श्रीराम-चन्द्रजीको अतिमानुषी मानवलीलाका वर्णन करनेके लिये जिस भक्तिसुधामय महाकाव्यकी रचना की, उसीका नाम 'रामचरितमानस' है ।

अतएव यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि इस 'रामचरितमानस' के रचयिता महाकवि गोस्वामी तुलसीदासजी अद्वैतवादी थे, परन्तु उनका यह अद्वैतवाद न तो भगवत्पाद आचार्य श्रीशंकरका अद्वैतवाद है और न आचार्य रामानुजका विशिष्टाद्वैतवाद ही । और न यही कि गोस्वामीजी भेदवादी गौतम या कणादके मतानुयायी थे । इतना होनेपर भी इसमें जरा भी सन्देह नहीं है कि उनके द्वारा अवलम्बित अद्वैततत्त्व-सिद्धान्त श्रुति-पुराण और मुनिगणसम्मत है ।

निर्गुण ब्रह्मवादके प्रति उनकी यथेष्ट श्रद्धा थी, यह जैसे सत्य है वैसे ही यह भी असंदिग्ध है कि सगुण ब्रह्मवादके प्रति उनकी अनुरक्ति, श्रद्धा और भक्ति प्रगाढ़तर थी । इसीसे वे कहते हैं—

करुनायतन प्रभु सदगुनाकर देव यह बर मागहीं ।
मन कर्म बचन बिकार तजि तव चरन हम अनुरागहीं ॥

निर्गुण ब्रह्मज्ञान मोक्षका कारण है, इस विषयमें उनका सिद्धान्त और आचार्य शंकर प्रभृति अद्वैतवादी दार्शनिकोंका सिद्धान्त एक होनेपर भी उनके मतमें प्रेमभक्ति-मार्गको ही प्रशस्त कहा गया है—

ग्यानक पंथ कृपानक धारा । परत खगेस न लागहि बारा ॥
जो निर्बिघ्न पंथ निरबहही । सो कैवल्य परमपद लहही ॥

× × × ×

रामभजत सो मुकुति गोसाईं । अनइच्छित आवइ बरिआईं ॥

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी इसी सिद्धान्तका समर्थन हुआ है । भगवान् श्रीकृष्ण गीताके बारहवें अध्यायमें कहते हैं—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥

अव्यक्तनिर्विशेष ब्रह्ममे जिनका चित्त आसक्त है उनको (साधनकालमें) क्लेश अधिकतर होता है । कारण, देहाभिमान रहते अव्यक्त गति दुर्लभ होती है ।

अद्वयज्ञानकी अपेक्षा भक्तियोग ही श्रेष्ठ मार्ग है, यही था गोस्वामी तुलसीदासजीका सिद्धान्त । इसी सिद्धान्तको रामचरितमानसमें भलीभाँति अभिव्यक्त किया गया है ।

नाम-महिमा

(लेखक—श्रीभीमचन्द्र चटर्जी बी० एस-सी०, एम० आई० ई० ई०, एम० आई० ई०, एफ० आर० एस० ए०)

मानव-सभ्यताके प्रारम्भसे ही भगवन्नामकी महिमा स्वीकार की गयी है। यह बात भलीभाँति ज्ञात है कि जब तुम किसीको अपने मनका प्रेम प्रकट करनेवाले मधुर शब्दोंसे पुकारते हो और उसे भाई कहते हो तो वह कैसा प्रफुल्लित होता है। तब तुम उससे कोई भी काम करवा सकते हो। परन्तु यदि उसी आदमीको कटु स्वरमें पुकारा जाय और उसे 'गधा' कहा जाय तो वह उससे असन्तोष प्रकट करेगा और तुम जो भी काम उससे कराना चाहोगे उसे करनेसे इन्कार कर देगा। जब किसीको भाई कहकर पुकारा जाता है तो वह वस्तुतः भाई ही नहीं हो जाता; इसी प्रकार जब उसे गधा कहा जाता है तो वह गधा भी नहीं हो जाता परन्तु कठोर एवं कटुतापूर्ण शब्द, चाहे कितने ही निरर्थक हों, अपमान प्रकट करते हैं। इसीलिये वे क्रोधकी भावना उत्पन्न करते हैं। इसका कारण यह है कि शब्द अथवा नाममें उसकी अपनी एक अन्तर्हित शक्ति होती है।

महान् संत कबीरने कहा है—

'सबसे मीठा बोलो। इससे तुम सबको सुखी कर सकोगे। कठोर शब्दोंका त्याग कर दो। यह सबको वशमें करनेका मन्त्र है।'[1]

इससे सिद्ध है कि शब्द केवल रिक्त या निरर्थक ध्वनियाँ नहीं हैं। चाहे जिस विधिसे परीक्षा की जाय, शब्द-शक्तिका बोध सहज ही प्राप्त किया जा सकता है। यदि साधारण शब्दोंमें यह प्रभाव है तब भगवन्नामकी तो बात ही क्या है? इसमें कोई सन्देह नहीं कि भगवन्नाममें भगवान्‌की सम्पूर्ण शक्ति निहित है।

'जहाँ कहीं भी कृष्ण नामका उच्चारण होता है वहाँ-वहाँ स्वयं कृष्ण अपनेको व्यक्त करते हैं।'[2]

'हे अनेक नामोंमें व्यक्त होनेवाले प्रभो! तूने इन नामोंमें अपनी सम्पूर्ण (आध्यात्मिक) शक्ति भर दी है।'[3]

प्रभो! तेरे नाम असंख्य हैं। वे व्यर्थ या खाली शब्द ही नहीं हैं। इनमेंसे प्रत्येक तुम्हारी आध्यात्मिक शक्तिसे पूर्ण है। जब कोई भक्तिपूर्वक इन नामोंको लेता है तब तुम्हारी शक्ति भक्तकी आत्मामें प्रवेश कर जाती है और वह तुम्हारी सर्वव्यापक सत्ताके भावसे ओतप्रोत हो उठता है।

'नाम और कृष्ण अभिन्न हैं, भक्तिसहित नामका भजन कर। जहाँ भी श्रीहरिका नाम लिया जाता है वहाँ-वहाँ भगवान् पहुँच जाते हैं।'[4]

इस प्रकार नामी अपने नामसे सम्बन्धित है। इसीलिये जब संत कवि तुलसीदाससे पूछा गया कि मनुष्यका सर्वोच्च कर्तव्य क्या है, तब उन्होंने कहा कि नाम ही (आध्यात्मिक जीवनकी) एकमात्र नींव है।

'हे भृगुश्रेष्ठ! भक्तिपूर्वक अथवा उपहासके साथ एक बार भी कृष्ण नामका गान करनेसे, गायक या नामोच्चारककी, चाहे वह कोई भी हो, मुक्ति हो जाती है।'[5]

'प्रेमसे, घृणासे, उदासीनता अथवा आलस्यपूर्वक, किसी प्रकार भगवन्नामका उच्चारण करनेसे परम मंगलकी प्राप्ति होती है।'[6]

'हरिनाम ही मुक्तिका एकमात्र उपाय है। कलियुगमें दूसरी गति नहीं है।'[7]

'निरन्तर तुझे पुकारते-पुकारते मैं स्वयं तू हो गया और मुझमें कहीं 'मैं' का पता नहीं लगता।'[8]

निस्सन्देह यह सत्य है कि यदि हम तल्लीन होकर राम-नाम लें तो कमलनयन राम हमारे मनश्चक्षुओंके

---

१. सबसे मीठा बोलिये, सुख उपजै चहुँ ओर।
बसीकरन यह मंत्र है, तज दे बचन कठोर॥

२. याहाँ याहाँ नाम ताहाँ ताहाँ कृष्ण स्फुरे।

३. 'नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्तिस्तत्रार्पिता…'

४. येइ नाम सेइ कृष्ण भज निष्ठा करि।
नामेर सहित आछेन आपनि श्री हरि॥

५. सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा।
भृगुवर नरमात्रं तारयेत्कृष्णनाम॥

६. भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ।
नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥

७. हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

८. तूँ तूँ करता तूँ भयो मुझमें रही न हूँ।

सम्मुख प्रकट हो जाते हैं। प्रश्न उठता है 'इसमें प्रमाण क्या है कि यह दृश्य माया अथवा भ्रान्ति नहीं है और जो मूर्ति हम देखते हैं वह विकृत मस्तिष्ककी कल्पना नहीं है ! फिर सर्वशक्तिमान् राम शरीरधारीके रूपमें क्यों प्रकट होंगे ?' उत्तरमें शास्त्र कहते हैं—

'ब्रह्म चिन्मय, अद्वितीय, अरूप एवं अशरीरी होते हुए भी, भक्तोंके लिये रूप ग्रहण करता है।'[9]

'वही दयासागर भगवान्, जो अपने भक्तोंके प्रति इतने कृपालु हैं, अपने भक्तों एवं उपासकोंके अनुरोधसे पाँच मूर्तियाँ धारण करते हैं।'[10]

'सबके प्रभु, सर्वव्यापक, सब प्राणियोंके हितमें लगे हुए, अरूप भगवान् सबके उपकारके लिये रूप धारण करते हैं।'[11]

'अपने भक्तोंके कहे हुए वचनकी सत्यताकी रक्षा करने और अपनी सर्वव्यापकताको व्यक्त करनेके लिये यह अद्भुत रूप, जो न मानवी था, न जानवरोंका-सा था, धारण करके भगवान्ने स्तम्भसे प्रकट हो दर्शन दिया।'[12]

'मेरे प्रभु घट-घटव्यापी हैं; कोई ऐसा हृदय नहीं जो उनसे रहित हो। वह हृदय धन्य है जिसमें वे अपनेको व्यक्त करते हैं।'[13]

तब, वह अपनेको कहाँ व्यक्त करते हैं ?

'हरि सर्वत्र समानरूपसे व्याप्त हैं। मैं जानता हूँ, वह प्रेमके कारण ही रूप धारण करते हैं।'[14]

धर्मशास्त्रके अध्ययन और सत्संगद्वारा अपने हृदयको पवित्र करो; इसके पश्चात् धर्मशास्त्रोंके प्रमाण एवं अपने आध्यात्मिक गुरुकी शिक्षाओंके द्वारा अपनी श्रद्धाको सुदृढ़ करो। इस रीतिसे प्रयत्न करते रहनेपर हम मानव-जीवनके लक्ष्यको प्राप्त कर सकते हैं और हम राम-कृपासे, उनका दर्शन पा सकते हैं। वह हमें वरदान देते हैं।

बहुत से बेईमान आदमी दृढ़ सम्मोहन शक्तिके द्वारा लोगोंको रामकी छायामूर्ति दिखाते हैं। शिष्य उस छायासे भ्रमित होता है परन्तु वह समझता है कि उसके जीवनका लक्ष्य सिद्ध हो गया है। इस प्रकारकी धोखाधड़ीके कई उदाहरण जाननेका मौका मुझे मिला है। सच्चे अभ्यासियोंको ऐसे धोखेबाजोंसे सावधान रहना चाहिये। जब स्वयं भगवान् वर देते हैं—कृपापूर्वक दर्शन देते हैं तब उसे माया या मृगमरीचिका कहकर नहीं त्यागा जा सकता। इसका क्या प्रमाण है कि नाममें ऐसी शक्ति है ? मैं स्वयं इसका प्रमाण हूँ। शास्त्रोंके अनुसार प्रमाणकी परिभाषा क्या है ?

'प्रमाण तीन प्रकारके होते हैं—इन्द्रियलब्ध (प्रत्यक्ष), अनुमान और शास्त्रवाक्य।'[15]

साधारणतः हम प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणमें विश्वास करते हैं। परमात्मा इनके परे है और उसकी सत्ता सिद्ध पुरुषों एवं शास्त्रोंके वाक्योंद्वारा प्रमाणित है।[16]

सर ओलिवर लॉज इसे इस प्रकार कहते हैं—'जो वस्तुएँ हमारे ज्ञानके लिये बहुत ऊँची हैं उनके सम्बन्धमें जानकारी हमें कैसे हो सकती है ?'

'हमें मानवजातिके महान् शिक्षकों, प्रवक्ताओं, कवियों और संतोंसे शिक्षा लेनेका प्रयत्न करना चाहिये। हमें उनकी स्वानुभूतिपूर्ण रचनाओंको समझने और उनकी व्याख्या करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।'[17]

'हमें कवि और कलाकार, धर्मात्मा और सदाशय पुरुष मिलते हैं जिन्होंने नित्य सत्ताका दर्शन करना सीखा है।

---

९. चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः।
उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना॥

१०. स एव करुणासिन्धुर्भगवान् भक्तवत्सलः।
उपासकानुरोधेन भजते मूर्तिपञ्चकम्॥

११. सर्वेश्वरः सर्वमयः सर्वभूतहिते रतः।
सर्वेषामुपकाराय साकारोऽभून्निराकृतिः॥

१२. सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः।
अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन् स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम्॥
(भागवत)

१३. घट घट मेरा साइयाँ खाली घट ना कोय।
बलिहारी वा घट की, जा घट परगट होय॥

१४. हरि ब्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होइ मैं जाना।
(तुलसीदासजी)

१५. 'प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि।'

१६. सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात्।
तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात्⋯ ⋯॥

17. "We should strive to learn from great teachers, the Prophets and poets and saints of the human race and should seek to know and interpret their inspired writings." ("The Substance of Faith allied with Science" by Sir oliver Lodge P. 132.)

इसलिये यदि हमें पूर्णतः आत्म-दर्शन करना हो तो हमें उनको भी अपना शिक्षक बनाना चाहिये ।'[१८]

और अपने शास्त्रोंमें हमें ये वाक्य मिलते हैं:—

'ईश्वर पुरुषविशेष है जो सर्व बन्धनोंसे मुक्त है और कर्म एवं कर्म-फल अथवा कर्म-बीजसे प्रभावित नहीं है ।'[१९]

'उसका निर्देशक प्रणव (ॐ) है । जपमें उसीका उच्चारण एवं ध्यान करना चाहिये ।'[२०]

प्रणवकी महिमाका ध्यान [करने और ॐ का जप] करनेसे हमें क्या फल मिलेगा ?

'इसके फल-स्वरूप मुमुक्षुके हृदयमें ज्ञानका उदय होगा और आध्यात्मिक उन्नतिके मार्गकी सम्पूर्ण बाधाएँ दूर हो जायँगी ।'[२१]

इस ज्ञान-योगकी सिद्धिको स्वयं श्रीभगवान्का प्रसाद समझना चाहिये ।

'उन निरन्तर मेरे ध्यानमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक मुझे भजनेवाले भक्तोंको मैं वह बुद्धियोग (तत्त्वज्ञानरूप योग) देता हूँ, जिससे वे मेरेको ही प्राप्त होते हैं ।'[२२]

'उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये ही, मैं स्वयं उनके अन्तःकरणमें एकीभावसे स्थित हुआ, अज्ञानसे उत्पन्न हुए अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकद्वारा नष्ट करता हूँ ।'[२३]

जब हृदय निरन्तर जप करने और प्रणवकी महिमाका ध्यान करनेसे निर्मल हो जाता है तब मूर्तिमान् चेतना अथवा शरीरी आत्माकी सिद्धि ज्ञानके द्वारा होती है । तब कोई विघ्न-बाधा नहीं रह जाती । बिना किसी बाधाके समाधि-अवस्थाकी प्राप्ति होती है ।

ये विघ्न क्या हैं ?

'बीमारी, थकावट, संशय, प्रमाद, आलस्य, भोग्य वस्तुओंमें आसक्ति, भ्रान्ति, योगकी अनवस्थिति, अस्थिरचित्तता, ये सब मनको चञ्चल एवं अशान्त करनेवाली चीजें हैं ।'[२४]

जो मुमुक्षु योगमें पारंगत नहीं है उसकी आत्म-साधना एवं समाधिकी प्राप्तिमें जो कारण बाधक होते हैं उन्हें ही विघ्न कहा जाता है । ये विघ्न कई प्रकारके होते हैं । मुख्य-मुख्य ऊपर गिनाये गये हैं ।

१८७७ ई० में ए० लेविकेके लिये निजी रूपसे मुद्रित 'क्रिप्टिक मैसनरी' में निम्नलिखित वाक्य मिलते हैं—

'ज़ोरोस्टर (अथवा मन्दिरनिर्माणके ८०० वर्ष पूर्व हुए ज़रथुस्त्र) ज़ेंदावेस्तामें लिखते हैं—स्वयं ईश्वरने प्रत्येक जाति या देशको ऐसे नाम दिये हैं जिनकी शक्ति अवर्णनीय है और जिनमें रहस्य भरा हुआ है । इसीलिये यह शब्द यहूदियोंके मनमें अवर्णनीय शक्तिवाला सिद्ध हुआ । इसने उनको एक जाति या राष्ट्रके रूपमें संघटित रक्खा और उनको महान् शक्ति दी । हिन्दुओंके पास महान् प्रभावकारी शक्तिसे पूर्ण एक ऐसा शब्द है कि किसी ब्राह्मणके एक बार उसका उच्चारण करनेसे स्वर्ग हिल जाय, पृथ्वी अपनी धुरीपर डगमगा उठे, मृतक जी जाय, जीवित प्राणी मर जायँ, व्यक्ति जहाँ चाहे पहुँच जाय और उच्चारण करनेवालेमें देवोंका ज्ञान उत्पन्न हो जाय । यह शब्द ॐ, 'ओन' या 'आन' है और त्रिमूर्तिका है । 'आन' शब्द मिश्री भाषाका है । यह सबसे पुराना देवता माना जाता था क्योंकि प्लेटो (अफ़लातून) ने, जिसने मिश्री स्रोतोंसे अनेक बातोंका ज्ञान प्राप्त किया था, लिखा है—'मुझे उस 'आन' देवके विषयमें बताओ जो था, है और जिसका कभी जन्म नहीं हुआ ।' वे 'आन' को वही महिमा देते हैं जो यहूदी 'जीहोवा' को प्रदान करते हैं । किन्तु हिन्दुओं, चैल्डियनों और मिश्रियोंके कतिपय शब्दोंमें इतनी घनिष्ठ समानता है कि हम यह बात मान सकते हैं कि उनका स्रोत या उद्गम एक

18. "We find the poets and artists, the men of holiness and the men of goodness; they too have learned to see existence *sub specie aeternitatis* and they too must be our teachers, if the spirit is to fully comprehend itself." (Haldane's "Pathway to Reality", Vol. II p. 269.)

१९. 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।'
(योगसूत्र १-२४)

२०. 'तस्य वाचकः प्रणवः', 'तज्जपस्तदर्थभावनम् ।'

२१. 'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ।'

२२. 'तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ (गीता १०।१०)

२३. तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ (गीता १०।११)

२४. 'व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ।'
(योगसूत्र १ । ३०)

ही है। यहूदी नामकी शक्तिमें विश्वास रखते थे। उनका विश्वास था कि नामसे उनकी बुराइयाँ दूर हो जाती हैं, पहलेसे खतरोंका पता लग जाता है, मृतक जी सकता है, आकाश या स्वर्गसे अग्नि आ सकती है, भवन टुकड़े-टुकड़े हो सकते हैं, उनके शत्रुओंका अंगभंग एवं विनाश हो सकता है; यह शब्द उन (यहूदियों) को महत् ज्ञानसे पूर्ण कर सकता है; इसके उच्चारसे स्वर्ग एवं पृथ्वी हिल जाते हैं और देवदूत आश्चर्य-चकित हो उठते हैं...............न्यायाधीश-भवनके सबसे निचले हिस्सोंकी खोज करनेपर उन्हें एक महराबदार तहखाना मिला जिसमें संगमर्मरका एक स्तम्भ था। इसपर बहुमूल्य रत्नोंसे जटित एक त्रिकोण बना था जिसमें यूनानी शब्द 'ओम' खुदा हुआ था। इसको पा जानेसे वह ऐसे ज्ञान एवं अनुभूतिसे भर गया कि उसका नाम सारे विश्वमें गूँज उठा और आजतक गूँज रहा है।'

अब हम पुराणोंको लेते हैं—

'हे कृष्ण, हे गोविन्द, हे हरे, हे मुरारे, हे नाथ, हे नारायण, हे वासुदेव, हे गोप-गोपियोंके स्वामी, हे अनन्त नारायण, हमें आवागमनके सागरके पार करो।'[२५]

जब ऋषि-पुत्रोंने देखा कि उनके चारों ओर दावाग्नि धधक रही है और किसी ओरसे निकलनेका मार्ग नहीं है तब उपरिलिखितरूपमें उन्होंने भगवन्नामका गायन आरम्भ किया। प्रभुकी कृपा वर्षाके रूपमें आयी। अग्नि बुझ गयी और वे पूर्ववत् खेलने लगे।

प्राचीन कथाओंमें विश्वास करना कठिन होता है। पर देखिये पदार्थवादी रूसो क्या कहता है—

एक रविवारको, जब मैं माँके पास था, 'ग्रेफ्रायर्स' के एक मकानमें, जो माँके द्वारा लिये हुए मकानसे लगा था, आग लग गयी। इस मकानमें 'ग्रेफ्रायर्स' (एक प्रकारकी साधु-मण्डली) की रसोईकी भट्टी थी और सूखी हुई लकड़ियाँ भरी थीं। बहुत शीघ्र सर्वत्र आग फैल गयी। मकान बड़े खतरेमें था। उसको लपटोंने घेर लिया था; क्योंकि हवा उधरको ही थी। प्रत्येकने जल्द-से-जल्द सामान हटा लेनेकी तैयारी की और मेरे पुराने कमरेके सामनेके बग़ीचेमें ले जाकर रखनेका निश्चय किया।

'मैं इतना घबड़ा गया था कि जो भी चीज़ मेरे हाथ लगती उसे खिड़कियोंसे बाहर फेंक देता; यहाँतक कि पत्थरका एक बड़ा खल भी, जिसे मैं शायद ही दूसरे समय उठा सकता, मैंने फेंक दिया। इसी प्रकार मैं एक बड़ा दर्पण भी फेंकने जा रहा था कि किसीने मुझे रोक दिया। बिशप (धर्माचार्य) महाशय भी जो माँसे मिलने आये थे, चुप न बैठे रहे। वह माँको बगीचेमें ले गये और वहाँ उसके तथा एकत्र हुए अन्य लोगोंके साथ प्रार्थना करने लगे। कुछ समय बाद, जब मैं वहाँ गया, मैंने सबको घुटनेके बल झुके हुए पाया। मैंने भी वैसा ही किया। धर्माचार्यकी प्रार्थनाके समय हवाका रुख बदल गया, पर यह इतने आकस्मिक रूपमें और ऐसे ठीक समयपर हुआ कि जिन लपटोंने मकानको घेर लिया था और खिड़कियोंके रास्ते अन्दर आ रही थीं, उनका रुख प्राङ्गणकी दूसरी ओर उलट गया और मकानको कुछ हानि नहीं पहुँची।'

बादको, अपनी पुस्तक 'कनफेशन्स' (अपराध-स्वीकृतियाँ) में रूसोने लिखा है—'इस घटनाको चमत्कार कहनेमें मैं ग़लतीपर था। मैंने बिशपको प्रार्थना करते देखा था और इस प्रार्थनाके बीचमें, ठीक मौकेपर, मैंने हवाके रुखको पलटा हुआ देखा था। इसे मैं प्रामाणिकतापूर्वक कह सकता हूँ। पर इनमेंसे एक चीज़ दूसरेका कारण थी, इसे मैं नहीं कह सकता था; क्योंकि इसे सम्भवतः मैं जान भी न सकता था।' (रूसोकी पुस्तक 'कनफेशन्स' पृष्ठ १०८ एवरी मैंस लाइब्रेरी संस्करण)।

एक वृद्ध ब्राह्मणको हत्याके अपराधमें फाँसीकी सज़ा हुई थी। वह बनारस-जेलमें अपनी फाँसीकी कोठरीमें बैठा अपने अन्तिम दिन गिन रहा था। जिस गाँवमें ब्राह्मण रहता था उसमें एक खून हुआ था। पुलिसने चार गवाहोंको इस ब्राह्मणके विरुद्ध झूठी शहादत (गवाही) देनेको राजी किया। इससे उसे फाँसीकी सज़ा मिली। इन गवाहोंको सिखाते समय पुलिसने उन्हें वचन दिया था कि सेशन अदालतसे ब्राह्मणको हलकी सज़ा मिलेगी पर बादमें वह छोड़ दिया जायगा। पुलिसने गाँववालोंपर दबाव डालकर और उनको धमकाकर गवाह बनाया था और वे अदालतमें पेश हुए थे। जब ब्राह्मणको मालूम हुआ कि उसे फाँसीकी सज़ा हुई है तो उसी समयसे वह मृत्युतक भगवन्नामोच्चारणका निश्चयकर रामनाम जपने लगा। जेलमें भी वह केवल रामनाम जपता रहता। जेलके अन्य सामान्य क़ैदियोंने उसे अपने उपहास और विनोदका लक्ष्य बनाया पर वे जपको खण्डित करनेमें असमर्थ रहे। इसके पूर्व मैंने कभी किसीको इतनी

२५. श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे हे नाथ नारायण वासुदेव।
गोपेश गोपीश भवार्णवेऽस्माननन्त नारायण रक्ष रक्ष॥

तन्मयतासे भगवान् रामका नाम जपते नहीं देखा था। इस प्रकार दिन बिताते हुए वह हाईकोर्टके निर्णयकी प्रतीक्षा कर रहा था। एक दिन जेलमें बड़ा तहलका मचा। पता लगानेपर मुझे मालूम हुआ कि जब उन गवाहोंको पता लगा कि ब्राह्मणको फाँसीकी सज़ा हुई है तब वे, अपने कुटुम्बके सम्पूर्ण आदमियोंके साथ, सेशन जजके पास पहुँचे और उसको सारी कहानी ठीक-ठीक सुना दी कि किस प्रकार पुलिसने उनको झूठी गवाही देनेपर राज़ी किया जिसके फलस्वरूप ब्राह्मणको फाँसीकी सज़ा हुई। उन लोगोंने प्रार्थना की कि ब्राह्मणके बदले वे, अपने सारे कुटुम्बके साथ, फाँसीपर चढ़ा दिये जायँ। विज्ञ जजने परिस्थितिकी गुरुता समझकर ब्राह्मणकी सज़ा हटा दी और झूठी गवाही देनेके जुर्ममें उन गवाहोंको दो-दो वर्षकी कड़ी सज़ा दी। गवाह तो ब्राह्मणकी जान बचानेके लिये अपनी जान देनेतकको तैयार थे, इसलिये उन्होंने बड़ी प्रसन्नतापूर्वक यह दण्ड स्वीकार किया। इसी कारण जेलमें तहलका मचा हुआ था। रामनामका यह प्रभाव देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई।

बब्बाकूम्ब-रहस्य

'बब्बाकूम्ब-रहस्यमें ली बब्बाकूम्ब हत्यारा था। जिसका खून हुआ था, उसका नाम मिस एम्मा केसे (Miss Emma Keyse) था और उसकी अवस्था हत्याके समय ७० वर्षकी थी। वह रानी विक्टोरियाकी अर्दलीमें रही हुई महिला (Lady-in-Waiting) थी। उसके सिरपर दो गहरे प्रहार हुए थे, जिससे पीछेकी तरफ उसकी खोपड़ी चूर-चूर हो गयी थी और गला दोनों तरफ़ कानतक काट दिया गया था। गलेके पीछे जो रीढ़की हड्डी होती है वह भी काट दी गयी थी।

'लीके पाजामोंकी परीक्षासे पता चला कि उनपर काफ़ी खून गिरा था और खूनको धोनेका प्रयत्न किया गया है। एक खाली तेलके डिब्बेपर खून लगे हाथके निशान पाये गये थे जो लीके दाहिने अँगूठे और उँगलियोंसे बिल्कुल मिलते थे। मिस केसेकी हत्याके अपराधमें लीकी सन्देहमें गिरफ्तारी हुई थी। इसपर लीने केवल इतना कहा—'ओह! केवल सन्देहपर! अच्छा; ठीक है!' इसके बाद उसने अपने खवे हिलाये और हँसा। लीने अपनेको निर्दोष बताया और जाँच तथा मजिस्ट्रेटकी परीक्षाके समय बिल्कुल शान्त बना रहा यद्यपि उसके विरुद्ध प्रमाण हर तरहसे काफ़ी थे।'

बीस मिनटके सलाह-मशविरेके बाद जूरीने उसे अपराधी घोषित किया और जजने सज़ा सुनाते हुए कहा—'मुझे इसका आश्चर्य नहीं है कि एक आदमीके चेहरेपर, जो इतना अमानुषिक अपराध कर सकता है, ऐसी शान्ति है जैसी तुम्हारे चेहरेपर दिखायी पड़ी है।'

इसपर लीने उत्तर दिया—'माई लार्ड! मैं इतना शान्त हूँ, इसका कारण यह है कि मैंने अपने ईश्वरमें विश्वास रक्खा है। और माई लार्ड! मेरा ईश्वर जानता है कि मैं निरपराध हूँ।' इसके बाद वह मुस्कुराता हुआ प्रसन्नताके साथ कटघरेसे बाहर निकला।

सोमवार, २३ फरवरी १८८५ को एक्ज़ेटर जेलमें लीकी फाँसी होनेवाली थी। उसे बाक़ायदा फाँसी देनेके लिये लाया गया पर जैसा कि ज्ञात है, फाँसी नहीं हुई। असाधारणरूपसे आश्चर्यजनक परिस्थिति उत्पन्न हुई। फाँसी लगानेवाला बेरी नामका आदमी था और वध-काष्ठ नया-नया ही बना था और स्थायीरूपसे रखनेके विचारसे बननेके कारण उसकी बनावट बड़ी मज़बूत थी।

वज़न उठानेका यन्त्र (लीवर) घुमाया गया पर फंदा नहीं गिरा। दूसरी बार लीवर घुमाया गया और वार्डरोंने दोनों तरफ़ ज़ोरसे लातका धक्का दिया पर फंदा नहीं हिला। चेहरेपर फाँसीकी टोपी पहने हुए लीको वहाँसे ज्यों ही हटाया गया पलड़ा झूल गया। किन्तु छः मिनट बाद जब फिर उसे फाँसीके तख्तेपर चढ़ाया गया, उसने कार्य करनेसे इन्कार कर दिया। लीको उसकी कोठरीमें ले जाया गया और झूलनेवाले तख्तेके किनारे काटे गये। ८ बजकर १० मिनटपर पुनः उसे फाँसीपर चढ़ानेके लिये लाया गया पर फिर वही बात हुई; तख्ता नहीं गिरा। फिर लीको उसकी कोठरीमें ले जाया गया। होम सेक्रेटरी (स्वराष्ट्र-सचिव) को लिखा गया। फाँसी स्थगित हो गयी और बादमें आजन्म कारावास दण्डमें बदल गयी।

उस शारदीय प्रभातमें मैंने स्वयं वधस्तम्भपर खड़े होकर तख्ते काटनेके प्रयत्नमें जो निशान उसपर थे, उन्हें देखा। यह प्रयत्न असफल हुआ था। जिस दिन लीको फाँसी होनेवाली थी उससे पहली रातको उसने एक स्वप्न देखा था कि तीन बार उसे फाँसी देनेका यत्न किया जायगा परन्तु उसकी ज़िन्दगी बच जायगी। ली जेलको भलीभाँति जानता था क्योंकि वह पहले भी जेल आ चुका था।

'यह स्वप्न उसने वार्डर बेनेटको बताया था और बेनेटने इसकी रिपोर्ट दूसरे दिन तड़के ही एक्ज़ेटर जेलके गवर्नरसे की थी। हर तरहकी खबरदारीके बावजूद भी ली फाँसीसे बच गया।'

इस कथाका परिणाम और अधिक उल्लेखनीय है। गवर्नर अपने पास एक पाकेट पञ्चाङ्ग रखता था जिसमें प्रत्येक तिथिके साथ धर्मग्रन्थसे एक वाक्य दिया गया था। फरवरी १८८५ के उस दिन, जब अपराधीको फाँसी दी जानेवाली थी, उस पञ्चाङ्गमें ये वाक्य मिले—'निस्सन्देह प्रभुने ही यह किया है।'

('मेमायर्स आव फेमस ट्रायल्स': लेखक—ईवर्लीन बर्नाबी एम० ए०, एस० सी० एल०, द्वितीय संस्करण—पृष्ठ २१९—२२५)

गीतामें भगवान्ने ठीक ही कहा है—

'......यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य भावसे मेरा भक्त हुआ, मेरेको निरन्तर भजता है, तो वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है अर्थात् उसने भली प्रकार निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है।'

'इसलिये वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परमशान्तिको प्राप्त होता है। हे कौन्तेय (अर्जुन)! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'[२६]

इलाहाबादमें यमुनापुलके पास एक अन्धी स्त्री यमुनाके करारेसे तटपर पानी पीनेके लिये नीचे उतरी। दुर्भाग्यवश वह फिसलकर नदीमें गिर पड़ी और धारामें बह गयी। वर्षाका समय था और नदी पूरे ज़ोरपर थी। यह घटना रातको हुई। रात भी अँधेरी थी। संयोगवश राय साहब लालमोहन बनर्जी क़िलेके पास अपनी नावपर आनन्द ले रहे थे। बिजलीकी क्षणिक चमकमें उन्होंने देखा कि कोई काली चीज़ नदीकी धारामें बही जा रही है। जब उन्होंने उसकी तरफ़ नाव बढ़ायी, उनको मनुष्यकी वाणी सुनायी दी—"हे पिता! हे राम!" यह एक संयोग था कि उन्होंने स्त्रीको देखा और बड़ा कष्ट उठाकर उसकी रक्षा की। नदीकी धारा इतनी तेज़ थी कि स्त्रीको तटपर लानेके प्रयत्नमें उनकी नाव लगभग एक मीलतक धारमें बह गयी। राय साहबने लगभग सौ प्राणियोंको यमुनामें डूबनेसे बचाया। माघ मेलाके समय वह अपने पुत्रके साथ यमुनामें अपनी नावपर रहते हैं और डूबते हुए आदमियोंकी रक्षाका प्रयत्न करते हैं। यह उनका एक प्रियकार्य ('हाबी') है। वह स्त्री अस्पतालमें भरती की गयी और सावधानीसे चिकित्सा करनेपर उसके प्राण बच गये। सिटी मजिस्ट्रेट तथा अन्य लोगोंको इससे बड़ा आश्चर्य हुआ कि तैरना न जाननेवाली एक अन्धी औरत वर्षाकी बाढ़से पूर्ण यमुनामें डूबनेसे किस प्रकार बच गयी। स्पष्ट है कि जब स्त्रीने देखा कि उसकी जान खतरेमें है तब उसने परमपिताकी शरण ली और उसने उसके प्राण बचा लिये।

एक दिन कुछ मित्रोंके साथ, मैं रायपुरकी एक सड़कपर टहल रहा था कि मैंने देखा, दो मुसलमान लड़के अपनी गायोंको मैदानमें चराने ले जा रहे हैं। इनमेंसे एककी अवस्था ८ वर्षकी और दूसरेकी १२ वर्षके लगभग थी। खेतसे धान काटकर एक जगह—खलिहानमें—रख दिया गया था और सूखी घासकी एक ढेर कर दी गयी थी। खेतके बीचसे लोगोंके निरन्तर आने-जानेसे एक पगडंडी बन गयी थी। एकाएक छोटा लड़का रुक गया। पगडंडीपर ही एक बड़ा कोबरा आक्रमण करनेको तैयार बैठा था। लड़केने एक साफ़ जगहपर खड़े होकर 'अल्लाह मैं मरा' कहते हुए आँख मूँदकर लकड़ी चलायी। लकड़ी ज़ोरसे उस विषधरके फणमें लगी और उसने इतनी ज़ोरसे उसे ज़मीनपर दबा दिया कि साँप अपना फण न उठा सका। साँप बहुत छटपटाया परन्तु लकड़ीसे अपनेको छुड़ा न सका और इसी चेष्टामें आध घण्टे बाद उसके प्राण निकल गये। तब दोनों लड़के, इनामकी आशासे, साँपको सिटी मजिस्ट्रेट श्रीन्यूबरीके बँगलेपर ले गये।

रामनाम स्वयं रामसे भी अधिक शक्तिमान् है। उस भक्तकी जय हो जो सदैव भगवन्नामका जप करता है।
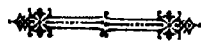
२६. अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति। कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

सामूहिक कीर्त्तन और शक्ति

(लेखक—स्वामी श्रीसत्यानन्दजी परमहंस)

शब्दमें बड़ी शक्ति है, इसके तरंग दूर-दूरके देशोंतक पहुँच जाते हैं। यह एक स्थानमें प्रकट होकर दसों दिशाओंमें गूँज जाता है। इसकी गति बड़ी वेगवती है और अद्भुत है। इसके आश्चर्यजनक चमत्कार आज भूमण्डलपर सर्वत्र हस्तामलक हो रहे हैं। इस युगमें शब्दने देश-देशान्तरोंका जोड़ रक्खा है, इसके बलपर आज शासन चल रहे हैं। मनुष्य-मण्डलमें सम्मिलित होकर हरिकीर्त्तन करना, एक प्रकारके प्रबल शब्द-तरंग उत्पन्न करना है और उन तरंगोंको सब ओर प्रवाहित करना है। यदि भावनावान् भगवद्भक्तोंके भक्तिभावसे भरपूर शब्द-तरंग विशाल आकाशमें सब दिशाओंको दौड़ने लग जायँ तो दूर-देशस्थ भावुक जनोंके अन्तःकरणोंपर वे एक अद्भुत प्रभाव डाल सकते हैं, सैकड़ों-हजारों मनुष्योंकी मनोवृत्तियाँ अपने आप बदली जा सकती हैं और उनसे आस्तिक भावोंका प्रचार सुगमतासे हो सकता है। परन्तु होना यह अवश्य चाहिये कि हरिकीर्त्तन करनेवाली मण्डली एकजीव बनकर, एकचित्त होकर, तन्मयभावसे कीर्त्तन किया करे।

सामूहिक, सच्चे और हितकर शब्दमें एक तुलनातीत शक्ति हुआ करती है। एक देशमें या देशके एक कोनेमें कोई सुयोग्य वक्ता क्रान्तिकारी व्याख्यान देने लग जाय तो उसके वचन बिजलीके वेग बनकर जनतामें हलचल उत्पन्न कर दिया करते हैं। यदि अनेक मनुष्य उन्हीं वचनोंको दुहराने लगें तो देशभरमें आवेशका बहाव बह निकलता है और जनसमूह उन्हीं वचनों और विचारोंको दुहराये तो कुछ ही दिनोंमें सम्पूर्ण देशमें क्रान्ति फैल जाती है। इस प्रकार सभी परिवर्त्तनकारिणी क्रियाओंमें ध्येयकी सिद्धिके लिये कर्त्ताओंकी एकचित्तता ही कारण कही गयी है। इसके बिना वचन-बलसे कुछ भी नहीं बन आता। हरिकीर्त्तनोंमें भी यदि वायुमण्डल शान्त, भक्तिमय, भावपूर्ण और पूजारूप बनाकर हरिगुणानुवाद किया जाय, रामनाम महामन्त्र जपा जाय और शब्दपाठ हो तो उन शब्दोंकी ध्वनियाँ लहरें लेती हुई सुदूर देशोंके मनुष्योंके मनोंको भी मृदु और आस्तिक बनानेमें समर्थ हो सकती हैं। सच तो यही है कि सत्यके प्रचारमें कर्त्ताकी एकमुखी, शुद्ध और बलवती मनोवृत्ति ही काम किया करती है।

वाणीबलमें जबतक मानसिक बल न मिले तबतक केवल वचनबलकी गर्जना बिना गोलेके तोपकी गर्जनाके समान हो जाती है। उससे कोई अभीष्ट कार्य सहज ही सिद्ध नहीं हो सकता। और जहाँ वाणीमें मन ओतप्रोत हो वहाँ आत्मिक बल स्वयं विद्यमान हुआ करता है। वचनके कपड़ेमें मनके तार हों और उन तारोंमें आत्मा रूईकी भाँति विद्यमान हो तो वे वचन संसारमें एक उत्तम-से-उत्तम परिणाम निकालनेमें समर्थ हो जाते हैं, वाणी और वचनोंमें मनका निवास तभी होता है जब भावनासहित अतुल श्रद्धासे, पूरे प्रेमसे और बलवान् आवेश-वेगसे वचन उच्चारण किये जायँ। इसीलिये कहा जाता है कि कीर्त्तनके समय हरियशमें, हरिगीतमें, हरिमहिमामें और हरिनाममें निमग्न होकर हरिकीर्त्तन करना चाहिये।

वैदिक कालके याजकलोग, वेदीपर चक्राकार बैठकर, एकमनसा, वाचा, कर्मणा, चतुष्कोण कुण्डमें अग्नि (ज्योति) स्थापित करके, जब वेदमन्त्रोंको गाया करते थे तो कौन कह सकता है कि उनके उस यजन-याजनसे कितने रोगी चंगे न हो जाते होंगे, कितने यजमानोंके मनोरथ पूरे न हो जाते होंगे, कितने

उपासकोंके संकट-क्लेश, विघ्न-विरोध मिटकर ही न रहते होंगे और कितने भक्तोंके उच्च भाव आत्मज्योति-नकको न प्राप्त कर लेते होंगे। यजन-याजनके विधानोंसे तो यही प्रतीत होता है कि पुरश्चरणसहित अनुष्ठान करनेवाले याजक यज्ञोंमें एक जादूका-सा असर पैदा किया करते थे। वे यज्ञान्तमें यजमानके लिये जो-जो इष्टफल गाया (गानके द्वारा माँगा) करते थे वह-वह यजमानको देवताकी दिव्य दयासे, प्रसादरूपसे मिल ही जाया करता था। इस युगमें भी मण्डलाकार बैठकर, शुद्ध भावोंसे, एकाग्र मनसे, बलवती श्रद्धासे तन्मय होकर नाम-मन्त्रोंका पाठ किया जाय तो सम्मोहिनी शक्तिकी भाँति वे पाठ उपासकोंपर काम कर सकते हैं। उससे लोगोंको श्रद्धालु बनाना, सच्चरित्र बनाना, कर्मयोगी बनाना, सच्चा सेवक बनाना और समाधिस्थ-तक कर देना एक सहज और सुगमतर काम हो सकता है। सामूहिक कीर्तनकी शक्ति अद्भुत है परन्तु उसे जाग्रत् करनेके लिये लगन, श्रद्धा, प्रीति, एकाग्रता और तद्रूपता आवश्यक है।

धर्मका मूल भगवद्भक्ति है, आत्माका विश्वास है और सत्कर्ममें परायणता है। इस सच्चे सिद्धान्तके लिये संसारमें वैर-विरोधकी आग सुलगाकर काम करनेकी कोई भी आवश्यकता नहीं है। यह सनातन सत्य स्वयमेव विजय-विस्तार करता जायगा। परन्तु चाहिये तो यह कि संघ-शक्तिसे इसका प्रचार किया जाय, सामूहिक बलसे इसका प्रकाश हो और सामुदायिक भावसे इसकी घोषणा होती रहे। इसकी सरल, सीधी और सुगम रीति यही है कि स्थान-स्थान-में, समय-समयपर जनसमूह मिलकर प्रार्थना करे, हरिगीत गावे, हरिनामके महामन्त्र जपे और हरिकीर्तन-की धुनोंको बड़े भाव और चावसे सर्वत्र गुँजा दे।

भावुक भक्तोंको चाहिये कि वे पुरानी संस्थाओंसे काम लेने और लाभ उठानेका पूरा प्रयत्न किया करें। धर्ममन्दिरोंमें सहस्रों जन मिलकर आरती गाया करें। पुण्यपर्वोंके दिनोंमें महासमुदाय बनाकर कीर्त्तन करना प्रचलित करें, तीर्थोंके मेलोंपर बहुत बड़ी जनसंख्यामें प्रार्थना करनेकी प्रथा चलावें और धर्मके महोत्सवोंमें हरिकीर्त्तनका एक विशेष समय नियत कराया करें। ऐसा करनेसे जहाँ पुरातन संस्थाएँ अधिक सुन्दर, अधिक रोचक और अधिकाधिक आकर्षक हो जायँगी वहाँ, संघशक्तिका भी बहुत विस्तार होगा और उसके प्रभावसे जनता भी बहुत ही प्रभावित होगी। मुखिया सज्जनोंका, प्रसिद्ध पण्डितोंका, देश-विदेशमें विख्यात विद्वानोंका, मुख्य महन्तोंका, मठाधीशोंका, मण्डलेश्वरों-का, भावनावान् भक्तोंका और हिन्दुत्वके हितैषी महानु-भावोंका कर्त्तव्य है और एक उत्तम कर्त्तव्य है कि वे पुरानी संस्थाओंमें सामूहिक कीर्त्तन, प्रार्थना और आरतीको अपने बुद्धिबलसे, विचारबलसे, वचनबलसे और अधिकारबलसे प्रचलित कर दें। इनके माहात्म्य बनाकर हिन्दूधर्मके बिखरे हुए तारोंमें एकता ले आयें, हिन्दुओंमें नवजीवनका सञ्चार कर दें और हरिभक्तिके प्रचारके शुभतम संस्कार सर्वदिशामें विस्तृत करा देनेका पुण्य उपार्जन कर लें।

सब जातियों और मतोंके नेताओंपर जाति और मतके उत्थान और पतन निर्भर रहते हैं। उनके उद्यमसे, उनके उद्योगसे, उनके सतत कार्यसे, उनके सबल उत्साहसे, उनके स्वार्थत्यागसे, उनके तपोबलसे, उनकी निष्काम सेवासे और उनके अदम्य साहससे जातियों और मतोंका उत्थान, विस्तार तथा प्रचार हुआ करता है। और उनके आलस्य-प्रमादसे, उनके अकर्मण्यभावसे, उनके अविचार-अविवेकसे, उनकी मतिके विपर्ययसे और उनकी असावधानतासे जातियों और मतोंका पग-पगपर पतन होने लग जाता है। हिन्दू-जाति और धर्मका संसार इस समय, संकटसंकुल, कण्टकाकीर्ण, विपद्बहुल

और विघ्न-बाधाव्याप्त होता जा रहा है। कम-से-कम हिन्दूधर्मके मुख्य, मान्य और अधिकारयुक्त नेताओंका तो यह सर्वोपरि कर्त्तव्य है कि वे सामूहिक प्रार्थना, कीर्त्तन और आरतीगायन प्रचलित करके हिन्दू-धर्ममें संघशक्ति उत्पन्न कर दें, उनमें अपने धर्मके लिये गहरी श्रद्धा पैदा कर दें, हिन्दू जनतामें जागृतिकी ज्वलन्त ज्योति जगा दें और भक्तिभावका प्रचार करके पतितपावन परमपुरुषका आशीर्वाद प्राप्त कर लें।

रामायण-शङ्का-समाधान

(लेखक—श्रीजयरामदासजी दीन रामायणी)

भरत-शत्रुघ्नको सूचना क्यों नहीं दी गयी ?

एक सज्जनने प्रश्न किया है कि वनगमनके पूर्व होनेवाले भगवान् रामके राज्याभिषेक-समारोहमें अयोध्यापुरी सब प्रकारसे सजायी गयी। परिजन, पुरजन सभी आनन्दके साथ इस उत्सवमें सम्मिलित हुए, परन्तु भरत और शत्रुघ्नको इसकी सूचनातक नहीं दी गयी। जब किसी साधारण पुरुषके यहाँ कोई छोटा-मोटा भी उत्सव होता है, तब अपने सगे-सम्बन्धियोंको बुलाया जाता है। चक्रवर्ती सम्राट् महाराजा दशरथके यहाँ बड़े पुत्रका राज्याभिषेक हो और छोटे पुत्रोंको सूचनातक न दी जाय, इसका रहस्य स्पष्ट नहीं होता। श्रीरामचरितमानसमें उस दिनका स्पष्ट उल्लेख भी नहीं मिलता—'बेगि बिलंब न करिय नृप, साजिय सकल समाज।' इस दोहेमें मुहूर्तकी कोई तिथि नहीं है, 'सुदिन सुमंगल तबहि जब राम होहिं जुबराज।' और 'भये पाखदिन सजत समाजू।' इन दोनोंका मिलान करनेसे भी ऐसा मालूम पड़ता है कि भरत और शत्रुघ्नको सूचित करनेका पर्याप्त अवसर था, परन्तु उन्हें सूचना नहीं दी जाती है। इस बातका जो समाधान प्राप्त होता है, उसे सात्त्विक बुद्धि स्वीकार नहीं करती। आप कृपा करके इसका समाधान कीजिये।

प्रश्नमें उद्धृत 'बेगि बिलंब न करियनृप' और 'सुदिन सुमंगल तबहि जब', इन दोहोंपर ध्यान रखते हुए जब पूरा प्रसङ्ग आद्योपान्त पढ़ जाते हैं, तो साफ पता चल जाता है कि तिथिकी चर्चा न होनेपर भी वास्तवमें राजतिलकके लिये दूसरे दिन प्रातःकालका समय ही निश्चित हुआ है। केवल एक रात्रि ही बीचमें थी, इसीलिये कोई तिथि न देकर 'बेगि' और 'बिलंब न करिय' शब्द दिये गये हैं। 'बेगि' के बाद 'बिलंब न करिय' यह वाक्य समयकी निकटतापर और भी जोर देता है। अब इसकी पुष्टिके लिये प्रसङ्गके और भी प्रमाणोंको देखिये—

प्रमुदित मोहि कहेउ गुर आजू। रामहि राउ देहु जुबराजू॥

महाराज दशरथजी श्रीगुरुवसिष्ठजीकी आज्ञा 'बेगि बिलंब न करिय नृप' प्राप्त करके तत्काल लौटते हैं—'मुदित महीपति मंदिर आए।' और 'सेवक सचिव सुमंत बुलाए' अपने सभी सेवक-सचिवोंको बतलाते हैं कि आज मुझे श्रीगुरुदेवकी ऐसी आज्ञा हुई है। सचिवगण विनती करते हैं कि—

जगमंगल भल काज बिचारा। बेगिअ नाथ न लाइअ बारा॥

यहाँ भी 'बेगिअ' तथा 'न लाइअ बारा' ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं। समर्थन पाकर महाराजका आनन्द बढ़ता है, और उन्हें आज्ञा देते हैं कि श्रीगुरुजीके पास जाकर वे जैसी आज्ञा दें उसके अनुसार तैयारी करो।

कहेउ भूप मुनिराज कर जो जो आयसु होइ ।
राम राज अभिषेक हित बेगि करहु सोइ सोइ ॥

यहाँ तीसरी बार 'बेगि' शब्द आया है । श्रीगुरुदेवकी आज्ञा पाते ही सब कार्यकी तैयारी आरम्भ हो गयी, समस्त रानियोंको मङ्गल-समाचार उसी समय उनकी चेरियोंने पहुँचाया । 'यहि अवसर मंगल परम, सुनि रहसेउ रनिवास ।' 'कौशल्या, सुमित्रा आदि रानियोंके यहाँ समाचार सुनानेवालोंको भूषण, वसन आदि इनाम दिये गये, चौके पूरे जाने लगे, मङ्गल-कलश सजने लगे । उसी समय मन्थरा दासीद्वारा महारानी कैकेयीके पास भी समाचार पहुँचा, परन्तु उसे सरस्वतीने अपयशकी पिटारी बना दिया था, इसलिये उससे जो विस्तृत बातचीत होती है, उसका वर्णन ग्रन्थमें अवसर पाकर सिलसिलेसे आया है । पुरवासियोंको मङ्गल-समाचार सुनकर बड़ा हर्ष होता है—

रामकाज अभिषेक सुनि हिय हरषे नरनारि ।
लगे सुमंगल सजन सब बिधि अनुकूल बिचारि ॥

राजाज्ञासे श्रीवसिष्ठजी स्वयं श्रीरघुनाथजीके निवास-भवनमें जाकर अभिषेककी सूचना देते हैं, और स्पष्ट करते हैं कि कल आपके राजतिलकका मुहूर्त निश्चित हुआ है । अतः 'राम करहु सब संजम आजू ।' यहाँ भी वही 'आजू' शब्द पुनः आया है जो मन्त्रियोंसे राजाने कहा था—'प्रमुदित मोहि कहेउ गुरु आजू ।' आगे जो 'आज' और 'कालि' शब्द आये हैं, उनपर तनिक ध्यान दीजिये ।

घाट बाट घर गली अथाई । कहहिं परसपर लोग लुगाई ॥
कालि लगन भल केतिक बारा । पूजिहिं बिधि अभिलाष हमारा॥
कनक सिंघासन सीय समेता । बैठिहिं राम होइ चित चेता ॥
सकल कहहिं कब होइहि काली । बिघिन मनावहिं देव कुचाली ॥

इन वचनोंसे भलीभाँति स्पष्ट होता है कि जिस दिन राज्याभिषेक मंगलकी बात प्रारम्भ होती है, उसके दूसरे ही दिन उसका मुहूर्त भी निश्चित है । यदि ऐसा न होता तो जनताके मुखसे ऐसा क्यों निकलता कि 'कालि लगन भल केतिक बारा ।' 'सकल कहहिं कब होइहि काली' इत्यादि ।

यही बात महारानी श्रीकैकेयीजी और उनकी दासी मन्थराके वार्तालापमें भी है । उसी दिन उस उत्सवके आरम्भको देख-सुनकर जब मन्थरा देवमायासे मोहित होकर क्षुब्ध-हृदयको लेकर रानीके महलमें जाती है, तब श्रीरामराज्याभिषेकके सम्बन्धमें मलिन सूचना देती हुई कहती है—'रामहि छाँड़ि कुसल केहि आजू । जिनहि जनेस देहिं जुबराजू ॥' वहाँ भी कैकेयी माताका यही वचन आता है कि 'रामतिलक जो साँचहु काली । देउँ माँग मनभावति आली ॥' और जब कैकेयी भी 'सुरमायाबस बैरिनिहि सुहृद जानि पतिआनि ।' तब फिर मन्थराने भी स्पष्ट कहा है कि 'रामहि तिलक कालि जो भयऊ । तुम्ह कहँ बिपति बीज बिधि बयऊ ।' तथा 'होइ अकाज आजु निसि बीते । बचन मोर पिय मानहु जीते ॥' इसपर कैकेयीने भी स्वीकृति दी है—'जो बिधि पुरब मनोरथ काली । करौं तोहि चख पूतरि आली ॥' कोपभवनमें राजा श्रीदशरथजी भी कैकेयीको यही शुभ समाचार सुनाते हैं कि 'रामहि कालि देउँ जुबराजू । सजहि सुलोचनि मंगल साजू ॥' इत्यादि प्रबल और अकाट्य प्रमाणोंसे यह भलीभाँति सिद्ध है कि जिस दिन 'श्रवन समीप भयउ सितकेसा ।' को मुकुरमें देखकर श्रीचक्रवर्तीजीके मनमें यह स्फुरणा हुई और उन्होंने 'मुदित मन गुरुहि सुनायउ जाइ,' उसी दिन यह तै पाया कि इसी शुभ मुहूर्तमें प्रातःकाल ही तिलक कर दिया जाय । फिर ऐसा सुदिन शुभ मुहूर्त शीघ्र नहीं आनेका; कारण कि चक्रवर्तियोंके राज्याभिषेकमें योग, लग्न, गृह, वार आदि सभी अनुकूल मिलाने पड़ते हैं; जो वर्षोंमें कभी कठिनतासे मिलते हैं । उस समय वह योग स्वतः बन गया था । इसीसे एक ही दिनमें सब तैयारी बड़ी

शीघ्रतासे हुई। 'बेगि' शब्दका पुनः-पुनः प्रयोग यही बात ध्वनित करता है। 'जो मुनीस जेहि आयसु दीन्हा। सो तेहि काज प्रथम जनु कीन्हा॥'

एक ऐसा विचार भी निश्चित जान पड़ता है कि शुभ मुहूर्तसे राज्याभिषेक करके इसका महोत्सव पीछेसे मनाया जायगा, क्योंकि श्रीभरत-शत्रुघ्न तो बहुत दूर केकय देशमें हैं। उन्हें तो सूचना देना असम्भव ही है, अपने अधीन राजाओंको और जनकपुर आदिके सम्बन्धियोंको भी तो इतनी शीघ्रतामें कोई सूचना नहीं दी जा सकती। नजर लानेके लिये मातहत राजाओंको हाजिर होना था, नात-गोतके लोगोंको एकत्र होना था, परन्तु इस मुहूर्तके निर्वाहमें समयकी संकीर्णतासे किसीको भी समाचार नहीं दिया जा सका और यही कारण था कि शीघ्रतामें श्रीभरतजीको भी यह समाचार नहीं पहुँचाया जा सका।

अब प्रश्नकर्ताके दिये हुए प्रमाणकी एक चौपाईपर और विचार करना है वह यह है कि 'भयउ पाख दिन सजत समाजू। तुम्ह पाई सुधि मोमन आजू॥' यह मन्थराका वचन है जो कि कैकेयीको कपट प्रबोध करने झूठ-मूठ समझानेके लिये आया है। अतः जैसे और सब बातें मन्थराने देवमायावश झूठ-मूठ कहकर कैकेयीको अपने अधीन किया है वैसे ही यह बात भी सरासर झूठी है। पाख अर्थात् पन्द्रह दिन बढ़ाकर कहनेसे रानीके मनमें भेद पड़ जायगा, नहीं तो जहाँ पन्द्रह दिनसे उस प्रकार मंगल मनाया जा रहा है जैसा वर्णन कि एक दिनका है सारे नगरमें कोलाहल, बधावे, बाजे-गाजे, तोपोंकी सलामियाँ, नाना प्रकारकी वेदध्वनियाँ, पूजनादि प्रचार, बख्शीसें बटना इत्यादि पन्द्रह दिनतक होता रहता तो कैकेयीजीको खबर न पहुँच पाती, यह कैसे सम्भव है? कोई कार्य चोरीसे भी करनेका तो कदापि संकेत नहीं है, खुले मैदान धूमधाम शुरू हो गयी थी। श्रीचक्रवर्तीजीने जिस दिन गुरुदेवकी आज्ञा पायी, उसी दिन कार्य आरम्भ कराके स्वयं ही वे कैकेयीके पास जाते हैं और रामके प्रति उसके प्रेमको जाननेके कारण शुद्ध भावसे कहते हैं कि—

भामिनि भयउ तोर मनभावा। घर घर नगर अनंद बधावा॥

वे कैकेयीके 'मनभावा' कार्यको पन्द्रह दिन क्यों और किस भयसे छिपाये रखते? क्या बधावे और बाजे-गाजेके शब्द भी कैकेयीके कानोंमें जानेसे रोके जा सकते थे? अतः मन्थराका यह कथन कि 'भयउ पाख दिन सजत समाजू।' उसी तरह समूल मिथ्या है जैसे उसने कहा था कि—

भरत बंदिगृह सेइहहिं लखन रामके नेब।

अर्थात् भरतको कारागार दिया जायगा और लक्ष्मण नायब बनेंगे।

कद्रू बिनतहि दीन्ह दुख तुम्हहि कौसिला देब।

जैसे कद्रूने विनता (गरुड़की माता) को दुःख दिया था उसी तरह तुम्हें कौसिल्या देंगी इत्यादि। मन्थराके वचनोंकी झुठाईका प्रमाण ग्रन्थके प्रकरणसे भी सिद्ध है जैसा कि उसने सौगन्ध खायी थी—

कहउँ झूठ फुर बात बनाई। तौ बिधि देइहि मोहि सजाई॥

सो विधिके ही अवतार श्रीशत्रुघ्नजीने (वेद-प्रकाशाने) 'हुमुकि लात तकि कूबर मारा' है और 'लगे घसीटन धरि धरि झोंटी।' अतः सजा देकर प्रमाणित कर दिया है कि मन्थराका कथन सोलह आने झूठ था। इसलिये 'पाख दिन' का अवसर झूठा सिद्ध होकर एक दिनका ही प्रमाणित है।

अब यदि कोई कहे कि समयकी संकीर्णता सिद्ध होते हुए भी यह बात भरत आदिसे छिपायी ही गयी होगी तो उस शंकित हृदयको कम-से-कम श्रीभरतजीके व्यवहारपर दृष्टि देना उचित है। जिस समय उनके कानोंमें यह शब्द पड़ते हैं कि श्रीरघुनाथजीको राज्य

न देकर वन भेजा गया है, उनकी क्या दशा हो जाती है, इसका वर्णन नहीं किया जा सकता। मातासे तो वे स्पष्ट ही कह देते हैं कि 'जन्मत काहे न मारेसि मोही।' तथा 'गरि न जीह मुँह परेहु न कीरा।' और अन्ततक श्रीभरतजीने क्या करके नहीं दिखा दिया! क्या शंका करनेवाले महाशय न्यायदृष्टिसे कह सकते हैं कि यदि श्रीभरतजीके पहुँचनेका अवसर होता और वे आ सके होते, तो यह विघ्न कदापि उपस्थित हो पाता? यदि नहीं तो भरतजीसे छिपाकर राज्याभिषेक करनेमें और क्या प्रयोजन सिद्ध होता? स्वयं कैकेयीका हृदय ही पहले कितना शुद्ध था—

जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई॥

इत्यादि वचनोंसे सिद्ध होता है। अतः कैकेयीसे भी छिपानेका कोई कारण नहीं था। राजा दशरथ-सरीखे सत्यवादी, जिन्होंने प्राण त्याग करके भी सत्यताका परित्याग नहीं किया, कहते हैं—

मोरे भरत राम दुइ आँखी। सत्य कहउँ करि संकर साखी॥

तथा—

लोभ न रामहिं राजकर बहुत भरत पर प्रीति।
मैं बड़ छोट बिचारि जिय करत रहेउँ नृपनीति॥

राम सपथ सत कहउँ सुभाऊ। राम मातु कछु कहेउ न काऊ॥

क्या सत्यनिष्ठशिरोमणि महाराज श्रीदशरथजीकी ये बातें कपटपूर्ण मानी जा सकती हैं? जिस कथनमें श्रीरामजीकी सौ-सौ सौगन्ध खायी गयी हैं।

जब देवमायावश कैकेयीने वर-याचना की थी, तब महाराज दशरथ श्रीभरतजीको राज्य देनेके लिये तैयार ही हो गये थे। उन्होंने कहा था कि 'प्रातःकाल ही दूत भेजूँगा और जब भरतजी आ जायँगे तो हर्ष-पूर्वक दूसरे शुभ मुहूर्तमें उन्हींको राज्य दे दूँगा।'

सुदिन सोधि सब साज सजाई। देउँ भरत कहँ राज बजाई॥

विचार करना चाहिये कि ऐसी परिस्थितिमें किसके लिये, क्यों कौन दुराव करता और समाचार न देकर चुपकेसे यह कार्य क्यों किया जाता? इसलिये हर तरहसे यह सिद्ध होता है कि आज एकाएक श्रीरामराज्याभिषेककी आज्ञा दी गयी और संयोगवश प्रातःकाल ही शुभ मुहूर्त उतरा। इतने स्वल्प समयमें कैकयदेशसे श्रीभरतजी नहीं बुलाये जा सकते थे। केवल यही, समयका संकोच ही उन्हें सूचना न देनेका कारण था। किसीके हृदयमें कोई दुर्भाव सिद्ध नहीं होता, न तो उसकी सम्भावना ही है। इसलिये मेरी बुद्धिमें उपर्युक्त शंकाका यही समाधान है। यदि फिर भी किसीको कुछ और सन्देह हो तो उसे स्पष्ट लिखकर भेजनेपर यथामति उसका भी समाधान किया जा सकता है।

सियावर रामचन्द्रकी जय!

अभिलाषा

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्रीरघुनाथ-कृपालु-कृपातें संत-सुभाव गहौंगो॥१॥
जथालाभसंतोष सदा, काहू सों कछु न चहौंगो।
पर-हित-निरत निरंतर, मन क्रम बचन नेम निबहौंगो॥२॥
परुष बचन अति दुसह श्रवनि सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
बिगत मान, सम सीतल मन, पर-गुन नहिं दोष कहौंगो॥३॥
परिहरि देह-जनित चिंता, दुख-सुख समबुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि, अबिचल हरि-भगति लहौंगो॥४॥

दैनिक-कल्याणसूत्र

१ *नवम्बर मंगलवार*—मनुष्यका जन्म विषय-भोगोंके लिये नहीं, परन्तु परमात्माकी प्राप्तिके लिये है।

२ *नवम्बर बुधवार*—जो परमात्माकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करता है, बस, वही यथार्थ मनुष्य है।

३ *नवम्बर गुरुवार*—परमात्माकी प्राप्ति मनुष्यका जन्मसिद्ध अधिकार है।

४ *नवम्बर शुक्रवार*—मनुष्यजन्मके उद्देश्य और जन्मसिद्ध अधिकारको भूल जानेवाला मनुष्य पशुसे भी अधिक पशु है।

५ *नवम्बर शनिवार*—वह नरपशु जीवनको व्यर्थ खोता है, पाप कमाता है, दुःख और अशान्ति भोगता है, और अन्तमें मनुष्यजन्मको नष्ट करके पापका बोझा बाँधे फिर जन्म-मृत्युके लम्बे चक्करमें चला जाता है।

६ *नवम्बर रविवार*—मनुष्यजन्म बहुत ही दुर्लभ है, जन्म-मृत्युके बहुत लम्बे मार्गको तै करनेपर कहीं भगवान्की कृपासे ही प्राप्त होता है, इसे यों नष्ट कर देना आत्महत्यासे बढ़कर पाप है।

७ *नवम्बर सोमवार*—मनुष्यजीवन बहुत लम्बा नहीं है। हर-एक श्वासमें यह क्षय होता जा रहा है, न मालूम हाथमें आया हुआ यह मनुष्य-जन्मका दुर्लभ अधिकार किस क्षण छिन जाय। फिर बहुत पछताना पड़ेगा और पछतानेसे कुछ बनेगा भी नहीं।

८ *नवम्बर मंगलवार*—इसलिये क्षणभरकी भी देर न करके भगवान्की प्राप्तिके प्रयत्नमें लग जाओ।

९ *नवम्बर बुधवार*—विषय-भोग तो सभी जन्मोंमें मिलते हैं, भगवान्की प्राप्ति तो इसी जीवनमें हो सकती है।

१० *नवम्बर गुरुवार*—विषयभोगोंके लिये मत छटपटाओ; जी मत ललचाओ भोगोंकी रमणीयतापर; याद रक्खो, जैसे दीपककी जलती हुई लौको रमणीय देखकर पतिंगा उसमें पड़कर भस्म हो जाता है, वही गति विषयोंकी आगमें पड़कर तुम्हारी भी होगी।

११ *नवम्बर शुक्रवार*—विषयत्यागका यह अर्थ नहीं कि तुम अपनी इन्द्रियोंको नष्ट कर दो—इन्द्रियोंके लिये उन्हीं विषयोंको चुनो जो तुम्हें भगवान्के मार्गमें पथ दिखानेवाले प्रकाशरूप हों।

१२ *नवम्बर शनिवार*—कानोंसे भगवान्के नाम-गुण-लीला और धामका महत्त्व, तत्त्व और रहस्य सुनो; आँखोंसे उनके भक्तोंके और संतोंके तथा उनके मंगलमय विग्रहोंके दर्शन करो; जिह्वासे उनके प्रसादका रस लो और उनके पवित्र नाम-गुणोंका कीर्तन करो, त्वचासे सर्वत्र उनके मधुर स्पर्शका अनुभव करो और नासिकासे उनके मधुर अंग-गंधको सूँघो। ये विषय कल्याणकारी हैं और इनसे विपरीत, जो भगवान्के मार्गसे तुम्हें हटाते हैं, वे सर्वथा अमंगल करनेवाले हैं, उनका त्याग करो।

१३ *नवम्बर रविवार*—भगवान् सर्वत्र हैं, वे तुम्हारी प्रत्येक इन्द्रियके विषय हो सकते हैं। यह याद रक्खो। असलमें तुम्हारी इन्द्रियोंके अंदर रहकर विषयोंका ग्रहण भी वही करते हैं।

१४ *नवम्बर सोमवार*—संसारके जीवनके लिये जिन आवश्यक विषयोंकी जरूरत हो उन्हें ग्रहण

करो, परन्तु उनमें फँसो मत; फँस जाओगे तो तुम्हें शहदमें लिपटी हुई मक्खीकी भाँति तड़फड़ाकर मरना पड़ेगा। विषयोंमें आसक्त मत होओ, और शहदसे अलग बैठी हुई मक्खीकी भाँति आवश्यकतानुसार विषयका ग्रहण करके उससे बिल्कुल अलग हो जाओ।

१५ *नवम्बर मंगलवार*—जीवन-निर्वाहका कार्य भी भगवान्‌की सेवाके लिये ही करो, भोग-सुखके लिये नहीं। फिर तुम्हारी प्रत्येक क्रियासे भगवान्‌की पूजा होगी।

१६ *नवम्बर बुधवार*—सुबहसे लेकर राततक और रातसे सुबहतक यों आठों पहर भगवान्‌का स्मरण करते हुए तुम भगवान्‌की पूजा ही करो।

१७ *नवम्बर गुरुवार*—भगवान्‌की यह अठपहरी पूजा ही जीवनकी सार्थकताका प्रधान साधन है।

१८ *नवम्बर शुक्रवार*—रोज सवेरे अलग बैठकर भगवान्‌से प्रार्थना करो। प्रार्थनाके समय मनको खाली कर दो, सब विषयोंको मनसे हटाकर उसमें सिर्फ एक भगवान्‌को बैठा लो, और नम्रता तथा विनयके साथ सच्चे मनसे कहो, 'प्रभो! अब तुम यहाँसे हटना नहीं। मैं हटाना भी चाहूँ तो न हटना। मेरा प्यारा बनकर कभी दूसरा कोई आना भी चाहे तो उसे मत आने देना। बस, तुम्हीं मेरे प्रियतम हो, तुम्हीं मेरे सर्वस्व हो; मैं कभी नशेमें तुम्हें न पहचानूँ, तुम्हारा अनादर करके तुम्हारे स्थानपर दूसरेको बैठाना चाहूँ तो मेरे प्रभो! उस समय तुम अपने स्थानको न छोड़ना। मेरी नशेकी बकवादपर ध्यान न देना। देखना मेरे कल्याणकी ओर, अपनी दीनवत्सलताकी ओर, और मेरे साथ अपनी सबसे निकटतम आत्मीयताकी ओर। मेरी मूर्खताकी ओर नहीं।

१९ *नवम्बर शनिवार*—जब कभी भगवान्‌का स्मरण हो, तब उसे पकड़ रखनेकी चेष्टा करो। जैसे कंगाल भाग्यसे मिले हुए धनको प्राणोंकी तरह रखता है उसी प्रकार भगवान्‌के स्मरणरूपी धनकी प्राण देकर भी रक्षा करो।

२० *नवम्बर रविवार*—जब कभी सद्विचार या सद्भावना मनमें आवे, उन्हें जाने मत दो, अवसर पाकर आये हुए इन सहायकों और मित्रोंको तिरस्कार करके मनरूपी घरसे निकाल न दो। याद रक्खो, इनकी उपस्थितिमें काम, क्रोध, लोभ, भय और ईर्ष्यादि शत्रु तुम्हें नहीं सता सकेंगे।

२१ *नवम्बर सोमवार*—भगवान्‌में अखंड विश्वास करो, उनको सबसे अधिक सुन्दर, सबसे अधिक मधुर, सबसे बड़े ईश्वर, सबसे बड़े ज्ञानी, सबसे बड़े योगी, सबसे निकटतम बन्धु, सबसे बढ़कर प्यारे और सबसे अधिक अपने समझो।

२२ *नवम्बर मंगलवार*—भगवान्‌की कृपाका सेवन करो, भगवान्‌के अनुकूल आचरण करो, भगवान्‌के नाम-गुणोंका चिन्तन करो, भगवान्‌के विधानमें आनन्द मानो। भगवान्‌के चरणोंपर अपनेको न्योछावर कर दो, और भगवान्‌की चरणधूलिकी आवश्यकतामें अपनी सारी आवश्यकताओंको मिटा दो।

२३ *नवम्बर बुधवार*—विश्वास करो—भगवान् तुम्हें अवश्य मिलेंगे।

२४ *नवम्बर गुरुवार*—विश्वास करो—भगवान् तुमसे मिलना चाहते हैं।

२५ *नवम्बर शुक्रवार*—विश्वास करो—यह विश्वास ही तुम्हें भगवान्‌की ओर ले जायगा ।

२६ *नवम्बर शनिवार*—विश्वास करो—जितना ही तुम भगवान्‌के समीप पहुँचोगे तुम्हें उतना ही आनन्द प्राप्त होगा । और वह आनन्द ऐसा होगा, जिसके सामने विषयभोगोंके बड़े-से-बड़े आनन्द फीके जचने लगेंगे ।

२७ *नवम्बर रविवार*—विश्वास करो—सच्चा आनन्द भगवान्‌की प्राप्तिमें ही है । विषयोंसे प्राप्त होनेवाला आनन्द तो जहरसे भरे मीठे लड्डूके समान है ।

२८ *नवम्बर सोमवार*—विश्वास करो—भगवान् उन्हें मिलते हैं, जो उन्हें चाहते हैं और उनके मिलनेमें विश्वास करते हैं । भगवान् उन्हें मिलते हैं, जो भगवान्‌से मिलनेके लिये ही जीते हैं तथा भगवान्‌से मिलनेके लिये ही जीवनकी सब क्रियाओंको करते हैं ।

२९ *नवम्बर मंगलवार*—विश्वास करो—भगवान् उन्हें मिलते हैं, जो भगवान्‌की प्राप्तिके लिये सब कुछ त्याग कर सकते हैं ।

३० *नवम्बर बुधवार*—विश्वास करो—भगवान् उन्हें मिलते हैं जो भगवान्‌की सृष्टिमें किसीसे द्वेष नहीं करते और सभीका यथासाध्य हित ही करना चाहते हैं ।

चतुराई

(लेखक—श्रीलालजीरामजी शुक्ल एम० ए०)

संसारी जीवनकी सफलताके लिये चतुराई बड़ा आवश्यक गुण माना जाता है । चतुर मनुष्य अपने कामको सुगमताके साथ कर लेता है; वह अपने-आपको अनेक प्रकारके फंदोंमें पड़नेसे बचा लेता है । दूसरोंके मनके छिपे भावोंको सहजमें समझ लेता है और अपने आचरणको परिस्थितिके अनुसार बना लेता है । जिस मनुष्यमें चतुराई नहीं वह पद-पदपर ठगा जाता है । संसारके लोग उसकी सरलतासे अनुचित लाभ उठाते हैं । उससे अपना काम निकाल लेते हैं और उसके बाद उसे मूर्ख समझकर उसकी हँसी उड़ाते हैं । वह दूसरोंका भला करके भी किसी प्रकारकी भलाईका भागी नहीं होता । कार्य-कुशलताका चतुराई एक मुख्य अंग है तथा संसारी प्रतिष्ठाका सबसे बड़ा सहारा है ।

चतुराईका वास्तविक स्वरूप क्या है ? इस बातपर बहुत ही थोड़े विद्वानोंने विचार किया है । अँग्रेजीमें चतुराईको टेक्ट (Tact) नामसे पुकारा जाता है । टेक्टका एक स्वरूप सांसारिकता अथवा व्यवहार-कुशलता (Worldly wisdom) है । टेक्ट अनेक गुणोंके मिश्रणका नाम है । इसमें बुद्धिमानी, गम्भीरता, आत्मसंयम, कार्यतत्परता आदि अनेक गुणोंका समावेश होता है । इन सब गुणोंका उपयोग किसी संसारी कार्यकी सफलताके लिये किया जाना आवश्यक है ।

यदि हम चतुराईकी तुलना चालाकीसे करें तो उसका बहुत कुछ स्वरूप समझमें आ सकता है । चालाकी चतुराईकी जेठी बहिन है । दोनोंकी माता दुनियाँदारी है । सद्भाव, सरलता, संतोष और शान्ति दोनोंसे कोसों दूर हैं । जो लोग संसारी वैभवके अभिलाषी हैं उन्हें चालाकी और चतुराईका सहारा सदा लेना पड़ता है । यदि हम संसारको आँख खोलकर देखें तो उसे चतुराई और चालाकीसे ही भरा पायेंगे । जब दूसरोंमें इन गुणोंकी व्याप्ति इतनी

अधिक देखते हैं तो हम भी चाहे कितने ही सरल चित्त क्यों न हों चालाक और चतुर बननेका प्रयत्न करते हैं। यदि ऐसा न करें तो जान पड़ता है कि हमारा अस्तित्व ही न रहे।

एक बार साधु श्रीकृष्णप्रेमजी भिखारीसे लेखककी बातचीत हो रही थी। लेखकका कहना था कि 'यदि कोई मनुष्य दुनियाँके लोगोंके अवगुणोंपर ध्यान न डाले तो उसका जीवन बड़ा सुखी रहे। हम जब दूसरोंकी दुष्टताके विषयमें विचार करने लगते हैं तो हमारी मनोवृत्ति क्लिष्ट हो जाती है। जो व्यक्ति जिस समय, किसी बातकी चिन्ता करता है, वह उस समय तद्रूप हो जाता है। योगके तीसरे सूत्र 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' की सत्यता अपना आत्मानुभव स्वयं बता देता है। जब हम दूसरोंकी बुराइयोंके बारेमें विचार करने लगते हैं तो हमारे चित्तमें एक प्रकारकी बेचैनी, विक्षिप्तता उत्पन्न हो जाती है। ऐसी अवस्थामें हम दूसरोंका भला करनेमें बिल्कुल असमर्थ हो जाते हैं। मनुष्यका सांसारिक अनुभव ज्यों-ज्यों बढ़ता है, त्यों-त्यों वह दुष्ट होता जाता है; उसके चित्तकी सरलता जो बाल्यकालमें रहती है, जिसके कारण वह सहजानन्दका अनुभव करता है, जाती रहती है। अतएव जीवनको सुखी बनानेके लिये यह आवश्यक जान पड़ता है कि मनुष्य भोला-भाला हो रहे।'

साधुजीने उपर्युक्त कथन सुनकर गम्भीरतापूर्वक कहा कि 'संसारमें रहकर यह सम्भव नहीं। बालक जब संसारमें आता है तो वह सब चीजोंको सुखकी सामग्री समझता है; वह दीपककी लौको एक प्यारा खिलौना समझकर पकड़ने दौड़ता है और अपना हाथ जला लेता है। जब उसका हाथ एक बार जल गया तो फिर वह सचेत हो जाता है, वह ऐसे प्रलोभनवाले पदार्थोंको देखकर भागता है।' साधुजीने अपने जीवनके एक-दो अनुभव बताये, जिससे उन्हें सदा सचेत रहनेका सबक मिला और जिसके कारण वे किसी भी व्यक्तिपर विश्वास नहीं करते। जब वे विलायतसे लखनऊ आये तब एक सज्जन उनके पास आकर ठहरे। उनका बोलना-चालना बहुत अच्छा था और साधुजीको उनपर किसी प्रकारसे धोखादेही आदिका सन्देह नहीं हुआ। जब अवसर मिला, वही सज्जन उनके कमरेसे आठ सौ रुपये लेकर चम्पत हो गये। दूसरी बार एक विद्यार्थी जिसपर कि साधुजीका बहुत स्नेह था उनकी जेबसे अल्मोड़ा जाते समय देखते-देखते रुपया निकाल ले गया। दोनों व्यक्तियोंकी चोरी मालूम हो गयी। इन घटनाओंने उन्हें सचेत रहनेका सबक सिखा दिया। तबसे वे भी सांसारिक व्यवहारमें चतुराईसे काम लेने लगे। दूधका जला छाछ फूँक-फूँककर पीता है।

चतुर तो हर मनुष्यको बनना ही पड़ता है पर प्रश्न यह है कि क्या यह गुण एक प्रशंसनीय गुण है? हाँ, कुछ दूरतक अवश्य है। पर अधिक चतुराई ईश्वरको प्यारी नहीं। हजरत ईसाने जो अपने शिष्योंको पहाड़पर उपदेश दिया उसमें एक बात यह भी कही 'Blessed are the pure of heart for they shall see God' 'जो मनुष्य सरलचित्त हैं वे धन्य हैं क्योंकि वे ही परमात्माको देखेंगे।' जो मनुष्य चतुर होता है वह अपनी चतुराईके अभिमानमें आकर ईश्वरके सामने भी चतुराई चलानेका प्रयत्न करता है; पर ईश्वर तो अन्तर्यामी है, वह हमारे मनकी बात जान लेता है और हमारे उस धोखा देनेके प्रयत्नको निष्फल कर देता है।

चालाकी और चतुराई दोनोंमें कुछ-न-कुछ असत् व्यवहार रहता है। चालाक मनुष्य स्वयं दूसरोंको धोखा देनेका प्रयत्न करता है; उसका बाहरी व्यवहार कुछ और होता है और आन्तरिक इच्छाएँ कुछ और। उसके उद्देश्योंका पता दूसरोंको नहीं चल पाता।

देखनेमें वह बड़ा उदारचित्त, हँसमुख, सहनशील और प्रियभाषी होता है, पर उसके हृदयमें सदा कतरनी चला करती है । वह अपने मनकी थाह दूसरोंको नहीं देता, परन्तु दूसरेके मनकी बात जाननेकी चेष्टा सदा किया करता है । अपना मतलब साधनेके लिये वह आपको साष्टांग दण्डवत् करेगा, हजार बार आपकी कुशल पूछेगा और जब मतलब निकल गया तो जैसे हम नारंगीसे रस निचोड़कर उसके छिलकेको फेंक देते हैं, इसी प्रकार वह आपका परित्याग कर देगा । इतना ही नहीं यदि अपने स्वार्थ-साधनमें उसकी भलाई करनेवाला व्यक्ति भी बाधक हो तो उसके विनाश करनेमें तनिक भी वह नहीं हिचकेगा । यह चालाक मनुष्यका वास्तविक स्वरूप है । उसके जीवन-में न तो किसी प्रकारकी नैतिकता रहती है और न वास्तविक धार्मिकभाव । हाँ, धर्मका आडम्बर अवश्य रहता है ।

चालाक मनुष्यकी परख कर लेनेवाला व्यक्ति चतुर कहा जाता है । पर जो जिसकी खोज करनेमें समर्थ होता है उसमें भी अवश्य वे गुण रहने चाहिये, जिसके कारण वह खोजके कार्यमें सफल हो । अँग्रेजीमें कहावत है—'Set a thief to find a thief' चोरका पता चोर ही लगा सकता है । यदि चोर चालाकीमें निपुण है तो पुलिस चतुराईमें । पर चोरी कर सकनेमें दोनों निपुण होते हैं । एक व्यक्ति अपनी चोरीकी वासनाको सीधे तृप्त करता है और दूसरा उलटे (inverted Gratification of desires) ।

चालाक मनुष्य झूठ बोलता है और जबतक पकड़ा न जाय, उस झूठ बोलनेके लिये उसके हृदयमें किसी प्रकारकी ग्लानि नहीं होती । वह एक ही प्रकारके नियमको मानता है और वह है बाहरी दण्ड । चतुर मनुष्य शब्दोंसे तो सदा सच बोलता है पर उसका सच प्रामाणिक नहीं । वह अपनी बातके अनेक अर्थ लगा लेता है । वह अपनी समझमें नैतिक जीवन ही व्यतीत करता है, परन्तु वास्तवमें उसके जीवनमें अनेक प्रकारका असत् भरा रहता है । जब हर एक व्यक्ति एक-दूसरेको धोखा देनेको तैयार है तब या तो मनुष्य-को चाहिये कि वह संसारसे विरत हो जाय या वह जिस प्रकार दूसरे व्यक्ति व्यवहार करें उनके अनुकूल अपना आचरण बना ले ।

चतुर मनुष्यको चाहिये कि वह सदा अपने आप-की परीक्षा करता रहे । सोचनीय बात तो यह है कि चतुर मनुष्यको अपने-आपका ज्ञान बिल्कुल नहीं रहता । वह दुनियाके धोखोंसे तो बच सकता है, परन्तु अपने आपको आपहीसे धोखा दिये जानेसे नहीं बचा पाता । अतएव सब चतुराईमें सबसे बड़ी चतुराई इस बातमें है कि मनुष्य चतुराईको भारी मूर्खता समझे । चतुराईसे मनुष्य व्यवहारकुशलता भले ही प्राप्त कर ले, अपने धन, मान या मर्यादाकी रक्षा करनेमें भले ही सफल हो, पर वह आत्मानन्द लाभ नहीं कर सकता । वह साधुओंकी संगतिसे दूर रहता है । वह संसारके सभी लोगोंको धूर्त समझता है अतएव वह नरमें रहनेवाले नारायणको पहचान नहीं पाता । इससे तो लाभ इसी बातमें है कि मनुष्य ऐसी चतुराईसे दूर रहे । सच्ची चतुराई वही है जो हमें परमात्माकी ओर ले जाय; या हमें अपने स्वरूपका दर्शन करा दे । कोई महापुरुष संसारमें रहकर इस चतुराईको प्राप्त करते हैं और कोई विरत हो वनवास करके !

अनूठा भिखारी

(लेखक—भगवान)

एक वृद्ध भिखारी है। उसकी अवस्था सत्तर वर्षके लगभग होगी। आँखोंसे कम दीखता है। बाल पक गये हैं। परन्तु कानोंने अभी जवाब नहीं दिया है। कन्धेपर एक झोली है। कपड़े फटे हैं, चिथड़े और मैले हैं। लाठीके सहारे धीरे-धीरे चलता है।

बचपन बड़ा सुहावना है। बचपनमें वह खेलता था। पतंग उड़ाता था और हँसता था। बचपन आया और डालपर बैठी चिड़ियाकी भाँति उड़ गया। उसे इतना ही याद है।

अपनी जोशसे भरपूर, अनेकों इच्छाओंसे भरी, जवानी उसने संसारके समझनेमें, उसके पीछे चलनेमें और दौड़नेमें बिता दी। अब उसे अपनी जवानीकी एक धुँधली-सी स्मृति है।

उसने सारा समय खो दिया। अब बुढ़ापा आया। काम करनेके उत्तम दिन एक-एक करके विदा हो गये। अब जब स्वयं उसके विदा होनेकी बारी आयी तो उसकी मोह-निद्रा टूटी। अच्छा, 'गयी सो गयी, अब राख रहीको' अब वह गिने-गिनाये कुछ वर्षोंको—इस अन्तिम समयको व्यर्थ न खोयेगा। अब वह केवल प्रभुके गुण गायेगा और जहाँ कहीं दो रोटियाँ मिलीं खाकर मस्त पड़ा रहेगा।

× × × ×

एक धनवान्‌की दिव्य अट्टालिकाके समीपकी सड़कपर भिखारी खड़ा है। 'बाबा, भोजन दे दो! बूढ़ा भूखा है दाता!'

'बूढ़े! जाओ। आगे बढ़ो। घरके समीप शोर न करो।' धनिकके दरवानने उसे डाँटकर कहा। भिखारी आगे बढ़ा।

एक गृहस्थका घर आया। भिखारी चिल्लाया—'बूढ़ा भूखा है। दाता! बूढ़ेको भोजन दे दो।' घरके ऊपरसे आवाज़ आयी। 'ठहरो, भिखारी! ठहरो।' भिखारी रुक गया।

थोड़ी देर बाद हाथोंमें एक थाल लिये एक स्त्री आयी। थालमें पत्तलपर भाँति-भाँतिके पकवान सजे थे। 'लो, बाबा! लो।' स्त्रीने कहा।

भिखारी उसकी तरफ़ आया। स्त्री उसके हाथोंपर पत्तल रखने लगी। भिखारी चिल्लाया—'ठहरो, बेटी! ठहरो। हम ऐसी भीख नहीं लेते।'

स्त्री बोली—'बाबा! पत्तलमें पकवान है, पकवान! खाकर तृप्त हो जाओगे।'

भिखारी जाने लगा। मानो उसने सुना ही नहीं। स्त्रीने जोरसे पुकारा—'भिखारी, पकवान है! पकवान!! इसे लेते जाओ।'

भिखारी—'बेटी, हम ऐसी भिक्षा नहीं लेते। तुम मेरे हाथोंपर पत्तल रखना चाहती हो। मैं किसीके हाथोंके नीचे अपना हाथ नहीं रखता। चाहे मर ही क्यों न जाऊँ। देखो—

तुलसी करपर कर धरो, कर तर कर न धरो।
जा दिन कर तर कर धरो, वा दिन मरन करो॥

स्त्री—'लो बाबा, मैं इसे भूमिपर रक्खे देती हूँ। लो, अब तो लोगे?'

भिखारी—'हाँ, बेटी! लूँगा। परन्तु……………'

स्त्री—'परन्तु क्या? बाबा!'

भिखारी—'बेटी! यह पकवान मेरे कामका नहीं है।'

स्त्री—'क्यों बाबा? हम तो हिन्दू हैं, ब्राह्मण हैं।'

भिखारी—'बेटी! जाने दो। भिखारी भूखा है। देर हो रही है।'

स्त्री—'तो लो न बाबा ! मैं तो तुम्हारे लिये ही पत्तल लिये खड़ी हूँ ।'

भिखारी—'जाओ बेटी ! ईश्वर तुम्हारा मंगल करे ! तुम्हारा सुहाग अचल रहे । बाबाको छुट्टी दो ।'

भिखारी आगे बढ़ा । उसने भीख नहीं ली । स्त्री किसी याचकको द्वारसे विमुख नहीं करना चाहती थी । आज एक वृद्ध विमुख हो रहा है । सो भी न जाने क्यों ? उसने तो कोई अपराध भी नहीं किया । स्त्रीकी दयाभरी आँखें डबडबा आयीं ।

स्त्रीने फिरसे पुकारा—'बाबा ! ओ भिखारी बाबा ! बेटीकी एक बात तो सुनते जाओ ।'

स्त्रीके प्रेमभरे शब्दोंने और उसकी करुणायुक्त आवाजने भिखारीको आगे बढ़नेसे रोका । वह लौटा और फिर उसी द्वारपर आकर खड़ा हो गया ।

स्त्री—'बाबा ! मेरी भिक्षा क्यों नहीं लेते ? यह तो श्रद्धासे दे रही हूँ । कुछ कम हो तो और लाऊँ बाबा ?'

भिखारी—'नहीं, बेटी कम नहीं है । परन्तु मुझे पकवान नहीं चाहिये । यह तो इस स्थूल शरीरका भोजन है । मैं यह न लूँगा बेटी !'

स्त्री—'तो फिर क्या लाऊँ बाबा ?'

भिखारी—'बेटी ! जा । ईश्वर कल्याण करे तेरा ! मुझे कुछ नहीं चाहिये ।'

स्त्री—'नहीं, बाबा ! ऐसा नहीं होगा । यदि तुम विमुख लौटोगे तो मैं भी भोजन न करूँगी ।'

वृद्धने सोचा—अहा ! पुरुषोंसे स्त्रियोंमें कितनी अधिक करुणा होती है । देवियाँ दयालु होती हैं । त्याग उनका भूषण है । देखो न कहती है, 'यदि तुम विमुख लौटोगे तो मैं भी भोजन न करूँगी !' धन्य है देवी ! तुम्हारा त्याग ! भला इसको मुझसे क्या प्रयोजन ? फिर भी मुझसे कितना स्नेह करती है । वृद्धको कोई उपाय नहीं सूझा । वह विवश था । जिस बातको वह छिपाना चाहता था उसे उसको बताना पड़ा ।

भिखारी बोला—'बेटी ! मुझे ऐसा भोजन चाहिये जिसमें हाथ न लगाना पड़े । मुझे आत्माका भोजन चाहिये बेटी ! जिससे बाबा ईश्वरको देख सके ।'

स्त्रीके पास इसका कोई उत्तर न था । वह अवाक् रह गयी । उसे क्या पता था कि भिखारी ऐसी वस्तु माँगेगा जो वह न दे सके !

भिखारी आगे बढ़ा । कई द्वार देखे । बड़े-बड़े सेठ-साहूकारोंके द्वारपर गया । कोई सत्तू देता था, कोई आगेका रास्ता बताता था और कोई आलसी बनाकर झिड़कियाँ सुनाता था ।

× × × ×

सन्ध्या निकट आ रही है । बूढ़ा भिखारी द्वार-द्वार घूमते-घूमते थक चला है । उसे अभीतक भीख नहीं मिली । फिर भी आशाके सहारे वह आगे बढ़ता जाता था ।

भिखारी एक झोंपड़ेके पास आया । उसने आवाज लगायी । 'भीख मिले दाता ! बूढ़ा दिनभरसे भूखा है ।'

उसकी आवाज सुनते ही एक स्त्री झोंपड़ेसे बाहर आयी । स्त्रीके वस्त्र मैले थे । साड़ीमें कई पैबन्द लगे थे । हाथोंमें तीन-चार मैली-मैली चूड़ियाँ थीं । हाथमें आलमुनियमका एक पुराना टूटा हुआ मैला कटोरा था । उसमें दिनका ठंडा भात था ।

'लो, बाबा ! भीख ले लो ।' स्त्रीने कहा ।

भिखारी—'क्या है बेटी ?'

स्त्री—'भीख है बाबा !'

भिखारी—'लाओ, बेटी !'

स्त्रीने वृद्धके आगे कटोरा रख दिया और बोली, 'इसीमें खा लो बाबा ! बैठकर ।'

भिखारी—'क्या लायी हो बेटी !'

स्त्री—'बाबा ! मैं क्या लाती ? ठंडे भात तो हैं, गरीबके घरके !'

'मैं इसे नहीं लूँगा बेटी !' भिखारी बोला ।

'क्यों बाबा ? क्या गरीबकी भीख न लोगे ?' स्त्रीने कहा ।

भिखारी—'नहीं बेटी, इसलिये नहीं कि तुम गरीब हो !'

निर्धनको कोई चाहे धन न दे परन्तु उससे प्रेमके शब्दोंमें बोल ले । इतनेहीमें निर्धनको स्वर्गका-सा सुख मिल जाता है । भिखारीके प्रेमभरे उत्तरने स्त्रीके हृदयमें सहानुभूति उत्पन्न कर दी ।

स्त्री बोली—'बाबा ! तुम बड़े अच्छे हो । कोई-कोई तो हमारी भीख भी नहीं लेता और कोई तो गालियाँ सुनाकर चला जाता है । अच्छा, बैठ जाओ बाबा ! भात ठंडे हैं तो मैं अभी गरम रसोई बना देती हूँ ।'

भिखारी—'नहीं बेटी ! मेरे लिये कष्ट न करो ।'

स्त्री—'इसमें कष्ट क्या है बाबा ! रसोई तो बनानी ही पड़ेगी ।'

भिखारी—'बेटी ! मुझे भूख नहीं है ।'

स्त्री—'बाबा ! झूठ बोलते हो ! वृद्ध होकर !! सो भी अपनी बेटीसे !! ऐसा न कहो बाबा ! अभी तो तुम भोजन माँगते थे ।'

भिखारी—(हँसकर) ठीक है बेटी ! ठीक है । तुम बड़ी सयानी हो । बूढ़ेको तुमने जवाबमें छका दिया । मैं बहुत प्रसन्न हूँ बेटी ! परन्तु मुझे शरीरका भोजन नहीं चाहिये ।'

स्त्री—'बाबा ! तुम बड़े नटखट हो ! बच्चोंकी-सी बातें करते हो ! कभी भोजन माँगते हो, कभी कहते हो कि भूख नहीं है और कभी और कुछ ! हाँ, बातोंसे पेट भर देते हो । बैठो, देर नहीं है रसोईमें !'

भिखारी—'बेटी ! यह भोजन खाते-खाते तो मेरी आयु बीत चली । काले बाल सफ़ेद हो गये । दाँत टूट गये, पर फिर भी जीभकी स्वाद लेनेकी आदत नहीं छूटी । प्रतिदिन भोजन करनेपर भी अवस्थाके अनुसार शक्ति क्षीण होती जाती है । बेटी ! अब मैं आत्माका भोजन चाहता हूँ जिससे अन्तिम समयमें भी तो प्रभुका दर्शन कर सकूँ ।'

उस स्त्रीकी भाँति इस बेचारीके पास भी इसका कोई उत्तर न था । वृद्ध आगे बढ़ा । स्त्रीके सत्कारसे वह प्रसन्न था ।

× × × ×

अँधेरा हो गया है । भिखारी खूब थक चुका है । उसने सारा नगर छान डाला । पर उसे कहीं भीख नहीं मिली । जिसके द्वारपर जाता वही हैरान हो जाता । कोई उसे भीख नहीं दे पाता । भिखारी भी बड़ा ही अनूठा है । अजीब ऐसी वस्तु माँगता है, जो किसीके भी पास न हो ।

भिखारी थककर नदीके किनारे एक वृक्षके नीचे बैठ गया । भिखारीको पछतावा हो रहा है । उसे अपने पहलेके सारे कृत्य एक-एक करके याद आ रहे हैं । आँखोंसे आँसू गिरते हैं । भिखारीको रोते-रोते घंटों बीत गये । सिसकियाँ बँध गयीं । भिखारी सच्ची रुलाई रो रहा है । रोते-रोते भिखारी बेहोश हो गया । वहाँ कोई उसका उपचार करनेवाला न था । अन्तमें थके भिखारीको दयालु निद्रादेवीने अपना लिया ।

भिखारी सो रहा है । इस समय वह स्वप्न देख रहा है । उसे दिनभरका दृश्य फिरसे स्मरण हो आया । वह धनिककी अट्टालिकाके समीप खड़ा है । दरवानने उसे भगा दिया । एक दयामयी स्त्री पकवान दे रही थी । दूसरी स्त्रीके कटोरेका ठंडा भात प्रेमरूपी अमृतसे सना था । परन्तु उसका मनोरथ पूर्ण नहीं हुआ । किसीने उसकी माँगी हुई भीख नहीं दी । अब वह

पेड़के नीचे बैठा रो रहा है। भिखारी इतना रोया, इतना रोया कि गंगामें बाढ़ आ गयी। गंगा उमड़-घुमड़ करती ऊपर उठीं और उसे अपनी लहरोंमें बहा ले गयीं। थोड़ी देर बाद गंगाने अपने हिलकोरेमें उसे फिर वहीं पेड़के तले बैठा दिया। मानो गंगा उसका पाप दूर करनेको उसे ले गयी थीं।

भिखारीकी नींद अभी नहीं टूटी है। अभी वह स्वप्न देख रहा है। भिखारीको रोते देखकर एक छोटा-सा सात वर्षका बालक आया। बालक बड़ा सुन्दर और कमल-सा कोमल था। बालक भिखारीके सामने खड़ा होकर हँसने लगा। कुछ क्षण बाद वह भिखारीसे बोला—'क्यों लोते हो बाबा? मिठाई लोगे? लो, यह लड्डू दूँ! तुमको किसने माला है बाबा? बताओ, मैं उसे अभी अपने डण्डेसे मालूँगा!'

बालककी मीठी बातोंसे भिखारीको हँसी आयी। क्षणभरके लिये वह अपना सारा दुःख भूल गया। भिखारीने बालकको पकड़ना चाहा। बालक दूर भाग गया और भिखारी उसे न पकड़ सका। भिखारी बोला—'अच्छा, लड्डू दो लल्ला! क्या बाबाको अब लड्डू न दोगे?'

बालक—'तुम मुझे पकल लोगे! मैं नहीं आता।

भिखारी—'अच्छा, आओ। मैं नहीं पकड़ूँगा। लो, आँखें बन्द करता हूँ।'

भिखारी आँखें बन्द करता है। बालक उसके समीप जाता है समीप जाकर बालक बोला—'लो लड्डू बाबा, एक! दो!! तीन!!!'

भिखारी उसे फिर पकड़ना चाहता है। बालक दूर हट जाता है। ऐसे ही तीन बार भिखारीने उसे नहीं पकड़नेका वचन दिया। परन्तु बालकके आते ही हर बार भिखारी उसे पकड़नेका प्रयत्न करता था। भिखारी जब उसे पकड़ना चाहता था तब बालक पीछेकी तरफ भाग जाता था।

चौथी बार फिर भिखारी बोला—'लल्ला! लड्डू लाओ! क्या रूठ गये बाबासे?'

अबकी बार बालक बोला—'हाँ, लूठ गया।'

भिखारी—'क्यों?'

बालक—'इसलिये कि तुम बाल-बाल झूठ बोलते हो बाबा! लाम! लाम!! इतने बले होकल भी झूठ बोलते हो बाबा!!'

भिखारीको अपने ऊपर बड़ी घृणा आयी। उसने कहा—'अच्छा, मुझको भोजन कराओगे लल्ला?'

बालक—'लाम! लाम!! फिल झूठ बोलते हो बाबा!!'

बालक थपड़ियाँ पीटकर हँस पड़ा। भिखारीको बालककी हँसीमें बड़ा आनन्द आता था। परन्तु बालकके मीठे तिरस्कारका भिखारीपर बड़ा प्रभाव पड़ता था।

भिखारी बोला—'कैसे लल्ला?'

बालक—'बाबा! तुम्हीं न आज हमाले घल गये थे! अम्मा तुमको कटोलेमें भात देती थी। तुमने नहीं लिया। क्या भूल गये बाबा?'

भिखारी—'उस समय तुम कहाँ थे लल्ला?' तुम तो वहाँ नहीं थे।

बालक हँसा और बोला—'वाह! मैं वहीं तो था बाबा! मैं तो वहीं लहता हूँ। ओहो! तुमने हमें देखा भी नहीं!!' बालक खुशीसे कूदने लगा।

भिखारी—'अच्छा, लल्ला! तो क्या मुझे आत्माका भोजन कराओगे?'

बालक—'हाँ, बाबा!'

भिखारी—'कराओ तब! बोलो कैसे प्रभुके दर्शन होंगे?'

बालक फिर हँसा और बोला—'बाबा! क, ख, गसे पढ़ाई होती है। कके बाद ख आता है औल खके बाद ग बाबा! कसे कलो तब खसे खाओ फिर गसे गति पाओ बाबा!'

बालककी चतुरताभरी बातोंसे भिखारीको बड़ा कौतूहल हुआ । भिखारीने फिर पूछा—'लल्ला ! समझाकर बतला दो बूढ़े बाबाको, भगवान् कहाँ रहते हैं लल्ला ?'

बालक—'बाबा ! वह तो सदा गलीबोंकी कुटियामें लहता है । उनकी सेवा कलता है ।'

भिखारी—'उससे कैसे भेंट होगी लल्ला ?'

बालक—बाबा ! तुम भी गलीब बन जाओ । तब आप ही वह तुम्हाले घल दौला आवेगा । नहीं तो गलीबोंकी सेवा कलो बाबा ! वहाँ वह भी आयेगा । बस, भेंट हो जायगी बाबा !'............

भिखारी बालकको फिर पकड़ना चाहता है । बालक भाग जाता है । भिखारी पीछे-पीछे दौड़ता है । बालक भिखारीके देखते-देखते ही समीपके एक झोंपड़ेमें छिप जाता है । इसी अवसरपर भिखारीका स्वप्न टूटता है । वह पेड़के नीचे बैठा है । आँखोंसे प्रेमाश्रु बहते हैं !

ध्यानकी शास्त्रीय पद्धति अथवा सन्ध्या-रहस्य

(लेखक—पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी)

शास्त्रोंमें ध्यानकी विभिन्न परिभाषाएँ आती हैं । एक कहता है—रागद्वेषका नष्ट हो जाना ही ध्यान है, दूसरा कहता है—मनमें किसी भी विषयका न आना ही ध्यान है, तीसरा कहता है—अपने मनका लक्ष्यमें एकाग्र हो जाना ही ध्यान है, चौथा कहता है—चिन्तनके बलपर अपनी अभीष्ट वस्तुको प्रत्यक्ष-सा प्राप्त कर लेना ही ध्यान है, पाँचवाँ कहता है—अपने प्रियतमके स्वरूप, लीला और सेवा आदिका चिन्तन ही ध्यान है, छठा कहता है—विजातीय प्रत्ययोंका तिरस्कार करके सजातीय प्रत्ययोंका प्रवाहीकरण ही ध्यान है । सातवाँ कहता है—अनात्माकार वृत्तियोंका तिरोधान होकर आत्माकार वृत्तियोंकी स्थिरता ही ध्यान है । ध्यानकी ये सभी परिभाषाएँ रुचि-वैचित्र्यके अनुसार ठीक हैं । परन्तु इनमेंसे कोई-सी परिभाषा स्वीकार की जाय, साधकको चाहे जिस मार्गका साधन करना हो, उसे पहले-पहल सहायककी आवश्यकता होती ही है, ध्यानकी सुगम परिपाटी जाननी ही पड़ती है । इसलिये ऋषियोंके द्वारा दी हुई ध्यानकी एक सहायक विधिकी चर्चा की जाती है । यह हमारे जीवनकी सन्धिमें आरम्भसे ही जोड़ दी गयी है, यदि हम इसका समुचित उपयोग करें तो बहुत ही शीघ्र हमारा ध्यान लग सकता है और हम अपनी इष्ट वस्तुकी प्राप्तिमें सफल हो सकते हैं ।

संस्कृतमें ध्यान शब्दका पर्यायवाची ही शब्द है सन्ध्या । एक ही धातुसे दोनों शब्द निष्पन्न होते हैं । सन्ध्या शब्दका अर्थ है सम्यक् ध्यान, सम्यक् चिन्तन इसलिये सन्ध्या शब्दका मुख्यार्थ भगवान्का स्मरण अथवा आत्मचिन्तन ही होता है । जिस क्रियाके द्वारा परमात्माका स्मरण और आत्मचिन्तन करनेमें सहायता प्राप्त होती है, उसका नाम है सन्ध्या । सन्ध्याकी किस क्रियाके द्वारा कौन-सा अंग शुद्ध होता है ? देह, प्राण, मन, बुद्धि किस प्रकार शुद्ध हो जाते हैं और किस प्रकार आवरण भंग होकर आत्मसाक्षात्कार हो जाता है, यही विषय विचारणीय है ।

सन्ध्यामें मुख्यतः ये क्रियाएँ की जाती हैं । आसन-शुद्धि, मार्जन, आचमन, प्राणायाम, अघमर्षण, अर्घ्य-दान, सूर्योपस्थान, न्यास, ध्यान, जप । इनके अतिरिक्त और भी कुछ छोटी-मोटी क्रियाएँ हैं जो इन्हींके

अन्तर्गत हैं अथवा इनकी ही सहायक हैं। इनमें पूर्वापरभाव और एकके बाद दूसरी क्रियाके आनेका कारण भी है, परन्तु यहाँ उनपर विचार न करके केवल इन क्रियाओंके सम्बन्धमें ही कुछ विवेचन किया जायगा।

आसनशुद्धिके अन्तर्गत कई प्रकारकी शुद्धियाँ हैं जैसे स्थानशुद्धि, कुशादि आसनोंकी शुद्धि, सिद्धासन आदि आसनोंकी शुद्धि और अंगोंका यथास्थान स्थापन। सन्ध्याके लिये स्थान एकान्त होना चाहिये, पवित्र होना चाहिये और यथासम्भव एक होना चाहिये। नदीतट, देवालय, उपासनामन्दिर विशेष उपयुक्त माने गये हैं। एकान्त स्थान एकाग्रतामें सहायक है, पवित्र स्थान मनमें पवित्रता लाता है और पवित्र गन्ध तथा पवित्र वायुके संयोगसे स्वास्थ्य भी ठीक रहता है, सद्विचारोंका उद्गम होता है। जिस स्थानमें बहुत दिनोंसे परमात्माका चिन्तन होता आया है अथवा होता है, उस स्थानमें जाते ही चित्तमें एक प्रकारकी शान्तिका उदय हो जाता है। अपवित्र स्थानमें अपवित्र विचारोंका उदय होना स्वाभाविक ही है, ऐसा सुना गया है कि पाश्चात्यदेशमें एक नये बने हुए गिरजाघरमें जब सब लोग प्रार्थना करनेके लिये एकत्र हुए, तब प्रार्थनाके समय सबके मनमें एक साथ ही हिंसाका भाव उठने लगा। पता लगानेपर मालूम हुआ कि पचासों वर्ष पूर्व उस स्थानपर कसाईखाना था। इसीलिये शास्त्रोंमें जहाँ मन्त्रानुष्ठानका विधान है, वहाँ सिद्ध पीठोंकी बड़ी महिमा गायी गयी है। अतः सन्ध्या करनेका स्थान भी बहुत विचारकर ही चुनना चाहिये। इसके अतिरिक्त स्थानके देवताओंको प्रसन्न करनेका भी विधान है, प्रत्येक स्थानके, मकानके और मकानके एक-एक कमरोंके अभिमानी देवता होते हैं, द्वारपाल देवता भी होते हैं जिन लोगोंने सनातन धर्मकी रीतिसे गृहप्रवेश किया है और वास्तुपूजा की है, वे इन बातोंको जानते होंगे। भगवान्‌की उपासना करनेके पूर्व उन स्थानीय देवताओंको प्रसन्न कर लिया जाय तो वे भौम, दानवीय और दिव्य विघ्नोंसे साधककी रक्षा करते हैं, इसलिये स्थानशुद्धि बहुत ही आवश्यक है।

स्थानशुद्धिके अनन्तर पृथिवीपर कुशका अथवा कम्बल आदिका आसन बिछाया जाता है, यह आसन बिछाते समय जो मन्त्र पढ़ा जाता है उसका अर्थ है 'हे माँ पृथिवी! तुमने सब लोगोंको धारण कर रखा है और तुम्हें भगवान् विष्णुने धारण कर रखा है। हे देवि! तुम मुझे धारण करो। मैं अनुभव करूँ कि तुमने भगवान् विष्णुके सम्बन्धसे मुझे धारण कर रखा है, तुम मेरा आसन पवित्र कर दो।' जगद्धात्री माता पृथिवीसे इस प्रकार प्रार्थना करके आसनपर बैठना चाहिये। मन्त्रजपके समय अथवा वृत्तियोंको एकाग्र करते समय शरीरके अन्दर बहुत ही आहिण्डन होता है, उससे एक प्रकारकी विद्युत्-शक्ति आविर्भूत होती है जो शरीर और मनको स्वस्थ बनाती है। यदि शरीर और पृथिवीके बीचमें कोई आसन न रक्खा जाय तो वह विद्युत्-शक्ति पृथिवीके आकर्षणसे खिँच जायगी और इससे शरीर एवं मन दोनोंके ही स्वास्थ्यनाशकी आशङ्का रहेगी। इसलिये शास्त्रोंमें आसनपर बड़ा जोर दिया गया है और कहा गया है कि आसनके बिना वैधकर्म निष्फल हो जाया करते हैं।

आसनपर बैठनेमें दो बातोंका और ध्यान रखना चाहिये, एक तो सिद्धासन, स्वस्तिकासन, वीरासन आदिमेंसे कोई आसन होना चाहिये और दूसरी यह कि हाथ, पैर, सिर आदि यथास्थान ही रहना चाहिये। जप आदि करते समय पैरके तलवोंका, गुह्य स्थानोंका स्पर्श निषिद्ध है। पीठका रीढ़ा सीधा होना चाहिये, शरीर, गला और सिर भी सम स्थितिमें ही होना चाहिये। मन्त्रोंके उच्चारणके समय नस-नाड़ियोंका और शरीरके सूक्ष्म अवयवोंका परस्पर आघात-प्रत्याघात

होता है, जिससे शरीरके अवयवोंमें भी परिवर्तन होता है और शक्तिका विकास तथा प्रसार भी होता है। कोई नस-नाड़ी टेढ़ी रहे अथवा हाथ आदि रख देनेके कारण उसके प्रवाहमें बाधा पड़े तो उन क्रियाओंसे उतना लाभ नहीं होता। इसलिये सन्ध्या अथवा ध्यान करते समय शरीरको शिथिल और स्थिर रखना बहुत ही आवश्यक है।

सन्ध्याके मुख्य अङ्गोंमें मार्जनका प्रधान स्थान है। मार्जनका अर्थ है साफ करना, झाड़ देना, स्नान करनेसे शरीर तो स्वच्छ रहता ही है, मार्जनके द्वारा उसमें पवित्रता भरी जाती है। जिस समय शरीर गरम रहता है या परिश्रमके कारण थका रहता है, उस समय शरीरमें रक्त और वायु दोनों ही उत्तेजित रहते हैं। रक्तके वेगवान् प्रवाहके कारण मन भी चञ्चल होता है और वैसी स्थितिमें किसी प्रकारकी उपासना ठीक-ठीक नहीं बन पाती, इसीसे उपासनाके पूर्व स्नानका विधान है। स्नानकी भी विधि है, भावना है और उसके भी कई भेद हैं। परन्तु मार्जनमें तो विधिपर विशेष जोर न देकर मन्त्रोक्त भावना और देवताकी ही प्रधानता रखी गयी है। मार्जनके द्वारा रक्तका प्रवाह कम होता है, शीतलताके कारण उद्दीप्त भावनाएँ शिथिल पड़ती हैं, मनमें चिन्तनकी शक्ति आती है और जलके अधिष्ठाता देव प्रसन्न होकर साधककी सहायता करते हैं। मार्जनके अनेक मन्त्रोंमें कुछके अर्थ निम्नलिखित हैं।

'पवित्र हो या अपवित्र किसी भी अवस्थामें क्यों न हो जो कमलनयन भगवान्का स्मरण करता है वह बाहर-भीतर पवित्र हो जाता है।' 'हे जलके अधिष्ठातृ-देवताओ! जिस शक्तिके प्रभावसे तुम लोग सब प्राणियोंको सुख देते हो, उस परमशक्ति परमात्माको मेरे हृदयमें प्रकाशित करो। हमें ऐसी सामर्थ्य दो, ऐसी शक्ति दो कि हम परमात्माकी स्फूर्तिका निरन्तर अनुभव करनेके योग्य हो जायँ। तुम अपना कल्याण-कारी रस हमें दो, जिस प्रकार स्नेहमयी मातासे पुत्र अपने लिये हितकर दूधकी आशा और अभिलाषा रखता है वैसे ही हम तुम्हारे जगत्को तृप्त करनेवाले रसकी इच्छा करते हैं। स्वामिन्, सबको प्राप्त करनेवाले या प्राप्त करानेवाले देव तुम हमें आनन्दरसानुभव करनेके योग्य बनाओ।' इत्यादि अनेकों मन्त्र हैं। मनुष्यके शरीरमें दो तिहाईसे अधिक जलीय अंश हैं, शरीरमें शक्ति, जीवन, स्फूर्ति आदि इसीसे आते हैं, परमात्माके चिन्तनमें अपनी पूरी शक्ति लगानेके लिये जलके अधिष्ठातृ-देवतासे प्रार्थना करना आवश्यक है। चित्तमें जबतक ग्लानि रहती है तबतक कोई भी उपासना प्रसन्नतासे नहीं होती, प्रसादपूर्वक हुए बिना किसी भी उपासनाकी सफलता सन्दिग्ध है। इसलिये भी मार्जन-की आवश्यकता है कि चित्तकी ग्लानि दूर हो जाय और जलाधिष्ठातृ-देवताकी सहायतासे यह भावना दृढ़ हो जाय कि मैं पवित्र होकर स्थिरभावसे परमात्माकी उपासना करने बैठा हूँ, अब पाप-ताप मेरा स्पर्श नहीं कर सकते। मैं अविचलभावसे भगवान्का चिन्तन करूँगा। इसी भावनासे अपने चारों तरफ जल छिड़ककर स्थिरता-की भावना दृढ़ की जाती है।

आचमन भी सन्ध्याका एक मुख्य अङ्ग है और यह भिन्न-भिन्न मन्त्रोंसे कई बार किया जाता है। जैसे मार्जनके द्वारा बाह्य शरीरपर प्रभाव डाला जाता है वैसे ही आचमनके द्वारा अन्तःशरीरपर प्रभाव डाला जाता है। आचमनसे मानसिक उत्तेजना शान्त हो जाती है, इन्द्रियोंके धोनेसे, कुल्ला करनेसे, स्नान करनेसे एवं पानी पीनेसे काम-क्रोधादि विकारोंको बहुत कुछ शान्त होते देखा गया है। आचमनके मन्त्रोंपर विचार करनेसे मालूम होता है कि वे विभिन्न प्रकारके दोषोंके दूर करनेकी प्रार्थनाएँ हैं। एक-दो मन्त्रोंका अर्थ

लिखा जाता है— 'तेजस्विताके देवता सूर्य, क्रोध और क्रोधके देवता क्रोधसे किये गये पापोंसे मेरी रक्षा करें। मैंने रातमें जो पाप किये हैं चाहे वे मनसे, वाणीसे, हाथोंसे, पैरोंसे, पेटसे अथवा मूत्रेन्द्रियसे ही क्यों न हुए हों रात्रिका देवता उसे नष्ट कर दे; मेरे अन्दर जितने पाप हैं उन सबको और अपनेको यह मैं अमृत-योनि सूर्यमें हवन करता हूँ।' इसी प्रकार समय और क्रियाके भेदसे और भी आचमनके मन्त्र हैं। शरीर-शुद्धिके साथ-ही-साथ मन्त्रकी अपूर्वशक्ति एवं देवताकी सहायतासे मनःशुद्धि भी हो जाती है। आचमनका विशेष उपयोग मनःशुद्धिमें ही है। स्वामी दयानन्द-जीने बतलाया है कि आचमन करनेसे कफ नष्ट हो जाता है और मन्त्रोंके उच्चारणमें सुगमता हो जाती है। वास्तवमें आचमन सन्ध्याका एक मुख्य अङ्ग है और यदि भावनापूर्वक किया जाय तो दोषोंको मिटानेमें और ध्यान लगनेमें बहुत ही सहायक हो सकता है।

प्राणायामकी महिमा तो बहुत ही प्रसिद्ध है। हठयोगका मूल स्तम्भ प्राणायाम ही है। प्राण अर्थात् शरीरके अन्दर रहनेवाली क्रियाशक्ति, आयाम अर्थात् उसका नियन्त्रण। हम अभ्यासके कारण बहुत-से ऐसे काम भी कर डालते हैं जिन्हें करना आवश्यक नहीं है और जिन्हें नहीं करना चाहिये। व्यर्थके कर्म तो हमारे मित्र हो गये हैं, अधिकांश कर्म वैसे ही होते हैं; उनके नियन्त्रणकी बड़ी आवश्यकता है। प्राण-शक्तिके अनियन्त्रित हो जानेके कारण ही जीवनके बहुत-से अङ्ग बेकार हो गये हैं, निकम्मे हो गये हैं। प्राणायामके द्वारा क्रियाशक्ति नियन्त्रित की जाती है, वे नस-नाड़ियाँ जो वायु सञ्चार न होनेके कारण अनेक प्रकारके रोगोंका उद्गम बन रही हैं, पुनः अपना ठीक-ठीक काम करने लगती हैं। शास्त्रोंमें ऐसा कहा गया है कि मन, प्राण और वीर्य ये तीनों एक ही वस्तु हैं, तीनोंमेंसे एक वश कर लिया जाय तो शेष दो अपने-आप वशमें हो जाते हैं। जिसने प्राण वशमें कर लिये उसका मन वशमें हो गया और उसका वीर्य भी स्थिर हो गया। मनकी स्थिरतासे आध्यात्मिक लाभ और वीर्यकी स्थिरतासे लौकिक, पारलौकिक लाभ सुनिश्चित हैं। सन्ध्याके प्राणायाममें दो बातें और हैं—एक तो मन्त्रका जप और दूसरा ध्यान। ध्यान तीन स्थानोंमें होता है—नाभि, हृदय और मस्तकमें। नाभिमें क्रिया-शक्ति रहती है वहाँ ब्रह्माका ध्यान होता है, हृदयमें इच्छाशक्ति, प्रेमशक्ति अथवा भावनाशक्ति रहती है, वहाँ स्थितिके देवता विष्णुका ध्यान होता है, मस्तकमें ज्ञानके देवता मूर्तिमान् वैराग्य भगवान् शिवका ध्यान होता है। इस प्राणायामके द्वारा क्रियाशक्ति, इच्छाशक्ति और ज्ञानशक्ति तीनोंका ही पूर्ण विकास होता है। पापवृत्ति नष्ट हो जाती है। अनेकों प्रकारकी सिद्धियाँ आ जाती हैं और आध्यात्मिक शान्तिका लाभ होता है। प्राणायाम-में जिस मन्त्रका जप होता है उसका अर्थ है—जिस ज्योतिःस्वरूप, जीवोंके एकमात्र वाञ्छनीय, सृष्टिकर्ता देवताके परम प्रकाशमान ज्योति हैं ऊपरके सातों लोक और नीचेके सातों लोक। उस परमात्माका हम चिन्तन करते हैं, वह हमारी बुद्धिको शुद्ध करे, वही जल, तेज आदिके रूपमें व्यक्त हो रहा है। वास्तवमें वही ब्रह्म है, वही ॐकार है। प्राणायामकी शक्ति, मन्त्रकी शक्ति और ध्यानकी शक्ति तीनों मिलकर साधकको जो लाभ पहुँचाते हैं वह वर्णनातीत है।

उपासनाशास्त्रमें अघमर्षणकी बड़ी महिमा है, इसके अनेकों प्रकार आते हैं। तन्त्रोंमें इसे भूतशुद्धि कहा गया है, और यह विधिपूर्वक किया जाय तो बिना किसी विशेष क्रियाके ही कुण्डलिनी जग जाय। इसकी क्रिया इस प्रकार बतलायी गयी है कि साधक अपनी भावनाकी आँखोंसे देखे कि मेरी बायीं कोखमें एक बड़ा भयङ्कर पापपुरुष है, बीजमन्त्रोंका उच्चारण करता हुआ प्राणोंके साथ जल खींचकर वहाँ ले जाय

और उस पापपुरुषको भस्म करके फिर एक पुण्य-पुरुषकी सृष्टि करे। इस प्रकारकी भावना करते रहनेसे पाप-प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है और जीवन पुण्यमय बन जाता है। इसकी एक प्रक्रिया ऐसी भी है कि नाभि-स्थानसे धर्मकी जड़ और ज्ञानकी नालसे युक्त एक भाव-कमल प्रकट हुआ है, हृदयमें स्थित उस कमलकी कर्णिकापर दीपशिखाके समान जीव निवास करता है, उसका ध्यान करके सुषुम्नामार्गसे उसे सहस्रारमें स्थित परमात्मामें ले जाकर मिला दे और जबतक एकीभावसे स्थित रहा जावे रहे। जब ध्यान टूटने लगे तब जीवात्माको पुनः उसी मार्गसे हृदयमें लाकर उस कमल-पर विराजमान कर दे। इस प्रकार थोड़ा ही अभ्यास करनेसे यह अघरूप संसार दबा दिया जाता है, इसका चिन्तन कम हो जाता है, जीवन सदाचारमय और जीव परमात्माके आनन्दमें मस्त रहने लगता है।

अघमर्षणकी एक और प्रक्रिया बड़ी गुप्त है और वह मुझे एक बड़े अच्छे महात्माके द्वारा प्राप्त हुई है, इस प्रक्रियासे बहुत ही शीघ्र भूतशुद्धि हो जाती है। मूलाधारसे लेकर सहस्रारपर्यन्त सुषुम्नामार्गका चिन्तन करते हुए इन चार मन्त्रोंका जप किया जाय—

(१) ॐ भूत(मूल)शृङ्गाटात् शिरःसुषुम्नापथेन जीवशिवं परमशिवपदे योजयामि स्वाहा।

(२) ॐ यं लिङ्गशरीरं शोषय शोषय स्वाहा।

(३) ॐ रं सङ्कोचशरीरं दह दह स्वाहा।

(४) ॐ परमशिव सुषुम्नापथेन मूलशृङ्गाटम् उल्लस ज्वल ज्वल प्रज्वल प्रज्वल स्वाहा।

इनसे बहुत ही शीघ्र लाभ होते देखा गया है।

सन्ध्यामें जो अघमर्षणकी विधि दी गयी है, वह बहुत ही संक्षिप्त है, फिर भी उसका मन्त्र इतना महत्त्व-पूर्ण है कि उसमें सृष्टिप्रक्रियाका सम्पूर्ण वर्णन आ गया है। उसका स्मरण करनेसे यह बात मनमें बैठ जाती है कि सारी सृष्टि भगवान्की बनायी हुई है और फिर पाप करनेकी इच्छा नहीं होती। मन्त्रका अर्थ इस प्रकार है—'परम ज्ञानस्वरूप परमात्मासे लौकिक और पारमार्थिक सत्य प्रकट हुए हैं, उनसे ही अविद्यारूपिणी रात्रि भी पैदा हुई है फिर उसीसे भवसागर बना है। भवसागरमें संवत्सर, दिन, रात और कालके सम्पूर्ण अवयव, जो जगत्के कम्पनशील होनेके प्रमाण हैं, प्रकट हुए। पूर्व कल्पके अनुसार ही सूर्य, चन्द्रमा, आकाश, पृथिवी, अन्तरिक्ष आदिकी भी कल्पना हुई।' इस मन्त्रसे संसारके सब पदार्थोंका सम्बन्ध भगवान्के साथ जोड़कर साधक उस प्रभुका वैभव और उसकी लीला देखनेमें मस्त हो जाता है। आत्माके साक्षात्कारमें मल, विक्षेप और आवरण तीन दोष माने जाते हैं; परन्तु भगवान्के दर्शनमें केवल दो ही दोष बाधक हैं—मल और विक्षेप। सन्ध्याके द्वारा मल अर्थात् पाप और विक्षेप अर्थात् मनकी चञ्चलता दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। अघमर्षणका मन्त्र मलका नाश करता है, विक्षेप-को दूर भगाता है, मनमें प्रसन्नता भर देता है और मेरे पाप नष्ट हो गये इस भावको दृढ़ कर देता है। दृढ़तासे विक्षेप नष्ट हो जाते हैं और मन्त्रके अर्थपर विचार करते ही आवरण भङ्ग हो जाता है। इसलिये सब प्रकारके साधकोंको अघमर्षणका सविधि अनुष्ठान करना चाहिये।

इस पृथिवीमण्डल और इसपर रहनेवाले जीवोंका सूर्यके साथ बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। सूर्यके ही प्रकाशमें, चाहे वह चन्द्रमाके रूपमें हो या दीपकके, हम इस संसारको देख पाते हैं। सूर्यकी ही उष्णतासे हमारा जीवन जीवन बना हुआ है और भोजनका परिपाक करके वही हमें रस भी देता है। यह पृथिवी सूर्यसे ही निकली हुई है और सूर्य स्वयं भगवान्की दृष्टि है, एक रूपमें स्वयं भगवान् है। सूर्यका भोजन जल है और वह पृथिवीपर स्थित एवं शरीरमें स्थित जलको खींच-खींचकर हमें उसका कई गुना रस एव

शक्ति प्रदान करता है। उन भगवान् सूर्यको भला हम दे ही क्या सकते हैं ? परन्तु न दे सकनेपर भी हमारा एक कर्तव्य है, और समय-समयपर हमें अपनी ओरसे भगवान् सूर्यको कुछ-न-कुछ भेंट करनी ही चाहिये। पुराणोंमें कथा आती है कि एक प्रकारके राक्षस भगवान् सूर्यको निगल जानेके लिये सचेष्ट रहते हैं, अर्घ्यदानके जलसे वे पराजित हो जाते हैं और भगवान् सूर्य अर्घ्य देनेवालेपर बहुत ही प्रसन्न होते हैं। सूर्यदेवकी प्रसन्नतासे हमारी आँखोंमें ज्योति आती है, बुद्धिमें प्रकाश आता है और हमारी आँखें बुरे विषयोंकी ओर जानेसे रुक जाती हैं, क्योंकि बिना सूर्यकी शक्तिके आँखें कुछ कर ही नहीं सकतीं। इसलिये सूर्यदेवको अर्घ्य देना अपने अन्तःकरण और शरीरको स्वस्थ रखनेके लिये बहुत ही आवश्यक है। सभी इष्टदेवोंका ध्यान सूर्यकी ज्योतिमें ही होता है, इसलिये अपने हृदयमें सूर्यमण्डलका चिन्तन करनेके लिये अवश्य-अवश्य भगवान् सूर्यको प्रसन्न करना चाहिये।

सूर्योपस्थानका अर्थ है भगवान् सूर्यके दरबारमें हाजिरी। उस समय हम सूर्यके सामने खड़े होकर प्रार्थना करते हैं कि इस अन्धकारमय जगत्से परे रहनेवाली उत्तम ज्योति जो कि प्रकाशस्वरूप सूर्य ही हैं, जिनसे उत्तम और कोई ज्योति नहीं है, हम उनकी शरण लेते हैं। ज्ञानके भण्डार प्रकाशमय सूर्यको, उनकी किरणें संसारको दृष्टियुक्त बनानेके लिये ले जाती हैं। दिनके अभिमानी देवता मित्र, रात्रिके अभिमानी देवता वरुण और दोनोंके अभिमानी देवता अग्नि, इन सबके प्रकाशक भगवान् सूर्यका उदय हो रहा है। वे स्वर्ग, पृथिवी और अन्तरिक्षको अपने प्रकाशसे परिपूर्ण कर रहे हैं; वही सम्पूर्ण चराचर जगत्के आत्मा हैं। सम्पूर्ण इन्द्रियों और देवताओंके हित करनेवाले एवं सबके विशुद्ध नेत्र, उगते हुए भगवान् सूर्यको हम सौ वर्षतक देखें, सौ वर्षतक जीवें, सौ वर्षतक आनन्दित रहें, इत्यादि। इन मन्त्रोंसे सूर्यके सामने उपस्थान करनेसे शारीरिक, मानसिक दोनों प्रकारके बलकी अभिवृद्धि होती है और आध्यात्मिक चिन्तनमें बड़ी सफलता मिलती है। जो सूर्यमण्डलका ध्यान करनेमें समर्थ हो जाता है, वह बड़ी सुगमतासे अपने इष्टदेवका ध्यान भी कर सकता है।

उपासनाविधिमें न्यासका बड़ा ऊँचा स्थान है। आजकल समयके प्रभावसे अथवा उपासनाशास्त्रके अध्ययनाध्यापनके अभावसे कुछ लोगोंकी ऐसी धारणा हो गयी है कि ध्यान अथवा सन्ध्याके लिये न्यासकी आवश्यकता नहीं है, परन्तु न्यासतत्त्वपर विचार करनेसे मालूम होता है कि अनेक दृष्टियोंसे इसकी बड़ी आवश्यकता है। न्यास दो प्रकारका होता है— एक अन्तर्न्यास, दूसरा बहिर्न्यास। ये भी मन्त्रन्यास और देवतान्यासके रूपमें भिन्न-भिन्न प्रकारके हो जाते हैं। तत्त्वन्यास, किरीटन्यास, व्यापकन्यास आदि अनेकों भेद हैं। यहाँ विस्तारसे उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। सन्ध्यामें दो प्रकारके न्यास आते हैं, एक तो ऋषि, छन्द और देवताओंका न्यास; दूसरा व्याहृति और मन्त्रका न्यास। न्यासका अर्थ है स्थापन — अपने शरीरके अवयवोंमें मन्त्र और देवताओंका स्थापन ही न्यास है। किसी-किसी न्यासके फलमें बतलाया गया है कि इससे साधकका जड शरीर भी चिन्मय हो जाता है। जब न्यास करनेसे साधक अपने शरीरको देवतामय और मन्त्रमय अनुभव करता है तब उसकी वृत्तियाँ स्वयं पवित्र हो जाती हैं। पवित्रता शान्तिकी जननी है और शान्तिमें ही ध्यान लगता है। ऋषि, छन्द और देवताओंके स्मरणसे मन्त्रका वास्तविक अर्थ समझनेमें बड़ी सुविधा होती है। न्यासके विभिन्न प्रकार 'कल्याण'के गत वर्षके अङ्कोंमें लिखे जा चुके हैं।

आसनशुद्धिसे लेकर न्यासपर्यन्त कर्म करनेपर जब बाह्य और आभ्यन्तर शुद्धि सम्पन्न हो जाती है, तब मन्त्रजप किया जाता है। उस समय वृत्तियोंके पवित्रतम हो जानेके कारण मन मन्त्रके अर्थमें लग जाता है और शब्दकी शक्ति बाहर जानेवाली इन्द्रियों-को समेटकर अन्तर्मुख कर देती है और स्वयं ही ध्यान होने लगता है। विष्णुपुराणमें कहा गया है कि जपसे ध्यान और ध्यानसे जपकी साधना होती है। जो साधक इन दोनोंका अभ्यास कर लेता है, उसके सामने परमात्मा प्रकट हो जाता है।*

इस प्रकारके साधनसे बड़ा लाभ होता है। मन्त्रके शब्दोंकी शक्ति, अर्थका चिन्तन और उसका बार-बार आवर्तन एक प्रकारकी वृत्ति तैयार कर देता है। सारी वृत्तियाँ संकुचित होकर एक वृत्तिके रूपमें हो जाती हैं और यही ध्यान है। यदि जपके समय पहले वृत्तियाँ एकाग्र न होती हों तो निराश होनेका कोई कारण नहीं है, बिना एकाग्रताके भी जप करनेसे बड़ा लाभ होता है। यदि हम वृत्तियोंके एकाग्र होनेकी प्रतीक्षामें जप ही न करें तो उनके एकाग्र होनेकी कोई आशा ही नहीं है और सच्ची बात तो यह है कि जो श्रद्धाके साथ विधिपूर्वक सन्ध्या करता है, जपके समय उसकी वृत्तियाँ एकाग्र हो ही जाती हैं।

सन्ध्याकी सम्पूर्ण क्रियाओंका लक्ष्य है अन्तः-करणकी शुद्धि और परमात्माकी प्राप्ति। उपासनाकी सिद्धि अर्थात् अन्तःकरणकी शुद्धि, निष्कामभावकी पूर्णता अर्थात् अन्तःकरणकी शुद्धि। अन्तःकरण जितना ही अधिक शुद्ध होगा, उतना ही गाढ़ा ध्यान लगेगा। ध्यान इष्टदेवका होता है, माता गायत्री इष्टदेवी हैं, उनके ध्यानमें सम्पूर्ण देवताओंका ध्यान अन्तर्भूत है। वेदोंके समस्त मन्त्र और उन मन्त्रोंमें प्रतिपादित देवता माता गायत्रीके बालक हैं, माता सन्तुष्ट हो जाय तो अपने किसी भी बालकको साधकके पास भेज सकती है। गायत्रीके विभिन्न प्रकारके ध्यान सन्ध्यापद्धतियोंमें वर्णित हैं। गायत्रीका ध्यान सूर्यमण्डलमें होता है और सृष्टिकर्ता सविता देवता ही उसके प्रतिपाद्य हैं। सविधि ध्यान करनेसे बहुत ही शीघ्र माता गायत्री प्रसन्न होती हैं।

ऐसे अनेक साधकोंको मैं जानता हूँ जो वर्षोंसे ध्यान करनेकी चेष्टा करते हैं, परन्तु उनसे मूर्ति ही नहीं बँधती। कभी कोई अंग दीख जाता है तो कभी कोई, सो भी पत्थर-सरीखा जड। कईको तो नींद आ घेरती है और वे अज्ञान-समाधिमें मग्न हो जाते हैं। इसके कई कारण हैं—श्रद्धा और प्रेमकी कमी है, लगनका अभाव है, परन्तु साथ-ही-साथ ध्यानकी पद्धति न जानना भी एक कारण है। इस विषयके ग्रन्थोंमें इष्टदेवके ध्यानके पूर्व और भी कई वस्तुओंके ध्यानका वर्णन आता है जो कि इष्टदेवकी लीलासे सम्बद्ध है। मान लें कि किसीको अपने हृदयमें श्रीकृष्णका ध्यान करना है, यदि वह पहले ही श्रीकृष्णका ध्यान करने लगता है तो श्रीकृष्ण उसके हृदयमें नहीं आते। बहुत हठ करनेपर वही चित्र जो कि उसने देखा है या वही भावना जो कि उसने सुन रक्खी है उसके सामने आ जाती है। मुरली मुँहमें लगी है तो लगी ही रहती है, वहाँसे हटती नहीं, मानो श्रीकृष्ण अपना हाथ कभी हिलाते ही नहीं। इस प्रकारका ध्यान भी उपयोगी है, परन्तु इसमें उतने आनन्दका अनुभव नहीं होता। श्रीकृष्णके ध्यानसे पूर्व उनके लीलाक्षेत्रका ध्यान होना चाहिये। वृन्दावन हो, यमुनाका तट हो, कदम्बका वृक्ष हो, गौएँ हों, ग्वाल-बाल उनकी प्रतीक्षामें हों और साधक उनके लिये तड़फड़ा रहा हो; इसी छटपटीमें हँसते

*स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात् स्वाध्यायमभ्यसेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥

हुए, खेलते हुए, उछलते हुए, पीताम्बर फहराते हुए, कभी गाते हुए, कभी बाँसुरी बजाते हुए श्रीकृष्ण आ जायँ; बस, ध्यान हो जाय।

तन्त्रोंमें पहले हृदयमें न्यास करनेका विधान है। पहले हृदयकमलपर द्वादशकलात्मक सूर्य, षोडशकलात्मक चन्द्रमा और दशकलात्मक अग्नितत्त्वका न्यास किया जाता है; यह तत्त्वन्यासका एक अंश है। इसके बाद पीठन्यास होता है जिसमें क्रमशः आधारशक्ति, प्रकृति, कूर्म, अनन्त, पृथ्वी, क्षीरसमुद्र, श्वेत द्वीप, मणिमण्डप, कल्पवृक्ष, मणिवेदिका और रत्नसिंहासनका न्यास किया जाता है। इनकी स्थापना करते-करते साधक एक दूसरे ही लोकमें चला जाता है, बाह्यविस्मृति हो जाती है और वहाँ वह बड़ी उत्सुकतासे अपने प्राणोंके प्राण प्रियतम प्रभु श्रीकृष्णके लिये व्याकुल हो उठता है। एकाएक उसके सामने गोपी-मण्डल या गोपमण्डलके साथ भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हो जाते हैं और वह ध्यानमग्न हो जाता है। वह अपने प्रभुकी लीलामें सम्मिलित होकर उनकी सेवा करके कृतकृत्य हो जाता है। इस प्रकार अपने-अपने इष्टदेवका ध्यान अलग-अलग होता है।

ध्यान करनेवालेको ऐसा सङ्कल्प रखना चाहिये कि आज मैं जो ध्यान करने जा रहा हूँ वह कभी भंग नहीं होगा, आज मैं सर्वदाके लिये अपने प्रभुकी सन्निधिमें जा रहा हूँ। एक घण्टे या दो घण्टे बाद अमुक काम करनेके लिये जाना है, तबतक ध्यान तोड़ दूँगा, ऐसी वासना लेकर जो ध्यान करने बैठता है, वह अन्तर्देशमें प्रवेश करनेमें असमर्थ ही रहता है। यदि इतना ही समय हो तो यह दृढ़ सङ्कल्प करना चाहिये कि इसके अन्दर तो कोई दूसरी बात मनमें आने ही नहीं देंगे। ध्यानके साधकके लिये सम्बन्धकी भी बड़ी आवश्यकता है, सम्बन्धियोंसे ही प्रेम करनेकी हमारी आदत पड़ गयी है। भगवान् गुरु हैं, स्वामी हैं, सखा हैं, माँ-बाप हैं, बालक हैं और अपने पति हैं, इनमेंसे कोई-सा सम्बन्ध जोड़कर प्रेमके साथ उनका स्मरण करना चाहिये; स्मरण ही गाढ़ा होकर ध्यान बन जाता है।

यह तो ध्यानका एक रूप है; चाहे जिस प्रकारका ध्यान करना हो, सन्ध्याकी प्रत्येक क्रिया उसके निकट पहुँचा देती है। सभी प्रकारके ध्यान अन्तःकरणकी शुद्धिसे ही सम्भव हैं और उसके लिये सन्ध्यासे बढ़कर और कोई साधन नहीं है। हमारे पूर्वज ऋषियोंने बड़ी कृपा करके हमारे साथ यह पवित्र क्रिया जोड़ दी है और ऐसी पद्धति बना दी है कि चाहे सकाम-से-सकाम पुरुष क्यों न हो, उसे सन्ध्या तो निष्कामभावसे करनी ही पड़ेगी। जहाँ हमारे सारे कर्म कामनाओंसे दूषित हो गये हैं, वहाँ एक सन्ध्या ही निष्कामकर्मके रूपमें बची है; इसको न करनेसे बड़ा पाप बतलाया गया है। यहाँतक कहा गया है कि जो यज्ञोपवीतधारी बारह दिनोंतक लगातार सन्ध्या नहीं करता वह पतित हो जाता है— उसका किसी भी वर्णाश्रमोचित क्रियामें अधिकार नहीं रहता। इसलिये प्रत्येक द्विजातिको श्रद्धा और प्रेमके साथ सन्ध्योपासना करनी ही चाहिये।
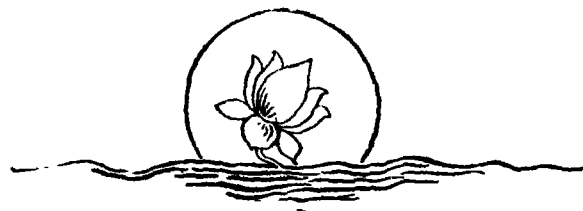
कामके पत्र

(१)

सेवा-धर्म

आपका कृपापत्र मिला था। मैं स्वभावसे ही पत्रादि लिखनेमें प्रमाद कर जाता हूँ, इधर बाढ़पीड़ितोंकी सेवाका कुछ काम भी रहा। इसीसे पत्र नहीं लिख पाया। 'सेवा' शब्द ठीक है या नहीं, निश्चय नहीं होता। बहुत बार मनुष्य दूसरेकी सेवा करने जाकर उसकी सेवा तो नहीं करता, वरं उसीको अपनी सेवामें लगा लेता है। सेवा तो वही है, जिसमें बदला पानेकी भावना न हो, जिसकी सेवा की गयी उसका इसलिये कृतज्ञ हुआ जाय कि उसने हमारी सेवा स्वीकार की, भगवान्‌की दया मानी जाय कि उन्होंने सेवाके कार्यमें हमको नियुक्त किया। वस्तुतः जिसकी हमने सेवा की, उसकी सेवा तो होती ही; क्योंकि मनुष्यको जो कुछ भी भला-बुरा फल प्राप्त होता है, उसका कारण किसी-न-किसी रूपमें पहलेसे तैयार रहता है। कार्यके पहले कारण होना ही चाहिये। भगवान्‌ने किसीकी भलाईमें हमें निमित्त बनाया, यह उनकी कृपा है। यथार्थमें जिन वस्तुओंसे हमने किसीकी सेवा की वे वस्तुएँ भी तो भगवान्‌की ही थीं, जिनकी सेवा की वे भी तो भगवान्‌के स्वरूप हैं और जिस प्रेरणासे सेवा हुई उस प्रेरणाके देनेवाले और सेवा करनेवाले हमारे इस स्वरूपको अनुप्राणित करनेवाले, तथा आत्मरूप देकर इसे प्रकट करनेवाले भी तो भगवान् ही हैं। फिर हम किसीकी सेवा करनेका अलग अभिमान करनेवाले कौन? जो कुछ हुआ, सब श्रीभगवान्‌की लीला हुई। भगवान्‌ने ही कृपा करके हमें शुद्ध प्रेरणा करके और सेवाके योग्य वस्तुएँ प्रदान करके सेवामें निमित्त बनाया। सेवा बातोंमें नहीं होती। सेवा तो मनकी चीज है। सेवाकी दूकान न खोलकर जो चुपचाप सच्चे मनसे सेवा करना है वही वास्तविक सेवा है। सेवामें कृतज्ञता है, अहसान नहीं है; आत्मतृप्ति है, अभिमान नहीं है; आनन्द है, विषाद नहीं है; त्याग है, ग्रहण नहीं है; और प्रेम है, दिखावट नहीं है। जहाँ केवल सेवाका विज्ञापन है, सेवा करानेवालेपर अहसान है, अपने मनमें अभिमान है, बदलेमें कुछ पानेकी इच्छा या आकांक्षा है, वहाँ शुद्ध सेवा नहीं है।

याद रखिये, अन्तर्यामी भगवान् हमारे हृदयको देखते हैं, शब्दोंकी छटाको नहीं। इसलिये मनुष्यको बहुत बोलनेवाला न बनकर चुपचाप काम करनेवाला बनना चाहिये। वाणी और आचरण दोनोंमें सत्य होना चाहिये। जहाँ बातें अधिक होती हैं, वहाँ सत्य छिप जाता है। सत्यका प्रकाश निरन्तर रहना चाहिये। तभी सच्ची सेवा बन सकती है। हमलोगोंकी बाढ़-पीड़ितोंकी 'सेवा' में यह सत्य है या हमारे व्यक्तित्वका विज्ञापन, इस बातका निर्णय भगवान् ही कर सकते हैं। अस्तु!

आनन्दका स्वरूप

आपने सदा आनन्दमें रहनेका उपाय पूछा सो बड़ी अच्छी बात है। आनन्दमें रहनेका उपाय जाननेसे पहले आनन्दका कुछ स्वरूप जान लेना आवश्यक है। आनन्द भगवान्‌का स्वरूप है। किसी कामनाकी पूर्ति होनेपर क्षणभरके लिये जो आनन्द प्राप्त होता है, वह आनन्द नहीं है, वह तो आनन्दाभास है, क्योंकि वह विषयजन्य है। वह चित्तका एक विकार मात्र है जो विषयके साथ इन्द्रिय-का संयोग होनेपर प्राप्त होता है। वह आनन्द नहीं है, उसे सुख कह सकते हैं। आनन्द सुख-दुःखसे

अतीत है। आनन्द स्वतन्त्र है, उसका प्रकाशक कोई निमित्त नहीं है; वह आनन्द शुद्ध है, निरञ्जन है, नित्य है, सत् है, और स्वप्रकाश है; चेतन है, अखण्ड है, एक-रस है, सम है, सर्वत्र है, सनातन है, अशब्द-अस्पर्श-अरूप और अव्यय है, बोधस्वरूप है, एक है; उस आनन्दमें न सजातीय-विजातीय भेद है, न स्वगत भेद है, न किसी प्रकारका अङ्गाङ्गिभाव या भोक्ता-भोग्य-भाव है। वह केवल आनन्द है। 'एकमेवाद्वितीयम्' है। उसमें न अशान्ति है, और न विक्षेप है; वह नित्य शान्त, समाहित और स्निग्ध है। वह असीम है और अपार है; उसमें उदय और अस्त नहीं है—उत्पत्ति और विनाश नहीं है—वह सान्त नहीं है, अनन्त है! वह आनन्द निर्बाध है। उसमें तू-मैं और तेरे-मेरेका भेद नहीं है। उसमें आदि-मध्य-अन्त, सृष्टि-स्थिति-संहार, भूत-भविष्यत्-वर्तमान, दृश्य-द्रष्टा-दर्शन नहीं हैं। वही 'तू' है, वही 'मैं' है, वही सब कुछ है; साथ ही वह 'तू' भी नहीं है, 'मैं' भी नहीं है, वह कुछ भी नहीं है। है केवल आनन्द, परम आनन्द, अपार आनन्द, अमर आनन्द, महान् आनन्द, शान्त आनन्द, सत् आनन्द, चित् आनन्द, आनन्द-ही-आनन्द, आनन्द-ही-आनन्द!

उस आनन्दमें अस्ति-नास्तिका भेद नहीं है, दोनों ही उसमें हैं, दोनों ही उससे हैं, वही दोनों है और दोनोंसे ही परे है। प्रकाश-अन्धकार, ज्ञान-अज्ञान, विद्या-अविद्या, अगुण-सगुण, सुख-दुःख, लाभ-हानि आदि परस्परविरुद्ध सभी धर्मोंका वही आधार है। उसीमें और उसीसे इन सबका अस्तित्व व्यक्त होता है। ऐसा होनेपर भी उसकी महिमामें, उसकी निरञ्जनता-में कोई बाधा नहीं पहुँचती; वह सदा ही एकरस है। जिन परस्परविरुद्ध धर्मोंका व्यक्त होना कहा जाता है, वे भी वस्तुतः हैं नहीं; यह तो उसकी लीला है। है केवल वही और वही आनन्द ही। वह आनन्द आप ही अपनेसे पूर्ण है, उसी नित्य सनातन आनन्दसे ही बाह्य सभी आनन्दोंका प्रकाश है। वही सबका हेतु है, सभी उसीसे जन्य हैं। परन्तु वह स्वयं नित्य अहैतुक है और अजन्य है। वह भूमा है, अल्प नहीं है। वह आनन्द ही आपका अपना स्वरूप है, उसी आनन्दसे आपका अस्तित्व है; आप उसी आनन्दसे आये हैं, उसी आनन्दमें हैं, और उसी आनन्दमें प्रविष्ट होंगे। आप उस आनन्दसे कभी पृथक् हो ही नहीं सकते, क्योंकि वही आपका अपना स्वरूप है! फिर उसका वर्णन भी कौन करे और कैसे करे! आप आनन्दकी खोजमें हैं, आनन्द चाहते हैं, और आनन्दप्राप्तिका उपाय पूछते हैं, यह ठीक ही है। सभी जीव ऐसा ही चाहते हैं—भोगसे हो या त्यागसे, रागसे हो या वैराग्यसे, सृजनसे हो या संहारसे, कैसे भी हो प्राप्त होना चाहिये आनन्द। जीवकी यही सहज आकांक्षा है। जीव अनादि कालसे इसी खोजमें लगा है; परन्तु वह बाहर जितना ही खोजता है उतना ही उसे निराश होना पड़ता है, आनन्दके बदले विषाद ही मिलता है। क्योंकि आनन्द बाहर है नहीं, आनन्दका अटूट खजाना तो अंदर है। बस, एक बार हिम्मत करके पर्दा हटा देना चाहिये, फिर आनन्द-ही-आनन्द है। पर्दा हटते ही अंदरका वह अनन्त आनन्द समस्त जगत्में फैल जायगा। फिर दुःख-दैन्यका नाश हो जायगा। शोक-विषाद मर जायँगे। फिर दीखेगी सर्वत्र आनन्दकी छटा, सर्वत्र हँसी-खुशी, सर्वत्र सुख-शान्ति। सर्वत्र—अखिल विश्व आनन्दकी अनूप सुषमासे सुशोभित हो उठेगा! सब ओर आनन्दमयका आनन्द-ही-आनन्द दिखायी देगा। फिर जगत्में दिखायी देगा सभी सुन्दर, सभी मधुर, सभी स्निग्ध, सभी ज्योत्स्नामय; इस अनन्त असीम आनन्दकी अजस्र धारामें समस्त विश्व बह जायगा। भगवान्का बतलाया हुआ यह 'दुःखालय'

और 'अशाश्वत' जगत् इस सच्चिदानन्दमयी आनन्द-धारामें बहकर नित्य आनन्दमय हो जायगा।

इस आनन्दकी प्राप्तिका उपाय है निरन्तर आनन्दका विचार, आनन्दका ध्यान। नित्य आनन्दपर जो अज्ञानका पर्दा पड़ा है ज्ञानरूपी तलवारसे उसे काट डालना। यह आनन्द कहींसे आवेगा नहीं। यह तो है ही। आनन्दकी नित्य सन्निधिमें रहनेपर भी, आनन्दकी ही सन्तान होकर भी, जीव इस आनन्दसे वञ्चित है। यही तो मोह है। परन्तु आनन्द-से निकला हुआ, आनन्दकी खोजमें लगा हुआ जीव तबतक तृप्त नहीं हो सकता जबतक कि वह जीवत्वके पर्देको फाड़कर अपने स्वरूप आनन्दमय ब्रह्मत्वको प्राप्त न कर ले। वह तो प्राप्त ही है; प्राप्तिमें जो अप्राप्तिका भ्रम है, सत्संग, वैराग्य, विचार, ध्यान और अटूट श्रद्धाके द्वारा उस भ्रमको मिटा देना है। फिर आनन्द-ही-आनन्द है! क्योंकि वही असलमें है।

(२)

भोग-तृष्णामें दुःख

तुम्हारा पत्र मिला। भाई, दुःखोंसे घबड़ाओ मत। दुःख-कष्टोंके आघातसे यदि चेतना खो दोगे तो बड़ी हानि होगी। मनुष्यजीवन ही व्यर्थ हो जायगा। दुःख-दैन्य और आधि-व्याधि भी तो भगवान्‌की ही सृष्टि है; विश्वास रक्खो, हमारे मंगलके लिये भगवान्‌ने इनको रचा है। इनकी चोटमें भगवान्‌के कोमल करस्पर्शके सुखका अनुभव करो-चपत करारी है परन्तु है तो प्यारेके हाथकी। वह स्नेहसे ही मारता है, क्योंकि वह कभी स्नेहरहित निर्दय हो ही नहीं सकता। हम दिन-रात विषय-चिन्तन करते हैं, विषयोंके पीछे पागल बने हुए हैं, विषयोंके नाश और विषय-भोगोंके अभावको ही दुःख-कष्ट समझते हैं; इसीसे सदा दुःखोंके तापसे तपते रहते हैं। यदि भगवच्चिन्तन करने लगें, आनन्दमय भगवान्‌का ध्यान करने लगें तो यह विषयोंका अभाव ही हमारे लिये सुखकर हो जायगा। फिर संसारका कोई भी दुःख आनन्दमयके ध्यानमें प्रशान्त हुए हमारे चित्तमें क्षोभ उत्पन्न नहीं कर सकेगा।

भाई, यह मनुष्य-जन्म धन कमाकर भोग भोगनेके लिये नहीं है; संसारमें तुम इसलिये मनुष्य बनाकर नहीं भेजे गये हो कि तुम दिन-रात केवल विषय-भोगोंके बटोरनेकी चिन्तामें लगे रहो, क्षण-क्षणमें विषयके नाशकी भावनासे दुःखी और विषयप्राप्तिके संकल्पसे सुखी होते रहो, और अपने जीवनको इन कल्पित दुःख-सुखोंकी तरंगोंके आघातसे चूर-चूर करके अन्तमें हाथ मलते, पछताते, रोते मनुष्यजीवनसे हाथ धोकर चले जाओ। यह जीवन तो मिला है तुम्हें भगवान्‌को पानेके लिये। जगतके सारे दुःख-सुखोंमें जीवनके इस उद्देश्यको कभी न भूलो। यहाँके दुःख वस्तुतः हैं ही क्या, जिनमें तुम इतना घबड़ा रहे हो? जिसको तुम दुःख कहते हो वह विषयोंका अभाव ही तो है, परमात्माको चाहनेवाले साधक तो हँसते-खेलते जान-बूझकर विषयोंका सर्वथा त्याग करके सुखी हुआ करते हैं। मान-सम्मानके मोहमें मत फँसो। धनियोंके भोगों, महलों और मोटरोंकी ओर देखकर दिल न ललचाओ, उनके-जैसे बनकर उनके बीच बैठनेकी इच्छा न करो। इसमें अपमान, असम्मान या लाञ्छनकी कौन-सी बात है? याद रक्खो, संसारके मान-सम्मानसे मण्डित, पर भगवान्‌को भूले हुए विषया-सक्त धनीकी अपेक्षा अपमानित और लाञ्छित वह दरिद्र बहुत ही उत्तम है जो सदा अपने चित्तको भगवान्‌में लगानेकी चेष्टा करता है और भगवान्‌का भजन करता है। याद रक्खो, वह विषयासक्त धनी नरकोंकी आगमें जलेगा और वह गरीब भगवान्‌रूपी स्नेहमयी जननीकी सुख-शान्तिभरी गोदका लाड़ला

शिशु होगा। तुम इन दोनोंमें किस स्थितिको पसंद करते हो? फिर क्यों दुखी होते हो धनके अभावमें? क्यों अपनेको अपमानित समझते हो बहुत शानसे न रह सकनेमें? क्यों शर्माते हो गरीबी हालतमें रहने और सीधे-सादे जीवनमें? तुम समझदार हो, इस मोहको छोड़ दो। भगवान्‌ने तुमपर कृपा की है, जो धनमदसे तुम्हें मुक्त कर दिया है। अब निर्द्वन्द्व होकर सुखसे भगवान्‌का भजन करो, तुम्हारा मंगल होगा। विश्वास करो, भगवान्‌का मंगलमय हाथ सदा ही तुम्हारे मस्तकपर है। विश्वासके साथ भजन करते रहोगे तो कुछ दिनोंमें इसका स्वयं अनुभव करोगे!

धनी बनने, धनियोंका-सा खर्चीला जीवन बिताने, और धनियोंके गिरोहमें बैठने-उठनेकी लालसाने ही असलमें तुम्हें दुखी बना रक्खा है। नहीं तो—रोटी मिलती ही है, कपड़े तन ढकनेको मिल ही जाते हैं, सोने-बैठनेको जमीन है ही। फिर और क्या चाहिये? धनी लोग क्या धन होनेके कारण आध पाव अन्नके बदले दो-चार सेर खाते हैं? अथवा क्या वे साढ़े तीन हाथकी जगह दस-बीस हाथ जमीनपर सोते हैं? क्या वे रुपयोंकी गठरी बांधे साथ लिये फिरते हैं? खाते-पीते उतना ही हैं, सोते उतनी-सी जमीनपर ही हैं। शरीर भी उनके रुपयोंसे लदे नहीं होते। फिर तुम्हारी-उनकी स्थितिमें क्या अन्तर है? हाँ, इतना अवश्य है, उनमें धनका अभिमान है, अपनेसे बड़े धनियोंसे ईर्ष्या है; और तुममें धनके अभावका विषाद है और तुम अपनेको दुखी मानते हो। दुखी तो वे भी हैं, क्योंकि वे भी अपनी स्थितिमें सन्तुष्ट नहीं हैं। भाई! यह मोह छोड़ दो—भजन करके जीवनको सार्थक करो। मोटा खाना, मोटा पहनना, गरीबीसे रहना, सन्तोष हो तो महान् सुखकर है और भगवान्‌की प्राप्तिमें बड़ा ही सहायक है।

भगवान्‌के लिये बड़े-बड़े राजाओंने संन्यास लिया था, तुमपर तो भगवान्‌की कृपा है जो तुम्हारे विषय-भोग अपने-आप ही कम हो गये हैं। जीवननिर्वाहकी चिन्ता विश्वम्भरपर छोड़ दो—बने जितना निर्दोष कर्म करते रहो—जीवननिर्वाह हो ही जायगा। घबड़ाओ नहीं। भगवान्‌पर भरोसा रखनेवाले कभी इसकी चिन्ता नहीं करते। वे तो भगवच्चिन्तन ही करते हैं। उनके लौकिक-पारलौकिक योगक्षेमको भगवान् वहन करते हैं। गीताके इस श्लोकको याद करो—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
(गीता ९। २२)

भगवान् कहते हैं—जो अनन्य भक्त मुझको निरन्तर चिन्तन करते हुए मेरा भजन करते हैं उन नित्य मुझमें लगे हुए भक्तोंका योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ।

उस सुखकी कभी इच्छा न करो जो भगवान्‌को भुला दे, और उस दुःखका स्वागत करो जो भगवान्‌का स्मरण करावे—

सुखके माथे सिल पड़ो जो नाम हृदैसे जाय।
बलिहारी वा दुःखकी जो छिन छिन राम रटाय॥

सच्ची बात तो यह है कि भगवान्‌को भुलाकर भोगोंसे कभी मनुष्य सुखी हो ही नहीं सकता। भोग तो दुःख ही पैदा करते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

विषयोंके साथ इन्द्रियोंका संयोग होनेपर उत्पन्न होनेवाले जो ये भोग हैं वे निश्चय ही दुःखके हेतु और आदि-अन्तवाले हैं, हे अर्जुन! बुद्धिमान् पुरुष उनमें प्रीति नहीं करता।

सारा दुःख इन भोगोंकी तृष्णामें ही है; अतएव भाई, शान्तिपूर्वक विचार करो और भोगतृष्णाका नाश करके भगवान्‌का भजन करो । महाभारतमें कहा है—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥

संसारमें जो भोग-सुख हैं और स्वर्गादिके महान् देव-सुख हैं वे कोई-से भी तृष्णा-नाशके सुखके सोलहवें हिस्सेके बराबर भी नहीं हैं ।

(३)

कल्कि-अवतार

आपका पत्र मिला, उत्तर लिखनेमें देर हुई, इसके लिये क्षमा करें । कल्कि-अवतार अभी हुआ या नहीं, इस सम्बन्धमें मुझे कुछ भी पता नहीं । पापमय कलियुगकी समाप्ति हो और श्रीभगवान्‌का मङ्गलमय अवतार हो और हमलोग उनके दर्शन करके सफल-जीवन हों, यह कौन नहीं चाहेगा ? परन्तु भगवान्‌के अवतारके लिये शास्त्रार्थकी और इतने विज्ञापनकी भी कोई आवश्यकता है, यह बात समझमें नहीं आती । भगवान् यदि प्रकट हो गये हैं तो अपने-आप ही जब उचित समझेंगे, अपना कल्याणमय प्रकाश फैला देंगे । रही कलियुगके बीतनेकी बात, सो इस सम्बन्धमें भी अधिकांश शास्त्रज्ञ विद्वानोंका तो यही मत मालूम होता है कि कलियुगकी समाप्तिमें अभी बहुत विलम्ब है । यह माना जा सकता है कि एक महासंहार होनेपर दो हजार विक्रम संवत्‌के बाद जगत्‌में कुछ सात्त्विकता आवे, और अशुभ ग्रहकी महादशाके अन्तर्गत शुभग्रहकी अन्तर्दशाके समान कुछ समयतक जगत्‌में आंशिक सुख-शान्तिका विस्तार हो । हाँ, यह निश्चय है कि सनातनधर्म कभी मर नहीं सकता । क्योंकि वह सनातन है । भगवान्‌का धर्म है । भगवान् अनन्त हैं, इसलिये उनका धर्म भी अनन्त है । परन्तु कल्कि-अवतारके रूपमें भगवान् अवतीर्ण हो चुके हैं और शीघ्र ही वे प्रकट होकर सनातनधर्मका पुनरुद्धार कर देंगे, यह बात कुछ गड़बड़-सी मालूम होती है । कल्कि-अवतारके कम-से-कम पाँच वर्णन तो मेरे सामने लिखित आ चुके हैं,—इनमें कौन-सा अवतार सत्य है, इसपर मैं कुछ भी नहीं कह सकता । आप स्वयं ही विचार लें । इन पाँचोंका विवरण संक्षेपमें इस प्रकार है—

१ प्रसिद्ध मुसल्मान नेता सर आगाखाँको आगाखानी पंथवाले 'कल्कि-अवतार' मानते हैं और उन्हें 'निष्कलंक' कहते हैं । इस विषयपर गुजराती भाषामें साहित्य भी प्रकाशित हो चुका है ।

२ दक्षिण हैदराबादके एक मौलाना मोहम्मद सिद्दीक दीनदार (चन्द विश्वेश्वर) प्रकारान्तरसे अपनेको 'कल्कि-अवतार' प्रसिद्ध करते हैं । उन्होंने 'सरवरे आलम' नामक एक पुस्तिका छपायी है, जिसमें लिखा है कि 'भागवतमें जिसको 'कल्कि-अवतार' कहा था वह हजरत मोहम्मद था और वह शाल्मलद्वीप (अरब) में हो चुका है ।'

३ फाजिलकाके पण्डित राजनारायणजी शास्त्री कलियुगका अन्त बतलाते हैं और कहते हैं कि संभल गाँवमें संवत् १९८१ में कल्कि-अवतार हो चुका है । पैदा होते ही उस बालकको परशुरामजी महेन्द्र पर्वतपर उठा ले गये हैं जो संवत् १९९९ में ऋषि-महर्षियोंसहित बंगालमें प्रकट होंगे और दुष्टोंका संहार करेंगे । यह सब वृत्तान्त भगवान् मुझसे कह गये हैं············।

४ अहमदाबादके श्रीहरेराम शर्मा कहते हैं कि 'संभल ग्राम चीन देशसे उत्तरमें है, पूर्वोत्तरमें मंचूरिया है, उसके नीचे खाडीलिया शिखर है, वहाँ बालूका विशाल मैदान है । वहाँ बाहरका कोई भी मनुष्य प्राणी जा नहीं सकता—वही संभल प्रदेश है । इस

संभलमें तपस्वी विष्णुयशजी पिता और सुमति देवी मातासे सं० १९८१ वैशाख शु० द्वितीयाको कल्कि-जीका जन्म हो चुका है। वे सं० १९९९ वैशाख शु० द्वितीयाको पृथ्वीपर पधारेंगे।'

५ एक भक्त देवी हमारे एक परिचित स्वामीजी महाराजको स्पष्ट शब्दोंमें कल्कि-अवतार घोषित करती हैं और इसका प्रचार भी करना चाहती हैं।

ये पाँच तो लिखित वर्णन हैं, इनके अतिरिक्त कई और भी अवतार बतलाये जाते हैं। मेरी बुद्धि तो इस विषयमें कुछ भी काम नहीं करती कि इनमें किनको वास्तविक कल्कि-अवतार माना जाय।

इनमें मुसल्मानोंके प्रचारका तरीका, भक्तोंकी सच्ची भावना, शिष्योंकी श्रद्धा, कल्पनाकी सृष्टि, नाम कमानेकी इच्छा और अपना सरल विश्वास आदि अनेकों कारण हो सकते हैं। कुछ कहा नहीं जा सकता।

मेरी राय तो यह है कि इस बखेड़ेमें न पड़कर हमलोगोंको शुद्ध मनसे भगवान्का भजन करते रहना चाहिये। भगवान् वास्तवमें अवतीर्ण हुए होंगे तो स्वयं ही प्रकट हो जायँगे। व्यर्थमें शास्त्रार्थ और विवादमें पड़कर अपनी साधनामें विघ्न नहीं डालना चाहिये। भगवान्के स्वागतकी तैयारी तो सदा ही कर रखनी चाहिये। वह तैयारी है हमारे हृदयके शुद्ध विचार, उच्च सात्त्विक भाव और शुद्ध सात्त्विक कर्म। जिसका हृदय शुद्ध होगा, विचार और भाव शुद्ध होंगे, कर्म शुद्ध और सात्त्विक होंगे तथा हममेंसे जो अपना प्रत्येक क्षण व्याकुलताके साथ भगवान्की प्रतीक्षामें बितावेगा, उसके लिये तो भगवान्का अवतार किसी भी समय हो सकता है। कलियुग रहे या न रहे। इस भगवद्दर्शनमें कलियुग बाधक नहीं होता। भागवतके इस श्लोकके अनुसार आपको तो निरन्तर भगवान्की प्रतीक्षामें ही रहना चाहिये—

अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥
(श्रीमद्भा० ६। ११। २६)

जैसे घोंसलेमें पड़े हुए बिना पाँखके पक्षियोंके बच्चे माताको, रस्सीमें बँधे हुए भूखे बछड़े स्तन पीनेके लिये गौको, और दूर देश गये हुए पतिके विरहमें खिन्न प्रिय पत्नी बड़ी ही व्याकुलताके साथ पतिको देखनेकी इच्छा करती है, वैसे ही हे कमलनयन! मेरा मन तुम्हें देखनेकी इच्छा करता है।

(४)

प्रेमके नामपर पाप

पत्र मिला। आपने जो एक घटना लिखी और उसपर मेरी सम्मति चाही यह आपकी कृपा है। मेरी समझसे तो वह विदुषी बहिन और आपके पढ़े-लिखे मित्र दोनों ही बड़ी भारी गलती कर रहे हैं। सच्चे प्रेममें देहका आकर्षण क्यों होने लगा? यदि यथार्थ प्रेम है तो दोनोंमें भाई-बहिनका पवित्र सम्बन्ध रहना चाहिये। एक जमाना था, जब राजपूत देवियाँ राखी भेजकर किसीको भी अपना भाई वरण कर लेती थीं और वह भाई रक्षाबन्धनके पवित्र बन्धनमें बँधकर उस बहिनके लिये अपने प्राणोंको न्योछावर कर डालता था। किसी विवाहिता स्त्रीके बाह्य सौन्दर्यको देखकर उसपर आसक्त हो जाना, और किसी पुरुषकी युनिवर्सिटी-से मिली हुई डिग्रियोंको और उसके ढंग-ढाँचेको देखकर अपनी कुलमर्यादा, शील, सदाचार, लज्जा और सबसे बढ़कर महत्त्वकी वस्तु सतीत्वको नष्ट करनेपर उतारू हो जाना कदापि प्रेम नहीं है, यह तो निरी पाशविकता है। दुःख है कि हमारे पढ़े-लिखे नवयुवक और

नवयुवतियाँ आज धर्मकी, सदाचारकी और परलोककी कुछ भी परवा न करके मोहवश अपनेको भीषण नरकाग्निमें झोंक रहे हैं। आप अपने मित्र और उन विदुषी बहिनको समझा दीजिये कि वे इस पापबुद्धिका त्याग कर दें, और प्रेमके नामपर मुझ-जैसे व्यक्तिसे अपने कुविचारोंका समर्थन प्राप्त करनेकी चेष्टा न करें। जिस भारतमें पवित्र सतीधर्मको स्त्रियाँ अपना परम गौरव समझती थीं और सतीत्वकी रक्षाके लिये हँसते-हँसते धधकती आगमें सहर्ष कूद पड़ती थीं, उसी भारतकी विदुषी कहानेवाली नवयुवतियाँ आज अपने सारे गौरवको खोकर परपुरुषोंके मोहमें फँसनेको पवित्र प्रेम बतलाकर प्रेम शब्दको कलंकित कर रही हैं, यह बड़े ही परितापका विषय है।

आपके पत्रमें यह पढ़कर कि और भी कई कुमारी और विवाहिता विदुषी बहिनें ऐसा ही विचार कर रही हैं— बहुत ही खेद हुआ। क्या विदुषी होनेका यही परिणाम है? भगवान् ऐसी विद्या और शिक्षासे आर्यदेवियोंको बचावें!

आपने ये बातें बहुत ही सद्भावसे पूछी हैं, यह ठीक है; परन्तु मैं इसके सिवा इन बातोंका दूसरा उत्तर नहीं दे सकता। मेरा तो विश्वास है कि इन सारी पाप-वृत्तियोंका परिणाम बहुत ही बुरा होगा। आत्माकी नित्यता, परमात्माके न्याय, परलोकके सुख-दुःख-भोग एवं जन्मान्तरमें विश्वास करनेवाला होनेके नाते मैं यह कह सकता हूँ; ऐसा करनेवाले, करानेवाले और ऐसी बातोंका समर्थन करनेवाले सभी जन्मान्तरमें बड़ा भारी दुःख उठावेंगे।

याद रखिये, यह प्रेम नहीं है, महापातक है। और इससे बड़ी सावधानीसे बचना चाहिये। जो भाई इस कामके लिये तैयार हुए हैं, आपने लिखा है वे मुझमें और मेरी बातोंमें श्रद्धा रखते हैं, सो यह उनकी कृपा है। मेरा उनसे या आपसे कोई साक्षात् परिचय न होनेके कारण मैं तो कुछ नहीं कह सकता, परन्तु यदि मेरी बातमें जरा भी उनका विश्वास हो तो उन्हें तुरंत अपना विचार सर्वथा छोड़ देना चाहिये और प्रेम ही हो तो उसे पवित्रतम बनाकर उन्हें भाई-बहिन-के रूपमें रहना चाहिये। मैं तो कहूँगा कि शारीरिक कोई भी सम्बन्ध जोड़कर प्रेम रखनेकी अपेक्षा केवल आत्मासे आत्माका प्रेम रहना और भी निरापद, उत्तम और सराहनीय है। एक स्थानमें रहना, मिलना-जुलना और परस्पर प्रेमपत्रोंका व्यवहार करना कतई बंद कर देना चाहिये। दोनोंको अपने-अपने घरोंमें सन्तोष और सुखके साथ रहकर भगवान्‌का भजन करते हुए एक दूसरेकी सच्ची पारमार्थिक उन्नति चाहनी चाहिये, सच्चा प्रेम तो इसीमें है।

हमारी आर्यसंस्कृतिका तो यह आदेश है कि— कुमार-कुमारी वर-कन्याके निर्वाचनमें माता-पिताका ही अधिकार होना चाहिये। और इसीमें लाभ है। उत्तम विवाह और गृहस्थाश्रमकी सुख-शान्तिके लिये माता-पितापर ही यह भार रहना हितकर है। माता-पिताका अपनी सन्तानमें सहज स्नेह होता है, वे स्वाभाविक ही सन्तानका हित चाहते और वे उसके भविष्य-जीवनको सुखी देखना चाहते हैं। उनको अवस्थाकी अधिकताके कारण अनुभव भी विशेष होता है। इसलिये उनके द्वारा जो सम्बन्ध किया जायगा, उसमें केवल क्षणिक मोह नहीं होगा। उसमें वर-कन्याके कुल, शील, स्वास्थ्य, चरित्र, स्वभाव, घरकी आर्थिक स्थिति और धर्मभाव आदि सभीकी यथासाध्य जाँच पड़ताल होगी और धीरताके साथ कार्य सम्पन्न होगा। यद्यपि इसमें उनकी भूल भी हो सकती है और कोई-कोई माता-पिता स्वार्थवश इन बातोंका विचार नहीं भी करते, परन्तु यह अपवादरूप है। सन्तानके प्रति स्वाभाविक स्नेह प्रायः

उन्हें सन्तानका अहित चिन्तन करनेसे रोकता ही है। अतएव माता-पिताके द्वारा जो वर-कन्याका निर्वाचन होता है, वह प्रायः निर्दोष और उत्तम होता है। उसमें क्षणिक आवेग नहीं है। केवल चमड़ीके रंगका परीक्षण नहीं है। परन्तु इसके विपरीत युवावस्थामें युवक-युवतियोंका जो अपने लिये कन्या-वरका निर्वाचन होता है, वह तो अधिकांशमें भूलभरा होता है; उनमें बड़ी उम्रका अनुभव नहीं है। युवावस्थाका जोश, कामवासना, इन्द्रियसुखकी लालसा, रूपका मोह, और जल्दबाजी आदि उनकी विचारशक्तिको ढक लेते हैं और वे फतिंगे बनकर रूपकी आगमें पड़कर भस्म हो जाते हैं। फिर आजकलके वातावरण और कालेजोंकी दूषित सहशिक्षाने तो बड़ी भयानक स्थिति उत्पन्न कर दी है। स्कूल-कालेजोंकी शिक्षाका परिणाम ही है जो उक्त विदुषी बहिन और आपके मित्र भाई इस प्रकार बहक रहे हैं। भला, जो अभीतक ससुराल गयी ही नहीं, जिसने पतिसे अभीतक बातचीत ही नहीं की, उसने कैसे जान लिया कि पति पढ़े-लिखे होनेपर भी उसके योग्य नहीं हैं, और स्कूलके ये पुराने मित्र उनके पति होने योग्य हैं। ससुराल जानेपर भक्ति-श्रद्धापूर्वक पतिसेवा करनेपर आपकी परिचिता विदुषी बहिनको यह अनुभव हो सकता है कि वे जिनको चाहती थीं उनकी अपेक्षा उनके पति कहीं अधिक सुयोग्य और सुशील हैं। फिर आर्यरमणी तो यह विचार भी कैसे कर सकती कि पति योग्य है या अयोग्य ? उसके लिये तो पति परमेश्वर ही है। पतिके सिवा दूसरा कोई पुरुष है ही नहीं—

उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥

माता-पिताने जो वर चुन दिया और भगवान्‌की इच्छासे जिनसे विवाह हो गया, उन्हींको जीवन अर्पण कर देना चाहिये। अर्पण तो हो ही चुका। मनमें जो कभी दूसरा भाव आता है, उसे निकाल देना चाहिये और आपके मित्रको परनारीसे साँपके जहरके समान परहेज करना चाहिये। बुरी नीयतसे जरा भी परस्त्री-का चिन्तन करना पाप है। और जो दूसरी कुमारी युवती बहिनें भी कुलमर्यादाको तोड़कर पिता-माताकी सम्मतिके विरुद्ध मनमाना वर खोजना चाहती हैं, उन्हें भी समझ रखना चाहिये कि इसमें बड़ा खतरा है। ऐसे स्वेच्छा-विवाहोंका परिणाम तलाक होता है। और हिन्दूशास्त्रों-की सत्यताके आधारपर यह कहा जा सकता है कि स्त्रीके लिये यह एक बड़ा पाप और उसके लिये भविष्य दुःखका महान् कारण है। उक्त विदुषी बहिनको भी, जो ऐसे महापातकका विचार करती हैं, सावधान कर देना चाहिये। मेरा यह पत्र उनके पास पहुँचा देना चाहिये। आपने उनके नाम-पते नहीं लिखे सो अच्छा किया, मुझे जाननेकी आवश्यकता भी नहीं है। आपने अपना नाम न लिखकर पत्रका उत्तर कल्याण-द्वारा चाहा, इसीसे कल्याणमें उत्तर छापा जा रहा है।

पूज्यपाद स्वामी श्रीएकरसानन्दजी सरस्वती

कालकी गति बड़ी प्रबल है। उसके अबाधित वेगके सामने देवता-असुर, सिद्ध-साधक, राजा-रंक कोई नहीं ठहर सकता। आगे-पीछे सभीको उसका ग्रास बनना पड़ता है। उसके मस्तकपर पाँव रखनेका साहस तो वे ही महानुभाव करते हैं जिन्होंने कालके काल श्रीभगवान्‌के अकुतोभय चरणकमलोंका अविचल आश्रय लेकर भगवान्‌की माया और उसके कार्योंसे सदाके लिये मुक्ति प्राप्त कर ली है। उनके लिये यह दृश्यमान प्राकृत जगत् होते हुए भी नहीं होता। नेत्रोंके निमेषोन्मेषके समान शरीरके जन्म-मरण भी उनके लिये परकीय व्यापारसे हो जाते हैं। जो लोग अज्ञानवश देहादिसे बँधे हुए हैं, उन्हें भले ही उनके जरा-मरणादि दिखायी दें किन्तु उनकी दृष्टिमें तो सारा प्रपञ्च भगवान्‌का दृष्टिविलास ही हो जाता है। उससे पृथक् उनके देहादिकी भी कोई सत्ता नहीं रहती, फिर उसके जरा-मरणादि विकारोंके लिये तो अवकाश ही कहाँ है!

इस प्रकार यद्यपि उनकी अपनी दृष्टिमें जन्म-मरणादिका कोई मूल्य नहीं रहता, तथापि व्यवहार-भूमिमें उनके पुण्य-शरीरद्वारा जिस समाजका उपकार होता है उसे तो उनका वियोग असह्य होता ही है। ऐसे सन्त समाजके प्राण होते हैं। अतः उनका वियोग किसी भी प्रकार समाजको वाञ्छनीय नहीं होता। तथापि कालगतिसे सभीको ऐसे कुअवसरोंका सामना करना ही पड़ता है। पूज्यपाद स्वामी श्रीएकरसानन्दजी महाराज ऐसे ही एक सन्त थे। उनके द्वारा एक बहुत बड़े समाजका आध्यात्मिक उपकार हो रहा था। खेद है कि गत आश्विन कृ० २ रविवारको उन्होंने अपना भौतिक शरीर त्याग दिया।

श्रीस्वामीजी महाराज महाराष्ट्रदेशीय ब्राह्मण थे। संन्यास लेनेके पश्चात् आपका अधिकांश समय जिला फर्रुखाबादके आस-पास ही व्यतीत हुआ था। आपने बहुत समयतक तत्परताके साथ योगाभ्यास किया था। आपके तपोमय जीवनसे आकृष्ट होकर उस प्रान्तके बहुत-से सत्संगी आपके भक्त हो गये। उन्हींकी प्रेरणासे आप कुछ वर्षोंसे लोकसंग्रहमें प्रवृत्त हो गये थे। आपके द्वारा फर्रुखाबाद, कानपुर, इटावा, मैनपुरी, हरदोई और सीतापुर आदि कई जिलोंमें भगवन्नामजप, श्रीरामचरितमानस और मादकद्रव्य-निषेधका बहुत अच्छा प्रचार हुआ है। यह काम सुसंगठित सत्संगसमितियोंद्वारा होता है। उक्त जिलोंमें ऐसी बहुत-सी समितियाँ हैं तथा उनके निरीक्षणके लिये नैमिषारण्य, फर्रुखाबाद, मैनपुरी, कानपुर, मियाँगंज (कन्नौज) आदिमें कई केन्द्रीय आश्रम भी हैं। आपके कई शिष्य बड़े अध्यवसायी और उत्साही कार्यकर्ता हैं। उनका सत्संगप्रेम और सेवाभाव सराहनीय है। आपके देहावसानसे समाजकी जो क्षति हुई है उसकी पूर्ति होनी यद्यपि बहुत कठिन है, तो भी हम आशा करते हैं कि आपके शिष्यगण अपने गुरुदेवके आदेशका अनुसरण करते हुए उनके आरम्भ किये हुए कार्यकी उत्तरोत्तर वृद्धि करनेका प्रयत्न करेंगे।

हिन्दू-नारियोंके लिये

वृद्धा माताकी शिक्षा

माताजीकी अवस्था सत्तर वर्षसे कम नहीं है। उन्हें जब देखिये, किसी काममें लगी हैं। कोई जाता है तो एक बार नेहभरी नजरसे देखकर मुस्करा देती हैं। कभी-कभी पूछ देती हैं—क्यों, कैसे आये ? प्रातःकाल एक मील जाकर गंगास्नान भी कर आती हैं। पूजाके दिनोंमें ठाकुरजीके लिये प्रसाद भी अपने हाथोंसे ही बनाती हैं। शिवरात्रिके दिन चौबीस घंटे लगातार काम करते मैंने अपनी आँखोंसे देखा है। दोपहरके बाद गाँवकी कई स्त्रियाँ उनके पास आ जाती हैं। वे हिन्दी न जाननेपर भी अपनी मातृभाषामें उनका उत्तर देती हैं। मैं उनका पता नहीं बताऊँगा—परन्तु बातें उनकी ही लिखूँगा।

प्रश्न—हम स्त्रियोंको किसकी पूजा करनी चाहिये ?

उत्तर-पूजा करने योग्य तो एकमात्र भगवान् ही हैं।

प्र०—भगवान्‌की किस मूर्तिकी पूजा करनी चाहिये ?

उ० स्त्रियोंके लिये तो भगवान्‌की मूर्त्ति दूसरी ही प्रकारकी निश्चित है। जैसे और लोगोंके लिये वैदिक और पौराणिक मन्त्रोंद्वारा भाँति-भाँतिकी मूर्तियोंमें भगवान्‌की प्रतिष्ठा—स्थापना होती है वैसे ही स्त्रियोंके लिये विवाहके समय 'वर' में भगवान्‌की प्रतिष्ठा होती है। कन्याका समर्पण वररूपी विष्णुको होता है।

वरोऽसौ विष्णुरूपेण प्रतिगृह्णात्वयं विधिः।

इसलिये विवाहित स्त्रियोंके लिये अपने पतिदेव ही भगवान् हैं। भगवान्‌की इसी मूर्त्तिकी उपासना करना स्त्रियोंका धर्म है।

प्र०—तब क्या स्त्रियोंको भगवान्‌की दूसरी मूर्तिकी पूजा नहीं करनी चाहिये ?

उ०—दूसरी मूर्तियोंकी पूजाका निषेध नहीं है। हाँ, किसी-किसी मूर्तिकी पूजाका तो निषेध भी है, परन्तु दूसरी मूर्त्तियोंकी पूजा भी पतिदेवकी प्रसन्नता और सुखके लिये ही करनी चाहिये। उनसे भी यही प्रार्थना करनी चाहिये कि पतिदेवके चरणोंमें मेरा विशुद्ध प्रेम हो। पूजा भी उसी देवताकी होनी चाहिये, जिसमें पतिदेवकी अनुमति हो। इसलिये पतिपूजा ही स्त्रियोंका प्रधान धर्म है।

प्र०—जो फल भगवान्‌की पूजासे मिलता है क्या वही फल पति-पूजासे भी मिल सकता है ?

उ०—भगवान्‌की पूजामें भावकी प्रधानता है। मूर्ति-पूजा करते समय यदि यह भाव बना रहे, यह भगवान्‌की पूजा है तो पूजाका पूरा फल मिलता है। इसी प्रकार पतिदेवकी सेवा करते समय यदि यह याद रहे कि मैं भगवान्‌की सेवा कर रही हूँ और यह सोचकर प्रत्येक कार्य करते समय हृदय आनन्द, उत्साह और चावसे भरा रहे तो यह साक्षात् भगवान्‌की पूजा ही है। पुरुषके जीवनकी अपेक्षा स्त्रीके जीवनमें इसके लिये ज्यादा सुभीता है। यदि पतिदेवमें भगवान् होनेकी भावना निरन्तर न रहे तो बार-बार उसे स्मरण रखनेकी चेष्टा करनी चाहिये। थोड़े ही दिनोंमें वह भावना दृढ़ हो जायगी और जीवन आनन्दमय हो जायगा। यदि भगवान्‌की भावना न हो तो अपने स्वामीके रूपमें ही उनकी सेवा और आज्ञापालन करना चाहिये। दूसरे देवताओंकी पूजासे जो लाभ होता है वह पतिको भगवान् जाने बिना भी उनकी पूजा करनेसे होता है।

प्र०—आजकल तो स्त्रियोंकी प्रवृत्ति इसके उलटी ही देखी जाती है, इसका क्या कारण है ?

उ०—आजकल देशमें जिस शिक्षा और आदर्शका प्रचार हो रहा है, उसका आधार धार्मिक भाव नहीं है। वह एक ऐसे देश और जातिकी नकल है जिसमें भगवान्‌की पूजा और अपने असली कल्याणपर

नजर ही नहीं रक्खी जाती। उनका लक्ष्य भौतिक सुख है और वे केवल मनको अच्छे लगनेवाले इन्द्रियोंके भोगोंमें ही लगे हुए हैं। वे जो कुछ करते हैं उसमें अधिकांश धर्मभावनाके विपरीत ही होता है। यही कारण है कि उन देशोंमें प्रायः सतीधर्मका अभाव देखा जाता है। परिवारमें अशान्ति, घरमें अशान्ति और पति-पत्नीमें अशान्ति, बात-बातपर तलाक और मुकदमेबाजी यह उनकी सभ्यताका लक्षण है। यह सब झगड़ा भगवान्‌को भूलने और उस भावनाको छोड़ देनेका फल है। हिन्दू-स्त्रियोंके लिये उनका अनुकरण—न केवल स्त्रियोंके लिये बल्कि समस्त धार्मिक समाज, मानवसमाजके लिये घातक है, परन्तु आज परलोक और परिणामपर कौन दृष्टि डालता है। लोग क्षणिक सुखकी ओर ही देखते हैं, ऊपर-ही-ऊपर देखते हैं। यही कारण है कि आजकल स्त्रियोंकी प्रवृत्ति भी दूसरी ही ओर हो रही है।

प्र०—इससे रक्षा कैसे हो?

उ०—धर्मभावनाकी वृद्धि ही एकमात्र रक्षाका उपाय है। धर्मकी पूर्णता सब जगह भगवान्‌के दर्शनमें है। एक जगह दृढ़ भावनासे ही सब जगह भगवान्‌के दर्शन होते हैं। वही गुरु है, वही मूर्ति है, वही पति है। यदि स्त्री अपने पतिमें भगवान्‌की दृढ़ भावना कर ले तो उसे सब जगह भगवान्‌की भावना और दर्शन होने लगें। ऐसी स्थिति प्राप्त होनेपर फिर किसी प्रकारकी अशान्तिकी सम्भावना नहीं रहती। इससे स्त्रियोंके धर्म, देश और जातिकी रक्षा सहज ही हो सकती है। (शेष फिर)

सत्यानाशी नशा

मेरे स्वामी,

जीवनकी प्रभात-बेलामें तुम्हारी आरतीके लिये मैंने थाल सँजोया था।

मन-मन्दिरमें धो-पोंछकर तुम्हारे बैठनेके लिये एक सिंहासन भी रक्खा था।

तुम्हारी पूजा-अर्चनाके लिये मैं वाटिकामेंसे सबसे सुन्दर पुष्प चुन-चुनकर लायी थी।

दीपकमें ऊपरतक स्नेह भरकर मैंने खूब लम्बी बत्ती जला दी थी।

तुम्हारे आनेकी प्रतीक्षामें न जाने कितनी देरतक मैं तुम्हारे ही ध्यानमें मग्न होकर खड़ी रही। और दिन चढ़ गया।

किन्तु, अरे यह क्या हुआ? मेरा सिर घूमने क्यों लगा?

यह विनाशकारी मादकता—यह सत्यानाशी नशा, अरे, कहाँसे आ गया?

ये मारे दीपक बुझ कैसे गये? ओफ्! यह अन्धकार! इसमें तो कुछ भी नहीं दिखायी देता।

× × × × ×

—शायद देर बहुत हो गयी।

पर मेरे पूजनीय देवता, तुम्हारी पूजा-अर्चना क्या अब नहीं हो सकेगी? और मेरे जुटाये हुए ये सामान अरे, क्या यों ही रह जायँगे?

शुभङ्कर

बच्चोंके लिये

माका उपदेश

'माँ ! ऐसा कौन-सा उपाय है जिसके करनेसे तुम्हारी ही तरह सब लोग मुझसे प्रेम करने लगेंगे।' माँने बड़े प्यारसे अपने पुत्रको दुलारते हुए कहा—'बेटा, तुम्हारी यह इच्छा बड़ी अच्छी है। मुझे तो तुम यों भी बड़े अच्छे लगते हो, परन्तु इसमें मेरी ममता भी कारण हो सकती है। जब तुम्हारे अन्दर अच्छे-अच्छे गुण आ जायँगे तब तो सभी लोगोंकी दृष्टिमें तुम अच्छे हो जाओगे, सब लोग तुम्हारा सम्मान करेंगे और तुम्हारे मनमें भी बड़ी प्रसन्नता होगी। देखो, मेरे पड़ोसीका लड़का ध्रुव कितना अच्छा लड़का है। उससे सब लोग खुश रहते हैं। उसकी बातका सब विश्वास करते है। वह कभी झूठ नहीं बोलता। उसके मुँहसे कभी किसीने कड़वी बात नहीं सुनी। जरूरत न होनेपर वह सच्ची बात भी नहीं कहता, चुप रह जाता है। समय देखकर किसीकी भलाईकी बात तब कहता है जब उसकी समझमें वह बात ठीक-ठीक बैठ जाती है। इसीसे बड़े-बड़े लोग भी उसकी बात बड़े ध्यानसे सुनते हैं। यदि तुम भी बोलनेमें हमेशा ख्याल रक्खोगे तो सब लोग तुम्हें भी उसी तरह मानेंगे।

बेटा ! सच बोलनेका इतना ही लाभ नहीं है कि लोग उसकी बात मानें और उसका सम्मान करें, जो सत्य बोलनेका नियम ले लेते हैं वे सच्ची बात जाननेकी चेष्टा भी करते हैं और सावधान रहते हैं कि कहीं मेरे मुँहसे झूठ न निकल जाय, कहीं मैं गलती न कर बैठूँ। इससे उनके मनमें सचाई जाननेकी इच्छा बढ़ती है और वे सत्यस्वरूप परमात्माको जान लेते हैं। सत्यकी खोज और सत्य वाणीसे भगवान् प्रसन्न होते हैं और उसकी मुँहमाँगी चीज दे देते हैं। यहाँतक सुना गया है कि जो बारह वर्षतक सच ही बोलता है, कभी अनजानमें भी झूठ नहीं बोलता उसकी वाणी सिद्ध हो जाती है और वह यदि कभी किसी वस्तुके बारेमें असावधानीसे भी कुछ कह देता है तो वह वैसी ही हो जाती है।

'माँ ! तुम तो कहती हो कि सच बोलना चाहिये परन्तु मेरे कई साथी तो झूठ बोलते हैं, छल करते हैं, और लोग उनका ही आदर करते हैं। तब मैं कैसे मानूँ कि सच बोलना अच्छा है ?'

'बेटा ! उन लोगोंकी चालाकी तभीतक चलती है जबतक उनकी पोल नहीं खुलती। जब सब लोग जान जायँगे कि ये झूठ बोलते हैं, तब उनकी सच्ची बातका भी विश्वास नहीं करेंगे। जो लोग झूठ बोलते हैं वे भी झूठोंका विश्वास नहीं करते। उन्हें किसी बातका पता लगाना होता है तब वे झूठोंसे नहीं पूछते, सच्चे लोगोंसे ही पूछते हैं। इससे सिद्ध होता है कि झूठे लोग भी सचाईका महत्त्व स्वीकार करते हैं। झूठ भी सचकी आड़मे ही चलता है। यदि सत्यका परदा न हो तो झूठ चल ही नहीं सकता। परन्तु सत्य बिना झूठके परदेके भी चलता है इससे भी सत्यका ही गौरव सिद्ध होता है। इसलिये बेटा, तुम्हें हमेशा सच ही बोलना चाहिये।'

'माँ ! सच बोलनेपर कई बार डाँट-फटकार भी सहनी पड़ती है। यदि मैं पिताजीसे कह दूँ कि मेरे पैसे फलाँ काममें खर्च हुए हैं तो वे नाराज होते हैं और कभी-कभी दण्ड भी देते हैं। परन्तु यदि वही बात छिपा लेता हूँ तब वे कुछ नहीं बोलते, फिर मैं उनसे सच-सच कैसे कहूँ ?'

'बेटा ! तुम्हारे पिता बड़े समझदार हैं, उन्होंने दुनियाँ देखी है, उनका बड़ा अनुभव है, वे जिस काम-

से रोकते हैं वह तुम्हें नहीं करना चाहिये । वे जब चाहते हैं कि तुम उन कामोंमें फजूल पैसे न खर्च करो और तुम कर देते हो तब उन्हें नाराज होना ही चाहिये । वे तुम्हारे भलेके लिये ही तुमपर नाराज होते हैं । तुम वैसा काम ही न करो जिससे वे नाराज हों । झूठ बोलकर छिपाना तो बड़ा पाप है, इससे तुम्हारी आदत बिगड़ जायगी और तुम्हारे अन्दर बहुत-सी बुराइयाँ आ जायँगी । जब उन्हें मालूम होगा कि तुमने झूठ बोलकर उन्हें धोखा दिया है तब तो उनकी नाराजगी और भी बढ़ जायगी । झूठ बोलनेसे ही मनमें तरह-तरहके पाप आ बसते हैं । यदि तुम अपनी बातें सच-सच बतला दिया करोगे, तो तुम्हारे सब पाप, तुम्हारी सब बुराइयाँ स्वयं ही छूट जायँगी ।

बेटा ! तुम्हारे जो साथी झूठ बोलते हैं, उनसे अलग रहना ही अच्छा है क्योंकि वे झूठके बलपर अपनी बहुत-सी बुराइयाँ छिपाये रखते हैं । उनके साथ रहने और हेल-मेल करनेसे वे दोष अपने अंदर भी आ जाते हैं और उसी तरह झूठ बोलकर दोष छिपानेकी आदत पड़ जाती है । तुम केवल वैसे लोगोंमें ही रहा करो जो सच बोलते हों और जिनका चरित्र पवित्र हो । चरित्र ही सब कुछ है । जिसका आचरण ठीक है उसकी बुद्धि बड़ी तेज होती है, वह किसीसे डरता नहीं, उसका चेहरा चमकता रहता है । शरीरके सुगठित, बलवान् और सुन्दर होनेके लिये, मनके निर्भय और ज्ञान सम्पन्न होनेके लिये चरित्रकी रक्षा परम आवश्यक है । चरित्रकी रक्षाके लिये सत्य सबसे बड़ा सहारा है ।

सत्यके साथ-साथ पहले कही हुई बातोंका भी ध्यान रखनेसे सबका प्यार और सबसे बढ़कर परमात्माका प्यार प्राप्त हो जाता है । उन बातोंको फिरसे याद कर लो ।

१—सत्य ही बोला जाय ।

२—कड़वी बात न कही जाय ।

३—भलाईकी ही बात कही जाय ।

४—जहाँतक हो सके थोड़ेमें ही अपनी बात पूरी कर दी जाय ।

५—बिना मौकेके कोई बात न कही जाय ।

आशा है तुम इन गुणोंको अपनाओगे । जब ये गुण तुम्हारे अंदर आ जायँगे तब सब लोग तुम्हें अपना समझने लगेंगे । क्या तुम इनका अभ्यास करोगे ? 'हाँ माँ ! मैं अवश्य करूँगा । कुछ और बताओ ।' 'अच्छा-अब दूसरे दिन ।'

माँ ! तू कहाँ गयी !

अगर कोई अबोध बालक अपनी माँसे बिछुड़ जाय और भटकते-भटकते अपरिचित लोगोंके बीच जा पहुँचे तो उन अपरिचित लोगोंमें जो दयालु स्वभावके होते हैं वे दयासे द्रवीभूत होकर बेचारे रोते हुए उस बालकको प्रेमसे पुचकारते हैं; उसे भरोसा दिलाते हैं और कोई खानेकी वस्तु भी लाकर उसे देते हैं । पर बालकके दुखी हृदयको इतना सब कुछ मिल जानेपर भी चैन नहीं पड़ता ! अपनी परम प्यारी माताका वियोग उसके नन्हेंसे निष्कपट और सरल हृदयसे सहन नहीं होता ! वह रह-रहकर रो उठता है ! माँके बिना उसे सब कुछ सूना लगता है ! उसका वियोगजन्य दुःख वियोगको और भी अधिक बढ़ा देता है !

हा ! इन अपरिचित लोगोंका इतना प्रेम और इतनी सान्त्वना पानेपर भी बालक उस सुखका अनुभव नहीं करता जिसे वह अपनी माताकी गोदमें बैठकर पाया करता था ! फिर उसकी माँ एक दीन और असहाय ही स्त्री क्यों न हो ! उसके लिये तो वह सब कुछ है ! भला, कौन-सी चीज माताके उस स्वर्गीय प्रेमकी बराबरी कर सकती है ? माँका वात्सल्यप्रेम ही तो उसके जीवनके पौधेका पोषण करता था । पर अब वह उससे वञ्चित हो गया ! पता नहीं कि माँ फिर मिलेगी कि नहीं ? माँ ! माँ !! माँ !!! तू कहाँ गयी ? —ब्रह्मानन्द

कल्याणके पुराने विशेषाङ्क

श्रीभक्ताङ्क (दूसरा संस्करण)

यह तीसरे वर्षका विशेषाङ्क है। इसके नवीन संस्करणमें कई चित्र बदल दिये गये हैं। सुन्दर छपाई, पृष्ठ २४६, चित्र ५५, मूल्य १॥) सजिल्द १॥।=) मात्र।

श्रीरामायणाङ्क (दूसरा संस्करण)

यह पाँचवें वर्षका विशेषाङ्क है। भगवान् श्रीरामकी लीलाओंके अनेक सुनहरे, बहुरंगे, सादे एवं अनेक पवित्र तीर्थ अयोध्या, प्रयाग, काशी, चित्रकूट, पंचवटी, रामेश्वर, जनकपुर, शृंगवेरपुर आदिके दर्शनीय चित्र हैं। मूल्य २॥=) सजिल्द ३=) मात्र।

श्रीयोगाङ्क (तीसरा संस्करण)

इसमें क्या है? यह तो देखकर ही जान सकते हैं। पहिले-दूसरे दो संस्करणोंमें ३४१५० छपा था, वह शीघ्र ही बिक गया। उपयोगिताका इससे सुन्दर और क्या प्रमाण होगा? मासिकपत्रोंको इस प्रकार तीसरी बार छपनेका मौका शायद ही मिलता हो।

योगियोंके चमत्कार, महात्माओंके सदुपदेश, स्फूर्तिदायक विचार, ओजस्वी लेख और सैकड़ों रंगीन तथा सादे चित्रोंसे सुशोभित है। अनेक तरहके नये-पुराने योगोंपर प्रकाश डाला गया है। ऐसे सुन्दर, सचित्र, उपादेय ग्रन्थका मूल्य केवल ३॥, सजिल्द ४, पृष्ठ ८८४, चित्र ४७० हैं। दशवें वर्षका ४=) भेजनेवालेको पूरी फाइलके साथ योगांक भी मिल जायगा।

श्रीवेदान्ताङ्क

वेदके सर्वोपरि भागका नाम वेदान्त है, भगवत्तत्त्वका निरूपण वेदान्तमें है, वेदान्त ही सबका परम ध्येय है। ब्रह्म, हरि, परमात्मा, नारायण, शङ्कर, शक्ति, राम, कृष्ण आदि सबका तत्त्वदर्शन इस वेदान्तमें ही होता है, यहाँतक कि जगत्‌का सारा रहस्य वेदान्तमें ही भरा है।

वेदान्तके विविध रूप, तत्त्वनिरूपण, ज्ञान-भक्ति-प्रेमके गूढ़ सिद्धान्त, उपाय और साधना, वेदान्तका इतिहास आदि अद्भुत विषयोंसे पूर्ण सुन्दर, सचित्र ग्रन्थका मूल्य केवल ३, स० ३॥), पृष्ठ ७४४, चित्र १९१। ११ वें वर्षका ४=) भेजनेवालोंको पूरी फाइलके साथ वेदान्ताङ्क भी मुफ्त मिलेगा।

श्रीसंत-अङ्क (दूसरा संस्करण)

कल्याणके गत वर्षका विशेषांक मार्गशिर्षांक ८७४ पृष्ठों और ४७० चित्रोंसे सुसज्जित करके ३५५०० (पैंतीस हजार पाँच सौ) की संख्यामें छापा गया था। किन्तु वह सब ग्राहकोंकी कृपासे जल्दी ही समाप्त हो गया। बढ़ती हुई मांगको देखकर खर्चका खयाल प्रायः न करके केवल प्रचारकी दृष्टिसे दूसरा संस्करण केवल २५०० छापा गया है।

केवल संत-अङ्कका मूल्य ३॥), ग्राहकोंको पूरे सालभरके शेष अङ्कोंसहित ४=) में ही दिया जायगा।

मैनेजर—कल्याण, गोरखपुर

Regd. No. A. 1724.

शोक किसको नहीं छूता ?

सुखं वा यदि वा दुःखं प्रियं वा यदि वाप्रियम् ।
प्राप्तं प्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजितः ॥
शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च ।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥
बुद्धिमन्तं कृतप्रज्ञं शुश्रूषुमनसूयकम् ।
दान्तं जितेन्द्रियं चापि शोको न स्पृशते नरम् ॥
एतां बुद्धिं समास्थाय गुप्तचित्तश्चरेद् बुधः ।
[illegible]मयज्ञं हि न शोकः स्प्रष्टुमर्हति ॥

[illegible]चाहे दुःख हो, अच्छा लगे चाहे बुरा लगे, जैसी भी दशा आ[illegible]को हृदयसे हारे बिना भोगे । मूढ मनुष्यको शोक करनेके हजारों स्थान हैं और भयभीत होनेके सैकड़ों स्थान (अवसर) प्रतिदिन प्राप्त होते हैं, परन्तु विचारवान् पण्डितके ऊपर उनका प्रभाव नहीं पड़ता । बुद्धिमान्, आगे-पीछेका विचार करनेमें चतुर, शास्त्रको श्रवण करनेवाले, ईर्षारहित, मनको वशमें रखनेवाले और जितेन्द्रिय मनुष्यको शोक नहीं छूता । विद्वान् मनुष्य ऐसी बुद्धिका आश्रय लेकर, चित्तकी रक्षा करता हुआ संसारका व्यवहार चलावे; जो मनुष्य जगत्‌की उत्पत्ति और लयके स्थानरूप परब्रह्मको जानता है, उसको शोक नहीं छू सकता ।

(महाभारत मोक्षधर्मपर्व १७४ । ३९-४२)

वर्ष
१३
अंक
८

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियराम॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ आगारा॥

[संस्करण ५४९००]

वार्षिक मूल्य
भारतमें ४=)
विदेशमें ६॥=)
(१० शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति
भारतमें ।)
विदेशमें ।=)
(६ पेंस)

Edited by Hanumanprasad Poddar.
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur (India)

श्रीहरिः

आवश्यक सूचना

कुछ वर्षोंसे मेरे पत्रव्यवहारका काम बहुत बढ़ गया है। मेरे नाम इतने अधिक पत्र आते हैं कि मैं चेष्टा करनेपर भी सबका उत्तर नहीं लिखा पाता। जिनका उत्तर स्वयं मुझे अपने हाथसे लिखना चाहिये ऐसे पत्रोंमें तो बहुत-से यों ही पड़े रह जाते हैं। इधर कुछ समयसे तो ऐसे पत्रोंकी संख्या बहुत बढ़ गयी है। इसका प्रधान कारण यह है कि महीनोंसे मुझे लगातार नये-नये कामोंमें समय लगाना पड़ रहा है। अब कुछ ही समय बाद मुझे एक और काममें समय देना पड़ेगा, इसलिये सभी महानुभावोंसे मेरी प्रार्थना है कि कल्याणके सम्पादनके सम्बन्धमें दूसरी सूचना न निकलनेतक मेरे व्यक्तिगत नामसे कोई सज्जन पत्र न लिखें। मेरे नामसे पत्र लिखनेपर पत्रका उत्तर मिलनेमें और भी देर हो सकती है। या सर्वथा ही उत्तर नहीं मिल सकता। दूसरे कार्योंके सम्बन्धमें भी जहाँतक बने, बहुत ही आवश्यक हो, तो ही मेरे नामसे पत्र लिखना चाहिये क्योंकि मैं पत्रोंका उत्तर बहुत ही कम लिख सकूँगा। कदाचित् किन्हीं सज्जनको पत्रका उत्तर न मिले, तो वे मेरी विवशतापर ध्यान देकर क्षमा करें।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

कल्याण मार्च सन् १९३९ की

विषय-सूची

मानसाङ्कका तीसरा संस्करण छप रहा है।

मानसाङ्कका पहला संस्करण ४०६०० प्रतियोंका था। उस समय घाटेके कारण यह सोचा गया था कि दुबारा मानसाङ्क नहीं छापा जाय परन्तु वह संस्करण बहुत जल्दी समाप्त हो गया और ग्राहकोंकी माँग ज्यों-की-त्यों बनी रही। तब घाटेका खयाल छोड़कर १०५०० प्रतियाँ पुनः छापी गयीं। अब वे सब प्रतियाँ भी बिक चुकी हैं। और माँगका जोर बहुत अधिक है। ऐसी अवस्थामें मानसाङ्कको फिरसे छापनेमें बड़ी कठिनाई होनेपर भी तीसरा संस्करण छापनेकी व्यवस्था की गयी है। जिन सज्जनोंने मनीआर्डरसे रुपये भेज दिये हैं, उन्हें कुछ दिन धीरज रखकर प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। हम इस लाचारीके लिये क्षमा चाहते हैं।

इसी प्रकार वी० पी० भी देरसे ही जायगी। परन्तु वी० पी० मँगानेवाले सज्जन यदि रुपये मनीआर्डरसे पहले भेज देंगे तो उन्हें अंक जल्दी मिल जायँगे।

क्योंकि मानसाङ्क छप चुकनेपर सबसे पहले रजिस्ट्रीद्वारा उन्हींको भेजा जायगा जिनके रुपये आ चुके होंगे। और इसके बाद प्रतिमास साधारण अङ्क भी ठीक समयपर ही चले जायँगे। वी० पी० से मानसाङ्क मँगानेवालोंको वह अङ्क देरसे मिलेगा और जबतक वी० पी० का रुपया हमें नहीं मिल जायगा तबतक नियमानुसार साधारण अङ्क भी हम भेज नहीं सकेंगे। वी० पी० के रुपये कभी-कभी तो महीनों बाद ही मिलते हैं, अतएव रुपये मनीआर्डरसे भेज देनेमें ही सुविधा है। परन्तु जो महाशय पहले वी० पी० के लिये लिख चुके हों और अब रुपये भेजें, उनसे प्रार्थना है कि वे मनीआर्डरके कूपनमें यह बात स्पष्ट लिख दें कि "हम पहले वी० पी० के लिये लिख चुके हैं" नहीं तो उनके नाम रजिस्ट्री और वी० पी० से दो अङ्क चले जानेकी सम्भावना है।

यदि कार्यालयकी भूलसे किन्हीं सज्जनके नाम दो अङ्क चले जायँ तो कृपापूर्वक लौटावें नहीं, कुछ चेष्टा करके वहीं अपने किसी मित्रको ग्राहक बनाकर हमें सूचित कर दें। व्यवस्थापक—कल्याण, गोरखपुर

नयी पुस्तकें! *छप गयी!!* *नयी पुस्तकें!!!*

श्वेताश्वतरोपनिषद्

(मूल मन्त्र, मन्त्रार्थ, शाङ्करभाष्य और भाष्यार्थसहित)

साइज डिमाई आठपेजी, पृष्ठ-संख्या २७२, सुन्दर तिरंगा चित्र, साफ सुन्दर छपाई, मोटे टाइप, अन्तमें शान्तिपाठ और मन्त्रोंकी वर्णानुक्रमणिका, टाइटलपर भगवान् श्रीशंकराचार्यका शिष्योंसहित इकरंगा चित्र, मूल्य ।।।=) मात्र।

श्वेताश्वतरोपनिषद् कृष्णयजुर्वेदके अन्तर्गत है। इसके वक्ता श्वेताश्वतर ऋषि हैं। उन्होंने चतुर्थाश्रमियोंको इस विद्याका उपदेश किया था। इस उपनिषद्की विवेचनशैली बड़ी ही सुसम्बद्ध और भावपूर्ण है। इसमें प्रसंगानुसार सांख्य, योग, सगुण, निर्गुण, द्वैत, अद्वैत आदि कई प्रकारके सिद्धान्तोंका उल्लेख हुआ है।

सुविज्ञ विद्वानोंके लिये अनूठी पुस्तक

विद्वद्वर श्रीलक्ष्मीधररचित

श्रीभगवन्नामकौमुदी (हिन्दी-अनुवादसहित)

अनुवादक—**पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री**

यह भक्तिसाहित्यका एक दार्शनिक ग्रन्थ है। इसकी प्रतिपादनशैली बड़ी ही प्रौढ और गम्भीर है। इसकी रचना मीमांसाकी शास्त्रार्थशैलीपर हुई है। ग्रन्थ यद्यपि जटिल है तो भी हिन्दी-अनुवादके द्वारा इसका भाव सरल भाषामें समझानेका प्रयत्न किया गया है। डबल क्राउन सोलहपेजी ३३६ पृष्ठ, ६ सुन्दर रंगीन चित्र, अच्छा टाइटल, मूल्य ।।=) मात्र।

ज्योतिषाचार्य पं० मल्लिनाथ शर्मा चोमालद्वारा सम्पादित—

विक्रम संवत् १९९६ का पञ्चाङ्ग—मूल्य =)

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, गोरखपुर

गुरु-दक्षिणा।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्गं सीतासमारोपितवामभागम् ।
पाणौ महासायकचारुचापं नमामि रामं रघुवंशनाथम् ॥

वर्ष १३ } गोरखपुर, फाल्गुन १९९५, मार्च १९३९ { संख्या ८ पूर्ण संख्या १५२

अनोखी गुरु-दक्षिणा

बान-बेध-कौसल बिलोकि एकलव्य को जु बाढ्यो है अमर्ष अति अर्जुन कुमारकेँ ।
'तेरे सम होयगो न कोऊ मम सिष्यनमें प्रभु तो कह्यो यों' कह्यो गुरुसों गुहारकेँ ॥
ताकर कारन प्रिय आये एकलव्य पास पर्यो पादपदुमन सो गुरुको निहारकेँ ।
बोल्यो अति आतुर ह्वै 'दासको सनाथ कियो कैसे कृपानाथ आजु इतै पगु धारकेँ' ॥१॥
बोले गुरु द्रोन वत्स ! सीखी बानबिद्या पै तैं दीन्हीं गुरु-दच्छिना न आजुलों हमारी है ।
याही काज आयो' सुनि बोल्यो 'कहा देहुँ नाथ ! मेरे कहा आपुनो ये देह हू तिहारी है'॥
'दीजै निज दच्छिन अँगूठा भिल्लराज आज यहै दिव्य दच्छिना हमन हिय धारी है' ।
दीन्हों सो सहर्ष काटि, धन्य ! धन्य ! एकलव्य, तेरी गुरु-भक्तिकी सदा ही बलिहारी है ॥२॥

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी महाराज)

[श्वेताश्वतरोपनिषद्]

[मणि ११]

(गताङ्कसे आगे)

संसारका चक्ररूपसे वर्णन।

हे संन्यासियो! लोकप्रसिद्ध रथमें एक नेमि, दूसरा नाभि और तीसरे अरे होते हैं। इनमेंसे पृथ्वीसे सम्बन्धवाले गोलाकार काष्ठविशेषका नाम नेमि है। जिसमें शलाका घूमती है, उसके मध्यके काष्ठविशेषका नाम नाभि है। और इन नेमि और नाभिके मध्यमें जो काष्ठविशेष हैं, उनका नाम अरा है। जैसे रथमें नेमि है, इसी प्रकार माया, शक्ति, अज्ञान, मूल प्रकृति, प्रधान, अव्याकृत इत्यादि नामोंसे प्रसिद्ध अविद्या इस संसारको सब ओरसे व्याप्त करके स्थित है, इसलिये अविद्या संसाररूप चक्रकी नेमि है। जैसे रथका चक्र लोह, रजत और सुवर्णादिक धातुमय पट्टोंसे जटित होता है, इसी प्रकार संसाररूप चक्र शुक्ल वर्णवाले सत्त्वगुण, रक्तवर्णवाले रजोगुण और कृष्ण वर्णवाले तमोगुण—इन तीन गुणरूप पट्टोंसे जटित है। और जैसे चक्रकी नाभिमें अरारूप काष्ठोंके रखनेके लिये छिद्ररूप संस्थान होते हैं, इसी प्रकार संसाररूप चक्रकी नाभिमें क्लेशादिकरूप अरोंके रहनेके लिये षोडश विकाररूप छिद्र-स्थान हैं। श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसन, घ्राण पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ; वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ, पायु पाँच कर्मेन्द्रियाँ; आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी पाँच भूत और एक मन इनका नाम षोडश विकार है। जैसे चक्रमें अरे होते हैं, इसी प्रकार संसाररूप चक्रमें पाँच क्लेश, अष्टसिद्धि, नवतुष्टि, अट्ठाईस अशक्ति—ये पचास अरे हैं।

पञ्चक्लेशवर्णन—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—ये पाँच क्लेश हैं। अनात्मरूप देहादिमें आत्मरूप विपरीत बुद्धिका नाम अविद्या है, इसीको शास्त्रवेत्ता तम कहते हैं। देहादिकोंमें अहंबुद्धिका नाम अस्मिता है, इसीको शास्त्रवेत्ता मोह कहते हैं। विषयसुखके साधन धन, स्त्री और पुत्रादिकोंमें अत्यन्त आसक्तिका नाम राग है, इसीको शास्त्रवेत्ता महामोह कहते हैं। दुःखकी प्राप्ति करानेवाले शत्रु आदिकोंके अनिष्टचिन्तनका नाम द्वेष है, इसीको शास्त्रवेत्ता तामिस्र कहते हैं। धनादिक पदार्थोंके त्यागकी इच्छा न करना, इस ममताका नाम अभिनिवेश है, इसीको शास्त्रवेत्ता अन्धतामिस्र कहते हैं।

अष्टसिद्धियोंके नाम—सुहृत्-प्राप्ति, अध्ययन, ऊह, शब्द, अध्यात्मदुःखका नाश, अधिदैवदुःखका नाश, अधिभूतदुःखका नाश और दान—ये आठ सिद्धियाँ हैं।

नवतुष्टि-प्रकृति, उपादान, काल, भाग्य, शब्द-निवृत्ति, स्पर्शनिवृत्ति, रूपनिवृत्ति, रसनिवृत्ति, गन्धनिवृत्ति ये नव प्रकारकी तुष्टियाँ हैं। इनमें प्रकृति आदिक चार आन्तरिक तुष्टियाँ हैं और शब्दादिक पाँच बाह्य तुष्टियाँ हैं।

अट्ठाईस अशक्ति—पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और एक मन इन ग्यारह इन्द्रियोंका कुष्ठादि रोगसे नाश अथवा उनके विद्यमान होनेपर भी कार्य करनेकी उनमें असमर्थता, अथवा दूसरोंकी इन्द्रियोंकी अपेक्षासे उनमें अल्प कार्य करनेका सामर्थ्य, इनका नाम इन्द्रियोंका नाश है। इस प्रकार ग्यारह इन्द्रियोंके ग्यारह नाशोंसे बुद्धिमें असामर्थ्यरूप ग्यारह अशक्तियाँ उत्पन्न होती हैं,

पूर्वोक्त अष्टसिद्धियोंकी अप्राप्तिसे अष्ट अशक्तियाँ उत्पन्न होती हैं और नव तुष्टियोंकी अप्राप्तिसे नव अशक्तियाँ उत्पन्न होती हैं, ये सब मिलकर अट्ठाईस अशक्तियाँ हैं।

पञ्चक्लेशोंका विस्तारसे वर्णन।

अनात्मपदार्थोंमें आत्मबुद्धिरूप अविद्याके आठ प्रकारके विषय हैं। उन विषयोंके भेदसे अविद्या आठ प्रकारकी है। मूल प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार और पञ्चभूत ये आठ विषय हैं। यह अविद्या सुषुप्ति-अवस्थामें बीजरूपसे रहती है। अविद्याकी बीजभूत अस्मिता भी जाग्रत्-स्वप्नमें अविद्याके उपर्युक्त आठों विषयोंको अहंरूपसे विषय करती है, इसलिये प्रकृति आदिक आठ विषयोंके भेदसे मोहरूप अस्मिता भी आठ प्रकारकी है। श्रोत्रादिक पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके शब्दादिक पाँच विषय दिव्य-अदिव्य-भेदसे दो-दो प्रकारके हैं। स्वर्गादिक लोकोंके शब्दादिक विषय दिव्य हैं और मनुष्यलोकके शब्दादिक विषय अदिव्य हैं। इस प्रकार दिव्य-अदिव्य-भेदसे दश प्रकारके विषय जीवोंके सुखके साधन होनेसे जीवोंके रागके विषय हैं, इसलिये महामोहरूप राग दश प्रकारका है। अणिमा, गरिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व ये आठ सिद्धियाँ और पूर्वोक्त दिव्य-अदिव्य-भेदसे शब्दादिक दश विषय, दोनों मिलकर अठारह विषय द्वेषके विषय हैं। इसलिये अठारह विषयोंके भेदसे द्वेष भी अठारह प्रकारका है। अथवा पूर्वोक्त अस्मिताके प्रकृति आदि आठ विषय और रागके शब्दादिक दश विषय—ये अठारह द्वेषके भी विषय हैं। तात्पर्य यह है कि ये अठारह विषय जब किसी निमित्तसे नाशको प्राप्त होते हैं, तब जीवमें दुःखकी उत्पत्ति करके जीवके द्वेषके विषय होते हैं; इसलिये अठारह विषयोंके भेदसे तामिस्ररूप द्वेष अठारह प्रकारका है। पूर्वोक्त अणिमादिक आठ सिद्धियोंसहित शब्दादिक दश विषय अथवा पूर्वोक्त अस्मिताके प्रकृति आदिक आठ विषयों-सहित शब्दादिक दश विषय—इन विषयोंके नाश करनेवाले किसी बलवान् पुरुषमें अपनी प्रतिकूलता जानकर उन विषयोंके नाशका जो भय है, इसका नाम अभिनिवेश है। यह अभिनिवेश भी अठारह विषयोंके भेदसे अठारह प्रकारका है। सारांश यह है कि आठ प्रकारकी तमरूप अविद्या, आठ प्रकारकी मोहरूप अस्मिता, दश प्रकारका महामोहरूप राग, अठारह प्रकारका तामिस्ररूप द्वेष और अठारह प्रकारका अन्धतामिस्ररूप अभिनिवेश—ये सब मिलकर पञ्चक्लेशकी बासठ संख्या है।

अष्टसिद्धियोंका स्वरूप

ब्रह्मविद्याके उपदेश करनेवाले श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी प्राप्तिका नाम सुहृत्-प्राप्ति है। ब्रह्मवेत्ता गुरुके मुखसे वेदान्तश्रवणका नाम अध्ययन है। श्रवण किये हुए अर्थका नाना प्रकारकी युक्तियोंसे मनन करनेका नाम ऊह है। मनन किये हुए अर्थमें निरन्तर चित्तवृत्तियोंके प्रवाहरूप निदिध्यासनका नाम शब्द है। ज्वरादिक तथा काम-क्रोधादिक व्याधियोंसे उत्पन्न होनेवाले दुःखके नाशका नाम अध्यात्मदुःखनाश है। अग्नि आदिकोंसे उत्पन्न हुए दुःखके नाशका नाम अधिदैवदुःखनाश है। सिंह, सर्पादिक भूतोंसे उत्पन्न हुए दुःखके नाशका नाम अधिभूतदुःखनाश है। पूर्व-वृद्ध एवं महान पुरुषोंके अनुसार वेदान्तसम्प्रदायकी प्रवृत्ति करनेका नाम दान है। ये सुहृत्-प्राप्ति आदि आठ सिद्धियाँ जीवके मोक्षका साधन हैं, इसलिये ये आठ ही मुख्य सिद्धियाँ हैं, अणिमादिक आठ सिद्धियाँ तो मायिक पदार्थोंकी प्राप्ति करानेवाली हैं, इसलिये मुख्य नहीं हैं।

नव तुष्टियोंका स्वरूप

जैसे प्रकृतिरूप माया सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और लय करती है तथा नाना प्रकारके

दुर्घट कार्योंकी उत्पत्ति करती है, इसी प्रकार हमारे आत्मज्ञानको भी उत्पन्न करेगी, इसलिये आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये हमारा उद्यम निष्फल है, ऐसा विचार करके आलसी पुरुष श्रवणादिक साधनोंमें उद्यम नहीं करते, इसका नाम प्रकृतितुष्टि है। जो पदार्थ नियमसे जिस कार्यकी उत्पत्ति करता है, वह पदार्थ उस पदार्थकी उत्पत्तिमें कारण है। और 'दण्डग्रहणमात्रेण नरो नारायणो भवेत्' इस प्रकार शास्त्रोंमें संन्यास-आश्रमको ही आत्मज्ञानका कारण कहा है। इस प्रकारके विचारसे संन्यास-आश्रमके धारण करनेमें ही अपनेको कृतकृत्य मानना और श्रवणादिक साधनोंमें प्रवृत्त न होना, इसका नाम सम्प्रदानतुष्टि है। जैसे काल सब जगत्‌की उत्पत्ति करता है, इसी प्रकार हमारे आत्मज्ञानको भी उत्पन्न करेगा, इसलिये आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये हमारा उद्यम निष्फल है, ऐसा विचारकर बुद्धिहीन आलसी पुरुष श्रवणादिक साधनोंमें उद्यम नहीं करते, इसका नाम कालतुष्टि है। यह जीव अपने भाग्यसे राज्य, लक्ष्मी, यशादिकको प्राप्त होता है, इसलिये जो भाग्य हमको धनादिक पदार्थोंकी प्राप्ति कराता है, वही भाग्य कभी हमको आत्मज्ञानकी भी प्राप्ति करा देगा, आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये हमारा उद्यम निष्फल है, इस विचारसे मूढ आलसी पुरुष श्रवणादिक साधनोंके लिये उद्यम नहीं करते, इसका नाम भाग्यतुष्टि है। ये चार आन्तरिक तुष्टियाँ हैं। कोई-कोई पुरुष श्रोत्र-इन्द्रियसे नाना प्रकारके शब्दोंको नहीं सुनते और श्रोत्र-इन्द्रियके निरोधसे ही अपनेको कृतकृत्य मानकर श्रवणादिक साधनोंके लिये उद्यम नहीं करते, इसका नाम शब्दनिवृत्तितुष्टि है। कोई-कोई पुरुष त्वक्-इन्द्रियसे स्पर्शोंको ग्रहण नहीं करते और त्वक्-इन्द्रियके निरोधसे ही अपनेको कृतकृत्य मानकर श्रवणादिक साधनोंके लिये उद्यम नहीं करते, इसका नाम स्पर्शनिवृत्तितुष्टि है। कोई-कोई पुरुष नेत्र-इन्द्रियसे रूपोंको नहीं देखते और नेत्र-इन्द्रियके निरोधसे ही अपनेको कृतकृत्य मानकर श्रवणादिक साधनोंके लिये उद्यम नहीं करते, इसका नाम रूपनिवृत्तितुष्टि है। कोई-कोई पुरुष रसन-इन्द्रियसे मधुरादिक रस ग्रहण नहीं करते और रसन-इन्द्रियके निरोधसे ही अपनेको कृतकृत्य मानकर श्रवणादिक साधनोंके लिये उद्यम नहीं करते, इसका नाम रसनिवृत्तितुष्टि है। कोई-कोई पुरुष घ्राण-इन्द्रियसे गन्धको ग्रहण नहीं करते और घ्राण-इन्द्रियके निरोधसे ही अपनेको कृतकृत्य मानकर श्रवणादिक साधनोंके लिये यत्न नहीं करते, इसका नाम गन्धनिवृत्तितुष्टि है। ये बाह्य पञ्चतुष्टियाँ हैं। कोई-कोई शास्त्रकार इन बाह्य पञ्चतुष्टियोंका स्वरूप इस प्रकार वर्णन करते हैं—धनादिक पदार्थोंका एकत्र करना, रक्षण करना, खर्च करना, भोगना और नाश ये पाँच जीवोंको क्लेशकी ही प्राप्ति कराते हैं। जैसा कि कहा है—

अर्थानामर्जने क्लेशास्तथैव परिपालने ।
नाशे व्यये च भोगे च धिगर्थान् क्लेशभाजिनः ॥

ऐसा विचारकर जो पुरुष एकत्र किये हुए धनादिक पदार्थोंका भी परित्याग कर देता है अथवा एकत्र ही नहीं करता, उस पुरुषके चित्तमें उपर्युक्त पाँच निमित्तोंसे उपरामता होती है। उस उपरामतासे ही अपनेको कृतकृत्य मानकर श्रवणादिक साधनोंके लिये उद्यम नहीं करता, इसका नाम बाह्य पाँच प्रकारकी तुष्टि है। हे मुनीश्वरो! इन नव प्रकारकी तुष्टियोंमेंसे किसी एक तुष्टिको भी अंगीकार करके जो मूढबुद्धि पुरुष श्रवणादिक साधनोंके लिये यत्न नहीं करता, इसको कभी भी आत्मसाक्षात्कार नहीं होता। इसलिये ये नव तुष्टियाँ आत्मसाक्षात्कारकी विरोधिनी होनेसे जीवोंके जन्म-मरणरूप संसारका कारण हैं, इसलिये मुमुक्षुओंको इनका त्याग करके श्रवणादिक साधनोंके लिये प्रयत्न करना चाहिये। हे मुनीश्वरो! जैसे प्रसिद्ध चक्रमें एक महान् अरा होता है और दूसरे अल्प अरे होते हैं, इसी प्रकार

इस संसारचक्रके पूर्वोक्त क्लेशादिक पचास महान् अरे हैं और श्रोत्रादिक दश इन्द्रियाँ और शब्दादिक दश विषय ये बीस अल्प अरे हैं। हे मुनीश्वरो! जैसे चक्रकी नेमिमें तीक्ष्ण धारा होती है, इसी प्रकार संसारचक्रमें ये षट् अष्टकरूप तीक्ष्ण धारा हैं—

षट् अष्टकोंका स्वरूप—भूमि, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार यह प्रकृति-अष्टक है अथवा प्रकृति, भूमि, जल, तेज, वायु, आकाश, मन और अहंकार यह प्रकृति-अष्टक है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि यह योगाङ्ग-अष्टक है। सुहृत् प्राप्ति, अध्ययन, ऊह, शब्द, अध्यात्मदुःखनिवृत्ति, अधिदैवदुःखनिवृत्ति, अधिभूतदुःखनिवृत्ति और दान यह सिद्धि-अष्टक है। अणिमा, गरिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व यह भी सिद्धि-अष्टक है। वाक्, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसन, घ्राण, मन और हस्त यह ग्रह-अष्टक है। शब्द-उच्चारण, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संकल्प और ग्रहण, यह अतिग्रह-अष्टक है।

कोई शास्त्र षट् अष्टकोंका स्वरूप इस प्रकार वर्णन करते हैं—वाक्, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसन, घ्राण, मन और हस्त यह ग्रह-अष्टक हैं। शब्द-उच्चारण, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संकल्प, ग्रहण, यह अतिग्रह-अष्टक है (देखो मणि १० याज्ञवल्क्य-आर्तभागका संवाद)। पृथिवी, काम, रूप, आकाश, तम, रूप, दल और रेत, यह आयतन-अष्टक है। अग्नि, हृदय, चक्षु, श्रोत्र, हृदय, चक्षु, हृदय, हृदय, यह लोक-अष्टक है। अमृत, स्त्री, सत्य, दिशा, मृत्यु, प्राण, वरुण, प्रजापति, यह देवता-अष्टक है। शारीर, काममय, आदित्य, श्रौत, छायामय, प्रतिबिम्ब, उदकस्थ, पुत्रमय, यह पुरुष-अष्टक है। (देखो मणि १० याज्ञवल्क्य-शाकल्य-संवाद) जैसे कुलालके चक्रमें घट स्थित होता है, इसी प्रकार ये षट् अष्टक संसारचक्रकी नेमिकी तीक्ष्ण धारा हैं।

हे मुनीश्वरो! जैसे चक्रके धारण करनेवाले रज्जु आदिक पाश होते हैं, इसी प्रकार स्थावर-जंगमरूप जगत्भावको प्राप्त हुआ मायाविशिष्ट परमात्मदेव संसाररूप चक्रको धारण करनेवाला रज्जुरूप पाश है। जैसे नेमि, नाभि, अरा आदिक अवयवोंसे युक्त चक्र रज्जु आदिक बन्धनोंके बिना शीघ्र ही विशीर्णभावको प्राप्त होता है, इसी प्रकार संसाररूप चक्र भी परमात्मारूप बन्धन बिना शीघ्र ही विशीर्णभावको प्राप्त होता है।

हे मुनीश्वरो! ब्रह्मलोककी प्राप्ति करानेवाला देवयानमार्ग, स्वर्गादिकी प्राप्ति करानेवाला पितृयानमार्ग और क्षुद्र कीट-पतंगादिक शरीरोंकी प्राप्ति करानेवाला तीसरा मार्ग, ये तीनों मार्ग संसाररूप चक्रके भेदके कारण हैं। इन तीन मार्गोंके योगसे यह संसाररूप चक्र तीन नाभिवाला और तीन नेमिवाला कहा जाता है। जैसे प्रथम वर्तुलाकार एक सूक्ष्म मण्डल लिखें, उस सूक्ष्म मण्डलको बाहर तीन मण्डलोंसे वेष्टित करें, तो उन चारों मण्डलोंमें प्रथम मध्यका सूक्ष्म मण्डल सर्व मण्डलोंके अन्तरभूत है, इसलिये वह केवल नाभिरूप ही है और उन चारों मण्डलोंमेंसे अन्तका मण्डल सब मण्डलोंकी अपेक्षासे बाहर है, इसलिये वह केवल नेमिरूप है और उन चारों मण्डलोंमेंसे जो मध्यके दो मण्डल हैं, उन दोनोंमें बाह्य मण्डलकी अपेक्षासे नाभिरूपता है और अन्तर मण्डलकी अपेक्षासे नेमिरूपता है। इस प्रकार यह संसारचक्र तीन नेमिवाला और तीन नाभिवाला सिद्ध होता है। इनमेंसे ब्रह्मलोककी प्राप्ति करानेवाला देवयानमार्ग अन्तर्मुख उपासकोंको प्राप्त होता है, इसलिये संसारचक्रकी प्रथम मध्य नाभि है। स्वर्गादिकी प्राप्ति करानेवाला पितृयानमार्ग उपासकोंकी अपेक्षासे बहिर्मुख कर्मी पुरुषोंको प्राप्त होता है,

इसलिये संसारचक्रकी दूसरी नाभि है। कीट-पतंगादिक क्षुद्र शरीरोंकी प्राप्ति करानेवाला तृतीय स्थाननामक मार्ग कर्मी पुरुषोंकी अपेक्षासे अत्यन्त बहिर्मुख पापात्मा जीवोंको प्राप्त होता है, इसलिये यह संसारचक्रकी तीसरी नाभि है। कीट-पतंगादिकोंसे भी अत्यन्त निकृष्ट वृक्षादिक तामसी जीवोंको प्राप्त होनेयोग्य तमरूप अविद्या संसारचक्रकी अत्यन्त बाह्य नेमि है। जैसे काष्ठ और मृत्तिका ये दोनों कुलालके चक्रके कारण हैं, इसी प्रकार सुख-दुःखरूप फलका देनेवाले पुण्य-पापरूप कर्म संसारचक्रके निमित्त कारण हैं। हृदयदेशमें स्थित आत्माका विस्मरण करानेवाला तमरूप मोह इस संसारचक्रका सर्वत्र अनुगत एक रूप है। हे संन्यासियो! इस संसारचक्रभावको प्राप्त हुए मायाविशिष्ट परमात्मदेवको वेदवेत्ता ब्राह्मणोंने ध्यान करके देखा।

मायाविशिष्ट परमात्माका नदीरूपसे वर्णन।

हे संन्यासियो! संसारचक्रकी उपादान कारण माया एक बड़ी नदीरूप है। इस मायारूप नदीका स्वरूप वेदवेत्ताओंने इस प्रकारका देखा--श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसन, घ्राण इन पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके गोलकस्थान मायारूप नदीके पाँच स्रोत हैं। जैसे नदियोंके जल स्रोत स्थानोंमें चलते हैं, इसी प्रकार श्रोत्रादिक पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ गोलकरूप स्थानोंमें गमन करती हैं, इसलिये वे मायारूप नदीके पाँच प्रकारके जल हैं। जैसे नदियोंके जलका मेघ कारण होता है, इसी प्रकार आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी ये पाँच भूत इन्द्रियरूप जल और गोलकरूप स्रोतोंके कारण हैं। जैसे वर्षाकालमें नदियोंके प्रवाह कुटिल होते हैं, इसी प्रकार काम-क्रोधादिक आसुरी सम्पदावाले प्रमादी जीवोंमें श्रोत्रादिक इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुए पाँच प्रकारके ज्ञान जीवोंके दुःखके हेतु हैं, इसलिये पाँच प्रकारके ज्ञान मायारूप नदीके अत्यन्त उग्र तथा कुटिल पाँच प्रवाह हैं। अथवा जैसे नदियोंके जलके भ्रमणरूप चक्र जीवोंको नीचे ले जाते हैं, इसी प्रकार शास्त्रसंस्काररहित प्रमादी पुरुषोंको पाँच प्रकारका ज्ञान कीट-पतंगादिक शरीरोंकी प्राप्तिरूप अधोगतिको ले जाता है; इसलिये पाँच प्रकारके ज्ञान मायारूप नदीके उग्र चक्र हैं। जैसे नदियोंमें तरंग होते हैं, इसी प्रकार प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान ये पाँच प्राण इस मायारूप नदीके महान् तरंग हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन पाँचोंको विषय करनेवाले शास्त्रविहित और शास्त्रनिषिद्ध पाँच प्रकारके ज्ञान, पाँच प्रकारकी इच्छा संस्कारद्वारा मायारूप नदीके पाँच मूल हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये मायारूप नदीके पाँच महान् आवर्त्त हैं, जिनमें पड़कर जीव निकल नहीं सकता, क्योंकि जैसे जीवोंको पार उतारनेवाले नाविक पुरुष भी जब आवर्त्तमें पड़ जाते हैं तो अपनेको भी आवर्त्तमेंसे निकाल नहीं सकते, इसी प्रकार अधिकारी पुरुषोंको शास्त्रका उपदेश करके मायारूप नदीसे पार करनेवाले विद्वान् पुरुष भी जब इन विषयरूप आवर्त्तोंमें फँस जाते हैं, तो वे भी अपनेको निकालनेमें समर्थ नहीं होते। जैसे नाविक पुरुषोंको आवर्त्तमें पड़ा हुआ देखकर कोई तो उनके लिये शोक करते हैं और कोई उनका उपहास करते हैं। इनमेंसे नाविकपुरुषोंका उपकार जाननेवाले सज्जन तो उनके लिये शोक करते हैं और उपकारको न जाननेवाले कृतघ्नलोग उनका उपहास करते हैं; इसी प्रकार शास्त्र-उपदेष्टा विद्वानोंको विषयरूप आवर्त्तमें पड़ा हुआ असमर्थ देखकर जिन अधिकारियोंको उन्होंने मायारूप नदीसे पार किया था, वे तो विद्वानोंके लिये शोक करते हैं और कृतघ्न पुरुष उनका उपहास करते हैं। इसलिये हे मुनीश्वरो! विद्वान् पुरुषोंको भी ऐसा अभिमान कभी न करना चाहिये कि हम शास्त्रका उपदेश करके जीवोंको मायारूप नदीसे तारनेवाले हैं, इसलिये हमारा विषयरूप आवर्त्त क्या कर सकते

हैं ? ऐसा अभिमान करनेवाले विद्वान् भी यदि कदाचित् विषयरूप आवर्त्तमें पड़ जायँगे, तो लोगोंके शोक तथा उपहासके पात्र होंगे, इसलिये करामलकवत् जिन पुरुषोंको आत्माका साक्षात्कार हुआ है उन विद्वानोंको भी विषयरूप आवर्त्तसे सर्वदा भय ही करना चाहिये। सारांश यह है कि जैसे नदियोंके आवर्त्त नाविक और अन्य पुरुषोंके लिये अत्यन्त दुस्तर हैं, इसी प्रकार मायारूप नदीके विषयरूप आवर्त्त भी विद्वान् तथा अविद्वान् दोनोंके लिये अत्यन्त दुस्तर हैं।

शंका-हे भगवन्! यदि इन दुस्तर विषयरूप आवर्त्तोंसे रक्षा करनेवाला कोई उपाय हो, तो कहिये!

समाधान-हे मुनीश्वरो! इन विषयरूप आवर्त्तोंसे रक्षा करनेवाला उपाय शास्त्रमें कहा है। उसको सुनो--जैसे नदियोंमें चलनेवाले नाविक पुरुष जब आवर्त्तोंको अपने वाम अथवा दक्षिण भागकी तरफ छोड़कर चलते हैं, तो वे आवर्त्तोंमें नहीं पड़ते, इसी प्रकार जो विद्वान् तथा मुमुक्षुलोग शास्त्रविचारके बलसे इन विषयरूप आवर्त्तोंका दूरसे ही परित्याग करते हैं, वे इन विषयरूप आवर्त्तोंमें नहीं पड़ते, इसलिये विषयोंमें दोष-दृष्टि करके उन विषयोंका संग ही न करे, यही उनसे रक्षाका उपाय है। इस उपायको छोड़कर यदि विद्वान् भी विषयरूप आवर्त्तोंमें फँस जायगा तो वह भी उनमेंसे निकलनेको समर्थ नहीं होगा। जब विद्वान् ही समर्थ न होगा, तो अविद्वान्का तो कहना ही क्या है। इसलिये कल्याणाभिलाषियोंको इन विषयरूप आवर्त्तोंको दूरसे ही त्यागना चाहिये। संगका परित्यागरूप उपायके सिवा उनसे बचनेका अन्य कोई उपाय नहीं है। इन शब्दादिक पाँच विषयोंसे जो पाँच प्रकारका सुख उत्पन्न होता है, वह सुख नाशवान् और भयका कारण है, इसलिये मधु-विषयुक्त अन्नके समान विषयजन्य सुख दुःखरूप ही है।

हे मुनीश्वरो! इन पाँच प्रकारके दुःखोंका रात्रि-दिन निरन्तर प्रवाह मायारूप नदीका पाँच प्रकारका वेग है। अथवा गर्भ-दुःख, जन्म-दुःख, जरा-दुःख, व्याधि-दुःख, मरण-दुःख ये पाँच प्रकारके दुःख मायारूप नदीके पाँच वेग हैं। तम, मोह, महामोह, तामिस्र, अन्धतामिस्र ये पाँच प्रकारके क्लेश मायारूप नदीके पाँच पर्व हैं। विभागका नाम पर्व है, इससे यह अर्थ सिद्ध होता है कि पाँच इन्द्रियोंके गोलक, पाँच श्रोत्रादिक इन्द्रियाँ, पाँच आकाशादिक भूत, पाँच ज्ञान, पाँच प्राण, पाँच बुद्धि, पाँच इच्छा, पाँच विषय, पाँच दुःख, पाँच क्लेश इन पचास भेदोंसे मायारूप नदी पचास भेदवाली है। अथवा पाँच क्लेश, आठ सिद्धि, नव तुष्टि, अट्ठाईस अशक्ति, इन पचास भेदोंसे मायारूप नदी पचास भेदवाली है। ऐसी मायाशक्तिको वेदवेत्ता ब्राह्मणोंने ध्यानकालमें कारणब्रह्मके आश्रित देखा।

शंका-हे भगवन्! वेदवेत्ता ब्राह्मण तो अद्वितीय ब्रह्मके ध्यानपरायण थे, उन्होंने मायाको क्यों देखा?

समाधान-हे संन्यासियो! विद्वान् ब्राह्मण अद्वितीय ब्रह्मके ध्यानमें सर्वदा मायाको नहीं देखते थे किन्तु जब वे इस जगत्की उत्पत्ति आदिकोंकी अनुपपत्तिका स्मरण करते थे तब ही मायाशक्तिको देखते थे। जैसे वे ब्रह्माकार वृत्तियोंके प्रवाहरूप ध्यानसे मायाशक्तिको देखते थे, इसी प्रकार यदि तुम भी जब ब्रह्ममें वृत्तियोंका प्रवाह करोगे, तो तुम भी मायाशक्तिको आप ही जान लोगे, इसलिये मैं तुम्हारे प्रति अद्वितीय ब्रह्मका उपदेश करता हूँ, सावधान होकर सुनो—

अद्वितीय ब्रह्म सबका आत्मा है।

हे संन्यासियो! पूर्वोक्त कालादिक कारणोंके अधिष्ठानरूप जिस निर्गुण ब्रह्मको ब्राह्मणोंने ध्यानमें देखा था, वह ब्रह्म तुम्हारे आत्मासे भिन्न नहीं है किन्तु

तुम सबलोगोंका आत्मा ही है। हे संन्यासियो! जो अद्वितीय ब्रह्मरूप आत्मा तुम्हारे हृदयदेशमें स्थित होकर बुद्धि आदिक संघातका प्रकाश करता है वह ही ब्रह्म मायारूप उपाधिके सम्बन्धसे ईश्वर तथा ईश्वरसाक्षी कहा जाता है और अविद्यारूप उपाधिके सम्बन्धसे जीव तथा जीवसाक्षी कहलाता है। तात्पर्य यह है कि एक ही प्रकृति शुद्ध सत्त्वगुणकी प्रधानतासे माया और मलिन सत्त्वगुणकी प्रधानतासे अविद्या कहलाती है। मायाविशिष्ट चेतनका नाम ईश्वर है और माया-उपहित चेतनका नाम ईश्वरसाक्षी है। इसी प्रकार अविद्याविशिष्ट चेतनका नाम जीव है और अविद्या-उपहित चेतनका नाम जीवसाक्षी है। हे संन्यासियो! जैसे कुलाल दण्डसे चक्रको घुमाता है, इसी प्रकार सब जीवोंके हृदयदेशमें स्थित होकर परमात्मदेव काम-क्रोधादिरूप दण्डसे इन पराधीन जीवोंको निरन्तर भ्रमण कराता है। जबतक इस जीवात्माको अद्वितीय आत्माका साक्षात्कार नहीं होता तबतक संसारचक्रमें भ्रमण करता है और जब यह जीवात्मा गुरुशास्त्रके उपदेशसे अद्वितीय आत्माका निश्चय करता है, तब संसाररूप कार्यसहित अविद्याका नाश करता है, इसीलिये श्रुति भगवती जीवात्माको 'हंस' कहती है। जो जीव अद्वितीय आत्माके ज्ञानसे अविद्याका हनन करता है, उसका नाम 'हंस' है। जब यह जीवरूप हंस अद्वितीय ब्रह्मरूपसे अपने आत्माको देखता है, तब ही जन्ममरणादिक विकारोंसे रहित होकर मोक्षरूप अमृतको प्राप्त होता है। हे संन्यासियो! जिस अद्वितीय ब्रह्मको यह जीवरूप हंस अपने आत्मारूपसे देखता है, इसी ब्रह्मका यह वेदान्तशास्त्र प्रतिपादन करता है। उसी अद्वितीय ब्रह्मरूप अधिष्ठानमें तेज, जल और पृथिवी ये तीन भूत रहते हैं, वही अद्वितीय ब्रह्म सर्व कर्मफलोंका अवधिरूप है। आत्माको आवरण करनेवाली मायाशक्ति इसी परमात्मदेवके आश्रित रहती है। पूर्वमें वे वेदवेत्ता ब्राह्मण इसी स्वयंज्योति आत्मदेवको मायासे भिन्न तथा अद्वितीय ब्रह्मरूप जानकर आवरणविक्षेपरूप मायासे मुक्त होकर अद्वितीय ब्रह्मके साथ अभेदभावको प्राप्त होकर जन्ममरणादिक विकारोंसे रहित हुए थे, इसलिये तुम भी इस अद्वितीय ब्रह्मको अपना आत्मा जानो।

तत्त्वंपदोंका अर्थ।

हे संन्यासियो! 'तत्त्वमसि' इस वाक्यमें स्थित जो तत्, त्वं दो पद हैं, इनके अर्थका विचार करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। सर्वत्र व्यापक परमात्मा तत्पदका अर्थ है और जीवरूप हंस त्वं पदका अर्थ है। तत्पदार्थरूप ईश्वर और त्वं पदार्थरूप जीवका परस्पर भेद जो प्रतीत होता है वह परमार्थसे नहीं है किन्तु उपाधिमें है। क्षर और व्यक्त इन दो नामसे श्रुतिमें कहा हुआ अन्तःकरण आदिक प्रपञ्च जीवकी उपाधि है और अव्यक्त, अक्षर इन दो नामसे कहा हुआ अज्ञान ईश्वरकी उपाधि है। श्रुति—'कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।' अर्थ—'अन्तःकरणादिक कार्य उपाधिवाला जीव है और अज्ञानरूप कारण उपाधिवाला ईश्वर है।' कार्य-कारणरूप इन दोनों उपाधियोंका अधिष्ठान शुद्ध परब्रह्म है। जब वह परमात्मा बुद्धिके साथ तादात्म्यसम्बन्धको प्राप्त होकर अपने वास्तव स्वरूपको नहीं जानता, तब जीवभावको प्राप्त होता है और पुण्य-पापके वशसे नाना प्रकार सुख-दुःख भोगता है। वही परमात्मदेव जब मायाकृत जीवभावका परित्याग करके अपनेको अद्वितीय ब्रह्मरूप जानता है, तब सर्व बन्धनोंसे मुक्त होकर मोक्षरूप अमृतभावको प्राप्त होता है। हे संन्यासियो! जैसे वस्तुतः न्यून-अधिक भावसे रहित आकाश सूचीके छिद्रमें स्थित होनेसे अल्प कहा जाता है, और ब्रह्माण्डरूप उपाधिमें स्थित होनेसे महान् कहा जाता है, इसी प्रकार वस्तुतः जीव-ईश्वर-भावसे रहित

परमात्मा बुद्धिरूप उपाधिमें स्थित होनेसे जीव कहलाता है और मायारूप उपाधिमें स्थित होनेसे ईश्वर कहलाता है । इसलिये कार्य-कारणरूप उपाधिके भेदसे ही जीव-ईश्वरका भेद प्रतीत होता है, परमार्थसे भेद नहीं है । इसलिये कल्पित उपाधियोंका परित्याग करके यह जीवरूप हंस जब अपनेको अद्वितीय ब्रह्म जानता है, तभी माया और मायाके कार्य काम-क्रोधादिक पाशोंसे मुक्त होकर ब्रह्म ही हो जाता है ।

शंका—हे भगवन् ! अद्वितीय आत्मामें जीव, ईश्वर, ब्रह्म इत्यादि भेदव्यवहार कौन कराता है ?

समाधान—हे संन्यासियो ! जीव, ईश्वर और शुद्ध ब्रह्म, इन तीनोंको शास्त्रवेत्ता अनादि कहते हैं । इन तीनोंमें अनादिपना तथा जन्मसे रहितपना भी मायासे कल्पित है । तात्पर्य यह है कि मायाशक्ति ही ईश्वरादिकोंमें अनादिपना और आकाशादिक प्रपञ्चमें सादिपनाकी कल्पना करती है, जब माया जीव, ईश्वर और शुद्ध ब्रह्ममें अनादिपना कल्पती है, तब जीव-ईश्वरका भेद, माया और मायाचेतनका सम्बन्ध इन तीनोंमें अनादिपना अर्थसे ही सिद्ध होता है, इसीलिये शास्त्रवेत्ताओंका कथन है कि जीव, ईश्वर, शुद्ध चेतन, जीव-ईश्वरका परस्पर भेद, अविद्या और अविद्याचेतनका सम्बन्ध ये छः वेदान्तशास्त्रमें अनादि हैं । इस प्रकार अद्वितीय आत्मामें जो-जो भेद प्रतीत होता है, वह सब मायासे प्रतीत होता है । जब यह अधिकारी पुरुष जीव, ईश्वर और शुद्ध चेतन, इन तीनोंको अपने आत्मासे अभिन्न जानता है और अपने स्वरूपको सर्वत्र व्यापक देखता है, तब वह मोक्षको प्राप्त होता है ।

मायाकी निवृत्तिका उपाय

हे संन्यासियो ! जो अनादि माया जगत्की उत्पत्तिकालमें भोक्ता-भोग्यरूपसे इस जीवको अनेक प्रकारके सुख-दुःखकी प्राप्ति कराती है और प्रलयकालमें नामरूपात्मक जगत्भावसे रहित स्थित होती है, उस मायाको श्रुति भगवती अक्षर कहती है और यह माया आत्मसाक्षात्कारके पीछे नष्ट हो जाती है, इसलिये श्रुति उस मायाको क्षर कहती है ।

शंका—हे भगवन् ! एक श्रुति मायाको अक्षर कहती है और दूसरी क्षर कहती है । एक पदार्थमें अक्षरपना और क्षरपना दो विरुद्ध धर्म संभव नहीं है, इसलिये दोनों श्रुतियोंका परस्पर विरोध है ।

समाधान—हे संन्यासियो ! यह अनादि माया आत्मसाक्षात्कारके सिवा दूसरे किसी उपायसे नष्ट नहीं होती, इसलिये अक्षर कहलाती है और आत्मसाक्षात्कारसे नष्ट हो जाती है, इसलिये क्षर कहलाती है, इसलिये दोनों श्रुतियोंका विरोध नहीं है । हे संन्यासियो ! नाशरहित वस्तुका नाम अक्षर है, ऐसा अक्षरपना मायामें सम्भव नहीं है, किन्तु उत्पत्ति-नाशसे रहित परमात्मदेवमें ही ऐसा अक्षरपना सम्भव है । यह अक्षर परमात्मा अधिकारीकी बुद्धिकी वृत्तिमें आरूढ होकर माया-का हरण करता है, इसलिये श्रुति भगवती पर-मात्मादेवको हर कहती है, यह परमात्मा अपनी सत्तासे मायारूप कारणको और जगत्रूप कार्यको नियममें रखता है, इसलिये ईश कहलाता है । हे संन्यासियो ! तुमको ऐसा संशय कभी नहीं करना चाहिये कि हमको आत्मज्ञान तो हुआ है परन्तु हमारी अविद्याकी निवृत्ति नहीं हुई, इसलिये आत्माका ज्ञान अविद्याकी निवृत्तिका कारण नहीं है, यह असम्भावना करना युक्त नहीं है; क्योंकि अविद्याकी अनेक शक्तियाँ हैं, उन शक्तियोंको क्रम-क्रमसे आत्मज्ञानकी अवस्थाएँ नष्ट करती हैं । उन्हीं अविद्याकी शक्तियों और आत्मज्ञानकी अवस्थाओंका मैं तुमसे वर्णन करता हूँ ।

अविद्याकी शक्तियाँ तथा आत्मज्ञानकी अवस्थाएँ

हे संन्यासियो ! प्रथम जगत्में सत्य-बुद्धि कराके पीछे जगत्में आसक्ति करानेवाली जो कोई

अविद्याकी शक्ति है, उसका नाश अभिध्यानरूप ज्ञानसे होता है। 'यह सम्पूर्ण जगत् हमारा आत्मा है, इस प्रकारके चिन्तनका नाम अभिध्यान है। इस अभिध्यानकी उत्पत्तिसे पूर्व अधिकारी पुरुषकी पदार्थोंमें जैसी आसक्ति होती थी वैसी अभिध्यानकी उत्पत्तिसे पीछे नहीं होती, इससे जाननेमें आता है कि अभिध्यानसे अधिकारीकी कोई अविद्याकी शक्ति निवृत्त हुई है, अविद्याशक्तिके नष्ट होनेसे विद्वान् पुरुष संसारासक्त अज्ञानी जीवोंसे विलक्षण हो जाता है और राग-द्वेषादिकोंसे रहित होकर शान्ति आदिक गुणोंसे युक्त होता है, हे संन्यासियो ! इस सम्बन्धमें तुम ही दृष्टान्त हो क्योंकि सर्वात्मभावके चिन्तनरूप अभिध्यानसे पूर्व जैसे तुम्हारी अनात्मपदार्थोंमें आसक्ति थी वैसी आसक्ति अब तुममें नहीं है। और हे संन्यासियो ! इन जीवोंका परस्पर भेद है तथा जीव-ईश्वरका परस्पर भेद है, इस प्रकारके भेदकी प्रतीति करानेवाली जो दूसरी अविद्याशक्ति है, वह योजनासे निवृत्त होती है। जीव-ईश्वरके अभेद चिन्तनका नाम योजना है। जैसे लौकिक पुरुष अपने ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्वादिक जातियोंमें संशय-विपर्ययरहित होते हैं, वैसे योजनासे अविद्याके निवृत्त होनेपर विद्वान पुरुष अपने आत्माकी ब्रह्मरूपतामें संशय-विपर्ययसे रहित होता है। हे संन्यासियो ! अनात्मपदार्थोंको विषय करनेवाले ज्ञानकर्मवासनाको उत्पन्न करनेवाली तीसरी अविद्याशक्ति तत्त्वभावसे नष्ट होती है। निरन्तर अद्वितीय आत्माका चिन्तनरूप आत्मनिष्ठाका नाम तत्त्वभाव है। इस तत्त्वभावसे अविद्याशक्तिके नष्ट होनेपर विद्वान् जीता हुआ ही विदेहमुक्तके समान होता है। इस अवस्थाको प्राप्त होनेपर शुभ-अशुभ संस्कारोंसहित सर्व प्रकारकी अविद्या नष्ट हो जाती है और जैसे स्वप्नसे जागकर पुरुष स्वप्नके प्रपञ्चको नहीं देखता, इसी प्रकार स्वप्रकाश आनन्दस्वरूप आत्माकी निष्ठाको प्राप्त हुआ विद्वान् शरीरादिक प्रपञ्चको नहीं देखता। हे संन्यासियो ! समाधि-अवस्थामें यद्यपि विद्वान्को प्रपञ्चका भान नहीं होता तो भी उत्थानकालमें जगत्का भान होता है, इसलिये विद्वान्को भी जगत्की प्रतीति करानेवाली जो चौथी अविद्याकी शक्ति है, वह शक्ति प्रारब्धकर्मके नाश होनेपर ही नष्ट होती है। इस प्रकार ज्ञानकी अवस्थाविशेषोंसे अविद्याकी शक्तियोंका नाश होता है। इसी बातको स्पष्ट करके निरूपण करता हूँ।

हे संन्यासियो ! जब अधिकारी पुरुष सर्वात्मभावका चिन्तनरूप अभिध्यान करके आत्माका साक्षात्कार करता है, तब वह काम-क्रोधादिक सर्व पाशोंसे मुक्त होता है। इन काम-क्रोधादिक पाशोंसे बँधा हुआ अज्ञानी जीव नाना प्रकारके ऊँच नीच शरीरोंको प्राप्त होकर अध्यात्म, आधिदैव, अधिभूत तीन प्रकारके दुःखोंको प्राप्त होता है। जब अधिकारी पुरुष गुरुशास्त्रके उपदेशसे सम्पूर्ण जगत्को अपना आत्मा जानता है, तब उसके काम-क्रोधादिक दारुण पाश निवृत्त हो जाते हैं। हे संन्यासियो ! जैसे घटाकाश महाकाशसे अभिन्न है, इसी प्रकार हमारा आत्मा अद्वितीय ब्रह्मसे अभिन्न है, इस प्रकार जीव-ब्रह्मके अभेद-चिन्तनरूप योजनासे जब अधिकारीको अद्वितीय ब्रह्मका ज्ञान होता है, तब उसके आत्म-अनात्मके अध्यासरूप हृदयग्रन्थिका भेदन हो जाता है और अविद्यादिक पाँच क्लेशोंकी निवृत्ति हो जाती है तथा शुभ-अशुभ सम्पूर्ण कर्मोंका क्षय हो जाता है और सम्पूर्ण संशयोंकी निवृत्ति हो जाती है। श्रुति कहती है--

> भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
> क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥

अद्वितीय परमात्माके साक्षात्कार होनेपर अधिकारी पुरुषकी अध्यासरूप हृदयग्रन्थि भेदनको

प्राप्त होती है और आत्माके विषय करनेवाले सम्पूर्ण संशय छेदनको प्राप्त होते हैं और प्रारब्धकर्मके सिवा सम्पूर्ण कर्म क्षीण हो जाते हैं। इस प्रकार आत्मसाक्षात्कारसे जब अधिकारी पुरुषके अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है, तब अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश इन पाँचों क्लेशोंकी निवृत्ति हो जाती है, और अधिकारीको फिर दुःखकी प्राप्ति नहीं होती। हे संन्यासियो! इस प्रकार आत्मसाक्षात्कारके प्रभावसे सर्व दुःखोंसे रहित हुआ विद्वान् अपने प्रारब्धकर्मकी समाप्तिकी इच्छा करता हुआ संसारमें विचरता है और जैसे देहात्मबुद्धिवाले अज्ञानी जीवसंघातके पूजन-ताडनादिसे सुख-दुःखको प्राप्त होते हैं, इस प्रकार विद्वान् सुख-दुःखको प्राप्त नहीं होता किन्तु बुद्धि-देहादिक संघात ही पूर्वके पुण्य-पापसे सुख-दुःखको प्राप्त होता है, 'मैं आत्मा बुद्धि आदिक संघातसे भिन्न हूँ' ऐसा विचारकर विद्वान् अपनेमें सुख-दुःख नहीं मानता किन्तु संघातमें ही मानता है। जैसे लोकमें अपने शरीरसे भिन्न अन्य शरीरके अभिमानसे रहित पुरुष उन शरीरोंके सुख-दुःखसे अपनेको सुखी-दुःखी नहीं मानता, इसी प्रकार विद्वान् अपने शरीरको भी दूसरेके शरीरके समान जानता है, इसलिये शरीरके सुख दुःखसे अपने आत्माको सुखी-दुखी नहीं मानता। जैसे परस्पर विवाद करनेवाले दो पुरुषोंके पक्षपातसे रहित मध्यस्थ पुरुष उन दोनोंके सुख-दुःखको जानता हुआ भी अपनेमें नहीं मानता, इसी प्रकार असंग विद्वान् संघातके सुख-दुःखोंको जानता हुआ भी अपने स्वरूपमें नहीं मानता। जैसे स्वप्नद्रष्टा पुरुष पूर्व कर्मोंकी वासनाके अनुसार नाना प्रकारके स्वप्न देखता है, इसी प्रकार विद्वान प्रारब्ध कर्मके अनुसार समाधिसे उत्थानकालमें सुख-दुःखादिक प्रपञ्चको देखता है। हे संन्यासियो! अभिध्यान, योजना, तत्त्वभाव इन तीन अवस्थाओंमें प्रथम अभिध्यान अवस्थाका फल जो हमने तुमसे कहा, वह ऐश्वर्यरूप फल देवराज इन्द्रको भी दुर्लभ है, योजनाका ऐश्वर्यरूप फल ब्रह्माको दुर्लभ है और तत्त्वभावरूप तीसरी अवस्थाको प्राप्त होकर विद्वान परमेश्वरके ऐश्वर्यरूप फलको प्राप्त होता है। इस अवस्थाके प्राप्त होनेपर यह विद्वान् अपने आत्मा और अन्य पदार्थोंको भिन्नरूपसे स्मरण नहीं करता, सर्व भेदसे रहित, मन वाणीका अविषय, सर्व उपमासे रहित, आप्तकाम, स्वयंज्योति, आनन्दस्वरूप हो जाता है।

मुख-कमल

तुव मुख कमल नैन अलि मेरे।
पलक न लगत पलक बिनु देखे अरबरात अति फिरत न फेरे॥
पान करत मकरंद-रूप-रस भूलत ही फिर इत उत हेरे।
भगवतरसिक भये मतवारे झूमत रहत छके मद तेरे॥

(श्रीभगवतरसिकजी)

जीवनकी गति

(लेखक—श्रीव्रजमोहनजी मिहिर)

सागरतक पहुँचनेके लिये सरिता अपार उमङ्गके साथ बड़े वेगसे आगे बढ़ रही है। इतनी तेज़ीसे आगे बढ़ते हुए पानीकी किसी छोटी धाराका कभी किसी गड्ढेमें पड़ जानेसे आगे बढ़ना रुक जाता है। थोड़े समयतक पानीके वहाँ बन्द रहनेसे वह गँदला होकर बदबू करने लगता है। अपनी मुसीबतसे छुटकारा पानेके लिये उसे भी अवसर मिलता है। वर्षा आरम्भ होनेपर छोटे-छोटे गड्ढे पानीसे लबालब भरकर बड़ी नदीकी धाराके साथ मिलकर एक हो जाते हैं। वैसे ही हमारा यह जीवन है। यह बड़ी तेजीसे सरिताकी *भाँति आगे बढ़ रहा है। इसलिये अनन्तके साथ एक* हो जाना इसके लिये बहुत ही आसान है। अनन्तमें मिल जानेहीके लिये इसमें इतना प्रबल वेग है—तीव्र आकांक्षा है। वेग और आकांक्षाकी सहायतासे यह उत्साहपूर्वक निरन्तर आगे बढ़ता रहता है। स्वाभाविक गतिके साथ आगे बढ़ते रहनेसे तो आनन्द और मुक्तिका साम्राज्य बहुत ही समीप है और सरलतासे प्राप्त हो सकता है परन्तु अज्ञानके कारण जब जीवन कृत्रिम साधनोंमें फँस जाता है तब इसकी दशा भी सरिताके किसी छोटे स्रोतकी तरह हो जाती है—इसका आगे बढ़ना रुक जाता है। अनेकों प्रकारकी युक्तियाँ, भाँति-भाँतिके विश्वास और नाना प्रकारकी रीतिरस्म इसके सबसे बड़े बाधक हैं। मनुष्य बहुत-सी वैसी बातें किया करता है जिनकी इसको कुछ भी आवश्यकता नहीं है।

सही बात समझना अक्सर लोगोंको खराब मालूम होता है क्योंकि उसमें कर्तव्यभार अनिवार्य है। यदि एक मनुष्य जंगलके किसी पशुको पकड़कर उसे पिंजरेमें खास ढंगसे रहनेकी शिक्षा देता है और वह इस कार्यसे यह खयाल करता है कि वह उस पशुका बहुत बड़ा हित कर रहा है। परन्तु वास्तवमें उस मनुष्यने उस पशुका क्या हित किया ? उसने तो केवल पशुको पकड़कर पिंजरेमें बन्द कर दिया और अपने स्वार्थके लिये उसे एक खास ढंगका जीवन व्यतीत करनेकी शिक्षा दी। जिससे वह अपनेको पशुके प्रति सद्व्यवहार करनेवाला और उसकी उन्नतिमें सहायता *देनेवाला कहता है। ऐसे ही हमलोग हैं जिनके सम्मुख* लक्ष्यका कोई विचार नहीं है! सारी जिन्दगीभर अनाप-शनाप कुछ किया करते हैं। लक्ष्यविहीन होनेसे पिंजरेमें पड़े हुए पशुकी तरह सारा जीवन यों ही कैदीकी भाँति बिता देते हैं। और जैसे पशुको पिंजरेमें डालकर अज्ञानी मनुष्य उसे तरह-तरहसे सजानेकी कोशिश करता है वैसे ही हम भी करते हैं।

संसारमें अनेकों प्रकारके दुःख हैं, उनके प्रति उदासीनता और अन्यमनस्कताका नकली भाव दिखलाकर हम यह सोचते हैं कि हम अपने मनको उससे स्वतन्त्र बना रहे हैं। और कुछ ऐसी बातोंकी कल्पना कर लेते हैं जो हमें कुछ क्षणिक सुख देती रहती हैं। संकीर्ण वातावरणमें रहनेके कारण हमारा मन और हृदय भी संकीर्ण हो जाता है। इसी संकीर्णताके आधारपर वे सब बातोंका विचार करते हैं। स्वतन्त्रता-

पूर्वक स्वच्छ वायुमें विचरनेके विपरीत हमें अपनी संकीर्णताके अंदर रहकर नष्ट हो जाना अधिक भाता है।

अनन्ततक पहुँचनेके लिये जीवनको ऐसी बद्ध दशामें नहीं रखना चाहिये। अच्छे ढंगसे रहनेकी गरजसे जब तुम किसी बातपर अटक जाते हो तो तुम्हारा जीवन और पेचीदा हो जाता है क्योंकि उस समय किसी एक खास नियमके अनुसार ही जीवनके साथ बर्तना पड़ता है. किसी खास ढंगकी अभिलाषाकी पूर्तिके अभिप्रायसे अवश्य ही कार्यमें शर्त लग जाया करती है। यदि किसीका जीवन स्वाभाविक तौरपर सुन्दर और सरल बन जाय तो उसके लिये तो सदा ही मुक्ति है। जीवनकी पूर्णता किसी खास ढंगके विश्वास और कल्पनाके विकाससे कहीं अधिक महत्त्वकी वस्तु है। सच्ची बात तो यह है कि जीवनकी पूर्णता ही सब कुछ है।

संसारके सब प्राणी आनन्द चाहते हैं। लेकिन यह आनन्द निरवलम्ब है। किसी बाह्य या आन्तरिक कल्पनापर निर्भर नहीं करता। इस बातको न अपनाकर लोग किसी खास आदर्श या खास ढंगके जीवनकी प्रक्रियापर अधिक विश्वास करते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि वे सच्चे जीवनसे और भी अधिक बहिरङ्ग हो जाते है। लक्ष्यस्थलपर न पहुँचकर राहकी किसी धर्मशालामें वे डेरा डाल देते है। उन्हें जहां जाना है, उसकी कोई सुधि ही नहीं रहती। यदि तुम्हें किसी पर्वतशिखरपर पहुँचना है, मार्गमें बहुत-से शीतल निकुञ्ज और आरामगाह हैं, कुछ शर्तके साथ तुम वहाँ कुछ समयके लिये सुख-चैनसे रह भी सकते हो, तो तुम क्या करोगे? क्या तुम उनकी तड़क-भड़कमें आकर वहाँके क्षणिक सुखोंमें रमकर यह भूल जाओगे कि तुम्हें कहाँ पहुँचना है? प्रायः लोग यही भूल किया करते हैं। वे उन शर्तोंपर विश्वास करके जीवनके लक्ष्यका विस्मरण कर देते हैं। और इसीसे अटक रह जाते हैं।

किसी जंगलमें बहुत बड़े-बड़े वृक्ष हैं। वहाँ बीच-बीचमें यदि छोटे पौधे लगा दिये जायँ जहाँ जल और सूर्यरश्मिका नितान्त अभाव हो तो वे छोटे वृक्ष मुरझाकर नष्ट हो जायँगे। पौधेको स्वतन्त्ररूपसे बढ़ने देनेके लिये जैसे स्वतन्त्रताकी आवश्यकता है वैसे ही हम सबोंको भी। स्वतन्त्रदशामें अपनी बाढ़के लिये पौधा उचित प्रयास कर सकेगा। पृथ्वीके अंदर जो बीज है वह अपनी ही शक्तिसे जीवित रहता है। अपनी ही शक्तिसे वह पृथ्वीको भेदकर नीचे जाकर दृढ़ जीवन प्राप्त करता है। इस प्रकार जिस किसीको स्वतन्त्रताकी अभिलाषा है उन्हें आत्मशक्तिपर ही निर्भर करना चाहिये।

मनके अनेक प्रकारके संकल्प-विकल्पोंके कारण अपनी समस्याओंको हल करनेके लिये लोग किसी खास संस्थाके सदस्य बन जाते हैं। इससे कुछ नहीं होता। जीवनका अपने-आप मुकाबला करनेसे ही मुक्ति प्राप्त होती है। नैतिक नियमोंमें जैसे जीवन बद्ध रहता है वैसे ही विचारमें भी। जीवनकी गतिके सम्मुख नैतिक आचारबद्धता है। प्रायः इसमें परिवर्तन भी हुआ करता है। यह ठीक भी है। अतीत बातोंके आधारपर हम नवीन समस्याओंको नहीं हल कर सकते। निरीक्षणपर ही हमें अपने जीवनको ले चलना चाहिये। यही सबसे आसान तरीका है।

जिन लोगोंका जीवन किसी मुख्य विचारके अंदर

बद्ध रहता है उन्हें देखनेसे यही मालूम होता है कि उनका विचार उन्हें स्वतन्त्र बनानेके बजाय जीवनशून्य बना रहा है। जीवनकी बातोंको देखना यदि हम सीख लें तो हम किसी एक खास विचारके अंदर बद्ध नहीं रह सकते। किसी संस्थामें शामिल होकर उन्नति करनेकी आजकल लोगोंमें एक धुन है। संस्थामें शामिल होकर कार्य करना एक खास ढंगकी अभिलाषा और मैंपनके मानसे अलग नहीं है। किसी खास संस्थामें शामिल होकर तुम लोगोंको सच्ची सहायता नहीं पहुँचा सकते। संसारके सम्मुख केवल एक ही लक्ष्य है—और वह है—आनन्द और स्वतन्त्रता ! इनकी प्राप्ति ही जब मनुष्यमात्रके लिये निश्चित सत्य है तो वही वस्तु सब कुछ होगी। जो इसमें सहायता पहुँचा सके।

आनन्दकी प्राप्ति बाहरसे कभी नहीं होती, इसका स्रोत तो अंदर ही है। बाजारमें तुम कपड़ेके बने हुए गुलाबके फूल देखते हो, वे भी सुन्दर हैं, उनमें भी सेन्टरकी महक आती है, लेकिन क्या वे गुलाबके असली पुष्प या सुगन्धका मुकाबला कर सकते हैं ? असली फूलकी सुगन्धकी सहायतासे ही वे सुगन्धित हैं। क्या कोई असली फूलकी उत्पत्ति बाहरकी चीजोंसे कर सकता है ? पृथ्वीतलकी सहायताके बिना असली गुलाब कभी नहीं तैयार हो सकता। कितने ऋतुओंको सहन कर चुकनेके पश्चात्, कितने प्रयासके बाद एक पुष्पकी उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार उचित प्रयासकी सहायतासे ही सच्चे आनन्दकी प्राप्ति होती है।

मनुष्य अपनी तृष्णा, इच्छा और अभिलाषाओंसे घिरा है। जबतक इन बातोंका पालन किया जाता है स्वतन्त्रता कभी नहीं प्राप्त हो सकती। यदि तुम्हारे मनपर किसीका आतङ्क है तो तुम कभी स्वतन्त्रताकी साँस नहीं ले सकते। छतके नीचे रहनेसे तुम्हें स्वच्छाकाश और दीप्तिमान् नक्षत्रोंके दर्शन नहीं हो सकते। स्वर्गकी सुन्दर सुगन्धित मन्द समीरका आनन्द किसी गन्दी कोठरीमें रहकर नहीं उठाया जा सकता।

सब लोगोंको आनन्दकी प्राप्ति करनी चाहिये, यही जीवनका एक लक्ष्य है लेकिन बद्ध दशामें या किसी बाह्य उपायद्वारा इसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अपने आप ही इसे प्रत्येकको प्राप्त करना है। चाहे जितने ही तरीकेसे हम इसे प्राप्त करनेकी कोशिश करें, अन्तमें हमें उस एक ही मार्गपर आना होगा और वह है आत्म-ज्ञानका मार्ग जो कि हमारे अंदर है।

पर्वतके उच्च शिखरपर पहुँचनेके लिये थोड़ी दूरतक तो हम चाहे जितने मार्गोंसे होकर चलें लेकिन जैसे-जैसे हम अधिक ऊँचाईपर पहुँचते जायँगे, वैसे-वैसे रास्ता तंग होता जायगा, पहाड़की चढ़ाई और भी सीधी होती जायगी और आगे बढ़नेपर तो सभी मार्ग लुप्त हो जाते हैं केवल एक ही मार्ग रह जाता है। उसीसे होकर सबोंको जाना पड़ता है।

उच्च शिखरपर पहुंच जानेपर हम पुनः विस्तृत मैदान और सुन्दर रजततुल्य हिमकणका दर्शन करते हैं। ऐसी सौरभ-सुषमाके समक्ष हमारा हृदय बागबाग हो जाता है, फिर हमें अपनी कुछ सुध-बुध नहीं रह जाती। सारा अज्ञान, मार्गकी सारी थकावट, शान्त हो जाती है। आनन्दका समुद्र उमड़ पड़ता है। चारों ओर आनन्द-ही-आनन्द छा जाता है।

पवित्रताके प्रयोग

(लेखक—पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी)

(१)

'भगवन्, कई बार अपमानका बड़ा कटु अनुभव होता है, लोग तरह-तरहसे अपमान कर देते हैं, क्या करूँ ?'

'जब तुम्हें अपमानका अनुभव होता है, तब तुम ऐसी भूमिमें उतर आये रहते हो, जहाँ अपमान तुम्हारा स्पर्श कर सकता है। तुम ऐसी भूमिमें—ऐसी स्थितिमें रहा करो, जहाँ अपमानकी पहुँच ही नहीं है।'

[मैं सोचने लगा, जब मुझे अपमानकी अनुभूति होती है, तब मैं कहाँ रहता हूँ ? अपमान होता ही किसका है ?

१—मैं उस समय सम्मान या और किसी कामनाके पाशमें बद्ध रहता हूँ। उस समय मेरा निवासस्थान होता है—काम, राम नहीं।

२—मैं उस समय शरीर, मन और बुद्धि, इनके अभिमानमें मत्त रहता हूँ या इनके विलासोंमें भूला रहता हूँ।

३—मैं अपने भगवान्को भूलकर, आत्माको भूलकर अहंकार या ममकारके अधीन रहता हूँ।

अपना अपमान स्वयं मैं ही करता हूँ, मुझे स्वयं अपनेको ही दण्ड देना चाहिये। दूसरोंके द्वारा हुआ अपमान मेरा स्पर्श नहीं कर सकता।]

'ठीक है गुरुदेव! अपमान मेरा स्पर्श नहीं करता।'

'इतना ही नहीं बेटा, अपमान तो तुम्हारी आत्म-ज्योतिको जाग्रत् करनेवाला है। तुम्हारी विस्मृतिको नष्ट करके स्मृतिको ताजी बनानेवाला है। अपमान क्षोभका नहीं, प्रसादका जनक है। अपमान होते ही प्रसन्नतासे खिल उठना चाहिये कि मेरी स्मृति ताजी करनेके लिये साक्षात् भगवान्के दूत, नहीं-नहीं स्वयं भगवान् आये हैं। महान् सौभाग्य है—जीवनमें यह अपूर्व अवसर है।' 'ठीक है—गुरुदेव! आपकी कृपा और आशीर्वचन सर्वदा मेरे साथ हैं।'

(२)

मुझे तो कभी-कभी क्रोध आ जाता है प्रभो! मैं दूसरोंके उद्वेगका कारण बन जाता हूँ।'

'दूसरोंके उद्वेगसे पहले अपने उद्वेगके कारण! यह आग है-आग, पहले अपनी जन्मभूमिको जलाकर तब दूसरेको जलाती है।'

[बात तो ऐसी ही है। पहले अपने ही कलेजेमें जलन होती है। चेहरा तमतमा उठता है। आँखें लाल हो जाती हैं। ऐसे शब्दोंको मुँहमें स्थान मिल जाता है—जिन्हें हम सुनना नहीं चाहते। ऐसे कृत्य हो जाते हैं जिनकी स्मृति भी दुःखद है।

मैं क्रोध—क्यों करता हूँ ?

अपनी क्रिया, कामना, कल्पना और विचारोंपर ठेस लगनेसे। और जब मैं दूसरोंके विपरीत आचरण कर बैठता हूँ तब ? तब तो मुझे अपनेपर क्रोध नहीं आता। कैसा मोह है ?

अपना है ही क्या ?

क्रिया, सो तो भगवान्की इच्छासे, समष्टिके प्रवाहमें, प्राक्तन कर्मानुसार स्वयं हो रही है। अपने सिरपर कर्तृत्वका भार ? हरे राम, हरे राम !

कामना और कल्पना, ना, ना, ऐसी कामनाएँ और कल्पनाएँ तो न जाने कितने लोगोंने की हैं। किसीकी पूर्ण रहीं, किसीकी अपूर्ण और किसीकी अधूरी। इनका परिणाम अपने हाथमें नहीं। इनसे ममता करनेवाले, इन्हें अपनी समझनेवाले मारे गये, मारे जाते हैं।'

विचार,विचार अपने हैं, यह तो सबसे उपहासास्पद बात है। ऐसे विचार अबतक न जाने कितनोंकी बुद्धिमें आये और गये। उनसे ममता—ये विचार मेरी बुद्धिके मौलिक देन हैं–मूर्खता है।

तब फिर मैं क्रोध—क्यों करता हूँ? केवल अविचारसे, अज्ञानसे, मूर्खतासे। अपनेको जलानेके लिये—अपनेको ही उद्विग्न करनेके लिये।]

'ठीक है, महाराज! क्रोधसे पहले मैं ही उद्विग्न होता हूँ।' 'उद्विग्न होनेकी आवश्यकता नहीं। क्रोध आनेका आसार देखते ही प्रसन्नतासे फूल उठो, खिलखिलाकर हँसो, तुम्हारी प्रसन्नताकी बाढ़में क्रोध बह जायगा और तुम्हारी शान्ति आनन्दके रूपमें परिणत हो जायगी।'

'गुरुदेव! आपका प्रेम अनन्त है।'

(३)

'गुरुदेव! जब प्रलोभन सामने आता है तब एकाएक मैं पराजयके स्थानपर पहुँच जाता हूँ। पता ही नहीं चलता कि मैं कब कैसे कहाँ आ गया।'

'परन्तु उन प्रलोभनोंकी सृष्टि कौन करता है? उन्हें सामने कौन लाता है? लोभ उन प्रलोभक वस्तुओंमें है या तुम्हारे अंदर? वे जड़ वस्तुएँ तुम्हें पराजित करनेकी शक्ति कहाँसे प्राप्त करती हैं?'

[वास्तवमें दृश्य पदार्थोंमें सुन्दरता और रमणीयताका आरोप मन ही करता है। भावना ही उन्हें आकर्षक बनाती है। सौन्दर्यकी कल्पना देश, समय, व्यक्ति और रुचिके भेदसे भिन्न-भिन्न प्रकारकी होती रहती है। मेरे मनने ऐसी वस्तुओंको सुन्दर मान रखा है जो जीवनको परमात्मासे विमुख बनानेवाली हैं। इच्छासे ही उन वस्तुओंके सान्निध्यकी अनुभूति होती है। लोभ मनमें ही रहता है उन वस्तुओंमें नहीं। जिन वस्तुओंको देखकर बालक, वृद्ध, ज्ञानी, दूसरी जाति और देशके लोग आकृष्ट नहीं होते उन्हींको देखकर मेरा मन आकृष्ट हो जाता है। इसलिये उनमें आकर्षण नहीं, मेरे मनमें ही उन्हें पानेकी ललक है। मनका अन्धापन ही पराजित करता है। वही विवश और अज्ञान बन जाता है। वही तन्मय होकर उन्हें प्रलोभक भी बनाता है।]

'हाँ भगवन्! दोष तो सब अपना ही है। उन्हें स्वयं ही नष्ट करना चाहिये। परन्तु करूँ क्या, अपना किया तो कुछ होता नहीं।'

'करना क्या है? न विषयों—प्रलोभनोंको नष्ट करना है और न तो मनको ही। विषय रहेंगे ही और मन भी रहेगा ही। केवल भावनाका परिवर्तन करना है। किसी भी सुन्दर वस्तुको देखकर उसमें भोग्य-भावना न हो। सब सुन्दर और मधुर वस्तुएँ इसलिये सामने आती हैं कि उनको देखकर सुन्दरतम एवं मधुरतम भगवान्की स्मृति हो। केवल उतनेसे ही सन्तुष्ट हो जाना, उनमें ही रम जाना तो महान् हानि है। उन्हें देखते ही अनन्त सौन्दर्य एवं अनन्त माधुर्य-की स्मृतिमें मस्त हो जाओ। उन वस्तुओंका सामने आना विक्षेप नहीं प्रसाद है। प्रसाद भी ऐसा, जो साधारण नहीं, अनन्त शान्ति और अनन्त आनन्दका उद्गम है। तुम अपने मनको उस महात्माके मन-सा बना लो, जो एक वेश्याके आनेपर मातृस्नेहसे मुग्ध और समाधिमग्न हो गया था।'

'मैं आपके अनन्त दयासमुद्रमें डूब-उतरा रहा हूँ।'

(४)

'भगवन् ! अमुक व्यक्ति तो संन्यासी होकर संग्रह करते हैं, अमुक व्यक्ति गृहस्थ होकर संन्यासियोंकी निन्दा करते हैं, बड़ा क्षोभ होता है ।'

'नारायण, नारायण, तुम बड़ी भूलमें हो । कहाँ संन्यासी और कहाँ गृहस्थ ? यह सब तुम्हारे मनकी कल्पना है । यह सब नारायणका नाटक है । वे ही कहीं संन्यासी बने हैं, कहीं गृहस्थ । संग्रह भी नाटक, निन्दा भी नाटक । तुम अपनी दृष्टि नटपर जमाये रखो । मस्त रहो । दूसरेकी कल्पना ही मत आने दो ।

'श्रवण, मनन और निदिध्यासनसे जब यह निश्चय हो चुका है कि सब कुछ परमात्मा ही है, तब यह भला है, यह बुरा है, इस प्रकारकी दृष्टि ही क्यों होती है ? यह भला है इस प्रकारकी दृष्टि तो यथा-कथञ्चित् क्षम्य भी है, परन्तु बुरेकी कल्पना तो सर्वथा विपर्यय है । यदि सर्वथा समत्व न रहे, वैषम्य हो ही जाय, तो अपनी दृष्टि भलेपर ही जानी चाहिये । परन्तु भले-बुरेकी भावना और सत्ताको दृढ़ करनेकी क्या आवश्यकता, उन्हें तो शिथिल ही करना चाहिये । यदि प्रतीत होता है भला-बुरा, तो वह लीलाविलास ही है, नाटक मात्र है । नाटकके भीम और दुर्योधन दोनों ही मनोरञ्जनके लिये हैं । नाटककी मृत्यु, रोग और उत्पीडन रसानुभूतिके लिये हैं । अद्भुत, रौद्र, भयानक और बीभत्स भी तो रस ही हैं तब इनको देखकर क्षुब्ध होनेका क्या कारण है ?'

'हाँ भगवन् ! यह सब है तो नाटक ही ।'

'यह भी आवश्यक नहीं कि नाटकको नाटकके रूपमें स्मरण रखा ही जाय, नाटक देखते-देखते उसका नाटकत्व भूल जाना तो नाटककी अपूर्व सफलता और मनोहरताका चिह्न है । उस विस्मृतिमें भी यह निश्चय अडिग रहे कि यह नाटक है । जो अभिनय अपनेको मिले उसको पूर्ण करो और खूब सफलताके साथ । वैसे कठोर कर्तव्योंका भी पालन करो, भगवान् श्रीकृष्ण-के प्रति जिनका पालन भीष्मको करना पड़ा था । फिर भी एक दृश्य समाप्त होनेपर और बीचमें भी उस सत्यरूपसे प्रतीयमान नाटकका नाटकत्व तो ध्यानमें आ ही जाता है ।'

'सत्य है प्रभो, व्यावहारिक जगत् एक नाटक है और मैं उसका पात्र तथा द्रष्टा हूँ, भला-बुरा कुछ नहीं, सब लीला है । मैं आपकी कृपासे अनन्त शान्तिका भाजन हूँ ।'

(५)

'प्रभो ! स्वादवृत्तिके कारण कभी-कभी बड़ा विक्षेप होता है । कई वस्तुओंके तो स्मरण मात्रसे ही जीभपर पानी आ जाता है । कितना कमजोर मन है !'

'इसी कमजोर मनसे तो काम निकालना है, बलवान् मन कहाँसे लाओगे ? प्रसादकी भावना करो, प्रसादका निश्चय करो, ऐसा न हो सके तो भगवान्को नैवेद्य लगाकर खाओ, भगवान्को ही खिलाओ । तुम्हारी यह जिह्वालोलुपता अथवा मनकी कमजोरी साधन बन जायगी और अधिकाधिक भगवान्का स्मरण होने लगेगा । फिर तो यह 'भोजन' का रस 'भजन' का रस बन जायगा ।'

'मेरे गुरुदेवकी वाणी कितनी अद्भुत है । मैं जिस अवस्थामें हूँ—जहाँ हूँ, वहीं वे भगवान्का दर्शन करा देते हैं । वे कहते हैं—प्रसादकी भावना और निश्चय करनेको । यह सारा जगत्, जगत्की सारी वस्तुएँ भगवान्की प्रसाद ही तो हैं । वही एक मात्र भोक्ता हैं और सब भोग्य । सबका रस—वास्तवमें अपना रस—वे स्वयं अपने-आप ही ले रहे हैं । किसी

भी वस्तुका रस भगवान्‌का रस है, ऐसा स्मरण ही साधन है। दूसरी वस्तु हो तब न ? वस्तु तो केवल भगवान् ही हैं। यदि भगवान् और प्रसादका विस्मरण हो गया है तो स्मरण कर लें, स्मरणमें सन्देह हो तो पुनः नैवेद्य लगा लें और यह भी न हो तो भगवान्‌को ही खिलावें। जब मैं स्वादिष्ट ग्रास उठाता हूँ तब नन्हेंसे भगवान् अपनी हथेलियाँ फैला देते हैं और उन नन्हीं-नन्हीं लाल-लाल हथेलियोंपर—हृदयमें ही ग्रास लेकर जल्दीसे खा जाते हैं। बच्चे हैं न, खानेके लिये मचलते रहते हैं। इस प्रकार स्वादिष्ट वस्तुयें ही खिलाना चाहिये। भाव ही सब कुछ है, जिसे वह प्राप्त है उसे कभी विक्षेप नहीं होता। भाव 'कु' में भी 'सु' की सृष्टि कर लेता है। मैं प्रसादकी भावना कभी न छोड़ूँ।'

'भगवन् ! वास्तवमें भगवान्‌का प्रसाद ही है सब। कहीं भी विक्षेपकी सम्भावना नहीं है।'

'बेटा, विक्षेपकी तो सत्ता ही नहीं है। उसका उद्गम है—अज्ञान, मोह या मूर्खता। उसपर तूने विजय प्राप्त की है। तुम 'प्रसाद' का अनुभव करते हो यही तुम्हारा सहज स्वरूप है।'

'प्रभो ! भगवान्‌का—आपका प्रसाद ऐसा ही है।'

कल्याण

याद रक्खो आत्मामें अनन्त शक्ति है, मोहकी गहरी चादरसे वह ढक रही है। इसीसे तुम अपनेको मन और इन्द्रियोंके वशमें पाते हो, इसीसे तुम्हारे अंदर वासना, कामना और विषयासक्तिने अपने डेरे डाल रक्खे हैं, इसीसे तुम पाप-तापके आक्रमणसे पीड़ित हो। यदि तुम किसी तरह उस चादरको फाड़ सको तो फिर तुम्हारी अनन्त शक्तिके सामने किसीकी भी शक्ति नहीं जो ठहर सके और तुम्हें किसी प्रकार भी सता सके।

मोहकी चादर फाड़नेका प्रधान साधन है आत्म-शक्तिमें विश्वास, आत्मबलका निश्चय। विश्वासकी ज्योतिसे मोह-तमका नाश तत्काल ही हो सकता है। तुम विश्वास करो, निश्चय करो कि तुम्हारे अंदर अनन्त शक्ति है। मन, इन्द्रियाँ सब तुम्हारे सेवक हैं, तुम्हारी अनुमतिके बिना उनमें जरा भी हिलने-डुलनेका सामर्थ्य नहीं है। तुम्हारी ही दी हुई जीवन-शक्तिसे वे जीवित हैं और तुम्हारे ही बलपर वे सारी चेष्टाएँ करते हैं। तुमने भूलसे अपनेको उनका गुलाम मान लिया, तुम अपने स्वरूपको भूल गये, इसीसे तुम्हारी यह दुर्दशा है। आत्माके स्वरूपको सँभालो, फिर तुम अपनेको अपार शक्ति-सम्पन्न पाओगे।

चादरके अंदर छिपी हुई भी आत्मशक्ति तो काम करती ही रहती है, परन्तु मोहावृत होनेसे उसके वे काम भी मोह बढ़ानेवाले ही होते हैं, इससे शक्तिका दुरुपयोग और व्यर्थ व्यय होता है। तुम निश्चयकी—विश्वासकी तलवार हाथमें लेकर चादरको चीर डालो। देखो, तुम्हारे अंदर तुम्हें परम शान्ति प्रदान करने-वाली ज्ञानाग्नि निरन्तर जल रही है। वह राखमें ढकी है। अश्रद्धा और आत्मविस्मृति ही वह राखका भारी ढेर है। इस भस्मराशिको हटाकर धधका दो आगको, उस प्रचण्ड आगमें मोहकी चादरका एक-एक धागा जल जायगा। फिर तुम आत्माकी अनन्त शक्तिकी झाँकी कर सकोगे।

याद रक्खो,—निश्चय, श्रद्धा, विश्वास और आत्मस्वरूपकी स्मृति ही तुम्हारी आत्माकी अनन्त शक्तिको प्रकट करनेवाले चार महाद्वार हैं। इनकी शरण ग्रहण करो—इनका आश्रय लो।

'शिव'

दैनिक कल्याण-सूत्र

१ मार्च बुधवार—याद रक्खो—

ज्ञान जोग बैरागतें हिरदै उज्ज्वल होइ।
जो अनुरागी हरि भजै परमतत्त्व कहै सोइ॥

२ मार्च गुरुवार—इसको समझकर दुःखको निकाल दो——

रोम रोम आनंद भरि दुखको डारि निकार।
जो कछु करैं सो हरि करैं सिरको भार उतार॥

३ मार्च शुक्रवार—सोचो, किस बातमें अपनी कुशल है——

जामें हरि प्रसन्न हों सोई कीजै बात।
अपनी चाह न ऊपजै, याहीमैं कुसलात॥

४ मार्च शनिवार—देखो, चाह किस बातकी करनी चाहिये —

हरि प्रसन्न भये सुख भया चाह भये अति खेद।
एक चाह हरिमिलनकी भली कहैं सब बेद॥

५ मार्च रविवार—याद रक्खो—

अनहोनी होनी करैं होनीहूँ मिटि जाइ।
कुंजबिहारीलालके जो निज सुखहि समाइ॥

६ मार्च सोमवार—निश्चय करो —

झूठ झूठ सब झूठ है सुनियो संत सुजान।
एक भजन हरिके बिना सब ही धूरि समान॥

७ मार्च मंगलवार—याद रक्खो—

भावैं गावै नाचि तू भावैं हँसि तू रोइ।
साँच बिना हरि ना मिलैं अन्तरजामी सोइ॥

८ मार्च बुधवार—चेत करो - -

तन दीन्हों हरि-मिलनकौं ताकों वृथा न खोइ।
देव-असुर बांछत रहैं सोइ सुलभ भयो तोइ॥

९ मार्च गुरुवार—हाथ आया अवसर न चूको—

हरि मिलिबेकी बेर है सुनियो संत सुजान।
दुर्लभ छिन देवादिकनि समुझत क्यों न अजान॥

१० मार्च शुक्रवार—सोचो और मानो—

जो चाहै हरिमिलनकौं 'मैं-मेरी' को छाँड।
मैं-मेरीको पाइकै बहुत भये हैं भाँड॥

११ मार्च शनिवार—देखो मानवशरीरमें कितना आश्चर्य है—

बादलकी-सी छाँह ज्यों तैसीयै यह देह।
ताहीमैं हरि मिलत हैं देखौ अचरज येह॥

१२ मार्च रविवार—याद रक्खो—परोपकारमें हरि मिलते हैं—

तनकरि मनकरि बचनकरि कीजै पर-उपकार।
ताहीमैं हरि मिलत हैं निश्चै करि उर धार॥

१३ मार्च सोमवार—सोचो—भजन-सेवा क्या है?

भजन यही सेवा यही यही सु हरिसौं प्रीति।
कोई जीव न दुःखई यह संतनकी रीति॥

१४ मार्च मंगलवार—दूसरेके गुण ग्रहण करो, दोष नहीं—

औगुन तौ छीजै नहीं गुनमें कीजै सीर।
गुन छाँडे औगुन गहै तेई हैं बेपीर॥

१५ मार्च बुधवार—याद रक्खो—अनन्य रहो—

सब संतनको मत यही या बिनु सब ही भूल।
पत छाँडै औरनि भजै तिनकी मिटै न सूल॥

१६ मार्च गुरुवार—एक भगवान्‌में ही मन रक्खो—

जौलौं मन राखै बहुत तौलौं कछू न होइ।
मन राखै प्रिय लालसौं कहै परम सुख सोइ॥

१७ मार्च शुक्रवार—याद रक्खो, ऐसा सुअवसर फिर जल्दी नहीं मिलेगा——

सकल झूठ परपंच तजि हरि भजि काहो लेह।
ऐसो समौ न बहुरिहै पाई दुरलभ देह॥

१८ मार्च शनिवार—श्रीहरि-जैसा मित्र और कोई नहीं है, उन्हींकी नित्य सेवा करो।

कुंजबिहारीलालको सेवहु तन-मन वित्त ।
सदा सर्वदा सँग रहै और न ऐसो मित्त ॥

१९ मार्च रविवार—याद रक्खो—किसी संतका जी न दुखाओ !

कोटि कोटि मेवा करौ कोटि जज्ञ अरु दान ।
दुखवै काहू संतकों हरि न करैं परवान ॥

२० मार्च सोमवार—याद रक्खो—संतका दोषी महा-दोषी है—

जो दोषी है संतकौ हरि-दोषी लख-बार ।
भजन करत सेवा करत बूड़ैगो मझधार ॥

२१ मार्च मंगलवार—देखो, असली वस्तु किसको मिलेगी !

रहनी करनी एक-सी ज्यौं-की-त्यौं जो होइ ।
सोई वस्तु पार है जग्यौ रहै कै सोइ ॥

२२ मार्च बुधवार—याद रक्खो—हरिसेवाका कैसा महान् फल है ।

हरि सेवै हरि ही कहै हरिकौं तन-मन देत ।
ताकों हरि अपनों करैं रीझि अंक भरि लेत ॥

२३ मार्च गुरुवार—याद रक्खो—श्रीहरिको न भजनेसे ही यह घृणित देह मिलती है ।

हरिहि भजैं हरि-स्यो भयो हरि भूलैं भयो देह ।
या देहीके तीन फल विष्ठा कृमि कै खेह ॥

२४ मार्च शुक्रवार—याद रक्खो—भगवान्‌का मिलना दुर्लभ नहीं है ।

हरिको मिलिबौ अति सुलभ दुरलभ जग व्योहार ।
लखौ पिंगलाकौ चरित लहौ महा सुख-सार ॥

२५ मार्च शनिवार—याद रक्खो—भगवान्‌की प्रेमपूर्वक सेवा करनेवालेके पथमें विघ्न नहीं आता ।

कुंजबिहारीलालकों सेवहि हितसों नित्त ।
बिघन न आवै तासुकों तनमें मनमें चित्त ॥

२६ मार्च रविवार—याद रक्खो—अहंकारीको भगवान् नहीं मिलते ।

आपो बाँधे हरि चहै कहूँ न पावै ठाँव ।
चलते चलते जुग गये पाव पैंडपै गाँव ॥

२७ मार्च सोमवार—याद रक्खो—जो भगवान् और गुरुके सामने सच्चे रहते हैं वे कभी दुःख नहीं पाते ।

हरि-गुरुसौं साँचे रहैं तनकौं झूँठौ बान ।
रहे बिपुल आनंद मैं तेई रसिक सु-मान ॥

२८ मार्च मंगलवार—याद रक्खो—जो मनुष्य जीवनभर सावधानीसे भगवान्‌को भजता है, अन्तकालमें यदि अचेत होकर वह भूल भी जाता है तो भी भगवान् उसपर कृपा ही करते हैं—

सावधान जे हरि भजैं अंत होइ जो भूल ।
तन मनकी सुधि ना रहै ता छिन हरि अनुकूल ॥

२९ मार्च बुधवार—प्रार्थना करो—हे प्रियतम ! तुम्हारे विना एक-एक क्षण युगके समान बीत रहा है । जल्दी दर्शन दो ।

छिन-छिन बीतत जुग सरिस तुम बिनु नाहिन और ।
कृपा करौ तापै हरौ परम रसिक-सिरमौर ॥

३० मार्च गुरुवार—फिर प्रार्थना करो—

महा अग्निज्वाला उठी फोहा सम हौं आइ ।
रसिकबिहारिनि ललितबर तुम ही लेहु बचाइ ॥

३१ मार्च शुक्रवार—याद रक्खो जब युगल सरकार हृदयमें आ बसेंगे तब सबकी सुधि आप ही भूल जायगी ।

खटको नहीं उसासको ना काहूसौं भाव ।
गौरस्याम हियमें बसे लख आवहु लख जाव ॥*

* सभी दोहे संग्रहीत हैं ।

पूज्यपाद श्रीउड़ियास्वामीजी महाराजके उपदेश

प्रश्न–भजनमें और वेदान्तमें क्या भेद है ?

उ०–भेदकी बात मत पूछो, भजन करते जाओ ।

प्र०–क्या भजनमें वेदान्त बाधक है ?

उ०–भगवान्‌को पानेके अनेक मार्ग हैं । भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रको पानेका मार्ग है भजन, और ज्ञानकी प्राप्तिके लिये साधन है वेदान्त । एक ही मार्गको अनन्य भावसे पकड़ना चाहिये । तभी सफलता होगी ।

प्र०–भजन बनता नहीं ।

उ०–इसीलिये नहीं बनता कि उसमें आसक्ति नहीं है ।

प्र०–भजनमें आसक्ति कैसे हो ।

उ०–लगातार भजन करनेसे ही भजनमें आसक्ति होगी । जो भजन न करके यों ही प्रेम चाहते हैं वे मूर्ख हैं ।

प्र०–क्या करें, सांसारिक भोगोंकी आसक्ति बनी हुई है, इससे भजनमें मन नहीं लगता । यह विषयोंकी आसक्ति कैसे मिटे ?

उ०–लोहेसे ही लोहा कटता है । आसक्तिसे ही आसक्ति दूर होगी । जिसकी संसारमें बहुत आसक्ति है, उसको अपनी वह आसक्ति भगवान्‌में लगानी चाहिये । ज्यों-ज्यों भगवान्‌में आसक्ति होगी—त्यों-ही-त्यों संसारकी आसक्ति घटती जायगी । जब सारी आसक्ति भगवान्‌में हो जायगी तब तो भजन आप-से-आप होगा । और फिर वह भजन ऐसा होगा कि उसका एक कण भी बहुतेरे पापियोंको पावन कर देगा ।

मानस-शंका-समाधान

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी)

(१) 'वाल्मीकीय रामायणमें लिखा है कि दशरथजी कैकेयीको इस शर्तपर ब्याहकर लाये थे कि इनसे जो पुत्र उत्पन्न होगा, उसीका राज्याभिषेक किया जायेगा । फिर उन्होंने इसका पालन क्यों नहीं किया ?'—इसका उत्तर यह है कि यह कथा वाल्मीकीय रामायणकी है, यहाँ हम विवेचन करते हैं श्रीरामचरितमानसके कथाप्रसंगपर, अतएव इसका विचार हम क्यों करें, जब कि श्रीतुलसीकृत रामचरितमानसमें इस चर्चाका लेश भी नहीं मिलता है ? बल्कि उसमें तो इसके प्रतिकूल प्रमाणोंका डंका अवश्य बज रहा है । मानसमें यह स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि जबतक मंथराके द्वारा महारानी श्रीकैकेयीजीकी मति छली नहीं गयी थी तबतक उनको भी श्रीरामचन्द्रजीका ही राज्याभिषेक इष्ट था । यथा—

सुदिनु सुमंगल दायक सोई । तोर कहा फुर जेहि दिन होई ॥
जेठ स्वामि सेवक लघु भाई । यह दिनकर-कुल रीति सुहाई ॥
राम तिलकु जौं साँचेहुँ काली । देउँ मागु मनभावत आली ॥
प्रान ते अधिक राम प्रिय मोरें । तिन्ह कें तिलक छोभ कस तोरें ॥

भरत सपथ तोहि सत्य कहु परिहरि कपट दुराउ ।
हरष समयँ बिसमउ करसि कारन मोहि सुनाउ ॥

मानसके अनुसार यदि विवाहके समय कैकेयीके पुत्रको ही राजगद्दी मिलनेकी कोई शर्त हुई होती तो क्या उन्हें उसका पता न रहता ? क्या वे उसे भूल जातीं ? उपर्युक्त चौपाइयों तथा दोहेसे तो स्पष्टतः यही प्रकट हो रहा है कि उनको स्वप्नमें भी इस तरहकी किसी शर्तका खयाल तक नहीं था । वे सूर्यवंशकी

सुन्दर परम्परागत रीतिके अनुसार ज्येष्ठ संतान श्रीरामचन्द्रजीके राज्याभिषेकको ही ठीक मानती थीं, रात-दिन उसीकी प्रतीक्षा कर रही थीं और उसीमें अपना आह्लाद भी प्रकट करती थीं। इतना ही नहीं, पहले-पहल जब उन्होंने मंथराके मुँहसे द्विविधाजनक बात सुनी अर्थात् जब उन्हें मालूम हुआ कि श्रीरामचन्द्रजीके राज्याभिषेकके सम्बन्धमें मंथराके मनमें विरोधभाव उत्पन्न हो गया है तब वे उसे पीटनेतकके लिये तैयार हो गयीं। उन्होंने उसे खूब फटकारा और कहा कि—

'पुनि असि कबहुँ कहसि घरफोरी।तब धरि जीभ कढ़ावौं तोरी॥'

इत्यादि—

दूसरी बात यह भी विचारणीय है कि यदि विवाहकालमें ही श्रीभरतजीकी राजगद्दीके लिये शर्त हुई रहती तो मंथरा कैकेयीको, उसी शर्तको पूरा करानेके लिये, कोपभवनमें बैठा सकती थी। परन्तु ऐसा न करके मंथराने कैकेयीको देवासुर-संग्रामके अवसरपर मिले हुए दो वरदानोंका ही, जो थाती रक्खे गये थे, स्मरण दिलाया और उन्हींके अनुसार श्रीभरतजीके राज्याभिषेकके लिये नवीन वर माँगनेकी सलाह दी। इसके अलावा, कोपभवनमें कैकेयी और राजा दशरथने परस्पर जो बातें की हैं, उनमें भी ऐसी किसी शर्तका जिक्र नहीं आया है। यदि भूलसे भी ऐसी कोई शर्त हुई रहती तो कैकेयी उसकी याद अवश्य दिलातीं। उस प्रसंगमें, राजा दशरथने कोप-भवनमें प्रवेश करते ही कैकेयीके प्रसन्नतार्थ जो कुछ कहा है, वह भी ध्यान देने योग्य है। उन्होंने वहाँ जाते ही यह समाचार मुक्तकण्ठसे सुनाया है—

भामिनि भयउ तोर मनभावा। घर घर नगर अनंद बधावा॥
रामहि देउँ कालि जुबराजू। सजहि सुलोचनि मंगलसाजू॥

अस्तु, यदि श्रीदशरथजीने विवाहके समय भरतजी-को राज्यतिलक देनेका वादा किया होता तो वे कैकेयीसे कभी यह नहीं कह सकते थे कि 'हे भामिनि, तुम्हारा मनचाहा हो गया है, मैं तुम्हारे मनका कार्य ही कर रहा हूँ। श्रीरामजीका राज्याभिषेक कल हो जायगा। अतः सुनयने! सारी चिन्ताओंको छोड़ दो और अब मंगल-साज साजो।' और यदि केवल राज्याभिषेककी बात होती तो श्रीभरतको उसका अधिकारी बनानेमें श्रीदशरथजीको कोई विशेष कष्ट भी न होता। उन्होंने तो अन्तमें सहर्ष कह ही दिया था कि—

मोरें भरतु रामु दुइ आँखी। सत्य कहउँ करि संकरु साखी॥
अवसि दूत मैं पठउब प्राता। ऐहहिं बेगि सुनत दोउ भ्राता॥
सुदिन सोधि सबु साजु सजाई। देउँ भरत कहुँ राजु बजाई॥
लोभु न रामहि राजु कर बहुत भरतपर प्रीति।
मैं बड़ छोट बिचारि जियँ करत रहेउँ नृपनीति॥

श्रीदशरथजीके अपार दुःखका कारण तो श्री-रामजीको वन भेजनेवाला दूसरा वरदान हुआ, जिसका विवाहकालकी उपर्युक्त शर्तसे कोई सम्बन्ध नहीं था। यदि वैसी कोई शर्त हुई रहती तो श्रीतुलसीकृत मानसके दशरथ-सरीखे सत्यप्रतिज्ञ पुरुष अवश्य ही उसे पूरा किये बिना न छोड़ते। कोई भी बाधा, चाहे वह कठिन-से-कठिन क्यों न होती, उन्हें प्रतिज्ञाच्युत नहीं कर सकती थी।

अतएव श्रीतुलसीकृत रामचरितमानसके आधारपर यह बात सर्वथा मिथ्या सिद्ध हो जाती है कि राजा दशरथने कैकेयीसे इस शर्तपर विवाह किया था कि वे कैकेयीके पुत्रको ही राज्याधिकारी बनायेंगे, और जब शंका-समाधान श्रीतुलसीकृत मानसके सम्बन्धमें होता है तब उपर्युक्त शंका ही निर्मूल हो जाती है। यदि किसी ग्रन्थकी कोई बात किसी जिज्ञासुको समझाना हो तो वह उसी ग्रन्थके आधारपर समझायी जा सकती है, वहाँ संशय-निवृत्तिके लिये अन्यान्य

ग्रन्थोंके प्रमाण स्वीकार नहीं किये जा सकते हैं। इस बातको ग्रन्थकार गोस्वामीजीने भी बालकाण्डके आरम्भमें ही इंगितरूपसे बतला दिया है कि रामचरितमानसमें अन्य अनेक ग्रन्थोंके ऐक्य-स्थापन करनेकी सम्भावनाको छोड़ देना चाहिये। कल्पभेदसे चरितभेदका निश्चय करके इस कथाको सादर और प्रेमपूर्वक श्रवण करना चाहिये, इसीसे कल्याण होगा। जो विविध संशयोंमें पड़ेगा, उसकी निवृत्ति कभी न होगी, यथा—

कल्पभेद हरिचरित सुहाये। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाये॥
करिय न संसय अस जिय जानी। सुनिय कथा सादर सुख मानी॥

यह कहा नहीं जा सकता कि किन-किन स्थलोंपर श्रीतुलसीकृत और वाल्मीकीय रामायणोंमें कथाभेद है। कहीं-कहीं तो दोनोंमें पूरे-पूरे प्रसंगका ही अन्तर पाया जाता है जैसे परशुरामजीके आगमनको ही लीजिये। श्रीतुलसीकृत रामचरितमानसमें जनकपुरमें धनुषभंगके पश्चात् तत्काल उनके आगमनका वर्णन किया गया है, परन्तु वाल्मीकीय रामायणमें जब विवाहके बाद बारात जनकपुरसे लौटकर अयोध्या जा रही थी तब मार्गमें परशुरामजीका मिलना वर्णित है। अतः वाल्मीकीयमें क्या लिखा है, अध्यात्ममें क्या लिखा है, आनन्दरामायणमें क्या लिखा है, इस झगड़ेमें पड़ना ठीक नहीं है और न इसका निबटाना श्रीतुलसीकृतका काम है, सब अपने-अपने स्थानपर ठीक हैं। श्रीतुलसीकृत रामचरितमानसके सम्बन्धमें यदि किन्हीं सज्जनको कोई शंका हो तो उसका समाधान करनेकी सेवा श्रीरघुनाथजीकी दयासे अवश्य की जायगी पर वह शंका होनी चाहिये श्रीतुलसीकृतसम्बन्धी। उपर्युक्त शंका श्रीतुलसीकृतसे सम्बन्ध रखनेवाली नहीं है, अतः वह अप्रामाणिक है।

(२) 'दूसरी शंका भावीके सम्बन्धमें यह है कि वशिष्ठजीने श्रीरामचन्द्रजीके राज्याभिषेकके लिये सर्वोत्तम मुहूर्त शोधकर बतलाया था, परन्तु होनहार ऐसा प्रबल है कि श्रीरामजीको चौदह वर्षोंका वनवास हो गया। ऐसी दशामें शुभ मुहूर्तका क्या महत्त्व है और मंगल कार्योंको शुभ मुहूर्तमें करनेसे क्या लाभ है?'

इस शंकाके उठाते समय कुछ विचार कर लेना चाहिये। श्रीवशिष्ठजीने पहले ही इसका स्पष्टीकरण कर दिया है—

'सुनहु भरत भावी प्रबल बिलखि कहेउ मुनिनाथ।'

प्रबल भावी उस भावीको कहते हैं, जिसमें भगवान्की इच्छा भी शामिल हो जाती है। वह फिर किसीके टाले नहीं टलती, नहीं तो श्रीवशिष्ठजी तो ब्रह्माकी लिखी भावीको भी मेटनेका सामर्थ्य रखते थे। प्रमाण देखिये—

'सो गोसाँइ जेहि बिधि गति छेकी। सकै को टारि टेक जो टेकी॥'

शिवजीमें भी ऐसा ही सामर्थ्य था—'भाविहुँ मेटि सकहिं त्रिपुरारी।' परन्तु जब उन्हें भी सतीजीके सम्बन्धमें यह ज्ञात हो गया कि 'यह भावी हमारे मानकी नहीं है, अर्थात् यह केवल ब्रह्माकी बनायी भावी नहीं है, इसमें भगवान्की इच्छा भी सम्मिलित हो गयी है तथा उसने इसे बलवान् भावी बना दिया है—

'हृदय बिचारत संभु सुजाना। हरि इच्छा भावी बलवाना॥'

तब उन्होंने भी उसमें कोई दखल नहीं दिया और सतीको श्रीरघुनाथजीके पास ही भेज दिया तथा यही निश्चय करके भजन करने लगे कि श्रीरामजीने जो विचार कर रक्खा है, वह अटल है एवं वही होगा। यथा—

होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा॥
अस कहि जपन लगे हरिनामा। गईं सती जहँ प्रभु सुखधामा॥

अस्तु, इससे यह न समझना चाहिये कि किसी मंगलकार्यके लिये शुभ मुहूर्तकी कोई आवश्यकता नहीं है या उसका कोई महत्त्व नहीं है। हाँ, जिस भावीमें ईश्वरेच्छा प्रवेश कर जाती है, उसमें किसी दूसरेकी दाल नहीं गलती। यों विधि-निषेधकी मर्यादा सत्य है, परन्तु ईश्वर सर्वशक्तिमान् हैं। गरलको सुधाके समान और सुधाको विषके समान बनानेका सामर्थ्य परमात्मामें सदा-सर्वदा स्वाभाविक ही निहित है। अतः ऐसे अपवादस्वरूप प्रसङ्गोंका उदाहरण देकर वेद-शास्त्रकी विधियों अर्थात् शुभ मुहूर्तादिके सम्बन्धमें कोई संशय नहीं उत्पन्न होने देना चाहिये और न यही समझना चाहिये कि ऐसे उदाहरण सामान्य शास्त्रीय विधियोंके निषेधक हैं। सब अपने-अपने स्थानपर समयानुसार फल देनेवाले हैं।

(३) तीसरी शङ्का यह है कि जब श्रीरामचन्द्रजी श्रीकैकेयीके आज्ञानुसार चौदह वर्षके वनवासके लिये मुनिवेषमें निकले तब उन्होंने धनुष-बाण क्यों धारण किया, निशाचरोंका संहार क्यों किया? उन्हें तो आयुधहीन और अहिंसक बनकर तपस्वी अथवा मुनिका जीवन बिताना चाहिये था!

शङ्का ठीक है।

'तापस बेष बिसेष उदासी। चौदह बर्ष राम बनबासी॥'

—यही वरदान कैकेयीने माँगा था और यह भी कहा था कि—

'होत प्रात मुनि बेष धरि जौ न राम बन जाहिं।'

परन्तु श्रीकैकेयी अम्बाने किस अभिप्रायसे तापसवेष और मुनिवेष शब्दोंका प्रयोग किया था, उसे तो वे स्वयं ही समझती थीं। दूसरा कोई उनके अभिप्रायको उनसे अधिक नहीं समझ सकता। फिर जब उन्हींके सामने श्रीरामजीने तपस्वी अथवा मुनियोंका वेष बनाया, उनके पट धारण किये तब उन्होंने स्वयं धनुष-बाण क्यों नहीं उतरवा दिया? इससे यह सिद्ध होता है कि श्रीकैकेयी अम्बाके तपस्वी अथवा मुनिवेषकी परिभाषा वही थी, जिसको श्रीरामजीने उनके सामने धारण किया था। फिर हम कैसे कह सकते हैं कि श्रीरामचन्द्रजीने माता श्रीकैकेयीके वचन अथवा प्रतिज्ञाका पालन नहीं किया! यदि ऐसी कोई बात होती, जैसी कि प्रश्नकर्ताने समझी है, तो अवश्य ही श्रीकैकेयी अम्बा धनुष-बाण उतरवा लेतीं और वनमें अत्याचारी निशाचरोंपर भी हाथ उठानेके सम्बन्धमें मना कर देतीं। दूसरी बात यह है कि श्रीकैकेयी माताके वरदानोंका अभिप्राय भगवान् श्रीरामचन्द्रजीसे अधिक दूसरा कोई नहीं समझ सकता था और न वे मर्यादापुरुषोत्तम श्रीकैकेयी माताके अभिप्रेत नियमोंका पालन करनेमें भी कोर-कसर रख सकते थे। यदि श्रीकैकेयी माताकी इच्छा न होती तो वे तत्काल सभी क्षात्रधर्मोंको छोड़कर ब्रह्मर्षि बन जाते तथा किसी एकान्त स्थानमें समाधि लगा लेते। भले ही उस समयका भूभार उतारनेके लिये उन्हें दूसरा अवतार लेना पड़ता। परन्तु ऐसी कोई बात नहीं थी। उन्होंने वही किया, जिससे माता कैकेयीकी आज्ञाओंका अक्षरशः पालन तो हुआ ही, साथ-ही-साथ सारे जगत्का भी कल्याण हुआ।

श्रद्धा-विश्वास

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकासे सत्संगमें प्रश्नोत्तर)

प्रश्न—भगवान् और महात्मा पुरुषोंके प्रभाव और गुणोंको सुनकर भी श्रद्धा-विश्वास नहीं होता और उसके अनुसार तत्परतासे चेष्टा नहीं होती—इसमें क्या कारण है ?

उत्तर—भगवान्के तथा महापुरुषोंके प्रभाव और गुणोंको सुनकर भी श्रद्धा नहीं होती—इसमें कारण है अन्तःकरणकी मलिनता और तदनुकूल चेष्टा न होनेमें कारण है श्रद्धाका अभाव ! अन्तःकरणके अनुरूप ही श्रद्धा होती है। भगवान्ने कहा है—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥
(गीता १७ । ३)

हे अर्जुन ! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है । पुरुष श्रद्धामय है, जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वही है। अर्थात् जैसी जिसकी श्रद्धा है वैसा ही उसका स्वरूप है ।

अन्तःकरणकी मलिनता दूर होनेसे ही उत्तम श्रद्धा होती है और श्रद्धा होनेसे ही तत्परता होती है ।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।

अन्तःकरणकी मलिनता दूर करनेका उपाय इस समय सबसे बढ़कर भगवान्के नामका जप है। इसलिये कैसे भी हो—हठसे या प्रेमसे—नाम-जप करता रहे । नाम-जपसे अन्तःकरणकी मलिनता नष्ट हो जायगी, उसमें सात्त्विक श्रद्धा उत्पन्न होगी और फिर भगवान् और महात्माओंमें आप ही श्रद्धा हो जायगी और उनके कथनानुसार तत्परतासे चेष्टा होने लगेगी।

प्र०—सत्संग करते हैं फिर भी मन जैसा होना चाहिये वैसा नहीं होता—इसमें क्या कारण है ?

उ०—इसमें भी सत्संगका प्रभाव न जानना एवं अन्तःकरणकी मलिनता ही हेतु है। अन्तःकरण मलिन होनेसे सत्संगका रंग नहीं चढ़ता । मैला कपड़ा रंगमें डुबोनेपर उसमें रंग अच्छा नहीं चढ़ता । साफ होता है तो रंग अच्छा चढ़ता है। (रंग, प्रेम, आसक्ति, रुचि, राग इन सबका अर्थ एक ही है ।)

पारससे लोहा छुआ देनेसे लोहा सोना बन जाता है—यह बात सत्य है किन्तु बीचमें यदि व्यवधान होता है तो वह सोना नहीं होता । इसी तरह महात्माओंके संगसे रंग चढ़ता ही है किन्तु यदि अविश्वासका व्यवधान होता है तो नहीं चढ़ता। जिसका पूर्ण विश्वास होता है उसके रंग चढ़ता ही है ।

भगवान् न्यायकारी हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वशक्तिमान् हैं, यह विश्वास हमारा हो जाय तो फिर हम एक भी पाप नहीं कर सकते । ईश्वरकी सत्ता मान लेनेसे ही पापका नाश हो जाता है । मानते हुए भी यदि पाप करते हैं तो यही समझना चाहिये कि किसी एक अंशमें ही मानते हैं, पूरा विश्वास नहीं है। सरकार जिस कामसे प्रसन्न नहीं है यानी जो काम सरकारके प्रतिकूल है, उसे हम नहीं करते । यह सरकार तो सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् भी नहीं है । परमात्मा सर्वज्ञ हैं, सब जगह हैं और सर्वसमर्थ हैं। जो कोई भी

उन्हें सर्वज्ञ समझ लेता है उससे पाप नहीं हो सकते । चोर तभी चोरी करता है जब कि वह यह समझ लेता है कि मैं पकड़ा नहीं जाऊँगा, नहीं तो वह चोरी कभी कर ही नहीं सकता ।

प्र०—जैसे पिता पुत्रको अनुचित कामसे जबरन मना कर देता है वैसे ही ईश्वरको भी मना कर देना चाहिये । पर वह मना क्यों नहीं करता ?

उ०—मना करता है—महात्मा पुरुषोंद्वारा—मनके द्वारा—सब प्रकारसे मना करता है । किन्तु ईश्वरने जीवोंको स्वतन्त्रता दे रखी है । इसलिये जीव परतन्त्र होनेपर भी स्वतन्त्र हैं । जैसे हमको बन्दूक चलानेका लाइसेन्स है । हम राजके कानूनोंके हिसाबसे ही बन्दूक चला सकते हैं । कानूनसे बँधे हुए हैं किन्तु फिर भी हम चाहें जिस किसीपर भी चला तो सकते हैं न ? फिर चाहे दण्ड मिले । ठीक वही बात यहाँ भी है ।

प्र०—जब कभी कोई बात एक-दो मिनटोंके लिये समझमें आ जाती है तो वह ठहरती क्यों नहीं । ईश्वरको उसे ठहरा देना चाहिये—इतनी तो मदद करनी चाहिये ।

उ०—भगवान्से जो मदद चाहता है उसे मदद मिलती है । जो यह प्रार्थना करता है कि हे भगवन् ! मेरा मन निरन्तर भजन-ध्यानमें लगा रहे तो उसे भगवान् मदद देते हैं । सामान्य मदद तो सभीको है किन्तु विशेष मदद जो चाहता है, उसे दी जाती है । इसलिये उससे प्रार्थना करनी चाहिये जिससे कि वह स्थिति छूटे नहीं । जिसका ऐसा विश्वास होता है कि मैं भगवान्की शरण हूँ—मेरी धारणाको दृढ़ और अन्तःकरणकी शुद्धि भगवान् ही करते हैं, उसकी हो जाती है । एक सज्जन चाहते हैं कि मैं अमुकके आज्ञानुकूल चेष्टा करूँ, कभी-कभी कुछ चेष्टा भी करते हैं पर मौका पड़नेपर पीछे हट जाते हैं । पूरा विश्वास नहीं है कि चाहे प्राण भले ही चले जायँ इनकी आज्ञा ही पालनीय है । अगर भगवान्में पूरा विश्वास हो तो भगवान् सब पूर्ण कर देंगे ।

प्र०—श्रद्धा-प्रेमपर कुछ विशेषरूपसे कहिये ।

उ०—ऐसा प्रतीत होता है कि मुझे कहनेकी आदत पड़ गयी है और आप लोगोंको सुननेकी । बार-बार कहा जाता है । आप सुनते ही हैं । किन्तु जबतक बात समझमें नहीं आती, काममें नहीं लायी जाती, तबतक हमेशा ही नयी है और हमेशा ही बार-बार सुननेकी जरूरत है ।

बात है बड़ी अच्छी ! इसमें कुछ भी खर्च नहीं होता । मूर्ख-से-मूर्ख भी इसे कर सकता है । इसमें बलकी, बुद्धिकी, धनकी, जातिकी, वर्णकी या कुलकी—किसीकी भी जरूरत नहीं है । यह साधनकालमें भी प्रत्यक्ष शान्ति देनेवाली है । फिर सुनकर भी यदि काममें नहीं लायी जाती है तो यही समझना चाहिये कि विश्वास नहीं है । संसारमें जो प्रत्यक्षमें सुख-शान्ति देनेवाली होती है उसको तो लोग करनेको तैयार रहते हैं । फिर यह तो आदि, मध्य और अन्त सर्वत्र आनन्द देनेवाली है । अभी आरम्भ कीजिये, अभी शान्ति-आनन्द तैयार है । यह नहीं कि कोई घंटे-दो-घंटे बाद आनन्द मिलेगा ।

बात यह है—प्रथम तो यह विश्वास कर लेना चाहिये कि परमात्मा दीखते नहीं—तब भी हैं और सब जगह हैं । जैसे प्रेत दीखता नहीं है पर है—ऐसा मानकर लोग भयभीत हो जाते हैं और दुःखी हो जाते हैं । इसी तरह परमात्मा न भी दीखें तो भी मान लेना चाहिये कि वे हैं—अवश्य हैं ।

प्र०—इस मान लेनेका क्या अर्थ है ? यदि न मानते तो पूछते ही क्यों ? साधारणतः सत्संगमें प्रवृत्ति है तो मानते तो हैं ही । यदि माननेका अर्थ मानते ही प्राप्ति हो जानी हो तो फिर आप कह रहे हैं, तो हो ही जानी चाहिये । नहीं तो सत्संग-भजन करते-करते हो ही जायगी ?

उ०—यह बात तो सही है कि किसी अंशमें तो लोग मानते ही हैं, नहीं तो सत्संगमें आते ही क्यों ? अपनी तरफसे तो मैं सोलहों आना मान लेनेके लिये ही कहता हूँ । मान लेनेमें जितनी कमी है, वही पूरी करनी है और उसकी पूर्तिके लिये ही यह सब कहा जाता है ।

ईश्वर दयालु हैं, प्रेमी हैं । उनकी दया और प्रेम सब जगह परिपूर्ण हो रहे हैं । अणु-अणुमें उनकी दया और प्रेमको देख-देखकर हमें मुग्ध होना चाहिये । हर समय प्रसन्न रहना चाहिये । इसको साधन बना लेना चाहिये । इसमें न कुछ परिश्रम है और न किसी अन्य चीजकी आवश्यकता है । इसमें ईश्वरका भजन साथ है ।

ईश्वरकी दया और प्रेम अपार है—असीम है यह बात मनमें है तो ईश्वरकी स्मृति निरन्तर रहनी चाहिये । सब जगह ईश्वरकी दया और प्रेम परिपूर्ण है जैसे बादलमें सब जगह जल परिपूर्ण है । दया और प्रेमका बड़ा भारी समुद्र उमड़ा हुआ है—भरा हुआ है उसमें अपने-आपको डुबो दे । चारों तरफ बाहर-भीतर, नीचे-ऊपर सर्वत्र ईश्वरकी दया और प्रेमका समुद्र परिपूर्ण है । जैसे सूर्यकी धूपमें हम बैठते हैं—हमारे चारों ओर धूप-ही-धूप पूर्ण है उसी तरह परमात्माकी दया और प्रेम सब जगह पूर्ण है । सूर्यका प्रकाश तो केवल बाहर ही है । किन्तु दया और प्रेम तो बाहर-भीतर सब जगह पूर्ण हो रहे हैं । इस प्रकार देख-देखकर हर समय मुग्ध होते रहना चाहिये । अहा ! हम धन्य हैं ! हमपर ईश्वरकी कितनी भारी दया है । सब देशमें, सब कालमें, सब वस्तुमें ईश्वरकी दयाका दर्शन करें और इसी प्रकार प्रेम बढ़ावें ।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥

ईश्वर परम सुहृद् हैं । सुहृद्का अर्थ क्या है । दया और प्रेम जिसमें हो उसका नाम सुहृद् है । उसकी दया और प्रेम अनन्त है, अपार है । अणु-अणुमें, जर्रे-जर्रेमें व्याप्त हो रहे हैं । एक बादशाहकी दया हो जाती है तो आनन्दका ठिकाना नहीं रहता । एक महात्माकी दया हो जाती है तो आनन्द समाता नहीं फिर ईश्वरकी दया तो अपार है । फिर क्या बात है ? (सहजमें ही हमारी स्थिति बदल सकती है । हम बहुत शीघ्र परमात्माको पा सकते हैं ।) हर समय यह भाव जागृत रहना चाहिये । अहा ! ईश्वरकी हमपर कितनी दया है । ईश्वरका हमपर कितना प्रेम है । सबपर समानभावसे अपार दया है । जब इतनी दया है, तब हमको भय, चिन्ता, शोक करनेकी क्या आवश्यकता है । हम चिन्ता-भय करें यह तो हमारी मूर्खता है । भय किसका ? न वहाँ भय है, न चिन्ता है, न मोह है । यह हमारी बेसमझी थी—हम जानते नहीं थे कि प्रभु इतने दयालु हैं । अब कहाँ चिन्ता ? कहाँ भय ? कहाँ शोक ? प्रभुकी अपार दया है । यह साधन बना लें । हर समय ख्याल रक्खें, मनसे इस प्रकार अनुभव करें तो उसी समय शान्ति और आनन्दका भण्डार भरा पड़ा है । इस साधनसे थोड़े ही कालमें साक्षात् प्रभुकी प्राप्ति हो जाय ।

एक समृद्धिशाली पुरुष है, स्वप्नमें भिखारी बन गया—इसलिये दुःखी हो रहा है । किन्तु जागनेपर दुःख कहाँ ? दुःख था ही नहीं, उसने बिना हुए ही दुःख मान लिया । इसी तरह हम भी बेसमझीके

कारण ही दुःखी हो रहे हैं। ईश्वरकी दया और प्रेम तो सब जगह पूर्ण हो ही रहे हैं। हम मानते नहीं तभी हम दुःखी होते हैं। पर हम नहीं मानते हैं उस समय भी ईश्वरकी दया तो है ही। बस, मान लें तो आनन्द-ही-आनन्द है।

ऐसे अमृतमय आनन्दको जो प्रत्यक्ष है, जिसमें कुछ भी शंका नहीं है उसे क्यों छोड़ते हैं? 'प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्' प्रत्यक्ष आनन्दका अनुभव हो रहा है फिर उसमें प्रमाण क्या? केवल मान लेना ही साधन है। 'ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति' जाननेसे ही शान्ति है। जप या ध्यान—कुछ भी करनेकी बात नहीं कही। केवल मान लो, बस, इतना ही करना है। वह परम सुहृद् है जिसमें अपार दया हो—हेतुरहित प्रेम हो। भगवान्की दया अपार है। वह अपार दयादृष्टिसे हमें देख रहा है फिर किस बातकी चिन्ता है। माता स्नेहसे बच्चेको पकड़कर यदि फोड़ेको चिरवा रही है तो चिन्ता क्यों करनी चाहिये। माँ देख रही है न! बच्चा यदि रोता है तो उसका बालकपन है। समझदार तो रोता भी नहीं। हमें कोई भी दुःख आवे तो समझना चाहिये—हमारी माँ, भगवान् हमें सुखी करनेके लिये, पवित्र करनेके लिये गोदमें लेकर चिरवा रहे हैं।

कितनी दयाभरी दृष्टि है। अपार दयाकी छटा छायी हुई है। कोई स्थान उसकी दया और प्रेमसे खाली नहीं। उसकी दया, प्रेम सर्वत्र परिपूर्ण हो रहे हैं। वे दर्शन देनेको तैयार हैं। वे सब प्राणियोंके सुहृद् हैं। यह विश्वास हो जाय कि भगवान् हमें दर्शन देंगे तो उसी क्षण दर्शन देना पड़ेगा—एक क्षण भी वे नहीं रुक सकेंगे।

नास्तिक पुरुषोंका तो विश्वास नहीं है। वे समझते हैं ईश्वर है या नहीं। जिनका होनेमें विश्वास है वे समझते हैं कि पता नहीं मिलते हैं या नहीं। दूसरे यह समझते हैं कि मिलते तो हैं पर बहुत भजन-ध्यान करनेसे मिलते हैं। यह भी भूल है। भगवान् बड़े ही दयालु हैं। यदि भजन-ध्यान कराकर, खुशामद कराकर मिलते हैं तो फिर दयालु क्या हुए? यदि हम दृढ़ विश्वास कर लें कि वे तो बड़े ही दयालु हैं, उनके न मिलनेमें हमारी बेसमझी ही कारण है। हमको मिलेंगे, जरूर मिलेंगे और आज ही मिलेंगे—ऐसा दृढ़ निश्चय कर लें तो आज ही मिल जायँगे इसमें तनिक भी शंका नहीं है। ऐसा निश्चय न होनेमें हमारे अन्तःकरणकी मलिनता ही कारण है। यह दोष कैसे जाय? भगवान्की कृपासे और उसके भजनसे।

बहुत-से आदमियोंको कुछ विश्वास होनेपर भी अपने कर्तव्यकी ओर देखकर कमजोरी आ जाती है कि देरसे मिलेंगे।

प्र०—भगवान्ने अपने दर्शनकी चाह हमारे मनमें दी है तो वही दर्शन देंगे। फिर इस प्रकार क्यों बहकाते हैं कि 'विश्वास कर लो तो आज ही दर्शन हो जायँ।'

उ०—यदि ऐसा मानते हैं कि सब वही करवाता है तो फिर यह भी तो वही करवा रहा है। जो कुछ भी ईश्वरका विधान है उसमें हित ही भरा है। कहीं भी अहित दीखता है तो यह अपनी समझकी कमी है। अणु-अणुमें सब समय, सब देश और सब वस्तुमें अपना हित ही देखे, यह देखना ही उसकी सर्वत्र दया देखना है। विश्वासपूर्वक मान लें, बस, फिर काम खतम। उसके आनन्दका ठिकाना ही नहीं है। प्रत्यक्ष शान्ति और आनन्द है। इन बातोंके पढ़ने-सुननेमात्रसे ही महान् शान्ति और आनन्द होते हैं तो फिर बार-बार मनन करनेसे बड़ी भारी शान्ति और आनन्दका अनुभव क्यों नहीं होगा?

ईश्वरकी दया सर्वत्र है। सर्वत्र उसके प्रेमकी छटा छा रही है। फिर हम क्यों भय करें। दया प्रेमका महान् समुद्र है, उसमें हम डूबे हुए हैं—प्रेम-जलसे भींगे हुए हैं—मग्न हो रहे हैं। यह भाव जब दृढ़ हो जायगा तब शान्ति और आनन्दकी बाढ़ प्रत्यक्ष दीखने लगेगी। फिर प्रेम आनन्दके रूपमें परिणत हो जायगा और दया प्रसन्नता (शान्ति) के रूपमें। वही परमात्माका स्वरूप है। परमात्मा आनन्दमय है। परमात्मा प्रेममय है। वह प्रेम ही प्रत्यक्ष प्रकट होकर दर्शन देता है। इस समय वह प्रेम अदृश्य है। जब प्रेम हो जाता है तो भगवान् प्रत्यक्ष मूर्तिमान् होकर प्रकट हो जाते हैं। भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्णका स्वरूप प्रेमका ही पुञ्ज है। प्रेमके सिवा दूसरी वस्तु नहीं है। प्रेम ही आनन्द है और आनन्द ही प्रेम है। एक ही चीज है। भगवान् सगुण-साकारकी उपासना करनेवालोंके लिये प्रेममय बन जाते हैं। और निर्गुण-निराकारकी उपासना करनेवालोंके लिये आनन्दमय बन जाते हैं।

संसारमें भी यह बात है कि जिससे जितना प्रेम बढ़ेगा उससे उतना ही अधिक आनन्द होगा। यही बात इस विषयमें है। वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही भक्तोंका प्रेमानन्द है, और वही पूर्णब्रह्म परमात्मा मूर्तिमान् होकर यशोदाके आँगनमें नाच रहा है।

तुलसीदासजी कहते हैं—

हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम तें प्रकट होहिं मैं जाना॥

हरि सब जगह परिपूर्ण हैं। वे प्रेममय हैं। इसीलिये वे प्रेमसे ही प्रकट होते हैं क्योंकि वे स्वयं प्रेममय हैं। आग तभी प्रकट होती है जब कि हम दूसरी किसी ऐसी वस्तुसे संघर्षण करें जिसमें आगके विशेष परमाणु हों। जलसे संघर्षण करें तो आग नहीं प्रकट होगी। भगवान् प्रेममय हैं, वे प्रेमसे ही प्रकट होते हैं।

यदि कहो कि बात तो सही है पर हमलोगोंमें प्रेम नहीं है। यह तो आपकी ही मान्यता है न? ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ प्रेम न हो। प्रेमियोंका प्रेम और ज्ञानियोंका आनन्द सब जगह है। वेदान्तमें अस्ति, भाति, प्रिय कहा है। समझना चाहिये–प्रिय क्या वस्तु है। प्रिय और प्रेममें कोई अन्तर नहीं है। संसारमें कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है जिसमें आनन्द व्याप्त न हो। प्रेम उसका स्वरूप है। वह सब जगह है।

भगवान्ने वाल्मीकि मुनिसे रहनेका स्थान पूछा। उन्होंने कहा—भगवन्! बताइये, आप कहाँ नहीं हैं? वह प्रेममय परमात्मा बाहर-भीतर सब जगह परिपूर्ण है।

हममें प्रेम नहीं है, भजन-साधनकी कमीके कारण हमें भगवान् नहीं मिलते–यह हमारी मान्यता नीतिके अनुसार ठीक है। ऐसा मानकर हम भगवान्का भजन करें, सत्संग करें तो आगे जाकर हमारा कल्याण हो सकता है। नीति तो यही है किन्तु इसीसे विलम्ब हो रहा है। एक बात इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। हम कानून माननेवाले हैं इसलिये भगवान्ने यह कानून बाँध दिया। पर हम यह मान लें कि कानूनकी बात तो वही है–अपनी दृष्टिसे तो वही बात है पर प्रभु असम्भवको भी सम्भव करनेवाले हैं–वे अपने दासोंके दोषोंकी ओर देखते ही नहीं। वे बिना ही कारण दासोंपर दया और प्रेम करते हैं। उनका स्वभाव ही ऐसा है। उनके स्वभावपर हम दृढ़ विश्वास कर लें तो फिर हम इस बातकी प्रतीक्षा करें कि एक क्षणका भी विलम्ब क्यों हो रहा है? हम इस बातपर अड़ जायँ कि एक क्षणका भी विलम्ब क्यों होना चाहिये? बस, फिर विलम्ब हो नहीं सकता।

हमारा प्रेम, हमारी करनी तो विलम्ब ही करनेवाले हैं किन्तु इस अपनी मान्यताको छोड़कर प्रभुकी ओर खयाल करें तो फिर विलम्ब नहीं होना चाहिये। हमारी

धारणा बलवान् होनी चाहिये । "प्रभो ! आप तो परम दयालु हैं, आप तो दासोंके दोषोंको देखते ही नहीं । आपकी दया तो प्रत्यक्ष है । आप परम प्रेमी हो—आपका प्रेम तो विना हेतु ही होता है । प्रभो ! मैं जब ऐसा मानता था कि 'प्रभु न्यायकारी हैं, जब हम भजन करेंगे तो वे दर्शन देंगे' उस समयतकको विलम्ब होना ठीक ही था किन्तु प्रभो ! आप तो परम दयालु हैं, आपका दया करना ही एकमात्र स्वभाव है । मेरा दृढ़ विश्वास है कि आप अब एक क्षण भी विलम्ब नहीं करेंगे ।" ऐसा दृढ़ विश्वास रखें तो फिर उस कानूनसे जो विलम्ब हो रहा है, वह नहीं हो ।

यह एक असम्भव-सी बात लगती है कि एक क्षणमें हमारा कल्याण हो जायगा । लोगोंकी यह धारणा हो रही है कि भगवान् न्यायकारी हैं—जब हम पात्र होंगे तब भगवान् दर्शन देंगे । यह बात युक्तिसंगत होते हुए भी भगवान्पर लागू नहीं हो सकती । भगवान्के लिये कुछ भी असम्भव नहीं है । असम्भव बात भी सम्भव हो सकती है—प्रभु ऐसे ही प्रभावशाली हैं । प्रभुका प्रभाव ही ऐसा है । वहाँ सारा असम्भव भी सम्भव है । यह बात हम समझ लें तो उसी समय कल्याण हो जाय । दया-प्रेम प्रभुके गुण हैं । असम्भव-को भी सम्भव कर देना यह प्रभाव है । प्रभुके गुणोंमें या प्रभावमें—किसी एकमें भी विश्वास हो जाय तो फिर बस, आप कैसे भी हों, आपको एक-एक मिनट प्रभुका विलम्ब सहन नहीं हो सकेगा । आप प्रतिक्षण व्याकुल होकर प्रतीक्षा करेंगे और प्रभु उसी क्षण प्रकट हो जायँगे । बस, केवल उसकी दयापर निर्भर होना चाहिये । फिर हम-सरीखोंकी तो बात क्या, हमसे भी गये-बीते लोगोंको एक क्षणमें दर्शन हो सकते हैं । हमें दर्शन होनेमें विलम्ब इसीलिये हो रहा है कि हम विश्वास नहीं करते हैं ।

प्र०—यह निश्चय कैसे हो ?

उ०—यह निश्चय करानेके लिये ही यह सब बातें कही जाती हैं । जब हम यह मान लें कि भगवान् ही इस प्रकारकी श्रद्धा कराते हैं और इस तरहका श्रद्धा करानेका वातावरण भी भगवान् ही उपस्थित करते हैं और उनकी अहैतुकी कृपासे ही यह सब सम्भव है फिर हम यह क्यों शंका करें कि प्रभु कृपा नहीं करते । प्रभु तो कृपा कर ही रहे हैं । तुम जो यह कह रहे हो कि प्रभु कृपा क्यों नहीं करते यही विलम्बका कारण है ।

ये जो भगवद्विषयकी बातें हैं—ये ही रहस्यकी बातें हैं । मनुष्य यदि प्रभुके गुण और प्रभावका रहस्य समझ जाय तो उसको धारण ही कर ले । समझकी ही बात है । समझ लेनेपर काम बाकी नहीं रहता । 'संसारके जितने भी पदार्थ हैं, वह विष हैं ।' यह बात समझ लेनेवाला फिर इनका सेवन नहीं कर सकता । जब यह पता लग जाय कि लड्डुओंमें जहर है तो भला, कौन उनको खावेगा ! खाता है तो समझना चाहिये कि वह समझा ही नहीं । किसी दरिद्रीको पारस मिल जाय और फिर भी वह दरिद्री ही रहे तो समझना चाहिये कि उसने पारसको जाना ही नहीं ।

भगवान्के प्रेम-दयाका तत्त्व समझना चाहिये । उसकी दया, प्रेम और प्रभाव अपार हैं, उसका तत्त्व नहीं जानते तभी हम लाभ नहीं उठाते । भगवान्का प्रभाव भगवान्के लिये थोड़े ही है, वह तो हमलोगोंके लाभ उठानेके लिये ही है । ऐसे प्रभावशालीका प्रभाव संसारके उद्धार-के लिये ही है । हृदयसे जो उसका ऐसा प्रभाव मानता है वही लाभ उठा लेता है ।

जगत्में एक दयावान् पुरुष है—उसके पास धन है । उसके धनसे वही लाभ उठाता है जो उसको पैसे-

वाला और दयालु मानता है। पैसेवाला मानकर भी यदि दयालु नहीं मानता तो लाभ नहीं उठा सकता और दयालु मानकर भी यदि उसे धनी नहीं मानता तब भी लाभसे वञ्चित ही रहता है। प्रत्यक्ष बात है। इसी प्रकार महात्मासे लाभ वही उठा सकता है जो उसे महात्मा समझता है। दूसरे भी उठाते हैं पर थोड़ा। समझनेवाला तो पूरा और तुरंत लाभ उठा लेता है। दयालु धनीको जो दयालु नहीं मानता वह भी लाभ तो उठा सकता है किन्तु थोड़ा। इसी प्रकार भगवान्‌को दयालु न माननेवाले भी लाभ तो उठाते ही हैं। सामान्यभावसे सभी लाभ उठाते हैं किन्तु जो उसे दयालु-प्रभावशाली मानता है वह विशेष लाभ उठा सकता है। अग्निसे सामान्य गर्मी सभीको मिलती है किन्तु जो जानता है कि यहाँ अग्नि पड़ी है वह अधिक लाभ उठा लेता है।

पारस घरमें पड़ा है। वह लोहेसे छूआ गया—लोहा सोना हो गया। हमने समझा काकतालीयन्यायसे हो गया। हमको पता नहीं कि कैसे हुआ, तो थोड़ा लाभ है और जान जावें तो पूरा लाभ उठा सकते हैं।

इसी प्रकार संत-महात्माओंकी दया, प्रेम, प्रभाव अपार हैं। भगवान्‌का अवतार हुआ। अब हम पश्चात्ताप करते हैं कि उस समय हम भी तो किसी-न-किसी योनिमें थे ही—हमने लाभ नहीं उठाया। अब यदि भगवान्‌का अवतार हो तो हम भी लाभ उठावें। किन्तु समझनेकी बात है। भगवान् तो भक्तोंके प्रेमसे बाध्य होकर अवतार लेते हैं। भगवान्‌का प्रकट होना तो भक्तोंके अधीन है।

यदि हम ऐसा विश्वास कर लें तो जो लाभ हमको अवतारसे हो सकता है वह हम उन भक्तोंसे ही उठा सकते हैं। भगवान्‌की तो यह समझ है कि मेरे भक्त मुझसे श्रेष्ठ हैं क्योंकि मैं तो कानूनमें बँधा हुआ हूँ। मैं ही कानूनको बनानेवाला हूँ, इसलिये मैं ही उसे कैसे तोड़ सकता हूँ। मैं कानून तोड़ना नहीं चाहता। पर भक्त इतने बलवान् होते हैं कि उनके वशमें होकर मुझे कहीं कानूनको भी लाँघना पड़ता है। इसलिये भक्त मुझसे श्रेष्ठ हैं।

किन्तु भक्तोंकी मान्यता यह नहीं है। वे तो यही समझते हैं कि भगवान् ही सर्वोत्तम हैं। उनसे बढ़कर कोई नहीं।

'यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्॥'

यह कथन भगवान्‌का भक्तकी दृष्टिसे है कि भक्त भगवान्‌को पुरुषोत्तम जानता है। भक्त जब भगवान्‌को सर्वोत्तम मानता है तब भगवान् भी भक्तको सर्वोत्तम मानते हैं। भगवान् सत्यसंकल्प हैं। उनका मानना सत्य ही है। अतः किसको छोटा-बड़ा कहें।

हमलोगोंको तो यही मानना चाहिये कि यह उनकी आपसकी लड़ाई है—अपने लिये तो दोनों ही बड़े हैं। हमारी दरिद्रताको मेटनेके लिये तो दोनों ही असंख्य-पति हैं। भगवान्‌के भक्त सभी समयमें मिलते हैं। यह ठीक है कि करोड़ोंमें कोई एक ही महात्मा होता है। पर ऐसी बात नहीं है कि किसी समय कोई रहे ही नहीं। भगवान् कहते हैं—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

(गीता ७। ३)

हजारों मनुष्योंमें कोई एक मनुष्य मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई एक पुरुष मेरे परायण हुआ मुझको तत्त्वसे जानता है। पर भक्त हैं तो सही न। नहीं की बात तो नहीं कहते। वे सदा ही रहते हैं। भगवान्‌के भक्त न हों तो फिर भगवान्‌की भक्तिका प्रचार हो ही नहीं।

भगवान् स्वयं अपनी भक्तिका प्रचार नहीं करते। उनके सहायक रहते हैं। अपनी भक्तिका कोई भी अच्छा मनुष्य प्रचार नहीं करता। फिर भगवान् तो पुरुषोत्तम हैं। यदि संसारमें भक्त न होते तो भगवान्‌का नाम संसारमें शायद ही रहता, इसीलिये भगवान् भक्तोंके ऋणी होते हैं। आजतक हनुमान्‌जीके ऋणसे न भगवान् मुक्त हुए और न भरतजी। पर हनुमान्‌जी कभी ऐसा नहीं मानते।

जो काम भगवान् नहीं करते उसको भी भक्त कर देते हैं। भगवान् असम्भवको भी सम्भव कर सकते हैं। वे सर्वसमर्थ हैं किन्तु इस शक्तिको वे काममें नहीं लाते। यदि काममें लावें तो एक क्षणमें सारे संसारका उद्धार हो जाय। इस न्यायसे भगवान्‌से भी बढ़कर भगवान्‌के भक्त हैं। कहावत है, जो काम नौकरसे हो जाय उस काममें मालिकको जानेकी जरूरत नहीं। सारी सेनाको भगवान् मारने लगें तो कौन-सी बड़ी बात है, मार सकते हैं किन्तु अर्जुनको निमित्त बना लेते हैं। 'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्' भीष्म-सरीखोंका तो भगवान्‌के मारनेसे गौरव होता है। अपनी भक्तिके प्रचारके लिये भगवान् स्वयं खड़े हो जायँ तो यह उनके लिये शोभा नहीं देता। इसीलिये भक्तोंको खड़ा करते हैं।

एक धनी आदमी है, उससे कहकर एक दयालु आदमी गरीबोंको धन दिलाता है, कष्ट निवारण करता है तो उनकी दृष्टिमें तो वह दिलानेवाला ही ऊँचा है, दयालु है, इसी तरह भक्तोंकी बात है।—उनकी दृष्टिमें भगवान् निर्दय हुए, भक्त दयालु। भक्तोंके प्रति यह भाव हो जाय तो एक क्षणमें सबका कल्याण हो जाय।

रामफगुआ

(लेखक—महात्मा जयगौरीशंकर सीतारामजी)

तेरा क्या इतबारा, रे हंसा ॥ टेक ॥

नौ खिड़कीका बना पींजड़ा, उड़ता पंछी यारा ॥ रे हंसा० ॥ १ ॥

निठुर हृदय कुछ प्रीति न तेरे, काम बड़ा बरियारा ॥ रे हंसा० ॥ २ ॥

प्रीति लगाकर प्रेम बढ़ाया, धोखा दिया हजारा ॥ रे हंसा० ॥ ३ ॥

तेरे कारण जीवन खोया, दिया न साथ हमारा ॥ रे हंसा० ॥ ४ ॥

प्रेमसहित तुझे पाला पोसा, तजकर हुआ किनारा ॥ रे हंसा० ॥ ५ ॥

तेरा कुछ विश्वास नहीं है, झूठा सब व्यवहारा ॥ रे हंसा० ॥ ६ ॥

तेरे कारण लाज गँवायी, रहा न मान हमारा ॥ रे हंसा० ॥ ७ ॥

'कवलबास' एक राम भजन ही, यहाँ वहाँ रखवारा ॥ रे हंसा० ॥ ८ ॥

भक्तकी भावना

(लेखक—श्रीयुत लालचन्द्रजी)

भक्तका जीवन भावमय है । भक्त भगवद्भावोंसे भरपूर रहता है। भक्तके लिये भगवान्से बढ़कर संसारमें अन्य कुछ भी नहीं । भक्तके भाव ऋजु, सरल, सीधे, सच्चे और प्रेममय होते हैं । भगवान् ही उसके सर्वस्व हैं, जीवन हैं, धन हैं, धर्म हैं, परम गति हैं । भगवान् और भक्तका सम्बन्ध अटूट होता है । भक्त भगवान्में तृप्त रहता है । नित्य प्रसन्न रहता है । सदा आनन्द मनाता है । क्योंकि उसके हृदयविहारी आनन्दकन्द मनमोहन नित्य आनन्दरूप हैं । भक्त कहता है —

हे प्रभो! तुम आनन्दरूप हो, अमृतमय हो, हे मनमोहन ! तुम ही सत्य, शिव और सुन्दर हो । तुम ही सुख-शान्ति-सुधाके समुद्र हो, तुम प्रेमघन हो ! तुम ही दुःखहरण, भक्तवत्सल और सनातन हो । तुम ही आनन्दधाम और पूर्णकाम हो । तुम ही सुखनिधान, आनन्दकन्द, मुक्तिधाम और मुक्तिरूप हो । हे परमात्मन् ! तुम ही हृदयज्योति हो, प्रेमनिधि हो और परमगति तथा परमायन हो । मेरे जीवनसर्वस्व, हे प्रभो ! केवल तुम ही हो ।

भक्तको भगवान् पुत्रसे, धनसे, सम्पत्तिसे प्रिय और सब कुछसे अधिक प्रिय होता है । भक्त भगवान्को अपने आत्माके आत्मरूपमें अनुभव करता है । जीवनके जीवन, प्राणके प्राण, प्राणाधार, परमसार, विभुको जगत्में भक्त ही व्यक्त देखता है ।

भक्तकी भावनामें नित्य भगवान्की झलक, उनका सौन्दर्य, उनकी सौम्य मङ्गलमयी मूर्ति विराजमान रहती है । भक्त अपने भगवान्को परम कल्याणकारी शिवरूपमें स्मरण करता है और साथ ही अपने प्रेमपूर्ण हृदयमें भगवान्से अधिक किसीको सुन्दर भी नहीं मानता । 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' ही उसका ध्येय होता है ।

भक्त अपने प्रियतम भगवान्के साथ समस्त ऐश्वर्य और सम्पद्का अनुभव करता है । भक्त प्रेममें मग्न होकर गाता है—

मन प्रीतम संग लगा मेरा, मुझे औरकी अब परवाह नहीं ।
धन, गौरव, यश, सब उसमें है, मुझे संपदकी अब चाह नहीं ॥
प्रिय प्रीतम साथ रहूँ नित मैं, मेरे सँग प्रीतम नित्य रहें ।
नैसर्गिक सुख चहुँ ओर रहे, जगके जड़-चेतन क्षेम लहें ॥

भक्त भगवान्के जगत्को पावन और सुखमय बनाता है, उसे विश्वास होता है कि जिस जगत्में उसके दुःखहरण भगवान् निवास करते हैं वह जगत् सुखका—आनन्दका धाम होना चाहिये । भक्त जगत्के सुखमें अपना सुख समझता है । वह अपनेको जगत्की सेवामें लगाकर प्रसन्न होता है । जनतामें रमकर भक्त जनार्दन भगवान्की सेवा करता है । भक्त जगत्में रहकर उसपर प्रेम, सत्य और आनन्दके बीज बोता है और अपने पवित्र जीवनद्वारा सबको अपने भगवान्का सन्देश देता है । वह सदा आनन्दमय भगवान्में रमता है, इससे आनन्दमय रहता है और सबको आनन्ददान देता है ।

भक्त भगवान्से विमुखताकी अवस्थाको ही दुःख जानता है । भक्तकी श्रद्धा निरन्तर विकास और अन्तिम पूर्णतामें होती है । भक्तके मनमें पक्का भरोसा रहता है कि अन्तमें साधक, साधन और साध्य तीनोंका एक रूप हो जायगा । वह सुन्दर पवित्र भावोंके पुष्प लेकर नित्य बड़े विनयके साथ भगवान्के चरणोंमें समर्पण करता है और भगवान्का यश गाता है । वह भगवान्से केवल प्रेमकी ही भिक्षा चाहता है, और कहता है—भगवन् ! तेरे प्रेमके बलसे यह जीवन नित्य तेरी सेवामें लगा रहे ।

भक्तके मनमें यह दृढ़ विश्वास होता है कि भक्तवत्सल भगवान्का सहवास और उनका निरन्तर दर्शन,

यही जीवनका अन्तिम ध्येय है और यह उसे प्राप्त है। इसलिये उसे संसारमें कोई मनोरथ शेष नहीं।

भक्तके हृदयमें निरन्तर प्रेमकी धारा बहती है जिसमें पाप और प्रलोभन सब बह जाते हैं, उनका उसपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ सकता। ऐसा भगवान्की भक्तिमें रत, कर्तव्यपरायण पुरुष सदा आनन्दमें रहता है। चिन्ता उसके मनको कभी दुखी नहीं करती। उसे यह निश्चय हो जाता है कि भगवदर्पित कर्म करनेपर उसका योग और क्षेम भगवान् स्वयं वहन करते हैं। बस, भगवदर्थ कर्म किये जाना उसका धर्म है। भक्तका विश्वास उसे कभी गिरने नहीं देता, उसकी श्रद्धा उसे नित्य भगवत्सेवारूप कर्तव्यमें लगाये रखती है। वह भगवान्के बलपर सदा कर्तव्य कर्ममें लगा रहता है, कभी घबराता नहीं। सफलता अवश्य होती है, पर वह फलकी कामना नहीं करता; इसी हेतु वह स्वतन्त्र, दीनतारहित और सदा प्रसन्न रहता है। भक्तका जीवन सरल, मार्ग सीधा और कार्यक्रम निश्चित होता है।

भक्त होनेके लिये अपनी बुद्धिको भगवान्की शक्तिद्वारा प्रेरित करना पड़ता है। गायत्री-मन्त्रमें यही विशेषता स्पष्ट है। भक्त सच्चिदानन्द, परमपिता, सर्वश्रेष्ठ, शुद्ध, ज्ञानस्वरूप, परमात्माका ध्यान करता हुआ उन्हें अपनेमें धारण करता है और अपनी इस धारणायुक्त बुद्धिको भगवत्-प्रेरणाके लिये अर्पण करता है। परिणाम यह होता है कि परमकारुणिक भक्त-वत्सल भगवान् उसपर प्रसन्न होते हैं और अपनी कृपासे उसकी बुद्धिमें प्रेरणा देना स्वीकार करते हैं। तब फिर भक्त निश्चिन्त होकर केवल भगवत्प्रेरित कर्तव्य कर्ममें दत्तचित्त होकर अपने इष्टदेवकी आज्ञा पालन करता है और उसके द्वारा भगवान्का महान् यश होता है। भक्तोंके कारण ही भगवान् भक्तवत्सल कहाते हैं।

बुद्धि जब भगवान्से प्रेरित होकर कार्य करती है तो परिणाम आनन्द होता है। क्लेश, मलिन वासना, तृष्णा आदि विकारोंको फिर अन्तःकरणमें स्थान ही नहीं मिलता, हृदयमें निरन्तर आनन्दकी भेरी बजा करती है और भक्त उसकी ध्वनिमें मस्त रहता है। नित्य-नूतन उत्साह उत्पन्न होता है। चिन्ता तो रहती ही नहीं। भगवान्का भक्त शक्ति, पराक्रम, बल, तेज, ओज, सभी गुणोंसे समन्वित होता है। भक्त आत्मवान् होनेके कारण अपने शरीरपर पूर्ण स्वत्व रखता है।

भक्त भगवान्के भरोसे अपने-आपको नित्य ऊँचा उठाता है, गिराता नहीं। वह अनायास ही संयममें अपनेको समर्थ पाता है। उसके चरित्रमें दिखावट नहीं रहती। वह सब कार्य बिना आलस्य और प्रमादके करके पूरी नींद प्राप्त करता है। भक्त परिश्रमसे जी नहीं चुराता। परिश्रमको भक्तिका साधन समझकर प्रेमसे अपना कार्य करता है, सुख और शान्ति मानो सदैव उसके समीप निवास करते हैं। यह सब इसीलिये होता है कि भगवान्ने उसे अपना लिया है और अब उसके जीवनका नियन्त्रण भगवान् स्वयं कर रहे हैं। वह तो केवल निमित्तमात्र है।

भगवान्पर श्रद्धापूर्वक विश्वास रखनेसे आत्मबल बढ़ता है, आत्मशक्तिका पूर्ण विकास होता है और मनुष्य सहज ही बड़े-से-बड़े कार्य कर लेता है। भक्तिमें विपुल शक्ति है, इससे भक्तके ऊपर भगवान्का हाथ सदैव रहता है। भक्तका यश बढ़ता है और भक्तके कृत्योंद्वारा भगवान्का अपना यश महान् होता है। भक्त और भगवान्का प्रेम अकथनीय है, यह रहस्य वाणीके अगोचर है।

भक्तकी भावना सदैव यही बनी रहती है कि मैं स्वयं भगवान्को प्राप्त करूँ और जगत्में भागवत जीवन फैलाऊँ। वह अभिमान नहीं करता, किन्तु अपने कर्तव्य निबाहनेकी नीति ऐसी कर लेता है कि

जो उसके सम्पर्कमें आता है उसीपर भागवत प्रभाव अवश्य पड़ता है ।

भक्तके अंदर विश्वास बना रहता है कि आतुरता और व्याकुलता होनेपर भगवान् स्वयं उसे खींचकर अपने पास ले आते हैं, फिर मनुष्य विमल होकर भक्तिरसमें तृप्त हो जाता है और नित्य भगवान्के यश-को अपने कार्य और वाणीद्वारा प्रकट करता रहता है ।

भगवान् ही जड-चेतन जगत्के एकमात्र सत्कारण हैं; भगवान् परमदेव, जगत्पति, सर्वलोकप्रतिपालक, ज्योतिर्मय, आनन्दरूप और परम पवित्र हैं; भगवान् पाप-तापसे छुड़ानेवाले, सर्वव्यापक, विभु और जगद्गुरु हैं, वे सब जीवोंके परम हितैषी हैं, नित्य हैं, निरञ्जन हैं और सनातन पुरुष हैं तथा दुःख और विपत्तिसे बचाने-वाले हैं । भगवान् पूर्णकाम हैं । इसलिये भक्त अपने भगवान्के सिवा कभी किसीके आगे हाथ नहीं पसारता, हृदयविहारी भगवान् भक्तकी भावना जानते हैं और भक्तका विश्वास दिनोंदिन बढ़ाते हैं। भक्तको कोई भय नहीं सताता, वह अपने भगवान्के भरोसे निर्भयताके साथ सत्य और प्रेमद्वारा आगे-ही-आगे बढ़ता जाता है। भक्तके कार्यक्रममें रुकावट नहीं आती । विघ्ननाशक भगवान् उसकी विघ्न-बाधाओंको हटा देते हैं । भक्तको निराशा कभी नहीं सताती, भक्तको अवसाद—दुःख नहीं होता। भक्तका अवलम्बन सर्वशक्तिमान् भगवान् हैं उनके साथ उसका संग कभी नहीं छूट सकता ।

भक्तिका प्रसाद विमल प्रेम है, निर्भयता है, सफलता है, नम्रता है और क्षमाभाव है । भक्तकी जीवनचर्या भ्रम और संशयरहित हुआ करती है । भक्तके अन्तःकरणमें एक दिव्य प्रकाश रहता है, वह उसे मोह-अन्धकारसे अलग रखता है, प्रलोभनमें कभी फँसने नहीं देता और सत्य मार्गको स्पष्ट करता रहता है ।

भक्त ही यज्ञमय जीवन व्यतीत कर सकता है, भक्त ही प्रेमी हो सकता है । प्रेमसे तेज बढ़ता है । ज्ञानकी वृद्धि होती है । जो मनुष्यको उच्च नहीं बनाता वह प्रेम नहीं । भक्तके सहवाससे हृदय शुद्ध होता है। परमपिता परमात्माकी यह इच्छा है कि हम आशा, उत्साह, धैर्यके साथ अपने कर्तव्यका पालन करते हुए आनन्दको प्राप्त करें । यह तभी हो सकता है जब हम अपने मनोमन्दिरोंको भक्तिरूपी सूर्यकिरणोंके लिये खोल दें । मनोमन्दिरमें अन्धकार होनेसे ही उदासीनता, उद्विग्नता, प्रमाद, आलस्य आदि हमारे पीछे पड़ते हैं, हम पथच्युत हो जाते हैं और संसार हमें अन्धकारमय दीखने लगता है ।

समस्त विश्वमें एक ही तत्त्व काम कर रहा है, एक ही जीवन, एक ही सत्य वर्तमान है, हम उस प्रेम-पथके अनुगामी हैं जो भगवान्तक जाता है ।

भक्तके अंदर स्वार्थ नहीं रह सकता, भक्त सदा भूमा-सुखका अनुभव करता है । वह जानता है अल्पमें, तुच्छपनमें दुःख-ही-दुःख है । व्यापकदृष्टिसे, अनासक्त-भावसे, निश्चयसे, पूर्ण श्रद्धा और रुचिसे किये हुए कार्य अवश्य मनुष्यका कल्याण करते हैं और भगवान्की कृपा और उनकी शक्तिको अपने अंदर कार्य करने देनेमें सफल होते हैं । भक्तकी भावना सदा कल्याण-मयी, प्रेममयी और सेवामयी होती है । भक्तकी भावनामें दम्भ नहीं होता । उसमें सत्यता, सरलता, मृदुता और वास्तविकता रहती है । भक्त आडम्बर नहीं करता । वह सीधा, सच्चा और हितकर जीवन व्यतीत करता हुआ कभी उपकारका बदला नहीं चाहता । जहाँ सत्य है किन्तु अभिमान नहीं, प्रेम है पर मोह नहीं, उसी हृदयमें भक्तिका विकास हो सकता है ।

लक्ष्यकी ओर

(लेखक—श्रीप्रभाकरजी त्रिवेदी, एम० ए०, शास्त्री)

उत्पत्तिके क्षणसे लेकर मृत्युपर्यन्त अनुभवचिन्तन एवं चेष्टा (क्रिया) की जो अनवरत—अविच्छिन्न—धारा बह रही है इसीको संक्षेपमें 'जीवन' कहते हैं। हम सभी 'जीवन' शब्दके साधारण अर्थसे ऐसे परिचित हैं कि वस्तुतः उसकी परिभाषाकी कोई आवश्यकता ही नहीं।

विद्वान् लोग कहते हैं कि यह जीवन एक यात्रा है। वे जीवनको यात्रा क्यों कहते हैं? इसलिये कि जिस प्रकार यात्रा किसी स्थानविशेषसे प्रारम्भ होती तथा किसी दूसरे स्थानविशेषपर जाकर समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार जीवन भी किसी परिस्थितिविशेषसे प्रारम्भ कर दूसरी परिस्थितिविशेषमें समाप्त हो जाता है। फिर यात्रा एवं जीवन दोनों ही किसी समयविशेषमें प्रारम्भ करके दूसरे समयविशेषमें समाप्त हो जाते हैं। इन दो मुख्य एवं अनेक साधारण समताओंके कारण यात्रा एवं जीवनमें कोई मौलिक भेद नहीं प्रतीत होता। यदि जीवन एक बार प्रारम्भ होकर कभी समाप्त न होता तो निश्चय ही इसे यात्रा कहनेका किसीको अधिकार नहीं था।

यह स्पष्ट है कि हम अपनी वर्तमान यात्राके पूर्व भी अनेक यात्राएं कर चुके हैं तथा भविष्यमें भी अनेक यात्राएँ करनी होंगी। यदि आज हम बंबईकी यात्रा करें तो यद्यपि वहाँ पहुँचकर हमारी वर्तमान यात्रा समाप्त हो जायगी, किन्तु वहाँसे हम पुनः लौटेंगे और बहुत सम्भव है कि कुछ दिनों पश्चात् हमें किसी दूसरी यात्राके लिये प्रस्थान करना पड़े। भारतीय दर्शनोंका मत है कि जीवनयात्राकी भी ठीक यही अवस्था है। हम एक जीवनयात्रा समाप्त कर दूसरी तथा दूसरीके पश्चात् तीसरी प्रारम्भ करते हैं। यह यात्राचक्र इसी प्रकार चला करता है।

इन बातोंपर विचार करते हुए कभी-कभी यह जान लेनेके लिये हृदय व्याकुल हो उठता है कि सबसे पहली जीवनयात्रा कब, कहाँ, कैसे और क्यों प्रारम्भ हुई थी? इस गम्भीर प्रश्नका सन्तोषजनक उत्तर आजतक कोई दे नहीं पाया है। कदाचित् इसका उत्तर दिया भी नहीं जा सकता। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार हमारी मथुरावाली यात्राका लक्ष्य मथुरा पहुँच जाना मात्र है तथा यह सम्भव है कि पुनः किसी दूसरी यात्राके कारणोंका नितान्त अभाव होनेपर तदुपरान्त कोई दूसरी यात्रा न की जाय, उसी प्रकार इस जीवनयात्राका भी एक अन्तिम लक्ष्य है—ऐसा लक्ष्य वा गन्तव्य स्थान जहाँ पहुँचकर पुनः कोई नयी यात्रा करनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती। यह अनादिकालसे होती आनेवाली यात्रा वहाँ पहुँचकर सदाके लिये समाप्त हो जाती है—

'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' ॥ (गीता १५।६)

……………'न च पुनरावर्तते
न च पुनरावर्तते' ।……………

(छा० उ० ८।१५।१)

'यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः ।' (गीता १५।४)

'वह अन्तिम लक्ष्य वा गन्तव्य स्थान क्या है अथ च हम उसे कैसे प्राप्त कर सकेंगे', बस, यही इस लेखका मुख्य विषय है।

एक बात और, इस कथनकी पुष्टिके लिये किसी प्रमाणकी आवश्यकता नहीं प्रतीत होती कि हम केवल यही नहीं चाहते कि इस अन्तिम लक्ष्यपर शीघ्र-से-शीघ्र पहुँच जायँ, वरं साथ-ही-साथ यह भी चाहते हैं कि हमारी यह यात्रा सानन्द समाप्त हो। अतएव हमारा विचारणीय विषय केवल इतना ही नहीं है कि हम शीघ्र-से-शीघ्र अपना लक्ष्य कैसे प्राप्त कर लें वरं यह भी है कि हम अपने लक्ष्यतक आनन्दपूर्वक कैसे पहुँचें। अतएव उस लक्ष्य अथ च उसके साधनोंके विषयमें कुछ कहनेके पूर्व हम इस बातपर भी विचार कर लेना चाहते हैं कि यह जीवनयात्रा सानन्द कैसे की जा सकती है।

हम इस जीवनको एक प्रकारका गढ़ या किला समझ सकते हैं जिसके अनेक प्रवेश-द्वार हैं। यदि उन अनेक प्रवेश-द्वारोंमेंसे एक भी निर्बल हुआ तो दुःखरूपी शत्रु बलात् उसी मार्गसे दुर्गके भीतर घुसेगा और दुर्गके भीतर रहनेवाला कभी आनन्दपूर्वक नहीं रह सकता। अतएव यदि आनन्दपूर्वक रहना है तो इस दुर्गका प्रत्येक द्वार मजबूत करना होगा। जीवनके प्रत्येक 'पहलू' पर पूरा ध्यान देना पड़ेगा। अब हम क्रमशः जीवन-दुर्गके इन्हीं प्रवेशद्वारों—स्तम्भों अथवा पहलुओंकी ओर आपका ध्यान आकर्षित करते हुए अन्तमें उस अन्तिम लक्ष्यकी ओर संकेत कर आवश्यक साधनोंका विवेचन करेंगे।

यह बात सर्वसम्मत है कि सानन्द जीवन व्यतीत करनेके

लिये स्वस्थ एवं सबल शरीर नितान्त आवश्यक है। स्वास्थ्य-के मूल्यका ज्ञान तबतक नहीं होता जबतक हम उसे खो नहीं देते। अस्वस्थ हो जानेपर तो जीवनका सारा आनन्द निश्चय ही किरकिरा हो जाता है। जिन प्राकृतिक सुविधाओंका मूल्य आज हम कुछ भी नहीं समझते, जब वे हाथसे निकल जाती हैं, हम उनके लिये तड़प उठते हैं और तब अत्यधिक मूल्य देनेपर भी वे दुष्प्राप्य ही रह जाती हैं। कुछ दिनों पूर्व एक समृद्ध व्यापारीने प्रमेहसे उद्विग्न हो रेलवे ट्रेनके सम्मुख कूदकर अपनी इहलीला समाप्त की थी। महाराज विजयानगरम्तक अस्वस्थतासे ऊबकर कुछ ऐसा ही करनेके लिये बाध्य हुए थे--यह तो उससे भी बादकी बात है। इसीलिये कहा गया है कि स्वास्थ्यमें ही आनन्द है। (Health is happiness.)

किसी समृद्ध अमेरिकन विद्वान्ने एक बार कहा था--'यदि विद्वान् होनेकी इच्छा हो तो प्रतिदिन एक घंटे अवश्य व्यायाम करना; यदि धनवान् होना हो तो दो घंटे।' यूरोप, अमेरिका तथा जापान आज शारीरिक स्वास्थ्यपर जितना ध्यान दे रहे हैं उसका तो कहना ही क्या--हमारे देशमें भी स्वास्थ्यका कितना मूल्य समझा जाता था; यह हमारे साहित्यके कतिपय श्लोकोंसे भी पता चलता है। यथा--

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्। (कालिदास)

शरीर धर्मका प्रथम साधन है।

धर्मार्थकाममोक्षाणां शरीरं साधनं परम्।

शरीर धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष, सभीकी प्राप्तिका परम साधन है।

बड़े लोगोंके जीवनमें भी अनेक अवसर ऐसे आते हैं जब दूसरेका सहारा कुछ काम नहीं दे पाता। (सुनते हैं कि जब अंग्रेजी सेनाने अवधके नवाब वाजिदलीशाहको घेर लिया तब इसका समाचार पाकर भी उन्होंने भागनेका कोई सफल उद्योग इसलिये नहीं किया कि उन्हें जूता पहिनानेवाली दासी उस समय वहाँ उपस्थित नहीं थी। उसके कुछ वर्ष पूर्व एक दिन काशीके महाराज चेतसिंहपर भी विपत्तिके वैसे ही बादल उमड़ आये थे। भाद्रमासकी भरी हुई गंगाजी उनकी अट्टालिकाओंसे टकराती हुई बह रही थीं। महाराज अन्य मार्ग न देख रात्रिके समय उसमें कूद पड़े और दूसरे किनारे निकल गये)। शरीर जीवनयात्राके अथसे इतितकका साथी है।

इङ्गलैंडके प्रधान मंत्री ग्लैड्स्टन ७० वर्षकी अवस्था-तक व्यायामके लिये जङ्गलोंमें लकड़ी काटा करते थे। स्वामी रामतीर्थ अपने तपस्याकालमें भी व्यायाम किया करते थे। स्वामी विवेकानन्दकी व्यायामप्रियता तो उनके जीवनचरित्रसे अनभिज्ञ व्यक्ति भी उनके चित्रदर्शनसे ही समझ सकते हैं।

किन्तु केवल स्वस्थ शरीरसे ही हमारा काम नहीं चल सकता। हमें तीक्ष्ण बुद्धि एवं विकसित मस्तिष्ककी भी अत्यन्त आवश्यकता है। अन्यथा हम बड़ी आसानीसे शत्रुओं--बाह्य वा आन्तर--के जालमें फँसकर नष्ट हो जा सकते हैं। कुछ दिनों पूर्व समाचारपत्रोंमें यह पढ़कर बड़ा गर्व हुआ कि हमारे देशके सर्वश्रेष्ठ पहलवान गामाने सभी यूरोपियन मल्लोंको मल्लयुद्धके लिये प्रचारा है। किन्तु आजके संसारका रंग बदल गया है। गामाद्वारा चलायी हुई तोप कदाचित् किसी निर्बल मनुष्यद्वारा चलायी हुई तोपसे अधिक गहरा रंग नहीं ला सकती। और स्यात् कई शत मल्ल भी लाठी, भाले वा तलवारके सहारे एक अपेक्षाकृत निर्बल मनुष्यद्वारा अन्तरिक्षसे की हुई बम-वर्षाका उत्तर नहीं दे सकते। यह सब कहनेका अभिप्राय केवल इतना ही है कि मानवीय जीवनके जिस विषम क्षेत्र-युद्धक्षेत्रमें शरीरका मूल्य सबसे अधिक समझा जाता रहा है, उस क्षेत्रमें भी आज उसपर बुद्धिकी प्रधानता स्थापित हो चुकी है।

सानन्द जीवनयापन करनेके लिये हमें स्वस्थ एवं सबल शरीर तथा विकसित मस्तिष्कके अतिरिक्त कम-से-कम इतने धनकी भी अत्यन्त आवश्यकता है जितनेसे अपनी साधारण आवश्यकताओंके लिये किसी दूसरेके आश्रित न रहना पड़े। साधनरूपसे धनकी उपयोगिताके विषयमें भर्तृहरिके निम्न-लिखित श्लोककी अपेक्षा ऊँचे स्वरमें कदाचित् कुछ नहीं कहा जा सकता--

तानीन्द्रियाणि सकलानि तदेव नाम
सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव।
अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव
अन्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत्॥

अर्थात् वही अविकल (स्वस्थ) इन्द्रियाँ, वही नाम, वही अप्रतिहत बुद्धि तथा पूर्ववत् वचन (-चातुर्य) रहते हुए भी धनहीन हो जानेपर मनुष्य कुछ दूसरा ही हो जाता है, यह कैसी विचित्र बात है ? 'योगिराज, इसमें लेशमात्र भी विचित्रता नहीं। जहाँ दरिद्रतामें अनेक गुणोंका प्रादुर्भाव एवं विकास होना सत्य है वहाँ यह भी सत्य है कि आर्थिक चिन्ता सारे गुणोंका नाश कर देती है। आज कौन नहीं जानता कि

हमारे देशके जो बालक स्वस्थ एवं सबल होकर अपने देश एवं जातिकी रक्षा करनेमें समर्थ हो सकते थे, आवश्यक पौष्टिक आहार भी दुष्प्राप्य होनेके कारण उनमेंसे बहुतोंका जन्म केवल मृत्युसंख्याकी वृद्धिके लिये ही होता है तथा अनेक प्रखरबुद्धि बालक जो उचित शिक्षा प्राप्तकर अपनी सभ्यता, साहित्य एवं विज्ञानका गौरव बढ़ा सकते थे, केवल धनाभावके कारण निरक्षर रह जाते हैं। किन्तु हम धनकी उपयोगिता साधनरूपमें भलीभाँति स्वीकार करते हुए भी उसे 'साध्य' माननेसे कोसों दूर हैं। शरीरसे होनेवाला सुख केवल धनसे नहीं हो सकता। तो क्या विद्वानोंको संसारका रहस्य समझकर जो आनन्द होता है वह केवल धनसे हो सकेगा ?

अबतक हमने तीन महती शक्तियोंका विचार किया है जिनकी प्राप्ति सानन्द जीवन व्यतीत करनेके लिये अत्यन्त आवश्यक है, किन्तु किसी भी शक्तिका सदुपयोग आत्मोन्नतिके मार्गमें जितना हितकर होता है उसका दुरुपयोग उतना ही घातक। इधर जब कभी मैं बुद्धि एवं धनकी बात साथ-साथ सोचता हूँ तब उपर्युक्त सिद्धान्तके सम्बन्धमें मुझे एक घटनाका स्मरण हो आता है जिसे मैंने समाचारपत्रोंमें प्रायः दो-तीन वर्ष पूर्व पढ़ा था। कुछ वर्ष पूर्व किसी जर्मन नवयुवकने धनोपार्जनका एक विचित्र मार्ग निकाला। उसने अपने सभी सम्बन्धियों (कुटुम्बियों) का जीवन-बीमा कई सहस्र रुपयेका कराया। कुछ काल पश्चात् धीरे-धीरे प्रत्येकको Slow poison (दीर्घकालमें परिणामोत्पादक विष) दे दिया। उसका परिणाम वही हुआ जिसकी वह कल्पना कर चुका था। उसे अनेक सहस्र रुपये प्राप्त हो गये। किन्तु कुछ बुद्धिमान् व्यक्तियोंको उसपर सन्देह हुआ तथा अन्ततः उसे अपने दुष्कर्मका उचित दण्ड भोगना पड़ा। ऐसी घटना पढ़कर किसके रोंगटे न खड़े हो गये होंगे ? इस प्रकारके अनेक उदाहरणोंसे यह बात स्वीकार कर लेनेमें लेशमात्र भी हिचक नहीं होती कि बुद्धि भी केवल एक सूक्ष्म शस्त्र है जिसका सदुपयोग जितना सम्भव है उतना ही उसका दुरुपयोग भी, तथा दुरुपयोग होनेपर यह शस्त्र प्रायः सभी अन्य शस्त्रोंकी अपेक्षा सामाजिक हित एवं शान्तिके लिये अत्यधिक घातक सिद्ध हो सकता है।

अतएव यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अपनी सभी प्रकारकी शक्तियोंके प्रयोगसम्बन्धी उचितानुचित विवेक एवं तज्जन्य उनका नियामक नैतिक बल यदि प्राप्त न हुआ तो समाज सुखी न रह सकेगा। और स्पष्टतः ही इस प्रकारके किसी भी लेखका उद्देश्य केवल वैयक्तिक हितकी विवेचनाके लिये ही नहीं, वरं सामूहिक वा सामाजिक हितके लिये भी होता है। फिर नैतिक बलके अभावमें वैयक्तिक सुख भी चिरकालतक मिलना सम्भव नहीं। अतएव यदि हम सर्वदा सुखी रहना चाहते हैं तो नैतिक बल भी हमारे लिये अनिवार्य है।

समाजकी नैतिकताका स्तर—सतह ऊँचा रखनेके लिये धार्मिक शिक्षाकी परम आवश्यकता है। धर्म एवं नैतिकताका सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि साधारण मनुष्य कभी नैतिकताको धर्मसे पृथक् करके उसे जीवित रख सकेगा—इसमें मुझे गहरा सन्देह है। महापुरुषोंके जीवनका अध्ययन एवं सत्संगति उसके प्रधान साधन हैं। राम, भरत एवं लक्ष्मणकी कथा जिसने नहीं सुनी वह 'भ्रातृप्रेम' कैसे सीखेगा ? जिसने हरिश्चन्द्र और युधिष्ठिर अथवा महात्मा गान्धीका नाम नहीं सुना उसे 'सत्य'का मूल्य कौन बता सकेगा ? महापुरुषोंके जीवनका अध्ययन करनेसे सबसे बड़ा लाभ तो यह होता है कि हमारे विचारोंका स्तर ज्यों-ज्यों ऊँचा होता जाता है, हृदय ज्यों-ज्यों उदार तथा दृष्टिकोण ज्यों-ज्यों व्यापक होता जाता है त्यों-त्यों भेद बढ़ानेवाली बातें लुप्त होती जाती हैं।

उपर्युक्त शक्तियोंमेंसे प्रत्येकका सन्तोषजनक मात्रामें अर्जन कर सकनेपर वैयक्तिक जीवन भी आनन्दपूर्वक व्यतीत किया जा सकता है तथा समाज भी सुख एवं शान्तिमें रहते हुए अपनी उत्तरोत्तर उन्नति एवं आनन्दके लिये अनिवार्य राजनैतिक स्वतन्त्रतादिका योगक्षेम भी सुगमतासे कर सकता है।

किन्तु इन सभी शक्तियोंके अतिरिक्त मैं एक और विलक्षण शक्तिका अस्तित्व स्वीकार किये बिना नहीं रह सकता, जिसे हममेंसे अधिक लोग शायद न स्वीकार करें। वह शक्ति एक प्रकारका विलक्षण तेज है जिससे युक्त पुरुषको तेजस्वी कहते हैं। यद्यपि कुछ विशिष्ट पुरुषोंमें वह जन्मतः ही प्रकट होती है, किन्तु मेरा विश्वास है कि उचित उपायोंके अवलम्बनसे उसका अर्जन भी किया जा सकता है। इस तेजकी विशेषता यह होती है कि शत्रु भी उससे युक्त—तेजस्वी—पुरुषके समक्ष आते ही नतमस्तक हो जाता है। उससे द्वेष करनेवाला भी उसके सम्मुख उपस्थित हो जानेपर विपरीत भाव छोड़ देता है। उससे असत्य भाषण

करनेका साहस किसीको नहीं होता। जिन समस्याओंका सुलझना असम्भव समझा जाता है, वे उसके हाथ लगाते ही मानो स्वतः सुलझ जाती हैं। उसके आस-पासकी जनता उसके प्रभावसे अनायास ही प्रभावित रहती है। उसके प्रभावसे 'गाय और सिंह एक घाटपर पानी पीते हैं'। जगत्‌के इतिहासमें ऐसे तेजस्वियोंके अनेक नाम गिनाये जा सकते हैं; किन्तु इस समय मुझे एक छोटी-सी घटनाका स्मरण हो आया। सुनते हैं कि एक दिन सन्ध्यासमय स्वामी रामतीर्थ अमेरिकाके किसी स्थानमें ध्यानमग्न बैठे थे। उस समय कोई अमेरिकन महिला ईश्वरके अस्तित्वका सफलता-पूर्वक खण्डन करनेका विश्वास कर उनसे वादविवाद करने पहुँची। किन्तु स्वामीजीको ध्यानमग्न देखकर उसे वहीं कुछ क्षणके लिये बैठ जाना पड़ा। थोड़ी देर बाद जब उन्होंने आँख खोली तब उक्त महिलाने निवेदन किया, 'महाशय! मैं आपसे वादविवाद कर ईश्वरके अस्तित्वका खण्डन करने आयी थी। किन्तु मुझे विश्वास हो गया कि ईश्वर अवश्य है। अब मुझे चले जानेकी आज्ञा दीजिये।'

उपर्युक्त घटना कहाँतक सत्य है, यह मैं नहीं कह सकता। किन्तु इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं कि जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें इस प्रकारके तेजस्वी प्रायः सर्वदा उत्पन्न होते आये हैं और अब भी हैं। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यह विलक्षण तेज कैसे प्राप्त किया जा सकता है? मेरा विश्वास है कि जिस प्रकार तप्त लोहेकी उष्णता अग्निके सहवासका परिणाम होती है, जिस प्रकार जल एवं वस्त्रमें सौरभ गन्धयुक्त सुमनोंके सम्पर्कसे प्राप्त होता है, उसी प्रकार वह तेज भी उस विलक्षण अपरिमेय 'शक्ति' के नियमित-रूपसे सम्पर्कमें आनेसे ही प्राप्त हो सकता है जिसे हम परमात्मा कहते हैं और जो उस तेजका एकमात्र उद्गम एवं निधि है—'तेजस्तेजस्विनामहम्।' (गीता ७। १०)

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

(कठोपनिषद् २। २। १५, तथा केनोपनिषद् खण्ड ३ और ४—यक्षोपाख्यान—आदि देखिये)

नियमितरूपसे प्रतिदिन कुछ समयके लिये उस महती 'शक्ति' के सम्पर्कमें रहनेको ही 'उपासना' कहते हैं। उसके अनेक प्रकार हैं, किन्तु इस छोटे-से लेखमें उपासनाका विस्तृत विवेचन अभीष्ट नहीं।

जीवनयात्रा सर्वथा सानन्द समाप्त हो सके, इसके लिये जिन महती शक्तियोंकी अनिवार्य आवश्यकता है उनकी गणना समाप्त हो चली। इस विषयमें अब मेरा वक्तव्य इतना ही है कि इनमेंसे किसी एककी भी उपेक्षा करनेसे हम सर्वथा सुखी नहीं रह सकते। अहर्निश पुस्तकें पढ़ते रहने तथा व्याख्यानादि श्रवण करते रहनेसे जिस प्रकार शरीर स्वस्थ नहीं रह सकता उसी प्रकार प्रतिदिन हजारों डंड लगानेसे भी हमारा मानसिक विकास नहीं हो सकता। अथ च नैतिक बलके अभावमें हम बलवान् एवं विद्वान् होकर भी सामाजिक सुख एवं शान्तिमें घातक सिद्ध हो सकते हैं, इत्यादि। अतएव यद्यपि यह सत्य है कि इनमेंसे एककी प्राप्ति दूसरेके अर्जनमें अत्यधिक सहायक होती है, किन्तु वास्तवमें इन सभी शक्तियोंकी प्राप्तिके लिये हमें उनमेंसे प्रत्येककी अलग-अलग उपासना करनी पड़ेगी। उपासनाका अर्थ है प्राप्तिके पथका अवलम्बन।

यह पहले ही निवेदन किया जा चुका है कि यद्यपि जीवनयात्रा सर्वथा सानन्द समाप्त हो—यह भी हमारा एक लक्ष्य है और होना भी चाहिये, किन्तु जीवनका अन्तिम लक्ष्य यही नहीं है। जिस प्रकार हम परीक्षामें बैठते हैं इसलिये कि पुनः परीक्षामें न बैठना पड़े, दुःख उठाते हैं इसलिये कि पुनः दुःख न उठाना पड़े, उसी प्रकार जीवन-यात्राका भी अन्तिम उद्देश्य यही है कि पुनः यह यात्रा न करनी पड़े। यदि हमें एक बार परीक्षामें बैठकर पुनः उसीमें बैठना पड़ता है वा एक बार दुःख उठा चुकनेपर उसकी पुनरावृत्ति होती है तो इस विषयमें इतना ही कहा जा सकता है कि ऐसा हमारी दुर्भाग्य वा त्रुटियोंके कारण होता है। यह आदर्श परिस्थिति नहीं। आदर्श परिस्थिति वही है जिसकी ओर अनेक बार संकेत किया जा चुका है। यदि एक बार जन्म लिया तो फिर जन्म न लेना पड़े; यदि एक बार मर चुके तो पुनः मरना न पड़े—

जातो हि को यस्य पुनर्न जन्म
मृतश्च को यस्य पुनर्न मृत्युः।

(श्रीशंकराचार्य)

इस अन्तिम लक्ष्यको ही शास्त्रीय भाषामें 'मुक्ति' कहते हैं। भारतीय दर्शनों—विशेषतः वेदान्तका कहना है कि मुक्ति अक्षय, शाश्वत एवं ऐकान्तिक सुख वा आनन्दकी चरम

अवस्था है । उसे प्राप्तकर हम सभी प्रकारके भय वा दुःखों-की सीमासे सर्वदाके लिये बाहर निकल जाते हैं ।

क सर्वथा नास्ति भयं विमुक्तौ ।

(श्रीशंकराचार्य)

'उस गन्तव्य स्थानका मार्ग क्या है ?' इस जटिल प्रश्नपर अपने सीमित अध्ययन एवं चिन्तनके अनुसार किञ्चित् प्रकाश डालनेके पूर्व दो परस्परविरोधी प्रश्नोंका उत्तर दे लेना आवश्यक प्रतीत होता है ।

एक प्रश्न तो यह है कि जीवनमें सर्वथा सुखी रहनेके साधनोंका अवलम्बन कर सुखमय जीवन व्यतीत करना तो ठीक ही है, किन्तु जिस प्रकार काश्मीरके कुछ हृदों एवं चीनसमुद्रके तटपर कुछ नाविक नावपर ही घर बनाकर रहते हैं तथा वहीं अपनी सारी आवश्यकताएँ पूर्ण कर लेनेसे स्थलपर उतरनेकी चिन्ता प्रायः नहीं करते, उसी प्रकार हम भी सर्वथा सुखमय जीवन व्यतीत करनेके लिये प्रयत्नशील रहें—मुक्ति-जैसी कोई अवस्था यदि हो भी तो उसके लिये प्रयत्न ही क्यों करें ?

इस प्रश्नके सम्बन्धमें मुझे इतना ही कहना है कि सर्वथा शक्तिशाली महापुरुषोंके जीवनमें भी अनेक बार ऐसे अवसर आते हुए देखे गये हैं जब उपर्युक्त शक्तियोंमेंसे एक भी काम नहीं आती । उस दिन समयको बलवान् मानकर चुप हो रहनेके अतिरिक्त दूसरा चारा नहीं रह जाता । यदि तत्कालीन संसारके सर्वश्रेष्ठ शूरवीरोंसे मण्डित जनकराजकी भरी हुई सभामें धनुष तोड़नेवाले और अपनी राजधानीसे सहस्रों मील दूर रणभूमिमें मृतप्राय लक्ष्मणको गोदमें लेकर विलाप करनेवाले मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रके जीवनके दो क्षणोंमें कुछ अन्तर है; यदि दिग्विजयी बन्धुओं एवं श्रीकृष्ण-जैसे सखाद्वारा परिवेष्टित, राजसूययज्ञमें दीक्षित होनेवाले, एवं धृतराष्ट्रकी राज-सभामें आपद्ग्रस्ता, 'कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव' कह-कहकर करुण क्रन्दन करनेवाली द्रौपदीको सान्त्वनाका एक वचन भी कह लेनेका अधिकार खो देनेवाले महाराज युधिष्ठिरके जीवनके दो क्षणोंमें समानता नहीं दीखती; यदि सम्राट् शाह-जहाँके 'तख्ते ताऊस' पर बैठनेके दिन अथ च आगरा-दुर्गमें स्वयं अपने पुत्रद्वारा बन्दी होकर अपने प्रिय पुत्र 'दारा' का कटा हुआ सिर भेंट किये जानेके दिनमें कुछ भेद स्वीकार कर लेनेमें हिचक नहीं होती, और यदि जगत्का इतिहास ऐसी सहस्रों घटनाओंसे भरा पड़ा है तो यह स्वीकार कर लेनेमें कोई बाधा नहीं दीखती कि जीवन प्रकृत्या ही कुछ ऐसी विचित्र वस्तु है कि इसमें किसीके लिये भी सतत एवं सर्वथा सुखी रहना सम्भव नहीं प्रतीत होता । सम्भव है कि संसारके बहुसंख्यक यात्री (जीवनयात्री) अपनी यात्राके अन्तमें 'किससे लिपट जुड़ाता, सबको ज्वालामें जलते देखा' (श्रीयुत 'दिनकर') कहते हुए न सुने जाते हों, किन्तु यह भी सत्य है कि कोई भी विचारशील पुरुष—जो जीवनकी वास्तविकताका चित्रपट देखनेमें भयभीत न होता हो—केवल शरीरविज्ञान या ज्योतिर्विज्ञानादिमें ही नहीं, वरं इतिहासके पृष्ठोंपर भी बड़ी स्पष्ट भाषामें यह लिखा हुआ पायेगा कि 'मिटना, मिट-मिटकर बनना, बन-बनकर मिट-मिट जाना' (श्रीयुत 'माधव')—संसारमें सर्वत्र निरन्तर बस यही प्रक्रिया चल रही है । जिन्हें इस निरन्तर बनते-बिगड़ते रहनेकी प्रक्रियासे सन्तोष न हो, जो यात्राचक्रमें ही सदा पड़े रहना जीवनका लक्ष्य न समझते हों, उनके लिये मैं समझता हूँ कि उपर्युक्त प्रश्नका उत्तर हो चुका । जो इस प्रकृत अवस्थासे सन्तुष्ट हों उन्हें किसी उत्तरकी आवश्यकता ही नहीं ।

दूसरा प्रश्न—पहलेसे नितान्त विपरीत—यह उत्पन्न होता है कि जब 'यात्रा' ही 'यात्रा' का अन्तिम लक्ष्य नहीं तो यात्रा सानन्द समाप्त हुई तो क्या और पद-पदपर कष्ट झेलने पड़े तो क्या—उधर हमारा ध्यान ही नहीं जाना चाहिये । हमें चिन्ता केवल इस बातकी रहनी चाहिये कि शीघ्र-से-शीघ्र अपने लक्ष्यपर पहुँच जायँ ।

'लक्ष्य' पर शीघ्र पहुँच जानेकी इस तीव्र उत्कण्ठाके प्रति समुचित सद्भाव रखते हुए भी इस प्रश्नके सम्बन्धमें मुझे यह निवेदन करना है कि मेरी समझमें वह मार्ग इतना छोटा नहीं कि उसकी अवस्थाओंके प्रति नितान्त उपेक्षाका भाव रखते हुए लक्ष्यकी ओर बहुत समयतक अग्रसर हुआ जा सके । साधारण अनुभवी यात्रियोंका यह सिद्धान्त सर्वथा युक्ति-संगत प्रतीत होता है कि मार्गमें यथाशक्य कम सामान रखना सुविधाजनक होता है; किन्तु इस सिद्धान्तका दुरुपयोग कर यदि कोई कैलासयात्री असाधारण रीतिसे अपनी रक्षाके लिये पर्याप्त कम्बल न ले ले तो—यद्यपि उसका उद्देश्य कम्बल ओढ़ना नहीं, कैलास पहुँच जाना है, किन्तु इसमें लेश मात्र भी सन्देह नहीं कि—उसे कुछ ही दिनों पश्चात् इसका अनुभव हो जायगा कि कम्बलोंकी उपेक्षा करके कैलासयात्रा नहीं की जा सकती । कारण, इन कम्बलों वा उपरिनिर्दिष्ट शक्तियोंकी

उपेक्षा एवं तज्जन्य उनके अभावका अभिप्राय—स्पष्ट भाषामें—हुआ स्वास्थ्य, शक्ति, विद्या-बुद्धि, धन, नैतिकता एवं तेजका अभाव। फिर, जिसका शरीर अस्वस्थ एवं निर्बल है, जिसका मस्तिष्क अविकसित है, जो आर्थिक चिन्ताओंका शिकार है, जिसने नैतिक बल अर्जन नहीं किया (तथा जो निस्तेज है), वह मुक्तिके पथपर—उस 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथः' पर भला कैसे अग्रसर हो सकेगा ?

किसी तीर्थस्थानपर शीघ्र पहुँच जानेके लिये नितान्त व्यग्र किसी धर्मप्राण व्यक्तिके लिये भी 'मालगाड़ी' के डब्बोंमें जा बैठनेकी कोई आवश्यकता नहीं। महत्त्वपूर्ण वस्तु है 'एंजिन'—डब्बे नहीं। यदि 'एंजिन' तेज़ रहा तथा बीचमें ही रुक जानेके लिये उन्मुक नहीं है तो उसके साथ लगा हुआ प्रथम श्रेणीका 'डब्बा' भी उसी समय पहुँच जायगा जब मालगाड़ीका डब्बा। हमारा ध्यान केवल एंजिन-की ओर होना चाहिये। यदि प्रथम श्रेणीके डब्बोंके लिये दूसरे प्रकारके अवश्यम्भावी खतरे न हों तो मालगाड़ीके डब्बोंके प्रति हमारा पक्षपात होनेका कोई कारण नहीं। हाँ, एक बात अवश्य है कि प्रथम श्रेणीके डब्बोंके सुखके कारण उसका इतना मोह न हो जाना चाहिये कि हमें लक्ष्यका ध्यान ही न रह जाय और उचित अवसरपर भी हम डब्बेका परित्याग न कर सकें। यदि हम इस मोह वा आसक्तिसे दूर रह सके तो भयका कोई दूसरा कारण नहीं। किसी विशेष दार्शनिक सम्प्रदायकी उपर्युक्त सिद्धान्तपर चाहे जितनी आपत्ति क्यों न हो, कम-से-कम भगवद्गीताको तो उससे कोई विरोध नहीं दीखता। अन्यथा गीताकी कोई विशेषता ही न रह जाय। अथ च—

> **युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।**
> **युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥**
>
> (गीता ६। १७)

तथा—

> **धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।**
>
> (गीता ७। ११)

—इत्यादि गीताके अनेक श्लोकोंका कुछ अर्थ ही न रहे।

यह तो हुआ इस प्रश्नका वैयक्तिक दृष्टिकोणसे विवेचन। सामाजिक दृष्टिकोणसे विचार करनेपर अधिकाधिक गड़बड़ी प्रतीत होती है। जब किसी देश वा जातिके विद्वज्जन—चाहे जिस किसी कारणसे क्यों न हो—सांसारिक विभूतियोंको नितान्त निःसार कहकर उनके प्रति उपेक्षा प्रकट करने लगते हैं, तब उसका अवश्यम्भावी परिणाम यह होता है कि 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः' की अकाट्य प्रक्रियाके अनुसार साधारण समाजका मस्तिष्क भी ज्ञात वा अज्ञात-रूपसे उन्हीं भावोंसे प्रभावित हो उठता है। फलतः वह देश दिनोंदिन दुर्बल होता जाता तथा अन्ततः दूसरे सबल राष्ट्रोंकी दासताकी बेड़ियोंमें जकड़ जाता है। परतन्त्रतामें उसकी विद्या, बुद्धि, कौशल, ज्ञान एवं सभ्यता, सभीपर युगपत् आपत्ति आती है और समाज—अन्तिम लक्ष्यके चिन्तन एवं प्राप्तिसे तो क्या—साधारण सुविधाओंसे भी वञ्चित हो जाता है। ऐसी परिस्थितिमें, सामाजिक हितकी दृष्टिसे भी, उक्त अन्तिम लक्ष्यकी ओर अग्रसर होते हुए भी भौतिक विभूतियोंके प्रति नितान्त उपेक्षाका भाव उचित नहीं प्रतीत होता।

'अभ्युदय' एवं 'निःश्रेयस'—दोनोंका उचित सामञ्जस्य ही जीवनका सर्वोच्च आदर्श है। केवल 'प्रथम' का ध्यान रखनेके परिणामस्वरूप शान्ति योरोपीय वायुमण्डलसे सदाके लिये विदा हो चली। केवल दूसरेका ध्यान रखनेवाली हिन्दू जाति हज़ारों वर्षसे परतन्त्रताकी बेड़ियोंमें जकड़ी पड़ी है। जबतक भारतके तपस्वियों—वाल्मीकि एवं व्यास—तकको 'वीर-पूजा' के लिये—राम एवं कृष्णके, भीष्म एवं अर्जुनके गुणगानके लिये—लेखनी चलाते रहनेमें समय-का सदुपयोग प्रतीत होता रहा तबतक विदेशी तलवार न खैबरके दर्रोंका उपयोग कर सकी, न हिन्दमहासागरका। कौन कह सकता है कि जबतक भारत 'अभ्युदय' एवं 'निःश्रेयस', जीवनके दोनों लक्ष्योंमें सामञ्जस्य स्थापित रख सका तबतक वह संसारका सर्वथा सिरमौर न रहा ? और यदि अब भी भारतको सर्वाङ्गीण गौरवके सर्वोच्च शिखरपर चढ़ना है तो उसके लिये केवल एक मार्ग है—अपने दृष्टिकोण-को परिवर्तित करना—जीवनके दोनों लक्ष्योंमें उचित सामञ्जस्य स्थापित करना—राजनीति एवं समाजशास्त्रको उसी आदरकी दृष्टिसे देखने लगना जिससे वह दर्शनको देखता रहा है।

इन आनुषंगिक प्रश्नोंका विवेचन हो चुका। अब हमें केवल इस बातका विचार करना है कि उस अन्तिम लक्ष्य-तक पहुँचानेवाला उचित मार्ग क्या है ?

वेदान्तका कहना है कि जन्म-मरणके चक्रसे सदाके लिये

निकलकर अमृतत्व प्राप्त कर लेनेका—मोक्षप्राप्तिका एकमात्र सच्चा मार्ग ज्ञान ही है। विना ज्ञानके मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती। 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।' उपनिषदोंमें तो यह बात विविध भाँतिसे वारंवार कही गयी है। यथा—'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तैत्तिरीयोपनिषद् २। १)। ब्रह्मज्ञानीको मोक्ष मिलता है। 'विद्ययामृतमश्नुते' (ईशावास्योपनिषद् ११)। विद्या अर्थात् ज्ञानसे अमृतत्व प्राप्त करता है। 'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः' (श्वेताश्वतर० ५। १३)—उस देव (ब्रह्म-आत्मा) को जानकर सभी बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है; तथा—

> तमेव विदित्वातिमृत्युमेति
> नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।
> (श्वेताश्वतर० ३। ८)

'उसी (ब्रह्म) का ज्ञान प्राप्तकर मृत्युसे पार हो जाता है— मोक्षके लिये कोई दूसरा मार्ग नहीं।' इत्यादि।

'ज्ञान' से अभिप्राय है इस बातकी अनुभूति कि इन अनन्त पृथक् दृश्यमान सभी जीवोंमें वस्तुतः केवल एक ही आत्मा वर्तमान है, जो स्वरूपतः ब्रह्म वा परमात्मा ही है— उससे पृथक् नहीं। जब मनुष्यको ऐसा ज्ञान हो जाता है तब वह स्वयं ब्रह्मत्व प्राप्त कर लेता है। गीतामें भी यह बात स्पष्ट कही गयी है, यथा—

> यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
> तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥
> (गीता १३। ३०)

'जब सब भूतोंके नानात्वमें एकता दीखने लगे तथा इस एकतासे ही सब विस्तार दीखने लगे तब ब्रह्म प्राप्त हो जाता है।'—इत्यादि।

वेदान्तके इस पारिभाषिक 'ज्ञान' शब्दको 'जानकारी' के अर्थमें लेना बहुत बड़ी भूल है। यदि ऐसा न हो तो प्रत्येक व्यक्तिको जिसने एक बार भगवद्गीता वा वेदान्तसार भी पढ़ लिया उसे ब्रह्मत्व प्राप्त हो जाय। सच्चे ज्ञानकी पहचान यह है कि हमें उसमें लेश मात्र भी सन्देह न रह जाय तथा हमारा सारा आचरण उसीके अनुकूल होने लगे। इस दृष्टिसे हम ज्ञानका अर्थ 'ब्रह्मात्मैक्य' की जानकारीके बदले, 'अनुभूति' अधिक उपयुक्त समझते हैं।

अब प्रश्न यह होता है कि इस ज्ञानप्राप्तिका साधन क्या है? उस साधनकी एकता वा अनेकता आदि प्रश्नोंकी शास्त्रीय मीमांसा हमें यहाँ नहीं करनी है। यों तो भगवद्गीताके भी कुछ— विशेषतः चौथे, बारहवें तथा तेरहवें—अध्यायोंमें बड़े आदरके साथ कुछ मार्गोंकी चर्चा की गयी है। वेदान्तके भिन्न-भिन्न आचार्योंके भी अपने-अपने सिद्धान्त हैं। किन्तु उन सबकी परिगणना इस लेखका उद्देश्य नहीं। मुझे यहाँ केवल दो मार्गोंकी ओर कुछ संकेत करना है। हाँ, मुझे यह स्पष्ट कह लेने दीजिये कि इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि केवल ये ही दो मार्ग हो सकते हैं।

वे दोनों मार्ग एक ही बिन्दुसे प्रस्थानकर नितान्त विपरीत दिशाओंमें निरन्तर अग्रसर होते हुए अपनी चरम सीमापर पहुँचकर एक दूसरेसे मिल जाते हैं—ठीक वैसे ही जैसे पृथ्वीकी गोलाईके कारण एक ही स्थानसे प्रस्थान कर विपरीत दिशाओंमें निरन्तर चलते रहनेवाले दो यात्री किसी-न-किसी दिन एक दूसरेसे मिल जाते हों। जिस बिन्दुसे वे दोनों प्रस्थान करते हैं उसे मैं 'आत्मीयताकी परिधि' कहता हूँ। उस प्रस्थान-बिन्दुसे एक निरन्तर संकोचका मार्ग है तो दूसरा सतत विस्तारका। कहा जा सकता है कि एक निर्गुण ब्रह्मकी ओर चलता है तो दूसरा सगुणकी ओर। एक 'अणोरणीयान्' की ओर दौड़ता है तो दूसरा 'महतो महीयान्' की ओर। एककी चरम सीमा वहाँ होती है जहाँ प्रस्थानबिन्दुकी परिधि (आत्मीयताकी परिधि) का निरन्तर संकोचके कारण लोप होकर 'केन्द्र' ही केन्द्र शेष रह जाता है। दूसरेकी चरम सीमापर सतत विस्तारके कारण परिधि असीम हो जाती है, अतएव केन्द्रका अस्तित्व ही नहीं रह जाता। तब 'केन्द्र' एवं 'परिधि' के भेदका लोप हो जाता है। अतएव उसे न 'केन्द्र' कह सकते हैं न 'परिधि'। किन्तु चरम सीमापर पहुँचकर इन दोनों मार्गोंमें कोई भेद नहीं रह जाता। कारण, जैसे 'निर्गुण' एवं 'सगुण' दोनों एक ही हैं वैसे ही जो 'अणोरणीयान्' है वही 'महतो महीयान्' भी है। हम इनमेंसे पहले मार्गको 'राजयोग' और दूसरेको 'कर्मयोग' कह सकते हैं।

'राजयोग' का उद्देश्य होता है शरीरी (प्रत्यगात्मा) आत्माके वास्तविक स्वरूपकी अनुभूति। ऊपर कहा जा चुका है कि कर्मयोगकी भाँति यह मार्ग भी एक ही प्रस्थानबिन्दु— 'आत्मीयताकी परिधि'—से प्रारम्भ होता है, किन्तु यह मार्ग उस परिधिके निरन्तर संकोचका मार्ग है। आत्मीयताकी परिधिमें उन सभी जीवों तथा वस्तुओंका समावेश हो जाता है जिन्हें हम अपना कहते हैं तथा जिनके विनाश वा कष्टसे हमें

कष्ट होता एवं जिनकी वृद्धिसे हमें हर्ष होता है ('The Principles of Psychology'—W. James: The chapter on the Self) । इस परिधिके भीतर हमारे मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ एवं शरीर आदिका ही समावेश नहीं होता, वरं हमारे माता-पिता, स्त्री-बच्चे, इष्ट-मित्र एवं धन-सम्पत्तिका भी हो जाता है। इन सभी वस्तुओंमें हम भ्रमवश आत्म-भावनाका आरोप कर लेते हैं। यह बात दूसरी है कि यह आरोप—दीपशिखासे निकट वा दूर पड़नेवाले पदार्थोंपर उसके प्रकाशकी भाँति—'केन्द्र' से निकट वा दूरस्थ वस्तुओंपर अपेक्षाकृत अधिक वा कम गहरा (घना) होता है। शांकर-वेदान्तकी भाषामें इसीको 'अध्यास' कहते हैं। ('ब्रह्म-सूत्र'-शांकरभाष्य-उपोद्घात)। राजयोगके मार्गपर ज्यों-ज्यों हम अग्रसर होते जाते हैं त्यों-त्यों (आत्मीयताकी) 'परिधि' का संकोच होता जाता है—परिधिमें समाविष्ट अनेक वस्तुएँ धीरे-धीरे उससे बाहर निकलने लगती हैं। फलतः इस 'अध्यास' का भी धीरे-धीरे वैसे ही लोप होने लगता है जैसे पूर्व क्षितिजपर प्रकट होकर सूर्य ज्यों-ज्यों आकाशमें ऊपर चढ़ने लगता है त्यों-त्यों हमारी छाया छोटी होती जाती है—यहाँतक कि राजयोगकी चरम सीमापर पहुँचकर—आत्माके वास्तविक स्वरूपकी अनुभूति हो जानेपर, यह 'अध्यास' नितान्त निर्मूल हो जाता है।

यह समझ लेना कुछ कठिन नहीं है कि हमारी सत्ता हमारी सम्पत्ति, इष्टमित्र, स्त्री-बच्चे तथा माता-पितासे अलग एवं स्वतन्त्र है। कारण, इनमेंसे बहुतोंका सम्बन्ध हमसे स्थापित होनेके पूर्व भी हम रहते हैं तथा बहुतोंसे सम्बन्ध टूट जानेके पश्चात् भी। किन्तु हमारा अपने शरीरसे इतना घना सम्बन्ध है कि साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या, कतिपय दार्शनिक भी शरीरको ही आत्मा मानते हैं अर्थात् शरीरसे पृथक् किसी आत्माकी सत्ता स्वीकार नहीं करते। कम-से-कम भारतीय दर्शनोंमें चार्वाकदर्शन तो अपने इसी मतके लिये प्रसिद्ध है। इससे धीरे-धीरे एक-एक पद आगे बढ़कर कोई प्राणोंको, कोई मनको तथा कोई बुद्धिको भी आत्मा मानते हैं। वेदान्तका कहना है कि 'आत्मा' इन सभी वस्तुओंसे परे एक स्वतन्त्र ही सत्ता है तथा बुद्धि, मन, प्राण एवं दृश्यमान स्थूल शरीर एक-एक करके उसके 'परिच्छद' वा 'कोष' हैं। इस प्रकार उपर्युक्त दार्शनिकोंकी आत्माएँ वेदान्तके पञ्चकोष-सिद्धान्तमें अन्तर्भूत हो जाती हैं। तैत्तिरीयोपनिषद्की ब्रह्मानन्दवल्लीमें दूसरे अनुवाकसे लेकर पाँचवें अनुवाकतक इन पाँच कोषोंका विस्तृत विवेचन करते हुए आत्माको स्थूल शरीर (अन्नमय कोष), प्राण (प्राणमय कोष), मन (मनोमय कोष) तथा बुद्धि (विज्ञानमय कोष) से भी परे बतलाया है।

अब प्रश्न यह होता है कि वेदान्तको इन सभी वस्तुओंसे परे उस आत्माका पता कैसे चला? यों तो तर्कपरम्पराका अवलम्बन करके भी उपर्युक्त कोषोंसे परे आत्माका अस्तित्व सिद्ध कर दिया जा सकता है और शंकराचार्यके पश्चात्के वेदान्तग्रन्थोंमें विशेषतः तर्कपरम्पराका ही अवलम्बन किया भी गया है ('भामती' देखिये)। किन्तु तर्ककी कृपासे प्राप्त हुए ज्ञानको हम जानकारी मात्र कह सकते हैं; 'अनुभूति' नहीं। फिर अनुमानसे जिस किसी वस्तुकी सत्ताका बोध हमें होता है, उसमें किसी-न-किसी प्रकारके संशयकी गुंजाइश बनी ही रहती है। इतना ही नहीं। पर्वतमें धूम्र देखकर अग्निका अनुमान करनेवालोंको यदि कदाचित् वहाँ अग्निकी सत्तामें किसी प्रकारका भी सन्देह न रह जाय तो भी उस अग्निसे न हमें प्रकाश मिल पाता है न उष्णता। अग्निके प्रधान गुण प्रकाश एवं उष्णताकी प्राप्ति तो हमें केवल अनुमानका पल्ला छोड़कर उसके निकट जा अनुभूतिके द्वारा ही हो सकती है।

> नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
> नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
> नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥
> (कठोपनिषद् १। २। २३,२४)

जिसे आत्माके स्वरूपकी अनुभूतिकी इच्छा हो (और वस्तुतः कामकी चीज़ वही है भी) उसके तर्कको सहायक समझते हुए भी किसी दूसरे ही मार्गका अवलम्बन करना हितकर होगा। कारण, वेदान्तप्रतिपादक यह महत् सत्य वस्तुतः 'तर्कद्वारा नहीं आविष्कृत हुआ था, वरं आन्तरिक आध्यात्मिक साधनाद्वारा योगियोंने इसे प्राप्त किया था।'

श्वेताश्वतरोपनिषद्का कहना है कि ध्यानयोगका अनुसरण करनेवालोंने उस दिव्य शक्तिको—वेदान्तकी उस आत्माको—देखा, अनुभव किया।

> ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
> देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
> (श्वे० उ० १। ३)

गीता भी कहती है कि कुछ लोग ध्यानमें स्वयं अपनेको—आत्माको—देखते हैं, अनुभव करते हैं।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
(गीता १३। २४)

'राजयोग' से हमारा अभिप्राय बहुत कुछ इस 'ध्यान-योग' से ही है। राजयोगी अपने पथपर ज्यों-ज्यों अग्रसर होता जाता है उसकी आत्मभावना धीरे-धीरे शरीर, प्राण, मन एवं बुद्धिसे हटती जाती है—उसकी 'आत्मीयताकी परिधि संकुचित होती जाती है—यहाँतक कि वह अपनी चरम सीमापर पहुँचकर उस 'आत्मा' का—'केन्द्र' का—अनुभव कर लेता है जो केवल सत् है, चित् है एवं आनन्द है!

'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।'
(गीता १३। २)

—आदि श्लोकोंमें भगवद्गीता जिस क्षेत्रज्ञकी बात कहती है, 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' (श्वे० उ०) कहकर उपनिषद् जिस अद्वितीय 'देव' की ओर संकेत करते हैं, तथा—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥
(मुण्डक० २। २। ८)

—में जिस 'पर एवं अवर (ब्रह्म) की चर्चा की गयी है, उन सबको वहाँ पहुँचकर वह अनुभव कर लेता है; वहा पहुँचकर उसे ज्ञात हो जाता है कि वह 'क्षेत्रज्ञ', वह 'देव' तथा 'परावर' (ब्रह्म) आदि सब आत्मा ही हैं तथा आत्माके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। वहाँ उपर्युक्त अध्यासका नितान्त निर्मूलन—उपर्युक्त परिधिका सर्वथा लोप—होकर केवल केन्द्र-ही-केन्द्र—आत्मा-ही-आत्मा रह जाता है। बस, इसीको 'ज्ञान' कहते हैं, जिसे प्राप्तकर राजयोगी स्वयं 'ब्रह्म' ही हो जाता है। वहाँ अनादिकालसे होती आनेवाली यह 'जीवन-यात्रा' सदाके लिये समाप्त हो जाती है। बस, यही इस जीवनयात्राका अन्तिम लक्ष्य है।

ठीक उसी प्रस्थानबिन्दुसे प्रारम्भकर नितान्त विपरीत दिशामें अग्रसर होते हुए भी उसी लक्ष्यकी प्राप्ति करा देने-वाले दूसरे मार्गको हम 'कर्मयोग' कह आये हैं। श्रीमद्-भगवद्गीतामें 'कर्मयोग' की चर्चा स्थान-स्थानपर बारंबार बड़े आदरके साथ की गयी है। उसके अनुसार 'लोकसंग्रह' की दृष्टिसे या ईश्वरार्पणबुद्धिसे कर्मफलकी अभिलाषा न रखते हुए कर्मफलकी आसक्तिका त्याग कर अपने-अपने स्वभावानुसार यावज्जीवन कर्म करते रहना ही कर्मयोग है। इस प्रकारके कर्मसे कर्मयोगीकी चित्तशुद्धि हो जाती है।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥
(गीता ५। ११)

तथा वेदान्तशास्त्रका यह भी एक सिद्धान्त है कि चित्तकी पूर्णतया शुद्धि हो जानेपर 'ज्ञान' का स्वयं उदय हो जाता है। फिर गीताका यह भी कहना है कि कर्मफलकी अभिलाषा छोड़ देनेपर अनासक्त होकर कर्म करते रहनेपर भी 'कर्म-विपाक' की दृष्टिसे उन कर्मोंकी परिणामोत्पादकता नष्ट हो जाती है। जब अनासक्त हो कर्म करनेसे अच्छे या बुरे कर्मों-का कुछ शुभाशुभ अदृष्ट ही नहीं उत्पन्न होता और जन्म केवल अपने पूर्वसञ्चित शुभाशुभ कर्मोंके फलभोगके लिये ही लेना पड़ता है, तब स्वभावतः ही मनुष्य जन्म-मृत्युके चक्रसे छुटकारा पा जाता है। इतना ही नहीं, गीता उपर्युक्त बुद्धिसे अपने-अपने शक्ति एवं स्वभावानुसार कर्म करते रहनेको ईश्वरीय पूजा मानती है, एवं इस प्रकार निरन्तर ईश्वरीय पूजा करते हुए मनुष्य कुछ कालमें सिद्धि प्राप्त कर लेता है—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।
(गीता १८। ४६) इत्यादि।

कर्मयोगविषयक गीताके उपर्युक्त सिद्धान्तके दार्शनिक आधारको सर्वथा स्वीकार करते हुए भी हम इस प्रश्नपर कुछ ऐसी दृष्टिसे विचार करना चाहते हैं जिससे कर्मयोगकी अभ्यासप्रणाली वैज्ञानिक अथ च हमारे-जैसे साधारण मनुष्योंके लिये भी सुकर हो जाय। (इस दृष्टिसे यदि कोई चाहे तो इस प्रयासको गीताके 'कर्मयोग'का 'बाल-संस्करण' कह सकता है, किन्तु यह सर्वथा सत्य नहीं।) कारण, कर्मफल-से नितान्त निःस्पृह होकर सर्वदा कर्म करते रहना कुछ इतना सरल नहीं जितना साधारणतः मनुष्य समझता है। कर्मयोगके पथपर कुछ आगे बढ़े हुए व्यक्तियोंमें भी बहुधा यह निःस्पृहता या अनासक्ति बाह्यरूपसे—यहाँतक कि चेतन मस्तिष्कमें भी—प्रकट न रहनेपर भी अन्तरात्माके गुह्यतम स्तरमें—अचेतन मस्तिष्कके भेदमें—इस प्रकार छिपी पड़ी

रहती है कि उसका पता केवल आत्मपरीक्षणपटु मनुष्यको ही बड़ी कठिनाईसे लग पाता है।

अतएव साधारण मनुष्योंके लिये उसकी अभ्यासप्रणाली मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तोंके आधारपर देशकालानुसार अपेक्षाकृत सुकर बना लेना वाञ्छनीय ही होगा। कारण, किसी प्रकार उसका थोड़ा भी अभ्यास बन पड़ जाय तो गीताके अनुसार मनुष्य बहुत बड़े भयसे बच जाता है—

'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।'

(गीता २। ४०)

इतना ही नहीं, यदि एक जन्ममें उसका पूरा अभ्यास न हो सके तो भी मनुष्य दूसरे जन्ममें पुनः उसमें प्रवृत्त हो जाता तथा इस प्रकार निरन्तर अग्रसर होते हुए कुछ जन्मोंमें तो सिद्धि पा ही लेता है। (गीता ६। ४३, ४५)।

उपर्युक्त दृष्टिसे गीताके कर्मयोगमें किञ्चित् सुकरता लानेके लिये हम इस मार्गको 'विश्वात्मभावोपासना' भी कह सकते हैं। उक्त दोनों मार्गों (राजयोग एवं कर्मयोग) में प्रस्थानबिन्दु (आत्मीयताकी परिधि) के पश्चात् जिस विपरीतताकी ओर पहिले संकेत किया जा चुका है उसके विचारसे यह नाम—'विश्वात्मभावोपासना'—अधिक उपयुक्त भी प्रतीत होता है। फिर भी हमने इसे 'कर्मयोग' इसलिये कहा कि 'साधना' के इस प्रकारमें कर्मका ही (विशेषतः उसके साधारण अर्थमें) अवलम्बन करना पड़ता है। और विचारपूर्वक देखा जाय तो गीताके कर्मयोगमें इसका कोई आन्तरिक भेद भी नहीं दीखता।

इस मार्गके प्रस्थानबिन्दुको हम कई बार 'आत्मीयता-की परिधि' कह आये हैं और इस बातकी ओर भी संकेत कर चुके हैं कि इस परिधिमें उन सभी लोगों (तथा वस्तुओं) का समावेश हो जाता है जिन्हें हम अपना समझते हैं तथा जिनके लाभ-हानिमें हमें सुख या दुःख होता है। हृदयकी (विचारोंकी) संकीर्णता या महत्ताके अनुसार भिन्न-भिन्न मनुष्योंकी यह परिधि भिन्न-भिन्न प्रकारकी, संकुचित या विस्तृत होती है—ठीक उसी प्रकार जैसे भिन्न-भिन्न प्रकारके प्रकाशकेन्द्र—दीपक, विद्युत्, चन्द्र, सूर्य आदि—अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार संकुचित या विस्तृत क्षेत्रको प्रकाशित करते हैं। किसी व्यक्तिके लिये इस परिधिकी सीमा उसका शरीर मात्र होती है तो दूसरोंकी परिधिका विस्तार उनके कुटुम्बियों तथा इष्टमित्रोंतक; कुछका ग्राम तथा दीहाततक, किसी-किसीका जिला, प्रान्त वा अपने सम्पूर्ण देशतकमें रहता है। हाँ, संसारमें कभी-कभी ऐसे महापुरुष भी अवतीर्ण हो जाते हैं जिनकी आत्मीयताकी परिधिमें समस्त विश्व—अखिल ब्रह्माण्ड आ जाता है, अतएव जो अपने विषयमें 'अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम' (भगवान् रामचन्द्र) अथवा 'सुहृदं सर्वभूतानाम्' (गीता ५। २९) अतएव 'सर्वभूतहिते रतः' (भगवान् श्रीकृष्ण), 'अथवा मैं तबतक निर्वाण नहीं चाहता जबतक वह संसारके प्रत्येक कीट-पतंगतकको न मिल जाय' (भगवान् बुद्ध) आदि दृढ़तापूर्वक कह सकते हों।

मुझे यहाँ स्पष्ट कह लेने दीजिये कि यही इस मार्गकी चरम सीमा है। हमें अपनी आत्मभावनाकी परिधिका विस्तार क्रमशः बढ़ाते-बढ़ाते वहाँतक पहुँचना होगा जहाँ सारा विश्व—अखिल ब्रह्माण्ड—उसकी सीमाके भीतर आ जाय, उससे मिलकर एक हो जाय। 'विश्वात्मभावोपासना' की इस चरम सीमापर पहुँचकर द्वैतका भान नहीं रह सकता। वहाँ पहुँचकर मनुष्य ईश्वरसे मिलकर एक हो जाता है। वेदान्तके पारमार्थिक वा 'आत्यन्तिक सत्य' के स्तरसे किञ्चित् नीचे खड़े होकर—जहाँ मानवीय भाषामें किसी भावकी अभिव्यक्ति सम्भव हो—जहाँ छोटे और बड़ेकी, निकट तथा दूरकी, बात करना नाजायज़ न करार दिया जाता हो—उस स्तरसे मुझे यह स्वीकार कर लेने दीजिये कि इस मापदण्डके अनुसार ही जिसकी आत्मभावनाका विस्तार जितना अधिक व्यापक होता है मैं उसे उतना ही महान् तथा ईश्वरत्वसे उतना ही निकट समझता हूँ।

अब प्रश्न इतना ही है कि इस मार्गपर अग्रसर होनेकी विधि क्या है ? इस विषयमें साधारणतः हमारा मत यह है कि इस पथके पथिकको—इस प्रकारके साधकको—अपनी सुविधा एवं रुचिके अनुकूल एक सीमित क्षेत्रमें 'समाजसेवाका व्रत' लेना चाहिये। 'समाजसेवाके व्रत' का अर्थ समाजके उन सभी व्यक्तियोंको जिनका, हमारी साधनाकी किसी विशेष अवस्थामें, उक्त परिणामके अनुकूल हमारी आत्मीयताकी परिधिमें समावेश होता है, मनुष्यजीवनके दोनों लक्ष्यों—'अभ्युदय' एवं 'निःश्रेयस'—की प्राप्तिमें सहायता पहुँचानेका उत्कट प्रयत्न करते रहना। अभ्युदयका अर्थ है समाजकी शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, नैतिक तथा राजनैतिकादि सभी शक्तियोंका युगपत् विकास वा वृद्धि। इस सेवाक्षेत्र वा कर्म-क्षेत्रका केन्द्र अपनी सुविधा एवं रुचिके अनुसार होना चाहिये

तथा उसकी व्यापकता वा विस्तार अपनी शक्तिके अनुसार। इस प्रकार एक बार 'कर्मयोग' वा 'विश्वात्मभावोपासना' के पथपर चरण रखकर ज्यों-ज्यों हमारी शक्ति बढ़ती जाय—विचारोंकी संकीर्णता दूर होती जाय—त्यों-त्यों हमें उस कार्यक्षेत्र वा सेवाक्षेत्रकी सीमाओं—उसकी परिधिका विस्तार क्रमशः बढ़ाते-बढ़ाते अन्ततः वहाँतक पहुँचना होगा जहाँ वह 'परिधि' अपने सतत विस्तारके कारण अनन्तमें विलीन हो जाय—इस अखिल विश्वमें कोई ऐसा प्राणी न बचे जिसका उसमें समावेश न हो। अपनी साधनाकी उस चरम सीमापर पहुँचकर साधकको अपने 'व्यष्टिगत चैतन्य' में 'विश्व-चैतन्य' की अनुभूति हो जायगी—उसका 'व्यष्टिगत चैतन्य फैलकर विश्व-चैतन्यको प्राप्त हो जायगा;' गीताकी भाषामें वह 'सारे भूतोंको अपनेमें तथा अपनेको सारे भूतोंमें देखने' लगेगा—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

(गीता ६। २९)

हमारा अवच्छिन्न चैतन्य विशाल एवं 'अपरिच्छिन्न होकर' 'चैतन्यकी परमावस्था' को प्राप्त कर लेगा; न जाने क्यों, किसी समय, किसी प्रकार अपनेको भूल जानेवाला उस दिन अपने-आपको स्मरण करेगा—पहचान लेगा—फिर भी कदाचित् वह अर्जुनकी तरह 'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा' न कहे। कारण, कुछ लोग कहते हैं कि मोहके नाशके साथ ही उसकी (मोहकी) स्मृति भी नष्ट हो जायगी, अपने-आपका स्मरण होते ही 'भूल जानेकी स्मृति' स्वयं विदा ले लेगी। उस दिन अनादि कालसे 'मायाचक्र' में भटकता रहनेवाला यात्री निरपेक्ष, अगाध, अनन्त शान्ति एवं आनन्दमें सतत विश्रामके लिये प्रवेश कर जायगा—जीवनका परमलक्ष्य प्राप्त कर लेगा। हाँ, यह सब अचानक किसी एक ही क्षणमें नहीं होता। उस लक्ष्यप्राप्तिका सूत्रपात तो उसी क्षण हो जाता है जब हम संशयरहित चित्त एवं लक्ष्यप्राप्तिके दृढ़ निश्चयके साथ साधनाके पथपर अपना प्रथम चरण रखते हैं—कदाचित् उससे भी पहिले;—जिस समय इस प्रकारकी विचारधारामें हमारी आन्तरिक अभिरुचि उत्पन्न हो जाती है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

विराट्-पूजन

(रचयिता—'कश्चित्')

विश्वपतिके पूजनको आज, सजा है कैसा अनुपम साज॥

जलधारायें चढ़ा-चढ़ाकर मेघ कराते स्नान।
बाल इन्दु शोभित मस्तकपर चन्दनबिन्दु समान।
अनोखी छटा रही है छाज॥
सजा है कैसा अनुपम साज॥

सजी प्रकृतिने पत्र-पुष्पसे पूजनकी थाली।
पवन डुलावे चँवर आरती करे अंशुमाली।
सृष्टि-मन्दिरमें रहे विराज॥
सजा है कैसा अनुपम साज॥

तारागण कर रहे प्रदक्षिण, पक्षी कल कल-गान।
मुग्ध चराचर हुए देख पूजनका दृश्य महान।
अलौकिक, अद्भुत सकल समाज॥
सजा है कैसा अनुपम साज॥

मानसके एक प्रसिद्ध मर्मज्ञ

[श्रीबंदन पाठक]

(लेखक—श्रीकृष्णदेवजी उपाध्याय, एम० ए०)

गोस्वामी तुलसीदासजीका 'रामचरितमानस' एक सिद्ध ग्रन्थ है। उसके रहस्योंको समझना—उसके भीतरी अर्थको जानना केवल कोषोंके सहारेसे नहीं हो सकता। उसका ठीक-ठीक ज्ञान उन रामायण-मर्मज्ञोंके सहवाससे हो सकता है जिन्होंने मानसके साम्प्रदायिक अर्थको जानना अपने जीवनका चरम लक्ष्य बना रक्खा है। रामायणके अर्थका प्रचार प्राचीन कालके महात्माओंके द्वारा ही होता आया है। रामायणके अर्थको जाननेके लिये केवल शब्दार्थ-ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है, उसके लिये कुछ आध्यात्मिक विकासकी भी अपेक्षा है। यही कारण है कि आजकल आध्यात्मिक उन्नतिसे रहित टीकाकारोंकी शब्दार्थपरक टीका अन्तस्तलतक पहुँचती ही नहीं—प्रायः भावहीन हुआ करती है; केवल ऊपरी सतह-तक ही उनकी गति हुआ करती है। सच तो यह है कि विना भक्ति-भावके रामायणके भाव खुलते नहीं। इसी कारणसे आजतक रामायणके ऊपर अनेक टीकाएँ बनीं तथा बनती जा रही हैं, परन्तु रामायणके मर्मको समझानेमें कौन-सी कहाँतक सहायक है यह नहीं कहा जा सकता। आज हम रामायणके एक मर्मज्ञ विद्वान्‌का पुनीत चरित्र पाठकोंके सामने संक्षेपमें उपस्थित करना चाहते हैं, जिससे वे जानें कि रामायणके मर्मको समझनेके लिये कितनी आध्यात्मिक उन्नति तथा प्रयत्नकी आवश्यकता होती है।

इन मर्मज्ञ स्वनामधन्य विद्वान्‌का नाम श्रीबंदन पाठक था। आपका जन्म काशीपुरीमें हुआ था तथा आप मणिकर्णिकाघाटके निवासी पंडे थे। घरके धनाढ्य ब्राह्मण थे तथा पंडा होनेपर भी धनलोलुप नहीं थे। आपका स्वभाव साधु, चरित्र शुद्ध तथा हृदय अत्यन्त ही उदार था। रामायणके प्रति आपका प्रेम प्रशंसनीय था। बचपनहीसे आपकी यह उत्कट अभिलाषा थी कि मुझे मानसके अर्थ—रहस्यमय अर्थ—की स्फूर्ति हो। आपने यह निश्चय कर लिया कि मैं मानसके मर्मको अवश्य समझूँगा। फिर क्या था। "स्थिरनिश्चयं मनः" को भला कौन रोक सकता था। आपने इस कार्यके लिये कठिन तपस्या करनी आरम्भ कर दी। माघमासके ठिठुरते जाड़ेमें आप मणिकर्णिका-के पास गङ्गाजीमें उतरते और गर्दनभर पानीमें खड़े होकर रात-रातभर हनुमान्‌जीका मन्त्र जपने लगे। इधर माघ महीनेकी ठंडी रातें, उधर गङ्गाजीका अङ्ग गलानेवाला बरफीला जल। ऐसे समयमें पानीमें खड़े होकर जप करना कोई हँसी-खेल नहीं था। यह जीवन-मरणका प्रश्न था। फिर भी आप अपने कठोर व्रतसे विचलित नहीं हुए। अन्तमें हनुमान्‌जी प्रसन्न हुए और एकाएक आपको रामायणके अर्थकी स्फूर्ति हुई। इस प्रकार आपको अपने जीवनोद्देश्यकी सिद्धि हुई।

परम निःस्पृह होनेके कारण आपने इस स्फूर्तिका उपयोग कभी धनोपार्जनके लिये नहीं किया। रामकथा-के परम प्रेमी शिवजीको रामायण सुनाना ही आपने इस स्फूर्तिका उद्देश्य समझा और इसीलिये आपने अपना शेष जीवन इसी पवित्र कार्यमें लगाया। आप

नित्यप्रति ज्ञानवापी (विश्वनाथजीके मन्दिरके पास) में आते और ८ बजेसे १० बजेतक दो-तीन घंटे रामायणकी कथा कहते और शिवजीको सुनाते थे। श्रोताओंकी खासी भीड़ होती थी तथा श्रोता लोग आपकी मधुर कथासे आनन्दमग्न हो जाते थे। आपकी कथाकी विशेषता यह थी कि आप रामायणका प्रत्येक दोहा तथा चौपाई कहाँसे लिया गया है—किस रामायणके आधारपर रचा गया है—इसको स्पष्ट बतला देते थे। रामायण आपको इतना याद था कि अमुक चौपाईका भाव रामायणकी किस चौपाईसे मिलता है इसे आप सहजहीमें बतला देते थे। यदि कोई आपके पास रामायणका अर्थ समझने आता तो आप उससे कहा करते थे कि पहले रामायणका ४९ बार पाठ कर आओ तब मैं अर्थ बतलाऊँगा, जिससे तुम रामायणका संकेत (Reference) समझ सको।

काशीनरेश स्वर्गीय श्रीईश्वरीप्रसादसिंहजी भी रामायणके बड़े भक्त थे तथा आपका बड़ा आदर किया करते थे। एक बार कुछ मनमोटाव हो जानेके कारण पाठकजीने दरबारमें जाना छोड़ दिया। इससे राजा साहबको बड़ा दुःख हुआ। एक बार उनको रामायण-के अनेक स्थलोंपर सन्देह हुआ। परन्तु अपना सन्देह निवारण करते तो कैसे करते। पाठकजीने दरबारमें जाना छोड़ ही दिया था। अन्तमें राजा साहबने एक आदमीको भेजा। पाठकजीका यह नियम था कि रामायणकी कथा समाप्त हो जानेपर आप लोगोंको प्रश्न करनेके लिये निमन्त्रित करते थे और उन प्रश्नोंका बड़े प्रेमसे उत्तर देते थे। एक दिन जब कथा समाप्त हो गयी तब राजा साहबके आदमीने उन सन्देहोंको निवारण करनेके लिये कहा जिसके लिये राजा साहबने उसे भेजा था। सन्देहको सुनते ही पाठकजीने समझ लिया कि यह सन्देह अवश्य ही राजा साहबके हृदयका सन्देह है। उन्होंने चटपट उसका निराकरण इस प्रकार किया जिसे सुनकर राजा साहब अत्यन्त प्रसन्न हुए। इस घटनासे दो बातोंका पता चलता है—एक तो अर्थ-लोलुपताका अभाव और दूसरा रामायणके अर्थकी विशद व्युत्पत्ति।

इस प्रकारसे पाठकजीने अपनी मधुर रामायणी कथाके द्वारा समकालीन जनताका मनोरञ्जन ही नहीं किया बल्कि रामायणके प्रसारमें आपने बड़ा योगदान किया। आपने रामायणके ऊपर टीका-टिप्पणी भी लिखी थी जो कि दुर्भाग्यवश अभीतक सम्पूर्ण प्रकाशित नहीं हो सकी। श्रीशीतलासहायजीने अयोध्यासे जो विस्तृत रामायणकी टीका निकाली है उसमें उन्होंने स्थान-स्थानपर पाठकजीकी टीकाका उद्धरण दिया है।

वंदन पाठकजीके इस वन्दनीय चरित्रसे पाठकोंको यह समझ लेना चाहिये कि रामायणके मर्मको समझने-के लिये बाह्य शिक्षाकी अपेक्षा आन्तरिक शिक्षा-दीक्षाकी कितनी आवश्यकता है।

सतीत्वका तेज

सतियोंकी अग्निपरीक्षाकी बातें पुराने ग्रन्थोंमें बहुत पढ़नेको मिलती हैं, परन्तु आजका समाज उनपर विश्वास नहीं करता। आजकल लोगोंकी यही धारणा है कि ये सब कपोलकल्पित बातें हैं, ऐसा होना सम्भव नहीं। पर हालमें गत तारीख ६—दिसम्बर १९३८ को मुँगेर जिलेमें जो घटना हुई है उसे सुनकर तो चकित होना पड़ता है।

मुँगेर जिलेके प्रसिद्ध उलाव ग्राममें गोरखपुर जिलेके कुछ पथरकट्टे लोग कई महीनोंसे डेरा डाले आसपासके गाँवोंमें चक्की आदि काटनेका काम कर अपना जीवन बिताते थे। जयपाल पथरकट्टेकी लड़की नथुनी पथरकट्टेकी पत्नी सुन्दरी नामक एक ३०-३२ वर्षकी युवती उनमें थी। उसके दो छोटे-छोटे लड़के भी हैं। हालमें बाबूलाल नामक एक व्यक्तिने उसके पतिसे कहा कि तुम्हारी स्त्री बदचलन हो गयी है, इसे जो गर्भ है वह भी तुम्हारा नहीं है। युवतीने दोषारोपण करनेवालेसे नम्रतापूर्वक कहा, 'तुम झूठे हो, भगवान् साक्षी हैं, मैंने कभी पर-पुरुषका संग नहीं किया।' उसने कहा, 'अच्छा! तुम सच्ची हो तो अपनी जातिमें जो अग्निपरीक्षा होती आयी है वह तुम भी दो।' युवतीने हँसते हुए कहा, 'हाँ, हाँ, जब चाहो ले लो।' इसके फलस्वरूप मंगलवार तारीख ६—१२—३८ को निम्नलिखित प्रकारसे उस युवतीकी अग्निपरीक्षा हुई।

ग्रामसे दक्षिण एक वट-पीपलका वृक्ष है, इस वृक्षके नीचे बहुत-से गोइठोंका ढेर लगाकर उसमें आग लगा दी गयी और उसमें लगभग दो सेरका लोहेका एक हथौड़ा रख दिया गया। हथौड़ा जब लाल हो गया, तब उस युवतीको स्नान कराकर उसके जुड़े हुए दोनों हाथोंकी हथेलियोंपर घी लगा दिया गया और उनपर घी लगे हुए पीपलके ढाई पत्ते रखकर कच्चे सूतसे हथेली बाँध दी गयी। धूनीसे लेकर सात डेग-तक सात गोइठे रख दिये गये। युवतीको धूनीके पास खड़ा कर दिया गया। जातके मुखियाने सँडासेके द्वारा जलता हुआ लाल हथौड़ा निकालकर युवतीके पास खड़े होकर उससे कहा—'यदि तुम निर्दोष हो तो इस जलते हुए लोहेको हथेलीपर ले लो और सात डेग चली जाओ।' इसपर युवतीने सूर्यभगवान्‌की ओर मुंह करके यह प्रार्थना की कि 'हे भगवान्! यदि मैं निर्दोष हूँ तो आप मेरा धर्म रखना।' इतना कहकर उसने बड़े हर्षसे जलते हुए लोहेको हथेलीपर रख लिया और सात डेग आगे जाकर उसे जमीनपर फेंक दिया। जिस जगह वह लोहा गिरा उस जगह-की घास जलकर जमीनकी मिट्टी भी दो इञ्च गहराईतक जल गयी। परन्तु बड़े आश्चर्यकी बात यह हुई कि भगवत्कृपासे न तो हथेलीपरका सूत जला, न पीपलके पत्ते जले और न युवतीकी हथेलीपर जरा दागतक आया।

इस अग्निपरीक्षाको देखनेके लिये लगभग दो सौ स्त्री-पुरुषोंकी भीड़ लगी थी, जिसमें कुछ पथरकट्टे लोग थे और बाकी गाँवके लोग थे। सबने सतीका जय-जयकार किया। तदनन्तर इस पतिव्रता देवीको श्रीमती सावित्री देवीजीकी डेवढ़ीपर बुलाकर मिठाई, कपड़े तथा फूल-मालादिसे उसका सत्कार किया गया।

शिवकरण उपाध्याय।

[उपर्युक्त घटना की जाँच करवायी गयी, जिससे पता लगा कि घटना सच है। असलमें यह बड़ी ही आश्चर्यप्रद है, इस बीसवीं शताब्दीमें भला इस आगसे भी नहीं जलनेकी बातपर कौन विश्वास करेगा। सतीत्वको बहम बतलानेवाले लोगोंको इससे जरूर शिक्षा लेनी चाहिये और हिन्दू-धर्मके गौरवस्वरूप इस सतीत्वका कभी तिरस्कार नहीं करना चाहिये। हिन्दूजातिकी बेपढ़ी-लिखी गँवार स्त्रियोंमें भी इस प्रकारकी सती मौजूद है यह हिन्दूजातिका गौरव है। —सम्पादक]

मृत्युभय

(लेखक—साधु श्रीप्रज्ञानाथजी)

जीवमात्रमें ही मृत्युभय पाया जाता है। दूसरोंकी तो बात ही क्या है, स्वयं ब्रह्माजी भी अकेले डर गये थे। फिर भयका कारण ढूँढ़नेपर विचार करनेसे जब उन्होंने यह देखा कि मेरे अपने सिवा और कोई नहीं है, तब उनका भय दूर हो गया। द्वैतसे ही भय होता है, अद्वैतमें भयका लेश भी नहीं रहता। अतएव द्वैतबोध ही भयका एक मात्र कारण है। जीवात्मा और परमात्मामें जरा भी भेदकी कल्पना करनेसे ही भय होता है। इसीलिये श्रुति बारंबार भेदका निषेध करके अद्वैतनिष्ठ होनेके लिये उपदेश करती है।

किसी-किसी पाश्चात्य दार्शनिकके मतसे मनुष्य-देहमें जन्मसे सात दिनके बाद भयका सञ्चार होता है। हालके जन्मे हुए बच्चेको ऊपर उठाकर घुमानेसे वह भयभीत नहीं होता परन्तु वही सात दिनके बाद ऐसा करनेसे डर जाता है। इससे पता लगता है कि काम-क्रोधादिकी तरह भयका प्रकाश भी कालानुसार हुआ करता है। परन्तु वास्तवमें मृत्युभय जीवमात्रमें जन्मसे ही देखा जाता है, पूर्वसंस्कारवश ऐसा होना अनिवार्य है। हंसका बच्चा और मुर्गीका बच्चा दोनों यदि एक ही समय अण्डेसे बाहर निकलते हैं, इनमें हंसका बच्चा जल देखकर पूर्वसंस्कारवश जलकी ओर दौड़ता है और मुर्गीका बच्चा डर जाता है। यही बात मृत्युभयमें है। यह कोई नियम नहीं है कि सत्य वस्तुसे ही भय हो, मिथ्या वस्तुसे न हो। भयके अनेकों कारण होते हैं। व्यासजी महाराज कहते हैं—

भयस्थानसहस्राणि शोकस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्॥

(महाभारत)

जीवनमें प्रतिदिन जितनी भयकी आशङ्का रहती है, शोककी उससे कहीं कम रहती है। शोकके विशेष-विशेष कारण होते हैं परन्तु भयके लिये यह बात नहीं है। ऐसा दिन नहीं जाता जिस दिन मूढ़ जीवको कुछ-न-कुछ भय नहीं हुआ करता। भयके कारणोंकी खोज करनेसे पता लगता है कि प्रायः संस्कार ही भयका प्रधान कारण है। अपरिचित पथिक जिस वृक्षके नीचे रातको सुखकी नींद सोता है, वहींके रहनेवाले एक बलवान् युवकका हृदय रातके समय उस वृक्षके समीप आते ही काँपने लगता है; इसमें कारण यह है कि लड़कपनमें उसको घरकी किसी बड़ी-बूढ़ीने या अन्य किसी मनुष्यने यह कह दिया था कि इस वृक्षमें भूत रहता है। वृक्षमें भूत है या नहीं, इसपर विचार करनेकी शक्ति तो बालकमें होती नहीं, अतएव उसने मान लिया था कि इसमें भूत है और उस बालकपनके संस्कारके कारण ही वह जवानीमें उस वृक्षके समीप पहुँचनेपर डर जाता है। घरमें बड़े-बूढ़ोंको चाहिये कि वे बालकोंमें भयके संस्कार पैदा करके उन्हें डरपोक न बनावें। बालकोंका मन कहानियोंमें बहुत लगता है, वे रोज नयी-नयी कहानी सुनानेके लिये दादीको घेर लेते हैं और दादीको बच्चोंकी राजीके लिये कहानियाँ सुनानी पड़ती हैं। इन कहानियोंके संस्कार उनमें भर जाते हैं और वही आगे चलकर उनके जीवनपर प्रभाव डालते हैं। देखा जाता है यदि कहानियोंमें कहीं भूत-प्रेत या राक्षस-पिशाचोंकी डरावनी बातें आ जाती हैं तो बालक भयके मारे रातके समय घरसे बाहर निकलनेका साहस नहीं करते। जवान उम्रमें इन सब बातोंको निःसार समझ लेनेपर भी संस्कारवश जब कहीं भूतवाले वृक्ष या स्थानका नाम वे सुन

लेते हैं या उसे देख पाते हैं तो डरके मारे काँप उठते हैं और वहाँसे भाग छूटते हैं। डरा हुआ मनुष्य स्वयं विचार करके भयके कारणको दूर नहीं कर पाता। उस समय दूसरे ऐसे पुरुषकी आवश्यकता होती है जिसकी बातपर वह विश्वास करता हो और पूर्णरूपसे निर्भर कर सकता हो। अन्धकारमें रस्सीको देखकर बालक डर जाता है, उसके सामने उस समय रस्सीका स्वरूप नहीं रहा, उसे प्रत्यक्ष साँप दीख रहा है। ऐसी अवस्थामें यदि कोई आप्त पुरुष उसको समझा दे कि यह साँप नहीं है, रस्सी है, तो वह भयसे छूट सकता है। भयकी निवृत्तिके लिये आप्त-वाक्यका सुनना और उसपर विश्वास होना आवश्यक है। जबतक आप्तवाक्य नहीं सुना जाता तबतक संशय दूर नहीं हो सकता। वे वाक्य ऐसे पुरुषके होने चाहिये जो सुननेवालेके सामने कभी झूठ न बोले हों, साथ ही वे स्वयं संशय-विपर्ययसे रहित हों। जो स्वयं ही संदिग्ध है, वह दूसरेको उपदेश देकर उसका भय दूर नहीं कर सकता। संशयज्ञानका हेतु है अविद्या; निश्चय ज्ञानके द्वारा उसका बाध होता है। अभिप्राय यह कि, अविद्या ही भयका कारण है, और विद्या ही उसकी निवृत्तिका उपाय है। इसीलिये व्यासदेवने कहा है—'भयं तत्त्वावमर्शनात्' अर्थात् तत्त्वके विचारद्वारा भय दूर करना पड़ता है।

कुछ ऐसे भयजनक पदार्थ हैं जिनके देखनेपर स्वभावतः ही भय होता है—जैसे राक्षसका भयानक रूप, उसका विकराल बदन, उग्र विकट मूर्ति इत्यादि। इस प्रकारके रूपको देखकर तत्त्वज्ञ पुरुषके अतिरिक्त सभीको भय होता है। वहाँ भी शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिको अपना स्वरूप मानकर उनके नाशमें अपना नाश समझनेके कारण ही भय होता है। आत्माका अमरत्व निश्चय हो जानेपर तो सिंह-बाघसे भी विचारवान् पुरुष नहीं डरते। कभी-कभी शरीर-रक्षाके हेतुसे भी भय होता देखा जाता है। एक दिन एक साधु मेरे पास आये और उन्होंने अपनी पीठ दिखाकर मुझसे कहा कि 'आसाममें कामाख्या देवीके मन्दिरके पीछेसे एक बाघ मुझको उठाकर एक मीलतक ले गया था, उससे मैं भयके मारे ऐसा अध-मरा-सा हो गया कि मेरे मुँहसे किसी प्रकारकी चिल्लाहटका एक शब्द भी नहीं निकल पाया। जैसे बिल्ली अपने छोटे बच्चेको मुँहमें लेकर जाती है, वैसे ही बाघ मुझको एक मीलतक ले गया और फिर वहाँ मुझे बैठाकर कुछ ही दूरसे वह मेरे हावभावकी प्रतीक्षा करने लगा। मैं उस समय बिल्कुल चुप था। आत्मरक्षाका कोई उपाय न देखकर मैं मन-ही-मन श्रीभगवान्का स्मरण करने लगा। लगभग आधा घंटा इस प्रकार बीता। इसके बाद बाघ मुझको वहीं छोड़कर चला गया। मौका पाकर मैं भी जोरसे दौड़कर नीचे आ गया, फिर गौहाटी अस्पतालमें भरती होकर मैंने एक महीने इलाज कराया।' साधुने फिर कहा कि 'अस्पतालमें मुझको स्वप्नमें रोज बाघ दीखता, कभी-कभी तो जाग्रतमें भी दीखता।'

साधुजीको वास्तविक आत्मज्ञान नहीं था, यदि वे आत्मज्ञानके प्रभावसे भयको दूर कर सकते तो उन्हें स्वप्नमें बाघ न दिखायी देता और अबतक उनका शरीर भी ऐसा रक्तशून्य न रहता। मैंने उनको देखा था तब उनका शरीर पीला पड़ रहा था और बहुत ही दुर्बल था। अवश्य ही उनकी प्राणरक्षामें भय ही साधन हुआ था।

एक घटना और सुनी थी। गरमीके दिनोंमें एक साधु किसी कुएँके पास उसकी सीढ़ियोंपर सो रहे थे। स्वप्नमें देखा—एक बाघ उनपर आक्रमण करने आ रहा है। इस असत् स्वप्नको देखकर वे डर गये, नींदमें ही

दौड़कर कुएँमें गिर पड़े और वहाँ जागकर उसीमें डूबने-उतराने लगे । यहाँ भयके असत् कारणसे सत् कुएँमें गिरना हुआ । अतएव भयका कारण सत् हो या असत्—उससे भय हो सकता है और अनर्थसे अर्थ तथा अर्थसे अनर्थ भी घट सकता है ।

यों तो शास्त्रके सभी वाक्य यथार्थ हैं और अधिकारके अनुसार भिन्न-भिन्न परिस्थितियोंमें लागू होते हैं परन्तु समझनेके लिये उनके तीन भाग किये जाते हैं—रोचक, भयानक और यथार्थ । इनमें रोचक वाक्य बालकको लड्डू दिखलाकर उसे दवा खिलानेकी भाँति परोक्षभावमें उपकारी होते हैं । माताकी अपेक्षा भी अधिक हित चाहनेवाली श्रुतिने अपनी सन्तानके भावी कल्याणकी ओर दृष्टि रखकर उन्हें ठीक मार्गपर रखनेके लिये रोचक वाक्योंकी यथायोग्य व्यवस्था की है जिससे शास्त्रग्रन्थोंमें और तदनुयायी कर्मोंमें प्रवृत्त होकर वे अपने अन्तःकरणको शुद्ध कर सकें । इसी प्रकार डरपोक और यथेच्छाचारी मनुष्योंको यम-यातनाका महान भय दिखलाकर उन्हें पापकर्मसे निवृत्त करनेकी चेष्टा की गयी है । जिनके पाप ही नहीं हैं वे यमके डरसे क्यों डरने लगे ? पुलिसका डर चोरको ही लगना चाहिये । परन्तु ठीक अर्थ न समझनेके कारण कभी-कभी लोग भयानक वाक्योंसे डरने लगते हैं । एक घटना सुनिये—जब मैं भावनगरमें था तब एक वृद्ध सत्संगी सज्जनने मुझसे कहा था कि 'महाराज ! भयानक वाक्योंको शास्त्रसे निकाल देना चाहिये । इनके द्वारा लोगोंका उपकार न होकर अपकार ही होता है । मेरी पुत्रवधू गर्भवती थी । गर्भावस्थामें उसको गर्भोपनिषद्की भाषाव्याख्या सुनायी गयी । यद्यपि गर्भोपनिषद्में कोई भयानक वाक्य नहीं है परन्तु व्याख्याकारने अनेकों शास्त्रग्रन्थोंसे भयानक वाक्य लेकर उन्हें भाषाग्रन्थमें भर दिया था । उनको सुननेसे मेरी पुत्रवधूको उन्माद रोग हो गया । गर्भपात न होनेपर भी गर्भावस्थामें जो उन्माद रोग हुआ था वह प्रसवके बाद भी अच्छा नहीं हुआ । इसलिये मेरी समझसे ऐसे ग्रन्थोंका पठन-पाठन उचित नहीं है ।'

मैंने कहा, भाई ! पिताने कुआँ खुदाया था जल पीनेके लिये परन्तु पुत्र यदि अपनी बुद्धिके दोषसे उसमें डूब मरे तो इसमें पिताका क्या दोष है ? कोई राजदण्डके भयसे, कोई समाजके भयसे अथवा कोई यमदण्डके भयसे पापोंसे निवृत्त होता है । शास्त्रका उद्देश्य न समझकर विचार करनेसे अथवा अनधिकार पठन-पाठन करनेसे शास्त्र यथोक्त फल नहीं देते । इसीलिये शास्त्रोंमें अधिकारीभेदका विधान है । अधिकारीके अनुसार ही शास्त्र सुनाना चाहिये । शास्त्र कहते हैं—

भयेन भेदयेद्भीरुं शूरमञ्जलिकर्मणा ।
नीचं स्वल्पप्रदानेन समं नीचं स्वमोजसा ॥

जो लोग प्रबुद्ध हैं, उनके लिये यथार्थ वाक्य ही यथेष्ट है, वे स्वभावसे ही पापकर्मोंसे निवृत्त हैं अतएव भय दिखलाकर उन्हें पुण्यकर्ममें लगाना नहीं पड़ता । वे जानते हैं–पाप-पुण्य दोनों ही बाँधनेवाले हैं ।

धर्मरज्ज्वा व्रजेदूर्ध्वं पापरज्ज्वा व्रजेदधः ।
उभौ ज्ञानासिना छित्वा कैवल्यं पदमश्नुते ॥

मुक्तिके मार्गमें पाप और पुण्य दोनों ही बन्धन हैं । अतएव मुक्तिके लिये दोनोंका ही त्याग करना पड़ेगा । स्वर्गादिकी प्राप्तिके लिये पुण्यकर्मका करना आवश्यक है । संसारप्राप्तिकी अपेक्षा स्वर्गकी प्राप्ति बहुतोंको अच्छी लगा करती है, क्योंकि वहाँ भोगोंका अभाव नहीं है । संसारमें अभावरूप दुःख है, दुःखकी कोई इच्छा नहीं करता । सुख सभी चाहते हैं परन्तु सुखके साधनके लिये कोई प्रयत्न करना नहीं चाहता । दुःख कोई नहीं चाहता परन्तु दुःखके साधनमें सब सदा लगे रहते हैं । इसीलिये विपरीत फल मिलता है । किसी-किसी

पाश्चात्य विद्वान्‌के मतानुसार भयसे धर्मका प्रारम्भ होता है * । ईश्वरको न जाननेके कारण ही मनुष्य पाप करता है और दूसरोंके सामने उसे छिपाता है । यदि मनुष्यको यह विश्वास हो कि एक सर्वज्ञ सर्वदर्शी ईश्वर हैं जो हमारे सब कर्मोंको देखते हैं तो वह कभी पाप नहीं कर सकता । परन्तु कौआ जैसे आँख मूँदकर खानेकी चीज कहीं छिपाकर रखता है और समझता है कि जैसे मैंने इसको नहीं देखा वैसे ही दूसरा भी कोई नहीं देखेगा और पीछे खोजनेमें हैरान होता है । यही दशा ईश्वरको न माननेवालोंकी होती है ।

मृत्यु चोटी पकड़े है, ऐसा समझकर धर्मसञ्चय करनेका विधान है । जो लोग धर्म करनेके लिये वृद्धावस्थाको रिजर्व रखते हैं और युवावस्थामें पाप किया करते हैं उन्हें वृद्धावस्था सोचमें ही बितानी पड़ती है । अतएव धर्मके लिये किसी समयविशेषकी बाट देखना उचित नहीं है । जभी सुयोग-सुविधा हो तभी धर्मका साधन करना चाहिये । मृत्युभयके प्रसंगपर ही श्रीमद्भागवत कही गयी थी । राजा परीक्षित् ब्राह्मणके शापसे सातवें दिन अपनी मृत्यु निश्चित जानकर मरनेके लिये तैयार होकर गंगातीरपर गये और महात्माओंसे उन्होंने पूछा कि 'इस समय मेरे लिये श्रेष्ठ कर्तव्य क्या है ?' तब श्रीशुकदेवजीने उनको श्रीमद्भागवत सुनायी । भगवान्‌की महिमाके श्रवणसे उसमें तन्मय होकर जो शरीर त्याग करता है उसको मृत्युयन्त्रणा नहीं भोगनी पड़ती । इसीलिये शुकदेवजी राजा परीक्षित्‌को भगवान्‌के दिव्य जन्म-कर्म और लीलाएँ सुनाकर उन्हें आत्मज्ञान प्रदान करते हुए कहते हैं ।

अत्रानुवर्ण्यतेऽभीक्ष्णं विश्वात्मा भगवान्हरिः ।
यस्य प्रसादजो ब्रह्मा रुद्रः क्रोधसमुद्भवः ॥

त्वं तु राजन्मरिष्येति पशुबुद्धिमिमां जहि ।
न जातः प्रागभूतोऽद्य देहवत्त्वं न नङ्क्ष्यसि ॥
न भविष्यसि भूत्वा त्वं पुत्रपौत्रादिरूपवान् ।
बीजाङ्कुरवद्देहादेर्व्यतिरिक्तो यथानलः ॥
स्वप्ने यथा शिरश्छेदं पञ्चत्वाद्यात्मनः स्वयम् ।
यस्मात्पश्यति देहस्य तत आत्मा ह्यजोऽमरः ॥
घटे भिन्ने यथाकाश आकाशः स्याद्यथा पुरा ।
एवं देहे मृते जीवो ब्रह्म सम्पद्यते पुनः ॥
मनः सृजति वै देहान् गुणान्कर्माणि चात्मनः ।
तन्मनः सृजते माया ततो जीवस्य संसृतिः ॥
स्नेहाधिष्ठानवर्त्यग्निसंयोगो यावदीयते ।
ततो दीपस्य दीपत्वमेवं देहकृतो भवः ॥
अहं ब्रह्म परं धाम ब्रह्माहं परमं पदम् ।
एवं समीक्षन्नात्मानमात्मन्याधाय निष्कले ॥
दशन्तं तक्षकं पादे लेलिहानं विषाननैः ।
न द्रक्ष्यसि शरीरं च विश्वं च पृथगात्मनः ॥

(श्रीमद्भागवत १२ । ५ । १ से ७-११-१२)

श्रीशुकदेवजीने कहा कि 'हे परीक्षित ! इस श्रीमद्भागवतमें उन विश्वात्मा श्रीहरिका बार-बार वर्णन किया गया है जिनके प्रसादसे जगत्‌का सृजन करनेवाले ब्रह्माजी और जिनके क्रोधसे सबका संहार करनेवाले रुद्र प्रकट हुए हैं । भगवान् श्रीहरिकी महिमा सुनकर अब हे राजन् ! मैं मरूँगा, इस विवेकमय पशुबुद्धिको छोड़ दो । जैसे देह पहले नहीं था, अब हुआ है, इसलिये नष्ट हो जायगा, वैसे तुम (आत्मा) नहीं हो अर्थात् तुम पहले भी थे, अब भी हो और आगे भी रहोगे । तुम पुत्र, पौत्र आदिके रूपमें होकर बीजसे अङ्कुर और अङ्कुरसे बीजकी भाँति फिर उत्पन्न होगे, ऐसी बात नहीं है । तुम अग्निके समान देह आदिसे पृथक् हो । जैसे स्वप्नमें अपना सिर कटा हुआ दीखता है, अपनी ही मृत्यु आदि दीखती है, वैसे ही जाग्रत्‌में भी दीखता है, इसलिये

* Fear of God is beginning of Virtue.

आत्मा अजन्मा और अमर है। अथवा दोनों ही अवस्थाओंके शिरश्छेद और मृत्यु आदिका द्रष्टा होनेके कारण आत्मा अज और अमर है। जैसे घटके नष्ट होनेपर घटाकाश पूर्ववत् महाकाशरूपमें ही रहता है, वैसे ही स्थूल और सूक्ष्म शरीरके नष्ट होनेपर जीव ब्रह्मरूपसे स्थित हो जाता है। मन ही आत्माके लिये शरीर, गुण और कर्मोंकी सृष्टि करता है, उस मनकी सृष्टि माया करती है, उसीसे जीवका आवागमन होता है। जबतक तेल, दीया, बत्ती और आगका संयोग रहता है, तभीतक दीपकका दीपकत्व है। वैसे ही कर्मरूपी तेल, मनरूपी पात्र, देहरूपी बत्ती और चैतन्यका अध्यासरूपी अग्निसंयोग जबतक रहता है तबतक यह देहकृत आवागमन रहता है।

मैं ही परम ज्योतिःस्वरूप ब्रह्म हूँ, परम ज्योतिःस्वरूप ब्रह्म ही मैं हूँ। अखण्ड एकरस आत्मामें अपने आपको स्थित करके, ऐसा ही अनुसन्धान—अनुभव करते रहो। जीभ लपलपाते हुए, अपने पैरमें डँसते हुए तक्षकको, अपने शरीरको और विश्वको तुम अपने आत्मासे भिन्न नहीं देखोगे।

किसकी कब किस प्रकार मृत्यु होगी, इस बातको योगीके अतिरिक्त और कोई नहीं जान सकता। ज्ञानी ज्ञानके प्रभावसे शरीरसे मनको अलग करके परमात्मामें लीन कर देते हैं। घट फूट जानेपर जैसे घटाकाश महाकाशके साथ एक हो जाता है, वैसे ही ज्ञानी पुरुष देहत्याग करके ब्रह्मके साथ एक हो जाते हैं। पञ्चीकृत स्थूल देह पञ्चमहाभूतोंके साथ लीन हो जाता है। वासना नष्ट हो जानेसे सूक्ष्म शरीर भी उसीके साथ नष्ट हो जाता है। कारण, शरीर तो ज्ञानके द्वारा पहले ही नष्ट हो गया था, उसके कार्य मन, प्राणादि प्रारब्धके कारण बने थे, भोगके द्वारा प्रारब्धका नाश हो जानेपर उनका कार्य शेष हो जानेसे वे भी अपने-अपने कारणमें लीन हो जाते हैं। ज्ञानी सत्तासामान्यमें प्रवेश करके सबके अन्तरात्मा होकर ब्रह्मरूप हो जाते हैं। 'मैं ही परब्रह्म हूँ' इस प्रकार चिन्तन करते-करते जो जीवात्माको परमात्मामें लय कर देते हैं, मृत्युभय उन्हें स्पर्श नहीं कर सकता। प्रह्लादको हिरण्यकशिपुने अग्निकुण्डमें डालकर, शस्त्रोंसे आघात पहुँचाकर तथा अन्यान्य बहुत-से उपायोंसे मारना चाहा परन्तु प्रह्लाद सबमें अनुस्यूत भगवान्का चिन्तन करके उनमें तन्मय हो गया। इससे अस्त्र, शस्त्र, अग्नि, विष आदि उसका एक बाल भी बाँका नहीं कर सके। श्रुतिने कहा है—

> 'न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः
> प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्।'

जिस योगीका शरीर योगाग्निमय हो गया है उसको न रोग होता है और न बुढ़ापा, न मृत्यु ही उसपर आक्रमण कर सकता है। परन्तु योगी भी मरते देखे जाते हैं, तब क्या श्रुतिका उपर्युक्त कथन सत्य नहीं है। ऐसी बात नहीं है? श्रुतिका कथन सत्य है—साधारण मनुष्यकी तरह योगीकी मृत्यु नहीं होती, योगी मन करे तो इच्छानुसार शरीर रख भी सकता है और त्याग भी कर सकता है। योगी यमका गुलाम नहीं है। इसलिये साधारण मनुष्यकी भाँति जल, अग्नि, विष, सर्प, भूख, बीमारी या पर्वतादिसे गिरना आदि उसकी मृत्युके निमित्तकारण नहीं बन सकते।

योगी योगधारणामें स्थित होकर हृदयसे प्राणोंको क्रमशः ऊपर ले जाते हैं। पहले कण्ठमें, कण्ठसे गलेमें, गलेसे भ्रूमध्यमें और फिर उन्हें ब्रह्मरन्ध्रमें ले जाकर वे ब्रह्मलोककी गतिको प्राप्त होते हैं। उन्हें फिर लौटकर नहीं आना पड़ता। इसी प्रकार उपासक भी शिव, विष्णु या ब्रह्माकी उपासनाके फलस्वरूप

उनके लोकोंको प्राप्त होते हैं। मृत्युकालमें उन्हें अपने अभीष्ट देवका साक्षात् होनेसे उनका मृत्युभय दूर हो जाता है और वैकुण्ठादि लोकोंकी प्राप्तिके निश्चयसे उनका चित्त आनन्दमें डूब जाता है। इसलिये यम-भय या मृत्युभय उन्हें नहीं सता सकता।

जो सत्कर्मोंके फलस्वरूप पितृयानमार्गमें जाते हैं, उनको उस मार्गपर ले जानेके लिये मृत्युकालमें पितृ-पुरुष आते हैं, उनको देखकर मुमूर्षु व्यक्ति हर्षित चित्तसे देहत्याग करते हैं इसलिये उनको भी मृत्युभय नहीं होता। जिसकी देह-ममता जितनी ही अधिक होती है, उसे उतनी ही अधिक पीड़ाका अनुभव होता है। इसलिये जीवनभर देहात्मबोधक हेतु अहंता और ममताका त्याग करनेके लिये प्रयत्न करते रहना चाहिये। मृत्युकालमें सहसा इनका त्याग नहीं हो सकता। मृत्युके समय बन्धु-बान्धव इसीलिये श्री-भगवान्‌का नाम याद दिलाया करते हैं परन्तु मरनेवाला मनुष्य स्वभाववश इसी चिन्तामें व्याकुल रहता है कि हाय! मेरे मरनेके बाद मेरे स्त्री-पुत्रादिका क्या होगा। सारांश कि अहंता और ममता उसे भगवन्निष्ठ नहीं होने देतीं।

प्रायः मृत्युकालके एक वर्ष पहलेसे ही कुछ लक्षण प्रकट होने लगते हैं। उनको देखकर विद्वान् और योगी अपने जीवनका शेष समय आ गया है, ऐसा जान सकते हैं। मृत्युके चिह्न देखते ही अपने निःश्रेयस्‌के लिये चेष्टा करनी चाहिये और सर्वदा ध्यान करके चित्तको परमात्मामें लगा रखना चाहिये। मनको जहाँ धारण किया जाता है, प्राण भी उसी स्थानमें निरुद्ध हो जाते हैं। अतएव योगीके सिवा और सभीके लिये अपना मन श्रीभगवान्‌के जप-ध्यानमें लगाये रखना आवश्यक है। योगी योगसाधनके समय कुलकुण्डलिनी-को जाग्रत् करके सुषुम्नाका द्वार खोलकर प्राणोंको उसके अंदर प्रवेश करा देते हैं और इस प्रकार उन्हें ब्रह्मरन्ध्रमें ले जानेका अभ्यास करते हैं, इसलिये मृत्यु-कालमें उनके लिये योगमार्गसे शरीर त्याग करना आसान होता है। ऐसे योगियोंके सिवा शेष सभीको मृत्युके समय भगवान्‌से ऐसी प्रार्थना करनी चाहिये—

'हे भगवन्! आप जगत्‌के स्वामी हैं, सृष्टि, स्थिति और प्रलय करनेवाले हैं। मैं आपकी शरण पड़ा हूँ। आप शरणागतवत्सल हैं; जो दीन होकर आपकी शरणमें आता है उसे अभयदान देकर अपना भक्त बना लेना आपका व्रत है। आपके शरणमें आया हुआ अनायास ही सारे बन्धनोंसे छूट जाता है। आप मुझपर प्रसन्न होइये। मेरा अन्तकाल उपस्थित है। अब योग और ज्ञानादिके द्वारा आपका स्मरण करनेकी शक्ति मुझमें नहीं है। मैं बार-बार आपको प्रणाम करता हूँ। आप मेरे समस्त दुःख और विपत्तियोंको दूर करके मुझे अपने श्रीचरणोंमें स्थान दीजिये।

हे भगवन्! अब इन पञ्चभूतोंसे मेरा संयोग न हो। अहङ्कार, त्रिगुणात्मिका प्रकृति अथवा बुद्धिके साथ भी अब संयोग न हो। मेरे सब धर्माधर्म नष्ट हो जायँ, मुझे फिर जन्म धारण न करना पड़े। जरा-मरणसे छुटकारा पानेके लिये मैं आपके शरणागत होता हूँ। विषय और इन्द्रियोंके साथ अब मेरा समागम न हो। हे भक्तवत्सल! मेरी घ्राणेन्द्रिय पृथिवीतत्त्वमें लीन हो जाय, रसनेन्द्रिय जलतत्त्वमें, रूप अग्निमें, स्पर्शेन्द्रिय वायुतत्त्वमें और श्रोत्रेन्द्रिय आकाशतत्त्वमें लीन हो जाय। इन्द्रियाँ, मन और गुण अपने-अपने कारणोंमें विलीन हो जायँ। पृथिवी जलमें मग्न हो जाय, जल अग्निमें मिल जाय, अग्नि वायुमें मिल जाय, वायु आकाशमें लीन हो जाय, अहङ्कार मनमें मिल जाय, मन और अहङ्कार बुद्धिमें लीन हो जायँ और बुद्धि अव्यक्तमें विलीन हो जाय। मूलप्रकृतिके तीनों गुण गुणसाम्यमें

प्रवेश कर जायँ। समस्त कारणोंके साथ मेरा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाय। हे भगवन्! मैं आपसे कैवल्य पदकी भीख चाहता हूँ, आपके साथ मेरा एकीभाव हो जाय। पूर्वशरीरोंमें मैंने जो पाप किये हैं, वे सब-के-सब व्याधिके रूपमें अपना फल भुगतानेके लिये अभी आ जायँ। मैं अऋणी होकर मरना चाहता हूँ। पूर्व-सञ्चित समस्त व्याधियाँ मेरे इसी शरीरमें प्रवेश कर जायँ, जिससे फिर शरीर न बने। हे भगवन्! मेरा नित्य निवास तो आपमें ही है। न तो मैंने उस निवासस्थानको छोड़ा है और न आपने ही। अतएव आप अब मुझको अपनेमें ही विलीन कर लीजिये।'

इस प्रकार प्रार्थना करके सावधानीके साथ कर्मेन्द्रियोंका संयम करके उन्हें प्राणोंमें, ज्ञानेन्द्रियोंको मनमें, मनको अहङ्कारमें, अहङ्कारको बुद्धिमें और बुद्धिको आत्मामें जोड़कर परात्पर परमात्माको देखते रहना चाहिये। जो इस प्रकार देहत्याग करते हैं, उनका पुनर्जन्म नहीं होता।

जो लोग उपर्युक्त कोई-सा भी उपाय नहीं कर सकते, उन्हें 'ॐ नमो नारायणाय' अथवा 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' मन्त्रका या किसी भी भगवन्नामका यथाशक्ति जाप करना चाहिये। अजामिल तो यमदूतोंके भयसे अनजानमें पुत्रके संकेतसे 'नारायण' नामका उच्चारण करके भी सद्गतिको प्राप्त हो गया था। फिर सावधान होकर ज्ञानपूर्वक भगवन्नामका उच्चारण करनेसे सद्गति क्यों नहीं प्राप्त होगी? परन्तु इसके लिये भी पहलेसे ही तैयार होनेकी आवश्यकता है। मृत्युके समय जब समस्त शरीर शीर्ण हो जायगा, रोगादिके कारण कण्ठ रुक जायगा, तब भगवान्‌का नाम कैसे लिया जायगा। इसीलिये भक्त भगवान्‌से प्रार्थना करता है—

कृष्ण त्वदीयपदपङ्कजपञ्जरान्त-
मद्यैव मे विशतु मानसराजहंसः।
प्राणप्रयाणसमये कफवातपित्तैः
कण्ठावरोधनविधौ स्मरणं कुतस्ते॥

'हे श्रीकृष्ण! तुम्हारे चरणकमलरूपी पिंजरेमें मेरा यह मनरूपी राजहंस आज ही प्रवेश कर जाय। प्राण जानेके समय जब कफ-वात-पित्तसे कण्ठ रुक जायँगे तब तुम्हारा स्मरण कहाँ होगा।'

ब्रह्मचर्यकी महिमा

(लेखक—कुमार श्रीशचिनन्दनप्रसादसिंहजी)

"बलेन वै पृथ्वी तिष्ठति, बलेनान्तरिक्षम्।
वीर्य्यमेव बलम्, बलमेव वीर्य्यम्॥"
(उपनिषद्)

छोटा या बड़ा जो कुछ कार्य हम करते हैं और सोचते-विचारते हैं वह हमारे कृत्यके अवयवमें गम्भीर-तम भावसे अंकित रहता है। उसका फल केवल हमीतक नहीं रह जाता वरं पत्थर फेंकनेसे उठी हुई समुद्रकी तरङ्गोंकी भाँति वंशानुक्रमसे क्रमशः विस्तार पाता हुआ अनन्त कालतक वर्तमान रहता है। हमारी सन्तानोंमें और उनके संसर्गसे समस्त समाजमें हमारे कर्मोंके फल चिरकालतक विद्यमान रहते हैं।

अनुचित कर्म एक संक्रामक रोग है जिसका विस्तार समाजमें और सब व्याधियोंसे अधिक होता है। जब हमें अपने ही किये हुए कार्यसे अपनी क्षति नहीं सुहाती, तब यह कितना अनुचित है कि हम जान-बूझकर अपनी त्रुटिसे, अपनी असावधानीसे और अपनी अज्ञानमयी स्वार्थ-वृत्तिसे भावी सन्तानको, समाजको या सारे देशको क्षतिग्रस्त कर दें, उन्हें

अवनतिके गढेमें गिरा दें। यह कितनी बड़ी कृतघ्नता-का कार्य है कि जिस मातृभूमिके अन्न-जलसे हम पले हैं और जिन देशबन्धुओंके यत्न-सौजन्यसे हम प्रतिदिन अपने शरीरको पुष्ट कर रहे हैं, उनके उपकारके लिये, उनकी उन्नतिके लिये कुछ न करके उलटे उनके अनिष्ट और ध्वंसके लिये बीज बो दें।

भारतवर्षीय तथा पाश्चात्य शरीर-तत्त्ववित् पण्डित सभी एकस्वरसे स्वीकार करते हैं कि रक्तका अन्तिम सारभाग शुक्रमें परिणत होता है और दूधमें मक्खनकी नाईं रक्तके प्रत्येक भागमें वर्तमान रहता है। दूधको मथकर सारभूत मक्खन निकाल लेनेसे जैसे दूध निकम्मा हो जाता है वैसे ही शुक्रके निकलनेसे रक्त भी निकम्मा हो जाता है। जितना शुक्र निकलता है उतना ही रक्तका निकम्मापन बढ़ता है। जो लोग रक्त तथा शरीरके इस परमोत्कृष्ट अंशकी रक्षा करते हैं, उनकी प्रत्येक शक्ति विशेषरूपसे बढ़ती है।

शुक्र शरीरका राजा है। जिन स्त्री-पुरुषोंका जीवन पवित्र और संयत होता है, उनके शरीरमें यह पदार्थ व्याप्त होकर उन्हें अधिकाधिक साहसी, उद्यमी, दीर्घायु और आनन्दकी मूर्ति बनाता है और इसका व्यय उनको दुर्बल और अस्थिरचित्त बनाता है। इससे उनकी शारीरिक और मानसिक शक्तियोंका ह्रास होता है, शरीरयन्त्रकी क्रिया अस्त-व्यस्त हो जाती है और इसका अन्तिम परिणाम होता है अकालमृत्यु।

भारतवर्षमें विद्यारम्भ-संस्कारके समय बालकोंको ब्रह्मचर्यकी महिमाका सदुपदेश दिया जाता था। आचार्य शिष्योंको प्रतिदिन ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करना सिखाते थे। वे वेदोंमें कहे हुए उपदेशोंको उनके सामने रखते थे कि 'तू आजसे ब्रह्मचारी है। नित्य सन्ध्योपासन कर। भोजनसे पूर्व शुद्ध जलसे आचमन कर। दुष्ट कर्मोंको छोड़कर धर्म किया कर। जबतक तू पूर्णरूपसे सत्-विद्याओंको न पढ़ ले, अखण्ड ब्रह्मचारी रह। आचार्यके अधीन रहकर नित्य सत्-विद्याओंके पढ़नेमें पुरुषार्थ किया कर। आचार्यके अधीन धर्माचरणमें रहा कर, किन्तु यदि आचार्य अधर्म करने-का आदेश करे तो उसे कभी न कर। क्रोध और मिथ्याभाषण मत कर। आठ प्रकारके मैथुनोंसे सदा बचा रह। भूमिमें शयन कर, पलँगपर न सो। गाना, बजाना, नाचना, गन्ध और अंजनका व्यवहार कभी न कर। अति स्नान, अति भोजन, अति निद्रा, अधिक जागरण, निन्दा, लोभ, मोह, भय, शोक और कुविचार मत कर। रात्रिमें चौथे प्रहरमें जाग। नित्य-क्रिया स्नानादिसे निवृत्त हो ईश्वरप्रार्थना और उपासना नित्य किया कर। मांस, मद्य और मादक वस्तुओंका प्रयोग मत कर। तैल मत लगा। अति खट्टी, तीखी, कसैली, खारी और रेचक वस्तुओंका सेवन मत कर। नित्य युक्तिसे आहार-विहार करके सुशील, थोड़ा बोलनेवाला हो और सभामें बैठने योग्य गुण ग्रहण कर।'

इस प्रकार उपदेशोंके द्वारा आचार्य अपने शिष्यों-को इस पुनीत मार्गसे कभी विचलित नहीं होने देते थे। प्रत्येक बालक अखण्ड ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करनेके बाद गृहस्थाश्रममें प्रवेश करते थे। खेद है, आधुनिक शिक्षा-प्रणालीने इसको समूल ही नष्ट कर डाला है।

ब्रह्मचर्यकी अपार महिमा है। ब्रह्मचर्य एक ऐसी अमूल्य निधि है, जिसकी रक्षा करनेसे ब्रह्मचारी मृत्यु-को जीत लेता है और देवत्व प्राप्तकर आनन्दसे जीवन व्यतीत करता है। बिना ब्रह्मचर्यके मनुष्यका जीवन

व्यर्थ और सारहीन है । इसलिये यदि आप सुखी होना चाहते हैं तो ब्रह्मचारी बनिये और ब्रह्मचारी बननेके लिये तो आपको चाहिये कि सबसे पहले आप प्रकृतिके नियमोंका पालन करें, अर्थात् आहार-विहार नियमितरूपसे करें । पर ध्यान रहे कि जो लोग बाह्य साधनोंसे इन्द्रियोंकी शक्तिका ह्रास करके उनको बलपूर्वक अपने विषयोंके प्रति निवृत्त करना चाहते हैं वे इसमें किसी प्रकार समर्थ तो हो जाते हैं, किन्तु उनकी मानसिक विषयासक्ति नहीं जाती । इस प्रकार यदि कोई बाह्य दृष्टिसे लोगोंको दिखानेभरके लिये विषयसे पृथक् रहकर मन-ही-मन उसमें लगा रहे, तो वह मिथ्याचारी कहलाता है । इन्द्रिय-निरोध चित्त-वृत्तिनिरोधसे ही हो सकता है । कुचिन्ता उत्पन्न होते ही उसको रोकनेका प्रयत्न करना चाहिये । कुचिन्ता दूर करनेका सबसे अच्छा उपाय है श्रद्धा और भक्तिपूर्वक ईश्वरका स्तवन करना और सच्चे हृदयसे पश्चात्ताप करते हुए ईश्वरके बलसे मनको दृढ़तापूर्वक वशमें रखना । ऐसा करनेसे मनकी कुचिन्ताओंका अन्त हो जाता है ।

कुचिन्ता मनुष्यका प्रबल शत्रु है । यह ब्रह्मचर्यावस्थाका बाधक है । जैसे बने वैसे ही इसका अन्त करना ब्रह्मचारियोंका कर्त्तव्य है । यदि आप चाहते हैं कि कुचिन्तासे बचें तो सबसे पहले आपको अभक्ष्य पदार्थोंका त्याग करना होगा । जीभको वशमें करनेसे चित्त-वृत्तियोंपर विजय प्राप्त होती है । एक पश्चिमीय विद्वान्का कथन है कि 'A man is, what he eats'. अर्थात् मनुष्य जैसे पदार्थ खाता है वैसा ही बनता है । शरीर खाद्य वस्तुओंका परिणाम मात्र है । और शरीरसे मनका विशेष सम्बन्ध है । आहारके दूषित होनेसे मनकी वृत्ति भी बिगड़ने लगती है । मादक द्रव्योंके व्यवहारसे बुद्धि भ्रष्ट होती है जिससे कुचिन्ता उत्पन्न होनेका भय रहता है । पुष्टिकर और अपने शरीरकी आवश्यकतानुसार गुणकारी तथा शुद्ध पदार्थोंका भोजन करना लाभदायक है । प्रत्येक पहलूसे विचार करनेपर यही ज्ञात होता है कि पवित्र भोजनसे हमारी धमनियोंमें शुद्ध रक्त प्रवाहित होता है और उससे देव-जीवनकी प्राप्ति होती है । सारांश यह कि पूर्णरूपसे पवित्र रहना चाहिये । पवित्रता देवताका गुण है । पवित्र आहार-विहार, पवित्र आचरण रखनेसे और सर्वदा पवित्र भावोंकी आलोचना करते रहनेसे मनका संस्कार ऐसा दृढ़ हो जाता है कि फिर कुचिन्ता पास भी नहीं फटकने पाती ।

अपने मनको शान्त तथा स्थिर रखनेका उपाय अन्तःकरणकी शुद्धि, विलास-सामग्रीका त्याग और प्राकृतिक सौन्दर्यकी ओर अपनी रुचि बढ़ाना है । पहलेसे ही यह संकल्प कर लेना चाहिये कि हम अपनेको दुष्प्रवृत्तिके वशीभूत कदापि नहीं होने देंगे । अपने मनको सदा हितकर कार्यमें लगाये रक्खेंगे । भीष्मपितामह-जैसे महान् पुरुषोंकी प्रतिज्ञाको सुवर्णाक्षरोंमें लिखकर उसको ऐसे स्थानमें रखना चाहिये, जहाँ उसपर सदा दृष्टि पड़ा करे । इन उपायोंको काममें लानेसे सम्भव है कि ब्रह्मचारी सफलमनोरथ हो सकता है, उसका जीवन देव-जीवन बन सकता है और वह मृत्युको भी जीत सकता है ।

'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत ।'

लगन

कहानी

(श्री 'चक्र')

वह बेकार था। दिनभर इधरसे उधर घूमना, कोई मिल जाय तो उससे गप्पें लड़ाना और नहीं तो कोई पुस्तक लेकर पढ़ते ही रहना। घरमें ऐसा भी कोई न था जो कहे 'सुदेव! तुम कुछ काम क्यों नहीं करते?' वृद्धा माता इसीमें प्रसन्ना थी कि बेटा घर रहे। पत्नी बेचारी पति-की आज्ञाकी पुतली ठहरी। दूसरा कोई घर था ही नहीं।

सुदेव काम क्यों करे? उसके यहाँ अभाव क्या है? पिता इतनी सम्पत्ति छोड़ गये हैं कि सुदेवके बच्चोंके बच्चे भी उसे समाप्त नहीं कर सकते। आस-पासके स्थानोंमें सुदेवकी विद्वत्ता एवं मिलनसार स्वभाव-का आदर है। उसके पिता लब्धप्रतिष्ठ व्यक्ति थे और वह स्वयं भी कम सम्मानित नहीं है।

सुदेव वैसे सदाचारी, दयालु एवं न्यायप्रिय था। धनके जो स्वाभाविक दुर्गुण ऐसी अवस्थामें प्रकट होते हैं वे दुराचार, क्रूरता, अनीति, उत्पीडन, घमण्ड आदि उसमें एक भी न थे। वह नम्र और विनयी था। उसमें यदि कोई दुर्गुणता थी तो एक यही कि वह किसी भी कार्यको एकाग्र होकर कुछ समयतक नहीं कर पाता था। उसमें लगन नहीं थी। बड़े उत्साह एवं दृढ़ निश्चयसे वह कार्यारम्भ करता, पर थोड़े ही समयमें उसका उत्साह ढीला पड़ जाता। कार्य बीचमें ही पड़ा रह जाता।

कई पुस्तकें उसने लिखनी आरम्भ कीं, कई संस्कृत पुस्तकोंकी टीका करना प्रारम्भ किया। ऐसी पुस्तकोंके उसके यहाँ ढेर थे। किसीके पचास पृष्ठ लिखे गये तो किसीके पाँच ही। किसीमें एक सौ श्लोकोंकी टीका हुई तो किसीमें बीसकी ही। जो एक बार छूट गया फिर उसमें मन नहीं लगता था। फिर दूसरी पुस्तक नये सिरेसे ही प्रारम्भ होती। यही दशा पठन-पाठनकी भी थी। किसी पुस्तकको बड़े उत्साहसे खरीद लाये, दो-चार दिन पढ़ा और फिर आल्मारीके हवाले किया। किसी विद्यार्थीको पढ़ाने लगे तो दो-चार दिन बाद अस्वीकार कर दिया। इन्हीं सब गड़बड़ोंसे कोई सुदेवके साथ कार्यमें सहयोग नहीं करता था। वैसे सब लोग आदर करते थे।

(२)

सुदेवकी धार्मिक रुचि बड़ी प्रबल थी। जहाँ कहीं भी महात्माओंके आनेका समाचार मिलता, वह अवश्य जाता। चाहे जितनी दूर जाना पड़े। रुपये व्यय करके वह भारतके दूर-दूर महात्माओंके दर्शनको भी प्रायः जाता ही रहता था। आसपासके तो सभी महात्मा परिचित थे।

वह चञ्चलता यहाँ भी रहती। किसी भी महात्मा-के पास जाते ही सुदेव उनपर अत्यन्त श्रद्धा करने लगता। ऐसा दीखता कि बस वह इनसे बड़ा महात्मा किसीको मानता ही नहीं। उनकी छोटी-मोटी सभी सेवाएँ करता। उनके उच्छिष्ट पाता। सच्चे हृदयसे उनके बताये मार्गपर चलता, साधन करता। बार-बार उनके यहाँ जाता, दिन-रात्रि परिश्रम करके उनकी सेवामें तल्लीन रहता। ऐसा प्रतीत होता कि वह सौम्यता एवं श्रद्धाकी मूर्ति है।

थोड़े दिन बाद ही वह उन महात्माजीके पास जाना बन्द कर देता। जाता भी तो यों ही टहल आनेके लिये। सब साधन-भजन छोड़ देता। महात्माजीपर अश्रद्धा हो जाती। वह उनके दोष ढूँढ़ने लगता। उनकी निन्दा करता। अपने संयत

जीवनको पुनः उच्छृङ्खल बना लेता। पर महात्माओं-की खोज बन्द नहीं होती। फिर दूसरे महात्माकी खोज होने लगती।

एक दो नहीं, दसों गुरु सुदेवने बनाये। वह जिस महात्मापर श्रद्धा करने लगता उसीसे दीक्षा लेनेका प्रयत्न करता। वैसे दीक्षा न मिले तो भी उन्हें अपना गुरु तो मान ही लेता। पर श्रद्धा हटनेपर फिर दीक्षा-का भी कोई मूल्य नहीं रह जाता था।

(३)

समीप ही गङ्गाकिनारे एक विरक्त अवधूत आये हुए थे। नियमानुसार सुदेव उनके पास पहुँचा। वे निःस्पृह एवं तितिक्षु थे। शरीरपर एक कौपीनके अतिरिक्त कुछ भी न था। सुदेवकी उनपर बड़ी श्रद्धा हो गयी। वह पहले दिन-दिनभर उनके पास बैठा रहा। उनके बैठनेके स्थानपर उसने पत्तियाँ बिछायीं, जल लाकर रक्खा तथा और भी जो सेवा सम्भव थी करता रहा।

महात्मा पहुँचे हुए थे। उन्होंने कल्याणका उपाय पूछनेपर सुदेवसे कहा 'कल सन्ध्याको पाँच सहस्र द्वादशाक्षरमन्त्र लिखकर लाना तब कुछ बता सकूँगा।' दूसरे दिन प्रातःसे ही सुदेव घरपर लिखने बैठ गया. बड़े परिश्रमसे सन्ध्यातक कहीं साढ़े चार सहस्र मन्त्र हो पाये। वह उन्हें लेकर महात्माजीके पास पहुँचा। पहुँचते ही महात्माजीने कहा 'पूरा नहीं ला सके, अच्छा इन कागजोंको रख जाओ। कल पूरे पाँच सहस्र लाना।' महात्माजीने उसे वहाँ बैठने नहीं दिया। वैसे ही लौटा दिया। श्रद्धा जागृत थी, श्रम करके सुदेवने दूसरे दिन संख्या पूरी कर ली।

महात्माजीने मन्त्रोंको देखा। अक्षर टेढ़े-मेढ़े थे, जल्दीमें कहीं अक्षर छूट भी गये थे। उन्होंने कहा 'भैया! कहीं ऐसे भी मन्त्र लिखे जाते हैं? तुम पाना तो चाहते हो भगवान्को, पर तुमसे इतना परिश्रम भी नहीं हो पाता। सुन्दर अक्षरोंमें शुद्ध-शुद्ध लिखकर ले आओ।'

आज सुदेवने बड़ा श्रम किया था। उसे इससे अधिक आशा नहीं थी। धीरेसे बोला 'मैंने बहुत श्रम करके तब कहीं इतना भी किया है। इससे अधिक तो सम्भव ही नहीं।' महात्माजी तनिक कड़े शब्दोंमें बोले 'सम्भव कैसे हो? रास्तेमें कौन जा रहा है, घर क्या हुआ, वे लोग क्या बातें कर रहे हैं, तनिक उनसे मिल आऊँ, तनिक उससे घरका हाल पूछ लूँ आदि जबतक बखेड़े लगे हैं, तबतक कैसे सम्भव हो सकता है? साधनके लिये तो लगन चाहिये। एकाग्र होकर लगनसे कार्य करोगे तो सब कुछ हो जायगा। नहीं तो रहने दो, जब तुम कुछ करना ही नहीं चाहते तो मेरे पीछे क्यों पड़े हो? करना तो तुम्हींको होगा। मैं तो केवल पथप्रदर्शन कर सकता हूँ।'

सुदेवने यह झिड़की पाकर सोचा 'महात्माजीको सन्तुष्ट तो करना ही है। कल तीन-चार साथियोंको बुलाकर मन्त्र लिखा लेंगे। महात्माजी अक्षर थोड़े ही पहचानने बैठेंगे। वे तो मन्त्रोंको उलटते भी नहीं।' तुरन्त ही महात्माजीने कहा 'मेरे साथ आओ।' सुदेव उनके पीछे चला।

गंगाजीके किनारे एक बगुला बड़े ध्यानसे मछलियों-की ताकमें बैठा था। महात्माजीने कहा 'दबे पैर पीछेसे बगुलेके पास जाकर खड़े हो जाओ।' सुदेव उस पक्षीके पासतक पहुँच गया, पर पक्षीको कुछ पता न था। थोड़ी देर खड़े रहनेपर महात्माजीके संकेतपर सुदेवने ताली बजायी। दो-तीन तालियाँ बजानेपर पक्षी चौंककर उड़ गया।

पास आकर महात्माजीने कहा 'सुदेव! देखा तुमने इस पक्षीकी लगन। उसे यह भी पता नहीं कि मेरे पीछे कौन खड़ा है। इतनी तल्लीनता होनी है तो कहीं लक्ष्य मिलता है। तुम दूसरोंसे मन्त्र लिखवाकर मुझे धोखा देना चाहते हो, पर सोचो कि यह तुम किसे धोखा दे रहे हो। तुम मन्त्र न भी लिखो तो मेरी क्या हानि? यह तो तुम्हारे ही लाभके लिये मैं बताता हूँ। साधन ही सब महात्मा बतावेंगे। कोई हाथ पकड़कर तुम्हें लक्ष्यतक पहुँचानेसे रहा। तुममें लगन और दृढ़ता होनी चाहिये। देखो, मैं यहाँ चतुर्मासा

करूँगा। चार महीने नित्य लगनसे सुन्दर अक्षरोंमें पाँच सहस्र मन्त्र लिखो। ठीक चार महीने पीछे मेरे पास आना।' सुदेव बहुत लज्जित था, उसने स्वीकार किया।

(४)

मनुष्यका हृदय ही तो है, बात ठीक लक्ष्यपर लग गयी। सुदेव ठीक दूसरे दिनसे मन्त्र लिखनेमें तन्मय हो गया। पता नहीं कहाँ क्या हो रहा है। माताने कई बार स्नान करनेको कहा, पर उसने सुना ही नहीं। ठीक भोजनके समय जब उसके पास आकर माताजीने कहा तो कहीं वह स्नान करने गया।

सन्ध्यातक उसने पाँच सहस्रमें पाँच सौ मन्त्र अधिक ही लिख लिये थे। अक्षरोंके सौन्दर्यपर उसे स्वयं ही बड़ा आश्चर्य हो रहा था। कई बार उलटकर उन मन्त्रोंको देखा, फिर सन्दूकमें रख दिया। महात्माजीने तो अपने पास आनेको मना कर दिया था, उनके पास चार महीने बाद जाना था। दूसरे दिन प्रातःकाल वह फिर उसी कार्यमें जुट गया।

दो-चार दिनतक मन लगा, फिर जी ऊबने लगा। दिनके एक-एक घण्टे युगों-से प्रतीत होते थे। बार-बार सुदेव कागज गिनता कि अभी कितना लिखना है। वह दृढ़ था, मनसे युद्ध होने लगा। कई दिनतक यह अवस्था भी चली। जीवनमें प्रथम बार सुदेवने मनसे युद्ध किया और विजयी हुआ। उसने लेखन बन्द नहीं किया।

अब दशा दूसरी ही हो गयी। मन्त्र लिखनेमें आनन्द मिलने लगा। मन स्वभावतः उधर ही लगा रहता था। कुछ दिनोंमें वहाँ मनको इतना आनन्द मिलने लगा कि फिर वह दूसरी ओर जाना ही नहीं चाहता था। भोजन करनेको उठना भारी लगता था। भोजन करते समय भी यह उकताहट रहती थी 'कब लिखने बैठूँगा।'

प्रातः चार बजे नींद टूटते ही नित्यकर्मसे निवृत्त होकर सुदेव लिखने बैठ जाता। माताजीके बार-बार कहनेपर भोजनको उठता और रात्रिमें लालटेनके सामने बैठा लिखता रहता। ग्यारह बजते तब कहीं वह लिखना बन्द करता। स्वप्नमें भी वह मन्त्र ही लिखता था।

पाँच सहस्र मन्त्र तो दोपहरसे पहले ही पूर्ण हो जाते थे। फिर वह गिनता नहीं था। पता नहीं कितने मन्त्र लिख लेता होगा। नित्य मन्त्र लिखकर वह उन्हें अपने सन्दूकमें बड़े सुन्दर ढङ्गसे रख देता।

(५)

पूरे चार महीने हो गये। महात्माजी स्वयं ही सन्ध्याके समय सुदेवके घरपर पहुँचे। वह मन्त्र लिखनेमें तल्लीन था। दो दिनसे न तो वह सोया था और न भोजनादिके लिये उठा था। माताने बहुत पुकारा, बहुत कहा, किन्तु वह मानो कुछ सुनता ही न हो। पहले उसका स्वभाव तनिक-सी बातमें ही रुष्ट हो जानेका था, इससे कोई उसे छूनेका साहस भी नहीं कर सकता था। दूसरे उसके चेहरेसे जो विचित्र प्रकाश निकल रहा था, वह भी लोगोंको पास आनेसे रोकता था।

माताने साधुके चरणोंमें प्रणाम किया। महात्माजी सुदेवके आगे जाकर खड़े हो गये। उसकी लेखनी चल रही थी, पर उसे शरीरका भी ज्ञान नहीं था। महात्माजीने पुकारा, कोई उत्तर नहीं मिला। सिरपर हाथ रखकर उन्होंने गम्भीर स्वरमें पुनः कहा 'हरिः ॐ'। सुदेवको बाह्यज्ञान हुआ। अपने सम्मुख गुरुदेवको देखकर उसने उनके चरणोंको अश्रुओंसे सींच दिया।

'रहने दो, अब मन्त्रोंकी मुझे आवश्यकता नहीं। उन्हें स्थापित करके पूजा किया करो। तुम्हें अब भी कोई साधन चाहिये तो मैं बताने आया हूँ।' मन्त्र लानेको उद्यत सुदेव पुनः चरणोंमें सिर रखकर बोला 'प्रभो! मेरे साधन और साध्य तो सब ये श्रीचरण ही हैं। मुझे दूसरा कोई भी साधन नहीं चाहिये।' महात्माजीने उसे उठाते हुए कहा 'साधनोंका मूल मन्त्र तो लगन है। लगन होनी चाहिये, साधन तो सब एक-से हैं।'

व्यवहारका आधार

(लेखक—पं० श्रीविष्णुदत्तजी शर्मा बी० ए०)

(१)

प्रश्न यह है कि संसारमें मनुष्य जो परस्पर व्यवहार करते हैं वह भिन्न-भिन्न पुरुषकी भिन्न-भिन्न रुचिके अनुसार होना चाहिये अथवा किसी एक मूल सिद्धान्तके अनुसार होना चाहिये ? पहला पक्ष नहीं बन सकता, क्योंकि सृष्टिकी अगणित-अगणित वस्तुओं और कार्योंके भीतर एक-एक नियम प्रत्यक्ष दिखायी देता है जो सृष्टिके कर्त्ताहीने इसकी व्यवस्था और प्रतिष्ठा (टिकाव) के लिये रक्खा है; अथवा यों कहिये कि कर्त्ता ही नियमरूपमें उसके भीतर विद्यमान रहता है, जिससे उसको नियामक अथवा अन्तर्यामी कहते हैं, और नियमहीसे आन्तरिक सिद्धान्त अथवा तत्त्वका अनुमान होता है। दूसरे पक्षमें विचारणीय विषय यह है कि वह एक मूल सिद्धान्त क्या हो सकता है, और क्या होना चाहिये ? 'क्या हो सकता है' इसको जान लेनेमें तो कोई कठिनाई नहीं है, क्योंकि जिसको लोककी अधिक संख्या अङ्गीकार कर ले वही 'हो सकता है'। प्रत्यक्ष है कि आजकल संसार मात्र धन-वैभव, अधिकार और भोगविलासके पीछे अन्धा होकर पड़ रहा है। चोर, डाकू और हत्यारोंका प्रयोजन भी एक-एक-ही होता है और उनके कार्य करनेका भी कोई प्रकार होता ही है। परन्तु ये सब उद्देश अथवा प्रयोजन मात्र हैं—चाहे भले हों अथवा बुरे हों,—सिद्धान्त नहीं। सिद्धान्त तो भले प्रकार विवेचन अथवा अनुभव किये हुए निर्दोष परिणाम अथवा तत्त्वका नाम है। कठिनता तो इस विषयके जाननेमें है कि वह एक मूल सिद्धान्त 'क्या होना चाहिये'।

मर्मदृष्टिसे सृष्टि और शास्त्रपर विचार करनेसे और तर्क और अनुभवसे इसको छोड़कर और कोई सिद्धान्त नहीं निकलता है कि ईश्वरके सिवा जगत्में और कोई हो नहीं सकता, इसलिये जगत् मात्र ईश्वर है। जिनकी इतनी दूर पहुँच नहीं और आत्मा और परमात्मामें भेद मानते हैं उनकी दृष्टिमें भी प्राणिमात्र ईश्वरके रचे हुए होनेसे परस्पर भाई हैं। इसलिये अद्वैत और द्वैत—दोनों दृष्टियोंसे प्राणिमात्रका परस्पर सब प्रकार हित करना और किसी प्रकार अहित न करना अवश्यकर्त्तव्य सिद्ध हुआ। सृष्टिकी व्यवस्था और प्रतिष्ठा—दोनोंके लिये भी यह कर्त्तव्य सहजमें बुद्धिगम्य है। जो इस सर्वव्यापिनी दृष्टिसे जगत्के अर्थको न देखकर अत्यन्त संकुचित दृष्टिसे स्वार्थमात्रको देखते हैं उनको भी इतना अवश्य मानना पड़ता है कि शुभाशुभ कर्मोंके शुभाशुभ ही फल होते हैं जो प्रत्येक प्राणीके भोगे विना टल नहीं सकते और शुभाशुभ कर्मोंमें अधिकांश प्राणियोंके हिताहितका ही होता है। जो कर्मफल न माना जाय तो सृष्टिका और कोई नियामक सिद्धान्त ही सिद्ध नहीं है। इसलिये उदार दृष्टिसे देखिये अथवा संकुचित दृष्टिसे, प्राणिमात्रका हित करना और अहित कदापि न करना—यही सभी प्रकार कर्त्तव्य सिद्ध हो जाता है। यह भी स्वतः सिद्ध है कि यदि प्रत्येक प्राणी एक दूसरेके हितकी ही चिन्ता और उपाय करते रहें, तो अपने हितकी भी चिन्ता और उपाय दूसरे स्वतः कर सकते हैं, अहितका तो काम ही क्या है। इसलिये परार्थमें स्वार्थ प्रायः आप ही आ जाता है, और स्वार्थपरता पाप ही नहीं, किन्तु व्यर्थ पाप है।

'स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमानेकः सतामग्रणीः।'

(भर्तृहरि)

परन्तु यदि दूसरोंहीके भरोसे रह जानेसे स्वार्थ योग्य रीतिसे सिद्ध नहीं हो सके तो 'दुनियाँभरके सब उत्तम पदार्थ और भोग मेरे ही आ जायँ, औरोंके पास चाहे निर्वाह मात्रके लिये भी न रहे' ऐसी सर्वग्रासिनी दृष्टि न रखकर, दूसरोंको साक्षात् अथवा परम्परासे हानि अथवा कष्ट पहुँचाये विना, सन्तोषके साथ, जो स्वार्थसाधन भी किया जाय तो उसमें किसीको आपत्ति नहीं हो सकती। यह आस्तिकों अथवा अध्यात्मवादियोंकी दृष्टिसे विवेचन हुआ।

जिनको ईश्वर और कर्मफलकी सत्तापर प्रायः श्रद्धा नहीं है ऐसे यूरोप, अमेरिका आदि देशों और इनकी शासक ईसाई जातियोंके धर्ममें ईश्वर अथवा कर्मफल किसी प्रकार न माना गया हो यह बात तो नहीं है, परन्तु वहाँ बहुत समयसे विज्ञान Science, प्रकृतिवाद Naturalism, विकासवाद Evolution theory और उपयोगवाद Utilitarianism के आधारपर Materialism जड़वाद और प्रत्यक्ष प्रमाणहीके प्रचार, प्राबल्य और संस्कारोंके

कारण, व्यवहारमें प्रायः ईश्वर और कर्मफलके विचारका प्रवेश नहीं है तथापि वहाँ सजातीयों, सधर्मियों और स्वदेशीयोंमें इतना प्रबल आत्मीय भाव है और ईश्वर और कर्मफलकी जगह Ethics, सदाचारशास्त्र अथवा Morality सदाचारका इतना मान है कि वहाँ भी इस भिन्न दृष्टिसे सजातीयों, सधर्मियों और सदेशीयोंका सब प्रकार हित करना और अहित किसी प्रकार न करना—यही व्यवहारका मूल सिद्धान्त है, चाहे भिन्न जातियों, भिन्न धर्मियों और भिन्न देशियोंको अपनी भोग्य वस्तु माननेमें, वे उनके हिताहितका विचार न करें। यद्यपि उनका यह सिद्धान्त स्वार्थमूलक अवश्य है तथापि वैयक्तिककी जगह सामूहिक अर्थको लिये हुए है जिसको जाति, धर्म और देशसम्बन्धी आत्मीयभावने सहजमें सङ्घशक्ति देकर दृढ़ और प्रबल कर रक्खा है और जिसमें उनका वैयक्तिक अर्थसाधन भी अधिक सुलभ हो रहा है। क्योंकि यदि प्रत्येक व्यक्ति दूसरेके हिताहितका कुछ भी विचार न रख, स्वार्थसाधन करे, तो दूसरे भी अपने-अपने अर्थके लिये उसके अर्थमें बाधा डाले विना नहीं रह सकते—जिससे वैयक्तिक अर्थ भी पूरे तौरपर बन नहीं सकता। परन्तु यदि वही वैयक्तिक अर्थ सजातीयों, सधर्मियों और सदेशीयोंके अर्थको प्रधान मानकर सिद्ध किया जाय तो उसमें न आत्मीयोंसे और न परायोंसे कोई बाधा उत्पन्न हो सकती है। इसलिये वैयक्तिक स्वार्थपरतासे सामूहिक स्वार्थपरता सर्वथा अधिक वाञ्छनीय है। क्योंकि यह दूसरी चित्तकी वृत्ति पहलीसे कहीं अधिक उदार है और जहाँ पहली स्पष्ट रूपपर सृष्टिकी व्यवस्था और प्रतिष्ठाकी विघातक है, वहाँ दूसरी उसकी सहायक ही है। यह नास्तिक अथवा जड़वादियोंकी दृष्टिसे विवेचन हुआ।

किसी भी दृष्टिसे, परस्पर सब प्रकार प्राणियोंका हित करना और अहित किसी प्रकार न करना ही व्यवहारका आधार है। यदि किसीकी दृष्टिमें इसके सिवा और कोई सिद्धान्त व्यवहारका आधार होनेयोग्य हो तो वह उसको सिद्ध करे—जो कि असम्भाव्य है।

इस प्रसंगमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि चित्तकी वृत्ति क्रम-क्रमसे ही उदार हो सकती है और होनी चाहिये और किसी-किसी परिस्थितिमें अत्युदार भी नहीं होनी चाहिये। अर्थात्—

'आत्मवत्सर्वभूतेषु'

'उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्'

इत्यादि प्राचीन वचन और आजकल जो जहाँ-तहाँ लोगोंद्वारा (संभव है इन लोगोंमें बहुत-से चापलूस, दम्भी या स्वार्थमूढ़ हों) Internationalism, अन्तरराष्ट्रीयभाव अथवा cosmopolitanism राष्ट्राऽभेदभावकी दुहाई सुननेमें आया करती है वह उसी स्थितिके लिये है जिसमें कि कोई प्राणी, समुदाय अथवा जाति गिरी हुई अथवा ऐसी स्थितिमें न हो कि दूसरा प्राणी, समुदाय अथवा जाति उसको किसी प्रकार हानि पहुँचा सके। एक जाति अथवा देशके भीतर तो यह सिद्धान्त आवश्यक है कि व्यक्तिसे कुटुम्बका, कुटुम्बसे ज्ञातिका और ज्ञातिसे जातिका हित मुख्य है, जैसे कि घरसे मुहल्लेका, मुहल्लेसे नगरका, नगरसे प्रान्तका, और प्रान्तसे देशका हित मुख्य है—जो तारतम्य साक्षात् रूपसे एक जाति और देशकी, और परम्परासे सृष्टिमात्रकी व्यवस्था और प्रतिष्ठाके लिये आवश्यक है; परन्तु ऊपर लिखे वचनोंका यह तात्पर्य नहीं है कि आगे होकर अपनेसे दुराचार करनेवाले प्राणी, समुदाय, अथवा जातिका भी हित किया जाय, अथवा उससे अपनी रक्षा अथवा छुटकारा करनेके लिये भी उसका अहित न किया जाय, चाहे वह आत्मीय हो अथवा पराया। जब कि—

'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥'

(गीता ४।८)

यह ईश्वरका ही सिद्धान्त है तो साधुओंकी रक्षाके लिये दुष्ट प्राणी, समुदाय अथवा जातिका शासन करना भी ईश्वरका आज्ञापालन करना है जिसके विना धर्मसंस्थापना भी नहीं हो सकती। भेड़ जैसी मूर्ख पशु चाहे भेड़ियेका पेट भरनेके लिये स्वयं उसके मुँहमें चली जाय, परन्तु जब भेड़िये मनुष्योंकी बस्तीमें आनेका साहस करने लगते हैं तो उनका वह सत्कार होता है कि एक भी बचकर वापस अपने जङ्गलको नहीं जा पाता, जिससे उसके भाइयोंको भी भविष्यमें नगरकी ओर मुँह करनेका साहस नहीं होता।

(२)

अब हम अपने विषयको आर्य (हिन्दू) भाइयोंपर घटानेके लिये उनकी दो श्रेणी करते हैं (१) एक अंग्रेजी

शिक्षा और संस्कारवाले और (२) दूसरे प्राचीन (संस्कृत अथवा देशभाषाओंकी) शिक्षा और संस्कारवाले तथा अशिक्षित ।

(१)

पहले हम पहली श्रेणीको लेते हैं । Religion neutrality धार्मिक तटस्थताके बहाने, परन्तु यथार्थमें प्राचीन आर्यशिक्षासंस्कारोंको निर्मूल करनेके साथ शासकजातिके संस्कार फैलाकर, प्रजाके देश और शरीरकी भाँति उसके अन्तःकरणपर भी उसका शासन स्थापित करने और उसमें शासकजातिके व्यापारी मालकी रुचि और प्रचार करनेकी नीतिसे जो यूनिवर्सिटियों, कालिजों और स्कूलोंमें आर्यधर्म और दर्शनोंकी शिक्षा नहीं दी जाती उससे और शासकजातिके साहचर्य और अनुकरणसे पहली श्रेणीके लोग बचपनसे परिपक्व अवस्थातक आर्यसंस्कारोंसे तो निरे कोरे रह जाते हैं, और केवल अंग्रेजी संस्कार उनकी नस-नसमें ऐसे वज्रलेप हो जाते हैं कि जो कुछ शासकजाति कहती और करती है उसके सिवा उनकी दृष्टिमें कोई वस्तु सत्य, श्रद्धेय और अङ्गीकार्य नहीं रहती और आर्यशास्त्र और संस्कारोंको न वे समझ सकते और न उनमें असत्य, मूढ़श्रद्धादि दोषोंके सिवा उनको कुछ दिखायी ही देता है ।

इन शिक्षा और संस्कारोंने इनको ऐसा स्थूलदर्शी और 'परप्रत्ययनेयबुद्धि' बना दिया है कि अनुकरण भी करते हैं तो शासकोंके बाहरी आचरणोंका तो करते हैं, पर उनके उच्च सिद्धान्त, उनका दृढ़तासे पालन और पुरुषार्थका नहीं । इसी लिये जहाँ वे देखते हैं कि शासक-जाति कैसी धन, अधिकार और भोग-विलास-सम्पन्न है आप भी उसी परिमाणमें उनको सम्पादन करनेमें जुट जाते हैं और उनके पीछे न अपने भाइयोंके हिताहितका और न ईश्वर और पाप-पुण्यका — जिनके उनके संस्कार ही नहीं — कुछ विचार करते हैं ।

वे यह नहीं विचार करते कि यूरोपियन शासक-जातियाँ धन, अधिकार और भोग-विलास-सम्पन्न हैं तो प्रायः एशिया, एफ्रिका और अमेरिकाकी आदिनिवासिनी प्रजाके प्राणोंपर हैं, न कि अपने-अपने यूरोपियन भाइयोंपर जिनके हितकी चिन्ता और उपायमें वे सदा लगी रहती हैं और जिनको अहितसे बचानेके लिये वे तन मन धन सब अर्पण कर देती हैं । भारतीय भाइयोंके धन, अधिकार और भोग-विलास तो अपने निर्धन और असहाय भाइयोंके प्राणोंपर ही हैं जिनका अहितके सिवा वे कोई हित नहीं करते, अवश्य ही उन अभागोंसे चूसे हुए धनके अधिकांशको भी वे यूरोपियन शासक-जातियोंके अर्पण कर देते हैं । जैसे अनाप-शनाप प्रकारोंसे और परिमाणमें वह रुपया आता है वैसे ही अनाप-शनाप प्रकार और परिमाण उसको खर्च करने और उड़ानेके निकलते रहते हैं और वे कहावतें सच्ची हैं कि "माले मुफ्त दिले बेरहम" और "माले हराम बूद बजाये हराम रफ्त", अर्थात् सेंतके रुपयेको उड़ानेमें चित्तको सङ्कोच नहीं होता और पापका रुपया पापमें ही जाता है । ऐसे रुपयेको कमानेसे ही क्या फल है जिसका अधिक अंश विदेशोंमें चला जाता है और बहुत कुछ व्यर्थ खर्च ही है । यदि वह रुपया निर्धन भाइयोंके पास ही रहता तो उनको भर पेट खाने और अंग ढकनेको तो मिलता जिसके उनको लाले पड़े रहते हैं । यह वस्तुतः बहुत ही अनुचित और क्रूरताका कार्य है ! इससे इनके चित्तकी वृत्तियाँ कैसी दूषित हो गयी हैं— इसके कुछ मुख्य-मुख्य उदाहरण दिये जाते हैं—

१—सच्ची विद्याभिरुचि अथवा देश-सेवाके उद्देशसे नहीं, किन्तु ऊँचे-से-ऊँचा पद पाने, शासकोंके बराबर बैठने और अधिक-से-अधिक धन कमानेके लिये, इस देशकी ऊँची-से-ऊँची परीक्षाओंसे संतोष न कर, इङ्गलैण्ड, फ्रान्स, जर्मनी और अमेरिकाकी डिग्रियोंको पानेके लिये देशतकको छोड़, अनाप-शनाप रुपया बहा देंगे । चाहे इनके कई निर्धन भाइयोंको रुपयेके अभावसे, इस देशकी साधारण परीक्षाके भी पास करनेकी शक्ति न हो ।

२—चाहे शरीरमें रंग-रूप और शक्ति न हो और साबुन तेल और कपड़ोंपर ही सब मसान हो, पर अपने अथवा अपने लड़कोंके लिये, उच्च शिक्षा प्राप्त, विलायती मिसोंके जैसी ही लड़कियाँ अथवा विलायती कुमारियाँ ही चाहिये ।

३—निर्धन भाइयोंकी बेचारी लड़कियाँ चाहे बड़ी उम्रतक कुआरी डोला करें, पर इनकी लड़कियोंके लिये, ऊँचे-से-ऊँचे पदवाला, अधिक-से-अधिक कमाऊ जमाई चाहिये, चाहे उसकी प्रतीक्षामें लड़कीकी उम्र ही क्यों न ढल जाय ।

४—भाइयोंको चाहे सिर धरनेको झोपड़ी न मिले पर इनके लिये स्थान-स्थानमें कोठियाँ अथवा ताजमहल होटल होने चाहिये ।

५—भाई चाहे कंकड़, काँटोंपर नंगे पैर भटका करें, पर इनके लिये रेलके फर्स्ट और सेकिण्ड क्लास, मोटर और एरोप्लेन होने चाहिये ।

६–भाई चाहे कड़ी धूपमें नंगे पत्थर फोड़ा या ढोया करें और अँधेरेमें ही साँप-बिच्छुओंके साथ रात काटा करें, पर इनके लिये बिजलीकी रोशनी और पंखे और खसकी टट्टियाँ होनी चाहिये।

७–ये ही लोग राजकर्मचारियोंकी अवस्थामें ही नहीं—जिसमें तो ये परवश भी हैं—किन्तु एसैम्बली, कौंसिल, डिस्ट्रिक्टबोर्ड, म्यूनिसिपलबोर्ड, कारपोरेशन आदिके मेम्बरोंकी अवस्थामें, अयथार्थ सम्मतिद्वारा गरीब प्रजाको ही दुःख पहुँचाया करते हैं—जो किसीसे छिपा नहीं है।

ऐसे स्वार्थपर और घमण्डी लोगोंको सजातीयों और सदेशियोंके प्रति तुच्छ बुद्धिके सिवा, क्या दया, भ्रातृभाव और आदर हो सकता है? यह सत्य है कि सभी ऐसे नहीं हैं। उदाहरणके लिये ही ऐसा लिखा गया है, सबको लक्ष्य करके नहीं!

ये लोग यह भी नहीं विचारते कि जिस Western Civilization पाश्चात्य संस्कृतिका धन, अधिकार और भोगविलासकी अमर्याद लिप्सा ही मुख्य लक्षण है और जिसके कि वे अन्ध भक्त हो रहे हैं, क्या परिणाम हुआ और हो रहा है। इसी लिप्साके पीछे ईसाई शासकोंने एशिया, एफ्रिका और अमेरिकाके आदिनिवासियोंका सर्वस्व हरण किया है और उनको सब प्रकार नष्ट-भ्रष्ट और पीड़ित करनेके साथ दासत्व-शृंखलामें जकड़ रक्खा है। यह लिप्सा परायोंको ही भक्षणकर शान्त नहीं होती किन्तु फिर अपनेको भी खाने लगती है। यही कारण है कि ईसाई देशोंमें भी कई परस्परविरोधी Capital, Labour, Communist, Nationalist, Socialist, Fascist आदि विविध दल खड़े हो रहे हैं जो एक दूसरेको उखाड़ देनेपर उतारू हो रहे हैं। इसी लिप्सासे ईसाईराज्योंमें परस्पर इतनी ईर्ष्या, भय और द्वेष बढ़ गया है कि प्रत्येक राष्ट्र स्थल, जल और आकाशकी सेना, यान और शस्त्रास्त्र बढ़ानेमें तत्पर है—जिससे उनका परस्पर लड़भिड़कर नष्ट होना स्पष्ट दिखायी दे रहा है; और उधर ईसाई शासक जातियोंसे भयग्रस्त देश और पददलित प्रजा उनके भय और चङ्गुलसे छुटकारा पानेके लिये जीतोड़ उपाय कर रहे हैं। अन्तिम परिणाम यह दिखायी देता है कि ईसाइयोंका राज्य और civilization संस्कृति अधिक-से-अधिक सौ-पचास वर्षमें मटियामेट हो जायँगे—जैसा कि उन्हींके राजनीतिज्ञों Statesmen को निश्चितरूपसे भय है। ऐसे बड़े-बड़े अलौकिक शक्तिशाली साम्राज्य यदि कुल तीन चार सौ वर्ष ही टिके तो क्या टिके? यदि इनका मूल यह अमर्याद लिप्सा न होती, तो कम-से-कम हजार-दो-हजार वर्ष तो इनके टिकनेकी अवश्य सम्भावना रहती, जैसे कि इनसे कम civilized संस्कृतिसम्पन्न माने जानेवाले साम्राज्य टिके।

इस देशमें भी यदि आजकलकी भाँति कांग्रेस और किसान, मजदूर आदि प्रजाकी शक्ति बढ़ती रही, तो वे धन, अधिकार और भोगविलास जल्दी ही स्वप्न हो जायँगे।

परन्तु नीचे लिखे कारणोंसे इस श्रेणीके लोगोंका दोष तो बहुत कुछ हल्का हो जाता है—

१–वर्तमान शासनने परिस्थिति ही ऐसी कर रक्खी है कि संस्कृत अथवा देशभाषाओंकी शिक्षा तो प्रायः अर्थकरी रही नहीं जिससे अंग्रेजी पढ़ने और परिणामरूप अंग्रेजी संस्कार प्राप्त करनेके सिवा कोई गति ही नहीं है और यह रोग ऐसा सार्वलौकिक और सार्वदेशिक हो गया है कि परिस्थिति सम्पूर्ण-रूपसे बदले बिना उसका उपाय असम्भाव्य है। कम-से-कम यह तो स्पष्ट है कि इस श्रेणीके लोगोंके व्यवहारमें पाखण्ड तो नहीं है, अर्थात् ये ईश्वर, धर्म और कर्मफलपर प्रकटरूपपर श्रद्धा नहीं रखते और धनाधिकार, भोगलिप्सा इनका प्रकट सिद्धान्त हैं।

२–यह भी अंग्रेजी शिक्षाहीका फल है कि लोगोंकी इन विषयोंमें आँखें खुली हैं कि (१) राज्य प्रजाका है और उसको अपना शासन स्वयं करनेका जन्मसिद्ध अधिकार है, औरोंको उसपर शासन करनेका कोई अधिकार नहीं; (२) मनुष्यका मुख्य कर्तव्य तन मन धनसे स्वजाति और स्वदेशकी सेवा और रक्षा करना है और इनका अहितकर, अपना अर्थ साधन करनेका उसको कोई अधिकार नहीं है।

३–गान्धीजी-जैसे महात्माका तो क्या कहना है जो इस समयके सबसे बड़े पुरुष कहे जाते हैं, तथापि इस श्रेणीके लोगोंमें भी अनेक ऐसे महच्चरित्र पुरुष हुए हैं और हैं जिन्होंने अंग्रेजीके उत्कृष्ट विद्वान् होते हुए भी, स्वदेश और स्वजातिकी सेवाके पीछे धन, अधिकार और भोग-विलासकी लिप्साको तिलाञ्जलि दे दी है और प्रजामें जातीयताके भाव जगाये हैं। हमारा लक्ष्य तो इस श्रेणीके आपापन्थी समाजके प्रति है जिनकी संख्या इनकी अपेक्षा कहीं अधिक है।

(२)

अब हम दूसरी श्रेणीके लोगोंको लेते हैं । आर्यजातिके इतिहासपर स्वतन्त्ररूपपर विचार करनेसे हमको दृढ़ विश्वास है कि इस जातिका पतन और राज्यहरण केवल (१) अपूर्ण आध्यात्मिकता और तुच्छ सांसारिकता, (२) सदेशीयता और सजातीयताके भावोंका अभाव और (३) धर्म और व्यवहारमें भेददृष्टि—इन्हीं कारणोंसे हुआ है । मूल कारण केवल ये ही हैं । इन्हींकी शाखाप्रशाखाके रूपसे गौण कारण अनेक हैं जिनके विवेचन और विवरणका यहाँ प्रसङ्ग नहीं है—

यह सनातन वैदिक धर्मकी, और विशेषकर अद्वैत वेदान्तकी विलक्षणता और महिमा अवश्य है कि सम्पूर्ण और असन्दिग्धरूपसे ईश्वर और सृष्टिके तत्त्व और आत्मोद्धारके उपायोंको यह ऐसा बतलाता है कि उससे चकित और मोहित होकर सच्चा जिज्ञासु उसीका हो जाता है, क्योंकि इसके आनन्दके सामने संसारका साम्राज्य सुख भी कष्टमय और तुच्छ प्रतीत होता है । परन्तु कर्मभूमि मनुष्यलोक भी जीवकी संसारयात्रामें एक मुख्य पड़ाव अवश्य है, परमार्थके साथ व्यवहारका भी एक मुख्य स्थान है । पारमार्थिक दृष्टिके पीछे व्यवहारको सर्वथा भूल जाना एकाङ्गी आध्यात्मिकता है और यह अपूर्ण है । व्यावहारिक जगत्में भी पारदर्शिता होनी चाहिये और अपने पास कोई भी हितकी वस्तु हो, चाहे वह लौकिक, पारलौकिक अथवा मोक्षसम्बन्धी ही क्यों न हो, तो उसको उन-उनके अधिकारके अनुसार अपने भाइयोंमें प्रचार करना चाहिये ताकि वे सब उससे लाभ उठावें । अभिप्राय यह है कि यदि जाति और देशका एक-एक मनुष्य जाति और देशके हिताहितकी चिन्ता और उपाय न करेगा, तो उसका पतन अवश्य होगा और इसके फलस्वरूप धर्म, अध्यात्म और आध्यात्मिक पुरुष कुछ भी न बच सकेंगे । व्यवहार इतना उपेक्षाकी वस्तु होता तो परमेश्वर उसकी रचना ही क्यों करते और क्यों धर्मार्थकाम इन तीन पुरुषार्थोंका विधान करते ।

प्राचीन आर्य तो प्रायः अवश्य धर्मभीरु थे, परन्तु कुछ समयसे उनमें एक प्रबल कुसंस्कार उत्पन्न हो गया । वह है धर्म और व्यवहारमें भेदबुद्धि । अर्थात् श्रौत, स्मार्त्त, इष्टापूर्त्त, नित्य, नैमित्तिक, काम्य—जो कोई कर्म करते हैं सो इस लोक और परलोकके सुख भोगनेके स्वार्थसे करते हैं और व्यवहारमें जब कोई स्वार्थ, सङ्कोच, विवशता आदि अड़चनें आती हैं तो सत्यादि धर्मको (जिसको हम सार्ववर्णिक धर्म, लौकिक धर्म, गृहस्थधर्म और व्यावहारिक धर्म—किसी नामसे कह सकते हैं) अलग रख देते हैं । उनकी बुद्धि यह हो गयी कि धर्मके अवसरपर धर्म है और व्यवहारके अवसरपर व्यवहार है, अर्थात् यदि व्यवहारमें सत्यादि धर्म बाधा डाले तो उसकी उपेक्षा कर देनी चाहिये, क्योंकि अर्थ छोड़ा नहीं जा सकता और वह किसी भी प्रकार दूसरेके द्वारा साधन करना है । यदि पापके भयका विचार आया तो यों समाधान कर लिया कि ईश्वर जब हिसाब-किताब लेगा तो जमाकी ओर नामसे बड़ी रकम दिखा देनेके लिये, अधिक श्रौतादि कर्म करते ही हैं । यथार्थमें सत्यादि धर्मका पालन व्यवहारके अवसरके लिये तो है ही और ऐसे ही अवसरपर मनुष्यके सत्यादि धर्मकी परीक्षा भी होती है, न कि श्रौतादि कर्म और ईश्वरभजनके समय । शास्त्रकी दृष्टिमें ईश्वरकी उपासना और आत्मोद्धारसम्बन्धी धर्म और व्यावहारिक धर्म—दोनोंका मूल सिद्धान्त एक ही है, दो कदापि नहीं ।

इसी दोषसे आर्योंके ग्रन्थोंमें कणिक, चाणक्यादि नीतिकी ही प्रतिष्ठा बढ़ती गयी, और सत्यादि धर्मका पालन ढीला पड़ता चला गया । कहनेके लिये तो हिंस्र जन्तु, अनिष्टकारी और शत्रुओंतकके लिये सौहार्द है जैसा कि—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत् ॥

ऐसे वचनोंसे प्रकट है, परन्तु व्यवहारमें वह सौहार्द और भ्रातृभाव सजातीयों और सधर्मियोंके साथ नहीं है, किन्तु हिन्दुओंकी विशेषता तो यही है कि परायों और शत्रुओंके ही सहायक और मित्र रहते आये हैं । सत्य तो यह है कि हिन्दुओंके सिद्धान्त गम्भीर हैं क्योंकि वे धर्म और दर्शनोंके आधारपर बने हुए हैं परन्तु आजकल उनका पालन प्रायः नहीं होता । पाश्चात्य लोगोंके सिद्धान्त निर्मूल हैं क्योंकि ईश्वर अथवा कर्मफल उनके मूल नहीं, परन्तु पालन सब कुछ है । यही कारण है कि चाहे पाश्चात्यलोग राजनीतिमें परायी प्रजाके साथ कैसे ही अनर्थ करें—वह भी अपने देश और भाइयोंके हितके लिये करते हैं—परन्तु परस्पर (खानगी) व्यवहारमें बड़ी दृढ़ताके साथ सत्यादि धर्मका पालन करते हैं—जो कठिन तपस्या है—और इसी तपस्याके और स्वजाति और स्वदेशके हितके लिये जो वे तन, मन, धन और प्राणोंतकको

झोंक देते हैं—जो इससे भी बढ़कर दूसरी तपस्या है—इन्हींके फलसे वे भूमण्डलपर राज्य करते हैं—

'तपसा लभ्यते राज्यम्'

दूसरी श्रेणीके लोगोंमें यह गुण तो अवश्य देखा जाता है कि नित्य, नैमित्तिक, काम्य-कर्म, व्रत-उपवास, पाठ-पूजा और बाह्य शौचाचारमें लगेंगे तो बड़े नियम और कठिन तपस्याके साथ उसको निभायँगे; क्योंकि वे स्वार्थवश ही ऐसा करते हैं, उनकी इसमें दूसरी दृष्टि ही नहीं है। परन्तु व्यवहारका अवसर आवेगा तो सत्यादि धर्मको अवश्य ताकमें रख देंगे, अर्थात् दोनों लोकोंके भोग हथियानेके लिये दोनों घोड़ोंपर ज़ीन रखते हैं और समझते हैं कि ईश्वरके घरमें भी चापलूसी और घूस चलती है जो वह एक धर्मके पक्षपातसे दूसरे अधर्मको क्षमा कर देगा ! यह कुसंस्कार शताब्दियोंसे चला आ रहा है और बहुत ही दृढ़ हो गया है। जबसे अंग्रेजी शासनके समयकी धनाधिकारभोगलिप्सा प्रारम्भ हुई है तबसे तो करेला नीम चढ़ा हो गया है। स्वार्थके वशीभूत होकर वे दुनियाको ठगनेके लिये चाहे धर्म-धर्मकी दुहाई दिया करें और सत्पुरुषोंको गालियाँ देकर जीभको गन्दी किया करें, पर तनिक-तनिकसे स्वार्थके लिये, ईश्वर और कर्मफलका सब भय छोड़कर, एक दूसरेका गला काटते हैं जिसके मारे धर्मभीरुओंका निर्वाह ही कठिन हो रहा है। इसके संक्षेपमें दो प्रमाण ही बहुत हैं—

१—धन कमानेके व्यापारों और कारीगरियोंको लीजिये, मजदूरीके अतिरिक्त कोई भी काम चोरीसे खाली नहीं है।

२—बड़े-बड़े भयङ्कर पापोंका हाल देखना हो तो कचहरियोंमें जाइये अथवा समाचारपत्र पढ़िये। लोगोंको न दण्डका भय है,—क्योंकि शासकोंका कानून ही तो उनकी रक्षाकर, उनको पापमें प्रवृत्त करता है और कचहरियोंका काम दोनों पक्षोंके कच हरनेका रह गया है;—और न समाजकी निन्दाका भय है, क्योंकि समाजमात्र पापसे लथपथ है। यदि कोई धर्मभीरु उनको धिक्कार देगा तो उत्तर देंगे "दुनियामें कोई किसीका नहीं है" "अर्थ ही मुख्य है" "सब कुछ अर्थके लिये ही किया जाता है" "दुनियामें ऐसा ही होता आया है" और याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-संवादके "आत्मनस्तु कामाय…" आदिके अर्थका अनर्थ करके भी स्वार्थपरताकी ही पुष्टि करेंगे। यह दशा सामान्य और अशिक्षितलोगोंकी ही नहीं, किन्तु शास्त्रज्ञोंकी भी प्रायः समानरूपसे है जिसको हम आँखों देखे उदाहरणोंसे स्पष्ट करते हैं—

१—एक संस्कृतके पण्डित थे जो स्नान, सन्ध्यादि नित्य-कर्म करनेके अतिरिक्त, सदा अपने सामने श्रीमद्भागवत खुला रखते थे और वेदान्तका मनन किया करते थे परन्तु लेन-देनमें ऐसे कठोर थे जो एक बार उनसे ऋण ले लेता था उसका उनके चङ्गुलसे छूटना कठिन हो जाता था। ऐसे वह लखपती हो गये। वे बड़े धूर्त भी थे जिससे चालाक और दुष्ट लोग उनसे सलाह लेने आया करते थे। उन्होंने इतनी बड़ी उम्र पायी कि उनका बहुत कुछ कुटुम्ब उन्हींके सामने समाप्त हो गया।

२—एक साधारण संस्कृतज्ञ थे जो कट्टर बाह्यशौची और स्वयम्पाकी थे, घंटों नित्यकर्ममें लगाते थे, और भगवद्गीता, पञ्चदशी और एकादशोपनिषद् जीभपर रखते थे, परन्तु झूठ, दम्भ, विश्वासघात और प्रपञ्च विना उनका अन्न ही नहीं पचता था और व्यभिचारके विषयका वार्त्तालाप उनको अधिक भाता था जिसके पीछे उन्होंने सच्चरित्र स्त्रीको भी निकाल दिया था। वह निर्वंश मरे।

इन्हीं कारणोंसे हिन्दू अपने ही देशमें विदेशी, अकेला और अनाथ है जिसको सजातीय भक्षण करनेके लिये ही हैं। ऐसी दशामें दूसरे भी उसके साथ दुराचार करनेसे कैसे चूक सकते हैं ! इस प्रकार हिन्दुओंकी दशा "जिमि दसननमहँ जीभ बिचारी" हो जाना कुछ आश्चर्यकी बात नहीं है।

(३)

शास्त्रके प्रमाणोंसे

१

धन, अधिकार और भोगविलासको कौन नहीं चाहता है; धर्मकी मर्यादाके भीतर उसको चाहना और सम्पादन करना अनुचित भी नहीं है; और शास्त्रके सिद्धान्तसे धर्माचारीको वह स्वतः और अवश्य मिलता है—

सुखमैन्द्रियिकं दैत्या देहभोगेन देहिनाम् ।
सर्वत्र लभ्यते दैवाद्यथा दुःखमयत्नतः ॥
तत्प्रयासो न कर्त्तव्यो यत आयुर्व्ययः परम् ।

(प्रह्लाद दैत्योंसे भागवत ७ । ६ । ३-४)

'हे दैत्यो ! प्राणियोंको दुःखकी भाँति इन्द्रियोंका सुख भी यत्नके विना प्रारब्धसे देहभोगके साथ ही सब ठौर मिल जाता है । उसके लिये परिश्रम नहीं करना चाहिये, क्योंकि वह व्यर्थ उम्र खोना है ।'

उत्सवादुत्सवं यान्ति स्वर्गात्स्वर्गं सुखात्सुखम् ।
श्रद्दधानाश्च दान्ताश्च धनस्थाः शुभकारिणः ॥

(भीष्म युधिष्ठिरसे म० भा० शान्ति० ३२२ । ४)

'श्रद्धा और दम रखनेवाले, धनवान्, शुभकर्मीलोग उत्सवसे उत्सव, स्वर्गसे स्वर्ग और सुखसे सुख–बराबर अथवा बढ़-बढ़कर पाते हैं । परन्तु जब कि प्रत्येक मनुष्यके यही धुन लगी रहे कि मेरे जल्दीसे जल्दी, अधिकसे अधिक, स्थिर और चर सम्पत्ति हो जाय और मुझे और मेरे स्त्री-सन्तानोंको उत्तमसे उत्तम सांसारिक भोग मिले तो उसको मनुष्योंका नहीं, किन्तु असुरोंका युग कहना चाहिये । भगवान् व्यास पातञ्जलयोगसूत्र भाष्यमें कहते हैं—

नानुपहत्य भूतान्युपभोगः सम्भवति ।

'प्राणियोंकी हिंसा किये विना भोग नहीं हो सकता ।' और वे ही श्रीमद्भागवतमें कहते हैं—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत्स्वत्वं हि देहिनाम् ।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥

'जितनेसे पेट भर जाय उतना प्राणियोंका है । इससे अधिक जो अपना माने वह चोर और दण्डके योग्य है ।' पहले चरणका अर्थ हम 'जितनेसे सकुटुम्बका साधारण परिश्रमसे विना दुःख, साधारण सुखपूर्वक निर्वाह हो जाय उतना' ले सकते हैं ।

अति लोभी मनुष्यकी चित्तकी वृत्तियाँ ऐसी दुष्ट और नीच हो जाती हैं कि वह धनके लिये–जोकि अधिकार और भोग-विलास दोनोंका साधन है—झूठ, छल, विश्वासघात, चुगलखोरी, प्रपञ्च, चोरी, हिंसा आदि कोई भी महापाप कर सकता है और पाप ही उसकी जीविका हो जाती है, ईश्वर और पापफलका उसको कोई भय नहीं रहता, किन्तु इनका नाम लेनेवालोंका, अर्थमूढ, मानकर वह ठट्ठा करता है; और ऐसा मानमर्यादाशून्य हो जाता है कि चापलूसी, अपमान और स्त्रियोंके दूषित हो जानेकी भी उसको लज्जा नहीं रहती । दयाका वह नाम भी नहीं जानता । कदाचित् अपनी स्त्री और अङ्गज सन्तानको छोड़कर वह और किसीसे स्नेह, नाता और सम्बन्ध नहीं मानता, जाति और देशकी तो कथा ही क्या है ! उसकी दुनिया वह और कदाचित् उसका निजकुटुम्ब है । उसका ईश्वर रुपया और धर्म 'आपापन्थ' है ।

'लुब्धस्य न स्वः स्वजनोऽपि जन्तोः'

'अहो विभवलुब्धानां परसन्तापशीतलाः ।
स्वसुखायैव धावन्ति नृशंसचरिता धियः ॥'

(अवदानकल्पलता–मणिचूडावदान, तृतीय पल्लव)

'लोभी मनुष्यके अपना भी अपना नहीं है' 'आश्चर्यकी बात है कि वैभवके लोभी मनुष्योंकी क्रूर बुद्धियाँ दूसरेके कष्टसे सुखी होती हैं और अपने ही सुखके लिये दौड़ती हैं ।'

श्रीमद्भगवद्गीता (१६ । ७–२०) में भगवान् श्रीकृष्ण पहले ही ऐसी आसुरी प्रकृतिके लोगोंके मत, अन्तःकरणकी वृत्ति और उनकी अवश्यम्भाविनी दुर्गतिका वर्णन कर गये हैं ।

२

महाभारतके अनुसार नीचे लिखा लोकयात्राधर्म, गृहस्थधर्म अथवा व्यावहारिक धर्म है—

युधिष्ठिर—

किङ्कर्त्तव्यं मनुष्येण लोकयात्राहितार्थिना ।
कथं वै लोकयात्रान्तु किंशीलश्च समाचरेत् ॥

भीष्म—

कायेन त्रिविधं कर्म वाचा चापि चतुर्विधम् ।
मनसा त्रिविधञ्चैव दशकर्मपथाँस्त्यजेत् ॥

प्राणातिपातः स्तैन्यञ्च परदारानथापि च ।
त्रीणि पापानि कायेन सर्वतः परिवर्जयेत् ॥
असत्प्रलापं पारुष्यं पैशुन्यमनृतं तथा ।
चत्वारि वाचा राजेन्द्र न जल्पेन्नानुचिन्तयेत् ॥
अनभिध्या परस्वेषु सर्वसत्त्वेषु सौहृदम् ।
कर्मणां फलमस्तीति त्रिविधं मनसा चरेत् ॥
(अनुशासनपर्व १३ । १–५)

युधिष्ठिरका प्रश्न है कि मनुष्यलोकमें योग्य रीतिसे जीवनयापन करनेके लिये क्या आचरण अथवा व्यवहार करना चाहिये । भीष्मपितामहका उत्तर है कि शरीरसे हिंसा, चोरी और व्यभिचार–ये तीन न करे; वचनसे दुष्ट वा व्यर्थ बातचीत, कठोर वचन, चुगलखोरी और झूठ–ये चार न बोले; और मनसे दूसरेके धन अथवा वस्तुपर नीयत न करे, सब प्राणियोंपर सौहार्द रक्खे और कर्मोंका फल है यह श्रद्धा रक्खे ।

मनुस्मृतिमें भी थोड़े-से शब्दभेदसे इन्हीं दस लक्षणोंको व्यावहारिक अधर्म माना है—

परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम् ।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम् ॥
पारुष्यमनृतञ्चैव पैशुन्यञ्चापि सर्वशः ।
असम्बद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् ॥
अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः ।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥
(मनुस्मृति १२ । ५–७)

'वितथाभिनिवेश' का अर्थ परलोक नहीं है, और देह ही आत्मा है यह बुद्धि है । मनुस्मृति और श्रीमद्भागवतमें नीचे लिखा 'सार्ववर्णिक' (सब वर्णोंके करनेका) धर्म माना है—

'अहिंसा सत्यमस्तेयं त्यागमिन्द्रियनिग्रहः ।' मनुस्मृति

'अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, दान, इन्द्रियोंको वशमें रखना ।'

अहिंसा सत्यमस्तेयमकामक्रोधलोभता ।
भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः ॥
(श्रीकृष्ण उद्धवसे भागवत ११ । १७ । २१)

'अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, काम, क्रोध और लोभ न करना, प्राणियोंके प्रिय और हितका उपाय करना—यह सार्ववर्णिक धर्म है ।'

यदि इस व्यावहारिक धर्मका पालन करें तो स्वार्थी और लोभियोंकी दूकान एक दिन भी नहीं चल सकती ।

शास्त्रमें स्पष्ट शब्दोंमें लिख रक्खा है कि—

यमान्सेवेत सततं न नित्यं नियमान्बुधः ।
यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान्केवलान्भजन् ॥
(मनुस्मृति ४ । २०४)

'यमोंको पण्डित निरन्तर सेवन करे, नियमोंको चाहे नित्य सेवन न करे । जो केवल नियमोंको सेवन करता है और यमोंको नहीं करता उसका पतन होता है ।' यम और नियम नीचे लिखे अनुसार हैं—

ब्रह्मचर्यं दया क्षान्तिर्दानं सत्यमकल्कता ।
अहिंसास्तेयमाधुर्ये दमश्चेति यमाः स्मृताः ॥
स्नानं मौनोपवासेज्यास्वाध्यायोपस्थनिग्रहाः ।
नियमा गुरुशुश्रूषा शौचाक्रोधाप्रमादता ॥
(याज्ञवल्क्य–प्रायश्चित्ताध्याय प्रायश्चित्तप्रकरण ३१२-३१३)

'ब्रह्मचर्यव्रतधारण, दया, क्षमा, दान, सत्यभाषण, शठताका त्याग, अहिंसा, चोरीका त्याग, कोमल बर्ताव और मनोनिग्रह—ये यम कहलाते हैं । स्नान, मौन, उपवास, अग्निहोत्रादि करना, ब्रह्मयज्ञ (विधिपूर्वक वेदका अभ्यास) करना, उपस्थेन्द्रियका निग्रह, गुरुकी सेवा-शुश्रूषा, बाहर-भीतरकी शुद्धि, क्रोधका त्याग और प्रमाद (ग़फ़लत) का त्याग–ये नियम कहलाते हैं ।'

शौचके विषयमें भी मनु महाराजका यह कहना है—

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम् ।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः ॥
(मनुस्मृति ५ । १०६)

'सब शौचोंमें, अन्यायसे दूसरेके धन हरनेका त्यागरूपी शौच ही श्रेष्ठ है । जो इस प्रकार शुद्ध है वही शुद्ध है । जो मिट्टी और पानीसे तो शुद्ध है परन्तु अर्थाशुद्ध है वह अशुद्ध ही है ।'

इसलिये सत्यादि यम जो व्यवहारके मूल सिद्धान्त हैं वे मुख्य और बाह्य शौचादि नियम गौण हैं। परन्तु यमोंमें तो अनुचित अर्थका त्याग आवश्यक होता है और नियमोंमें अर्थ-त्यागका कोई काम नहीं। सिवा इस लोक और परलोकके सुख और धन-सम्पत्ति मिलती है और दुनियाको ठगनेमें भी धोखेकी टट्टीके तौरपर ये अच्छा काम देते हैं। इसलिये स्वार्थी और लोभीलोग दूसरोंका तो पालन करते हैं, परन्तु पहलोंका नहीं, यद्यपि उनका पतन श्लोकमें स्पष्ट है। इसीलिये शास्त्रमें यह भी लिखा है कि—

अग्निहोत्रञ्च वेदाश्च राक्षसानां गृहे गृहे।
दया सत्यञ्च शौचञ्च राक्षसानां न विद्यते॥

इसलिये जो लोग व्यवहारमें सत्यादि धर्मका पालन नहीं करते हैं वे अवश्य धर्मके विरुद्ध महापाप करते हैं, जिसको ईश्वर सृष्टिकी व्यवस्था और प्रतिष्ठाके लिये कभी सहन नहीं कर सकता और उनको, कभी-न-कभी, इस लोक अथवा परलोकमें, घोर दण्ड दिये विना नहीं रह सकता।

परन्तु पापीलोग पापियोंको फलते-फूलते देखकर समझते हैं कि धर्म और पापका दण्ड केवल विभीषिका है जिसके पीछे येन केन प्रकारेण अधिक-से-अधिक स्वार्थसाधन और द्रव्योपार्जनमें पीछा देना मूर्खता है। उनको स्मरण रखना चाहिये कि जैसे पाप सञ्चित रहते हैं वैसे पुण्य भी सञ्चित रहते हैं और पापीलोग जो इस समय फल-फूल रहे हैं यह भी उनके सञ्चित पुण्योंका ही फल है, परन्तु यथार्थमें वे दोहरी हानि उठा रहे हैं, अर्थात् धनादिदायक पुण्योंको भी अतिपरिमाणमें भोगकर अतिपरिमाणमें क्षीण कर रहे हैं और भविष्यत्‌में पुण्यहीन होकर, जन्म-जन्मान्तर, धन विना तरसने आदिके महाकष्ट भोगनेके लिये पापोंके पहाड़ भी अपने ऊपर लाद रहे हैं। यदि इसमें सन्देह हो तो मनु महाराजके नीचे लिखे श्लोक पढ़ें—

अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम्।
हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते॥
न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत्।
अधार्मिकाणां पापानामाशु पश्यन्विपर्ययम्॥
नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव।
शनैरावर्त्यमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति॥
यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत्पुत्रेषु नप्तृषु।
न त्वेव तु कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः॥
अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति॥

(मनुस्मृति ४। १७०–१७४)

'जो मनुष्य अधर्मसे व्यवहार करता है, झूठसे ही धन कमाता है और नित्य परहिंसा करता है वह इस लोकमें सुख नहीं पाता। धर्मात्मा मनुष्य धनादि विना कष्ट पाता हुआ भी, यह देखकर, अधर्ममें चित्त न लगावे कि अधर्मी पापियोंकि धनको जाते भी देर नहीं लगती। अधर्म किया हुआ, बैल अथवा गायकी तरह, नहीं फलता कि इधर नोया अथवा दुहा कि फल मिल गया, किन्तु पृथ्वी अर्थात् खेतीकी तरह देरमें फलता है। ('गौ' इस शब्दमें श्लेष है) परन्तु क्रमसे फलोन्मुख होता हुआ अधर्मीको जड़-मूलसे काट देता है। यदि अधर्मी स्वयं फल नहीं भोगेगा तो उसके बेटे अथवा पोते भोगेंगे-जिसका कष्ट भी उसीको होगा, परन्तु कर्ताके लिये अधर्म किया हुआ निष्फल नहीं जाता। अधर्मी पहले तो स्थिर-चर सम्पत्ति प्राप्त करता है, उससे फिर सुखकी सामग्री इकट्ठी करता है और उसके अनन्तर अपने शत्रुओंपर विजय पाता है, परन्तु अधर्मके परिपाक होनेपर जड़-मूलसे अर्थात् शरीर, धन, सन्तानसहित नष्ट हो जाता है।'

२

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम्॥
यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम्।
हित्वार्चां भजते मौढ्याद्भस्मन्येव जुहोति सः॥
द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः।
भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति॥
अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयानघे।
नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूतग्रामावमानिनः॥
अर्चादावर्चयेत्तावदीश्वरं मां स्वकर्मकृत्।
यावन्न वेद स्वहृदि सर्वभूतेष्ववस्थितम्॥
आत्मनश्च परस्यापि यः करोत्यन्तरोदरम्।
तस्य भिन्नदृशो मृत्युर्विदधे भयमुल्बणम्॥
अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम्।
अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा॥

(कपिलदेवहूतिसंवाद—भागवत ३। २९। २१–२७)

भगवान् कपिल अपनी माता देवहूतिसे कहते हैं कि 'मैं सब प्राणियोंमें सदा रहता हूँ और उनका आत्मा हूँ; उनमें मेरी दृष्टि न कर जो देहात्मदर्शी मनुष्य केवल मेरी प्रतिमाकी पूजा करता

है वह व्यर्थ ही ऐसा करता है। सब प्राणियोंमें प्रत्यगात्मा और अन्तर्यामी ईश्वररूपसे विद्यमान मेरी उपेक्षा कर जो पुरुष मूर्खता-से केवल मेरी प्रतिमाकी सेवा करता है उसकी वह सेवा भस्ममें होम करनेके समान व्यर्थ है। दूसरेके शरीरमें रहनेवाले मुझसे द्वेष करते हुए, देहाद्यात्ममानी और भेददर्शी तथा प्राणियोंमें बद्धवैर पुरुषका मन शान्ति नहीं पाता। जो प्राणियोंकी निन्दा करता है वह चाहे कैसे भी द्रव्योंसे सम्पादित की हुई सामग्रीसे मेरी प्रतिमाकी पूजा करे, मैं उससे प्रसन्न नहीं होता। जबतक सब प्राणियोंमें स्थित मुझ सर्वनियन्ताका ज्ञान अपने हृदयमें न हो जाय, तबतक अपने-अपने वर्ण और आश्रमके आचारके अनुसार प्राप्त हुए कर्मको करता हुआ यथावकाश मेरी प्रतिमाकी भी पूजा करे। जो अपने और परायेमें थोड़ा-सा भी भेद करता है, अथवा उनमें शरीरकृत भेद देखता है अथवा अपना ही पेट भरता है--औरोंको कुछ नहीं देता--ऐसे भिन्नदर्शी पुरुषको मैं मृत्युरूपसे दुःसह संसारभय करता हूँ। इसलिये सब प्राणियोंमें रहनेवाले सर्वान्तर्यामी मेरी दान-मान और मैत्रीसे, समदृष्टि और सदात्मकबुद्धिपूर्वक पूजा करे।'

प्राणिमात्रसे सजातीय भी बाहर नहीं हैं, इसलिये श्लोकोंका यह अर्थ भी नहीं हो सकता कि सजातीयोंका तो अहित ही किया जाय, हित नहीं; किन्तु जबतक दुर्दशाग्रस्त भाइयोंका पूरा-पूरा उद्धार न कर लिया जाय, तबतक अन्य प्राणियोंके हिताहितका प्रसङ्ग स्वभावतः नहीं आ सकता। लेखका विषय भी व्यावहारिक धर्म है, मोक्षधर्म नहीं कि भेददृष्टिके आक्षेपका प्रसङ्ग हो। परन्तु शास्त्रमें ऐसे वचनोंकी भी कमी नहीं है जिनमें स्पष्ट रूपसे व्यक्तिकी अपेक्षा जाति और देशका हिताहित मुख्य माना गया है और विधान किया गया है, जैसे--

> **धर्मव्युच्छित्तिमिच्छन्तो येऽधर्मस्य प्रवर्त्तकाः।**
> **हन्तव्यास्ते दुरात्मानो देवैर्दैत्या इवोल्बणाः॥**
> **एकं हत्वा यदि कुले शिष्टानां स्यादनामयम्।**
> **कुलं हत्वा च राष्ट्रे च न तद्वृत्तो(धर्म)पघातकम्॥**
>
> (व्यास युधिष्ठिरसे म० भारत शान्ति० ३३ । ३०-३१)

'जो धर्मका उच्छेद चाहकर अधर्मको फैलानेवाले हैं वे दुष्ट उसी प्रकार मार डालने योग्य हैं जैसे देवताओंसे क्रूर दैत्य मार डाले जाते हैं। एकको मारनेसे यदि कुलके बाकी मनुष्योंका कुशल हो, और कुलको मारनेसे यदि देशका कुशल होता हो, तो उससे सदा धर्मकी हानि नहीं होती।'

इससे सिद्ध है कि स्वार्थपरता सब पापोंका मूल है और स्वार्थपर मनुष्यके सब धर्म-कर्म व्यर्थ हैं, क्योंकि उनका मूल ही दुष्ट है; स्वजाति और स्वदेशका हित करना और अहित न करना प्रत्येक मनुष्यका आवश्यक कर्त्तव्य और धर्म है और जो स्वार्थके पीछे इनका अहित करता है वह महापापी है।

(४)

यह लेख हमने केवल धर्म और लोकयात्राकी सुख, दुःखकी दृष्टिसे, तर्क और शास्त्रके आधारपर लिखा है--राजनैतिक दृष्टिसे नहीं--यद्यपि स्थितिके स्वरूपको स्पष्ट करनेके लिये जो कुछ लिखा गया है उसमें यदि कहीं राजनीतिकी गन्ध आवे तो उसमें हमारा न कोई वश है और न अपराध है। किन्तु सत्यके नाते हमको यहाँतक कह देनेका अधिकार है कि वर्तमान परिस्थितिके कारण (१) ईश्वर और कर्मफलकी सत्तामें अश्रद्धा, (२) लोभ और स्वार्थपरताका प्रचार और (३) वर्तमान कानून हैं और ये ऐसे सर्वव्यापी हो गये हैं कि परिस्थितिको बदलने-का उपाय स्वराज्यके सिवा और कोई नहीं है।

हमारा मत यह है कि कर्मभूमिमें धर्मका प्रारम्भ और मूल व्यावहारिक धर्म है और अन्त मोक्षधर्म है और यदि व्यावहारिक धर्म अशुद्ध और दुष्ट है तो आगे अधिकार ही नहीं चलता और अन्ततक अशुद्ध, दुष्ट और निष्फल है। इसलिये हम 'कल्याण' के सामान्य पाठकोंको सावधान कर देना चाहते हैं कि (१) अपनेको इसके लौकिक उपदेशपर चलनेके अधिकारी समझनेके पहले अन्तर्दृष्टि (introspection) से अपने चरित्रकी भी परीक्षा कर लिया करें कि वे व्यवहारमें सत्यादि धर्मको कहाँतक निभाते हैं; (२) प्रतिदिन स्वार्थ-परताको घटाते रहनेका अभ्यास किया करें, कम-से-कम यह तो चिन्ता रक्खें कि अपने भाइयोंको कष्ट अथवा हानि पहुँचाये बिना स्वार्थ साधन करें; और (३) यदि उनके अन्तःकरणकी वृत्ति स्वार्थके दायरेके बाहर जा सके तो उसके पहले पात्र और अधिकारी स्वजाति और स्वदेश ही हैं। इससे मर्यादाके भीतर लौकिक सुख और आत्मोद्धार दोनों पुरुषार्थ सिद्ध हो सकते हैं और इन सिद्धान्तोंके पालन बिना हिन्दूजाति और देशके ही नहीं, किन्तु धर्मके भी उद्धारकी आशा नहीं है।

भगवतरसिकजीकी कुछ कुण्डलिया

(१)

देहीकौं देखै नहीं जो देखै सो देह।
तीन भाँति हो जाति सो बिष्टा कृमि कै खेह॥
बिष्टा कृमि कै खेह ग्रेह मल-मूत्र म्यान कौं।
तौल नहीं तरवारि मोल सब करत म्यानकौं॥
सारासार विचार नहीं श्रुति संमृति तेही।
तिनहिं न भगवत मिलै देह मानत जे देही॥

(२)

जासौं सपरस चाहिये तासौं अपरस नित्त।
जासौं अपरस चाहिये तासौं चिभुकौ चित्त॥
तासौं चिभुकौ चित्त भई बिपरीत बुद्धि अब।
असन बसन आचार कनक कामिनि राचे सब॥
भगवतरसिक अनन्य करै असपरधा तासौं।
पतित होइ गिरि परै परम पदहू ते जासौं॥

(३)

परमेसुर परतीति नहिं पैसनकी परतीति।
बिनु भगवत भवनिधि परे ग्रेही कहा अतीति॥
ग्रेही कहा अतीति स्याम-सरबस धन भूले।
कनक-कामिनी देखि रहे निस-बासर फूले॥
दिन द्वै प्रभुता पाइ कहैं हमहीं सरबेसुर।
महामोह मद पियें जियें कैसें परमेसुर॥

(४)

पैसा पापी साधुको परस लगावै पाप।
बिमुख करै गुरु इष्ट तैं उपजावै संताप॥
उपजावै संताप ग्यान-बैराग्य बिगारै।
काम-क्रोध-मद-लोभ-मोह-मत्सरै सिंगारै॥
सब द्रोहिन मैं सिरै भक्तिद्रोही नहिं ऐसा।
भगवतरसिक अनन्य भूलि जिनि परसौ पैसा॥

(५)

बिष्टाकौं सूकर लरै भिरै बवनकौं स्वान।
ऐसेहि लोभी दामकौं कामी जुवती ज्वान॥
कामी जुवती ज्वान जगतमें गुरुपद जाकौ।
परै पढ़ेपर धूरि बिमुख धन जोरै ताकौ॥
परमारथको पीठि दीठि बिवहार-प्रतिष्टा।
भगवतजन तजि भजौ बड़ाई सूकर बिष्टा॥

(६)

चरचाको सब जग फिरै बस्तु न चरचै कोइ।
हार-जीत अटके सबै तन-धन-जोबन जोइ॥
तन-धन-जोबन जोइ भये गुरु मानी डोलैं।
परकी सुनैं न बात आपनी गढ़ि गढ़ि छोलैं॥
भगवतरसिक अनन्य कियौ नहिं तिनसौं परचा।
लरैं बृषभ लौं दौरि पौरि पर तजैं न चरचा॥

(७)

आये सँग नहिं सँग गये मगमैं भयो मिलाप।
मोह फाँस जग बँधि रह्यो बिछुरे करत बिलाप॥
बिछुरे करत बिलाप मानि सुत,पति,पितु,माता।
ससुर,जमाई,जुवति,सुहृद,गुरु,सिष,धन,भ्राता॥
निज अनुभवकी भूलि भ्रमैं भगवत भरमाये।
को हम कहाँको जात कहाँ तैं किहि लगि आये॥

(८)

मायाकौं सब जग भजै माधौ भजै न कोइ।
जौ कदाच माधौ भजै माया चेरी होइ॥
माया चेरी होइ रहै चरनन लपटानी।
ज्यौं मलयजके संग सहज सौरभ सुखदानी॥
भगवतरसिक अनन्य होइ सतगुरुकी दाया।
माधव सौं मन लगै मोह-मद छूटैं माया॥

रानी रत्नावतीजी

आँबेरके प्रसिद्ध महाराजा मानसिंहजीके छोटे भाईका नाम राजा माधोसिंह था । इनकी पत्नीका नाम था रत्नावती । रत्नावतीका वदन जैसा सुन्दर था, वैसा ही उनका मन भी सद्‌गुण और सद्विचारोंसे सुसज्जित था । पतिचरणोंमें उनका बड़ा प्रेम था । स्वभाव इतना मधुर और पवित्र था कि जो कोई उनसे बात करता वही उनके प्रति श्रद्धा करने लगता । महलकी दासियाँ तो उनके सद्व्यवहारसे मुग्ध होकर उन्हें साक्षात् जननी समझतीं । रत्नावतीजीके महलमें एक दासी बड़ी ही भक्तिमती थी । रानी रत्नावतीने एकान्तमें कई बार देखा—भगवान् श्रीकृष्णकी मूर्ति उसके सामने विराजमान है, वह बड़े प्रेमसे कुछ गुनगुना रही है, शरीर रोमाञ्चित है, आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह रही है, लंबे साँस चल रहे हैं और वह सिसक-सिसककर रो रही है । कभी-कभी उसको इसी अवस्थामें बेहोश हो जाते देखा । वह मामूली दासी थी; परन्तु भगवान्‌के दरबारमें तो रानी-दासीका भेद नहीं है, उसका दरवाजा तो सबके लिये खुल जाता है । जो कोई भी भगवत्प्रेमकी एकान्त लालसा करता है, वही उसे पाता है; भगवान् यह नहीं जानना चाहते कि यह कौन है, किस जातिका है और क्या करता है । वे तो केवल उसके हृदयकी निर्मलता, अनन्यता और सच्ची लगन देखते हैं; फिर उसे प्रेमदान करनेमें विलम्ब नहीं करते—उससे साक्षात् मिलकर उसे अपनी लोकपावनी लीलामें शामिल करनेमें भी सङ्कोच नहीं करते । रत्नावतीजीकी वह भाग्यवती पुण्यशीला दासी भी ऐसी ही भगवान्‌की एक पवित्र प्रेमिका थी । अखिलरसामृतसिन्धु भगवान् उसके सामने भाँति-भाँतिकी लीला करके उसे आनन्द-समुद्रमें डुबाये रखते थे । रानीका हृदय उसकी ओर खिंचा । वह बार-बार उसकी इस लोकोत्तर अवस्थाको देखनेकी चेष्टा करती, देखते-देखते रानीके मनमें भी प्रेम उत्पन्न होने लगा । हमारे शरीरके अंदर हृदयमें जिस प्रकारके विचारोंके परमाणु भरे रहते हैं, उसी प्रकारके परमाणु स्वाभाविक ही हमारे रोम-रोमसे सदा बाहर निकलते रहते हैं । पापी विचारवाले मनुष्योंके शरीरसे पापके परमाणु, पुण्यात्माके शरीरसे पुण्यके, ज्ञानियोंके शरीरसे ज्ञानके और प्रेमी भक्तोंके शरीरसे प्रेमके । ये परमाणु अपनी शक्तिके तारतम्यके अनुसार अनुकूल अथवा प्रतिकूल वायुमण्डलके अनुरूप बाहर फैलते हैं और उस वातावरणमें जो कुछ भी होता है, सबपर अपना असर डालते हैं । यह नियमकी बात है । और जिनके अंदर जो भाव-परमाणु अधिक मात्रामें और अधिक घने होते हैं उनके अंदरसे अधिक निकलते हैं और वे अधिक प्रभावशाली होते हैं । उस प्रेममयी दासीका हृदय पवित्र प्रेमसे भरा था । भरा ही नहीं था, उसमें प्रेमकी बाढ़ आ गयी थी । प्रेम उसमें समाता नहीं था । बरबस बाहर निकला जाता था । उस प्रेमने रानीपर अपना प्रभाव जमाया । एक दिन दासीके

मुँहसे बड़ी ही व्याकुलतासे भरे 'हे नवलकिशोर ! हे नन्दनन्दन ! हे व्रजचन्द्र !' की पुकार सुनकर रानी भी व्याकुल हो गयीं । उन्हें इस दुर्लभ दशाको पाकर बड़ा ही आनन्द मिला ।

अब तो रानी उस दासीके पीछे पड़ गयी और उसे बारंबार पूछने लगी कि बता, तुझे यह प्रेम कैसे प्राप्त हुआ ? भगवान्‌के नाममें इतना माधुर्य तुझने कैसे भर दिया ? अहा, कितना जादू है उन नामोंमें ! मैं तेरे मुँहसे जब 'हा नन्दनन्दन !' 'हा व्रजचन्द्र !' सुनती हूँ तो देहकी सुधि भूल जाती हूँ, मेरा हृदय बरबस उन मधुर नामोंकी ओर खिंच जाता है और आँखोंसे आँसू निकल पड़ते हैं । बता, बता, मुझको यह माधुरी निरन्तर कैसे मिलेगी, मैं कैसे उनकी मोहिनी मूर्ति देख सकूँगी, जिनके नामोंमें इतना आकर्षण है, इतना माधुर्य है और इतना रस भरा हुआ है ? बता, मैं उन्हें कैसे देख पाऊँगी ? और कैसे उनकी मधुर मुरली सुन सकूँगी ? मुझे भगवान्‌के प्रेमका वह रहस्य बतला, जिसमें तू निरन्तर डूबी रहती है और जिसके एक कणका दूरसे दर्शन करके ही मेरी ऐसी दशा हो चली है ।

दासीने पहले-पहले तो टालनेकी कोशिश की; परन्तु जब रानी बहुत पीछे पड़ीं, तब एक दिन उसने कहा 'महारानीजी ! आप यह बात मुझसे न पूछिये । आप राजमहलके सुखोंको भोगिये । क्यों व्यर्थ इस मार्गमें आकर दुःखोंको निमन्त्रण देकर बुलाती हैं ? यह रास्ता काँटोंसे भरा है । इसमें कहीं सुखका नामोनिशान नहीं है । पद-पदपर लहूलुहान होना पड़ता है, तब कहीं इसके समीप पहुँचा जा सकता है । पहुँचनेपर तो अलौकिक आनन्द मिलता है, परन्तु मार्गकी कठिनाइयाँ इतनी भयानक हैं कि उनको सुनकर ही दिल दहल जाता है । रात-दिन हृदयमें भट्ठी जली रहती है, आँसुओंकी धारा बहती है; परन्तु वह इस आगको बुझाती नहीं, घी बनकर इसे और भी उभाड़ती है । सिसकना और सिर पीटना तो नित्यका काम होता है । आप राजरानी हैं । भोग-सुखोंमें पली-पोसी हैं, यह पंथ तो विषय-विरागियोंका है जो संसारके सारे भोग-सुखोंसे नाता तोड़ चुके हैं या तोड़नेको तैयार हैं । और कहीं यदि मोहनकी तनिक-सी माधुरी देखनेको मिल गयी, फिर तो सर्वस्व ही हाथसे चला जायगा । इसलिये न तो यह सब पूछिये और न उस ओर ताकिये ही--

हेरत बारहिं बार उतै किन बावरी बाल कहा धौं करैगी ।
जो कबहूँ रसखानि लखै फिरि क्योंहु न बीर री धीर धरैगी ॥
मानिहै काहूकी कानि नहीं जब रूप ठगी हरि-रंग ढरैगी ।
याते कहूँ सिख मानि भटू यह हेरनि तेरेइ पैंडे परैगी ॥

प्रीतिकी रीति अनीति है प्रीति करौ जिनि कोइ ।
सुख-दीपक कैसे बरै बिरहनाग जहँ होइ ॥
विद्या आदर लच्छमी और ग्यान गुन गर्ब ।
प्रेम-पौरि पग धरन हीं गये ततच्छन सर्ब ॥
नेह नेह सब कोउ कहै नेह करौ मति कोइ ।
मिलें दुखी बिछुरें दुखी नेही सुखी न होइ ॥
नेह स्वर्गमें ऊतरयो भूपर कीनों गौन ।
गली-गली ढूँढत फिरै बिन सिरको धर कौन ॥
प्रेम कठिन संसारमें ना कीजै जगदीस ।
जो कीजै तौ दीजिये तन मन धन अरु सीस ॥
नारायन घाटी कठिन जहाँ प्रेमको धाम ।
बिकल मूरछा सिसकिबो ये मगके बिश्राम ॥
प्रेम सरोवर यह अगम यहाँ न आवत कोइ ।
आवन मो फिरि जात नहिं रहत यहींको होइ ॥

यह सब सुनकर रानी रत्नावतीकी उत्कण्ठा और भी बढ़ गयी । वे बड़े आग्रहसे श्रीकृष्णप्रेमका रहस्य पूछने लगीं । आखिर, उनके मनमें भोग-वैराग्य देखकर तथा उन्हें अधिकारी जानकर कृष्णप्रेममें डूबी हुई दासीने उन्हें श्रीकृष्ण-प्रेमका दुर्लभ उपदेश किया ।

अब तो दासी रानीकी गुरु हो गयी, रानी गुरु-

बुद्धिसे उसका आदर-सत्कार करने लगी । विलासभवन भगवान्‌का लीला-भवन बन गया । दिन-रात हरिचर्चा और उनकी अनूप रूपमाधुरीका बखान होने लगा । सत्संगका प्रभाव होता ही है, फिर सच्चे भगवत्प्रेमियोंके संगका तो कहना ही क्या है ? रानीका मन-मधुकर श्यामसुन्दर व्रजनन्दनके मुखकमलके मकरन्दका पान करनेके लिये छटपटा उठा । वे रोकर दासीसे कहने लगीं—

'कछुक उपाय कीजै, मोहन दिखाय दीजै,
तबही तो जीजै वे तो आनि उर अरे हैं !'

'कुछ उपाय करो, मुझे मोहनके दर्शन कराओ, तभी यह जीवन रहेगा। अहा ! मेरे हृदयमें आकर अड़ गये हैं ।'

दासीने कहा—

'दरसन दूर राज छोड़ें लोटें धूर पैन
पावैं छबि पूर एक प्रेम बस करें हैं ।'

'महारानी, दर्शन सहज नहीं है, जो लोग राज छोड़कर धूलमें लुट पड़ते हैं तथा अनेकों उपाय करते हैं, वे भी उस रूपमाधुरीके दर्शन नहीं पाते । हाँ, उन्हें वशमें करनेका एक उपाय है—वह है प्रेम । आप चाहें तो प्रेमसे उन्हें अपने वश कर सकती हैं ।'

रानीके मनमें जँच गया था कि भगवान्‌से बढ़कर मूल्यवान् वस्तु और कुछ भी नहीं है । इस लोक और परलोकका सब कुछ देनेपर यदि भगवान् मिल जायँ तो बहुत सस्ते ही मिलते हैं । जिसके मनमें यह निश्चय हो जाता है कि श्रीहरि अमूल्य निधि हैं और वे ही मेरे परम प्रियतम हैं, वह उनके लिये कौन-से त्यागको बड़ी बात समझता है । वह तन-मन, भोग-मोक्ष, सब कुछ समर्पण करके भी यही समझता है कि मेरे पास देनेको है ही क्या । और वास्तवमें बात भी ऐसी ही है । भगवान् तन-मन, साधन-प्रयत्न या भोग-मोक्षके बदलेमें थोड़े ही मिल सकते हैं । वे तो कृपा करके ही अपने दर्शन देते हैं और कृपाका अनुभव उन्हींको होता है जो संसारके भोगोंको तुच्छ समझकर केवल उन्हींसे प्रेम करना चाहते हैं । रानी रत्नावतीके मनमें यह प्रेमका भाव कुछ-कुछ जग उठा । उन्होंने दासी-गुरुकी अनुमतिके अनुसार नीलमका एक सुन्दर विग्रह बनाकर तन-मन-धनसे उसकी सेवा आरम्भ की । वे अब जाग्रत्, स्वप्न दोनों ही स्थितियोंमें भगवत्प्रेमका अपूर्व आनन्द लूटने लगीं । राजरानी भोगसे मुँह मोड़कर भगवत्प्रेमके पावन पथपर चल पड़ीं । एकके साथ दूसरी सजातीय वस्तु आप ही आती है । भजनके साथ-साथ संत-समागम भी होने लगा । सहज कृपालु महात्मा लोग भी कभी-कभी दर्शन देने लगे ।

एक बार एक पहुँचे हुए प्रेमी महात्मा पधारे । वैराग्यकी मूर्ति थे और भगवत्प्रेममें झूम रहे थे । रानीके मनमें आया, मेरा रानीपन सत्संगमें बड़ा बाधक हो रहा है । परन्तु यह रानीपन है तो आरोपित ही न ? यह मेरा स्वरूप तो है ही नहीं, फिर इसे मैं पकड़े रहूँ और अपने मार्गमें एक बड़ी बाधा रहने दूँ ? उन्होंने दासी-गुरुसे पूछा—

'पूछी वा खवासीसों जु 'रानी' कौन अंग जाके
इतनी अटक संग-भंग दुख भारिये ।'

'भला, बताओ तो मेरे इन अंगोंमें कौन-सा अंग रानी है जिसके कारण मुझे सत्संगके महान् सुखसे विमुख रहना पड़ता है ?' दासीने मुस्करा दिया । रानीने आज पद-मर्यादाका बाँध तोड़ दिया । दासीने रोका—परन्तु वह नहीं मानी । जाकर महात्माके दर्शन किये और सत्संगसे लाभ उठाया ।

राजपरिवारमें चर्चा होने लगी । रत्नावतीजीके स्वामी राजा माधोसिंह दिल्ली थे । मन्त्रियोंने उन्हें पत्र लिखा

कि 'रानी कुलकी लज्जा-मर्यादा छोड़कर मोडोंकी* भीड़में जा बैठी है।' पत्र माधोसिंहके पास पहुँचा। पढ़ते ही उनके तन-तनमें आग-सी लग गयी। आँखें लाल हो गयीं। शरीर क्रोधसे काँपने लगा। दैवयोगसे रत्नावती-जीके गर्भसे उत्पन्न राजा माधोसिंहका पुत्र कुँअर प्रेमसिंह वहाँ आ पहुँचा और उसने पिताके चरणोंमें सिर टेककर प्रणाम किया। प्रेमसिंहपर भी माताका कुछ असर था। उसके ललाटपर तिलक और गलेमें तुलसीकी माला शोभा पा रही थी। एक तो राजाको क्रोध हो ही रहा था, फिर पुत्रको इस प्रकारके वेशमें देखकर तो उनको बहुत ही क्षोभ हुआ। राजाने अवज्ञाभरे शब्दोंमें तिरस्कार करते हुए कहा, 'आव मोडीका', 'साधुनीके लड़के आ।' पिताकी भाव-भंगी देखकर और उनकी तिरस्कारयुक्त वाणी सुनकर राजकुमार बहुत ही दुखी हुआ और चुपचाप वहाँसे चला गया।

लोगोंसे पूछनेपर पिताकी नाराजीका प्रेमसिंहको पता लगा। प्रेमसिंह संस्कारी बालक था। उसके हृदयमें पूर्वजन्मके भक्तिके भाव थे और थी माताकी शिक्षा। उसने विचारा—'पिताजीने बहुत उत्तम आशीर्वाद दिया, जो मुझे 'मोडीका लड़का' कहा। अब तो मैं सचमुच मोडीका लड़का मोडा (साधु) ही बनूँगा।' यह सोचकर वह माताकी भक्तिपूर्ण भावनापर बड़ा ही प्रसन्न हुआ। और उसी क्षण उसने माताको पत्र लिखा—

'माताजी! तुम धन्य हो जो तुम्हारे हृदयमें भगवान्‌की भक्ति जाग्रत् हुई है और तुम्हारा मन भगवान्‌की ओर लगा है। भगवान्‌की बड़ी कृपासे ही ऐसा होता है। अब तो इस भक्तिको सर्वथा सच्ची भक्ति बनाकर ही छोड़ो। प्राण चले जायँ पर टेक न जाय। पिताजीने आज मुझे 'मोडीका लड़का' कहा है। अतएव अब मैं सचमुच मोडीका पुत्र बनना और रहना चाहता हूँ। देखो, मेरी यह प्रार्थना व्यर्थ न जाय।'

पत्र पढ़ते ही रानीको प्रेमावेश हो गया। अहा, सच्चा पुत्र तो वही है जो अपनी माताको श्रीभगवान्‌की ओर जानेके लिये प्रेरणा करता है और उसमें उत्साह भरता है! वे प्रेमके पथपर तो चढ़ ही चुकी थीं। आजसे राजवेश छोड़ दिया, राजसी गहने-कपड़े उतार दिये, इत्र-फुलेलका त्याग कर दिया और सादी पोशाकमें रहकर भजन-कीर्तन करने लगीं। पुत्रको लिख दिया—'भई मोडी आज, तुम हित करि जाँचिये।' 'मैं आज सचमुच मोडी हो गयी हूँ, प्रेमसे आकर जाँच लो।'

कुँअर प्रेमसिंहको पत्र मिलते ही वह आनन्दसे नाच उठा। बात राजा माधोसिंहतक पहुँची, उन्हें बड़ा क्षोभ हुआ और वे पुत्रको मारनेके लिये तैयार हो गया। मन्त्रियोंने माधोसिंहको बहुत समझाया परन्तु वह नहीं माना। इधर प्रेमसिंहको भी कुछ क्षोभ हो गया। आखिर लोगोंने दोनोंको समझा-बुझाकर शान्त किया। परन्तु राजा माधोसिंहके मनमें रानीके प्रति जो क्रोध था, वह शान्त नहीं हुआ। वे रानीको मार डालनेके विचारसे रातको ही दिल्लीसे चल दिये। वे आँवेर पहुँचे और लोगोंसे मिले। लोगोंने रानीकी बातें सुनायीं। रानीके विरोधियोंने कुछ बढ़ाकर कहा जिससे माधोसिंहका क्षोभ और भी बढ़ गया।

कई कुचक्रियोंसे मिलकर माधोसिंह रानीको मारनेकी तरकीब सोचने लगे। आखिर षड्यन्त्रकारियोंने यह निश्चय किया कि पिंजरेमें जो बाघ है, उसे ले जाकर रानीके महलमें छोड़ दिया जाय। बाघ रानीको मार डालेगा, तब बाघको पकड़कर यह बात फैला दी जायगी कि बाघ पिंजड़ेसे छूट गया था, इससे यह दुर्घटना हो गयी। निश्चयके अनुसार ही काम किया गया, महलमें

* राजस्थानकी बोलीमें साधुओंका अवज्ञाभरा नाम।

सिंह छोड़ दिया गया। रानी उस समय पूजा कर रही थीं; दासीने बाघको देखते ही पुकारकर कहा—'देखिये, बाघ आया।'

रानीकी स्थिति बड़ी विचित्र थी, हृदय आनन्दसे भरा था, नेत्रोंमें अनुरागके आँसू थे, इन्द्रियाँ तमाम सेवामें लगी थीं। उन्होंने सुना ही नहीं। इतनेमें बाघ कुछ समीप आ गया, दासीने फिर पुकारकर कहा। 'रानीजी! बाघ आ गया।' रानीने बड़ी शान्तिसे कहा, 'बड़े ही आनन्दकी बात है, आज मेरे बड़े भाग्यसे मेरे प्रह्लादके स्वामी श्रीनृसिंहजी पधारे हैं। आइये इनकी पूजा करें।' इतना कहकर रानी पूजाकी सामग्री लेकर बड़े ही सम्मानके साथ पूजा करने दौड़ीं। बाघ समीप आ ही गया था परन्तु अब वह बाघ नहीं था। रत्नावतीजीके सामने तो साक्षात् श्रीनृसिंहजी उपस्थित थे। रानीने बड़े ही सुन्दर, मनोहर और आकर्षक रूपमें परम शोभासम्पन्न भगवान् नृसिंहदेवके दर्शन किये। उन्होंने प्रणाम करके पाद्य-अर्घ्य दिया, माला पहिनायी, तिलक दिया, भोग लगाया और प्रणाम-आरती करके वे उनकी स्तुति करने लगीं।

कुछ ही क्षणों बाद व्याघ्ररूप प्रभु महलसे निकले और जो लोग पिंजरा लेकर रत्नावतीजीको बाघसे मरवाने आये थे, बाघरूप प्रभुने बात-की-बातमें उनको परलोक पहुँचा दिया। और स्वयं मामूली बाघ बनकर पिंजरेमें प्रवेश कर गये।

लोगोंने दौड़कर राजा माधोसिंहको सूचना दी कि रानीने श्रीनृसिंहभगवान् मानकर बाघकी पूजा की, बाघने उनकी पूजा स्वीकार कर ली और बाहर आकर आदमियोंको मार डाला; रानी अब आनन्दसे बैठी भजन कर रही हैं।

अब तो माधोसिंहकी आँखें खुलीं। भक्तका गौरव उनके ध्यानमें आया। सारी दुर्भावना क्षणभरमें नष्ट हो गयी। राजा दौड़कर महलमें आये और प्रणाम करने लगे। रानी भगवत्सेवामें तल्लीन थीं। दासीने कहा—'महाराज प्रणाम कर रहे हैं।' तब रानीने इधर ध्यान दिया और वे बोलीं कि 'महाराज श्रीनन्दलालजीको प्रणाम कर रहे हैं।' रानीकी दृष्टि भगवान्में गड़ी हुई थी। राजाने नम्रतासे कहा—'एकमात्र मेरी ओर देखिये।' रानी बोलीं—'महाराज, क्या करूँ, ये आँखें इधरसे हटती ही नहीं, मैं बेबस हूँ।' राजा बोले—'सारा राज और धन तुम्हारा है, तुम जैसे चाहे इसे काममें लाओ।' रानीने कहा—'स्वामिन्! मेरा तो एकमात्र धन ये मेरे श्यामसुन्दर हैं, मुझे इनके साथ बड़ा ही आनन्द मिलता है। आप मुझको इन्हींमें लगी रहने दीजिये।'

राजा प्रेम और आनन्दमें गद्गद हो गये। और रानीकी भक्तिके प्रभावसे उनका चित्त भी भगवान्की ओर खिंचने लगा। जिनकी पत्नी भक्त हो उनपर भगवान्की कृपा क्यों न हो! घरमें एक भी भक्त होता है तो वह कुलको तार देता है।

एक समय महाराजा मानसिंह अपने छोटे भाई माधोसिंहके साथ किसी बड़ी भारी नदीको नावसे पार कर रहे थे। तूफान आ गया, नाव डूबने लगी। मानसिंहजीने घबराकर कहा—'भाई! अब तो बचनेका कोई उपाय नहीं है।' माधोसिंह बोले—'आपकी अनुज-वधू अर्थात् मेरी पत्नी बड़ी ही भक्त है, उसकी कृपासे हमलोग पार हो जायँगे।' दोनोंने रानी रत्नावतीका ध्यान किया। जादूकी तरह नाव किनारे लग गयी। दोनों भाई नया जन्म पाकर आनन्दमग्न हो गये। यह तो मामूली नाव थी और नदी भी मामूली ही थी। भगवान्के सच्चे भक्तका आश्रय करके तो बड़े-से-बड़ा पापी मनुष्य बात-की-बातमें भवसागरसे तर जा सकता है। विश्वास होना चाहिये।

अब तो मानसिंहजीके मनमें रानीके दर्शनकी लालसा जाग उठी, आकर उन्होने दर्शन किया!

रानीका जीवन प्रेममय हो गया। वह अपने प्रियतम श्यामसुन्दरके साथ घुल-मिल गयीं।

बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय!

मौजो भगत

कहानी

(लेखक—मुखिया विद्यासागरजी)

(१)

जिला गौहाटीके खगीपुर नामक एक गाँवमें एक अहीर रहता था। नाम था—मौजी! था भी—मन-मौजी! उसने गाँवके जानवरोंके चरानेका काम पसंद किया। यह कहानी उस समयकी है जब कि भारतपर जहाँगीरी अमलदारी थी।

एक नदीके किनारे मौजी पाँच गायें चरा रहा था। वे गायें जमींदारोंकी थीं। रोटी-कपड़ा और दो रुपये माहवारी तनखाहपर मौजी काम करता था। न माँ, न बाप। परम स्वतन्त्र। न पढ़ा, न लिखा। परम मौजी। जिस बातको सच मानता—फिर चाहे वह एकदम गलत ही क्यों न हो—चींटा-सा चिपट जाता था। सत्यके साथ सारूप्य हो जानेकी आदत मौजीमें थी। पर सत्य और असत्यका विवेक करनेवाली निर्णय-शक्ति उसमें न थी। क्योंकि वह सत्संगहीन था। सत्संग-हीन सदा मूर्ख रहता है, फिर चाहे वह डबल एम० ए० ही क्यों न हो। बात यह है कि संसारमें सत्य और असत्य दूध और पानीकी तरह मिला दिया गया है। असल और नकलको जाननेकी शक्ति सत्संगके ही हाथमें है।

आमके पेड़के नीचे बैठा मौजी एक भजन गुनगुना रहा था। तबतक वहाँ आ पहुँचे एक पण्डितजी। कंधेपर झोला और मस्तकपर लंबे तिलक। पण्डितजी वहाँ ठहर गये। दोपहर हो रहा था। पण्डितजीने झोलेमेंसे धोती निकाली और स्नान किया। इसके बाद पालथी मारकर बैठ गये और दोनों आँखें बंद कर लीं। फिर दाहिने हाथसे नाक दबा ली। और बस—बड़ी देरतक बैठे रहे। इसके बाद उन्होंने मूँगके दो लड्डू निकाले और खा-पीकर चलनेको तैयार हुए। तब मौजी बोला—'पा लागी पिंडीजी माराज!'

पण्डित—'आशीर्वचन।'

मौजी—आप कहाँ रहते हैं?

पण्डित—केसमपुर।

मौजी—आप इधर जा कहाँ रहे हैं?

पण्डित—दौलताबाद। वहाँ मेरे चेलेलोग रहते हैं।

मौजी—रिस न हो तो एक बात पूछूँ?

पण्डित—पूछो।

मौजी—अभी आप नाक बंद करके क्या कर रहे थे?

पण्डित—भगवान्का दर्शन कर रहा था।

मौजी—ठीक। बस।

पण्डितजी एक तरफ चले गये।

(२)

मौजीके पास दूसरी धोती न थी। वह नंगा होकर नदीमें कूद पड़ा और नहाकर बाहर निकला। उसने धोती पहनी और पालथी मारकर बैठ गया। आँखें बंद कीं और फिर नाक भी पकड़ ली। परन्तु जब कुछ भी दिखायी न पड़ा तब मौजीने कहा—'पण्डितजी-को भगवान् दीखते थे तो मुझे क्यों नहीं दिखायी देंगे?' इतना कहकर उसने नाक और जोरसे दबायी। शायद नाकको कम दबाया हो—यह सोचकर। मगर—कहीं कुछ नहीं। थोड़ी देर बाद मौजीकी साँस घुटने लगी। तब उसने कहा—'प्राण ही चाहे क्यों न निकल जावें, लेकिन जबतक भगवान्के दर्शन न होंगे तबतक नाक नहीं छोड़ूँगा।' कुछ देर बाद व्याकुलताने असह्य रूप धारण किया। मौजी बोला—'प्राण प्यारे हैं जरूर, लेकिन भगवान्से ज्यादा प्यारे नहीं।' उसने नाक और

भी कस ली। प्राणकी डोरी भगवान्के सिंहासनसे बँधी होती है। चूँकि प्राणका रूप साँप-जैसा है, इसलिये समस्त साँपोंके यानी समस्त प्राणोंके समूह शेषनागपर भगवान् विष्णुजी सदा विराजमान रहते ही हैं। मौजीके प्राणका खटका सिंहासनपर पहुँचा। भगवान्ने देखा तो एक अहीरका लड़का नाक दबाये एक जंगलमें बैठा है। कारण जो पूछा तो मायाने पण्डितजीवाली कहानी समझा दी। लक्ष्मीजीके नामसे भगवान्के पास योगमाया सदा हाजिर ही रहती है। भगवान्ने सारा माजरा जानकर सोचा कि मौजीकी मौत तो अभी आयी नहीं जो वह मर जायगा, इसलिये उसे दर्शन देना चाहिये। भगवान्ने मौजीके सामने प्रकट होकर कहा—'आँखें खोलो! मैं आ गया।'

आवाज सुनकर मौजीने आँखें खोलीं और नाक भी छोड़ दी। कुछ देर साँस लेकर वह बोला—

मौजी—आप कौन हैं?

भगवान्—भगवान् हूँ।

मौजी—इसका क्या सबूत कि आप ही भगवान् हैं?

भगवान्—तुम जैसा चाहो सबूत ले लो।

मौजी—मैं उन पण्डितजीको बुलाये लाता हूँ—अभी वे बहुत दूर नहीं गये होंगे। अगर पण्डितजी कह देंगे कि तुम्हीं भगवान् हो तो मैं मान लूँगा। क्योंकि उन्होंने भगवान् देखे हैं—मैंने तो कभी देखे नहीं।

भगवान्—अच्छी बात है।

मौजी—लेकिन जबतक मैं पण्डितजीको लेने जाऊँ तबतक कहीं अगर आप खिसक गये तो?

भगवान्—नहीं। मैं यहीं खड़ा रहूँगा।

मौजी—अनजाने आदमीका क्या विश्वास! मैं आपको रस्सीसे कसकर इस आमसे बाँध जाऊँगा।

भगवान्—अच्छा, भाई बाँध लो।

मौजी उठा। पाँचों गायोंकी रस्सियाँ खोलीं। और उन सबको बाँधकर उसने तीस हाथ लंबा एक रस्सा तैयार किया। भगवान् बेचारे खुद ही आमसे सटकर जा खड़े हुए। मौजीने बेकलक तरीकेसे उनको कसकर बाँध दिया। फिर वह दौड़ा। दो फर्लांग दौड़नेके बाद पण्डितजी दिखलायी पड़े। उसने चिल्लाकर कहा—'ओ पिंडीजी माराज! चलो देख लो कि तुम्हारेवाले भगवान् यही हैं कि कोई दूसरे। मैंने उनको आमसे बाँध दिया है।' पण्डितजीने आवाज सुनी, मगर मतलब कुछ भी न समझे। मुड़कर देखा तो वही लड़का दौड़ता आ रहा है कि जो नदी किनारे मिला था। पण्डितजीने सोचा कि यह युवक है और मैं बूढ़ा हूँ। कहीं मेरा झोला छीनने न आता हो। पण्डितजी आगेको सरपटे। मगर मौजी था अपनी धुनका पक्का। उसने दौड़कर पण्डितजीका हाथ पकड़ लिया। लाचारीके कारण पण्डितजी वहाँ आये कि जहाँ वह आमका वृक्ष था।

मौजी—देखो पिंडीजी! यही भगवान् हैं न?

पण्डितजीने बहुत इधर-उधर देखा। आमके वृक्षसे एक रस्सा लिपटा था और कहीं कुछ न था।

पण्डितजी—कहाँ हैं?

मौजी—दिनमें भी नहीं सूझता? वे कैसे बँधे हैं।

पण्डितजीने अपना पिंड छुड़ानेकी गरजसे झूठ ही कह दिया कि हाँ, यही हैं। इसके बाद मौजी फिर बोला—'नजदीक जाकर देख लो, फिर कभी यह मत कहना कि ये वे नहीं हैं।'

पण्डितजीको भगवान् दिखायी नहीं दे रहे थे। परन्तु उन्होंने कहा—'बस-बस, यही हैं यही!'

अब पण्डितजीकी छुट्टी थी। वे चल दिये। मौजीने रस्सा खोला। भगवान्के चरण छुए।

भगवान्–वह पण्डित मेरा भक्त नहीं है–वह तो पाखण्डी है ।

मौजी–तो आप पाखण्डीको क्यों दर्शन देते हैं ?

भगवान्–मैंने उसे कभी दर्शन नहीं दिया ।

मौजी–वाह, वह कहता था कि मैं रोज दर्शन किया करता हूँ और अभी मेरे सामने वह आपको देख गया है ।

भगवान्–उसने न तो आज देखा और न पहले कभी देखा था । वह झूठा है ।

मौजी–लेकिन उसके झूठने मुझे सचसे मिला दिया । वह पाखण्डी सही—लेकिन मेरा गुरु है ।

भगवान्–तुम क्या चाहते हो ? मेरा दर्शन व्यर्थ नहीं होता ।

मौजी–मैं यह चाहता हूँ कि जब मैं नहाकर नाक बंद किया करूँ तब आपका दर्शन हुआ करे ।

भगवान्–ऐसा ही होगा ।

मौजी–एक बात आपने अपनी खुशीसे दी । एक बात मेरे माँगनेसे दीजिये ।

भगवान्–माँगो !

मौजी–जब पण्डितजी नाक बंद किया करें तब उनको भी दर्शन दिया करें ।

भगवान्–तब तो वह भी सुधर जायगा । क्योंकि मेरा दर्शन पानेवाले मिथ्याचारी नहीं रह सकते । मौजी ! तुम धन्य हो । तुमने अपने गुरुका उद्धार किया और अपना उद्धार किया । गुरु ही चेलेका उद्धार किया करते हैं–पर–आज चेलेने गुरुका उद्धार किया ।

(३)

एक सालके बाद वहाँ पण्डितजी फिर उसी मार्गसे निकले । मौजी पूर्ववत् गायें चरा रहा था । जब दोनोंने दोनोंको देखा तब मौजी बोला––

मौजी–गुरुजी ! प्रणाम !

पण्डित–गुरुजी ! प्रणाम !

मौजी–आप मेरे गुरु हैं । क्योंकि आपने मुझे भगवान्से मिलाया ।

पण्डित–आप मेरे गुरु हैं । क्योंकि आपने मुझे भगवान्से मिलाया ।

मौजी–मैं अहीर हूँ और आप ब्राह्मण हैं ।

पण्डित–आप ही ब्राह्मण हैं और मैं अहीर हूँ ।

मौजी–मैं मूढ़ था, आपने पण्डित बनाया ।

पण्डित–मैं पाखण्डी था, आपने भक्त बनाया ।

मौजी–जो हुआ सो हुआ । हम दोनों दोनोंके गुरु हुए और दोनों दोनोंके चेला हुए ।

पण्डित–मैंने यजमानीका पेशा छोड़ दिया । तुम भी गाय चरानेका पेशा छोड़ दो ।

मौजी–फिर क्या करोगे ?

पण्डित–द्वार-द्वारपर रामनामका प्रचार करेंगे । तुम बजाया करना खँजड़ी और मैं बजाया करूँगा मजीरा ।

मौजी–दोनों मिलकर भक्तिके भजन गाया करेंगे ।

पण्डित–हाँ ! राम-नामके पवित्र जलमें खुद भी नहाया करेंगे और संसारको भी नहलाया करेंगे ।

मौजी–नाम क्या रक्खोगे ?

पण्डित–तुम्हारा नाम रहेगा-पण्डितदास और मेरा नाम रहेगा–अहीरदास ।

मौजी–क्योंकि मेरा गुरु एक पण्डित है और आपका गुरु एक अहीर है ।

पण्डित–हाँ !

गौहाटी जिलेमें दो साधू घूम-घूमकर भजन गाते हुए देखे जाने लगे । जब वे भजन गाते तो स्वयं मस्त हो जाते और सुननेवाले भी मगन हो जाते । भगवान्की लीला विचित्र है । भगवान्को धन्य है और उनके भक्तोंको भी धन्य है !

Regd. No. A. 1724.

श्रीहरिः

बाललीला का आनन्द

बनी सहज यह लूट हरिकेलि गोपीन कें सुपनें यह कृपा कमला न पावै ।
निगम निरधार त्रिपुरारहू विचार रह्यो पच रह्यो सेस नहिं पार पावै ॥
किंनरी बहुर अरु बहुर गंधर्बनं, पन्नगनी चितवन नहिं माझ पावैं ।
देत कर-तार वे लाल गोपाल सों पकर ब्रजबाल कपि ज्यों नचावैं ॥
कोउ कहै ललन पकराव मोहि पावरी, कोउ कहै लाल बल लाव पीढ़ी ।
कोउ कहै ललन गहाव मोहि सोहनी, कोउ कहै लाल चढ़ जाव सीढ़ी ॥
कोउ कहै ललन देखो मोर कैसें नचैं, कोउ कहै भ्रमर कैसें गुँजारैं ।
कोउ कहै पौर लगि दौर आओ लाल, रीझ मोतीन के हार वारैं ॥
जो कछु कहै ब्रजबधू सोइ सोइ करत, तोतरे बैन बोलन सुहावैं ।
रोय परत बस्तु जब भारी न उठै तबै, चूम मुख जननी उर सों लगावैं ॥
दैन कहि लेनी पुनि चाहि रहत बदन हम स्वभुज बीच लै लै कलोलैं ।
धाम के काम ब्रजबाम सब भूलि रहीं कान्ह बलराम के संग डोलैं ॥
सूर गिरिधरन मधु चरित मधुपान के और अमृत कछु आन लागै ।
और सुख रंक की कौन इच्छा करै मुक्तिहू लौन-सी खारी लागै ॥

कल्याण

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण ५४१००]

वार्षिक मूल्य
भारतमें ४≈)
विदेशमें ६॥≈)
(१० शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनंद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।)
विदेशमें ।≈)
(८ पेंस)

Edited by Hanumanprasad Poddar.
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur (India)

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्गं सीतासमारोपितवामभागम् ।
पाणौ महासायकचारुचापं नमामि रामं रघुवंशनाथम् ॥

वर्ष १२ } गोरखपुर, चैत्र १९९५, अप्रैल १९३९ { संख्या ९ पूर्ण संख्या १५२

अनूठी झाँकी

श्री रामचंद्र कृपालु भजु मन हरण भवभय दारुणं ।
नवकंज-लोचन, कंज-मुख, कर-कंज, पद कंजारुणं ॥ १ ॥
कंदर्प अगणित अमित छबि, नवनील नीरद सुंदरं ।
पट पीत मानहु तड़ित रुचि शुचि नौमि जनक सुतावरं ॥ २ ॥
भजु दीनबंधु दिनेश दानव-दैत्य-वंश-निकंदनं ।
रघुनंद आनँदकंद कोशलचंद दशरथ-नंदनं ॥ ३ ॥
सिर मुकुट कुंडल तिलक चारु उदारु अंग विभूषणं ।
आजानुभुज शर-चाप-धर, संग्राम-जित-खरदूषणं ॥ ४ ॥
इति वदति तुलसीदास शंकर-शेष-मुनि-मन-रंजनं ।
मम हृदय कंज निवास कुरु, कामादि खल-दल-गंजनं ॥ ५ ॥

—तुलसीदासजी

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—पूज्य स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी महाराज)

(श्वेताश्वतरोपनिषद्)

[मणि ११]

(पूर्वप्रकाशितसे आगे)

हे संन्यासियो! श्रुतिमें जिस प्राणको सत्य नामसे कहा है, वह प्राण जब लोकान्तरमें गमन नहीं करता किन्तु शरीरमें ही लयभावको प्राप्त हो जाता है, ऐसा ऐश्वर्यरूप फल किसी विरलेको ही अन्त्य जन्ममें प्राप्त होता है। जिस विद्वान्का प्राण लोकान्तरमें गमन न करे, ऐसा अपरोक्ष ज्ञानी इस लोकमें अत्यन्त दुर्लभ है क्योंकि हजारोंमें कोई एक मनुष्य मोक्षके लिये यत्न करता है, ऐसा मुमुक्षु दुर्लभ है। हजारों मुमुक्षुओंमेंसे कोई एक मुमुक्षु श्रवणादिक साधनोंसे सम्पन्न होता है, ऐसा साधन-सम्पन्न मुमुक्षु दुर्लभ है। साधनसम्पन्न पुरुषोंमें-से कोई एक आत्माके परोक्ष ज्ञानवाला होता है, ऐसा परोक्ष ज्ञानी दुर्लभ है। हजारों परोक्ष ज्ञानियों-मेंसे कोई एक आत्माके अपरोक्ष ज्ञानवाला होता है, इसलिये राग-द्वेषसे रहित, सर्व भूतोंको अपने आत्मारूपसे देखनेवाला अपरोक्ष ज्ञानी इस लोकमें अत्यन्त दुर्लभ है। यही बात श्रीकृष्ण भगवान्ने गीतामें कही है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥

'हे अर्जुन! हजारों मनुष्योंमें कोई एक मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन हजारों यत्न करनेवाले सिद्धोंमें कोई एक मेरे वास्तव स्वरूपको जानता है।' इसलिये आत्माके अपरोक्ष ज्ञानवाला इस लोकमें अत्यन्त दुर्लभ है। हे संन्यासियो! ऐसा ब्रह्मवेत्ता जिन माता-पितासे उत्पन्न होता है वे माता-पिता कृतार्थ होते हैं। जिस कुलमें वह होता है वह कुल भी कृतार्थ होता है। जिस पृथिवीपर वह विचरता है वह पृथिवी भी कृतार्थ होती है। तात्पर्य यह है कि जब ब्रह्मवेत्ताके सम्बन्धियोंकी महिमा भी वाणीसे कही नहीं जा सकती तो ब्रह्म-वेत्ताकी महिमा किस प्रकार कही जा सकती है। नहीं कही जा सकती। हे संन्यासियो! जिस पुरुषको संशय-विपर्यय-रहित आत्माका साक्षात्कार हो जाता है, यदि वह ब्रह्मवेत्ता ब्रह्महत्यादिक पाप करनेवाले पातकी जीवोंपर अपनी कृपादृष्टि करता है तो उसकी दृष्टिसे ही पातकी जीव महान् पातकोंसे मुक्त हो जाते हैं। यह बात अन्य शास्त्रमें भी कही है—

यस्यानुभवपर्यन्ता बुद्धिः सत्त्वे प्रवर्तते ।
तद्दृष्टिगोचराः सर्वे मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ॥

'जिस विद्वान्की बुद्धि अद्वितीय आत्माके अपरोक्ष अनुभवपर्यन्त प्रवृत्त होती है, वह विद्वान् जिनपर कृपादृष्टि करता है वे सम्पूर्ण पापकर्मोंसे मुक्त हो जाते हैं।'

हे संन्यासियो! जैसे क्षयरोगवाला पुरुष बहुत काल पीछे अपने शरीरको सब दोषोंका घर जानता है और नीरोगी पुरुष शरीरके रोगोंको नहीं जानता, इसी प्रकार जो विद्वान् बहुत कालतक अद्वितीय आत्माका ध्यान करता है, वही आत्माके सच्चिदानन्द आदिक गुणोंको यथार्थ जानता है। ऐसा विद्वान् अपने आत्माको परमेश्वररूप जान-कर परमेश्वरके ऐश्वर्यरूप फलको प्राप्त होता है, इसलिये वह किञ्चित् मात्र भयको प्राप्त नहीं होता।

हे संन्यासियो! सर्वत्र व्यापक अद्वितीय ब्रह्म हमारा आत्मा है, इस प्रकारके जीव-ब्रह्मके अभेद ज्ञानसे परे अधिकारी पुरुषोंको कोई वस्तु जानने-योग्य नहीं है किन्तु जीव-ब्रह्मका अभेद ही जानने योग्य है। हे संन्यासियो! संसाररूप चक्रमें स्थित सुख-दुःखका भोक्ता जीवरूप हंस है। संसारचक्र-की जननी मायारूप नदी है। परमात्मदेव जीव-रूप हंसको जाननेयोग्य है। परमात्मदेव जीवोंको शुभ-अशुभ कर्मोंमें प्रेरणा करता है। इस परमात्मा-के ज्ञानसे जीव ईश्वरभावको प्राप्त होता है। इस प्रकार तत्पदका अर्थ ब्रह्म, त्वंपदका अर्थ जीवरूप हंस और जगत्की जननी माया, ये तीनों वास्तवमें अद्वितीय ब्रह्मरूप ही हैं। जैसे घट-मठरूप उपाधियोंके भेदसे आकाशमें भेद प्रतीत होता है, इसी प्रकार जीव, ब्रह्म, माया इन तीनोंमें कल्पित उपाधिके भेदसे ही भेद प्रतीत होता है, वस्तुतः भेद नहीं है। जो अधिकारी इस प्रकार तत् त्वं-पदार्थोंका शोधन करता है, उसको शीघ्र ही आत्म-साक्षात्कार होता है।

शंका—हे भगवन्! मायाके कार्यरूप देहादिक पदार्थोंसे इस आत्मामें विलक्षणता प्रतीत नहीं होती, इसलिये उसमें अद्वितीयरूपता सम्भव नहीं है किन्तु अनेकरूपता ही सम्भव है।

समाधान—हे संन्यासियो! ऐसी शंका तुमको कभी भी न करनी चाहिये क्योंकि तुम्हारी यह शंका ही सम्भव नहीं है। यदि देहादिक संघातमें किसी भी उपायसे आत्माका दर्शन न हो, तब तो तुम्हारी शंका बन सकती है परन्तु ऐसा नहीं है, देहादिक संघातमें अनेक उपायोंसे आत्माकी सत्ता प्रतीत होती है, इसलिये तुम्हारी शंका सम्भव नहीं है। प्रथम अनुमानसे आत्माकी सत्ता सिद्ध करते हैं। जैसे काष्ठोंमें स्थित अग्नि यद्यपि स्वरूपसे प्रतीत नहीं होती, तो भी यह नहीं कह सकते कि काष्ठोंमें अग्नि नहीं है क्योंकि काष्ठोंमें जो उष्णता प्रतीत होती है वह विना अग्नि सम्भव नहीं है, इसलिये उष्णतारूप हेतुसे काष्ठोंमें अग्निका अनुमान होता है। इसी प्रकार इस देहादिक संघातमें स्थित आत्मदेव यद्यपि प्रतीत नहीं होता तो भी यह नहीं कह सकते कि शरीरमें आत्मा नहीं है क्योंकि देहधारी जीवोंको घट-पटादिक जड़ पदार्थोंका प्रकाशरूप स्फुरण आत्माकी सत्ता विना सम्भव नहीं है, इसलिये स्फुरणरूप हेतुसे संघातमें आत्मा-का अनुमान होता है। हे संन्यासियो! जिस स्फुरणरूप हेतुसे संघातमें आत्माका अनुमान होता है वह स्फुरण भेदरहित है।

शंका—हे भगवन्! यह घट है, यह पट है, इत्यादि स्फुरणोंका भेद प्रत्यक्ष प्रतीत होता है, तब स्फुरणोंका अभेद किस प्रकार हो सकता है।

समाधान—हे संन्यासियो! घट-पटादिक पदार्थों-का ही भेद है, स्फुरणमें भेद नहीं है, इसलिये प्रकाशरूप स्फुरण सर्वदा अभिन्न है और अपने प्रकाशके लिये दूसरे प्रकाशकी वह स्फुरण अपेक्षा नहीं करता, इसलिये स्वप्रकाशरूप है।

शंका—हे भगवन्! जब नेत्रादिक इन्द्रियोंका घट-पटादिकके साथ सम्बन्ध होता है तब ही यह घट है, यह पट है, इत्यादि स्फुरण उत्पन्न होता है और इस लोकमें जो-जो पदार्थ उत्पत्तिवाला होता है वह-वह पदार्थ परप्रकाश ही होता है। जैसे घट-पटादिक पदार्थ उत्पत्तिवाले होनेसे परप्रकाश हैं, इसी प्रकार इन्द्रियोंसे जन्य होनेसे स्फुरण भी परप्रकाश ही होना चाहिये।

समाधान—हे संन्यासियो! यदि नेत्रादिक इन्द्रियों-से स्फुरणकी उत्पत्ति होती हो तो स्फुरणमें पर-प्रकाशता सिद्ध हो परन्तु नेत्रादि इन्द्रियोंसे स्फुरण-की उत्पत्ति नहीं होती किन्तु नेत्रादिक इन्द्रियाँ अन्तःकरणकी वृत्तिकी उत्पत्तिद्वारा प्रकाशरूप स्फुरणकी अभिव्यक्ति करती हैं, इसलिये अन्तर-

बाहर समस्त भेदसे रहित स्फुरण स्वप्रकाशरूप ही है। हे संन्यासियो! यह प्रकाशरूप स्फुरण देहादिक सर्व संघातके भीतर है, इसलिये शास्त्रवेत्ता स्फुरणको आत्मरूप कहते हैं, और सर्व पदार्थोंसे अधिक प्रिय है, सर्व भेदसे रहित है, इसलिये शास्त्रवेत्ता स्फुरणको आनन्दरूप कहते हैं।

शंका—हे भगवन्! जब यह स्फुरण आत्मरूप ही है, तो स्फुरणरूप हेतुसे आत्माका अनुमान नहीं होगा।

समाधान—हे संन्यासियो! जैसे अग्निसे उष्णता अभिन्न है, उस उष्णतारूप हेतुसे अग्निका अनुमान होता है, इसी प्रकार आत्मासे अभिन्न प्रकाशरूप स्फुरणरूप हेतुसे आत्माका अनुमान सम्भव है। तात्पर्य यह है कि जैसे सत्-चित्-आनन्द ये तीनों धर्म यद्यपि वस्तुतः आत्मस्वरूप ही हैं, तो भी कल्पित भेद मानकर उन सत्यादिक धर्मोंको आत्माका स्वरूप लक्षण मानते हैं। इसी प्रकार वास्तवमें आत्मस्वरूप स्फुरणमें कल्पित भेद मानकर आत्माकी सिद्धिमें हेतुरूपता सम्भव है। जैसे लौकिक और वैदिक दोनों प्रकारकी अग्नि काष्ठोंके मथनरूप उपायसे जीवोंको प्राप्त होती हैं, इसी प्रकार स्वर्गादिक लोकोंके फलका भोक्ता संसारी आत्मा और सर्व गुणोंसे रहित शुद्ध आत्मा, ये दोनों प्रकारके आत्मा अधिकारी पुरुषको स्फुरणरूप हेतुजन्य अनुमानरूपसे प्राप्त होते हैं।

प्रणवका ध्यान।

हे संन्यासियो! जब किसी प्रबन्धके कारण अधिकारी पुरुषोंको 'तत्त्वमसि' आदि वेदवाक्योंसे कार्यसहित अविद्यासे भिन्नरूप ब्रह्मात्माका साक्षात्कार न हो सके तो सर्वज्ञ महात्मा गुरु उनको ॐकाररूप प्रणवके ध्यानका उपदेश करके आत्मसाक्षात्कारकी प्राप्ति करावे। जैसे इस लोकमें काष्ठरूप दो अरणियोंके मथनसे अग्नि प्रकट होती है, इसी प्रकार हमारा शरीर नीचेकी अरणि है और ब्रह्मका वाचक प्रणव मन्त्र ऊपरकी अरणि है। यह ॐकाररूप प्रणव 'मैं ब्रह्मरूप आत्मा ही हूँ' इस प्रकार चित्तकी वृत्तियोंका निरन्तर प्रवाह दोनों अरणियोंका मथन है। हे शिष्य! जब तू इस प्रकार निरन्तर मथन करेगा तो इस संघातमें तू शीघ्र ही आत्मारूप अग्निका साक्षात्कार करेगा, इस प्रकार प्रणवके ध्यानका उपदेश करके ब्रह्मवेत्ता गुरु अधिकारी पुरुषोंको आत्माका साक्षात्कार कराता है। इसलिये प्रणवका ध्यान भी आत्मसाक्षात्कारका उपाय है।

हे संन्यासियो! ऐसी शङ्का तुमको कभी नहीं करनी चाहिये कि जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज इन चार प्रकारके शरीरोंमें आत्मादेव प्रतीत नहीं होता, इसलिये संघातमें आत्मा नहीं है क्योंकि जो वस्तु जहाँ प्रतीत न हो, वह वस्तु वहाँ है ही नहीं, इस प्रकारका नियम नहीं है, किन्तु जो वस्तु जहाँ किसी उपायसे भी प्रतीत न हो, वह वस्तु वहाँ नहीं होती, ऐसा नियम है। और इस संघातमें तो अनेक उपायोंसे आत्माकी प्रतीति होती है, इसलिये संघातमें आत्मा नहीं है, यह शङ्का करना उचित नहीं है। हे संन्यासियो! इस संघातमें स्थित आत्माका उपायोंसे साक्षात्कार होता है, इस बातको दृढ़ करनेके लिये मैं तुमसे चार दृष्टान्त कहता हूँ—जैसे तिलोंमें स्थित तैल यद्यपि प्रसिद्ध (प्रकट) नहीं दिखायी देता, तो भी तिलोंके पीडनरूप उपायसे प्रसिद्ध (प्रकट) हो जाता है। जैसे दधिमें स्थित घृत प्रसिद्ध (प्रत्यक्ष) दिखायी नहीं देता, दधिके बिलोनेरूप उपायसे प्रसिद्ध होता है। जैसे नदीप्रवाहकी रेतमें स्थित जल यद्यपि प्रसिद्ध (प्रकट) नहीं, तो भी खोदनेरूप उपायसे प्रसिद्ध (प्रकट) होता है। और जैसे काष्ठोंमें स्थित अग्नि यद्यपि प्रसिद्ध नहीं होती परन्तु काष्ठोंके मथनरूपसे प्रसिद्ध हो जाती है। इसी प्रकार गुरु, शास्त्रादिक उपायोंसे रहित बहिर्मुख

पुरुषोंको यद्यपि इस शरीरमें आत्माका दर्शन नहीं होता तो भी गुरु-शास्त्रके उपदेशानुसार वर्तनेवाले श्रद्धावान् अधिकारी पुरुष यम-नियम आदिक उपायोंसे इस संघातमें आत्माका साक्षात्कार करते हैं। हे संन्यासियो! जैसे क्षीरके भीतर घृत व्यापक है. इसी प्रकार सर्व जगत्के अन्तर आत्मदेव व्यापक है। यह आत्मदेव ही ईश्वररूपसे कर्म-उपासना तपादिक धर्मोंके सम्प्रदायका प्रवर्त्तक है। कर्म, उपासना, तपादिकके फलका देनेवाला है और सर्व जगत्का कारणरूप है। ऐसे आत्मदेवका जो अधिकारी पुरुष गुरु-उपदिष्ट महावाक्यसे साक्षात्कार करता है, वही वेदोंका जाननेवाला है। हे संन्यासियो! यहाँतक सर्व शास्त्रका अर्थ संक्षेपमें मैंने तुमसे कहा, अब इसी अर्थको विस्तार-से कहता हूँ—

हे संन्यासियो! पूर्व मैंने तुमसे जो हंसरूप और ब्रह्मरूप आत्मा कहा था, वही आत्मदेव जब अपने वास्तव स्वरूपके ज्ञानके लिये इन अधिकारी पुरुषोंके सङ्कल्परूप मनको अष्टाङ्गयोगकी रीतिसे आत्माके स्वरूपमें जोड़ता है, तब वह आत्मदेव निश्चयरूप बुद्धिका कारण होता है और उस निश्चयरूप बुद्धिसे अधिकारी पुरुष स्वयं ज्योतिरूप आत्माका निश्चय करते हैं। निश्चयके पीछे संघातसे भिन्न तथा संघातके नियन्तारूपसे स्थित हुआ वह विद्वान् भीतर-बाहर पूर्णरूपसे स्थित होता है। हे संन्यासियो! सूर्यमण्डलमें स्थित सविता नामक अन्तर्यामी देवके ध्यानके प्रभावसे हमारे समान अधिकारी पुरुषोंने सर्व दुःखोंकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्तिके लिये ईश्वरपरायण होकर शुद्ध मनसे ज्ञानका अभ्यासरूप प्रयत्न किया था।

हे संन्यासियो! उस अन्तर्यामी देवकी शक्तिसे युक्त मनसे अधिकारी पुरुष वागादिक इन्द्रियोंको शुभ कर्ममें लगाता है। ये वागादिक इन्द्रियाँ भूमानन्दरूप नित्य सुखके ज्ञानको प्रकट करने-वाली हैं। इन वागादिक इन्द्रियोंमें आत्माकार बुद्धि उत्पन्न होती है। आत्माकार बुद्धिसे अधिकारी पुरुष उन इन्द्रियोंके ऊपर परमेश्वरके अनुग्रहका अनुमान करके स्वप्रकाश परमात्मदेवको प्राप्त होता है। हे संन्यासियो! अन्तर्यामी ईश्वरके अनुग्रह विना अधिकारी पुरुषोंकी आत्माकार बुद्धि नहीं होती, इसलिये आत्माकार बुद्धिरूप कार्यसे अन्तर्यामी देवका अनुग्रह अवश्य जाननेमें आता है। इसीलिये महात्मा योगी प्रथम अपने सङ्कल्परूप मनको परमात्मामें लगाता है, फिर मनके लगानेसे उत्पन्न हुई निश्चयात्मिका बुद्धिको भी उसी परमात्मामें जोड़ देता है। यह निश्चयात्मिका बुद्धि स्वयं ज्योतिरूप परमात्मदेवके स्वरूपभूत आनन्दको विषय करती है। उस बुद्धिके प्रसादसे महात्मा योगियोंको इसी शरीरमें आत्माका साक्षात्कार होता है। हे संन्यासियो! पूर्वमें महात्मा पुरुष प्राण, अपान दोनों वायुओंका परस्पर लय-चिन्तनरूप आन्तर अग्निहोत्र कर चुके हैं। जैसे उन महात्मा पुरुषोंका मनोरथ परमात्मदेवने पूर्ण किया था, इसी प्रकार हम अधिकारी पुरुषोंका आत्मज्ञानका मनोरथ पूर्ण करेगा क्योंकि सन्मार्गी पुरुषोंपर अनुग्रह करना ईश्वरका स्वभाव ही है। हे संन्यासियो! इस अन्तर्यामी परमात्मदेवका एक आश्चर्यरूप स्वभाव देखो कि मन-वाणीका अविषय होनेपर भी यह परमात्मदेव अधिकारी पुरुषोंकी बुद्धिका विषय होता है। ऐसे सर्व मनोरथोंकी प्राप्ति करनेवाले परमात्मदेवकी स्तुति हम अधिकारियोंको सर्वदा करनी चाहिये।

परमात्माकी स्तुतिका प्रकार।

हे संन्यासियो! अधिकारी पुरुषोंको आत्म-साक्षात्कार होनेमें अनेक प्रकारके विघ्न होते हैं. उन विघ्नोंकी निवृत्तिके लिये इस प्रकार परमेश्वरकी स्तुति करनी चाहिये—

हे तत्पदके अर्थरूप ब्रह्म! हे त्वंपदके अर्थरूप

जीवात्मा ! आप दोनोंका अभेदरूप योग हम अधिकारी गुरु-शास्त्र सहकृत शुद्ध मनसे करते हैं क्योंकि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादिक अवान्तर वाक्योंसे सहकृत 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य आप दोनोंके वास्तव स्वरूपका अभेद ही प्रतिपादन करते हैं और 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' इत्यादिक श्रुतिवचन जगत्की उत्पत्तिसे पूर्व आप दोनोंको अद्वितीय ब्रह्मरूप कहते हैं। जैसे लौकिक पुरुष लोकप्रसिद्ध मार्गसे नगरमें पहुँच जाते हैं, इसी प्रकार आपके ध्यानसे सर्व विघ्नोंसे रहित अधिकारी पुरुष आत्मज्ञानरूप मार्गसे ब्रह्मानन्दरूप मोक्षको प्राप्त होता है। जिन अधिकारी पुरुषोंको आपका साक्षात्कार हो चुका है वे अपनी मोक्षरूप कीर्तिको बुद्धिमान् पुरुषोंके मुखसे बारंबार सुनते हैं और जैसे पिताके धनमें पुत्रका भाग होता है, इसी प्रकार ब्रह्मानन्दरूप मोक्षमें सम्पूर्ण अधिकारी भागवाले होते हैं। जो अधिकारी हृदयादिक स्थानोंमें आपका चिन्तन करते हैं वे आत्मसाक्षात्कार करके आत्मसाक्षात्कारके प्रभावसे सूर्य-चन्द्रादिकोंमें स्थित परमेश्वरके तेजको प्राप्त होते हैं और परमार्थमें शुद्ध ब्रह्म तथा भेदरहित आप दोनोंकी प्राप्तिके द्वारको हम अधिकारी लोग गुरु-शास्त्रके उपदेशसे भली प्रकार जानते हैं क्योंकि जैसे काष्ठोंके मथनसे उत्पन्न हुई अग्नि जिस स्थानमें उत्पन्न होती है, उसी स्थानमें लय हो जाती है। इसी प्रकार वायु, सूर्य-चन्द्रादिक जगत् जिस मायाविशिष्ट चेतनमें उत्पत्ति-लयभावको प्राप्त होता है, वह मायाविशिष्ट चेतन ही आप दोनोंके शुद्ध स्वरूपको जनाता है, इसलिये मायाविशिष्ट चेतन आपकी प्राप्तिका मार्ग है क्योंकि जैसे मृत्तिकारूप कारणके ज्ञानसे घटशरावादिक कार्योंका भेददर्शन निवृत्त हो जाता है, इसी प्रकार सर्व जगत्के कारणरूप मायाविशिष्ट चेतनके ज्ञानसे अधिकारी पुरुष भेददर्शनजन्य सर्व भ्रान्तिको त्यागकर शुद्ध ब्रह्मको प्राप्त होता है। इस प्रकार शुद्ध आत्माके साक्षात्कार होनेपर तत्पदका अर्थरूप ईश्वर अपनी परोक्षताकी निवृत्तिके लिये तादात्म्य सम्बन्धसे त्वंपदार्थरूप जीवका सेवन करता है और त्वंपदार्थरूप जीव अपने परिच्छिन्नभावकी निवृत्तिके लिये तादात्म्य सम्बन्धसे तत्पदार्थरूप ईश्वरका सेवन करता है। इस अभेद दशामें परमात्मदेव अपने साक्षात्कारसे अधिकारी पुरुषोंकी अविद्याका नाश करता है। यह अविद्या ही जीवोंके जन्म-मरणादि दुःखोंका तथा भेददर्शनका कारण है। इसलिये आपकी प्राप्तिके लिये अग्निहोत्रादिक इष्ट तथा कूप, तडागादिक पूर्त्त कर्मोंको हम कभी भी न करें किन्तु आत्मज्ञानका ही सदा अभ्यास करें। आत्मज्ञानके सिवा आपकी प्राप्तिका दूसरा उपाय नहीं है।

हे संन्यासियो! जब इस प्रकार अधिकारी पुरुष अन्तर्यामी परमात्मदेवकी स्तुति करता है तो उसके सर्व पापकर्म निवृत्त हो जाते हैं और पापकर्मरूप प्रतिबन्धके निवृत्त होनेसे अधिकारीका चित्त शुद्ध हो जाता है। चित्त शुद्ध होनेसे अधिकारीको योगकी प्राप्तिकी इच्छा होती है और योगमें लगता है, योगसे अधिकारी साक्षी आत्माको देखता है। साक्षी आत्माके दर्शनसे अधिकारीको मोक्षकी प्राप्ति होती है, इसलिये अधिकारीको पूर्वोक्त रीतिसे प्रार्थना अवश्य करनी चाहिये।

अष्टांगयोगका निरूपण।

हे संन्यासियो ! यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि ये आठ योगके अंग हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह ये पाँच यम हैं। शरीर, मन, वाणीसे किसी जीवको पीड़ा न देना, इसका नाम अहिंसा है। दूसरोंके हितके लिये यथार्थ वचन कहना, इसका नाम सत्य है। बलात्कार या छलसे पराये धनादिकोंका हरण न करना, इसका नाम

अस्तेय है। नेत्रादिक इन्द्रियोंके निरोधपूर्वक उपस्थ इन्द्रियके निरोधका नाम ब्रह्मचर्य है। शरीरके निर्वाहसे अधिक भोगके साधनोंका संग्रह न करना, इसका नाम अपरिग्रह है।

नियम—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान, ये पाँच नियम हैं। बाह्य और अन्तर शौच दो प्रकारका है। जलमृत्तिकादिकोंसे शरीरको शुद्ध रखना बाह्य शौच है और मैत्री, करुणा, मुदिता आदिक धर्मोंसे चित्तके द्वेषादिक विकारोंको दूर करना, यह अन्तर शौच है। प्रारब्धयोगसे प्राप्त हुए अन्न-वस्त्रादिक पदार्थोंसे प्राणोंको धारण करना, इससे अधिक तृष्णा न करना, इसका नाम संतोष है। शीतोष्णादिकोंको सहन करना तथा कृच्छ्रचान्द्रायणादिक व्रतोंका करना, इसका नाम तप है। प्रणवादिक मन्त्रोंका अभ्यास करना, इसका नाम स्वाध्याय है। जानकर अथवा न जानकर किये हुए शुभ-अशुभ कर्मोंका ईश्वरमें अर्पण करना, इसका नाम ईश्वरप्रणिधान है।

आसन—आसन दो प्रकारके होते हैं—एक बाह्य आसन, दूसरा शारीरिक आसन। प्रथम कुशा बिछाना, कुशाके ऊपर मृगचर्म बिछाना, मृगचर्मके ऊपर वस्त्र बिछाना, इसका नाम बाह्य आसन है। पद्मासन, स्वस्तिकासन, भद्रासन आदि अनेक आसनोंका नाम शारीरिक आसन है। वाम पादको दक्षिण जंघाके ऊपर और दक्षिण पादको वाम जंघाके ऊपर रखना, इसका नाम पद्मासन है। वाम पादको दक्षिण जंघाके ऊरुके भीतर रखकर दक्षिण पादको वाम जंघाके ऊरुके भीतर रखना, इसका नाम स्वस्तिकासन है। दो पादके दो तलोंको वृषणके समीप एकत्र करके उनके ऊपर दोनों हस्त एकत्र करके रखना, इसका नाम भद्रासन है।

प्राणायाम—पूरक, कुम्भक, रेचकभेदसे प्राणायाम तीन प्रकारका है। वाम नासिकाद्वारा बाहरकी वायुको खींचकर शरीरके भीतर स्थित करना, इसका नाम पूरक है। उसी वायुको दक्षिण नासिकाद्वारा शरीरसे बाहर निकालना, इसका नाम रेचक है। पूरक-रेचकभावसे रहित वायुका शरीरके भीतर निरोध करना, इसका नाम कुम्भक है। यह प्राणायामका प्रकार गुरुमुखसे जाननेमें आता है।

प्रत्याहार—रूपादिक विषयोंमें दोषदर्शनके बाद चित्तके अन्तर्मुख होनेपर नेत्रादिक इन्द्रियोंका रूपादिक विषयोंमें निरोध करना, इसका नाम प्रत्याहार है।

धारणा—नाभिचक्र, हृदय, नासिकाग्र आदि स्थानोंमें परमात्मदेवमें मनको जोड़नेका नाम धारणा है।

ध्यान—विजातीय वृत्तियोंके परित्यागसे परमात्मदेवमें सजातीय वृत्तियोंके निरन्तर प्रवाहका नाम ध्यान है।

समाधि—समाधि दो प्रकारकी होती है—एक सविकल्प और दूसरी निर्विकल्प। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयरूप त्रिपुटीके भानपूर्वक अन्तःकरणकी वृत्तिकी अद्वितीय ब्रह्ममें स्थितिका नाम सविकल्प समाधि है। त्रिपुटीके भानरहित अन्तःकरणकी वृत्तिकी अद्वितीय ब्रह्ममें स्थितिका नाम निर्विकल्प समाधि है। इन दोनों समाधियोंमें प्रथम सविकल्प समाधि साधनरूप है और दूसरी निर्विकल्प समाधि फलरूप है। इसमें भी उतनी विशेषता है कि अंगीरूप निर्विकल्प समाधिका जो अद्वितीय ब्रह्म विषय है, वही ब्रह्म धारणा, ध्यान, समाधि इन तीनों अंगोंका विषय है, इसीलिये धारणादिक तीनों योगके अन्तरंग साधन हैं और यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार ये पाँचों निर्विकल्प समाधिके विषयसे भिन्न पदार्थोंको विषय करते हैं, इसलिये वे योगके बहिरंग साधन हैं।

हे संन्यासियो! इस प्रकार अद्वितीय ब्रह्मके साक्षात्कारसे अधिकारी पुरुषकी अविद्या नष्ट हो जाती है और एक बार नष्ट हुई अविद्या फिर कभी भी उत्पन्न नहीं होती। हे संन्यासियो! इस प्रकार यमसे लेकर समाधिपर्यन्त अष्टांगयोग योगशास्त्र-वेत्ता मुनियोंने कहा है, इसलिये अधिकारी पूर्वोक्त आसनोंमेंसे किसी आसनको ग्रहण करके किसी पवित्र देशमें स्थित हो और उदर, उर, ग्रीवा आदिक शरीरके अवयवोंको दण्डके समान सरल स्थापन करे, पश्चात् इन्द्रियरूप दुष्ट अश्वोंको मनरूप रज्जुके साथ बाँधकर हृदयदेशमें स्थित बुद्धिरूप सारथीको समर्पण करे। जैसे पथिक नौकासे नदीको तरता है, इसी प्रकार अधिकारी पुरुष भी ब्रह्मज्ञानरूप दृढ़ नौकाद्वारा अविद्यारूप नदीके इन्द्रियरूप प्रवाहको तरता है। हे संन्यासियो! ब्रह्मज्ञानके विना इन्द्रियोंका तरना अत्यन्त कठिन है क्योंकि मनरूप रज्जुसे बँधी हुई भी ये इन्द्रियाँ इधर-उधर चलायमान होती हैं और संसारी जीवोंके दुःखके लिये ही सर्वदा प्रवृत्त होती हैं। इन दुष्ट इन्द्रियोंके निरोधका नाम प्रत्याहार है। हे संन्यासियो! अधिकारी पुरुष गुरुके उपदेशा-नुसार प्रथम शरीरके मुखादिक नव द्वारोंका निरोध करे, पश्चात् उन द्वारोंमें स्थित प्राणवायुका हृदय-देशमें निरोध करके जबतक अन्तर ही वायुका लय हो, तबतक उत्साहपूर्वक अभ्यास करे। अन्तर ही वायुका लय होनेके बाद अधिकारी पुरुष नासिकाद्वारा श्वास, उच्छ्वासद्वारा वायुको शरीरसे बाहर निकाले। जबतक वायु सूक्ष्मताको न प्राप्त हो, तबतक अधिकारी अभ्यास करे, इस प्रकार अभ्यास करनेसे जब प्राणवायु अधिकारीके वश हो जाती है, तब मन भी वश हो जाता है। जब अधिकारी पुरुषका मन वश हो जाता है, तब इन्द्रियाँ भी सहजहीमें वश हो जाती हैं क्योंकि जैसे इस लोकमें जो सारथी अश्वोंको रोकनेवाली बागडोरको वश कर लेता है, वह दुष्ट अश्वोंको भी सहज ही वश कर लेता है, इसी प्रकार जब अधिकारी मनरूप रज्जुको वश कर लेता है, तो इन्द्रियरूप दुष्ट अश्वोंको सुखपूर्वक अपने वश कर सकता है।

योगका देश—हे संन्यासियो! जो देश अत्यन्त ऊँचा न हो, अत्यन्त नीचा न हो, गोमयादिकोंसे लिपा हो, नदी आदिक जलके स्थानके समीप न हो, कण्टकादिकोंसे रहित हो, बालू-पाषाणके सूक्ष्म कंकरोंसे रिक्त हो। जहाँ अत्यन्त शीत न हो, अत्यन्त उष्णता भी न हो। जो देश पक्षी आदिकोंके शब्दोंसे रहित हो, मशकादि जन्तुओंसे रहित हो, अत्यन्त वायुसे रहित हो, देखनेमें नेत्रादिक इन्द्रियोंको तथा मनको आनन्द-दायक हो, ऐसे पर्वतकी गुहा आदिक देशमें आसन बाँधकर अधिकारी योगाभ्यास करे। यदि योगाभ्यास करनेके देशमें अधिकारीको किसी विघ्नकी शङ्का हो, तो उस देशमें योगाभ्यास न करे।

भोजनके नियम—योगी अपने उदरके दो भाग अन्नसे पूर्ण करे, एक भाग जलसे पूर्ण करे।

हे संन्यासियो! इस प्रकार अष्टांगयोग करके जो योगी आत्मसाक्षात्कारकी इच्छा करता है, उसको फलके समीप कालमें अणिमादिक सिद्धियाँ प्रकट होती हैं। यदि वह सिद्धियोंमें आसक्त हो जाता है, तो उसको आत्मसाक्षात्कार नहीं होता, इसलिये आत्मसाक्षात्कारमें सिद्धियाँ विघ्नरूप हैं।

सिद्धियोंका निरूपण।

हे संन्यासियो! आत्मसाक्षात्कारके समीप कालमें योगी अपने मनमें कभी नीहारके समान, कभी धूमके समान, कभी सूर्यके समान, कभी अग्निके समान, कभी वायुके समान रूपको देखता है। नीहार यानी तुषार जलके समान शुक्ल वर्णवाला होता है, धूम्रका कृष्ण वर्ण होता है,

सूर्यका पिङ्गल वर्ण होता है, अनेक वर्णोंके समुदायका नाम पिंगल वर्ण है, अग्निका रक्त वर्ण होता है और वायुका दूधके समान श्याम वर्ण होता है। कभी यह योगी अपने मनमें खद्योतके समान, कभी विद्युत्‌के समान, कभी स्फटिकके समान, कभी चन्द्रमाके समान रूपको देखता है। नेत्रोंसे दिव्य रूपको देखता है। श्रोत्रसे दिव्य शब्दोंको सुनता है, रसन इन्द्रियसे दिव्य रसोंको चखता है, घ्राणसे दिव्य गन्धोंको सूँघता है और त्वचासे दिव्य स्पर्शोंको पाता है।

बाह्य सिद्धियाँ—जैसे समाधिकालमें योगीको दिव्य रूपादिका दर्शनरूप अन्तरसिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, इसी प्रकार उत्थानकालमें बाह्य सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। जैसे अग्निके सम्बन्धसे सुवर्ण मलादिक विकारोंसे रहित हो जाता है, इसी प्रकार योगरूप अग्निसे योगीके पाञ्चभौतिक स्थूल शरीरके सम्पूर्ण रोग तथा जरामृत्युका नाश हो जाता है। योगके प्रभावसे योगीका शरीर हलका सुवर्णके समान कान्तिवाला और नीरोग हो जाता है। उसके दर्शनसे लोगोंके मन और नेत्रोंको आनन्द होता है। योगीका स्वर मधुर हो जाता है और चम्पकादिक पुष्पोंकी गन्धके समान योगीके शरीरकी गन्ध हो जाती है। योगीके शरीरमें अन्न-जलादिकोंका अत्यन्त पाचन होता है, इसलिये अधिक भोजन करनेपर भी उसके विष्ठामूत्रादिक अल्प होते हैं। पृथिवी-स्वर्गादिक लोकोंके विषयोंमें योगीकी इच्छा नहीं होती। इत्यादि अनेक प्रकारके फल आत्मसाक्षात्कारसे पहले योगीको प्राप्त होते हैं। उसी समय योगीको अणिमादिक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, यदि वह उनमें आसक्त हो जाता है, तो उसे आत्मसाक्षात्कार नहीं होता किन्तु वह योगभ्रष्ट हो जाता है। यदि योगी सिद्धियोंसे मुख मोड़ लेता है, तो उसे आत्मसाक्षात्कार होता है और वह कृतार्थ हो जाता है।

योगसे ज्ञानकी विलक्षणता।

हे संन्यासियो! योगशास्त्रवाले पुरुष जैसे केवल त्वंपदार्थके ज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति मानते हैं, इस प्रकार तुमको न मानना चाहिये किन्तु पहले योगके प्रभावसे सर्व भेदसे रहित स्वयंज्योतिरूप तत्पदार्थ ब्रह्मके स्वरूपको जानना चाहिये, पीछे कार्य-कारणसे रहित तथा जन्म-मरणादिक विकारोंसे रहित त्वंपदार्थरूप आत्माके स्वरूपको जानना चाहिये और पीछे 'अद्वितीय ब्रह्म मैं हूँ' इस प्रकार जीव-ब्रह्मके अभेदका निश्चय करना चाहिये। ऐसा करनेसे ही तुम अविद्यादिक सर्व पाशोंसे मुक्त होगे, केवल त्वंपदार्थके ज्ञानसे अविद्यादिक पाशोंकी निवृत्ति नहीं होती।

परमात्माका स्वरूप।

हे संन्यासियो! योगी पुरुष जिस स्वयंज्योति आत्माका साक्षात्कार करते हैं, वह स्वयंज्योति आत्मा पूर्वादिक दशों दिशारूप है। वही परमात्मदेव पूर्व हिरण्यगर्भरूपसे उत्पन्न होता है, वही ब्रह्माण्डरूपसे जलादिकोंमें स्थित होता है, वही स्त्रियोंके गर्भमें स्थित हो जाता है, वही बुद्धि आदिक संघातके भीतर वर्तमान है, वही इन्द्रियादिक संघातका भोक्तारूप है, और वही अग्नि-जलादिक महाभूतोंमें स्थित है। जो पदार्थ पूर्व उत्पन्न हुए हैं और आगे होंगे, उन सबमें परमात्मदेव ही व्यापक है। वह परमात्मदेव सम्पूर्ण विश्वको उत्पन्न करके विश्वमें आप ही प्रवेश करता है, इसलिये सर्व जीवोंके हृदयमें साक्षीरूपसे विराजमान है। परमात्मदेव सम्पूर्ण स्थावर-जंगम पदार्थोंमें स्थित है, इसलिये सर्व भूतरूप है। ऐसे सर्वरूप शुद्ध परमात्मदेवको हमारा बारंबार नमस्कार है!

आत्मसाक्षात्कार करानेवाली विद्या।

हे संन्यासियो! आत्मसाक्षात्कारका साधन-

रूप अष्टांगयोग संक्षेपसे मैंने तुमसे कहा। अब उस योगसे प्राप्त होनेयोग्य अद्वितीय आत्माका साक्षात्कार जिस विद्यासे होता है, उस विद्याको सुनो—

'हे संन्यासियो! पूर्वमें जो परमात्मदेव हमने तुमसे कहा और अब जो कहा, वह परमात्मदेव एक ही है और वही इस संसारजालका स्वामी है। वह परमात्मदेव अपने वशवर्त्ती मायाकी अनेक शक्तियोंसे सम्पूर्ण लोकोंको अपने वशमें रखता है और जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लयमें समर्थ है। ऐसे परमात्मदेवका जो अधिकारी गुरु शास्त्रके उपदेशसे साक्षात्कार करता है, वह अमृतरूप मोक्षको प्राप्त होता है और फिर उसका जन्म नहीं होता। जिस पदार्थका जन्म होता है, उसका नाश भी होता है। जैसे घटादिक पदार्थोंका जन्म होता है तो काल पाकर उनका नाश भी अवश्य होता है। आत्मसाक्षात्कारसे विद्वान् जन्मरहित हो जाता है, इसलिये मरणको भी प्राप्त नहीं होता, हे संन्यासियो! यह परमात्मदेव जैसे अपनी मायाशक्तिसे जगत्की उत्पत्ति, स्थिति करता है, इसी प्रकार प्रलयकाल आनेपर जगत्का नाश करके सब जीवोंको दुःखकी प्राप्ति करता है, इसलिये श्रुति भगवती परमात्मदेवको रुद्र कहती है। जैसे मकड़ी अपने शरीरसे तन्तुओंको उत्पन्न करती है, उनका पालन करती है और अन्तमें उनको अपनेमें लय कर लेती है, इसी प्रकार परमात्मदेव सृष्टिकालमें जगत्को अपनेमेंसे उत्पन्न करता है, स्थितिकालमें पालन करता है और प्रलयकालमें अपनेमें लय करके अद्वितीयरूपसे स्थित होता है। हे संन्यासियो! इस लोकमें स्थावर-जङ्गम सब शरीरोंमें जितनी नेत्रादिक ज्ञानेन्द्रियाँ और वागादिक कर्मेन्द्रियाँ हैं, वे सब इन्द्रियाँ परमात्मदेवकी ही हैं। वह ही परमात्मदेव अपनी मायाशक्तिसे प्रथम आकाशादिक पञ्चभूतोंको उत्पन्न करता है और पीछे शरीरादिक भौतिक पदार्थोंको उत्पन्न करता है। जैसे दो पक्ष और दो भुजाओंसे युक्त पक्षी अपने घोंसलेको रचता है, इसी प्रकार आकाशादिक पक्ष और पुण्यपापरूप दो भुजाओंसे युक्त परमात्मदेव सम्पूर्ण भौतिक प्रपञ्चको रचता है, स्वर्गादिक ऊपरके लोक और भूमि आदिक नीचेके लोकोंको उत्पन्न करता है। इसमें इतनी विशेषता है कि पक्षी तो अपनेसे भिन्न घरको रचता है और परमात्मा तो अपनेको ही जगत्रूप करता है। तात्पर्य यह है कि पक्षी तो अपने घरका केवल निमित्तकारण है, उपादानकारण नहीं है और परमात्मा तो जगत्का उपादान और निमित्तकारण दोनों है। इन दोनों कारणतामें पूर्वोक्त मकड़ीका दृष्टान्त ही समीचीन है।

हे संन्यासियो! जो रुद्र भगवान् इस सम्पूर्ण विश्वसे अधिक हैं, सम्पूर्ण वेदोंके स्मरण करनेवाले महान् ऋषि हैं, सर्व ज्ञानोंसे सम्पन्न हैं, अग्नि आदि देवता तथा वागादिक इन्द्रियोंकी उत्पत्ति, स्थिति, लय करनेवाले हैं, जिन्होंने पूर्व हिरण्यगर्भको और पीछे स्थावर-जंगमरूप शरीरोंको उत्पन्न किया है, वे ही रुद्र भगवान् हम अधिकारी जीवोंको शुभ बुद्धि प्रदान करते हैं, इसलिये मैंने उनकी पूर्वमें इस प्रकार स्तुति की थी।

हे रुद्र भगवान्! आपकी दो मूर्ति हैं। एक सात्त्विकी मूर्ति है, दूसरी तामसी मूर्ति है। इन दोनोंमेंसे ब्रह्मविद्याकी प्रवर्त्त करनेवाली जो आपकी सात्त्विकी मूर्ति है, वह गुरुमूर्तिरूपसे हम विचारहीन अज्ञानी जीवोंका प्रकाश करे! हे भगवन्! जैसे बुद्धिमान् वैद्य नेत्रहीन अन्धोंको नेत्रोंकी प्राप्ति कराके आँखवाला बना देता है, इसी प्रकार मोहरूप रोगसे अन्धे नेत्रवाले हम अधिकारियोंको अपनी गुरुमूर्तिका दर्शन कराके हमारे बुद्धिरूप नेत्र खोलिये! हे भगवन्! पापी जीवोंको संसाररूप

गड्ढेमें डालनेके लिये आप दूसरी नारीरूप तामसी मूर्ति धारण कर रहे हैं, उस तामसी मूर्तिको हमारे सुखका हेतु कीजिये ! आपकी तामसी मूर्ति काम-क्रोधादिरूप लोहमय है, धनुष-बाणके समान वैरी आदिकोंको निवारण करनेवाली है तथा अत्यन्त भयानक रूपवाली है। हे भगवन् ! ऐसी नारीरूप तामसी मूर्तिमें आप इस जगत्‌रूप पुरुषको प्रमादरूप मृत्युकी प्राप्ति न कराइये। हम अधिकारी जीवोंके वास्तव स्वरूपको आच्छादित न कीजिये।

हे संन्यासियो ! जब मैंने इस प्रकार रुद्र भगवान्‌से प्रार्थना की तो मेरा अन्तःकरण काम-क्रोधादि विकारोंसे शुद्ध हो गया और मैंने रुद्र भगवान्‌की गुरुरूप सात्त्विकी मूर्तिको देखा। उस मूर्तिके दर्शनसे मैं कृतकृत्य हो गया। हे संन्यासियो ! जैसे इस लोकमें पुत्ररहित धनी पुरुष पुत्रको प्राप्त करके अपनेको कृतकृत्य मानता है, जैसे सर्वदा स्त्रीका चिन्तन करता हुआ कामी पुरुष उस स्त्रीको पाकर अपनेको कृतकृत्य मानता है, जैसे अत्यन्त कृपण लोभी पुरुष पूर्व नष्ट हुए धनको पाकर अपनेको कृतकृत्य मानता है, इसी प्रकार रुद्र भगवान्‌की गुरुरूप सात्त्विकी मूर्तिको पाकर मैंने अपनेको कृतकृत्य माना। हे संन्यासियो ! रुद्र भगवान्‌की गुरुरूप मूर्तिने जो मुझपर उपकार किया है, उस उपकारसे उऋण होनेको, मैं श्वेताश्वतर, इस लोकमें, स्वर्गादि लोकोंमें कोई प्रत्युपकार नहीं देखता। हे संन्यासियो ! जैसे मैं, श्वेताश्वतर ऋषि, रुद्र भगवान्‌की गुरुमूर्तिको देखकर कृतकृत्य हुआ हूँ, इसी प्रकार तुम भी जब पूर्वोक्त स्तुति करके रुद्र भगवान्‌की गुरुमूर्तिका दर्शन करोगे, तब तुम भी कृतकृत्य हो जाओगे। हे संन्यासियो ! रुद्र भगवान्‌की गुरुमूर्तिने मुझे इस प्रकार उपदेश दिया था—हे पुत्र ! कारण अज्ञानसहित जो यह संसारचक्र है, इस संसारचक्रसे पर जो अद्वितीय ब्रह्म है, वही तेरा वास्तव स्वरूप है। कर्ता, भोक्ता, संसारी तेरा वास्तव स्वरूप नहीं है।

हे संन्यासियो ! जब इस प्रकार नाना प्रकारकी युक्तियोंसे रुद्ररूप गुरुमूर्तिने मुझे आत्माका उपदेश किया तब उस उपदेशसे मैंने संशय-विपर्ययसे रहित होकर संसारजालसे परे स्थित अद्वितीय ब्रह्मको अपना आत्मारूप जाना। वह परब्रह्म सर्वसे अधिक है, उससे अधिक कोई नहीं है। कारण अज्ञानसहित आकाशादिक पञ्चभूत उस परमात्मदेवके शरीररूप हैं। वास्तवमें परमात्मदेव शरीरसे रहित है। जैसे आकाश जिस-जिस घट-मठादिक उपाधियोंमें स्थित होता है, उस-उस उपाधिके समान आकारवाला प्रतीत होता है, इसी प्रकार जिस-जिस जीवका जैसा-जैसा शरीर है, उस-उस शरीरमें परमात्मदेव उस-उस रूपसे स्थित होता है। श्रुति—'समः प्लुषिणा समो मशकेन' अर्थ—प्लुषि मशकादिक अल्प शरीरोंमें तथा हस्ती आदिक महान् शरीरोंमें स्थित होकर यह परमात्मदेव उन शरीरोंके समान आकारवाला प्रतीत होता है।

शंका—हे भगवन् ! जब परमात्मदेव सब शरीरोंमें स्थित है तो सब जीवोंको प्रतीत क्यों नहीं होता।

समाधान—हे संन्यासियो ! जैसे सब काष्ठोंके भीतर अग्नि गुह्य होकर रहता है और काष्ठोंके मथनरूप उपाय विना प्रतीत नहीं होता, इसी प्रकार परमात्मदेव भी सब भूतप्राणियोंमें गुह्य होकर रहता है और आत्मज्ञानरूप उपाय विना प्रतीत नहीं होता। और हे संन्यासियो ! जैसे मकड़ी चारों ओरसे तन्तुओंको वेष्टन करके उनमें स्थित होती है, इसी प्रकार परमात्मदेव भी स्थावर-जंगमरूप जगत्‌को सर्व ओरसे व्याप्त करके उसमें स्थित होता है। जो अधिकारी गुरुरूप रुद्र भगवान्‌की मूर्तिको प्राप्त होकर परमात्मदेवका

साक्षात्कार करते हैं, वे ही जन्म-मरणादिक विकारोंसे रहित होते हैं। ऐसे मायारूप तमसे परे स्वयंज्योति व्यापक आत्माको मैं, श्वेताश्वतर ऋषि, रुद्र भगवान्‌के प्रसादसे जानता हूँ। जैसे मैं गुरुके उपदेशसे अद्वितीय परमात्माको जानकर संसाररूप मृत्युसे रहित हुआ हूँ, इसी प्रकार दूसरे अधिकारी भी गुरुके उपदेशसे परमात्माको जानकर संसाररूप मृत्युसे रहित होते हैं। हे संन्यासियो! अज्ञानकी निवृत्तिपूर्वक ब्रह्मभावकी प्राप्तिरूप मोक्षकी प्राप्तिके लिये आत्मज्ञानके सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है किन्तु 'मैं अद्वितीय ब्रह्म हूँ' इस प्रकारका अभेद ज्ञान ही मोक्ष-प्राप्तिका उपाय है, इसलिये अधिकारियोंको श्रवण-मननादिक साधनोंसे आत्मज्ञानका अवश्य सम्पादन करना चाहिये।

श्रुति--

'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।'

'अद्वितीय ब्रह्मको अपना आत्मरूप जानकर विद्वान् संसाररूप मृत्युसे पार होता है, मोक्षकी प्राप्तिके लिये आत्मज्ञानके सिवा दूसरा मार्ग नहीं है।' हे संन्यासियो! परमात्मदेव सबका आत्मा है, इसलिये परमात्मासे कोई पदार्थ अधिक नहीं है और कोई पदार्थ सूक्ष्म नहीं है। जैसे अनेक शाखा-पत्तोंसे युक्त कोई महान् वृक्ष बहुत अवकाशको व्याप्त करके स्थित होता है, इसी प्रकार यह परमात्मदेव भी सम्पूर्ण जगत्‌को व्याप्त करके अपने स्वप्रकाश रूपमें स्थित है। यद्यपि यह निर्गुण परमात्मा ही समष्टि-स्थूल-शरीररूप उपाधिके सम्बन्धसे विराट्‌रूप होता है, समष्टि-सूक्ष्म-शरीररूप उपाधिके सम्बन्धसे हिरण्यगर्भरूप होता है, और समष्टि-कारण-अज्ञानरूप उपाधिके सम्बन्धसे ईश्वररूप होता है, तो भी परमात्माका विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वररूप केवल उपासनामें उपयोगी है परन्तु वह उपाधि-युक्तरूप मुमुक्षुओंके जाननेयोग्य नहीं है किन्तु स्थूल, सूक्ष्म कारणसे परे निर्गुण स्वरूप ही मुमुक्षुओंको जानना चाहिये क्योंकि विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वरमें नाम, रूप, क्रिया इन तीन प्रकारका जगत् विद्यमान है। जो-जो पदार्थ नाम, रूप और क्रियासे युक्त होता है, वह-वह पदार्थ मिथ्या ही होता है और जो-जो पदार्थ मिथ्या होता है, वह-वह पदार्थ रज्जु-सर्पके समान नाशवान् होता है। परमात्माके विराट् आदिक स्वरूप भी मिथ्या होनेसे नाशवान् हैं, इसलिये मुमुक्षुओंको जाननेयोग्य नहीं है किन्तु विराटादिक तीनोंसे परे शुद्ध निर्गुण आत्मा ही जाननेयोग्य है। ऐसे निर्गुण शुद्ध परमात्मदेवको जो अधिकारी अपने आत्मरूपसे जानता है, वही मोक्षरूप अमृतभावको प्राप्त होता है और जो लोग ऐसे निर्गुण परमात्माको आत्मरूपसे नहीं जानते, वे संसारमें अनेक दुःखोंको प्राप्त होते हैं।

श्रुति—

'य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापि यन्ति।'

'मैं अद्वितीय ब्रह्मरूप हूँ, इस प्रकार जो अधिकारी पुरुष आत्माको जानते हैं, वे मोक्षरूप अमृतभावको प्राप्त होते हैं और जो अद्वितीय ब्रह्मको नहीं जानते, वे अज्ञानी पुरुष संसारमें केवल दुःखको ही प्राप्त होते हैं।'
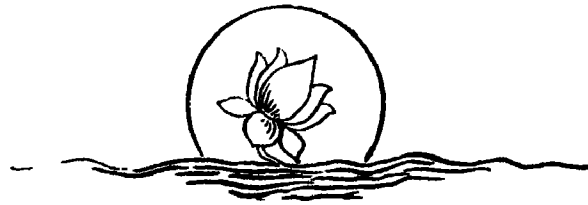
अवतारकी कर्मधारा

(लेखक—श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय)

'कल्याण'के पिछले कुछ अंकोंमें, गीताशास्त्रमें भगवान् श्रीकृष्णने अपना किस प्रकार परिचय दिया है और जीव-जगत्के साथ अपने सम्बन्धकी कैसी व्याख्या की है इस विषयपर आलोचना कर चुका हूँ। मानव-कर्मक्षेत्रमें अवतीर्ण होनेके सम्बन्धमें उन्होंने कहा है कि 'मैं नित्य निर्विकार सच्चिदानन्दघन स्वरूपमें विराजमान रहते हुए ही, देशातीत कालातीत जन्म-कर्मरहित स्वयंज्योति स्वराट् अवस्थासे तनिक भी च्युत न होते हुए ही, अपनी अघटनघटनापटीयसी मायाशक्तिका अवलम्बन करके, अपनी ही स्वभावभूता प्रकृतिमें अधिष्ठान करके इस वैचित्र्यमय चिरपरिणमनशील देशकालाधीन प्राकृतिक विश्वमें युग-युगमें प्रकट होता हूँ और नाना प्रकारके कर्म करता हूँ।' तत्त्वदृष्टिसे देखनेपर इसमें कुछ भी असम्भावना नहीं है। फिर, उन्होंने स्पष्ट घोषणा की है कि 'मेरे अवतीर्ण होनेका उद्देश्य है—जगत्में धर्मसंस्थापन और इसके लिये मेरा कार्य है साधुओंका परित्राण और पापियोंका विनाश।' भगवान्की यह अवतार ग्रहण करनेकी नीति उनकी विश्वपालिनी नीतिका एक विशेष अङ्ग है। इस विश्वकी संस्थिति, सुश्रृङ्खला और सुनियत कर्मप्रवाह, इसके अन्दर रहनेवाले असंख्य विचित्र सजीव और निर्जीव, सज्ञान और अज्ञान, स्वाधीन और पराधीन पदार्थोंमें सुन्दर सामञ्जस्य, सहयोग, और परस्पर कल्याण-कारिता सदासे धर्मपर ही निर्भर है। धर्मका प्रादुर्भाव रहनेसे जगत्के सभी व्यापार सुशोभन रूपसे चलते रहते हैं और धर्मकी ग्लानि होनेसे ही नाना प्रकारकी विश्रृङ्खलताएँ उत्पन्न हो जाती हैं। फिर, अधर्मकी प्रतिद्वन्द्विता न रहनेसे धर्मका गौरव नहीं रहता, उसका धर्मत्व ही नहीं रहता। इतना ही नहीं, यदि जगत्में अधर्मका पूर्ण अभाव हो जाय तो जगत्का प्रवाह ही असम्भव हो उठे; समस्त विश्वजगत् परिपूर्ण साम्यमय अव्यक्त ब्रह्मस्वरूपमें या भगवत्-प्रकृतिमें पर्यवसित हो जाय। अधर्मसंस्पर्शसे रहित धर्म निर्दोष सम-स्वरूप—'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'—है, उसमें किसी प्रकारकी विषमता नहीं उत्पन्न हो सकती। अतएव विशुद्ध धर्मके द्वारा जगत्का प्रवाह ही नहीं चल सकता। अधर्मालिङ्गित धर्मसे ही विश्वकी सृष्टि और स्थितिका प्रवाह चल रहा है; अधर्मके साथ सम्बन्धित रहकर और अधर्मको परास्त करके ही धर्म जगत्में साम्य और श्रृङ्खला, सौन्दर्य और माधुर्य तथा ज्ञान और प्रेमका संस्थापन करता है।

इसीलिये भगवान्की विश्वविधायिनी नीतिमें धर्म और अधर्मका संघर्ष और सम्पर्क नित्य देखा जाता है। इस दृश्य-मान जगत्में जन्मके साथ मृत्यु, सृष्टिके साथ प्रलय, वृद्धिके साथ क्षय, लाभके साथ हानि, भीतरके साथ बाहर, उच्चके साथ नीच, सुखके साथ दुःख और भोगके साथ त्याग जैसे कभी न छूटनेवाले परन्तु परस्पर-विरुद्ध सम्बन्धसे सम्बन्धित हैं, वैसे ही धर्मके साथ अधर्म भी परस्परविरोधी परन्तु अनिवार्य सम्बन्धसे सम्बन्धित है। अकेले अधर्मसे सत्ताका अभाव हो जाता है, और अकेले धर्मसे केवल ब्रह्मसत्ता ही रह जाती है। धर्म और अधर्मका संयोग और द्वन्द्व ही परिणतिशील जगत्-सत्ताके विकासका कारण है। इस द्वन्द्वके इतिहासमें कभी धर्मकी ग्लानि और अधर्मका अभ्युदय एवं कभी अधर्मकी ग्लानि और धर्मका प्रादुर्भाव देखनेमें आता है। परिणामका यही नियम है। यही भगवान्का विधान है। इस परिणामक्रममें कभी-कभी एक बड़ी भयानक सङ्कटमयी स्थिति जगत्में या जगत्के किसी अंशविशेषमें आ जाती है। उस समय ऐसा मालूम होता है कि जगत्में कार्य करनेवाली धर्मकी वर्तमान शक्ति मानो अधर्मके प्रबल आक्रमणसे अपनी आत्मरक्षा करनेमें असमर्थ हो गयी है, मानो उसकी सत्ता अधर्मकी सत्तामें मिलकर अपनेको खो देनेके लिये बाध्य हो रही है। अधर्म मानो धर्मको अपने पैरों तले कुचलकर—रौंदकर जगत्में या जगत्के उस अंशमें अपना समस्त श्रृङ्खलाओंको नाश करनेवाला और अशान्ति, विषमता, हिंसा, कलह और वैरको उत्पन्न करनेवाला विश्व-विधानका ध्वंसकारी आधिपत्य स्थापित करनेके लिये उद्योग कर रहा है!

भगवान् कहते हैं कि ऐसे सङ्कटके समय मैं अपनेको इस जगत्में विशेष भावसे प्रकट करता हूँ। ऐसे समयमें अनन्त धर्मके अप्रमेय भण्डारस्वरूप भगवान् अपनी ही विश्वविधायिनी नीतिके अनुसार स्वयं अपनी धर्ममयी ईश्वरी-शक्तिके साथ अवतीर्ण होकर जगत्में पुनः धर्मका आधिपत्य स्थापन करते हैं, मानव-जातिके आन्तर राज्यमें और बहिःराज्यमें एक शक्ति-

सम्पन्न धर्मकी आँधी बहा देते हैं, धर्म-प्रतिकूल और अधर्मानुकूल शक्तियों और अवस्थाओंका प्रयोजनके अनुसार विनाश करते हैं, चित्त-चमत्कारिणी विचित्र लीलाएँ दिखलाकर मनुष्य-समुदायके हृदय, मन और बुद्धिको धर्मकी ओर खींचते हैं और जगत्में अधर्मकी ओर जानेवाले प्रवाहको अत्यन्त क्षीण करके धर्मकी ओर जानेवाले प्रवाहकी विजयघोषणा करते हैं।

मानव-जातिका इतिहास भी साक्षी देता है कि जब कभी अधर्मपरायण शक्तियाँ बढ़ते-बढ़ते यहाँतक बढ़ जाती हैं कि मानव-जातिके साम्य और शृंखलाको नष्ट करके, मनुष्योंको उनके स्वाधीन चिन्तन, स्वाधीन भाव और स्वाधीन कर्मके जन्मसिद्ध अधिकारसे वञ्चित करके, सब प्रकारकी शास्त्रीय व्यवस्थाओंको पददलित करके, मनुष्यत्वका विकास करनेवाले सद्गुणोंके यथोचित प्रकाशका मार्ग बंद करके और धर्मानुकूल शक्तियोंको चूर-चूर करके अधर्मका एकछत्र राज्य स्थापित करनेका आयोजन करने लगती हैं, और जब धर्मकी पालना और उपासना करनेवाले लोग सर्वथा निरुपाय होकर समाज-रूपी घरके किसी एकान्त कोनेमें छिपे रहकर ही धर्मकी बत्ती जलाये रखते हैं और अपने देह-मन-प्राण सबको व्याकुलतासे भरकर अनन्यभावसे भगवच्चरणोंमें करुण-प्रार्थना करने लगते हैं, तभी मानव समाजमें किसी-न-किसी अपरिमित ज्ञान, प्रेम और शक्तिसे सम्पन्न अनन्यसाधारण महापुरुषका आविर्भाव होता है और उसके अचिन्त्य प्रभावसे धर्मकी वह क्षीण बत्ती क्रमशः पुष्ट और उज्ज्वल होकर जलने लगती है। अधर्मके अनुचरगण उसके तेजसे जल जाते हैं। मनुष्य अपनी-अपनी मर्यादामें स्थित होकर स्वाधीन विचारशक्ति और इच्छाशक्तिके सद्व्यवहारद्वारा कल्याणके मार्गपर आगे बढ़ने लगते हैं, समाजके शरीर और अन्तःकरण पुनः धर्मसंगत विधि-व्यवस्थाओंके शासनाधिकारमें आ जाते हैं, भगवान्का अंगीभूत सनातन अविकृत धर्म युगोपयोगी आकार-प्रकार, वेशभूषा और अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित होकर मानव-समाजके ऊपर पुनः अपना राजत्व स्थापित कर लेता है और जगत्में साम्य और सुशृंखलाकी स्थापनाकरके उसके सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्यको बढ़ाता है। इस प्रकार महापुरुषोंके अंदर भी ईश्वरी शक्तिका आविर्भाव होता है। और समय-समयपर स्वयं भगवान् भी अवतीर्ण होते हैं। उनका बाह्य स्वरूप प्राकृत मनुष्यके सदृश दीखनेपर भी वे अपने अनन्य साधारण अनन्त ज्ञान, प्रेम, शक्ति और ऐश्वर्यसे पूर्ण रहते हैं और देश, काल तथा अवस्थाके अनुसार इन ज्ञान-प्रेम-शक्ति आदिका बहिःप्रकाश करके संसारके प्रवाहकी गतिको फिराकर धर्मकी ओर कर देते हैं। क्षीण हुई जागतिक धर्मशक्तिके अंदर अपनी अचिन्त्य महिमामयी सनातनी धर्मशक्तिको प्रविष्ट करके उसके द्वारा महान् प्रतापमयी अधर्म-शक्तिका पराजय कराकर धर्मकी विजय-पताका फहरा देते हैं। इस प्रकार युग-युगमें भगवान्के नये-नये आविर्भाव होते हैं, धर्मके नये-नये रूप और भाव, नयी-नयी सम्पदा और माधुरी, तथा नये-नये तत्त्व और साध्य-साधन-रहस्य प्रकट होते हैं। इन सब अवतारोंके द्वारा मनुष्य भगवान्की अप्रमेय भगवत्ताका घनिष्ठतर परिचय प्राप्त करता है, भगवान्को निज जन समझने लगता है और जीवके प्रति उनके अपरिमित प्रेमका अनुभव करता है, और इसीके साथ-साथ वह धर्मके प्रति अधिकतर आकर्षित होता है।

अब स्वभावतः ही यह प्रश्न उठता है कि भगवान् अवतीर्ण होकर धर्मकी स्थापना और इसके लिये साधुओंका परित्राण और दुष्कृतोंका विनाश किन-किन उपायोंसे करते हैं? इस प्रश्नके पहले ही निम्नलिखित प्रश्नोंका मनमें उठना स्वाभाविक है—जैसे—'सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान भगवान् अपने राज्यमें धर्मकी ग्लानि और अधर्मका अभ्युत्थान होने ही क्यों देते हैं? ऐसा हो भी जाता है तो फिर धर्मराज्यकी स्थापनाके लिये सर्वशक्तिमान् भगवान्को जगत्में मनुष्यादि शरीर धारण करके स्वयं अवतार क्यों लेना पड़ता है, क्या विना अवतार लिये वे अपनी शक्तिसे धर्मकी स्थापना नहीं कर सकते? अवतार भी लेते हैं तो फिर उन्हें अपने उद्देश्यकी सिद्धिके लिये भाँति-भाँतिके उपाय क्यों करने पड़ते हैं, क्या इससे उनकी सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता और अनन्तताकी हानि नहीं होती? इन सब प्रश्नोंकी आलोचना दूसरे लेखमें करनेका विचार है। भगवान् अपनी स्वतन्त्र इच्छासे ही विशेष-विशेष अवसरोंपर, विशेष-विशेष स्थानोंमें, विशेष-विशेष अवस्थाओंमें, विशेष-विशेष देहोंमें अवतीर्ण होते हैं और विशेष-विशेष उद्देश्यसिद्धिके लिये विशेष-विशेष उपायोंका अवलम्बन किया करते हैं। वे अनन्त होकर शान्तरूपमें प्रकट हुए दीखते हैं, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् होनेपर भी अल्पज्ञ और परिमित शक्तिवालेके सदृश व्यवहार करते हैं,—यह उन्हींकी इच्छा है, उन्हींकी लीला है, और उन्हींका अपना विधान है; इस सत्यको स्वीकार करके ही गीतावाक्यके अनुसार उनकी कार्यप्रणालीकी आलोचना इस लेखमें की जाती है।

गीतामें अवतारवादकी उपक्रमणिकामें भगवान्‌ने ऐतिहासिक सत्यकी भाँति एक तथ्य बतलाया है—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥

यह अव्यययोग मैंने विवस्वान् (सूर्य) से कहा था, विवस्वान्‌ने मनुसे कहा था, मनुने इक्ष्वाकुको बतलाया था। इस प्रकार राजर्षिगण परम्पराप्राप्त इस योगको जानते थे। हे परन्तप ! कालक्रमसे यह योग इस लोकमें नष्ट हो गया। आज उसी पुरातन योगको मैं तुमसे कह रहा हूँ। तुम मेरे भक्त और सखा हो, इसीसे यह सर्वोत्तम रहस्य मैंने तुमसे कहा है।

उपर्युक्त तीन श्लोकोंमें भगवान्‌ने अपने अवतारोंके प्रधान कार्यका उल्लेख किया है। धर्मसंस्थापनके उद्देश्यसे भगवान् युग-युगमें अवतीर्ण होते हैं और अपने नित्य सत्य सनातन योगधर्मका देश, काल और अवस्थाके अनुसार उपयोगी आकारमें सुयोग्य पात्रके द्वारा लोकसमाजमें प्रचार कराते हैं। परिपूर्ण योगधर्मके नित्यसिद्ध विग्रहस्वरूप भगवान् स्वयं ही मानवसमाजमें प्रवर्तित स्निग्धोज्ज्वल योगधर्मके आदि गुरु हैं। वे ही करुणाघनस्वरूपमें युग-युगमें आविर्भूत होकर अपनी स्वरूपभूता विद्याशक्तिके अवलम्बनसे अपने ही अङ्गीभूत सनातन योगधर्मका उत्तम रहस्य जगत्‌के कल्याणके लिये मानवहृदय और मानवबुद्धिके सामने व्यक्त करते हैं और उसके द्वारा समाजके विचार, भाव और कर्मोंको प्रभावित करते हैं। पूर्वोक्त प्राकृतिक नियमानुसार धर्म और अधर्मके चिरन्तन द्वन्द्वके परिणामस्वरूप यह भगवदुपदिष्ट योगधर्म कालक्रमसे लोकसमाजमें कुछ आवृत और प्रभावहीन हो जाया करता है। धर्मकी यह ग्लानि जब भयानक सङ्कटमय रूप धारण कर लेती है, तभी उन अनादि-गुरु विद्याधीश भगवान्‌के आविर्भावका समय उपस्थित होता है; ऐसा सङ्कटकाल ही इस जगत्‌में मानो लीलामय प्रेममय भगवान्‌की स्वकीया प्रकृतिमें विहित विचित्र ऐश्वर्य और माधुर्यादिसे परिपूर्ण लीलाओंको और सुनिर्मल योगधर्मके रहस्यको प्रकट करनेका सुयोग देता है।

धर्मका सार तत्त्व ही योग है। योगपथका अवलम्बन करनेसे ही धर्मकी स्थापना होती है, और धर्मके संस्थापित होनेसे ही योगसिद्धि होती है। योगका तात्पर्य है मिलन—समन्वय—एकीकरण। 'बहुत' जब एकीभूत हो जाता है, और 'एक' जब 'बहुत' के अन्दर भलीभाँति प्रविष्ट होकर सर्वत्र अपनेको प्रकाशित करता है, 'बहुत' जब 'एक' के द्वारा अनुप्राणित, सुसम्बद्ध और सुनियन्त्रित होकर परस्पर निर्द्वन्द्व भावसे सम्मिलित हो जाता है, एवं जागतिक वैचित्र्यमें तात्त्विक ऐक्यके प्रकाशसे जब सर्वत्र साम्य, शृंखला, सौन्दर्य और शान्ति विराजने लगती है, तभी योगकी प्रतिष्ठा होती है। और तभी धर्मका संस्थापन होता है। अधर्म वियोगकी सृष्टि करता है; जिनके सम्मेलनसे विश्वमें सुशृंखल स्थिति होती है, अधर्म उनको परस्पर विच्छिन्न करके द्वन्द्वकी सृष्टि करता है; अधर्म 'बहुत' के अन्दर 'एक' को छिपाकर उन सबको अलग-अलग प्रधान बनानेकी चेष्टा करता है और ऐसा करके वह नाना प्रकारके संघर्ष और विशृंखलाएँ उत्पन्न कर देता है। भगवदुपदिष्ट योगशक्तिका विकास करके उसके द्वारा वियोग करनेवाली अधर्म-शक्तिको पराजितकर जगत्‌में धर्मकी संस्थापना करनी पड़ती है। धर्म और अधर्मके संघर्षमें योगशक्तिकी वृद्धिके द्वारा धर्मकी प्रबलता और अधर्मका पराजय करना भगवान्‌की विश्व-विधायिनी नीति है। अतएव धर्म-संस्थापनके लिये मानवजातिमें योगानुकूल बुद्धिके उद्बोधन, योगपथके निर्देश, योगके माहात्म्यका प्रकाश, योगविरोधिनी शक्तियोंमें ग्लानि-उत्पादन और योगको उद्दीप्त और पुष्ट करनेवाली विविध संस्थाओंकी स्थापना—यही सब भगवदवतारके मुख्य कार्य हैं। यह योगधर्म विचित्र देहवृत्ति, इन्द्रियवृत्ति, मनोवृत्ति और बुद्धिवृत्तिके अन्दर सु-सामञ्जस्यकी स्थापना करता है, व्यक्तिके साथ व्यक्तिका, व्यक्तिके साथ जातिका, एक जातिके साथ दूसरी जातिका और एक सम्प्रदायके साथ दूसरे सम्प्रदायका संघर्परहित मधुर प्रेमका सम्बन्ध स्थापित करता है, एवं मनुष्य तथा इतर प्राणियोंमें और जीव-जगत् तथा जड जगत्‌में एक दूसरेके अनुकूल भावोंकी सृष्टि करता है। योगधर्मके प्रभावसे विश्वमें सर्वत्र मिलनकी एक लहर बह जाती है—सर्वत्र ही विश्वके मूलभूत तथा विश्वके अन्दर स्थित आनन्दसत्ताका परिस्फुट प्रकाश फैल जाता है।

धर्म और अधर्मका संघर्ष वस्तुतः योगानुकूल और वियोगानुकूल शक्तियोंका संघर्ष है। धर्मकी ग्लानि और

अधर्मका अभ्युत्थान वस्तुतः कालक्रमसे होनेवाला योगके प्रभावका अभाव तथा योगविद्रोही भावका प्रादुर्भाव ही है। यह भगवदुपदिष्ट योगमार्ग ही मानवजातिके अभ्युदय तथा निःश्रेयस् (कल्याण) का मार्ग है और विश्व जगत्की सुनियत और सुशृंखल गति तथा स्थिति इसीके ऊपर निर्भर करती है। कालप्रवाहसे अधर्माभिभूत म्लानभावको प्राप्त अवसादग्रस्त योगके पुनरुद्धारके लिये ही योगेश्वर भगवान् युग-युगमें संसार-क्षेत्रमें अवतीर्ण होते हैं और युगोपयोगी रूपमें यथोचित आचरण और कर्मोंके साथ उस योगका जगत्में प्रवर्त्तन करते हैं।

मानवजातिमें इस प्रकार युगोपयोगी नये-नये रूपमें प्रकट होनेवाले विश्वजनीन योगधर्मके प्रवर्त्तनके लिये उपदेशप्रदान, तदनुकूल शास्त्रोंकी रचना और प्रचार एवं इसके लिये आचार्य-शिष्यकी परम्पराके क्रमसे शिक्षा-दीक्षाकी सुव्यवस्था अत्यावश्यक है। इतना ही नहीं, स्वयं आचरण करके अपने जीवनद्वारा इस योगका आदर्श सबके सामने उपस्थित करना प्रयोजनीय है। जनसाधारण स्वाभाविक ही समाजके श्रेष्ठ पुरुषके आचरणोंका अनुसरण करता है; समाजके प्रभावशाली सबसे श्रेष्ठ पुरुष जिस वस्तुको उत्तम और उपादेय मानकर अपने जीवनमें ग्रहण करते हैं, दूसरे लोग विना ही विचारके अथवा सहज विश्वासके अनुसार उसीको उत्तम और उपादेय समझकर ग्रहण करने लगते हैं; ऊँची मर्यादावाले विशिष्ट पुरुषोंके व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रिक व्यवहारोंमें ये लोग जिन नियमोंको देख पाते हैं और जिस प्रकारकी विचारधारा, भावधारा और कर्मधाराका परिचय पाते हैं, उन्हीं सब व्यवहारों, नियमों और धाराओंको इस लोक और परलोकके कल्याणका मार्ग समझकर वरण कर लेते हैं और उपर्युक्त उच्च स्तरके शक्तिशाली पुरुष जिन शास्त्रोंके विधि-निषेधोंको अपने जीवनके लिये नियामक मानते हैं, दूसरे लोग भी उन्हीं सब शास्त्रोंको प्रामाणिक और आचरणीय मान लेते हैं। यही स्वाभाविक नियम है, यही मानव-मनकी स्वाभाविक वृत्ति है। अतएव समाजके शीर्षस्थानीय प्रसिद्धि-प्राप्त नेताओं तथा ऊँचे माने जानेवाले पुरुषोंके चरित्र, साधन, रीति-नीति, आचार-विचारकी शुद्धि, उदारता और सत्यानुवर्तिता आदिके ऊपर ही जगत्में धर्मका संस्थापन और अधर्मका पराजय विशेषरूपसे निर्भर करता है।

> यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
> स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

भगवान्की यह वाणी मानव-मनके सनातन स्वभावकी गतिका निर्देश करती है। यह समझ रखना चाहिये कि धर्मकी ग्लानि और अधर्मका प्रादुर्भाव तभी भयानक रूप धारण करता है जब समाजके शीर्षस्थानीय श्रेष्ठ पुरुष, ऊँचे माने जानेवाले लोग, अधर्मको धर्म मानकर उसे ग्रहण कर लेते हैं और उनके जीवनके विभिन्न विभागोंमें अधर्मका प्रभाव स्पष्टरूपसे प्रकाशित हो उठता है। शठता, धूर्तता, धोखेबाजी, दूसरेकी उन्नतिमें असहिष्णुता, यही लोक सब कुछ है ऐसी धारणा, दम्भ, अभिमान, कामासक्ति, संकीर्णता, परद्रोह, शास्त्रोंकी अवज्ञा और यथेच्छाचार आदि धर्मविरोधी भाव जब समाजके उच्चपदस्थ आदर्श माने जानेवाले लोगोंके शारीरिक, वाचिक और मानसिक कर्मोंमें खुलेरूपमें दिखलायी देने लगते हैं और उनके इन सब भावोंका दमन तथा संशोधन करनेमें जब उन्नत और प्रबल राष्ट्रिक, सामाजिक और आध्यात्मिक शक्तिका अभाव हो जाता है, तब, ऐसा समझना चाहिये कि समस्त मानव-समाजकी अधोगति हो गयी है। कारण समाजके निम्न श्रेणीके लोग भी उस समय वैसे ही भावोंवाले हो जाते हैं और क्रमशः इन धर्मविरोधी भावोंकी साधनामें सिद्धि पाना ही वे उन्नतिका लक्षण समझने लगते हैं और इन्हींके लिये अपनी सारी शक्तिका प्रयोग करते हैं।

इस प्रकार दुरवस्थाके समय स्वयं भगवान अवतीर्ण होकर, लोकदृष्टिमें मनुष्यके सदृश ही रूप, गुण, शक्ति आदिको प्रकट करके मनुष्यकी तरह ही पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रिक कर्तव्योंका पालन करके एवं मनुष्यकी भाँति ही प्रयत्नपूर्वक स्वधर्मपालनके द्वारा नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त करके मानवसमाजके सामने मानव-जीवनका एक महान् आदर्श उपस्थित करते हैं और उसी ओर जन-साधारणका चित्त आकर्षित करते हैं। भगवान् श्रीकृष्णने गीताके तीन श्लोकोंमें अवतारके इस दूसरे कारणका निर्देश किया है—

> न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
> नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
> यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
> मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
> उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
> सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥

'हे पार्थ! तीनों लोकोंमें मेरे लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं है, न कोई ऐसी वस्तु है जो मुझे अप्राप्त है या जिसे प्राप्त करना

है। तथापि मैं कर्म करनेमें लगा रहता हूँ। यदि मैं सावधानताके साथ यथोचित कर्म न करूँ, तो मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही पथका अनुसरण करेंगे (कर्तव्यविमुख हो जायँगे)। अतएव मेरे कर्म न करनेसे सब लोक (कर्तव्यविमुख होकर और आलसी बनकर) नष्ट-भ्रष्ट हो जायँगे और मैं वर्णसंकरका करनेवाला बनूँगा तथा प्रजाको अधर्मग्रस्त करूँगा।'

अतएव देश, काल और अवस्थाके अनुसार स्व-स्वभावोचित यथाविहित धर्मसङ्गत कर्तव्यकर्मोंका सुचारुरूपसे सम्पादन करके जनसाधारणके सामने मानवीय धर्मसाधनाका एक समुज्ज्वल आदर्श उपस्थित करना अवतारका प्रधान कार्य है। भगवान् जब अवतीर्ण होते हैं, तब अपने अनन्य साधारण—अनन्त ज्ञान, शक्ति और ऐश्वर्य-माधुर्यके समयोचित प्रकाशद्वारा स्वभावतः ही समाजमें सर्वश्रेष्ठ स्थान अधिकार कर लेते हैं, और उस युगमें तथा उसके बादके युगमें कर्तव्यनिर्णय करनेके लिये शिक्षित और अशिक्षित मानव-समाजकी दृष्टि उन्हींके आचरण और उपदेशोंकी ओर दौड़ती है। समाजके धर्मप्राण मनीषीगण उन्हींके आदर्शोंका अनुसरण करते हैं और दूसरे सब लोग भी उन्हींके पीछे-पीछे चलकर उन्हींके दिखाये हुए पथपर जीवन लगा देनेमें अपना कल्याण समझते हैं। अतएव जगत्में धर्मराज्यकी पुनः प्रतिष्ठाके लिये, लुप्त धर्मका उद्धार करनेके लिये, मानव-समाजके शरीर, मन, बुद्धि और हृदयोंको योगमार्गमें खींचकर जगत्में साम्य, मैत्री, शृङ्खला और शान्तिकी स्थापनाके लिये, भगवान्‌की स्वभावभूता विश्वपावनी नीति उन्हें युग-युगमें ज्ञानमय, प्रेममय, शक्तिमय और धर्ममय विग्रह धारण कराके युगोपयोगी आकारमें पवित्र सनातनधर्मका आदर्श लोकचक्षुके सामने उपस्थित कराती है। भगवान् आदर्श आचार्य हैं—वे ही सब आचार्योंके आदर्श हैं। वे स्वयं आचरण करके जीवोंको धर्मशिक्षा देते हैं; और उनका जीवन उनके उपदेशोंका भाष्यस्वरूप होता है। कालकी गतिसे उपयुक्त आचार्यके अभाव और अधर्म-शक्तिके प्रादुर्भावसे जब-जब जीव उनके उपदिष्ट और प्रदर्शित धर्मपथको भुलाकर अकल्याणके मार्गपर दौड़ना चाहते हैं, तभी-तभी करुणाघनविग्रह भगवान् उनके बीचमें उतर आते हैं और पुनः युगोपयोगी भावसे उसी मार्गका संस्कार कर, रास्तेके काँटोंको हटाकर स्वयं आगे-आगे चलकर उन्हें उसी पथपर ले जाते हैं। यह उन्हींकी करुणाका विधान है। भगवान्के अवतारोंके जन्म-कर्म मानवसमाजके लिये अमूल्य सम्पत्ति हैं। मायाधीन जीवोंको अपने मायातीत सच्चिदानन्द-स्वरूपमें ले जानेके लिये ही भगवान्ने अपने अवतारोंद्वारा अपनी अहैतुकी दयासे अलङ्कृत ये सुदृढ़ सेतु (पुल) बना दिये हैं।

हृदयकी चाह

ब्रजके लता पता मोहि कीजै।
गोपी-पद-पंकज-पावनकी रज जामैं सिर दीजै॥
आवत जात कुंजकी गलियन रूप-सुधा नित पीजै।
श्रीराधे राधे मुख, यह बर मुँह माँग्यो हरि दीजै॥

पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके उपदेश

प्रश्न—भगवान्‌को देखकर श्रीजी मूर्च्छित क्यों होती हैं ?

उत्तर—दर्शनसे मिलन होता है। यदि होश बना रहा तो मिलन ही क्या हुआ। भगवान् और श्रीजी तत्त्वतः एक ही हैं। वे केवल लीलाके लिये दो बने हुए हैं। विना द्वैतके प्रेम नहीं हो सकता। बस, प्रेम-सुखके विस्तारके लिये ही उन्होंने द्वैत स्वीकार किया है। जिस समय प्रेमका अत्यन्त उत्कर्ष होता है उस समय द्वैतजनित पार्थक्य भी असह्य हो जाता है और उसके लिये गुञ्जाइश न रहनेके कारण होश नहीं रहता। यह ठीक है कि चिन्मयी होनेके कारण उनका मूर्च्छित होना नहीं बनता तथापि लीलामें तो यह सब हो ही सकता है।

प्र०—क्या माधुर्यमें शृंगारकी प्रधानता रहती है ?

उ०—माधुर्यमें तो ऐश्वर्य भी बाधक है, फिर शृंगारकी तो बात ही क्या है ? आजकल बहुत-से लोग लौकिक शृंगारको ही माधुर्य समझते हैं। परन्तु माधुर्य तो इससे बहुत आगे है। इसे उसका साधन अवश्य कह सकते हैं परन्तु वास्तवमें तो जहाँ जीवत्व और ईश्वरत्व दोनोंकी ही भावना नहीं तथा स्त्रीत्व और पुंस्त्वका भी अभाव है वही माधुर्य है। इस स्थितिमें अपने प्रियतममें न जडबुद्धि रहती है और न सच्चिदानन्दघनदृष्टि; बस, केवल प्रियतमदृष्टि रहती है। साथ ही अपना स्वरूपबोध भी रहता है।

प्र०—क्या ऐसे भक्तको भी अज्ञान रहता है ?

उ०—यह स्थिति तो ज्ञानसे भी आगेकी है। तत्त्वज्ञान रहते हुए भी उसकी दृष्टि भावपर ही रहती है। वह प्रेमानन्दके उत्कर्षके लिये द्वैत स्वीकार करता है, किन्तु इस द्वैतसे उसके बोधमें कोई हानि नहीं होती। विवेकियोंके समान उसकी दृष्टिमें जड-चेतन या आत्मा-अनात्माका भेद नहीं रहता। सब कुछ केवल चिन्मय हो जाता है। उसका प्रेमास्पद कैसा है, क्या है, यह वह कुछ नहीं कह सकता।

प्र०—सच्चे प्रेमीकी क्या दृष्टि रहती है ?

उ०—जिसकी कोई दृष्टि नहीं होती वही सच्चा प्रेमी है। यदि उससे पूछा जाय कि तुम प्रेम क्यों करते हो, और वह उसका कुछ भी उत्तर न दे सके तभी उसका प्रेम सच्चा समझना चाहिये। जो लोग किसी निमित्तको लेकर प्रेम करते हैं उनका प्रेमास्पद तो वह निमित्त ही है। आजकल लोगोंसे पूछो, 'तुम महात्माको भिक्षा क्यों कराते हो' तो वे कहेंगे 'इससे पुण्य होता है'। ऐसे लोगोंको महात्माका भक्त नहीं कहा जा सकता। वे तो धर्मके भक्त हैं; शुद्ध धर्मके भी नहीं, उसके फलस्वरूप स्वर्ग या धन-सम्पत्ति आदि ही उनके प्रेमके प्रधान विषय होते हैं। सच्चा प्रेमी तो वही है जो अपने प्रेमका कोई कारण नहीं बता सकता। मनुष्य तीन कारणोंसे भजनमें प्रवृत्त होते हैं—(१) जो स्वर्गादिप्राप्तिके लिये भजन करते हैं वे निकृष्ट हैं। (२) जो पापक्षयपूर्वक अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये करते हैं वे उनकी अपेक्षा अच्छे हैं (३) और जो अकारण भजन करते हैं वे सर्वोत्कृष्ट हैं। उनका भजन केवल भजनके ही लिये होता है; वे ऐसा किये बिना रह नहीं सकते, इसीलिये भजन करते हैं।

प्र०—आजकल लोगोंमें नास्तिकताके भाव बहुत बढ़ रहे हैं, न जाने इनकी क्या गति होगी ?

उ०—कुछ भी हो, इससे हमें क्या लेना है। जिस पुरुषका भजनमें प्रेम हो और जो शान्ति चाहता हो उसे लौकिक समस्याओंपर विशेष दृष्टि नहीं देनी चाहिये। भगवान् जिससे जैसा करा रहे हैं सब ठीक ही है। जिनकी स्थूल दृष्टि है उन्हें श्रद्धालुओंकी बातें

अविश्वसनीय जान पड़ती हैं और तत्त्वदर्शियोंको स्थूल जगत्में आस्था नहीं होती। अतः भजनानन्दी पुरुषोंको किसी प्रकारके गुण-दोषोंका चिन्तन न करते हुए अपने कामसे काम रखना चाहिये। मुझे तो श्रीमद्भागवतके ये दो श्लोक बहुत प्रिय हैं—

न स्तुवीत न निन्देत कुर्वतः साध्वसाधु वा।
वदतो गुणदोषाभ्यां वर्जितः समदृङ्मुनिः॥
न कुर्यान्न वदेत्किञ्चिन्न ध्यायेत्साध्वसाधु वा।
आत्मारामोऽनया वृत्त्या विचरेज्जडवन्मुनिः॥
(श्रीमद्भा० ११।११।१६-१७)

गुण-दोषसे रहित समदर्शी मुनिको उचित है कि किसीके भले या बुरे कर्म करनेपर अथवा वाणीसे भला या बुरा बोलनेपर न तो स्तुति करे, न निन्दा ही करे। मुनिको चाहिये कि किसी प्रकारका भला या बुरा कर्म न करे, न कुछ भला या बुरा कहे और न चित्तमें ही विचारे।

वास्तवमें श्रीमद्भागवत और रामायण दोनों ही बड़े अमूल्य ग्रन्थ हैं। इनका प्रत्येक शब्द माननीय है। हमारे महर्षियोंने जितने ग्रन्थ रचे हैं उनमेंसे किसी एकमें भी पूर्ण श्रद्धा हो जानेसे जीवका अवश्य कल्याण हो जायगा। मेरे विचारसे तो बाइबिल और कुरान भी मनुष्यका कल्याण करनेमें समर्थ हैं। यदि उनके कथनानुसार खुदा चौथे या सातवें आसमानपर बैठा है और हमारे शास्त्रोंके अनुसार वह वैकुण्ठ, गोलोक या कैलासमें है तो इससे तत्त्वतः कोई भी भेद नहीं है, क्योंकि वे भी उसे सच्चिदानन्दघन तो मानते ही हैं। उस सच्चिदानन्दघनका हम विष्णु या शिवरूपमें चिन्तन करते हैं इसलिये वह हमें उन्हीं रूपोंमें दिखायी देता है तथा ईसाई या मुसलमान अपनी भावनाके अनुसार दूसरे रूपोंमें चिन्तन करते हैं, इसलिये उन्हें वह उन्हीं रूपोंमें दर्शन देता है। वह तो सर्वसमर्थ है, इसलिये सभी रूपोंमें प्रकट हो सकता है।

भक्तिकी मैना

(गीत)

बिगड़ती बात बना लूँगी।
पकड़ दो मैना पालूँगी॥

टँगा पींजड़ा लोहे वाला जिसमें पीला रेशम डाला।
बाहर लगा रहेगा ताला वहीं जपेगी मैना माला॥

न रोको रोक निकालूँगी।
पकड़ दो मैना पालूँगी॥

बड़े भोर उठ आग जलाऊँ माखन मिश्री दाख मगाऊँ।
गंगाजीका नीर मिलाऊँ गोदीमें ले खीर खिलाऊँ॥

तुम्हें सरबस दे डालूँगी।
पकड़ दो मैना पालूँगी॥

सीखा मैना जो मैं गाऊँ कहो वही जो मैं समझाऊँ।
भर सावनमें तुम्हें उड़ाऊँ पिय प्यारेके देश पठाऊँ॥

तुम्हारी प्रीति न टालूँगी।
पकड़ दो मैना पालूँगी॥

—शिवनारायण

भगवान्‌की दया

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके सत्संगके आधारपर)

भगवान् मनुष्योंके कल्याणके लिये और भक्तोंको विशेषरूपसे मजबूत बनानेके लिये परीक्षा लेते रहते हैं। यद्यपि वे हमारे हृदयकी एक-एक भावनाको अच्छी तरहसे जानते हैं किन्तु फिर भी, जैसे अध्यापक विद्यार्थियोंकी योग्यता-अयोग्यताको जानता हुआ भी उनकी परीक्षा लेता है उसी प्रकार निरन्तर हमारी परीक्षा लेते रहते हैं। अध्यापक तो किसी अंशमें लड़कोंकी योग्यता नहीं जानता—इसलिये भी परीक्षा ले सकता है किन्तु भगवान् तो सर्वान्तर्यामी हैं, घट-घटकी जाननेवाले हैं, उनसे तो कुछ छिपा है ही नहीं।

हमलोग जिसे आपत्ति कहते हैं, वह वास्तवमें भगवान्‌की भेजी हुई ही आती है और आती है केवल हमको कसौटीपर कसनेके लिये और हमारे उत्थानके लिये। अनिच्छा और परेच्छासे जो भी कुछ आकर प्राप्त हो जाय, उसमें भगवदिच्छा समझकर प्रसन्न होना चाहिये। यह बात केवल अनिच्छा और परेच्छासे प्राप्त हुए सुख-दुःखादि भोगोंमें ही है, नवीन कर्मके विषयमें नहीं। नवीन कार्य तो भगवान्‌का आश्रय लेकर अपनी सात्त्विक बुद्धिके अनुसार सुचारुरूपसे करे। सारे कामोंमें इसी प्रकार समझना चाहिये।

नदीमें बाढ़ आ गयी। उस समय दयालु पुरुषके हृदयमें उन बाढ़पीड़ितोंकी सेवाके लिये भाव होना ही चाहिये। प्रयत्न भी करना ही चाहिये। प्रयत्न करनेपर भी सफलता न हो तो दयालु पुरुषके स्वाभाविक दुःख होता है। जिस हृदयमें समता होती है वहाँ न दुःख है, न सुख। किन्तु जबतक असफल होनेपर क्या करना चाहिये यह सवाल उठता है तबतक तो दुःख ही होता है। एक बार असफल भी हो गये तो कोई बात नहीं, सेवा करते ही रहना चाहिये। इस विषयमें कभी सन्तोष नहीं करना चाहिये। अपने ऊपर आपत्ति आवे तब तो सन्तोष करके प्रसन्न होना चाहिये किन्तु दूसरोंके दुःखको देखकर तो रोनेका ही समय है। 'यदृच्छालाभसन्तुष्टः' होना अपने लिये कहा है, दूसरोंके लिये नहीं।

यदि कहें कि महात्माको क्या करना चाहिये तो इसका उत्तर यह है कि वह कर्तव्याकर्तव्यका विधान करनेवाला कौन है? भगवान् भी महात्माके लिये विधान नहीं करते। भगवान् गीतामें स्वयं कहते हैं:—

> यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
> आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥
> नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
> न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥
> (३। १७-१८)

'जो मनुष्य आत्मामें ही प्रीतिवाला, आत्मामें ही तृप्त तथा आत्मामें ही सन्तुष्ट हो, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है। क्योंकि इस संसारमें उस पुरुषका किये जानेसे भी कोई प्रयोजन नहीं है, और न किये जानेसे भी कोई प्रयोजन नहीं है, और उसका सम्पूर्ण भूतोंमें कुछ भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं है तो भी उसके द्वारा केवल लोकहितार्थ कर्म किये जाते हैं।'

वेद भी ऐसे महात्माओंके ऊपरसे अपना अधिकार उठा लेते हैं। महात्माकी तो महात्मा ही जानें। श्रीमद्भगवद्गीताके १२ वें अध्यायके १३ वें श्लोकसे १९ वें श्लोकतक जो भक्तोंके लक्षण बताये हैं वे उन महात्माओंके स्वभावसिद्ध लक्षण बतलाये हैं। वहाँ कुछ करनेका आदेश नहीं किया है। कहीं किया भी है तो केवल मामूली प्रेरणामात्र।

अनुकूल-प्रतिकूलकी प्राप्तिमें जिसका जितना राग-द्वेष, हर्ष-शोक कम हो गया उतना ही वह आगे बढ़ा है। यह पक्की परीक्षा है। जितना-जितना विकार होता है, उतना-उतना ही नीचे गिरा है। विकार दो तरहके हैं। एक मुक्ति देनेवाला और दूसरा पतन करनेवाला। मुक्तिदायक विकार—दूसरेको दुःखी देखकर दुःखी होना और दूसरेके सुखको देखकर सुखी होना। यह विकार होनेपर भी मुक्तिदायक होनेके कारण ग्रहण करने योग्य है। पतन करनेवाला विकार—अपने दुःखमें दुःखी और अपने सुखमें यानी सुख-दायक पदार्थोंकी प्राप्तिमें हर्षित होना। यह विकार त्यागने योग्य है। किन्तु जो इन दोनोंसे बढ़कर विकार है, वह बहुत लज्जाजनक है। दूसरेके दुःखसे सुखी होना—प्रफुल्लित होना और दूसरेको सुखी देखकर, उन्नत देखकर दुःखी होना—जलना। यह तो अति ही नीचता है। यह आसुरी प्रकृतिवालोंका लक्षण है। और इससे भी बढ़कर नीचता क्या है? जो अपने साथ भलाई करे उसके साथ बुराई करना। इस प्रकारके अत्यन्त नीच प्रकृतिवालोंके लिये तो शास्त्रमें कोई शब्द नहीं है। 'ते के न जानीमहे।'

सबसे बढ़िया बात क्या है? अपने साथ जो बुराई करे उसके साथ भी भलाई करे।

'जो तोकों काँटा बुवै, ताहि बोउ तू फूल।'

बस, इतनेमें ही अपना कल्याण है। 'तोहि फूल-को फूल है वाको है तिरसूल' इस उत्तरार्धका भाव हमको लेनेकी जरूरत नहीं। पेटभरकर खा लेनेपर यदि अधिक खा लिया जाय तो अजीर्ण हो जाता है। 'वाको है तिरसूल' यह बात श्रेष्ठ पुरुष सुनना नहीं चाहते। यह कानून जरूर है किन्तु क्षमावान् पुरुष कानूनकी ओर खयाल नहीं करते। उनका तो क्षमा करना स्वभाव होता है। वे स्वभावतः ही सम्पूर्ण भूतोंमें द्वेषरहित और सबके मित्र होते हैं। उनके हृदयमें सबके प्रति करुणा होती है। अपने साथमें बुराई करनेवालेको दण्ड मिलेगा—यह बात सुनकर तो वे साधुपुरुष रो पड़ते हैं।

एक महात्मा पुरुष नावपर बैठे हुए पार जा रहे थे। उसी नावपर दो अत्याचारी दुष्ट भी बैठे हुए थे। बिना ही हेतु किसीको कष्ट देना दुष्टोंका स्वभाव होता ही है। उन्हें उस महात्माकी सौम्य, ऋजु और शान्त आकृति खटकने लगी। दोनोंने परस्परमें संकेत करके महात्माको नदीमें डुबो देनेका विचार ठान लिया। धीरेसे उन्होंने नावमें ही नीचे गिरा दिया। गिराते ही आकाशवाणी हुई—'ये दोनों दुष्ट हैं, अत्याचारी हैं जो आपको कष्ट दे रहे हैं। और आपको नदीमें डुबो देना चाहते हैं। आप कहें तो इन्हींको इस नदीमें डुबो दिया जाय।' बस, आकाशवाणीका सुनना था कि महात्मा रो पड़े और कहने लगे—मैं, कैसा अपराधी हूँ—जो मेरे कारण इन्हें डुबो देनेकी बात मैं सुन रहा हूँ।' महात्माकी करुणाभरी वाणी सुनकर पुनः आकाशवाणी हुई कि इन्हें दण्ड न दिया जाय तो क्या किया जाय? तब महात्मा बोले—'इन्होंने मेरा दर्शन किया है, स्पर्श किया है और सङ्ग किया है। अगर भगवान्‌की मुझपर कृपा है और मैं यदि साधु समझा जाता हूँ तो एक साधुपुरुष-के सङ्गसे जो लाभ वास्तवमें होना चाहिये, वही हो। ये भी साधुस्वभाव बन जायँ।'

उस महात्मा पुरुषकी और आकाशवाणीकी परस्पर-की बातें सुनकर दुष्टोंपर बड़ा भारी असर हुआ। वे दोनों महात्माजीके चरणोंमें लोट-पोट हो गये और बस, उसी क्षणसे महात्मा बन गये।

यह उच्चश्रेणीका व्यवहार हुआ। इसमें दया, क्षमा, अहिंसा और अक्रोध—सब भरे हुए हैं। और ये सभी उच्चभाव हैं। महात्माजीको आकाशवाणी-पर रोना आ गया था, विकार तो था किन्तु यह विकार

दूसरेके हितसाधनके लिये होनेसे मुक्तिदायक था। यह महापुरुषोंका सिद्धान्त है, उनके हृदयका उद्गार है। इस व्यवहारको कोई भी काममें ला सकता है। केवल सबका हित कैसे हो, यह बुद्धि चाहिये। इतना ही पर्याप्त है। यह व्यवहार ही निष्काम कर्मयोग है। निष्काम कर्मयोग किसका नाम है? जिस कार्यमें स्वार्थ न हो, किसी फलकी आकाङ्क्षा न हो और दूसरेका हित जिसमें भरा हो वही निष्काम कर्मयोग है। इसके थोड़े-से साधनसे ही कल्याण हो जाता है। भगवान् कहते हैं—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥
(गीता २।४०)

इस निष्काम कर्मयोगमें आरम्भका अर्थात् बीजका नाश नहीं है और उलटा फलरूप दोष भी नहीं होता है। इसलिये इस धर्मका थोड़ा भी साधन जन्म-मृत्यु-रूप महान् भयसे उद्धार कर देता है।

भाव यह कि, थोड़ा-सा भी कर्म निःस्वार्थभावसे बन जाय तो वह मुक्ति करनेवाला होता है। फिर सदा-सर्वदा जिसके सम्पूर्ण कर्म निःस्वार्थभावसे होते हैं, वे तो मुक्तरूप ही हैं। उनके तो दर्शन, स्पर्श, भाषणसे दूसरे पवित्र हो जाते हैं—मुक्त हो जाते हैं। इसलिये जो भी स्वेच्छासे काम करे—सावधानीसे करे, स्वार्थको त्यागकर करे और दूसरोंके हितकी दृष्टिसे करे। वही काम करे, जिससे भगवान् प्रसन्न हों और स्वयं अपने मस्तकपर भगवान्का हाथ समझ-समझकर हर समय प्रसन्न रहे। यह बड़ा अच्छा साधन है। अपनी बुद्धिके अनुसार वही कार्य करता रहे, जिस कार्यसे भगवान् प्रसन्न हों। स्वेच्छासे भगवान्की प्रसन्नताके अनुसार, उनकी आज्ञाके अनुसार कार्य करता रहे और अनिच्छा तथा परेच्छासे होनेवालेको भगवान्का भेजा हुआ प्रसाद समझता रहे। परेच्छासे होनेवालेको यह समझे कि भगवान्की ही इच्छासे ऐसा हो रहा है, भगवान् ही ऐसा कराते हैं और अनिच्छासे होनेवालेको यों समझे कि स्वयं भगवान् ही यह करते हैं। बस, इस प्रकार समझ-समझकर खूब मुग्ध रहे। यही भक्ति है, यही शरण है और यही निष्काम कर्मयोग है।

जिस क्रियामें भगवान्की सम्मति हो वही काम करे और वह काम केवल उसके लिये ही करे। सब कुछ परमात्माका समझकर उसके अर्पण कर देवे। और प्रत्येक क्रिया करते समय भगवान्को याद रक्खे। भगवान्के दिये हुए प्रत्येक विधानमें निरन्तर उसका स्मरण करता हुआ परम सन्तोष मानकर हर समय प्रसन्न रहे। यदि कहें कि किस बातको लेकर खुश रहें तो उसका उत्तर यह है कि भगवान्की दयाको देख-देखकर। देखो! भगवान्की तुमपर कितनी दया है। अपार दया समझकर इतना आनन्द होना चाहिये कि वह हृदयमें समावे नहीं। हर समय आनन्दमें मुग्ध रहे। बार-बार प्रसन्न होवे। अहा! प्रभुकी कितनी दया है! यही सबसे बढ़कर साधन है और यही भक्ति है, एवं इसीका नाम शरण है। ईश्वरकी दया, रुचि और उसके स्वरूपका स्मरण करके प्रसन्न होता रहे। सुख-दुःख जो भी प्राप्त हो, उसमें उसकी दया देखे। अपने द्वारा की जानेवाली क्रियामें 'रुचि' देखे कि भगवान्की 'रुचि' क्या है। जिसकी दया और रुचिका खयाल हो उस पुरुषका खयाल तो दोनोंके साथ ही है। जब आप यह समझेंगे कि अमुक महात्माकी मुझपर कितनी दया है तो उस समय उनकी स्मृति तो साथमें है ही और जिस समय आप उनकी रुचिके अनुसार काम करेंगे, उस समय भी उनकी स्मृति तो आपको बनी ही रहेगी। इसी प्रकार भगवान्के प्रति समझना चाहिये।

अतएव भगवान्की प्रसन्नता प्राप्त करनेकी इच्छावाले प्रत्येक व्यक्तिको भगवान्की दयापर निर्भर रहना चाहिये, उसे देख-देखकर प्रसन्न रहना चाहिये। और उसकी प्रसन्नताके अनुसार ही कार्य करते रहना चाहिये एवं निरन्तर उसका स्मरण करते रहना चाहिये।

भक्त-गाथा

भक्त प्रतापराय

भगवान्‌के सच्चे विश्वासी भक्त प्रेमपूर्वक निरन्तर भजन करते हैं परन्तु भजनके बदलेमें कुछ भी चाहते नहीं। संसारके सुख-दुःखोंकी तो उन्हें परवा ही नहीं होती; स्वर्गसुखको भी वे तुच्छ समझते हैं, यहाँतक कि मोक्ष और साक्षात् भगवत्प्राप्तिका लोभ भी उन्हें भजनसे नहीं डगा सकता। वे भजन करते हैं; क्यों करते हैं? इसका उनके पास जवाब नहीं होता परन्तु यह निश्चित है कि भजन किये बिना उनसे क्षणभर भी रहा नहीं जाता; उनके लिये भजनका त्याग उतना ही असाध्य है, जितना जीवनके लिये प्राणोंका। वस्तुतः यह उदाहरण भी भक्तके द्वारा होनेवाले भजनकी तुलना नहीं कर सकता! यह तो समझनेके लिये एक संकेतमात्र है। जो लोग सांसारिक भोग-सुखोंकी प्राप्तिमें भजनका सुफल होना समझते हैं और इसीमें भगवत्कृपा मानते हैं; और सांसारिक विपत्तियों तथा कष्टोंमें भगवान्‌को भूल जाते हैं, कोसते हैं, उनकी अकृपा मानते हैं और कहीं-कहीं तो भगवान्‌की दया और उनके अस्तित्व तकपर सन्देह करने लगते हैं, वे बड़े ही दयनीय हैं। ऐसे लोग भजनके प्रेमी भक्त नहीं हैं, ये तो लेन-देन करनेवाले व्यापारी—उनमें भी अविश्वासीमात्र हैं। हमारे भक्तराज श्रीप्रतापरायजी उपर्युक्त प्रकारके एक महान् विश्वासी भक्त थे। युवावस्थाके कुछ कालको छोड़कर इनके जीवनका मध्यकाल सांसारिक दृष्टिसे दुःख-सागरमें ही डूबते-उतराते बीता, परन्तु ये सदा ही अपने आनन्दमें मग्न रहे। किसी भी दुःखकी ताकत नहीं हुई कि वह इनके दिलपर कुछ भी असर डाल सके।

भक्त प्रतापरायजी क्षत्रिय थे। इनके पूर्वज बहुत समयसे बंगालमें जा बसे थे। इनकी भाषा, वेश तथा चाल-चलनमें काफी बंगालीपन आ गया था परन्तु खान-पान शुद्ध था। श्रीगोपालजीकी भक्ति तो इनकी मानो बपौती थी। चारों ओर आमिषभोजी शक्ति-उपासकोंसे घिरे रहनेपर भी इनके परिवारमें वैष्णवताका मानो अखण्ड एकछत्र साम्राज्य था। पश्चिम बंगालके हरसोला नामक गाँवमें ये रहते थे। इनके पिताका नाम भानुराय और माताका नाम कुसुमी था। दोनों बड़े ही धार्मिक और भक्त थे। इनके पास जमीन थी और उसमें काफी अनाज होता था, पशुधन भी पर्याप्त था। कुछ महाजनीका काम करते थे। उचित व्याज-पर आस-पासके गाँववालोंको रुपये दिया करते थे। अपनी स्थितिमें ये मस्त थे। घरकी आवश्यकताके अनुसार इनको किसी बातकी कमी नहीं थी। प्रतापराय इस भाग्यवान् दम्पतिके एकमात्र लाड़िले पुत्र थे। माता-पिता ही सन्तानके सबसे पहले गुरु होते हैं। बच्चोंका दुलार तो अवश्य ही करना चाहिये परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिये, जिससे उनमें बुरी आदत पड़े और आगे चलकर उसका बुरा फल उन्हें भोगना पड़े। प्रतापरायके माता-पिता इस विषयमें बड़े सावधान थे। दो बहिनोंके बीचमें प्रताप एक ही लड़के थे। माता-पिताके हृदयके परम धन थे परन्तु उन्होंने उनमें एक भी बुरी आदत न पड़ने दी। माता-पिताकी शिक्षाके प्रभावसे वे सबेरे उठते, भगवान्‌का स्मरण करते, माता-पिताके चरणोंमें प्रणाम करते, नहा-धोकर तुलसीका पौधा सींचते, घरमें ठाकुरजीके दर्शन करते, कुछ जाप करते, तब सबेरेका ब्यालू करते। सबसे मीठा और विनयके साथ बोलते, हठ नहीं करते, माता-पिताके सामने कभी नहीं बोलते। प्रताप जैसे देखनेमें सुन्दर थे वैसे ही बल्कि उससे कहीं अधिक हृदयसे और बर्तावमें सुन्दर थे। उनसे जो एक बार बात कर लेता, वही मुग्ध हो जाता। माता-पिताने प्रतापमें कष्ट सहनेकी भी आदत डाली थी। धूप-वर्षा सहना, जाड़ेमें बिना कपड़ेके रह जाना, हाथसे सब काम कर लेना, बहिनोंसे ईर्ष्या न करना, कपड़े-गहनेके लिये कभी न ललचाना, बहुत सादे और मोटे कपड़े

पहननेमें आनन्द मानना, जीभके स्वाद और शरीरकी सजावटसे घृणा करना, शौकीनी बिल्कुल न जानना और किसी भी कामके करनेमें न लजाना उनके खास गुण थे। वे कोई भी चीज अकेले न खाते, पहले अपनी बहिनोंको देते, तब खाते। बहिनें भी उनसे बहुत प्यार करतीं। इस प्रकार प्रतापरायका लड़कपन माता-पिताकी देख-रेखमें बहुत ही आनन्दसे बीता।

प्रतापरायकी बड़ी बहिनका नाम लक्ष्मी था और छोटीका माधवी। लक्ष्मीका विवाह तो पहले ही कर दिया गया था। प्रतापरायका विवाह तेरह सालकी उम्रमें और माधवीका ग्यारह सालकी उम्रमें कर दिया गया। दोनोंके विवाह पाँच-सात दिनोंके अन्तरसे एक ही साथ हुए। प्रतापरायके विवाहके बाद दस साल-तक भानुराय जीवित रहे। इस बीचमें घरका सब काम प्रतापराय करने लगे। प्रतापरायके एक पुत्र भी हो गया। प्रतापराय जब तेईस वर्षके हुए तब पिता भानुरायका देहान्त हो गया। पिताकी मृत्युसे यद्यपि प्रतापरायके सिरका छत्र ही टूट गया परन्तु उनकी विलक्षण विषयविरक्ति तथा भक्तिनिष्ठाने उनको दुखी नहीं होने दिया। उन्होंने सोचा—

'संसारमें स्थिर क्या है, जो जन्मा उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है। संसारके सभी संयोग वियोगको साथ लिये आते हैं। आत्मा अमर है, कभी मरता नहीं और अनित्य तथा क्षणभङ्गुर शरीर स्थायी रहता नहीं। फिर चिन्ता किस बातकी? पिताजी भगवान्के भक्त थे। भगवान्का नाम-जप करते-करते पिताजीने इतनी आसानीसे शरीर छोड़ दिया मानो अंगसे सूखे फूलोंकी माला उतार दी हो। उन्हें कोई कष्ट हुआ ही नहीं। मरनेमे कष्ट तो उनको होता है, जिनका मन भोगोंमें फँसा होता है, जो भगवान्के दयापूर्ण विधानमें विश्वास नहीं करते तथा जो देहको ही आत्मा मानते हैं। पिताजी तो भगवान्के अत्यन्त विश्वासी भक्त थे तथा आत्मनिष्ठ थे, उन्हें मरण-क्लेश क्यों होने लगा? वे भगवान्के धाममें पधारे हैं, इससे उन्हें बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ होगा। उनके इस आनन्दसे स्वार्थवश द्वेष करके मैं क्यों अपनी नीचता प्रकट करूँ?'

इस प्रकारके विचारोंसे प्रतापरायने पितृवियोगके महान् दुःखको सहज ही सह लिया। अब घर-परिवारका सारा भार प्रतापरायपर आ पड़ा। वे घरका सब काम करते थे परन्तु जैसे भोगासक्त विषयी मनुष्यका चित्त निरन्तर निष्कपट भावसे विषयोंमें लगा रहता है, वैसे ही उनका चित्त सदा-सर्वदा श्रीभगवान्के स्वरूपचिन्तनमें लगा रहता था। ये चम्पाके बगीचेमें चञ्चरीककी तरह निर्लिप्त भावसे सब काम करते थे। कुछ समय बाद माता कुसुमीका देहान्त हो गया। दिन-रात माताकी सेवामें लगे रहनेवाले प्रतापरायने मंगलमय भगवान्का विधान मानकर मातृवियोगके कष्टको भी सहर्ष सहन कर लिया। अब उनके जीवन-में नित्य नये-नये संकट आने लगे। मानो भगवान् उनकी विशुद्ध भक्तिकी बड़ी कड़ी परीक्षा ले रहे हों। परन्तु जैसे सोना तपाये जानेपर और भी उज्ज्वल होता है, वैसे ही कष्टोंसे तप-तपकर उनका भक्तिरूपी स्वर्ण अधिकाधिक निर्मल, उज्ज्वल और महान् उच्च श्रेणीका होने लगा।

कुछ वर्षो बाद प्रतापरायके एकमात्र पुत्र दीनबन्धु-रायका भी बारह वर्षकी उम्रमें देहान्त हो गया। पुत्रकी मृत्युके समय प्रतापराय और उनकी पतिव्रता पत्नी मालतीने जिस धैर्य, भगवन्निष्ठा तथा कर्त्तव्य-परायणताका परिचय दिया, वह सर्वथा स्तुत्य है। दीन-बन्धुको सान्निपातिक ज्वर हो गया। माता-पिताने यथा-साध्य उसकी चिकित्सा करायी और भलीभाँति सेवा की।

दोनों जने पुत्रकी चारपाईके पास बैठे उसे दिन-रात भगवन्नाम और भगवान्की लीला-कथा सुनाते तथा उसके मनमें संसारकी असारता एवं भगवान्की ही एकमात्र नित्य सत्ताका अनुभव करानेकी चेष्टा करते। दिन-रातकी हरिचर्चासे मरणासन्न बालक दीनबन्धुका चित्त जगत्से हट गया और वह एकमात्र श्रीभगवान्में लग गया। इसी अवस्थामें उसकी मृत्यु हो गयी। यही तो वास्तविक आत्मीयता और सच्ची

सेवा है। इकलौता लड़का था, परन्तु भगवत्-विश्वासी प्रतापराय तथा मालतीने परस्पर विचार करके यही निश्चित किया कि 'यह सब श्रीभगवान्‌की लीला है। भगवान्‌ने इसे दिया था, इसके द्वारा अपनी सेवा करानेके लिये, जबतक उनकी इच्छा रही, इसके द्वारा सेवा करनेका सौभाग्य उन्होंने हमलोगोंको दिया, अब वे हमें दूसरी सेवामें नियुक्त करना चाहते हैं, इसमें चिन्ताकी कौन-सी बात है? संसार तो उनकी लीलास्थली है। फिर मृत्यु है भी क्या वस्तु! यह तो जीवननाटकका एक नैसर्गिक पर्दा है जिसके हुए बिना नाटककी शोभा ही नहीं होती। आत्मा मरता नहीं, शरीर रहता नहीं—मिलना-बिछुड़ना, सम्बन्ध होना-टूटना यह सब इस खेलके अंग हैं, फिर रोना किस बातका।' इस प्रकार निश्चय करके वे दोनों प्रसन्नताके साथ भगवान्‌के भजनमें लग गये। लोग उनकी इस स्थितिको देखकर चकित रह जाते।

कुछ समय बाद उनकी छोटी बहिन माधवीके पति वल्लभराय रोगशय्यापर पड़ गये। बड़ी बहिन लक्ष्मीको यह विश्वास था कि मेरे भाई प्रतापराय बड़े ही भक्त हैं, वे यदि भगवान्‌से प्रार्थना कर देंगे तो वल्लभकी मृत्यु नहीं होगी। लक्ष्मीने भाईको इसके लिये अनुरोध किया। प्रतापराय यद्यपि निष्काम भक्त थे। वे जानते थे कि भगवान्‌की भक्ति करके बदलेमें कुछ चाहना भक्तिको बेचना है। जो लोग भक्तिके बदलेमें धन, पुत्र, मान, यश, जीवन आदि चाहते हैं, वे वस्तुतः भगवान्‌की तथा उनकी भक्तिकी महत्ता ही नहीं जानते; वे साध्य तो मानते हैं उन पुत्र-धनादि नश्वर वस्तुओंको, और भगवान्‌को बनाते हैं उनकी प्राप्तिका साधन। ऐसी भक्ति वास्तवमें भगवान्‌की भक्ति नहीं है, यह तो उन विषयोंकी भक्ति है, क्योंकि उनका दर्जा भगवान्‌से भी ऊँचा मान रक्खा है। वे यह भी जानते थे कि शरीर नश्वर है, और यहाँके सभी सम्बन्ध आरोपित हैं। इन आरोपित सम्बन्धवाले अपने तथा अपने आत्मीयोंके शरीरोंके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करना मूर्खतामात्र है परन्तु वे बहिनके अनुरोधको टाल न सके। उन्होंने कहा,—'अच्छी बात है, मैं कल भगवान्‌से प्रार्थना करूँगा' प्रतापरायकी इस बातसे लक्ष्मीको बहुत सुख मिला।

रातका लगभग तीसरा पहर था, बहनोईके बिस्तरके पास ही प्रतापराय बैठे थे। उन्हें तन्द्रा-सी आ गयी। उन्होंने देखा—कमरा अपूर्व ज्योतिसे जगमगा उठा; भगवान्‌के दिव्य शरीरधारी चार पार्षद अत्यन्त सुन्दर विमान लेकर खड़े हैं, और मुस्कुराते हुए कह रहे हैं—वल्लभ! तुम बड़े पुण्यशील और भगवद्भक्त हो; पूर्वजन्ममें ही तुम भगवान्‌के दिव्यधाममें पहुँच गये होते, परन्तु माधवीके साथ तुम वचनबद्ध थे, इसीसे तुम्हें एक जन्म और लेना पड़ा। माधवी भी परम साध्वी है। तुम्हारे देहत्यागके बाद यह भी सती होकर तुम्हारे ही साथ भगवान्‌के परमधाममें पहुँच जायगी। परन्तु मालूम होता है प्रतापराय इस विधानको पलटना चाहते हैं, वे तुम्हारे जीवनके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करनेवाले हैं। यदि उन्होंने भगवान्‌से तुम्हारा जीवन माँगा तो भगवान् उनकी प्रार्थना सुन लेंगे और तुम्हारा दिव्यधाम-गमन रुक जायगा। हमलोग तुम्हें लेने आये हैं, परन्तु प्रतापरायकी चित्तवृत्ति देखकर रुके खड़े हैं 'बोलो, बोलो, तुम क्या कहते हो?' वल्लभकी आत्माने कहा, 'भगवन्! मुझे अभी ले चलिये। अनन्त कालकी साध आज पूरी हो रही है, इसमें क्षणभरका भी विलम्ब क्यों हो? प्रतापरायजी बड़े भक्त हैं वे भला भगवान्‌के मंगलविधानके विरुद्ध अपनी कोई इच्छा क्यों करेंगे? आप शीघ्रता कीजिये। अब मैं पलभर भी इस देहके बन्धनमें नहीं रहना चाहता।' इतनेमें ही प्रतापरायकी आँखें खुल गयीं, उन्होंने वल्लभके चेहरेकी ओर देखा। वल्लभ चेतनाहीन थे परन्तु उनके चेहरेपर तेज छिटक रहा था और ओठोंपर हँसी नाच रही थी! समीप बैठी माधवीको भी तन्द्रा आ गयी थी; वह चौंककर उठी, उसने एक बार वल्लभके मुखकी ओर देखा और प्रतापरायसे कहा, 'भैया! मैंने एक बड़ा ही विचित्र स्वप्न देखा है। भगवान्‌के पार्षद पतिदेवको लेने आये

हैं। मुझको उन्होंने वैकुण्ठधामका परम दिव्य आनन्द दिखलाया और कहा कि तुम भी साथ चलो। परन्तु तुम्हारे भैया, इसमें बाधक हो रहे हैं, उन्हें समझाओ।' इतना कहकर वह फिर चेतनाहीन हो गयी। थोड़ी देरके बाद पुनः जगकर कहने लगी—'भैया! मेरे स्वामी और मैं—हमलोग मरते नहीं हैं, हम तो दिव्य आनन्दधामकी यात्रा कर रहे हैं। तुम भैया, इसमें बाधा क्यों देने लगे? हमारे सुखमें तो तुम्हें सुख ही होना चाहिये न?' माधवी स्वप्नका सारा हाल सुना गयी। सारा-का-सारा स्वप्न वही था जो प्रतापरायने देखा था। एक बात विशेष थी, माधवी स्वप्नमें वैकुण्ठधामकी यात्रा करके वहाँकी अपूर्व सुख-शोभा भी देख आयी थी। प्रतापराय चकित हो गये, उन्होंने मन-ही-मन कहा, 'अहा! मैं भगवान्‌के विधानके विरुद्ध अपनी इच्छा प्रकट करके कितनी मूर्खता करने जा रहा था। वे मंगलमय निरन्तर हमारा परम मंगल करनेमें लगे रहते हैं, हम अदूरदर्शी मनुष्य विषयासक्तिके कारण अपना परम मंगल नहीं देखने और नरकके कीड़ेकी भाँति विषयरूपी नरकमें ही पड़े रहना चाहते हैं। सर्वदर्शी सर्वान्तर्यामी सबके सहज कल्याणकामी भगवान्‌से किस कल्याणके लिये प्रार्थना की जाय? उनसे तो कुछ भी माँगना ही वास्तवमें ठगाना है। न मालूम वे हमारा कैसा और कितना कल्याण सोचते हैं, हम यदि कुछ भी माँगते हैं तो वहाँतक तो हमारी बुद्धिकी पहुँच होती नहीं, अज्ञानी रोगीके कुपथ्य चाहनेकी भाँति भ्रमवश हम कोई ऐसी चीज चाह बैठते हैं जो भगवान्‌के सोचे हुए कल्याणसे बहुत ही नीची होती है, कहीं-कहीं तो उससे विपरीत वस्तु ही माँग लेते हैं। भगवान् दयालु हैं, वे भजनके बदलेमें ऐसी कोई वस्तु हमें देते नहीं जो हमारा अकल्याण करे, परन्तु हमारा परम कल्याण रुक अवश्य जाता है। इसलिये भगवान्‌से कुछ भी माँगना मूर्खताके सिवा और कुछ नहीं है।'

बस, इसी समय वल्लभने एक बार आँखें खोलीं और सबके देखते-देखते उनका ब्रह्माण्ड फट गया। उसीके साथ मुखसे ॐका उच्चारण हुआ और प्राण निकल गये। माधवी पतिके साथ सती हो गयी! बहिन-बहनोईकी इस प्रकारकी मृत्यु देखकर प्रतापरायको बड़ी प्रसन्नता हुई!

पहले कहा जा चुका है, प्रतापरायके यहाँ महाजनीका काम भी होता था। उनका यह कार्य भी एक प्रकारसे लोकसेवाका ही साधन था। लोकसेवाके निमित्तसे भगवत्सेवा तो प्रधान लक्ष्य ही था। आस-पासके गाँवोंमें किसीको रुपयेकी जरूरत होती तो वह अपनी कोई चीज लेकर इनके पास आता। इनके पास रुपये होते तो वह जितना माँगता, उतने दे देते। एक कोठरी थी उसमें एक लोहेकी सन्दूक थी, उसमें वह अपने ही हाथों अपनी चीज रख जाता। जब रुपये वापस देने होते तो आकर अपनी चीज ले जाता और ब्याजसमेत रुपये दे जाता। प्रतापराय इस बातका खयाल अवश्य रखते कि ब्याजके नामपर किसीकी अधिक रकम तो उनके यहाँ नहीं आ गयी है। अधिक होती तो वे लौटा देते। बहुत कम ब्याज लेते। लोगोंको इनके इस व्यवहारसे बड़ी सुविधा थी। इनको भी कोई झंझट नहीं था। सिर्फ खातेमें रुपये नाम-जमा करने पड़ते थे। सारा काम विश्वास और ईमानदारीपर चलता था। प्रतापरायके दादाके समयसे इसी प्रकार काम होता आता था। होनहारकी बात थी। कुछ लोगोंके मनमें बेईमानी पैदा हुई, प्रतापरायसे अकारण डाह रखनेवालोंने भी साथ दिया, उन्होंने षड्यन्त्र रचकर इनके विश्वास और सत्यप्रियतासे अनुचित लाभ उठाना और इन्हें अपमानित करना चाहा। चार षड्यन्त्रकारियोंने समय-समयपर अलग-अलग आकर इनसे रुपये उधार लिये। रुपयोंके बदलेमें एक आदमी एक डिब्बा रख गया, तीन आदमी तीन थैलियाँ रख गये। डिब्बेवालेने कहा, इसमें बेशकीमत गहने हैं और थैलीवालोंने कहा, इसमें सोना-चाँदी है। प्रतापरायने सदाकी भाँति कह दिया,—'जो कुछ हो, रख दीजिये। जब रुपये देने आवें तो अपना देखकर ले जाइयेगा।' वे लोग चले गये। कुछ समय बाद

डिब्बेवालेने आकर रुपये देकर कहा—'ये रुपये और व्याज लीजिये, मैं अपना गहनेका डिब्बा ले जाता हूँ ।' प्रतापरायने रुपये लेकर जमा कर लिये और कहा—'ले जाइये ।' उसने जाकर डिब्बा निकाला और उसे प्रतापरायके सामने लाकर खोला । खोलते ही बोला—'गजब हो गया, मैंने तो तुमको भला आदमी और ईमानदार समझ रक्खा था, तुम तो बड़े बेईमान और नीच निकले । मेरा गहना निकालकर बदलेमें कंकड़ भर दिये हैं । वाह ! इसीलिये भगवान्‌के भक्त बने फिरते हो और सत्यकी मूर्ति बने रहते हो । पाखण्डी कहींके ! लाओ, मेरा गहना दो, नहीं तो वह मजा चखाऊँगा कि कई दिन याद रक्खोगे ।' प्रतापराय उसकी बात सुनकर सहम गये और बड़ी शान्तिसे नम्रतापूर्वक बोले. 'भाई ! मैंने तो तुम्हारे डिब्बेको छूआ तक नहीं । तुम जैसे रख गये थे, वैसे ही पड़ा है ।' उसने कहा, 'तब तो मैं ही कंकड़ भरकर रख गया था, तुम तो राजा हरिश्चन्द्र ठहरे; अरे भले आदमी, अब तुम्हारी कलई खुल गयी है, पापका घड़ा आखिर तो फूटता ही । खैर, अब भी चुपके-से मेरा गहना ला दो तो बच सकते हो ।' प्रतापरायने गहना लिया ही नहीं था, ला कहाँसे देते ? इधर वह जान-बूझकर शरारतपर उतरा हुआ था, समझानेसे कैसे मानता ? 'जागतेको कोई क्या जगावे ।' उसको तो बात बढ़ानी ही थी । वह मनमाना बकने-झकने लगा । प्रताप सिर नीचा किये चुपचाप सब सुन रहे थे । इतनेमें वे तीनों भी आ गये । उन्होंने भी रुपये देकर अपनी-अपनी थैलियाँ निकालीं । थैलियोंमें सोना-चाँदी तो था ही नहीं, उनमें भी कंकड़-पत्थर ही निकले । अब तो एकके चार हो गये । उन्होंने गालियोंकी झड़ी लगा दी । इतनेमें ही षड्यन्त्रकारियोंकी पहलेसे की हुई व्यवस्थाके अनुसार आठ-दस आदमी और भी आ पहुँचे और झूठे ही कहने लगे कि इसने पहले हम लोगोंके साथ भी ऐसा ही दगा किया था । गाँवके सैकड़ों आदमी इकट्ठे हो गये । अब प्रतापरायको कौन सच्चा मानता !

उस समय बंगालमें मुसलमानोंका राज्य था । काजीके पास फर्याद हुई, उसे कुछ लोभ दे दिया गया । न्यायका नाटक रचा गया । प्रतापरायको जेलकी सजा हो गयी और उनके घर-द्वार खेत-जमीनसहित सारी सम्पत्ति जब्त कर ली गयी । काजीने तथा षड्यन्त्रकारियोंने आपसमें बँटवारा कर लिया । प्रतापरायकी पत्नी मालतीको हाथ पकड़कर घरसे बाहर निकाल दिया गया । इस प्रसंगमें प्रतापरायको अपने-पराये सभीके द्वारा अत्यन्त अपमानित होना पड़ा । वे सबकी दृष्टिमें चोर और बेईमान साबित हो गये । विपत्तिकी सीमा हो गयी । साधारण मनुष्य होता तो ऐसी स्थितिमें भगवान्‌का भजन तो छोड़ ही देता, उन्हें कोसता; शायद कहता कि मैंने जीवनभर भजन किया, यदि कहीं कोई भगवान् होता तो क्या इतना अन्याय हो सकता, सो भी मुझ भजन करनेवालेके साथ ! क्या भगवान् मुझे बचाता नहीं । द्रौपदी और गजराजकी सभी बातें झूठी हैं । ये सब वहम हैं । भगवान्-वगवान् कुछ भी नहीं हैं । परन्तु प्रतापराय तो बहुत ही ऊँचे भक्त थे । 'सूरदासकी काली कामरि चढ़त न दूजो रंग' की कहावतके अनुसार उनके स्वच्छ निर्मल चित्ताकाशमें जरा भी विकारका बादल नहीं पैदा हुआ । उनकी शान्ति ज्यों-की-त्यों बनी रही और वे सदाकी भाँति अनवरत भगवान्‌का नाम-चिन्तन करते रहे । उनकी यह दशा देखकर कोई कहता, 'बड़ा पक्का चोर है, देखो न, इसके चेहरेपर जरा भी उदासी नहीं आयी'; किसीने कहा, 'दम्भकी मूर्ति है, अब भी महात्माकी-सी शकल बना रक्खी है । इतना बड़ा पाखण्डी तो हमने आज ही देखा ।' कोई बोला, यही तो घोर कलियुगका लक्षण है, 'मुँहमें राम बगलमें छुरी' वाह वाह ! जितने मुँह उतनी बातें । चारों ओरसे गालियोंकी तथा व्यंग्यवाक्योंकी बौछार हो रही थी, परन्तु प्रतापराय अपनी भूमिकापर अटल थे । उनके होठोंपर मुसकुराहट थी और मुखपर अपार शान्ति !

जेल जाते समय उन्होंने अपनी स्त्रीसे कहा—'मालती ! सावधान, भगवान्‌के मंगलमय विधानपर

जरा भी मन मैला न करना। न माछम वे किस-किस स्वाँगमें आते हैं, तुम अपने नैहर भाईके पास चली जाओ। भगवान्‌का विधान होगा तो फिर मिलना होगा।' उनकी इस बातको सुनकर मालतीके नेत्रोंसे आँसूकी बूँदें टपक पड़ीं, वह भाईके घर चली गयी। प्रतापराय जेलकी कालकोठरीमें निवास करने लगे। उनके भजनमें तथा विश्वासमें जरा भी कमी नहीं हुई।

मालती घरसे निकलते समय अपने ठाकुरजीको तथा उनकी शृंगारकी पिटारीको आँचलसे ढककर ले आयी थी। यह बात लोगोंको माछम हो गयी। इस समय तो बच्चे-बूढ़े सभी इनके विरोधी हो रहे थे। जनताके मतका वास्तवमें कोई मूल्य नहीं होता, वह तो हवाके साथ बदलनेवाला हुआ करता है। गाँवके जो लोग एक ही दिन पहले प्रतापरायको महान् भक्त और सत्यवादी समझते थे, वे ही आज उसे परले सिरेका धूर्त और बेईमान बतलाने लगे। जब आँख बदलती है, तब सब कुछ अपने-आप ही बदला हुआ नजर आता है। किसीने जाकर काजीसे शिकायत कर दी। काजी तो तुला बैठा ही था। झट मालतीको पकड़वा मँगाया। ठाकुरजीके गहने छीन लिये गये और जब्त जायदादको चुराकर ले जानेके अपराधमें मालतीको भी जेलखाने भेज दिया गया।

जेलका दारोगा भला आदमी था। उसने मालतीको प्रतापरायके साथ ही रख दिया। भगवान्‌के विधानसे मालतीका जेलखानेमें पहुँचना मालती और प्रताप दोनोंके लिये सुखकर हो गया। दोनों मिलकर एक चित्तसे श्रीभगवान्‌का भजन करने लगे। प्रतापरायका भाव बहुत ही प्रशंसनीय था। एक दिन रातके समय प्रतापराय भगवान्‌की स्तुति कर रहे थे। मालती भी चुपचाप चित्तके द्वारा उनके सुर-में-सुर मिला रही थी। प्रतापरायने कहा—'भगवन्! तुमने बड़ा ही अनुग्रह किया जो सब झंझटोंसे छुड़ाकर हमलोगोंके लिये जबरदस्ती एकान्तवासकी सुविधा कर दी, हम-लोगोंका तो परम धन तुम्हारा भजन ही है। इस सुविधाके कारण हमें यह परम धन सहूलियतसे प्राप्त हो रहा है। हे नाथ! ऐसी कृपा करो, जिससे तुम्हारे भजनमें हमारी आसक्ति अत्यन्त दृढ़ और पूर्ण हो जाय। यहाँतक कि तुम्हारे मिलनेपर भी तुम्हारा भजन बढ़ता ही रहे। हमें और कुछ नहीं चाहिये। दर्शन मत दो। हम न तुम्हारे दर्शनके योग्य हैं, न हमारा अधिकार है और न हमें तुम्हारी इच्छाके विपरीत तुम्हारे दर्शनकी उत्कण्ठा ही है; हम तो हे दयामय! बस, तुम्हारा भजन चाहते हैं। तुम दर्शन दो, और कहीं भजन छीन लो तो हमें तुम्हारे ऐसे दर्शनकी भी इच्छा नहीं है। कृपा करो—प्रभो!'

निष्काम भक्तकी वाणी सुनकर और उनके हृदयका भाव समझकर भगवान् बड़े ही प्रसन्न हुए। जेलखाने-की कालकोठरी धन्य हो गयी। भगवान् वहीं प्रकट हो गये। सहस्रों सूर्योंके प्रकाशके समान वहाँ प्रकाश फैल गया। त्रिभंगसे खड़े हुए मुरलीमनोहर श्रीगोपाल-जीने प्रकट होकर भक्तदम्पतिको गौरवमण्डित कर दिया। भगवान्‌की मनोहर झाँकीके दर्शनकर प्रतापराय और मालती जगत्‌की और अपनी सारी सुध-बुध भूल गये। उनकी आँखें भ्रमर बनकर भगवान्‌के मुखकमल-मकरन्दका अतृप्त होकर पान करने लगीं। शरीर आनन्दाति-रेकसे रोमाञ्चित हो गये। नेत्रोंसे प्रेमके आँसुओंकी धारा बह चली। वाणी रुक गयी। वे दोनों भगवान्‌के चरणोंमें गिर पड़े और कोमल चरणारविन्दोंका स्पर्शकर अत्यन्त धन्य हो गये। भगवान्‌ने कहा—'वत्स प्रताप! बेटी मालती! मैं तुमलोगोंकी निष्ठाको देखकर बहुत ही प्रसन्न हूँ। जो लोग सांसारिक सुख और आरामके बदलेमें मेरा भजन बेच देते हैं वे बहुत ही भोले हैं। तुम्हारी बड़ी कठिन परीक्षा हुई, तुमपर बड़े-बड़े संकट आये परन्तु तुम कभी विचलित नहीं हुए और किसी भी संकटके टल जानेके लिये भी कभी कामना नहीं की। बात यह थी कि मैं तुम्हें विशेषरूपसे अपनाना चाहता था, मैंने इसीसे तुम्हारे पुराने कर्मों-का बचा-खुचा फल आत्मीयोंके वियोग, अपमान, कलङ्क और कारावासके रूपमें भुगताकर तुम्हें कर्ममुक्त कर

दिया है। अब तुम सब प्रकारसे मेरेमें प्रवेश करने योग्य बन गये हो। तुम-जैसे ऐसी निष्ठावाले भक्त मुझको बहुत ही प्यारे होते हैं। मेरे दर्शन बहुत ही दुर्लभ हैं—किसी साधनाविशेषसे ये नहीं होते। जो लोग दर्शनके लिये अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं और जिनको एक-एक पल युगके समान बीतता है, मेरे दर्शन उन प्रेमी भक्तोंको ही होते हैं। उनसे भी पहले उनको होते हैं, जो दर्शनकी भी परवा नहीं करते, केवल अहैतुक प्रेमसे निरन्तर मेरा अनन्यभावसे भजन करते हैं। मेरे भजनके प्रतापसे उनको संसारकी कोई भी स्थिति प्रभावित नहीं कर सकती। तुम मेरे ऐसे ही भक्तोंमेंसे हो, इसलिये मुझे बहुत ही प्रिय हो। मालती भी तुम्हें पतिरूपमें प्राप्त करके धन्य हो गयी। अब तुम्हारी जो इच्छा हो सो माँग लो।' प्रतापरायने कहा—'भगवन्! हमारी सारी साध पूरी हो गयी। अब हमें यही दीजिये जिससे आपके भजनमें हमारी और भी अधिक आसक्ति हो जाय।' भगवान् 'तथास्तु' कहकर मुसकुराते हुए तुरन्त अन्तर्धान हो गये। प्रतापरायकी अनन्त जन्मोंकी साधना भगवत्कृपासे आज पूरी हो गयी।

इधर कुछ ही दिनोंमें काजीसहित चारों षड्यन्त्र-कारियोंके शरीर कोढ़से गल गये। गलित कुष्ठसे उनकी बुरी दशा हो गयी। काजीकी स्त्री बड़ी समझदार थी—उसने पहले ही निरपराध प्रतापरायको सताने और उनके घर-द्वार लूटकर मालतीको अनाथिनी कर देनेका विरोध किया था, एक दिन मौका पाकर उसने पतिसे कहा—देखिये! आपकी यह बीमारी, मेरी समझसे भगवान्के भक्त प्रतापरायको पीड़ा पहुँचानेका फल है। आप यदि मेरी बात मानें तो उनको जेलसे मुक्त कर दीजिये और उनसे क्षमा-याचना कीजिये। काजी-को पत्नीकी बात जँची, उसने प्रतापराय और मालती-को छोड़ दिया। इधर उन चारों दुष्टोंको भी अपनी भूल समझमें आयी। काजीके साथ उन चारोंने आकर प्रतापरायके चरणोंमें गिरकर अपना अपराध स्वीकार करते हुए क्षमा-प्रार्थना की। उन्होंने कहा—'आप सर्वथा निर्दोष हैं, हम बड़े ही नीच हैं जो हमने स्वार्थ-वश आपपर झूठा कलङ्क लगाया और आपको जेलखाने भेजा। आप हमलोगोंको क्षमा करके भगवान्से प्रार्थना कीजिये जिससे हम इस अत्यन्त दुष्ट रोगसे छूट जायँ।' प्रतापरायने कहा—'भाइयो! तुम्हारा इसमें कुछ भी दोष नहीं है, तुम तो निमित्तमात्र थे। यह सब तो हमारे किये हुए कर्मोंका फल था। परन्तु इससे हमें परम लाभ हुआ, हमारी अनन्त जन्मोंकी साध पूरी हुई। हमलोग तुम्हारे इस उपकारके लिये अत्यन्त कृतज्ञ हैं।' इतना कहकर उन्होंने भगवान्से प्रार्थना करते हुए कहा—'भगवन्! इन पाँचों भूले हुए भाइयोंका अपराध क्षमा होना चाहिये। इन्होंने काफी दण्ड भोग लिया है। फिर, इन्होंने हमारा तो उपकार ही किया है। आप यदि कृपा करके इन्हें रोगमुक्त नहीं करेंगे तो हमें बड़ा ही दुःख होगा। हे नाथ! हम आपकी शरण हैं। रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये।' इतना कहते ही अचानक उन पाँचोंके शरीर कञ्चन-से हो गये। वे प्रतापरायके चरणोंमें गिर पड़े। अब तो गाँवके सभी लोग—वे सभी लोग जिन्होंने झूठ-मूठ ही प्रतापरायपर कलङ्क लगानेमें सहायता दी थी, वहाँ आकर प्रतापराय और मालतीके चरण छू-छूकर उनसे बार-बार क्षमा माँगने लगे। काजीने उनकी जब्त की हुई सम्पत्ति लौटा दी। प्रतापरायने सारी सम्पत्ति गरीबोंको बाँट दी और दोनों स्त्री-पुरुष संसार त्यागकर श्रीधाम वृन्दावनको चले गये। तीस साल वहाँ निरन्तर भगवद्भजन किया और फिर भगवान्का नाम जपते-जपते चित्तवृत्तियोंको भलीभाँति भगवान्में तल्लीन करके दोनों गोलोकको पधार गये।

बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय!

दैनिक कल्याण-सूत्र

१ अप्रैल शनिवार—याद रक्खो—कलियुगमें राम-नाम ही मनचाहा फल देनेवाला कल्पवृक्ष है, राम-भक्ति ही मुँहमाँगी वस्तु देनेवाली कामधेनु है और श्रीगुरुके चरणकमलकी धूलि ही संसारमें सब प्रकारके सुन्दर मंगलोंकी जड़ है।

राम-नाम कलि कामतरु रामभगति सुरधेनु ।
सकल सुमंगल-मूल जग गुरुपदपंकज-रेनु ॥

२ अप्रैल रविवार—विश्वास करो—जैसे सारी धरती बीजमय है, सारा आकाश नक्षत्रोंसे पूर्ण है, वैसे ही राम-नाम सर्वधर्ममय है।

जथा भूमि सब बीजमै नखत निवास अकास ।
रामनाम सब धरममै जानत तुलसीदास ॥

३ अप्रैल सोमवार—याद रक्खो—जो श्रीहरिका नाम नहीं जपते, उनकी जीभ साँपिनीके समान केवल विषयचर्चारूपी विष उगलनेवाली है और उनका मुख उस साँपिनीके रहनेके बिलके समान है। जिसका रामसे प्रेम नहीं है उसका भाग्य फूटा ही है।

रसना साँपिनि बदन बिल जे न जपहिं हरिनाम ।
तुलसी प्रेम न रामसों ताहि बिधाता बाम ॥

४ अप्रैल मंगलवार—ऐसी कामना करो कि जो हृदय श्रीरामका स्मरण करके पिघल नहीं जाते वे फट जायँ, जिन आँखोंसे राम-प्रेमके आँसू नहीं बहते, वे फूट जायँ और जिस शरीरमें उनकी स्मृतिसे रोमाञ्च नहीं होता वह जल जाय।

हिय फाटहुँ फूटहुँ नयन जरउ सो तन केहि काम ।
द्रवहिं स्रवहिं पुलकइ नहीं तुलसी सुमिरत राम ॥

५ अप्रैल बुधवार—याद रक्खो—भगवान्‌को वे ही पुरुष प्यारे हैं, जो विषय-रससे विरक्त हैं और राम-प्रेमके रसिक हैं, फिर वे चाहे वनवासी हों या गृहस्थी।

जे जन रूखे बिषयरस चिकने राम सनेह ।
तुलसी ते प्रिय रामको कानन बसहिं कि गेह ॥

६ अप्रैल गुरुवार—याद रक्खो—यदि भगवान्‌से प्रेम नहीं हुआ तो मूँड़ मुँड़ाकर साधु होना और घर छोड़ना व्यर्थ ही है।

तुलसी जौं पै रामसों नाहिंन सहज सनेह ।
मूँड़ मुड़ायो बादिही भाँड़ भयो तजि गेह ॥

७ अप्रैल शुक्रवार—यह अनुभव करो कि यदि तुम भगवान्‌से विमुख हो जाओगे तो बरसातके गोबरकी तरह तुम्हें न कोई चाहेगा न तुमसे प्रेम ही करेगा। बरसातका गोबर न लीपने-पोतनेके काममें आता है, न उसके गोइँठे ही बनते हैं इसलिये उसे कोई नहीं लेता।

बरषाको गोबर भयो को चहै को कर प्रीति ।
तुलसी तू अनुभवहि अब रामबिमुखकी रीति ॥

८ अप्रैल शनिवार—याद रक्खो—जबतक तुम्हें विषयोंकी झूठी मिठास मीठी लगती है तबतक हजार अमृतके समान अत्यन्त मधुर होनेपर भी राम-भक्ति बिल्कुल फीकी लगेगी।

तुलसी जौ लौं बिषयकी मुधा माधुरी मीठि ।
तौ लौं सुधा सहस्र सम रामभगति सुठि सीठि ॥

९ अप्रैल रविवार—याद रक्खो—भक्तिकी रीति है, भगवान्‌से अविचल प्रेम करना और राग या आसक्ति-कामनाको तथा क्रोधको जीतकर धर्मकी नीतिके मार्गपर चलना।

प्रीति रामसों नीति पथ चलिय राग-रिस जीति ।
तुलसी संतनके मते इहै भगतिकी रीति ॥

१० अप्रैल सोमवार—याद रक्खो—भगवान्‌के ऐसे भक्तोंपर कलियुगकी कोई धोखेबाजी नहीं चलती जो सत्य बोलते हैं, मनको निर्मल रखते हैं और कपटरहित कर्म करते हैं।

सत्यबचन मानस बिमल कपटरहित करतूति ।
तुलसी रघुबर सेवकहि सकै न कलिजुग धूति ॥

११ अप्रैल मंगलवार—विश्वास करो—सब साधनोंका यही एकमात्र फल है कि जिस किसी प्रकारसे भी हो भगवान् मन-मन्दिरमें आकर बस जायँ। जिसने इस रहस्यको जान लिया वही यथार्थ जाननेवाला है।

सब साधनको एक फल जेहिं जान्यो सो जान ।
ज्यों त्यों मन मन्दिर बसहिं राम धरे धनुबान ॥

१२ अप्रैल बुधवार—याद रक्खो—भगवान्के भक्तका सहज स्वभाव ऐसा होना चाहिये कि भगवान्में उसका प्रेम हो, मित्रोंसे मैत्री हो, वैरियोंमें वैरका त्याग हो, किसीसे पक्षपात न हो और सबसे सरल व्यवहार हो।

हितसों हित रति रामसों रिपुसों बैर बिहाउ ।
उदासीन सबसों सरल तुलसी सहज सुभाउ ॥

१३ अप्रैल गुरुवार-संसारसागर पार पहुँचे हुए हरि-दासोंके लक्षण ये हैं कि उनकी एकमात्र भगवान्में ममता है, सारे संसारमें समता है और किसीसे राग, द्वेष, दोष और दुःखका भाव नहीं है।

तुलसी ममता रामसों समता सब संसार ।
राग न रोष न दोष दुख दास भये भव पार ॥

१४ अप्रैल शुक्रवार—विश्वास करो—श्रीरामका कपटरहित सेवक हो रहनेपर हारनेमें भी जीत ही है, इसलिये श्रीरामसे डरो और श्रीराममें ही ममता, प्रेम तथा विश्वास करो।

रामहि डरु करु रामसों ममता प्रीति प्रतीति ।
तुलसी निरुपधि रामको भये हारेहू जीति ॥

१५ अप्रैल शनिवार—प्रार्थना करो—कृपालु भगवान्को अपने सब गुण-दोष दिल खोलकर सुना दो। इससे तुम्हारी दीनता नष्ट होने लगेगी और सन्तोष परम पुष्ट हो जायगा।

तुलसी राम कृपालुसों कहि सुनाउ गुन-दोष ।
होय दूबरी दीनता परम पीन संतोष ॥

१६ अप्रैल रविवार—दीन होकर प्रार्थना करो—हे परमानन्दस्वरूप, कृपाके धाम, मनकी सारी कामनाओंके पूर्ण करनेवाले भगवान् श्रीराम! तुम मुझे अपनी अविचल प्रेम-भक्ति दो।

परमानंद कृपायतन मन परिपूरन काम ।
प्रेमभगति अनपायनी देहु हमहि श्रीराम ॥

१७ अप्रैल सोमवार—याद रक्खो—जो चेतनको जड कर देते हैं और जडको चेतन, ऐसे समर्थ श्रीरघुनाथजीको भजनेवाले जीव ही धन्य हैं।

जो चेतन कहँ जड करइ जडहि करइ चैतन्य ।
अस समर्थ रघुनायकहि भजहिं जीव ते धन्य ॥

१८ अप्रैल मंगलवार—मनसे कहो, रे मन! काल जिनका धनुष है और लव, निमेष, परमाणु, युग, वर्ष और कल्प जिनके प्रचण्ड बाण हैं, तू उन भगवान्को क्यों नहीं भजता।

लव निमेष परमानु जुग बरष कलप सर चंड ।
भजहि न मन तेहि राम कहँ काल जासु कोदंड ॥

१९ अप्रैल बुधवार—याद रक्खो—जबतक यह जीव शोकके घर काम (कामना) को त्यागकर भगवान् श्रीरामजीको नहीं भजता तबतक उसके लिये न तो कुशल है और न स्वप्नमें भी कभी उसके मनको शान्ति मिलती है।

तब लगि कुसल न जीव कहँ सपनेहुँ मन बिश्राम ।
जब लगि भजत न राम कहँ सोकधाम तजि काम ॥

२० अप्रैल गुरुवार—याद रक्खो—विना सत्संगके भगवान्-की रहस्यमयी बातें सुननेको नहीं मिलतीं, उनके सुने विना मोह दूर नहीं होता और मोहका नाश हुए विना भगवान्के चरणोंमें दृढ़ प्रेम नहीं होता।

बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग ।
मोह गएँ बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग ॥

२१ अप्रैल शुक्रवार—याद रक्खो—बिना श्रद्धा-विश्वासके भक्ति नहीं होती, भक्तिके बिना भगवान् द्रवित नहीं होते और भगवान्‌की कृपाके बिना जीव स्वप्नमें भी कभी शान्ति नहीं पा सकता ।

बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न राम ।
रामकृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह बिश्राम ॥

२२ अप्रैल शनिवार—ऐसा विचारकर धीरजभरे मनसे सारे कुतर्कों और सन्देहोंको छोड़कर दयाकी खान सुन्दर सुख देनेवाले भगवान् श्रीरामजीका भजन करो ।

अस बिचारि मन धीर तजि कुतर्क संसय सकल ।
भजहु सदा रघुबीर करुनाकर सुंदर सुखद ॥

२३ अप्रैल रविवार—याद रक्खो—जिसका मन सरल है, जिसकी वाणी सरल है और जिसकी सम्पूर्ण क्रियाएँ सरल हैं उसके लिये भगवान् श्रीरामजीके प्रेमको उत्पन्न करनेवाली सभी विधियाँ सरल हैं । निष्कपट पुरुषको भगवान्‌का प्रेम सहज ही मिल जाता है ।

सूधे मन सूधे बचन सूधी सब करतूति ।
तुलसी सूधी सकल बिधि रघुबर प्रेम प्रसूति ॥

२४ अप्रैल सोमवार—याद रक्खो—ऊपरका स्वाँग साधुओंका-सा हो और बोली भी बड़ी मीठी हो परन्तु मन कठोर हो और कर्म गन्दे हों । इस प्रकार विषयरूपी जलकी मछली बने रहनेसे श्रीरामजीकी प्राप्ति नहीं होती ।

बेष बिसद बोलनि मधुर मन कटु करम मलीन ।
तुलसी राम न पाइए भए बिषय-जल मीन ॥

२५ अप्रैल मंगलवार—याद रक्खो—नकली वेष और बनावटी वचनोंसे जो काम बनता है वह दम्भ खुलते ही अन्तमें बिगड़ जाता है परन्तु जो काम सरल शुद्ध मनसे बनता है वह तो श्रीरामजीकी कृपासे बना-बनाया ही है ।

बचन बेष तें जो बनै सो बिगरै परिनाम ।
तुलसी मन तें जो बनै बनी बनाई राम ॥

२६ अप्रैल बुधवार—याद रक्खो—जो मनुष्य दूसरोंसे वैर रखते हैं, जिनकी परायी स्त्रीमें, पराये धनमें और परनिन्दामें आसक्ति है वे पामर पापमय जीव मनुष्यदेह धारण किये हुए राक्षस ही हैं ।

परद्रोही परदार रत परधन पर अपबाद ।
ते नर पाँवर पापमय देह धरे मनुजाद ॥

२७ अप्रैल गुरुवार—याद रक्खो—दुष्ट वही है जो कपटरूपी लोहेकी हजारों सुइयोंको सुन्दर वचनरूपी कपड़ेमें चतुराईसे बाँधकर छिपाना चाहता है ।

कपट सार-सूची सहस बाँधि बचन बर बास ।
कियो दुराउ चह चातुरी सो सठ तुलसीदास ॥

२८ अप्रैल शुक्रवार—याद रक्खो—जिसके वचनोंमें, विचारमें, आचरणमें, शरीरमें, मनमें और कर्मोंमें छलकी छूत लगी हुई है इस प्रकार अन्तर्यामी परमात्माको ठगकर सुख चाहनेवाला कपटी कैसे सुखी हो सकता है !

बचन बिचार अचार तन मन करतब छल-छूति ।
तुलसी क्यों सुख पाइये अंतरजामिहि धूति ॥

२९ अप्रैल शनिवार—याद रक्खो—धीरज, धर्म, विवेक, सत्-साहित्य, साहस और सत्यका व्रत अथवा एकमात्र भगवान्‌का भरोसा—विपत्तिकालके यही मित्र हैं ।

तुलसी असमयके सखा धीरज धरम बिबेक ।
साहित साहस सत्यब्रत राम भरोसो एक ॥

३० अप्रैल रविवार—भगवान्‌से प्रार्थना करो—हे रघुनाथजी ! मेरे समान तो कोई दीन नहीं है और तुम्हारे समान कोई दीनबन्धु नहीं है । ऐसा विचारकर हे भगवन् ! मेरे जन्म-मरणके महान् भयका नाश कीजिये ।

मो सम दीन न दीनहित तुम समान रघुबीर ।
अस बिचारि रघुबंसमनि हरहु बिषम भवभीर ॥*

* दोहे श्रीतुलसीदासजीकी दोहावलीसे संकलित हैं ।

ईश्वरविरोधी भजनमें कैसे लगें ?

(लेखक—पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी)

प्र०—जो लोग ईश्वर, शास्त्र और धर्मपर विश्वास नहीं करते, उन्हें भजनमें कैसे लगाया जाय ?

उ०—सबके लिये एक ही उपाय नहीं हो सकता। जिसको भजनमें लगाना हो, उसकी रुचि, प्रवृत्ति, स्वभाव, दुर्बलता, आदर्श और प्रियताका अध्ययन करके भजनमें उसकी अनुकूलता और अभीष्ट-सिद्धि दिखानी चाहिये। भर्त्सना और अपमान कदापि नहीं करना चाहिये। जब उसकी बुद्धि शास्त्रोंके प्रति विपरीतभाव नहीं रक्खेगी, तब वह धीरे-धीरे धर्म और ईश्वरको भी स्वीकार कर लेगा। फिर तो उसे भजनका स्वाद मिल जायगा और उसकी रुचि स्वयं भजनमें हो जायगी।

प्र०—वे जब कुछ मानते ही नहीं, तब उनसे भजनकी आशा कैसे की जाय ?

उ०—मानते क्यों नहीं ! कुछ-न-कुछ तो सभी मानते हैं, सबके मनमें किसी-न-किसी वस्तु या स्थितिकी कामना होती है। जो वस्तु या स्थिति प्राप्त है, उसकी रक्षा या वृद्धिका लोभ होता है। अनिष्ट वस्तु या परिस्थितिकी प्राप्तिका भय होता है, काम और लोभकी पूर्तिके लिये, भयकी निवृत्तिके लिये सबको एक बलवान् आश्रयकी आवश्यकता हुआ करती है। जब उन्हें मालूम होगा कि हमारी अभीष्टसिद्धिके लिये ईश्वर एक महान् आश्रय है, तब वे ईश्वरकी सत्ता स्वीकार कर लेंगे।

प्र०—वे किसी भी अदृश्य सत्ताको नहीं स्वीकार करते।

उ०—परिस्थितियाँ उन्हें विवश करेंगी माननेके लिये। वे जब चाहते हैं कि कोई चोरी न करे, हिंसा न करे, छल न करे, झूठ न बोले और अपनी वस्तुओंके छिन जानेसे, दुष्टोंके आक्रमणसे भयभीत होते हैं, तब उन्हें अदृश्य सत्ताको स्वीकार करना ही पड़ता है। केवल सामाजिक शासन अथवा राजकीय शासनके द्वारा सबका नियन्त्रण नहीं किया जा सकता। मानसिक अपराधोंकी तो बात ही क्या है, शारीरिक अपराध भी नहीं रोके जा सकते। प्रत्येक व्यक्तिके साथ एक निरीक्षक नियुक्त कर दिया जाय और वह निगरानी करता रहे, ऐसा सम्भव नहीं है। उन निरीक्षकोंको भी तो निरपराध होना चाहिये। व्यवहारमें और मनमें भी लोगोंको निरपराध रखनेके लिये एक ऐसी अदृश्य सत्ताकी आवश्यकता है, जो सबके साथ रहकर सबके कर्मोंकी साक्षिता करे, अन्यथा सामाजिक और राजकीय दोनों प्रकारकी व्यवस्था भंग हो जायगी।

प्र०—जो लोग अदृश्य सत्ताको मानते हैं वे भी तो अपराध करते हैं और सच पूछिये तो उनके अपराधोंसे घबड़ाकर ही लोगोंने अदृश्य सत्ताको अस्वीकार किया है !

उ०—वे मानते नहीं, माननेका ढोंग करते हैं। उनके दुराचरणोंको देखकर पवित्र और उपयोगी सिद्धान्तका त्याग उचित नहीं है। जिस प्रकार ईश्वरको न माननेवालोंको प्रेमसे समझाकर ईश्वरके भजनमें लगाना चाहिये, वैसे ही उन अपराधियों-पर भी सत्य सिद्धान्त प्रकट करके ईश्वरकी व्यापकता और न्यायशीलता समझानी चाहिये। केवल दृष्टभयसे समाजकी कोई व्यवस्था चल

नहीं सकती, क्योंकि समाजमें सब प्रकारके लोग सर्वदा रहते हैं। मानसिक पाप जो कि आगे चलकर शारीरिक हो जाते हैं, धर्म और ईश्वरको माने विना निवृत्त नहीं हो सकते। इसलिये किन्हीं व्यक्तियोंको देखकर कुछ निर्णय करना ठीक नहीं, आदर्शका ही ध्यान रहना चाहिये।

प्र०—वर्तमान कालके नवशिक्षित प्रायः इसी मार्गपर जा रहे हैं, उनकी शिक्षा और उससे संस्कृत बुद्धि ऐसा ही करनेका उपदेश करती है, क्या कारण है ?

उ०—समाजके मनोवैज्ञानिक अध्ययनका अभाव, अनुभवकी कमी, सहसाकारिता, भोगाभिमुखता और धर्महीन देशोंका अन्धानुकरण ही इसका कारण है।

प्र०—यह तो उपयोगिताकी बात हुई, सत्य क्या है ?

उ०—उपयोगिताकी दृष्टिसे भी कई बातें स्वीकार करनी पड़ती हैं। गणितशास्त्रमें अनेकों स्वयंसिद्धियाँ केवल व्यवहारसिद्धिके लिये मानी गयी हैं। दीर्घता और विस्तारसे रहित बिन्दु, बिन्दुसे बनी रेखा, रेखासे बने अक्षर सब-के-सब निराकार हैं, फिर भी व्यवहार-सिद्धिके लिये देशभेदसे अक्षरोंकी अनेकों आकृतियाँ स्वीकृत हुई हैं और आज उनके विना समाजका काम नहीं चल सकता। समय-विभाग वर्ष, मास, पक्ष, दिन, मुहूर्त आदिके नाम केवल व्यवहार-सिद्धिके लिये कल्पित हैं, नहीं तो रविवार और सोमवारमें कालकी दृष्टिसे क्या भेद है ? प्रत्येक वस्तुका रूढ़ नाम, पूर्व-पश्चिम आदिके दिग्भेद भी सामाजिक उपयोगिताके लिये ही हैं, ऐसी स्थितिमें यदि ईश्वर, धर्म और शास्त्रोंको केवल उपयोगिताकी दृष्टिसे ही स्वीकार किया जाय तो क्या हानि है ! कहनेका तात्पर्य यहाँ इतना ही है कि उपयोगिताकी दृष्टिसे भी यह ठीक है, सत्य तो है ही।

प्र०—सत्य कैसे है ?

उ०—प्रायः तीन प्रश्न उठा करते हैं, क्यों, कैसे और क्या। इन प्रश्नोंका ठीक-ठीक उत्तर देनेके लिये तीन प्रकारके शास्त्र हैं। किसी वस्तुका निर्माण कैसे अर्थात् किस प्रकार होता है, इसका उत्तर आधुनिक विज्ञानशास्त्र देता है। किस अनुपातसे मिट्टी, पानी, उष्णता आदिके संयोगसे किस प्रकारकी चेतनाका विकास होनेपर वृक्षकी कौन-सी जाति बनती है, यह बात यन्त्रके द्वारा परीक्षा करके बतलायी जा सकती है। किसी वस्तुका क्यों निर्माण होता है, यह अदृष्टविषयक प्रश्न है, इसका अर्थ है अमुक वस्तुका निर्माण किस लिये, किस प्रयोजनसे हुआ ? यदि उस वस्तुका बनानेवाला कोई दूसरा व्यक्ति है तब इस प्रश्नका यह आशय हुआ कि उसने किस उद्देश्यसे उस वस्तुकी सृष्टि की। यदि वह वस्तु स्वयं बनती है तो वह क्यों बनती है, उसके बननेमें प्रयोजन क्या है ? क्योंका अर्थ कारण-विषयक जिज्ञासा भी होता है। किसी वस्तुको किसी विशेष या सामान्यरूपसे क्यों स्वीकार करें ? अर्थात् उसके स्वीकार करनेसे क्या हानि और क्या लाभ है ? तीसरा प्रश्न है क्या अर्थात् उस वस्तुका स्वरूप क्या है ?

ईश्वर सत्य कैसे है ? यह प्रश्न तब बन सकता था जब ईश्वर कोई स्थूल वस्तु होता और यन्त्रके द्वारा उसकी परीक्षा करके, उसके विशेष-विशेष तत्त्वोंका विश्लेषण करके बतलाया जा सकता। जब ईश्वर अतीन्द्रिय, एक, एकरस और स्वयंसिद्ध है, तब उसके सम्बन्धमें यह प्रश्न कैसे उठ सकता है कि वह सत्य

कैसे है ? ईश्वरका यदि कोई कारण होता तब भी उसके द्वारा प्रकारभेदका निरूपण सम्भव होता । वह समस्त कारणोंका कारण है इसलिये यदि अशक्यतया निरूपण करना ही पड़े तो समस्त कार्योंके कारणके रूपमें और कार्योंका रचनाकौशल अत्यन्त विशिष्ट एवं बुद्धिमत्तापूर्ण है, इस प्रकारके तर्कोंके द्वारा किया जा सकता है । वह विज्ञानशास्त्रका विषय नहीं है इसलिये जहाँ विज्ञान मूक हो जाता है, वहाँ तर्क, न्याय या दर्शनशास्त्रके द्वारा उसका निरूपण किया जाता है ।

ईश्वरके सम्बन्धमें 'क्यों' यह प्रश्न भी ठीक नहीं उतरता । यदि ईश्वर मनुष्यबुद्धिकी सृष्टि होता तो मनुष्यने ईश्वरको क्यों बनाया है, यह प्रश्न बन सकता था । जब समस्त सृष्टिके निर्माता ईश्वर ही हैं, तब वे क्यों बने या उन्होंने यह क्यों बनाया, यह परबुद्धि-विषयक प्रश्न नहीं उठ सकता । यदि युक्तिके द्वारा इस प्रश्नका उत्तर दिया जाय कि ईश्वरको क्यों माना जाय तो बुद्धिभेदके कारण उत्तरभेद भी अवश्यम्भावी है ।

कोई मुक्तिके लिये, कोई कामनाओंकी पूर्तिके लिये, कोई धर्मकी सिद्धिके लिये और कोई शारीरिक सुख-सम्पत्तिके लिये ईश्वरकी सत्ता स्वीकार करते हैं । प्रेमीलोग केवल प्रेमके लिये और परमात्माकी प्रसन्नता प्राप्त करनेके लिये ऐसा करते हैं । ईश्वरकी मान्यताके विषयमें जिसकी जैसी बुद्धि है, वह वैसा ही कारण ढूँढ़ निकालेगा । भक्तिशास्त्रमें इसका विस्तृत वर्णन है ।

ईश्वर क्या है ? यह प्रश्न ठीक-ठीक बनता है और इस जिज्ञासाके समाधानमें ही वेदान्तदर्शनका प्रणयन हुआ है । सृष्टिके व्यष्टि और समष्टि-भेद, समष्टि और व्यष्टिके अभिमानी एवं व्यष्टि और समष्टिके धर्मभेदसे जीव और ईश्वरका पार्थक्य स्वीकृत हुआ है; व्यष्टिका अभिमानी जीवशब्दका वाच्यार्थ है और समष्टिका अभिमानी ईश्वरशब्दका । ये दोनों गौण अर्थ हैं, ईश्वर और जीव दोनों शब्दोंका लक्ष्यार्थ एक सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म है और वही ईश्वरशब्दका मुख्य अर्थ है । इस प्रकार सम्पूर्ण प्रकृति और प्राकृत जगत्के परे, इनको अपने अन्तर्भूत रखता हुआ जो विशुद्ध चैतन्य है वही ईश्वर है और एकमात्र वही सत्य है, उसके अतिरिक्त और कोई वस्तु सत्य नहीं ।

प्र०—समस्त जगत्के मूलमें जो एक सद्वस्तु है वही ईश्वर है, यह कहनेमें कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु आधुनिक विज्ञान उस मूल वस्तुको जड बतलाता है और इस प्रकार वह जडाद्वैतवादका विस्तार करता है । उस वस्तुको चेतन होनेका निश्चय कैसे किया जाय ?

उ०—आधुनिक विज्ञानशास्त्रियोंकी दृष्टि केवल पञ्चभूतोंमें ही सीमित है, वे इन्हींसे चेतनाका विकास मानते हैं । वे चेतनाका मूल पञ्चभूत और पञ्चभूतोंका मूल एक जड प्रकृतिको मानते हैं । प्रकृति परिणामिनी है और उसीका फल यह विश्वसृष्टि है । यह सृष्टि कैसे हुई, इसका उत्तर तो वे यथाकथञ्चित् दे लेते हैं, परन्तु यह सृष्टि क्यों हुई इसका कोई उत्तर उनके पास नहीं है । कुछ लोग परिणामको प्रकृतिका स्वभाव मानते हैं और कुछ आकस्मिक घटना-विशेष । परन्तु सृष्टिकी इस निरुद्देश्यतासे किसी भी विचारवान्‌को सन्तोष नहीं होता । इससे उत्तम और बहुत ऊपरतक पहुँचा हुआ सांख्यका सिद्धान्त है । यह सम्पूर्ण सृष्टि प्रकृतिका विकार है । वे (सांख्यवादी) चार प्रकारके पदार्थ मानते हैं, एक तो सबका कारण, परन्तु किसीका कार्य नहीं=प्रकृति । दूसरे, जो स्वयं कार्य हों परन्तु दूसरे पदार्थोंके कारण भी हों=प्रकृतिविकृति । तीसरे वे जो केवल कार्य

हों किसीके कारण न हों=पञ्चभूत । यहाँतक जडवर्गका विभाजन है । इसमें बुद्धि, अहंकार, मन और इन्द्रियाँ भी हैं परन्तु उनकी स्थिति पञ्चभूतोंके विकाससे नहीं मानी गयी है बल्कि प्रकृतिके विकारसे मानी गयी है । वे पञ्चभूतोंके कार्य नहीं, कारण हैं । इस प्रकार सम्पूर्ण व्यावहारिक जगत् और व्यावहारिक चेतना प्राकृतिक है, प्रकृतिके अन्तर्गत है ऐसा मान लेनेपर भी यह प्रकृतिमें विकार या विकास क्यों हुआ, इसका कुछ ठीक-ठीक उत्तर नहीं मिलता । सांख्यशास्त्रने इसका उत्तर देनेके लिये एक चौथा तत्त्व स्वीकार किया है जो कार्य और कारण दोनोंसे अतीत है और जिसके भोगके लिये ही प्रकृति विकृत होकर नाना प्रकारके नाच नाचती है । सांख्यशास्त्रने उस कार्य-कारण दोनोंसे विलक्षण तत्त्वको असंगपुरुषके नामसे कहा है । उसके विभु होनेपर भी प्रयोजनवश अर्थात् जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख आदिकी भिन्नता सिद्ध होनेके लिये पुरुषोंको अनेक मान लिया गया है और इस प्रकार सृष्टि क्यों और सृष्टिके भेद क्यों इसका समाधान किया गया है । आधुनिक विज्ञान अभी सांख्यके सिद्धान्तका भी ठीक-ठीक प्रत्यक्ष नहीं कर पाया है ।

सांख्यके इस पुरुषसिद्धान्तको समझ लेनेके पश्चात् वेदान्तका नम्बर आता है और वह अनेक पुरुषोंके अस्तित्व और प्रकृतिकी पारमार्थिक सत्ताका निषेध करके एक चित् सत्ताकी स्थापना करता है, विज्ञानशास्त्रने जब सांख्यशास्त्रमें उठनेवाले प्रश्नोंका ही ठीक समाधान नहीं किया है, तब वेदान्तसे तो उसकी तुलना ही क्या की जा सकती है ?

चित् सत्ता अद्वितीय अनन्त वस्तु है या जड सत्ता, इसको समझनेके लिये यहाँ केवल एक युक्ति दी जाती है । जगत्के समस्त पदार्थोंको दो भागोंमें विभक्त कर लीजिये, एक ज्ञाता और दूसरा ज्ञेय । ज्ञाता अहं है और ज्ञेय इदं । ज्ञाता अहं चेतन है और ज्ञेय इदं जड । अहंके बिना इदंकी सत्ता नहीं होती, परन्तु इदंके बिना भी अहंकी सत्ता रहती है । इदं अनित्य और असत्य है, अहं नित्य एवं सत्य है । अहंके द्वारा इदंका बाध किया जा सकता है परन्तु इदंके द्वारा अहंका बाध नहीं किया जा सकता । इस प्रकार जड और चेतन इन दो वस्तुओंकी व्यावहारिक सत्ता स्वीकार करके परमार्थमें एकका बाध कर देते हैं और वह बाध केवल जड प्रकृतिका ही होता है, चेतनका नहीं । चेतनका निषेध करनेवाला भी तो चेतन ही होगा, इस प्रकार मूलवस्तुके रूपमें केवल चेतन ही सिद्ध होता है और वही ईश्वरशब्दका मुख्य अर्थ है । वैज्ञानिकोंका 'विकास' और सांख्योंका 'विकार' वेदान्तियोंका 'आत्मविलास' है अथवा 'लीला' ।

प्र०—यह तो माना कि ईश्वर ही सत्य वस्तु है, परन्तु उसका भजन करना चाहिये या उसके भजनसे कुछ लाभ है, यह बात कैसे जानें ?

उ०—सत्य वस्तुको जीवनका लक्ष्य न बनावें तो क्या असत्य वस्तुको बनावें ? सत्यके भजनसे लाभ नहीं होगा तो क्या असत्यके भजनसे लाभ होगा ? ईश्वरको मानते हुए भी जो उसका भजन नहीं करता या भजनको अपना कर्तव्य नहीं समझता, उसको बुद्धिमान् नहीं कहा जा सकता । जीवनका आदर्श कोई सांसारिक सम्पत्ति, इस लोक या परलोकका भोग नहीं हो सकता क्योंकि अनन्त परमात्माके अतिरिक्त सच्चे सुखकी प्राप्ति इन स्वल्प और विनाशी विषयोंमें नहीं हो सकती । जो लोग विषयोंको प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें विषयोंकी प्राप्तिके लिये भी भगवान्का ही आश्रय लेना चाहिये ।

इस प्रकार धीरे-धीरे उनकी विषयवासना शान्त हो जायगी और वे सच्चा सुख प्राप्त कर सकेंगे। जो लोग अपने जीवनमें सत्य, अहिंसा, सन्तोष आदि सद्गुणोंका पूर्ण विकास चाहते हैं, उनके लिये भी भगवान्‌का आश्रय ही परम साधन है। बिना भगवान्‌के आश्रयके दैवी सम्पत्ति टिक नहीं सकती।

प्र०—देशसेवा आदि कार्य भगवद्भजनके अन्तर्गत हैं या नहीं ?

उ०—देश आदि भगवान्‌के अन्तर्गत हैं या नहीं ? यदि देश, व्यक्ति, मूर्ति, भावना, अपनी सत्ता और सम्पूर्ण वस्तुएँ भगवान्‌के अन्तर्गत हो हैं, तब किसीकी भी सेवा भगवान्‌की सेवा है, इसमें क्या सन्देह है ? अन्तर इतनाही है कि सेवा करते समय यदि यह स्मरण रहा कि जिसकी सेवा मैं कर रहा हूँ, वह साक्षात भगवान्‌का स्वरूप है तब तो इस जीवनमें अनन्त शान्तिका अनुभव होगा, अन्यथा सेवा करनेवाला इस परम लाभसे वञ्चित ही रह जायगा। शिष्यके लिये गुरु, पत्नीके लिये पति, पुजारीके लिये मूर्ति, देश-सेवकके लिये देश स्वयं परमात्मा है। इनकी सेवा परमात्माकी सेवा है। शर्त इतनी ही है कि परमात्माका स्मरण रहना चाहिये। यह सब परमात्मा हैं, इसका कारण यही है कि परमात्माके अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है।

प्र०—जो लोग देशसेवा आदि करते हैं, परन्तु भगवान्‌का स्मरण नहीं रखते, उनकी क्या गति होगी ?

उ०—देशसेवा आदिके फलस्वरूप वे जो कुछ चाहते होंगे, वही उन्हें मिलेगा। जो मुक्ति या परमात्माको चाहते हैं, उन्हें उसी साधनासे परमात्माकी प्राप्ति भी हो सकती है, जो लोग कुछ चाहते नहीं, निष्कामभावसे देशसेवाके लिये देश-सेवा करते हैं, उनका हृदय शुद्ध हो जायगा और वे भी परमात्माको प्राप्त कर लेंगे। परन्तु जो ईश्वर और धर्मसे द्वेष रखते हैं, उन्हें तो द्वेषका ही फल मिलेगा। द्वेषका फल दुःख है, वह चाहे किसीसे भी हो। जो परमात्मासे द्वेष करते हैं, उनकी शान्तिका मार्ग अवरुद्ध है। वे लौकिक उद्देश्योंकी सफलतामें भी दुःखी ही रहेंगे।

प्र०—क्या यह बात उन लोगोंको किसी प्रकार समझायी जा सकती है ?

उ०—क्यों नहीं ! कोई त्यागी हो, तपस्वी हो, सदाचारी हो, अनुभवी हो और प्रेमसे उन्हें समझाना चाहे तो समझा सकता है। कई लोग जो समझानेके अधिकारी नहीं हैं, उनके पास जाते हैं और निराश लौटते हैं। कुछ लोग आवेशवश उनका अपमान और भर्त्सना करने लगते हैं और यह भूल जाते हैं कि इनके अन्दर भी ईश्वर है अथवा इन्हें भी अपने मतमें लाकर भाई-भाईकी तरह रहना है। उनके किये हुए अपमानके कारण दूसरे लोग प्रभावित नहीं होते और अच्छी एवं सच्ची बातको भी स्वीकार नहीं करते। यदि अधिकारी पुरुष उन्हें प्रेमसे अनुभवकी भाषामें समझावें तो वे लोग भी जो ईश्वर और धर्मको नहीं मानते भजनकी महत्ता समझें और सचाईके साथ भजनमें लग जायँ। भजन एक मनोभाव है और वह शरीरकी किसी भी परिस्थितिमें किया जा सकता है।

दुःखमोचन मन्त्र और चिन्ताहरण कवच

(लेखक—श्रीरामनाथजी 'सुमन')

एक आदमी है जो दुखी है और सन्तापकी ज्वालामें जल रहा है। वह सदा अपने दुःखों और कष्टोंका रोना रोया करता है। उसे इस बातकी बड़ी शिकायत है कि ईश्वरने सदा उसके साथ कठोर व्यवहार किया और भाग्यने कभी हँसकर उसकी तरफ़ नहीं देखा। उसका जीवन गला जा रहा है पर एक दिन उसने विश्रामकी साँस नहीं ली। उसके ओठोंपर कभी मुस्कराहट नहीं फूटती। उसके जीवनका आकाश काले बादलों तथा नसोंमें चिन्ता पैदा करनेवाली बर्फीली हवाओंसे भरा हुआ है। वह हर रोज समझता है—सोचता है कि इस जीनेसे मरना कहीं अच्छा होता।

अगर मैं इस आदमीके पास, जो घुटनेपर माथा रखे, अपनी क़िस्मतपर रो रहा है, जाकर उसकी पीठपर प्यारकी एक थपकी दूँ और कहूँ कि मैं एक ऐसा मन्त्र जानता हूँ जिससे तुम्हारे सारे दुःखोंका अन्त हो सकता है और तुम्हारा कायापलट हो सकता है तो वह चकित होकर मेरी तरफ़ देखेगा, मेरा एहसान मानेगा और शायद घुटने टेककर मुझसे प्रार्थना करेगा कि मैं उसे वह मन्त्र बता दूँ जिसके अभावमें, जिसे न जाननेके कारण, उसकी सारी ज़िन्दगी चौपट हो रही है और उसके सामने एक रेगिस्तान-सा पड़ा है जिसमें जलकी एक बूँद प्यास बुझानेको नहीं मिलती और जिसका कभी खातमा होता नहीं मालूम पड़ता।

और यदि मैं इस आदमीको जवाब दूँ कि यह एक बड़ा ही सीधा मन्त्र है जिसे हर आदमी जानता है और तुम भी उससे नावाकिफ़ नहीं हो तो उसे बड़ा ताज्जुब होगा। पर असलमें इसमें ताज्जुबकी कोई बात नहीं है। यह बिल्कुल सीधी बात है।

यह मन्त्र और कुछ नहीं, संयमका मन्त्र है। इसमें ज़िन्दगीके दुःखोंको जादूकी तरह दूर करनेकी ताक़त है, इसपर बार-बार ज़ोर देने और इसका भेद समझानेकी बड़ी ज़रूरत है। आजकल अखबारोंमें कितने ही ऐसे विज्ञापन निकलते हैं जिनमें आनेवाले खतरोंसे आदमीको आगाह करने और उसका भाग्य पहलेसे बतानेका दावा किया जाता है। इसी तरह आजकल कवच और टेलिसमैन बेचकर कितनोंने हजारों, लाखों कमाया है। क्या यह ताज्जुबकी बात नहीं है कि जो लोग अपनी क़िस्मतकी जानकारीके लिये पसीनेकी कमाईका रुपया यों फेंकते फिरते हैं और इसके लिये बदहवास हैं, उनको यह खबर नहीं कि खुद उन्हींके पास उनके भाग्यको बनाने-बिगाड़नेकी ताक़त मौजूद है और उनके पास ही वह चिन्ताहरण कवच या टेलिसमैन है जिसको अपनाकर वे अपनी ज़िन्दगीको खिले हुए फूलोंके बगीचेकी तरह बना सकते हैं?

चाहे ताज्जुब किया जाय पर यह सच है। आदमी खुद अपने तईं और अपनी ताक़तोंके प्रति इस तरह बेखबर है कि उसने अपने मनको बहुत-से कल्पित दुःखोंसे भर लिया है। संयमका मन्त्र ऐसा है कि इससे ज़िन्दगीपर छायी हुई अँधियारीका अन्त हो जाता है। मानसका क्षितिज आत्म-विश्वासके सूर्योदयसे खिल उठता है। उसमें उत्साह और स्फूर्तिकी लाली भर जाती है।

इस मन्त्रने दुनियामें लाखों आदमियोंकी ज़िन्दगीमें आश्चर्यजनक परिवर्तन कर दिया है। यह नरकको छूता है और उसे स्वर्ग बना देता है। इतिहासोंके पन्ने इसके आश्चर्यजनक करिश्मोंसे भरे हुए हैं। सभ्यताएँ और संस्कृतियाँ इसी खादपर पनपती और फूलती-फलती रही हैं। समाजके प्रत्येक शुभ कार्यकी जड़में इसीकी प्रेरणा है।

यह इसी मन्त्रका असर है कि दुःख और विपदाकी लूसे झुलसी हुई हजारों स्त्रियाँ चकलेमें बैठनेसे बच गयी हैं। यह इसीका प्रभाव है कि सैकड़ों गृहस्थियाँ अपने दिलोंके दगरको भर सकी हैं। यह इसीका प्रभाव है कि लाखों आदमी जेल जाने या एक-दूसरेका गला काट लेनेसे बच जाते हैं। यह इसी मन्त्रका जादू है कि हज़ारों बुराइयोंसे आदमी और समाजकी रक्षा हो जाती है।

दुनियामें आदमीको जितनी तकलीफें उठानी पड़ती हैं उनमेंसे ज़्यादातरके मूलमें असंयम होता है। शायद ही कोई आदमी ऐसा हो जिसने कभी विपदामें अपने दिलमें यह न कहा हो कि अगर मुझमें शुरूसे यह आदत न पड़ी होती या मेरी माँने या बापने मेरी ऐसी आदत न पड़ने दी होती और

मुझे आत्मसंयमकी तालीम दी होती तो आज मेरी ऐसी हालत क्यों होती ?

एक अमेरिकन लेखकने आदमीके कष्टों और अपराधोंपर विचार करते हुए लिखा है—

'……फाँसीपर चढ़ते हुए खूनीको देखो। बचपनमें वह बड़ा ज़िद्दी और तेज़ स्वभावका बच्चा रहा होगा। लाड़-प्यारके कारण उसका यह स्वभाव बना ही रहा और बढ़ता गया। माँ-बापने समझा उम्र पानेपर सब ठीक हो जायगा। उन्होंने कभी उसे आत्मसंयमका पाठ नहीं पढ़ाया। गुस्सेको पीना उसने नहीं सीखा। वही बच्चा जब जवान हो गया तो एक दिन ऐसा हुआ कि किसीने उसे चिढ़ाया और ज्यादा तंग किया। वह गुस्सेमें आगबबूला हो गया और उसने उस आदमीपर ऐसा वार किया कि उसके प्राणपखेरू उड़ गये। यह वही लड़का था जो कि बचपनमें कुर्सीकी ठेस लग जानेपर उसको पटककर तोड़ देता था। और जो लोग मना करते उनकी घूँसोंसे खबर लेता था।

एक शराबीको देखो जो कि बेहोश होकर नालीमें मुँहके बल पड़ा है। उसकी ऐसी स्थितिका कारण उसकी माँ है जिसने उसे कभी आत्मसंयम नहीं सिखाया। यह वही लड़का है जो शुरूमें मिठाई खूब खाता था और माताने कभी उसकी रोकटोक नहीं की।

उस फटे हुए कपड़ेवाले मज़दूरकी तरफ़ ध्यान दो जो कि मज़दूरी करते-करते इस हालतमें पहुँच गया है कि उसे जन्मभर अच्छा खाना या कपड़ा नहीं मिला। यह उसकी माँकी करनी है कि उसने उसे कोई योग्य शिक्षा नहीं दी और न मोहकी मारी उस माँने उसे कोई काम ही करने दिया। वह एक मदरसेसे उठाकर दूसरे और दूसरेसे तीसरेमें बिठलाया गया। कारण यह था कि उसे अपना पाठ कठिन जान पड़ता था या उस्ताद सख्त होता था। जब उसने काम करना शुरू किया तब वह एक जगह नहीं टिका क्योंकि जिसके यहाँ वह काम करता था वह बड़ी सख्तीसे पेश आता था। उसने दर्जनों काम सीखे लेकिन किसीमें मन न लगा। उसकी यह सब दुर्दशा केवल इस कारण हुई कि उसकी माँने उसे आत्मसंयमकी शिक्षा नहीं दी। संयमी पुरुष जिस कामको हाथमें लेता उसे पूरा करके ही छोड़ता है।'

समाजमें आज लड़कों एवं लड़कियोंमें जहाँ कहीं चरित्र-हीनता देखी जाती है उसके मूलमें आत्मसंयमका अभाव ही होता है। मिस माधवी और मिस राधा पढ़ी-लिखी लड़कियाँ हैं। कालेजमें पढ़ रही हैं। ललचाई हुई आँखोंसे देखनेवाले लड़कोंको छेड़नेका इनको शौक है। जब ये देखती हैं कि एक कमज़ोरदिल साथी उनके पीछे आ रहा है या उनके पाससे गुज़र रहा है तब वह कुछ अजीब लचकसे चलती हैं; उनका आँचल अक्सर सिरसे खिसक जाता है; उनके दिलमें अपने सुन्दरी होनेका एक झूठा गर्व जाग्रत् होता है। ये अपनेको सजानेमें जितना वक्त लगाती हैं शायद उसका आधा समय लगाकर अत्यन्त विदुषी और गुणवती नारियाँ बन सकती थीं जिनको पाकर समाज धन्य होता और जिनको वे मिलतीं वे अपनी क़िस्मतको सराहते। ये लड़कियाँ झूठे प्रेमके दिल लुभानेवाले वादों और मनमोहन चेहरेवाले लड़कोंके चक्करमें कई बार पड़कर अपमानित हुईं। इनके दिल कच्चे थे। इसलिये ये झट आत्मसमर्पण कर देती थीं। यदि इनको आत्मसंयमकी शिक्षा दी गयी होती तो इनका यह बुरा हाल कभी न होता। वे मनकी तरंगोंमें बह न जातीं और झूठे बनाव-शृंगारको अपने कर्त्तव्य और विवेकपर हावी न होने देतीं।

विदेशोंमें जहाँ आधुनिक सभ्यताकी कशमकश बहुत ज्यादा बढ़ गयी है, बहुतेरी लड़कियाँ बढ़िया कपड़ा पहनने या निकम्मी फिरनेके लिये अपना सतीत्व बेच देती हैं। अवश्य ही वे इसे सतीत्व बेचना नहीं कहतीं। आजकलकी सभ्य भाषामें उसके अनेक बढ़िया और मोहक नाम रख लिये गये हैं और यह भी कहा जाने लगा है कि इसमें सतीत्व बेचनेकी क्या बात है—यह तो स्त्री-पुरुषकी भूख है। पर मीठे ज़हरके समान लज्जतवाली इन बातोंके बावजूद इनके पीछे जो आत्मवञ्चना है उसे छिपाया नहीं जा सकता। इन सब बातोंके मूलमें आत्मसंयमकी शिक्षाका अभाव स्पष्ट है।

मैं एक आदमीको जानता हूँ जो एक बहुत अच्छे वैद्य हैं। इन्होंने अपने पेशेसे नाम और धन दोनों कमाया है। इन्हें बुढ़ौतीमें एक लड़का हुआ। चूँकि उनकी ज़िन्दगीके रेगिस्तानमें बड़ी मुश्किलोंसे यही एक हरियाली मिली थी इसलिये उन्होंने उसे लाड़-प्यारसे लाद दिया। उसे सदा गोदहीमें रखा जाता। ज़मीनपर उसे उतरने ही न दिया गया। नतीजा यह हुआ कि इस लड़केके पाँव बिल्कुल निकम्मे हो गये। आज वह एक लाचार आदमी है।

लाला अशरफ़ीलालकी उम्र इस वक्त ७०-८० के क़रीब है। इनका एक ज़माना था। जवानीके दिनोंमें

अफ़वाहकी तरह हरएककी ज़बानपर उनकी कमाई, दरियादिली और रसिकताकी चर्चा थी। लोग कहते थे—देनेवाला इस तरह देता है। इनको अच्छे दिनोंमें रुपया कमानेका खूब मौका मिला और इन्होंने रुपया कमाया भी। जैसे बाढ़ आती है वैसे ही इनके पास रुपयोंकी बाढ़ आ गयी थी पर झूठे घमण्डमें आकर इन्होंने अन्धाधुन्ध खर्च किया। देखते-देखते सारा धन स्वप्नकी तरह ख़त्म हो गया। यार-दोस्तोंकी मण्डली बिखर गयी। इनके बच्चे इन्हें गाली देते हैं कि इन्होंने हमें किसी कामका न रक्खा। वह अपने बाल-बच्चोंकी दयापर जीवित हैं अथवा नाते-रिश्तेदारोंके सामने गिड़गिड़ाते और उनसे सहायताकी भिक्षा माँगते फिरते हैं। उनके इन कष्टोंका कारण यही है कि जब उनके अच्छे दिन थे, जब भरी जवानी थी और हाथमें रुपया था उन्होंने आगा-पीछा नहीं देखा। बुढ़ापेकी चिन्ता न की।

आजकी गृहस्थियोंमें जो दीमक लग गया है उसका मुख्य कारण असंयम ही है। ज़रा-ज़रा-सी बातमें झगड़े खड़े हो जाते हैं। श्रीमती 'क' को उतनी साड़ियाँ पति देवता नहीं दे पाते जितनी श्रीयुक्त 'म' की स्त्रीके पास है। इसपर उसका मुँह लटक जाता है। समझानेपर वह कहती है—हमारी क़िस्मत ही फूटी है; तुम क्या करोगे। कमला एक साध्वी नारी है। वह सीधी-सादी रहती है क्योंकि उसे अपने घरकी स्थितिका पता है। उसके पति बात-बातपर उसे डाँटते रहते हैं। जब वह सादे कपड़े पहनती है तब वह कहते हैं 'तुम तो हमारी नाक काटनेपर तुली हो। लोग कहेंगे कि यह अपनी स्त्रीको कैसे दरिद्री वेशमें रखता है। तुमसे बोलनेका मन नहीं करता। तुम्हें पहनने-ओढ़नेकी तमीज़ नहीं है और हो कहाँसे माँ-बापने सिखाया हो तब न! अच्छी चीज़को भी यों पहनो कि चौपट कर दो।' जब बेचारी चमक-दमककी चीज़ें पहनती या ज़रा सलीक़े-से चलती है तब भी व्यंग सुननेमें आते हैं—अच्छा अब श्रीमतीजी लेडी बनेंगी। आजकलकी औरतें चाहती हैं कि चाहे उम्र ४० की हो पर मालूम २० की पड़ें! और अपनी लड़कियोंमें यों खप जायँ जैसे उन्हींकी बहनें हों।

पश्चिममें तो स्थिति और बुरी है। ज़रा-सी खटपट पति-पत्नीमें हुई कि उनके दर्शन तलाककी अदालतोंमें ही होते हैं। छोटी-छोटी सनकभरी बातोंपर सम्बन्ध टूट जाता है। हज़ारों बच्चे माँके जीवनमें बिना माँके हो जाते हैं और सैकड़ों बाप रहते हुए बापके होनेका अनुभव नहीं कर पाते। इन सब बातोंके मूलमें आत्मसंयमका ही अभाव है। ऐसी लड़कियों या ऐसे युवकोंको यह शिक्षा नहीं मिली कि ज़िन्दगीमें कभी-कभी कड़ुआहट भी आती है पर उसे बर्दाश्त करना पड़ता है। और संयुक्त-जीवन सदा ही समझौतोंका जीवन होता है। उसमें 'सब-का-सब या एक भी नहीं' वाला सिद्धान्त नहीं चल सकता।

जीवनकी हर अवस्था और हर क्षेत्रमें संयम आवश्यक है। यह वह पथ-प्रदर्शक है जो कभी तुम्हें ग़लत रास्तेपर नहीं ले जा सकता और जिसके हाथमें तुम्हारा हित सदा सुरक्षित है। पर गृहस्थ-जीवनमें तो इससे अच्छा कोई दोस्त नहीं। इसकी सफलताके लिये यह एक अचूक मन्त्र है। इसलिये जो भी आदमी सुखी और सफल गृहस्थ-जीवन चाहता है उसे इस मन्त्रका महत्त्व समझकर इसे भलीभाँति ग्रहण करना चाहिये।

सबसे पहले शारीरिक संयमकी ज़रूरत है। इस विषयमें मैं पहले भी लिख चुका हूँ। शरीर ही वह साधन है जिससे दुनियाके सब कर्म सम्भव हैं। स्वस्थ मनके लिये स्वस्थ शरीर ज़रूरी है। आत्माके देवताका यह मन्दिर है। कोई भी भक्त देवताके स्थानको गन्दा, ख़राब और निकम्मा नहीं रक्खेगा। प्रत्येक कारीगर अपने औज़ारोंको साफ़-सुथरा और दुरुस्त रखता है। कोई बढ़ई न पसंद करेगा कि उसकी आरी कुन्द हो जाय या उसका रन्दा बेकाम हो। पर ताज्जुब है कि जिस शरीरके बिना मनुष्य-जीवनका कोई काम नहीं हो सकता उसके प्रति हम बिल्कुल लापरवाह रहते हैं। कैसे वह स्वस्थ रहेगा, कैसे वह तेजस्वी एवं बलवान बना रहेगा, इसपर हम बहुत कम विचार करते हैं और विचार भी करते हैं तो तदनुसार आचरण तो बहुत ही कम करते हैं। हमारे मोहल्लेमें मि० शेरसिंह रहते हैं। जवानीके दिनोंमें इनके बलकी धाक थी। जिधरसे निकलते मारे डरके एक सियापा छा जाता। बड़ी-बड़ी मूछें; ऊँचा एवं उठा हुआ सीना। चलते थे तो मानो पृथ्वी धमक उठती थी। चेहरेपर नूर बरसा पड़ता था। मित्र-मण्डलियोंमें यह इस बातके लिये मशहूर थे कि एक बैठकमें सेरभर मलाई, ५० लड्डू और कम-से-कम इतनी ही पूरियाँ आसानीसे उदरस्थ कर लेते हैं। इन्हें निमन्त्रण देना ग़रीबके लिये अपना टाट उलट देना था। हाँ, धनियों और राजा-रईसोंके यहाँ एक कौतुकके रूपमें उन्हें प्रायः निमन्त्रण मिला करता था।

आज जो इन्हें देखता है, इनपर एक हाय करता है और तरस खाता है। बड़ी मुश्किलसे लाठियाँ टेकते ये दस-पाँच कदम चलते हैं। गठियाके शिकार हो चुके हैं। चेहरेपर ४५ वर्षकी अवस्थामें ऐसी झुर्रियाँ हैं कि ५० वर्षके आदमी उन्हें, भ्रमसे, बाबा कहकर पुकारते हैं। आज दो रसगुल्ले इनको हज़म नहीं होते! अपने लड़कपनके स्वस्थ साथियोंको खाते-पीते देखकर यह लालसाभरी आँखोंसे उनकी ओर देखते हैं और इनके कलेजेमें एक हूक उठती है।

बात इतनी-सी है कि जब इनका शरीर स्वस्थ था, इन्होंने अपने पेटपर मनमाना अत्याचार किया। जब वह एक सेर बोझ सहन कर सकता था तब उसपर बराबर चार सेरका बोझ डालते गये। आखिर बेचारा बेकाम हो गया। पेट खराब हुआ, खून खराब हुआ। चेहरेका तेज झड़ गया। हाथ-पाँव निर्जीव हो गये। जिस घूँसेसे एक दिन ईंटे तोड़ देते थे उनसे आज काग़ज़ी बादाम भी नहीं टूटता। यह सब उस असंयमका परिणाम है।

शेरसिंहके छोटे-मोटे भाईबन्द तो हममें हज़ारों हैं। हममें बहुत कम ऐसे हैं जिन्होंने जवानीके दिनोंमें अपने शरीरपर अत्याचार न किया हो। जब भूख नहीं होती तो भी हम अक्सर ज़बानके ज़ायकेके लिये मसालेदार चरपरी चीज़ें खा ही लेते हैं। इस तरह जो ज़हर हमारे अंदर इकट्ठा होता रहता है वही कमज़ोरीमें अनेक रोगोंके रूपमें फूट निकलता है।

खान-पानतक ही नहीं, भोग-विलास, पहनने-ओढ़ने हर बातमें असंयमके उदाहरण हमलोगोंके जीवनमें भरे पड़े हैं। इसी असंयमके कारण हमारा जीवन नरक बन रहा है। छोटी-छोटी बातोंपर ही जिन्दगीकी नींव पड़ती है। अक्सर हम इन बातोंकी ओर लापरवाहीके साथ देखते और एक 'उहूँक' कर देते हैं पर बादमें, जब रोग और शोक हमें दबोचते हैं, तब हमारे हाथ सिर्फ़ पछताना ही रह जाता है।

इसलिये सबसे पहली ज़रूरत यह है कि प्रत्येक काममें शरीरका उपयोग बड़े संयमके साथ करो। जितना खाना है उतना ही खाओ। जितना पीना शरीरके लिये ज़रूरी है उतना ही पीओ। जिस तरह खाना-पीना-रहना चाहिये उसी तरह रहो। शरीरमें सुस्ती न आने दो। उसे काममें लगाये रखो। घूमो, फिरो। धूप और स्वच्छ खुली वायुका सेवन करो। आहार-विहारमें संयम रखो। कभी दिलको छोटा न करो। हँसी-खुशीके साथ रहो। स्वच्छ-मुक्त हास्य, सादा आहार और खुली हवा वे 'टानिक' (पौष्टिक औषध) हैं जो जवानीको बहुत दिनोंतक बनाये रखती हैं। संयम वह अमृत है जिसे पीकर शरीर फौलादकी तरह दृढ़ हो जाता है।

दुनियामें जो इतने रोग दिखायी देते हैं और दिन-दिन नये-नये रोग निकलते आते हैं इसका कारण यही है कि हमारा जीवन बनावटी हो गया है। प्रकृति और प्राकृतिक नियमोंसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं रह गया है। शहरी जिन्दगी बिल्कुल कृत्रिम हो गयी है। नगरोंमें रहनेवाले ज़्यादातर लोगोंको स्वच्छ वायु, सुन्दर सूर्योदय और सुनहली सन्ध्यासे भेंट नहीं होती। हममेंसे जो लोग पश्चिमकी नक़ल करके चल रहे हैं और जिनको अपनी 'सभ्यता' का घमण्ड है उनकी दशा तो और भी दयनीय है। इनका मनोरञ्जन केवल सिनेमा है। चायपान इनका उपःपान है। दुनियाके साथ इनका परिचय केवल अखबारी परिचय है। रातको जल्द सोनेसे इनकी सभ्यतामें धब्बे लग जाते हैं और प्रातःकाल जल्द उठना इनके लिये एक वाहियात और पुराना रिवाज है। इनका प्राणायाम केवल धूम्रपान—सिगरेट पीने—तक सीमित है। दार्जिलिंगके सूर्योदयके चित्र शायद इनके कमरेमें हों या उसकी प्रशंसा भी आप उनके मुँहसे सुन लें पर उस सूर्योदय और उषाके दर्शन उन्होंने कभी नहीं किये जो दुनियापर रोज़ एक नये जीवनप्रद संदेशकी तरह छा जाते हैं और जिन्हें देखकर मनमें एक नयी आशा और नया उत्साह भर जाता है।

नक़ली दूध, बासी रोटियाँ, बिस्कुट खाकर, सिगरेट पीकर, तथा अप्राकृतिक जीवन बिताकर इन्होंने असमयमें ही बुढ़ापा खरीद लिया है। इनके दिलोंमें शिशिरका डंक बैठ गया है। उनमें गरमी नहीं; रवानी नहीं। एक मशीनरीकी तरह उनका हँसना, रोना, अनुभव करना, उनका खान-पान और मनोरञ्जन सबमें थका देनेवाली विवशता है। अधिकांश पढ़ते बहुत कम हैं पर आँखोंपर चश्मा है। नब्बे-सैकड़ोंको क़ब्ज़ और पेटके दूसरे रोग हैं। स्त्रियोंमें प्रदर, ऋतु-दोष इत्यादि रोग सामान्य नियम बनते जाते हैं। इनको देखिये और एक पठान बच्चेसे इन्हें मिला लीजिये जिनकी जिन्दगी काठकी तरह सख्त है पर जो प्रकृति माँकी गोदमें पलते हैं; चश्मोंका पानी पीते हैं और पहाड़ोंको यों पार करते हैं जैसे माँकी गोदमें चढ़े जा रहे हों।

मुझे अपनी बात याद है। बचपनमें जब हम पढ़ते थे, कभी ज्वर आया तो दवा यह थी कि दो-चार रोज़के लिये हम गाँव चले जायँ। वहाँकी हवा शहरके उन सब कीटाणुओं-का बात-की-बातमें नाश कर देती थी, जो गंदी गलियोंकी धूलमें हमारे साथ लग जाते थे। आज बड़े-बड़े विशेषज्ञोंकी दवाइयाँ उतनी जल्द असर नहीं करतीं।

इसलिये आजकी हमारी ज़िन्दगीमें, जब हम प्राकृतिक जीवनसे बहुत दूर चले आये हैं; जब दिनमें भी सूरजकी रोशनीकी जगह बिजलीकी बत्तियोंके नीचे अनेक आफ़िसोंमें काम करना पड़ता है; जब कशमकश बहुत ज़्यादा है तब तो हमें संयमसे और भी ज्यादा काम लेना चाहिये। मैं इसपर इतना ज़ोर इसलिये दे रहा हूँ कि मैं जानता हूँ, अक्सर जवानीमें इन बातोंकी परवा नहीं होती। यौवन कठिनाइयोंको ठुकराता चलता है और जवानी खतरेके डरावने उपदेशोंकी छातीपर इतराती हुई फिरती है। जब बदनमें ताकत होती है, दिलमें एक विद्रोहका भाव रहता है। अक्सर ऐसे उपदेश उस वक्त बेमौक़ा और सुननेमें कर्कश मालूम पड़ते हैं पर बादमें पछताना ही हाथ रहता है। अपना एक छोटा उदाहरण मैं दे सकता हूँ। १९२० के पहले मुझे पढ़नेकी ऐसी चाट थी कि दो-एक किताबें रोज़ खत्म किये बिना जिन्दगी सूनी मालूम पड़ती थी। मैं सड़कपर चलता तब भी पुस्तकें तथा समाचारपत्र पढ़ता चलता था। कई बार मोटर और एक्केसे दबते-दबते बचा। घरपर पढ़ रहा हूँ; शाम हो गयी है। दिया नहीं जला है पर मुझे इतना संतोष नहीं कि थोड़ी देर किताब रख दूँ और रोशनी हो जानेपर पढ़ूँ। बड़े-बूढ़े तो मना करते तो व्यंगसे भरी एक हँसी में हँस देता और अपना काम यों जारी रखता जैसे किसी पागल आदमीने कोई ऐसी बात कही हो जिसपर समझदार आदमीको विचार नहीं करना चाहिये। उसीका परिणाम आज यह है कि मेरी एक आँख बहुत कमजोर हो गयी है और ज़रा भी मेहनतपर आँखोंसे पानी निकलने लगता है। यों ही मुझे याद है कि २० वर्षकी अवस्थातक मैं जूता-टोपीका इस्तेमाल कभी-कभी ही करता था। कोट छूता न था। केवल कुरता पहने माघ-पूसके जाड़ेमें निर्द्वन्द्व गंगाके तीरपर तथा इधर-उधर रातको देरतक घूमा करता था। सरदी-जुकाम कैसे होते हैं यह मुझे मालूम न था। शरीरमें गरमी इतनी थी कि साधारण ज्वरमें जब मैं स्नान कर लेता था तब प्रायः ज्वर उतर जाता था। अभी दस वर्ष पहलेतक रातको तीन घंटेकी नींद मेरे लिये बस थी। माघ-पूसके महीनेमें ढाई-तीन बजे रातको खुले मैदानमें जहाँ तेज हवाएँ चल रही हों मैं नहाता तथा नहानेके बाद कपड़े साबुनसे धोता था। मीलों दौड़ता था। जब लोग सुबह पाँच बजे प्रार्थनाके लिये प्रार्थनाभूमिमें लिहाफ़ ओढ़े, कान ढके आते तो मैं एक सूती बण्डी या आधी बाँहकी कमीज़ पहने उनकी तरफ़ यों देखता था मानों ये खाकके पुतले जीने लायक़ नहीं। शरीरके साथ मैंने जो ज़्यादती इस तरह की है उसका नतीजा यह है कि अब जाड़ेभर मुझे नहानेके लिये गरम पानी चाहिये। इसपर भी अपनेको कपड़ोंसे ढककर सदा बचाते हुए रहना पड़ता है। पहलेकी बातें स्वप्न-सी लगती हैं।

यदि आप पूछेंगे तो इस तरहके अनुभव आपको बहुतोंके मुँहसे सुनायी देंगे। चाहे मनुष्य कितना ही पतला-दुबला हो आम तौरसे उसमें काफी ताक़त होती है। प्रकृति उसे इस रूपमें विकसित करती है कि रोगसे लड़नेकी स्वाभाविक ताक़त शरीरमें होती है। यदि हम अपने शरीरसे काम लेते वक्त सदा याद रखें कि हर क्षेत्र और दिशामें उसके काम कर सकनेकी ताक़तकी एक हद है; यदि हम सदा समझदारी और संयमसे काम लें तो वह कभी हमारे लिये बोझ न होगा और जिन्दगीकी गाड़ी आसानीके साथ यों चलती रहेगी जैसे असफाल्टकी सड़कोंपर रबर-टायरकी गाड़ियाँ चलती हैं। धक्का न लगेगा या लगेगा तो कम-से-कम लगेगा।

शरीरके संयमके बाद वाणीके संयमकी बात आती है जो व्यावहारिक दृष्टिसे सामाजिक और विशेषतः गृहस्थ-जीवनमें शायद सबसे उपयोगी है। अक्सर जो घरोंमें, या बाहर भी, बातका बतंगड़ बन जाता है उसकी वजह यही होती है कि बहुत कम लोग बात-चीत करते वक्त ज़बानपर क़ाबू रख पाते हैं। मैं ऐसे अनेक आदमियोंको और औरतोंको जानता हूँ जो नेकदिल हैं पर ज़बानकी कर्कशताके कारण उनकी जिन्दगी हाय-हाय करते बीत रही है। एक समझदार लेखक और पत्रकारको मैं जानता हूँ जो अक्सर अपनी असफलतापर कहते रहते हैं—भाई क्या करूँ! मैं तो मुँहफट आदमी हूँ। जो मनमें आया कह देता हूँ। दिलमें कुछ नहीं रखता। और अमुक आदमी बड़े चतुर हैं। समय देखकर बातें करते हैं। काम बना लेते हैं!' वह शायद समझते हैं कि उनका इस तरह मुँहफट होना उनकी सच्चाईका द्योतक है और जो लोग समय देखकर बातें करते हैं वे शायद आचरणमें इनसे नीचे हैं। पर यह सिर्फ अपनेको धोका देना है। जब जो

मनमें आये बक देना सज्जनताका कोई लक्षण नहीं है बल्कि इसके विरुद्ध वह इस बातका सबूत है कि इस आदमीका अपनी इन्द्रियोंपर कोई क़ाबू नहीं है और वह सभ्यताके बिल्कुल नीचे स्टेजमें है।

एक स्त्रीको मैं जानता हूँ जो यों बड़ी नेक और साफ दिलकी औरत है। सीधी-सादी। घर-गृहस्थीके काममें उसने अपनी जवानी खपा दी है और विवाहित-जीवनमें स्त्रीको जो हिस्सा देना चाहिये उससे ज्यादा उसने दिया है। कामसे कभी उसने मुँह न मोड़ा और कभी उसने अपने लिये जरूरतसे ज्यादा सुविधाओंकी माँग न की। जो उसे पहननेको मिल गया, उसने पहन लिया। जो खानेको मिला, खा लिया। पर इन बातोंके होते हुए भी पति सन्तुष्ट नहीं; स्त्री भी सन्तुष्ट नहीं। दोनोंमें अतृप्ति और खीझ है। जरा-सी बात पतिने कही तो स्त्री तमतमा उठती है। उसके मुँहसे काँटोंसे चुभनेवाले और तीखे शब्द निकलते हैं।—'अपना भाग सराहो कि मैं मिल गयी; इतने दिन बीत गये मैंने कभी उफ़ नहीं की। मिली होती दूसरी तो मजा मालूम होता। नाकों चने चबवा देती। ऐसी-वैसी मिलती तो उसकी जूतियाँ चटकाते जूतियाँ। फलाँको देखो, अपनी स्त्रीको हाथों-हाथ रखते हैं। उसकी भौंपर बल आये और उनके प्राण सूखे। पर मैं हूँ। रात-दिन काम करते-करते मरी जा रही हूँ और उसपर तुम्हारी बातें भी सुनती हूँ।' शिकायतोंका यह सिलसिला इतना लम्बा होता है कि सुननेवाले ताज्जुब करें। जिस स्त्रीको बोलना इतना कम आता है उसकी जबानपर शब्दोंका यह तूफान न जाने कहाँसे पिल पड़ता है। जब शब्द खत्म हो जाते हैं तब रोनेका क्रम चलता है।

इस स्त्रीका सारा परिश्रम फिजूल है। वह खुद अपने कियेपर चौका लगा देती है। अगर वह ज़रा मीठा बोल सकती; अगर वह जानती कि कब बोलना चाहिये और किस वक्त चुप रहना अच्छा होता है तो वह एक अत्यन्त गुणवती स्त्री होती; उसे पाकर कोई भी पति अपनेको धन्य मानता।

यह तो एक उदाहरण है। जो बात स्त्रियोंके लिये है वही पुरुषोंके लिये भी है। अक्सर पुरुष स्त्रीको मीठा बोलने, शान्त रहने और धीरे बोलनेका उपदेश करते हैं पर खुद शायद डाँट-डपट, गुस्सा, असंयमको ही मर्दानगी समझते हैं। आज स्त्रियोंमें विद्रोहका जो स्वर है; उनमें मिठासकी जगह जो कर्कशता आ रही है उसका कारण पुरुषोंकी लापरवाही और स्त्रियोंके प्रति उनका खराब व्यवहार ही है। यह कैसे मुमकिन है कि जो आदमी रात-दिन गुस्सेमें भरा रहता हो, जो खुद अपनी ज़बानपर क़ाबू न रख सकता हो वह अपनी स्त्रीसे बोलनेमें मिश्री घोलनेकी आशा करे। पुरुषमें स्त्रीकी अपेक्षा स्वभावतः कठोरता ज़्यादा होती है। इसलिये उसे अपनी वाणीपर ज़्यादा संयम रखनेकी ज़रूरत है। मेरे निकट-के एक रिश्तेदार हैं जिनकी स्त्री मितव्ययी और परिश्रममें हज़ारोंमें एक होगी। जब वह ब्याहकर आयी थी, कुन्दन-सा दमकता उसका चेहरा था। उसने कठिनाइयोंसे भरी गृहस्थी-की आगमें तिल-तिल करके अपनेको जला दिया है। इसको पति ऐसे मिले जो निकम्मे और निठल्ले थे। ज़हर दिलोंमें इकट्ठा होता गया। अब रह-रहकर दोनोंमें गुत्थमगुत्थी हो जाती है। फिर जिन्दगी वैसे ही चलने लगती है। यदि यह स्त्री किसी सुशील स्वभावके आदमीको मिली होती तो घरमें सचमुच उजाला हो जाता और गृहलक्ष्मीको पाकर घर धन्य हो जाता। पर यहाँ सब चौपट हो गया है।

जिन छोटी-छोटी बातोंकी हम उपेक्षा करते हैं अक्सर जिन्दगीका सुख उन्हींपर निर्भर करता है। हम सोचते हैं इनसे क्या होना जाना है। किसने नहीं देखा है कि सब कुछ होते हुए भी कर्कश स्वभावके कारण कितने ही घर मरघटकी तरह भयानक हो जाते हैं। कई बार ज़रा-सी तीखी बात दिलमें ऐसा घाव कर देती है जो फिर कभी नहीं भरता। ऊपर-ऊपर कुछ पता नहीं चलता पर भीतर-भीतर नींव करती जाती है। ऐसा भी होता है कि पुरुषने कोई चुभनेवाली बात कह दी पर स्त्रीने जवाब नहीं दिया या कभी स्त्रीने कोई बात कह दी और पुरुष पी गया पर अन्दर-अन्दर कलेजा मसोसता रहा। समझा यह जायगा कि वह बात खत्म हो गयी पर सच तो यह है कि भविष्यके दुःखोंका बीज बो दिया गया, जो आगे चलकर हरा-भरा और अच्छा-खासा वृक्ष हो सकता है। इसलिये सबसे अच्छा तो यही है कि हम वाणीपर संयम रखें। कोई बेजा या चुभनेवाली बात गुस्से या उत्तेजना-में भी न कहें। उत्तेजनाके वक्त भी बुद्धिसे काम लें। ज़रा-सी हँसी दुःखके इन काले और थोड़ी ही देरमें जल-थल एक कर देनेवाले बादलोंको छिन्न-भिन्न कर सकती है। इसलिये ज़रा देरके दुःखको बढ़ाना या स्थायी बनाना किसी तरहसे अक़्लमन्दीकी बात नहीं है।

और अगर कोई कड़वी बात, कोशिश करने और सावधानी रखनेपर भी, किसी वक्त भूलसे मुँहसे निकल जाय

तो अकड़ जाने या अलग बैठकर पछतानेसे कुछ न होगा। इधर तुम रो रहे होगे उधर तुम्हारी गृहस्थीके खिले फूलपर पाला पड़ रहा होगा। तुम्हें चाहिये कि तुरन्त तुम उस बातके लिये दुःख प्रकट कर दो या क्षमा माँग लो। गृहस्थजीवन व्यावहारिक बुद्धिके प्रयोगसे ही ऊँचा उठ सकता है। तुम्हारे दो शब्दोंसे क्षणभरमें फिर तुम्हारी खेती लहलहा उठेगी।

बचपनमें तुममेंसे बहुतोंने यह दोहा पढ़ा होगा—

कागा काको लेत है कोयल काको देत।
मीठे बचन सुनायके सबको बस कर लेत॥

कौआ किसका कुछ छीनता है और कोयल क्या किसीको कुछ दे देती है? नहीं। पर मीठी बोली सुनाकर वह सबको वश कर लेती है।

यह मामूली-सा दोहा यदि तुम सदा याद रखो तो तुम्हारे बड़ा कामका सिद्ध होगा। अगर तुम वाणीपर संयम रखो तो तुम्हारा घर तुम्हें सदा ताज़े फूलकी तरह खिला हुआ और प्रसन्न दिखायी देगा।

इसके बाद विचारोंके संयमकी बात आती है। असलमें तो यह वाणीके संयमके पहलेकी चीज़ है और उससे ज़्यादा महत्त्वपूर्ण भी है क्योंकि जबतक विचारोंपर संयम न हो जीभपर काबू पाना मुश्किल ही है पर मैंने व्यावहारिक दृष्टिसे जो बातें सरल और अभ्याससे जल्दी साध्य हैं उन्हें पहले लिखना ठीक समझा।

कोई भी आदमी तबतक सुखी नहीं हो सकता जबतक उसका मन शान्त न हो, जबतक उसकी बुद्धिमें गम्भीरता और स्थिरता न आ गयी हो। स्वस्थ दिमाग़के बिना ज़्यादा दिनतक शरीरको स्वस्थ रखना असम्भव है। इसलिये दिमाग़को, मस्तिष्कको उचित मार्गपर चलानेकी आदत भी हमें डालनी होगी। किसीने कहा है कि सब दुःखोंका मूल बुद्धि है। इसमें कुछ सचाई तो ज़रूर है। दिमाग़ वह दोधारी तलवार है जिससे जीवनकी रक्षा की जा सकती है और उसे टुकड़े-टुकड़े भी किया जा सकता है। इससे आदमीकी ज़िन्दगी नरक बन सकती है और ठीक उपयोग करनेपर इसीके कारण हमारा जीवन नन्दनवनकी तरह सदा बहारके फूलोंसे भर जा सकता है। दुनियामें जितने दुःख हैं उनमेंसे ज़्यादातर दिमाग़की खराबी या अस्वस्थताके कारण पैदा होते हैं। असंयत बुद्धि ही जगत्के समस्त बन्धनोंका कारण है। जहाँ कुछ भी नहीं है वहाँ इसे पहाड़ दिखायी देते हैं। यह आत्मविश्वासकी शत्रु है और सन्देहके साँप इसीके स्तन पीकर पलते हैं। एक वैद्य हैं। बहुत अच्छे और समझदार आदमी हैं पर जब किसी क्षय या अन्य छूतके रोगीको देखकर वह आते हैं तो व्यर्थ विचार करने लगते हैं—कहीं उसके कीटाणु तो हमें नहीं लग गये। पचास तरहकी बातें वह सोचते हैं। मैं मानता हूँ कि इस तरहकी मानसिक स्थिति दयनीय है। यह बड़ी खतरनाक है। कीटाणु लगे हों या न लगे हों पर सन्देह और शङ्काके खतरनाक कीटाणु तो इनके दिमाग़में पहले ही घर कर चुके हैं।

विचारोंके असंयमने दुनियामें क्या नहीं किया है? इसने उसे नरक बनानेमें कोई कसर नहीं रक्खी है। एक मस्जिदके पास घण्टा बजता है और इसीपर हजारों सिर उतार लिये जाते हैं। एक मुसलमान-लड़का किसी हिन्दू लड़केको खेल-खेलमें पीट देता है। सैकड़ोंकी भीड़ लग जाती है और इसे साम्प्रदायिक झगड़ेका रूप मिल जाता है। विचारोंके असंयमका इससे दुःखदायी उदाहरण और क्या होगा कि जो लोग कलतक अच्छे और शरीफ़ पड़ोसियोंकी तरह रह रहे थे; जिनमें आपसमें व्यापार-व्यवसाय चलता था; जो सैकड़ों वर्षोंसे एक जगह शान्तिके साथ रह रहे थे वे ज़रा-सी घटनापर पागल हो उठते हैं और हिंसक जानवरोंकी तरह व्यवहार करने लगते हैं। भाई भाईके खूनका प्यासा हो जाता है। बच्चों और औरतोंकी ज़िन्दगी और इज़्ज़त भी खतरेमें पड़ जाती है।

यह विचारोंके असंयमका ही तो परिणाम है। न मुसलमान यह सोचता है कि घण्टा बजनेसे उसके नमाज़में जो थोड़ी-बहुत बाधा पड़ती है उससे पागल होकर अपने पड़ोसीका मारना कहीं ज़्यादा दीनके खिलाफ़ है, न हिन्दू यह सोचता है कि यों आदमीसे जानवर बन जाना सबसे बड़ा अधर्म है। जब ये धर्मकी रक्षाका दावा कर रहे होते हैं तभी सबसे बड़ा अधर्म भी कर रहे होते हैं। बात इतनी ही है कि इन्होंने अपने विचारोंपर संयम रखना नहीं सीखा, जो न सिर्फ सब धर्मोंकी कुञ्जी है बल्कि जिसके कारण हम दुनियाँकी बहुतेरी तकलीफ़ोंसे भी आसानीके साथ बच सकते हैं!

गृहस्थजीवनमें तो विचारोंका संयम और भी ज़रूरी है। यहाँ क़दम-क़दमपर उत्तेजनाके मौके आते हैं। दिमाग़में

एक फ़ितूर पैदा हो जाता है जिसका असर घरके हर एक आदमी और हर कामपर पड़ता है। वह आदमी खुद भी दुःखी होता है और औरोंको भी दुःखी करता है। सीधा-सादा आदमी खब्ती और सनकी बन जाता है। समाजमें ऐसे आदमीको कोई गम्भीरतापूर्वक नहीं लेता। लोग उसे अपने मनोविनोद और व्यङ्गका साधन समझते हैं। इस ग़लतफ़हमी और लोगोंके ग़लत रवैयेके कारण उसके मनमें और भी खीझ बढ़ती जाती है। वह चिड़चिड़ा हो जाता है और आख़िरकार अपने होश-हवास भी खो बैठता है। इस तरह विचारोंके असंयमका नतीजा न सिर्फ़ कुटुम्ब, घर और समाजके लिये दुःखदायी होता है बल्कि खुद उस आदमीके लिये भी वह हानिकर साबित होता है।

इसलिये आजकलकी ज़िन्दगीमें ख़ास तौरपर एक गृहस्थके लिये विचारोंके संयमकी बड़ी ज़रूरत है। विचारोंपर संयम रखनेसे वाणीपर संयम करनेका काम अपने आप सरल हो जायगा और बहुतेरी फ़िज़ूलकी और झूठी कठिनाइयोंसे तुम बच जाओगे।

पर संयमके जीवनका यह सिलसिला तबतक पूरा नहीं हो सकता जबतक कल्पनाओंके संयमकी चर्चा न कर ली जाय। इस मालामें यह प्रधान दानेके समान है। यह इसकी सबसे उपयोगी और ज़रूरी कड़ी है जिसके बिना और तरहके संयम बिल्कुल फीके पड़ जाते हैं।

जीवनलालकी हरी-भरी गृहस्थी इसी कल्पनाओंके असंयम-में जल गयी। यह अच्छे खाते-कमाते आदमी थे। ढाई सौ तनख्वाह मिलती थी; अलावा कुछ ऊपरसे मिल जाता था। आफ़िसके कामसे जब बाहर जाते तो उसका कुछ अलगसे मिलता था। उनके छोटे-से कुटुम्बके लिये, जिसमें वह, उनकी स्त्री और एक छोटा बच्चा भर था, यह आमदनी जरूरतसे कुछ ज्यादा ही थी। इससे भी बड़ी बात यह थी कि जीवनलाल खुद एक बहुत सज्जन और सुशील पुरुष थे। उनको कोई बुरी लत न थी। उन्होंने कभी किसी अन्य स्त्रीकी ओर रसिकताके साथ न देखा। वह अपनी स्त्रीको पाकर सुखी थे। उनके आकाशमें वह पूर्ण चन्द्रकी तरह राज्य करती थी। जीवनलालको जो भी जानता था उनके स्वभावकी तारीफ़ करता था। वह नम्रता और शिष्टाचारकी मूर्ति थे। सचमुच ऐसे सज्जन व्यक्ति आजकी दुनियामें बहुत कम दिखायी पड़ते हैं।

पर सोनेमें सुगन्ध यह था कि उनकी स्त्री इस विषयमें उनसे भी दो क़दम आगे थी। अक्सर दुनियामें होता यह है कि जिसे कोयल मिलनी थी उसे बगुली मिल जाती है और जिसे हंस मिलना था उसे कौआ ही मिलता है। अगर मर्द अच्छा हुआ तो औरत पूरी डाइन मिलती है और स्त्री गौ हुई तो पति कसाई निकलता है। विधाताकी इस तरहकी दिल्लगीमें एक मज़ा आता है। ऐसा लाखोंमें एक उदाहरण होता है कि पति-पत्नी दोनों भले हों।

जीवनलालके साथ यही बात थी। उनकी स्त्री साक्षात् लक्ष्मी थी। कुन्दन-सी चमक, गोरा-गोरा चेहरा, आँखोंसे नूर बरसता हुआ। जिस कमरेमें प्रवेश करती, वह झकसे प्रकाशित हो उठता था। चेहरेपर ऐसा तेज कि देखनेमें आँखें झपक जाएँ। इससे भी बड़ी बात यह कि जैसा रूप वैसा ही गुण। स्वभावमें वह उमा और रूपमें लक्ष्मी थी। कभी कोई कड़वी बात उसके मुँहसे किसीने न सुनी। किसीको कष्टमें देखती, उसकी मददको, उसे दिलासा देनेको झट आगे आ जाती थी। किसी बच्चेको देखती, गोदमें उठा लेती, उसे चुमकारती, प्यार करती और उसमें यों भूल जाती थी जैसे उसीका अपना बच्चा हो। अपने बच्चे और दूसरेके बच्चेमें उसके लिये कोई फ़र्क न था।

जीवनलालके मित्रों तथा परिचितोंको उनके भाग्यपर ईर्ष्या होती थी। और इस देव-दुर्लभ सुखपर किसे ईर्ष्या न होगी? ऐसी सुखी जोड़ी आजकल बहुत कम देखनेमें आती है।

पर यह हरा-भरा बगीचा संयमहीन कल्पनाओंके तुषारपातमें झुलस गया। बात ज़रा-सी हुई पर जो आग बड़े-बड़े भवनों और हवेलियोंको जलाकर खाक कर देती है वह भी तो ज़रा-सी चिनगारीके रूपमें ही आरम्भ होती है। जीवनलालके एक मित्र थे रामकृष्ण। जीवनलाल उनको बहुत मानते थे। जीवनलालका घर रामकृष्णकी शान्तिका केन्द्र था। रामकृष्ण अकेले आदमी थे, स्त्री मर चुकी थी। तबसे विवाह न करनेका पक्का इरादा कर चुके थे। १२ वर्षका एक लड़का था जिसे गुरुकुलमें भेज दिया था। एक आफ़िसमें बड़े बाबू थे। डेढ़ सौ मिलते थे। बेफ़िक्रे आदमी। दिन आफ़िसमें बीतता; रातका अधिक समय तथा छुट्टियोंके दिन जीवनलालके यहाँ बीतते थे। जब जीवनलाल रामकृष्णको अपना दिली दोस्त मानते थे तब इसमें कोई बुराई या

अस्वाभाविकता न थी कि जीवनलालकी स्त्री नर्मदा भी उन्हें बहुत ज्यादा मानती । रामकृष्ण नर्मदाको भाभी कहते थे और जीवनलालके प्रति उनका सचमुच भाईचारेका भाव था । वह उन्हें श्रद्धाकी दृष्टिसे देखते थे ।

जीवनलालको रामकृष्णपर पूरा भरोसा था । जब वह बाहर आफिसके कामसे जाते तो नर्मदाको रामकृष्णके भरोसे अकेले छोड़ जाते थे । एक बारकी बात है, जाड़ेके दिन थे । कड़ाकेकी सर्दी पड़ रही थी । जीवनलाल एक हफ्तेके लिये बाहर गये थे । संयोगकी बात, पहले जीवनलालके बच्चेको सर्दी लगी । उसके बायें फेफड़ेपर निमोनियाका आक्रमण हुआ और उसकी देख-रेख करने तथा असंयममें नर्मदाको भी ब्रांकोनिमोनिया हो गया । माँ-बेटे खाटपर पड़ गये । बेचारे रामकृष्ण बड़ी चिन्ता और पशोपेशमें पड़ गये । मित्रता और कर्तव्य दोनोंका तक़ाज़ा था कि वह अपनी भाभी तथा उसके बच्चेके निकट रहें । हिचकिचाहट हुई पर ऐसी विपदाके समय उन्होंने उसे दूर कर देना ही मुनासिब समझा । रोगियोंके पास ही उनका भी बिस्तर लग गया । उन्होंने आफिससे छुट्टी ले ली और रात-दिन भाभी और बच्चेकी सेवामें एक कर दिया।

चूँकि जीवनलाल बराबर यात्रामें थे, उनको घरकी कोई खबर न मिली । कार्यवश वह आठ-दस दिनके लिये और रुक गये । इस बीच रामकृष्णकी सेवाने भाभी और बच्चेको खतरेकी सीमाके बाहर कर दिया था । सोलहवाँ या सत्रहवाँ दिन था । बच्चा आज प्रसन्न दीखता था । रामकृष्ण बच्चेकी खाटपर बैठ गये । उसे गोदमें लिया और प्यार करने लगे । भाभीका हृदय इस दृश्यको देखकर और कदाचित् रामकृष्णकी सेवाओंका खयालकर भर आया और उनकी आँखोंसे झर-झर आँसू निकलने लगे । रामकृष्णने यह देखा तो बच्चेको लिटा दिया । एक मिनट पशोपेशमें पड़े देखते रहे । फिर हिम्मत करके भाभीकी खाटपर उनके सिरहाने बैठ गये और रूमालसे आँसू पोंछने लगे । नर्मदा एक बार झिझकी पर भावोंका वेग इतना प्रबल था कि रामकृष्णको मना कर देनेकी शक्ति न बटोर सकी ।

ठीक इसी नाटकीय अवसरपर जीवनलालने कमरेमें प्रवेश किया । दस ही मिनट पहले वह आये थे और नौकरसे पत्नीकी बीमारीका हाल सुनकर बड़े चिन्तित हो गये थे । कपड़े उतारकर तुरंत पत्नीके कमरेमें पहुँचे । पर वहाँका दृश्य देखकर एकाएक यों ठिठक गये जैसे रास्ता चलता हुआ मुसाफ़िर पाँवके सामने साँप देखकर ठिठक जाता है । उनका चेहरा क्षणभरके लिये बिल्कुल सफेद हो गया । उनका दिल एकाएक घृणासे भर गया । मनमें आया कि जिसे मैं साध्वी समझे हुए था, जिसे पाकर पृथ्वीपर मेरे पाँव सीधे न पड़ते थे उसका असली रूप यह था ! और यह रामकृष्ण आस्तीनका साँप निकला । जीवनलाल उलटे पाँव लौट गये । उनको नर्मदा और रामकृष्णने आते-जाते देखा भी नहीं ।

उसी दिनसे उनकी सोनेकी गृहस्थी राख होने लगी । जीवनकी इस होलीमें एक-एक करके सब स्वाहा हो गया । नर्मदाने पहले तो कुछ न समझा । कुछ दिन प्रतीक्षा और उदासीनतामें बीते । उसने समझा कि यात्राकी थकान होगी और आफिसके कामोंका बोझ होगा । अपने क़ायदेके अनुसार उसने पतिके कर्तव्य-पालनमें बाधा न दी । उधर जीवनलालके मनमें बुरी और संयमहीन कल्पनाओंका जो सिलसिला शुरू हुआ वह खत्म ही होनेपर न आता था । सन्देह और अविश्वाससे उनका मन भर चुका था । वह हर एक बातको अब इसी रोशनीमें देखते थे । उनको एक-एक पुरानी घटना याद आ रही थी जिसपर उन्होंने नर्मदाकी पीठ ठोंकी थी । अब मन कह रहा था कि इसका असली अर्थ कुछ और था । एक बार रामकृष्ण एकाएक बीमार पड़ गये थे । नर्मदा और जीवनलालका सिनेमाका कार्य-क्रम बन चुका था । ये तीनों साथ सिनेमा वग़ैरह देखने जाते थे । नर्मदाने प्रस्ताव किया कि चूँकि रामकृष्ण बीमार पड़ गये हैं हमारा सिनेमा देखना उचित न होगा । जीवनलाल कुछ दूसरे कामसे बाहर गये, नर्मदा रामकृष्णको देखने चली गयी । उसके इन उच्च भावोंपर जीवनलालने उसकी बड़ी प्रशंसा की थी । आज उनकी कल्पनाने इस घटनाको तरह-तरहके रंगोंमें चित्रित करना शुरू कर दिया ।

एक बार रामकृष्णको जीवनलालके यहाँ ही भोजन करना था । नर्मदाकी तबीयत रातसे कुछ खराब थी—ज्वर हो आया था फिर भी उसने बड़े उत्साहसे खाना बनाया और बनवाया । पर खुद खाना खाने लायक तबीयत न होनेसे उसने खाना खानेसे इन्कार कर दिया । इसपर रामकृष्ण भी अड़ गये और कहा कि यह कैसे हो सकता है कि भाभी भूखी रहें और मैं माल-टाल उड़ाऊँ । काफ़ी देरतक प्रेमके झगड़े चलते रहे । अन्तमें भाभीने थोड़ा-सा खाना स्वीकार किया; तब रामकृष्ण भी खाने बैठे । जीवनलालने रामकृष्णको

इस विजयपर बधाई दी थी और कहा था कि भाई ! मैं तो ईश्वरसे मना रहा था कि जल्दी यह झगड़ा खत्म हो क्योंकि पेटमें चूहे तो पहलेसे ही उछल-कूद कर रहे हैं, फिर तरह-तरहकी चीजें देखकर मुँहमें राल भी भरी आ रही है।

आज इस तरहके प्रेमभरे मानका अर्थ उनकी निगाहमें बिल्कुल दूसरा हो रहा था। वह सोच रहे थे कि तभी यह रामकृष्ण बार-बार अच्छी जगहोंसे शादीकी माँग आनेपर भी उन्हें मंजूर नहीं करता था। जिसे वह अपने जीवनकी सबसे बड़ी साख समझ रहे थे वह सबसे बड़ा बोझ निकला।

इस तरहकी कल्पनाओंका आदि-अन्त तो कुछ होता नहीं, न उनका सिलसिला कभी खत्म होता है। जीवनलाल सूखने लगे; जिस चेहरेपर हमेशा हँसीका प्रकाश रहता था वहाँ कालिमा छा गयी। अब उनको नर्मदासे मिलनेकी या बातचीत करनेकी फुरसत ही न मिलती थी। वह उसकी नजर बचाते थे। कुछ दिनों बाद बात-बातपर चिढ़ना शुरू हुआ। फिर व्यंगकी बारी आयी। जब नर्मदाको इस परिवर्तनका कारण मालूम हुआ तो उसे ऐसी चोट लगी कि वह खाटपर ही पड़ गयी और जो खाटपर पड़ी तो फिर न उठी। पहले हलका-हलका ज्वर रहने लगा। फिर खाँसी शुरू हुई। फिर भूखने जवाब दे दिया। शरीर सूखने लगा। तपेदिकने धर दबाया और जब जीवनलालका नशा उतरा, होश आया तब नर्मदाकी जिन्दगी पूरी होनेमें सिर्फ बीस दिनकी कसर थी।

फिर वह बहुत रोये। उन्होंने बड़ी कोशिश की। जमीन-आसमान एक कर दिया। यन्त्र-मन्त्र, दवा-दारू जिसने जो बताया, किया। सोना छूट गया, खाना छूट गया। शरीरकी सुध-बुध न रही। जो उन्हें देखता, आश्चर्य करता था। उनकी शक्ल पागलोंकी-सी हो रही थी। एक मिनटके लिये वह नर्मदाको छोड़ते न थे।

पर सब व्यर्थ गया। बीस दिन बाद पतिकी गोदमें हँसते-हँसते, उनके चरणोंकी धूल माथेपर रखकर और उन्हें सब तरहके आश्वासन देकर वह सौभाग्यवती सती इस शरीरको छोड़कर चली गयी।

इस घटनाको दो वर्ष बीत गये हैं। जीवनलालने नौकरी छोड़ दी है। उनकी दशा पागलोंकी-सी है। बच्चेको उन्होंने उसकी मौसीके सुपुर्द कर दिया है। खुद उस घरमें, जिसमें नर्मदाने शरीरत्याग किया था, उसके चित्रको छातीसे लगाये ज्यादा समय पड़े रहते हैं। कभी-कभी रात-रातभर रोया करते हैं। दो-दो दिन बीत जाता है, खाना नहीं खाते। शरीर सूखकर लकड़ी हो गया है। चेहरेपर बालोंके झुरमुट उग आये हैं और उसे और भयानक बना दिया है। रामकृष्ण-ने भी नौकरी छोड़ दी और कहाँ चले गये, इसे ठीक-ठीक कोई नहीं जानता। अफवाह यह है कि वह संन्यासी हो गये।

यदि हम खोजें तो समाजमें इस तरहकी छोटी-मोटी अनेक घटनाएँ मिलेंगी। जरा-सी बातने सोनेकी गृहस्थी तबाह कर दी। कई जीवन नष्ट हो गये। फूलता-फलता बाग़ श्मशान हो गया।

कैसे आश्चर्य और दुःखकी बात है कि रामकृष्णकी जिस सेवा और वफादारीपर जीवनलालको उसे छातीसे लगा लेना था, उसका ऐसा बुरा दुःखदायक और विकृत रूप जीवनलाल-की आँखोंमें समा गया। जीवनलाल भावुक आदमी थे। कल्पनाओंकी उनमें ज्यादती थी। उनका कल्पनाशील मानस पहले जिस बातमें अच्छाई-अच्छाई देखता था वही भ्रम और सन्देहके कारण अब उसमें बुराई-बुराई देखने लगा।

समाजमें आज लाखों आदमी इस तरहकी कल्पनाओंके शिकार हैं जिनका सिर-पैर कुछ नहीं है। हजारों युवक ऐसे हैं जो झोंपड़ीमें पड़े हुए महलोंका ख्वाब देखते हैं। यह उस महत्त्वाकांक्षासे अलग चीज़ है जिसमें कर्तव्य और कर्मका प्रकाश और वेग होता है। लाखों युवक ऐसे हैं जिन्होंने अपने विवाहित जीवन और भावी स्त्रियोंके बारेमें कल्पनाओंका एक जाल बुन रखा है और खुद उस जालमें फँस गये हैं। जीवनकी वास्तविकताओंके विरुद्ध जाकर ये लोग दुःख और कष्टके शिकार होते हैं। कोई परी-सी स्त्रीकी कल्पना करता है, कोई लाखों रुपये कमा कर आराम और आसाइशकी जिन्दगीके स्वप्न देखता है!

मैं मानता हूँ कि जीवनको नरक बनानेका सीधा नुस्खा कल्पनाओंका असंयम है। मन ही सब दुःखोंका जनक है। अगर कल्पनाओंपर संयम रखा जाय तो जिन्दगीके ज्यादातर दुःख दूर हो जायँ। गृहस्थजीवन तो कल्पनाओंके संयमके बिना एक क़दम नहीं चल सकता।

निश्चय ही आत्मसंयम वह चिन्ताहरण कवच है जो सब तरहके दुःखोंसे हमें बचा लेता है और यह वह मन्त्र है जिसके सिद्ध होनेसे जिन्दगी बहारके सुगन्धित फूलोंसे भर जाती है। क्या तुम जीवनके इस अमृतको ग्रहण न करोगे?

मानस-शंका-समाधान

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन', रामायणी)

प्रश्न—'रामायणमें राजा भानुप्रतापका प्रसङ्ग पढ़नेपर ज्ञात होता है कि वे पहले बड़े बुद्धिमान्, ज्ञानी, धर्मनिष्ठ, परोपकाररत और प्रजापालक नरेश थे। फिर एकाएक कठोर शापके भागी बनकर वे पतित क्यों हो गये ?'

उत्तर—प्रश्न ठीक है। राजा भानुप्रतापजीके प्रसङ्गको पढ़नेपर हमें अनेक उपदेश प्राप्त होते हैं। सबसे बड़ी शिक्षा यह मिलती है कि जबतक जीवकी लोकैषणा बिल्कुल नष्ट नहीं हो जाती, तबतक ऊँचे चढ़ जानेपर भी उसके पतनकी सम्भावना बनी रहती है तथा उसके लिये शुभ कर्मोंका कर्तृत्वाभिमान भी अन्य प्रकारके अहङ्कारोंकी भाँति ही हानिकारक और भयङ्कर होता है। यदि कोई कहे कि यह सब कुछ होते हुए भी भानुप्रताप-जैसे सीधे और विश्वासपात्र राजापर कपटी मुनिकी कपटभरी चालसे शापादिका आक्रमण ठीक नहीं था तो इसका उत्तर यह है कि राजा भानुप्रतापने ही सर्वप्रथम कपटका आश्रय लिया था और वह भी एक संतके साथ, जो अत्यधिक अनर्थका हेतु होता है। राजा भानुप्रतापने, उस छली राजाके वास्तविक स्वरूपको न पहचानकर, उसे सच्चा साधु ही तो जाना था! फिर उन्हें, मनसे माने हुए ही सही, उस साधुसे कपट करने और झूठ बोलनेकी क्या आवश्यकता थी? उन्होंने तो उसके सामने अपनेको स्पष्टरूपसे छिपाया और कहा कि मैं राजा भानुप्रतापका मन्त्री हूँ। यथा—

नाम प्रतापभानु अवनीसा। तासु सचिव मैं सुनहु मुनीसा॥
फिरत अहेरें परेउँ भुलाई। बड़े भाग देखेउँ पद आई॥

अतः जब राजा भानुप्रतापने संतसे कपट आरम्भ किया तब उनके उस कपटका फल भी उन्हें प्राप्त हो गया—उनकी कपटभरी चाल ही उनको धोखेमें डालनेका कारण या उपाय बन गयी। उनकी उसी झुठाईने उस छली राजा—कपटी मुनिको उनके भानुप्रताप होनेका विश्वास करनेके लिये अवसर दे दिया। और उसने कहा कि 'मैं अपने भजनके प्रतापसे जान गया हूँ कि राजा भानुप्रताप तुम्हीं हो।' इसपर राजा भानुप्रतापको और भी विश्वास हो गया कि 'हो न हो, ये महात्मा अवश्य हैं। मैंने अपनेको छिपाया, फिर भी ये मुझे पहचान गये।' फलतः राजा उस कपटी मुनिके फन्देमें पड़ गये, उसके आचरण और कथनादिको सच्छास्त्रोंमें वर्णित संत-लक्षणोंसे मिलाये बिना ही उन्होंने उसको अपना गुरु मान लिया और तदनन्तर ब्राह्मणोंको भी युक्ति और छलके द्वारा अपने ताबेमें कर लेनेका उपाय रचने लगे। फिर ऐसे अवैध और अयोग्य कर्मोंके फलस्वरूप राजा भानुप्रतापको शाप न मिलता तो और क्या उचित था? श्रीगोस्वामीजी महाराजने तो साफ-साफ कह दिया है कि—

तुलसी देखि सुबेषु भूलहिं मूढ़ न चतुर नर।
सुंदर केकी पेखु बचन सुधासम असन अहि॥

अतएव यह ठीक है कि राजा भानुप्रतापके पुण्यकर्मादि सचमुच सराहनीय थे परन्तु उनमें जो भक्तिका बीज नहीं था, बल्कि उल्टे अपने कर्तव्योंका अहङ्कार था, इस कारण वे अपनी रक्षामें समर्थ न हो सके और उधर ईश्वरकी ओरसे भी उन्हें रक्षाका योग नहीं प्राप्त हुआ, फलतः उनकी दुर्गति हुई। जब पूर्ण ज्ञानियोंकी भी दुर्दशा हो जाती है (भगवान्‌की माया ऐसी ही दुरत्यय है!) तब कर्माभिमानियोंकी क्या गिनती है! प्रमाण देखिये—

मोरें प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी॥
जनहि मोर बल निज बल ताही। दुहु कहँ काम क्रोध रिपु आही॥

अतः राजा भानुप्रतापके शापग्रस्त होनेमें सन्देह नहीं करना चाहिये।

सियावर रामचन्द्रकी जय।

कामके पत्र

(१)

आपका कृपापत्र मिले बहुत दिन हो गये। मैं यहाँ बाढ़पीड़ितोंके काममें लगा था, फिर श्रावणमें कलकत्ते चला गया, वहाँ बहुत दिन लग गये। स्वभाव-दोष तो है ही, इन्हीं सब कारणोंसे पत्रका उत्तर लिखनेमें देर हो गयी, क्षमा करें।

आप मुझको गुरुरूपसे देखते हैं. इस विषयमें मेरा यह निवेदन है कि आप ऐसा मानकर बड़ी भूल कर रहे हैं। मैं साधारण मनुष्य हूँ और किसी दूसरेका जिम्मा लेनेमें अपनेको असमर्थ देखता हूँ। गुरु तो वह हो सकता है जो स्वयं दोषरहित हो और जिसमें परमात्माकी प्रदान की हुई ऐसी प्रबल सात्त्विक शक्ति हो जिसके द्वारा वह शिष्यके किसी प्रयासकी अपेक्षा न रखकर अनायास ही उसके समस्त दोषोंका नाश करके उसे भगवान्‌के पथपर ला सके, और अपनी शक्तिसे ही उसे भगवान्‌के परमपदपर पहुँचा दे। मैं तो स्वयं अपने अंदर ऐसे दोषोंको देखता हूँ जिनसे छूटनेके लिये मुझे बार-बार प्रयास करना पड़ता है। ऐसी हालतमें मैं किसीका गुरु बनकर उसका जिम्मा लेता हूँ तो शायद उसके साथ विश्वासघात करता हूँ और अपनेको भी धोखा देता हूँ। इसलिये आप मुझे गुरु न मानकर अपना एक मित्र ही मानिये। आप चाहेंगे तो मै अपनी तुच्छ बुद्धिके अनुसार आपको सलाह देनेकी चेष्टा अवश्य करूँगा।

'महापुरुष' और 'महात्मा' शब्द आजकल बहुत सस्ते हो गये हैं। मेरी समझमें तो ऐसा आता है कि शक्तिसम्पन्न सच्चे महापुरुष या महात्माका एक बारका दर्शनमात्र ही मनुष्यके कल्याणके लिये पर्याप्त होता है। मैं तो ऐसे महापुरुषोंकी चरण-रजको बार-बार नमस्कार करता हूँ और समझता हूँ कि उनकी चरण-रजका प्रसाद-कण मुझे मिला करे तो मैं धन्य हो जाऊँ।

साधन और भगवत्कृपा

आपने लिखा कि 'मुझसे जितना जो कुछ यत्किञ्चित् साधन बनता है मैं लगनसे करता हूँ, उससे जी नहीं चुराता, परन्तु उससे अधिक बनता ही नहीं इसके लिये क्या करूँ।' सो मेरी समझमें तो यही आता है कि मनुष्य इससे अधिक और कुछ कर भी नहीं सकता। वह जी न चुराकर लगनके साथ जितना बन सके उतना किये जाय, तो शेष सब भगवान् आप ही कर-करा लेते हैं। परन्तु इतना याद रहे कि साधन या पुरुषार्थके बलपर भरोसा न रक्खे। भरोसा रखना चाहिये भगवान्‌की अनन्त कृपापर ही। किसी भी साधनके मूल्यपर भगवान् या भगवत्प्रेम नहीं खरीदा जाता। भगवान् या भगवत्प्रेम अमूल्य निधि है, उसकी कीमत कोई चुका ही नहीं सकता। भगवान् जब मिलते हैं, जब अपना प्रेम देते हैं—तब केवल कृपासे ही। वे देखते हैं, 'पानेवालेकी चाहको और उसकी लगनको।' यदि उसकी चाह सच्ची और अनन्य होती है, और यदि वह अपनी शक्तिभर तत्परताके साथ लगा रहता है तो भगवान् अपनी कृपाके बलसे उसके सारे विघ्नोंका नाश करके बड़े प्यारसे उसको अपनी देख-रेखमें रख लेते हैं और स्वयं अपने निज स्वरूपसे उसके योगक्षेम-का वहन करते हैं।

कृत्रिमता या धोखा नहीं होना चाहिये, और अपनी शक्तिभर कमी नहीं होनी चाहिये फिर चाहे साधन हो बहुत थोड़ा ही, वही भगवत्प्रसादकी प्राप्तिके लिये काफी होता है। और भगवत्प्रसाद उसकी कमीको आप

ही पूर्ण कर लेता है। साधनपर जोर तो इसलिये दिया जाता है कि मनुष्य भूलसे कहीं आलस्य, प्रमाद और अकर्मण्यताको ही निर्भरता न मान बैठे, कहीं तमोगुणको ही गुणातीतावस्था न समझ ले। जो यथार्थमें भगवान्‌पर निर्भर करते हैं उनके लिये किसी भी साधनका कोई मूल्य नहीं है, उनके तो सारे कार्य भगवत्प्रसादसे ही होते हैं, और वह ऐसे विलक्षण होते हैं कि किसी भी साधनसे वैसे होनेकी सम्भावना नहीं है। कहाँ भगवत्कृपा और कहाँ मनुष्यकृत तुच्छ साधन !

आपके मनमें भगवद्भजनके फलस्वरूप कुछ भी पानेकी इच्छा नहीं है, आप भजनके लिये ही भजन करना चाहते हैं यह बहुत ही ऊँची बात है। बदला पानेकी इच्छा ही निर्बलता, शिथिलता और व्यभिचार-भावकी उत्पत्ति करती है। भजन यदि भजन बढ़नेके लिये ही—भजनके उत्तरोत्तर विशुद्ध और अनन्य होनेके लिये ही किया जाय तो वैसा भजन बहुत ही ऊँची चीज होती है। वैसे भजनके सामने मुक्ति भी तुच्छ समझी जाती है। परन्तु ऐसा भजन भी भगवत्कृपाके बलसे ही होता है। भजनमें कहीं अहंकार न आने पावे। अहंकारसे बड़ी बाधा उत्पन्न होती है। भजनमें तो आसक्ति होनी चाहिये।

आप भजनसे उकताते नहीं हैं यह बड़ी अच्छी बात है। उकताता वही है जो जल्दी ही किसी फलकी इच्छासे भजन करता है या जिसके भजनमें श्रद्धा और अनुरागका अभाव होता है। श्रद्धा और अनुरागके साथ निष्काम भजन करनेवाला क्यों ऊबने लगा।

बस, करते जाइये; कभी थकिये मत; परन्तु किसी बातकी अपेक्षा न रखिये। प्रतीक्षा करनी हो तो कीजिये एकमात्र भगवत्कृपाकी। विश्वास कीजिये—भगवत्कृपा तो आपपर पूर्ण और अनन्त है ही, वह तो सभीपर है, आप जितना-जितना उसका अनुभव कर पाते हैं उतना-उतना ही आप अपनेको सुरक्षित और निर्भय पाते हैं, उतना-उतना ही आपका भजन बढ़ता है। और जितना-जितना विशेष अनुभव करेंगे, उतनी-उतनी ही आपकी निर्भरता, निर्भयता और भजनशीलता बढ़ती चली जायगी।

(२)

आपका पत्र मिला, पढ़कर प्रसन्नता हुई। मेरे पास इतने पत्र आते हैं कि मैं सबका उत्तर तो लिख ही नहीं पाता और इस विवशताके लिये सिवा क्षमा-प्रार्थनाके मेरे पास अन्य कोई उपाय भी नहीं है।

भगवान् और भक्तके सम्बन्धका रहस्य भला मैं कैसे जानूँ। उसे तो भगवान् और भक्त ही जानते हैं। भगवान् श्रीराम और भरतजीके प्रेम-सम्बन्धके जाननेमें विदेहराज जनक भी अपनेको असमर्थ पाते हैं। वे अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहते हैं—

धरम राजनय ब्रह्म बिचारू। इहाँ जथामति मोर प्रचारू॥
सो मति मोरि भरत महिमाही। कहहि काह छल छुवति न छाँही॥

× × × × ×

देबि परंतु भरत रघुबर की। प्रीति प्रतीति जाइ नहिं तरकी॥
भरत अवधि सनेह ममता की। जद्यपि रामु सीम समता की॥

'धर्म, राजनीति और ब्रह्मविचार इन तीन विषयोंमें अपनी बुद्धिके अनुसार मेरा प्रवेश है। अर्थात् मैं धर्मकी व्यवस्था दे सकता हूँ, राजनीतिक उलझनोंको सुलझा सकता हूँ और ब्रह्मज्ञानका भी उपदेश कर सकता हूँ, इन विषयोंमें मेरी बुद्धि काम करती है, परन्तु मेरी वही बुद्धि भरतजीकी महिमाका वर्णन तो क्या करे, छलकर उसकी छायातकको नहीं छू पाती। हे देवी ! भरतजी और श्रीरामचन्द्रजीका प्रेम और परस्परका विश्वास अतर्क्य है, वह बुद्धि और विचारकी सीमासे परे है। यद्यपि श्रीरामचन्द्रजी समताकी सीमा हैं तथापि भरतजी प्रेम और ममताकी सीमा हैं।'

भक्तके भावको केवल भगवान् पहचानते हैं और भगवान्के भावको भक्त। इसीसे तो वे एक-दूसरेका स्वाभाविक ही अनुसरण करते हैं। भक्त चाहता है मैं भगवान्की रुचिका अनुसरण करूँ और भगवान् अपने भक्तकी क्रियाके अनुसार ही बर्तते हैं। सीताजी रामजीके लिये रोती हैं तो रामजी सीताजीके लिये। लक्ष्मणजी रामजीका वियोग नहीं सह सकते और रामजी लक्ष्मणजीके मूर्छित होनेपर विकल होकर प्राणत्यागतकको तैयार हो जाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण इसीसे कहते हैं—

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः।
न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥
निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥
न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥

(श्रीमद्भागवत ११ । १४ । १५-१६-२०)

मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।
वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥
साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

(श्रीमद्भागवत ९ । ४ । ६६-६९)

'हे उद्धव! मुझे तुम-जैसे भक्त जितने प्रियतम हैं, अपने पुत्र ब्रह्माजी, साक्षात् मेरे स्वरूप श्रीशंकरजी, भाई बलरामजी, निरन्तर मेरी सेवामें रहनेवाली पत्नी लक्ष्मीजी और मेरा अपना आत्मा भी मुझे उतने प्रिय नहीं हैं। किसी बातकी चाह न रखनेवाले, मेरा ही मनन करनेवाले, शान्तचित्त, निर्वैर और सर्वत्र मुझको देखनेवाले अपने भक्तोंके पीछे-पीछे मैं नित्य इसलिये फिरता हूँ कि उनकी चरण-धूलिसे अपनेको पवित्र कर सकूँ। बढ़ी हुई (विशुद्ध और अनन्य) मेरी भक्ति जैसे मुझको वशमें करती है, वैसे योग, ज्ञान, धर्म, वेदाध्ययन, तप और त्याग मुझको वशमें नहीं कर सकते।'

'(हे दुर्वासाजी!) जिनका हृदय मेरे साथ बँध गया है और जो सब जगह सबमें सब समय समरूपसे मुझको ही देखते हैं, वे अपनी भक्तिसे मुझे वैसे ही अपने वश कर लेते हैं, जैसे पतिव्रता स्त्रियाँ अपने श्रेष्ठ पतियोंको वशमें कर लेती हैं। अधिक क्या कहा जाय, ऐसे साधु मेरे हृदय हैं और मैं उनका हृदय हूँ, वे मेरे सिवा किसीको नहीं जानते और मैं उनके सिवा किसीको नहीं जानता।'

यह तो भगवान्का भाव है—अब भक्तका भाव देखिये और उसको भी भगवान्की ही वाणीमें सुनिये—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥

(श्रीमद्भा० ११ । १४ । १४)

मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादिचतुष्टयम्।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत्कालविद्रुतम्॥

(श्रीमद्भा० ९ । ४ । ६७)

'जिसने अपना चित्त मुझको दे दिया है वह मुझको छोड़कर ब्रह्माके आधिपत्य, देवराज इन्द्रके राज्य, सार्वभौम साम्राज्य, पातालके आधिपत्य, योगकी समस्त सिद्धियाँ यहाँतक कि कैवल्यमोक्ष तकको नहीं चाहता।

मेरे भक्त मेरी सेवासे ही पूर्णमनोरथ होते हैं, वे मेरी सेवाको छोड़कर सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मुक्तियोंको भी नहीं चाहते फिर कालसे नाश होनेवाली अन्यान्य वस्तुओंकी तो बात ही क्या है?'

यह भगवान् और भक्तके उन भावोंका बाह्य दिग्दर्शन है जो लोकशिक्षाके लिये भक्ति और भक्तका

महत्त्व बतलाते हुए भगवान्ने कराया है। वस्तुतः भगवान् और भक्तके पारस्परिक भाव तो हमारे लिये अचिन्त्य ही होते हैं, वे हमारी वाणीमें और हमारे मनोंमें कभी आ नहीं सकते। उनका कैसा क्या नाता होता है इस बातको तीसरा कोई नहीं बतला सकता। हाँ, उनके पारस्परिक व्यवहारकी बाह्य लीलाको पढ़-सुनकर, गाकर तथा मनन करके हम परम पवित्र हो सकते हैं। वस्तुतः भगवान् और भक्त दो स्वरूपोंमें एक ही परम वस्तु हैं। उनके दो स्वरूप तो लीलानन्दके लिये हैं। और वह लीला लोकपावनी होती है।

(३)

कृपापत्र मिला। आप श्रीभगवान्का भजन करना चाहते हैं, अपनी शक्तिभर करते भी हैं परन्तु जैसा चाहिये वैसा नहीं बनता, इस बातसे आपको बड़ा दुःख रहता है, सो यह बड़ी ही अच्छी धारणा है। शक्तिभर भजन करनेमें त्रुटि न होने दे और सदा अपने भजनमें कमी ही देखता रहे, इसीसे तो भजन बढ़ता है और उसमें उच्च भावोंका संयोग होता है। मेरे लिये पूछा सो मैं क्या बताऊँ ? मुझसे यदि यथार्थरूपमें भजन बनता तो मेरी स्थिति कुछ दूसरी ही होती। फिर तो आपके लिखनेके अनुसार अवश्य ही मेरे दर्शन और स्मरणमात्रसे आपका कल्याण हो जाता परन्तु मैं वैसा हूँ ही नहीं। आप सच मानिये, मैं देखता हूँ, मेरे मनमें असंख्य वासनाएँ भरी हैं। मैं अपने मनको श्रीभगवान्के चिन्तनमें ही लगाये रखना चाहता हूँ और यत्किञ्चित् चेष्टा भी करता हूँ, परन्तु मेरा दुष्ट मन अनन्यभाक् होकर भगवच्चिन्तनमें लगता ही नहीं। मैं यह भी अनुभव करता हूँ कि भगवान्की मुझपर अनन्त कृपा है। मुझसे जो कुछ भजन बनता है, सब उस महान् कृपाके कारण ही बनता है। यह भी देखता हूँ कि भजनसे मेरा चित्त ऊबता नहीं, भगवत्कृपा मुझे बार-बार उत्साह दिलाती है। भजनके बदलेमें किसी दूसरी वस्तुके पानेकी कामना भी मनमें प्रायः नहीं देखता, भजनसे भजनकी ही सिद्धि चाहता हूँ; भजनकी सिद्धिका तात्पर्य यह कि बस, लगातार तैलधारावत् भजन ही होता रहे और मन, बुद्धि, प्राण, शरीर सब उसीमें तल्लीन हो जायँ। परन्तु अभी वैसा हो नहीं पाता, इसी बातका बड़ा दुःख है; मन भाँति-भाँतिके फरेब करके धोखा देता है। ऐसी हालतमें अवश्य ही निराश तो कभी नहीं होता, क्योंकि हँसती हुई भगवत्कृपाको निरन्तर मैं अपने मस्तकपर हाथ धरे देखता हूँ, परन्तु अपने मनकी नीचतापर बड़ा दुखी होता हूँ कि कहाँ तो भगवत्-कृपाकी मुझपर इतनी अनुकम्पा, और कहाँ मेरा नीच और कृतघ्न मन, जो अब भी सब कुछ छोड़कर—सबसे नाता तोड़कर, सारे संस्कारोंको त्यागकर केवल भगवच्चिन्तनमें ही नहीं लग जाता। मेरी वह दशा कब होगी जब मैं—उनके चिन्तनमें सब कुछ भुलाकर—केवल उन्हींको याद करूँगा और याद करते-करते याद करनेवाले अपनेको भी भूल जाऊँगा।

(४)

आपके कई पत्र मिल चुके, समयपर उत्तर नहीं लिख सका। आजकल आपका भजन अच्छा होता है तथा चित्तमें विकार भी प्रायः नहीं होते हैं सो बड़े ही आनन्दकी बात है। भजन जितना ही अधिक होगा, उतनी ही विकारोंकी मात्रा कम होती चली जायगी। विकारोंके नाश होनेकी कसौटी है भजनका अनन्य और विशुद्ध होना। जबतक विकार रहेंगे तबतक भजनमें सर्वथा अनन्यता और विशुद्धि नहीं होगी परन्तु इन विकारोंका नाश भी भजनसे ही होगा। अतएव भजन करते रहना चाहिये। अच्छे संगके प्रभावसे तथा भजनकी विशेषतासे विकार दब जाते हैं परन्तु उनका जबतक पूरा नाश नहीं हो जाता, तबतक

उनसे सदा सावधान रहना चाहिये । विकारके प्रत्यक्ष कारण प्राप्त होनेपर भी विकार न हों तब मानना चाहिये कि विकार मरने लगे हैं । जिसके मनके विकार मौकेपर उभड़ आते हैं, वह अपनेको यदि सिद्ध महात्मा मान लेता है तो उसे पछताना ही पड़ता है । अतएव विकारोंसे सदा सावधान रहिये ।

श्रीभगवानका भजन मनसे करनेका अभ्यास कीजिये । यह तो मनकी बदमाशी है जो वह यों समझाना चाहता है कि भगवान्का मनसे चिन्तन करोगे तो कामकाजमें भूल हो जायगी । अब आप दिनभर कामकाज करते हैं तो क्या दिनभर आपका मन किसी एक ही विषयमें एकाग्र रहता है ? न मालूम मन कहाँ-कहाँ जाता है और आप अपना अभ्यस्त कार्य किया करते हैं । इसी प्रकार भगवान्का चिन्तन करते रहनेपर भी कामकाज हो सकेगा । बल्कि विषय-चिन्तनसे जो भाँति-भाँतिके विकार चित्तमें जाग उठते हैं, बुरे कर्मोंके लिये कामना या आसक्तिवश प्रेरणा होती है, ये सब बातें न होंगी तो कामकाज और भी अच्छी तरह होगा । थोड़ी देरके लिये मान लीजिये—कामकाजमें हर्ज ही हुआ, और उधर भगवान्का चिन्तन बराबर होता रहा तो विचार कीजिये वास्तवमें आपका क्या हर्ज हुआ ! भगवच्चिन्तन ही तो जीवनका प्रधान कार्य है. इसीमें तो जीवनकी सफलता है । सब कुछ जाकर भी यह हो गया तो सब कुछ हो गया । इसलिये मनके धोखेमें न आकर उसे निरन्तर भगवत्स्मरणमें लगाये रखनेकी कोशिश कीजिये ।

गुलाल साहबकी प्रेमाभक्ति

(लेखक—श्री 'माधव'जी)

'एक अँधेरी रातमें प्रेमकी चिन्तामें आक्रान्त होकर मैं अपने मकानमें, जहाँ पूरा सन्नाटा था, बाहर निकली । किसीने मुझे देखा नहीं, न देख सकता था ।

मैं रातमें छिपकर एक गुप्त सीढ़ीसे ऊपर चढ़ी ।

क्या पवित्र रात थी । मुझे कोई नहीं देख सकता था । मैं भी कुछ नहीं देख सकती थी । मेरे हृदयमें एक दीपक जल रहा था वही मुझे रास्ता दिखला रहा था । उसका प्रकाश दोपहरके सूर्यके प्रकाशसे अधिक स्थिर था । वह प्रकाश मुझे वहाँ ले गया जहाँ मैं जानती थी कि 'एक' मेरे आनेकी प्रतीक्षा कर रहा है ।

आह ! वह रात प्रभातसे भी अधिक सुहावनी थी । उस रातने प्रेमीको प्रेमीके दर्शन कराये, प्रेमी और प्रियतमका आनन्दमय विवाह कराया ।

अपने पुष्पित वक्षपर जहाँ सिवा उसके और किसीके लिये स्थान नहीं है, 'मैंने अपने प्रियतमको सुलाया ।'

ये उद्गार, आत्माकी यात्राका यह भावपूर्ण वर्णन, ईसाई संत—सेन्ट जॉन ऑव दी क्रॉसका है । प्रायः सभी संतोंने अपने आध्यात्मिक परिणय तथा मिलनके उल्लासमय गीत गाये हैं क्योंकि संतजीवनमें आनन्द और प्रेमकी जो अजस्र धारा प्रवाहित होती रहती है उसका मूल स्रोत इस 'विवाह' और मिलनमें ही है ।

गुलाल साहब उसी आनन्दमें छके हुए अलमस्त गा रहे हैं—

पावल प्रेम पियरवा हो ताहि रे रूप ।
मनुवा हमार बियाहल हो ताहि रे रूप ॥
ऊँच अटारी पिया छावल हो ताहि रे पर ।
गुरु गम गाँठि दियावल हो ताहि रे पर ॥
मातियन चौक पुरावल हो ताहि रे पर ।
अगम धुनि बजन बजावल हो ताहि रे पर ॥
दुलहिन दुलहा मन भावल हो ताहि रे मन ।
भुजभर कंठ लगावल हो ताहि रे मन ॥

गुलाल प्रभुवर पावरू हो ताहि रे पद।
मनुवा प्रीत लगावरू हो ताहि रे पद॥

इस 'मिलन' की बात करना बहुत आसान है परन्तु इसकी साधना तथा वास्तविक अनुभूति अत्यन्त कठिन है। जब संसारके सारे भोग और विषय छूट जाते हैं तो भगवत्प्रेमका अङ्कुर हृदयमें उगता है और वही अङ्कुर साधनाका जल पाकर तथा प्रभुकृपाका प्रकाश पाकर धीरे-धीरे बढ़ता है, पल्लवित-पुष्पित होता है और समय पाकर समस्त हृदयको छा लेता है। यही लता जब लहलहा उठती है तो भीतरका 'पंछी' उस वासन्तिकतासे बेसुध होकर, उस गन्धमें पागल होकर, उस शोभा-श्रीका गीत गा उठता है। संतोंकी जो कुछ भी वाणी मिलती है वह उनके आभ्यन्तरिक आनन्दके ज्वार तथा उभारकी एक हल्की लहर-सी है—उसमें उनके भीतरके समुद्रका एक गंभीर गर्जन सुन पड़ता है, समुद्रकी अतल गहराई तथा अनन्त विस्तारका पता तो 'भीतर' पैठे बिना, उस आनन्दरससागरमें डूबे बिना क्या लगे? इसके लिये तो भीतर लौटना पड़ता है और फिर डूबना पड़ता है अपने ही अन्तरके अगाध सागरमें!

गुलाल साहबका पार्थिव परिचय अन्य संतोंकी भाँति ही बहुत कम मिलता है। आत्मगोपन ही संतोंका आभूषण है। वे जान-बूझकर अपनेको कभी भी प्रकाशित होने देना नहीं चाहते। संसार जाने—जहाँतक यह ख्वाहिश है तहाँतक संतजीवनका श्रीगणेश भी नहीं हुआ ऐसा मानना चाहिये। व्यक्तित्वकी वासनासे ऊपर उठनेपर ही प्रभु-प्रेमके मार्गमें बढ़ा जा सकता है और जबतक इस काया और इस नामको ही इतिहासमें उतारनेका लोभ लगा हुआ है, जबतक मत-पंथ-सम्प्रदायकी परम्परा चलाकर अपने अमरत्वको सिद्ध करनेकी मिथ्या चेष्टा या प्रवृत्ति बनी हुई है तबतक संतमार्गसे हम लाखों कोस दूर हैं; उसपर चलना तो अभी होगा ही कैसे! संत जमात नहीं बाँधते, संत पंथ नहीं चलाते, संत शिष्य-परम्परा चलानेकी चिन्तामें नहीं पड़ते। जहाँ प्रभुके दर्शन और मिलनकी एक मात्र चाह है वहाँ अन्य चाहोंके लिये अवकाश ही कहाँ है; और जबतक दूसरी चाहके लिये भी स्थान है वहाँ यही समझना चाहिये कि प्रभु-मिलनकी चाह सर्वथा मंद है या है ही नहीं। इस क्षणभङ्गुर, नित्य बनने-मिटनेवाली कायाकी क्या कथा लिखी जाय! इसमें लिखनेयोग्य बात है ही क्या? इसे इतना महत्त्व ही क्यों प्रदान किया जाय? जन्मे, दुःख भोगा, अभावकी पीड़ा सही, अपनोंका बिछोह झेला और फिर एक दिन आँखें मुँद गयीं। इतनी ही तो कहानी है, इसे तूल क्यों दिया जाय!

इस तन धनकी कौन बड़ाई,
देखत नैनों मिट्टीमें मिल जाई।

भारतीय संतोंने ही नहीं, समस्त संसारके सच्चे संतोंने सदा अपनेको छिपाया ही है और उनके जीवनकी अधिकांश बातें गुम ही रही हैं। शिष्योंने प्रायः परम्परा चलानेके लिये कहींकी ईंट कहींका पत्थर जोड़ लिया है।

गुलाल साहब जातिके क्षत्रिय, बुल्ला साहबके गुरुमुख शिष्य, जगजीवन साहबके गुरुभाई और भीखा साहबके गुरु थे। यह जगजीवन साहबके समकालीन थे और इसी आधारपर इनके जीवनका समय वि० संवत् १७५०–१८०० माना जाता है। ये पढ़े-लिखे तो नहीं थे परन्तु थे मजी हुई बुद्धिके। किसानीका काम करते थे। अपने घर इन्होंने बुलाकी-राम जो पीछे जाकर 'बुल्ला साहब' कहलाये—को हरवाहा रख छोड़ा था। बुल्ला साहब भजनानन्दी जीव थे। जब उन्हें भजनका ध्यान होता तो कितना भी आवश्यक कार्य कोई क्यों न हो वे उसे ताकपर रख देते थे। एक दिन हल-बैल लेकर वे खेतमें पहुँचे। भगवान्की स्मृति उमड़ आयी और खेतमें ही बैठकर ध्यानका आनन्द लेने लगे। ध्यानमें बैठे-बैठे वे साधुओंका भण्डारा कराने लगे। इतनेमें ही इनके मालिक गुलाल साहब पहुँचे और अपने नौकरको 'बेकार' बैठे देखकर क्रोधसे उनकी पीठपर कसकर लात जमा दी। इतनेमें क्या देखते हैं कि बुलाकीरामके हाथसे दही छलक पड़ा। गुलाल साहब बड़े आश्चर्यमें पड़ गये। अन्तमें जब बुलाकी-रामने सारा वृत्तान्त सुनाया तो वे उनके चरणोंमें गिरकर क्षमा माँगने लगे। इतना ही नहीं, उन्होंने बुलाकीरामको गुरुरूपमें वरण किया। गाजीपुर जिलेके जसहरि तालुकामें अपने गुरुधाम भुरकुड़ा ग्राममें गुलाल साहब अपने गुरुदेवका सत्संग करते रहे और उनकी महासमाधिके अनन्तर वे और भगवत्प्रेमी भक्तोंको सत्सङ्ग कराया करते और उपदेश दिया करते थे। वे अन्ततक गृहस्थाश्रममें ही रहे। गुलाल साहब साधुगतिके प्रेमाश्रयी संत थे। उनकी बानियोंमें उनकी अविरल भक्ति और निर्धूम ज्ञान तथा जगत्के प्रति विमल विरक्ति झलकी पड़ती है।

अपनी लगनके सम्बन्धमें वे एक स्थानपर कहते हैं—

संसय मेटि करै सतसंगति, प्रेम पंथपर धावै।
सुन्न नगरमें आसन माँड़ै, जगमग ज्योति जगावै॥

आवागवन न हंदहै कबहीं, सतगुरु सत्त लखावै ।
कहै गुलाल यह लगन हमारी बिरला जन कोइ पावै ॥

मनुष्य संसारके विषयोंमें इतना रचा-पचा हुआ है कि उसे वस्तुतः एक क्षणका भी अवकाश नहीं मिलता जिसमें वह सोच सके कि वह कहाँसे आया, क्यों आया और यहाँ आकर उसका क्या कर्त्तव्य है। इस मायाके बाजारमें मनुष्य अपनेको खो बैठा है और ऐसी भूल-भुलैयामें जा फँसा है कि उससे बाहर निकलना असम्भव-सा हो रहा है। इस चक्करसे बाहर खड़े होकर गुलाल साहब पुकार रहे हैं, चेता रहे हैं—

तुम जात न जान गँवारा हो ।
को तुम आहु कहाँत आयो, झूठो करत पसारा हो ॥
माटी कै बुंद पिंड कै रचना तामें प्रान पियारा हो ।
लोभ लहरिमें मोहको धारा सिरजनहार बिसारा हो ॥
अपने नाहको चीन्हत नाहीं, नेम धरम आचारा हो ।
सपनेहुँ साहब सुध नहिं जान्यौ जमदुत देत पछारा हो ॥

ए मन ! तू कहाँ भरम रहा है ! नेक सोचो तो सही कि तुम कौन हो, कहाँसे आये हो और तुम्हारा यहाँ क्या कर्त्तव्य है। यह व्यर्थका प्रपञ्च-विस्तार किसलिये ? एक बूँदसे यह शरीर बना और इसमें प्रभुने प्राण डाल दिया। यहाँ इस जगत्में आकर लोभकी लोल लहरों तथा मोहकी विकट धारामें पड़कर तुमने अपने सिरजनहार हरिको बिसार दिया है। अपने प्राणधनसे तो परिचय नहीं करते और दुनिया-भरका नेम-व्रत करते-फिरते हो। वह तो प्रेमसे, एकमात्र प्रेमसे रीझते हैं और तुम लगे हो व्यर्थके षट्कर्ममें। स्वप्नमें भी उनकी, उनके प्रेमकी सुध नहीं आती ! सेमरका फूल सेते ही जीवन बीता ! परन्तु मौत किसीपर मुरौव्वत क्यों करने लगी······ !! तुम धन-पुत्र-कलत्रके चक्करमें ही पड़े रहे और लो वे,—वे यमदूत तुम्हें लेनेके लिये आ गये ! इतना सुन्दर, ऐसा अनमोल जीवन तुमने अकारथ ही गँवा दिया ! परन्तु कोई चिन्ता नहीं, अब भी तू सँभल जा और—

भजन करु मनुवाँ बैरागी ।
काम क्रोध मद ममता त्यागो प्रभु चरनन महँ पागी ॥
सुत हित नारि बंधु परिजन जन डहत हैं स्वारथ लागी ।
झूठी सेव सेमर फल चाखो, अमृत फल कहँ त्यागी ॥
विष भोजनहिं पाइ मति सोवहु सत्त शब्द हिये जागी ।
जन गुलाल सतगुरु बलिहारी मनमें सो मन लागी ॥

मनुष्य जो वस्तु खोज रहा है वह तो ठीक ही है परन्तु जहाँ खोज रहा है वहाँ वह वस्तु है नहीं, और जब वह वहाँ है ही नहीं तो मिले कैसे ! मनुष्य 'सुख', 'आनन्द' खोज रहा है परन्तु वह खोज रहा है उसे इस जगत्के विषयोंमें। सारी भूल यहीं है। यहाँ तो सब कुछ उठती पैंठका तमाशा है, कुछ भी स्थिर नहीं, कुछ भी स्थायी नहीं, कुछ भी टिकने-वाला नहीं, और फिर इस नश्वरसे भीतरकी भूख-प्यास बुझेगी ही कैसे ? अँधेरे घरमें जैसे बालक टटोलता फिरे वही दशा हमारी है, द्वार खोलकर हम बाहर आना नहीं चाहते फिर ज्योति कैसे मिले, प्रकाश कैसे पावें ? "While the husks of the world satisfy him, God leaves him to his enjoyment of them. For God doth know that having incorporated some of his own divine Being within humanity, there is in man a hunger for something that husks will satisfy only for a time."

मनुष्य खोज तो रहा है भगवान्को परन्तु वह जगत्के तुच्छ विषयोंमें ही सुखानुभूति कर विरम-सा जाता है। भगवान् भी देखते हैं कि अच्छा यह जगत्से अपनी भूख-प्यास बुझा तो ले। परन्तु सीमामें भूमाका आनन्द, 'रसो वै सः' का सुख कहाँ मिले ? इसलिये मनुष्य यहाँ और वहाँ, इस और उसमें टकराकर अन्ततः इनसे निराश होकर हरिकी गोदमें ही पहुँचता है क्योंकि सच्चा आनन्द, वास्तविक आनन्द तो वहीं है।

राम मोर पुंजिया राम मोर धना ।
निस बासर लागल रहु मना ॥
आठ पहर तहँ सुरति निहारी ।
जस बालक पालै महतारी ॥
धन सुत लछमी रह्यो लोभाय ।
गर्भ मूल सब चल्यो गँवाय ॥
बहुत जतन भेख रच्यो बनाय ।
बिन हरिभजन इन्दोरन पाय ॥

अन्तिम ...िका भावार्थ यह है कि संसारमें सब कुछ किया परन्तु यदि हरिभजन, भगवान्का स्मरण नहीं किया तो उसे इन्दोरन ही हाथ लगा। इन्दोरन एक फलका नाम है जो देखनेमें सुन्दर लाल रंगका होता है परन्तु होता है बहुत ही कड़वा; देखनेभरको सुन्दर होता है, भीतर विष भरा रहता है। भगवान्के बिना जगत्का यही स्वरूप है।

मन जैसे-जैसे जगत्से हटता और प्रभुमें लगता जाता है वैसे-वैसे विचित्र अनुभव होते हैं। साधनमार्गमें यह सन्धिकाल

बड़ी कठिनाईसे बीतता है। जगत् अपनी पूरी शक्तिके साथ खींचनेकी चेष्टा करता है, नाना प्रकारके प्रलोभन, आकर्षण साधकको फिसलानेके लिये सम्मुख प्रस्तुत करता है। पग-पगपर गिरनेका डर बना रहता है। कभी-कभी घोर निराशा भी छा लेती है, अन्धकारमें अपना ही हाथ नहीं सूझता, चारों ओरसे जब सम्बन्धके डोरे पटापट टूटने लगते हैं तो अपने ही हृदयमें अपने प्रति घोर विद्रोहकी ज्वाला उठती है। इस अवस्थाका अनुमान वे ही लगा सकते हैं जो इससे गुजरे हैं या गुजर रहे हैं। संतमार्गमें चलनेवाले प्रायः प्रत्येक पथिकको विषादकी इस अमावस्या (Dark night of soul) से गुजरना पड़ता है। एक ऐसा समय आता है जब प्रभुकी प्रीतिका सुख एक ओरसे मिलता रहता है और दूसरी ओरसे जगत्के सम्बन्धोंके टूटनेका घोर विषाद रहता है। मनुष्य कुछ निश्चय नहीं कर पाता कि वह किसे ग्रहण करे, किसे छोड़े। जगत्की रमणीयता एक ओर आकृष्ट करती है, भगवान्का प्रेम एक ओर। इस द्वन्द्वके भीतर कभी-कभी कितने ही साधक चकनाचूर हो जाते हैं। परन्तु भगवान्की दया ठीक उसी समय उसकी सहायताके लिये आगे बढ़ती है क्योंकि जीव जहाँ हरिके सम्मुख हुआ नहीं कि उसके सारे आवरण हटे नहीं—"Nevertheless when the heart shall turn to the Lord the veil shall be taken away." और पर्दा हटनेपर अपने ही भीतरके आनन्दसागरका जब दर्शन हो जाता है तो बाहरका भटकना अपने ही आप बन्द हो जाता है।

आजु झरि बरखन बुंद सोहावन।
पिया के रीति प्रीति छबि निरखत पुलकि पुलकि मन भावन॥
उमग्यो सागर सलिल नीर भरो चहुँ दिसि लगत सोहावन।
उपज्यो सुख सन्मुख तिरपित भयो, सुधि बुधि सब बिसरावन॥
काम क्रोध मद लोभ छुट्यो सब अपनेहि साहब भावन।
कह गुलाल जंजाल गयो तब हरदम भादों सावन॥

कई लोग काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह आदिको मारनेमें ही जीवन लगा देते हैं परन्तु नहीं मार पाते, प्रत्युत अवसर पाते ही काम-क्रोधादि उन्हें वशीभूत कर लेते हैं। इसका कारण यह है कि काम-क्रोधादिको जहाँ मिटानेकी साधना हो रही है वहां भगवान्की प्रीति प्राप्त करनेकी लालसा भी प्रबल होनी चाहिये और सच बात तो यह है कि सारे दोषोंको मिटानेका एकमात्र साधन है हृदयमें भगवान्का आवाहन, भगवान्के आते ही हृदयके सारे कल्मष स्वतः भस्म हो जाते हैं। फिर काम-क्रोधादिसे लड़ना नहीं पड़ता वे स्वयं परास्त होकर भाग जाते हैं—ठीक वैसे ही जैसे सूर्यके उदय होते ही अन्धकार। हाँ, यह बात और है कि सूर्योदयके पूर्वका अन्धकार कभी-कभी इतना घना होता है कि सूर्योदय कब होनेवाला है यह पता ही नहीं चलता। इसीपर एक ईसाई संतने कहा है—

"When night is at its darkest the dawn is at hand".

निर्गुणिये संतोंकी प्रेमाभक्ति तथा भगवान्के सगुण साकार रूपकी उपासना करनेवाले भक्तोंकी प्रेमाभक्तिमें मूलतः कोई विशेष भेद हो ऐसी बात नहीं है। हाँ, निर्गुण साधनामें अपने ही भीतर षट्चक्रभेदन तथा कुंडलिनीजागरणके द्वारा ज्योतिर्दर्शन होता है और सुरत-योगकी साधना ही विशेषरूपसे इस मार्गमें चलती है। परन्तु जिस आवेग, तल्लीनता तथा प्रीतिके साथ भक्तोंने भगवान्को पुकारा और उन्हें हृदयसे लगाया है ठीक उसी आवेगसे संतोंने भी। भक्त और संतका जो अन्तर अबतक हम मानते आये हैं वह वस्तुतः उतना है नहीं जितना हम मानते हैं। सदाचार, जगत्के विषयोंके प्रति घोर विरक्ति, प्रभुमें हृदयकी पूर्ण आसक्ति, नामस्मरण, स्वरूपचिन्तन, एकान्तसेवन आदि साधन भक्तिमार्ग और संतमार्गमें समानरूपसे हैं! अन्तर तो केवल नामका है।

अजपा जाप तथा अखण्ड नाम-स्मरणके रसमें छका हुआ हृदय भगवान्की सांनिधिको पाकर कितना विह्वल हो उठता है इसका वर्णन गुलाल साहब करते हैं—

अबिगत जागल हो सजना।
साँझ समय उठि दीपक बारल
कटल करमवा मनुवा पागल हो सजनी॥

तथा

आजु मोरे अनँद बधावा जियरा कुहकैला सुनत सुनत सुख पाय॥
पाँच पचीस तिनि चाचरि गावहिं सो सुख बरनि न जाय॥
गगन मण्डलमें रास रचो है झमक रहो है छाय॥
प्रेमपियारा प्रगट भयो जब ब्रह्मपदारथ पाय॥
थकित भयो सुधि बुधि हर लीन्हो इत उत कहीं न जाय॥
कहैं गुलाल भक्ति बर पायो छूटलि सबहिं बलाय॥

भगवान्में एकता ही जीवका सत् स्वरूप है और यह वियोग जो हम झेल रहे हैं या सह रहे हैं हमारी सच्ची स्थिति नहीं

है । स्वरूप-दर्शन तथा उसमें पूर्णतः अवस्थितिके लिये बहुत सिर पचाने या शास्त्र छाननेकी कोई आवश्यकता नहीं । बच्चा जिस प्रकार सहज ही अपनी माताको पहचानता है ठीक उसी प्रकार जीव सहज अवस्थामें अपने पीवको पकड़ता है; उसके लिये प्रेम ही मुख्य साधन है । इसीलिये गुलाल साहबने प्रेम-साधनाको ही संत-साधनाका प्राण माना है—

जो पै कोइ प्रेमको गाहक होई ।
त्याग करै जो मनकी कामना, सीस दान दै सोई ॥
और अमल को दूर जो छोड़ै आपु अपन गति जोई ।
हरदम हाजिर प्रेम पियाला, पुलकि पुलकि रस लेई ॥
जीव पीव महँ पीव जीव महँ बानी बोलत सोई ।
साहु समन महँ हम सबहन महँ बूझत बिरला कोई ॥
वाकी गती कहा कोउ जानै जो जिय साँचा होई ।
कह गुलाल वे नाम समाने, मत भूलै नर कोई ॥

यह 'प्रेम' श्रीगुरुमुखसे प्राप्त 'नाम' के अखण्ड स्मरणसे सहज ही प्राप्त हो जाता है । इसके सिवा कोई भी साधन है नहीं । 'नाम' चेतन होकर हृदय-गुफामें सहज ही विद्युत्-स्फुरणकी भाँति स्फुरित होने लगे, नामका कोमल प्रकाश हृदयमें जगमगा उठे, उसकी स्निग्ध किरणोंसे हृदयका कोना-कोना प्रकाशित हो जाय, उसके मधुर रसमें हृदय पगा रहे, उसीमें पूर्णतः डूब जाय, उसीमें छका रहे तभी प्रेमकी वास्तविक अनुभूति होती है । इस रसानुभूतिका जो द्वैत और अद्वैतसे परे है, जिसमें द्वैत-अद्वैत दोनों ही हैं और एक भी नहीं, कोई शब्दोंमें वर्णन करना चाहे भी तो कैसे करे ?

जनम सुफल भैगो हो हम धनि पियाकी पियारी ।
सोरहो सिंगार सँपूरन पहिरल देखल रूप निहारी ॥
नख तिलक दै माँग सँवारल विनवल अँचरा पसारी ॥
आठ पहर धुनि नौबति बाजै सहज उठै झनकारी ।
गोझि गोझि नेवछावर वारौं मुक्ता मनि मनि थारी ॥
गगन मँडलमें परम पद पावल जमहिं कइल दर छारा ।
जन गुलाल सोहागिन पिय सँग मिलली भुजा पसारी ॥

Behold ! The Bridegroom cometh !
Go Ye forth to meet Him !

आधुनिक विज्ञान और हिन्दूधर्म

(शचीन्द्रनाथ सान्याल)

आधुनिक कालके प्रायः सभी वैज्ञानिक इस बातको स्वीकार करते हैं कि अबतककी वैज्ञानिक गवेषणा विश्वके कुछ अंशको लेकर ही हुई है । एवं इस आंशिक गवेषणाके आधारपर समग्र विश्वके स्वरूपको कदापि समझा नहीं जा सकता । इस अंशनिर्वाचनमें भी, वैज्ञानिकोंकी अभिरुचि एवं झुकावने ही प्रधानरूपमें काम किया है । फिर विभिन्न वैज्ञानिकोंमेंसे वैज्ञानिक अन्वेषण करते समय, इस बातपर किसीने भी ध्यान नहीं दिया कि जडवाद सत्य है अथवा आत्मवाद । उनके खोजके विषय ही कुछ अन्य प्रकारके थे । लेकिन जडवादियोंने इतने असम्पूर्ण आधारपर ही अपने सिद्धान्तकी स्थापना करनेकी चेष्टा की है । और वे यह झूठा दावा करते हैं कि आधुनिक विज्ञानने आत्मवादकी जडको उखाड़कर फेंक दिया है ।

जडवादी अपने पक्षके समर्थनमें सबसे प्रबल युक्ति यह देते हैं कि आदिमें विश्वकी अवस्था ऐसी नहीं थी जिसमें प्राणका स्फुरण हो सके । उनका कहना है कि संसारमें प्राणियोंका आविर्भाव, जगत्के अस्तित्व-कालके हिसाबसे, बहुत थोड़े ही दिन हुए, हुआ है । और आधुनिक विज्ञानके अनुसार आगे चलकर संसार एक ऐसी अवस्थामें पहुँचेगा, जिसमें प्राणियोंका रहना असम्भव हो जायगा । उस समय समग्र विश्वमें तेज अथवा ताप केवल कहने मात्रके लिये ही रह जायगा । समग्र विश्व एक हो जायगा और उसमें अणु-परमाणुओंके स्पन्दन भी कहने मात्रको ही रह जायँगे । जीव एवं उद्भिज सब जड़ताको प्राप्त हो जायँगे । यह अवस्था अनन्त कालतक रहेगी । इस प्रकारसे विज्ञानकी दृष्टिसे, आदि एवं अन्तमें संसारमें प्राणका अस्तित्व नहीं है, एवं प्राणके साथ मनका एवं चेतनका भी अस्तित्व नहीं है । जडसे ही प्राण एवं चेतनकी उत्पत्ति है, एवं जडमें ही उनका लय है । ध्वंस होना ही हम सबका अन्तिम परिणाम है । अतीन्द्रिय जगत्की कल्पना करना एवं जन्मान्तरवादमें विश्वास रखना मनुष्य-प्रकृतिकी दुर्बलता मात्र है । देहके नाश होनेके साथ ही चेतन भी लुप्त हो जाता है । यह जडवादियोंका पक्ष है ।

अब देखना है, आधुनिक वैज्ञानिकोंने कहाँतक जड-

वादियोंके पक्षका समर्थन किया है। सर्वप्रथम मैं ऐसी दो-तीन बातें बता देना चाहता हूँ जिन्हें सर्वसाधारण एवं सम्भव है बहुत-से विज्ञानके छात्र भी न जानते हों। कारण, आजकलका ज्ञानका क्षेत्र इतना विस्तृत हो गया है कि किसी एक व्यक्तिके लिये सब बातें जानना असम्भव-सा हो गया है। विशेष करके विशेषज्ञोंके लिये तो यह बात और भी लागू है। कारण-विशेषज्ञ अपनी ही बातोंको लेकर इतनी उलझनोंमें पड़ा रहता है कि न तो उसे दूसरी बात जाननेके लिये अवकाश ही है और न अभिरुचि ही। यदि हम जड़वादियोंके सिद्धान्तको स्वीकार करते हैं तो हमें यह भी मानना पड़ता है कि अधिक उत्ताप अथवा अधिक शीतमें प्राणी जीवित नहीं रह सकता। अथवा 'आक्सीजन' को छोड़कर प्राणी जीवन धारण नहीं कर सकता। परन्तु सबसे नयी खोजके परिणाममें यह बात मालूम हुई है कि आकाशके ऊपरी हिस्सेमें और बर्फीली ठण्ढमें भी जीवाणुका अस्तित्व है। एक अमेरिकन जीववैज्ञानिकने यह दावा किया है कि उल्कापातमें गिरे हुए पत्थरोंके अंदर मैंने जीवित जीवाणु पाए हैं। आकाशमें मीलों ऊपर उड़ते समय हवाई जहाजकी सहायतासे वैज्ञानिकोंने बीसों प्रकारके जीवित जीवाणुओंके अस्तित्वका पता चलाया है। [देखिये— Science in the making by Gerald Heard P. 56] इसके बहुत पहले प्रसिद्ध अंग्रेज वैज्ञानिक 'टिण्डल' साहबने भी यह अनुमान किया था कि इस दुनियामें जीव लुक गिरनेके साथ आया है। लेकिन यह तो हुई अनुमानकी बात। ऐसा अनुमान करनेकी आवश्यकता इसलिये होती है कि आज भी वैज्ञानिक रीतिसे यह प्रमाणित नहीं हुआ है कि इस सृष्टिमें पहलेपहल जीवका आविर्भाव कैसे हुआ। तथापि उपर्युक्त प्रमाणोंसे यह कहा जा सकता है कि अत्यन्त ताप एवं अत्यन्त शीतमें भी जीव, जीवित रह सकता है। सम्भव है आगे चलकर वैज्ञानिक रीतिसे और भी प्रमाण मिलें कि जीव ऐसी दशामें भी जीवित रह सकता है जिसकी कल्पना भी हम आज नहीं कर सकते। बहुत बार यह चेष्टा हुई कि वैज्ञानिक रीतिसे, परीक्षागारमें जीवकी उत्पत्ति की जाय। लेकिन आज भी कोई वैज्ञानिक ऐसा करनेमें समर्थ नहीं हुआ है। क्या इस धरित्रीके इतिहासमें एक ही क्षण ऐसा आया था, जिस समय जीवकी उत्पत्ति हुई थी, एवं आजतक फिर वैसा क्षण नहीं आया? क्या वैसी परिस्थिति इस पृथ्वीमें कभी भी, किसी स्थानपर भी, नहीं आयी? संसारमें असंख्य परिवर्तन हो रहे हैं। क्या उन असंख्य परिवर्तनोंके अवसरोंपर कहीं भी जीवकी उत्पत्ति नहीं होती है? वैज्ञानिकोंको यह भी पता चला है कि ऐसे बहुत-से जीव हैं जो कि उत्तर मेरु अथवा दक्षिण मेरुमें बरफ़के नीचे मृतवत् पड़े हुए हैं, लेकिन फिर अनुकूल अवस्था पानेपर वे मृतप्राय जीव फिर सजीव हो जाते हैं। अर्थात् अनुकूल अवस्था पानेपर एक वस्तुका प्रकाश होता है, और प्रतिकूल अवस्थामें वही वस्तु अव्यक्त रह जाती है। हिन्दू-धर्मके सिद्धान्तके अनुसार यह कहा जाता है कि तमस्के आवरण रहनेके कारण चैतन्यका प्रकाश नहीं होता है। लेकिन व्यक्त न होनेपर भी चैतन्यका अस्तित्व है। अव्यक्त अवस्थामें है। अव्यक्त अवस्थासे व्यक्त होना यही सृष्टि है; एवं व्यक्त अवस्थासे अव्यक्त अवस्थामें चले जाना ही विनाश अथवा प्रलय है। जो वस्तु पहले नहीं थी, उसका आविर्भाव फिर बादको नहीं होता है। जिसका आविर्भाव हुआ है उसका अत्यन्त अभाव भी नहीं होता है। यदि ऐसा माना जाय कि एक वस्तु पहले नहीं थी और बादमें उसका आविर्भाव हुआ तो इसका अर्थ होता है, 'कुछ नहीं' से 'कुछ' का होना सम्भव है। यह बात युक्तिविरोधी एवं अवैज्ञानिक है। इसलिये चैतन्यका किसी समय भी अभाव होना अवैज्ञानिक एवं युक्तिविरुद्ध है।

विश्वकी अन्तिम अवस्थाके बारेमें भी वैज्ञानिकोंमें मतभेद है। सब वैज्ञानिक इस बातको स्वीकार नहीं करते हैं कि ऐसा दिन भी आवेगा, जिस दिनसे विश्वसंसार अणुपरमाणुके रूपमें प्रायः स्पन्दनहीन अवस्थामें एकरस होकर अत्यन्त शीतल अवस्थामें अनन्त कालके लिये पड़ा रहेगा। वर्तमान अवस्थाको देखकर हमें अनिवार्यरूपमें यही कहना पड़ता है कि विश्वसंसारमें एक ओर प्रचण्ड तेज घनीभूत अवस्थामें विद्यमान है; और दूसरी ओर अनन्त दिशामें अल्प तेज एवं अत्यधिक हिम दिगन्ततक परिव्याप्त है। तो सर्वप्रथम साम्य अवस्थासे वैषम्यकी उत्पत्ति कैसे हुई? एवं यदि साम्य अवस्थासे वैषम्यकी उत्पत्ति हो सकती है तो पुनः वैषम्यसे साम्य अवस्थाको प्राप्त होनेके बाद विश्वका फिर पूर्ववत् विकास होना क्या सम्भव नहीं है? कुछ वैज्ञानिक ऐसा भी कहते हैं कि विश्वका एकान्तरूपमें प्रलय होना कभी सम्भव नहीं है; कारण, एक ओर प्रलयकी जैसी सूचना जान पड़ती है उसी प्रकारसे दूसरी ओर नवीन सृष्टिका भी परिचय मिलता है। 'जीन्स' 'मिलिकन्स' आदिके ग्रन्थ पढ़नेसे इस बातका पता मिल सकेगा।

आधुनिक विज्ञान भी अपना मत समय-समयपर परिवर्तन

करता रहता है। अभी कुछ दिन पहले भी विज्ञानका कहना था कि चन्द्रलोकमें वायु अथवा जलीयवाष्पका अस्तित्व नहीं है। लेकिन आधुनिक खोजसे यह मालूम पड़ता है कि सम्भव है, चन्द्रलोकमें भी वाष्पका अस्तित्व हो; कारण, हुबहू एक ही अवस्थामें एवं संवत्सरके एक ही समयमें, चन्द्रलोकमें स्थित कुछ नाले और खाईके चिह्न कभी दिखायी देते हैं और कभी नहीं भी दिखायी देते। डाक्टर 'पिकरिंग' ने ऐसा अनुभव किया है कि चन्द्रलोकमें कहीं-कहींपर ऐसी चीज़की उत्पत्ति होती है जिसे वैज्ञानिकोंने आज भी यथार्थरूपमें समझ नहीं पाया है। सम्भव है यह चीज़ उद्भिज्जकी तरह हो। चन्द्रमामें ताप अत्यन्त कम है। और उस हिमकी अवस्थामें भी उद्भिज्जकी उत्पत्ति होनी सम्भव-सी जान पड़ती है।

आजकल यह भी पता चला है कि 'हीलियम' नामक वाष्पकी द्रवीभूत अवस्थामें भी जैविक पदार्थ जीवित रह सकता है एवं वंशवृद्धि कर सकता है। 'हीलियम' की द्रवीभूत अवस्था बर्फकी ठंढकसे भी अधिक ठंढी है। इससे यह भी अनुमान करना असंगत न होगा कि चन्द्रलोकमें भी उद्भिज्ज अथवा जैविक अणुओंका अस्तित्व है, (देखिये—"Science In the Making" by Gerald Heard, P. 56: "We are not nearly so certain as we were of the conditions under which life can't exist. We now know that some fungus spores can survive and breed after they have been frozen in liquid helium—a cold close to the cold of outer space. Perhaps then a fungus could grow in certain fissures of the moon.")।

विज्ञान अभी उन्नतिके मार्गपर द्रुतगतिसे बढ़ रहा है। विज्ञानकी अधूरी बातोंको लेकर अन्तिम दिनके प्रलयका चित्र खींचना कहाँतक युक्तिसंगत है? इसी बातको ले लीजिये;—हम सबोंने किसी-न-किसी समयमें यह देखा होगा कि आगके ऊपर पानी चढ़ानेसे, आगकी गर्मी पानीमें आ जाती है, न कि पानीमें जो कुछ थोड़ी-सी भी गर्मी रही हो, वह भी आगकी गर्मीमें चली जाय और पानी अधिक ठंढा हो जाय, और इस प्रकारसे पानी बर्फ हो जाय। अर्थात् जब दो पदार्थ पास-पास हों, जिनमें एक पदार्थ दूसरे पदार्थसे अधिक गर्म हो, तो यही देखा गया है कि अधिक गर्म वस्तु अपनी गर्मीको छोड़ देती है, और अपेक्षाकृत अल्प गर्म वस्तु उस गर्मीको पाकर अधिक गर्म हो जाती है। यही साधारण नियम है। इसी नियमके अनुसार विश्वमें, जहाँ एक ओर तेज, घनीभूत अवस्थामें उपस्थित है, और दूसरी ओर अनन्त दिशामें 'हिम' प्रसरित है, घनीभूत तेज क्रमशः अपने तापको अनन्त दिशामें विकीर्ण करते-करते अन्तमें ऐसी अवस्थाको उत्पन्न करेगा जिस समय समस्त विश्व एकदम शीतल हो जायगा। कुछ वैज्ञानिकगण ऐसा अनुमान करते हैं। लेकिन आश्चर्यकी बात यह है कि इस नियमका भी व्यतिक्रम होता है। जगत्प्रसिद्ध जर्मन वैज्ञानिक श्री 'मेक्स प्लांक' (Max Planck) ने 'विज्ञान किस ओर' नामक पुस्तकमें ऐसा लिखा है कि यदि दो पदार्थ पास-पास लगे हुए हों, जिनमें एक पदार्थ दूसरे पदार्थसे अधिक गर्म हो, तो अधिक गर्म पदार्थसे गर्मी निकलकर अल्प गर्म पदार्थमें जाती रहेगी, एवं एक समय दोनों पदार्थ समानरूपसे गर्म हो जायँगे; और बादको जो पदार्थ पहले अल्प गर्म था वह अधिक गर्म हो जायगा। अर्थात् ऐसा भी सम्भव है कि अधिक गर्म पदार्थ, अपेक्षाकृत अल्प गर्म पदार्थको अपनी गर्मी न देकर, उससे गर्मीको अपनी ओर खींच ले। लेकिन 'प्लांक' (Planck) साहब कहते हैं कि यह आखिरी नियम उसी समय लागू है जब कि गर्मीका परिमाण अल्प हो। देखिये—

"Where is Science Going" by Max Planck, P. 1434;—"If two bodies of different temperatures be brought into contact with one another then, according to the two laws of thermodynamics the heat energy will always pass from the warmer to the cooler body. We know today from experiment that this law is only a probability; because, especially when the difference of temperatures between two bodies is exceptionally small, it may well happen that at one or other particular point of contact and at one particular moment of time the conduction of heat will take place in the opposite direction—that is to say, from the cooler to the warmer body......"

बहुत-से वैज्ञानिक ऐसा भी समझते हैं कि विश्व एक दफ़े लयको प्राप्त होगा, और फिर उसका विकास होगा एवं पुनः वह लयको प्राप्त होगा । इस प्रकारसे अनादिकालसे लेकर अनन्त कालतक विश्वका विकास और लय, लय और विकास होता रहेगा । इस सिद्धान्तके साथ हिन्दू-सिद्धान्तका एकदम मेल है । और ऊपर इसके बारेमें जितनी आलोचना की गयी है उससे यही परिणाम निकालना युक्तिसंगत एवं स्वाभाविक है ।

आधुनिक जीवविज्ञानसे यह भी पता चला है कि भ्रूणके विकासके समय आदिमें आक्सिजनके अभावमें भी प्राणका विकास होना सम्भव हुआ है । [देखिये, The Frontiers of Science by Chase P. 333. '...the human embryo,...exists during the first few hours of its life in the entire absence of available oxygen...'] यदि दो तीन घंटेके समयतक भी जीवका जीवित रहना सम्भव है, तो अवस्थाविशेषमें क्या यह समय और अधिक बढ़ नहीं सकता ?

अब हमें यह भी देखना है कि वैज्ञानिक प्रणाली किसे कहते हैं, एवं वैज्ञानिक प्रणालीको छोड़कर और भी कोई प्रणाली है या नहीं जिसकी सहायतासे विश्वके ज्ञानको हम अव्यर्थ एवं अभ्रान्तरूपसे प्राप्त कर सकें । वैज्ञानिक खोजकी सफलताके कारण आज मनुष्यके हाथमें अद्भुत एवं प्रचण्ड शक्ति आ गयी है । उस शक्तिके मोहमें पड़कर हम विज्ञानके कुछ पहलूके प्रति ही आकृष्ट हो रहे हैं । बहुतसे लोग ऐसा समझते हैं कि ऐकान्तिक युक्तिके मार्गपर चलकर ही आधुनिक विज्ञानने यह अद्भुत सफलता प्राप्त की है । लेकिन यह बात नहीं है । यदि युक्तिके मार्गको अवलम्बन करनेपर ही अभिनव वैज्ञानिक आविष्कार संभव हो सकता, तो आजतक विज्ञान अन्तिम अवस्थाको प्राप्त कर चुका होता । कारण, युक्ति-परम्पराकी सहायतासे, हमें किसी भी स्थानपर नहीं रुकना पड़ता । लाखों वैज्ञानिक आविष्कार नित्यप्रति होते रहते । लेकिन ऐसा होता नहीं । कारण, वैज्ञानिक खोज युक्तिपर ही निर्भर नहीं करती । हमें युक्तिसे सहायता अवश्य मिलती है । सहायता लेनेवाला, अपने अभीष्ट साधनके लिये युक्तिको काममें लानेवाला व्यक्ति 'युक्ति'से अधिक महत्त्व रखता है । युक्ति तो व्यक्तिका यन्त्र मात्र है । परीक्षा करनेकी रीति भी, वैज्ञानिक प्रणालीका एक उपयोगी अंश होते हुए भी, श्रेष्ठ अंश नहीं है । परीक्षा करनेकी रीतिको छोड़कर तो विज्ञानकी उन्नति होती ही नहीं । इस बातमें कोई सन्देह ही नहीं है । तथापि यदि हम थोड़ा-सा भी ध्यान दें तो समझ सकते हैं कि परीक्षागारमें खड़े होकर हमें यह निर्णय करना पड़ता है कि किस बातकी परीक्षा करें । परीक्षा करनेके पहले तो विषय-निर्वाचन करना पड़ेगा । यह विषयनिर्वाचन हम किस प्रणालीसे एवं कैसे करेंगे ! जिस प्रश्नको लेकर हम अनुसंधान करनेको प्रवृत्त होंगे, परीक्षाके फलमें उसी प्रश्नके प्रत्युत्तरकी आशा हम कर सकते हैं । क्या इस बातकी परीक्षा वैज्ञानिकोंने की है कि जड़के अंदर चेतन वस्तु भी है ? 'श्रीजगदीश बोस', अध्यापक 'क्रुक्स' इत्यादि दो चार वैज्ञानिकोंको छोड़कर इस बातकी खोज करनेकी चेष्टा किसीने भी नहीं की । मैं इस स्थानपर मनोविज्ञान अथवा जीवविज्ञानके बारेमें कुछ नहीं कह रहा हूँ । अभी कुछ थोड़े ही दिनोंसे मनोवैज्ञानिक एवं जीववैज्ञानिकगण उपरोक्त बातकी परीक्षा भी करने लग गये हैं ।

दूसरी बात यह है कि परीक्षाकी विषय-वस्तु अनन्त है । उनमेंसे कुछ विषयोंको लेकर ही वैज्ञानिकगण परीक्षा करते हैं । जिस विषयकी खोज करनी है उसके बारेमें एक धुँधली-सी धारणा परीक्षकके मनमें अवश्य रहती है । परीक्षाकी सहायतासे वैज्ञानिक यह देखना चाहता है कि उसकी धुँधली-सी धारणा कहाँतक सत्य है और कहाँतक नहीं । परीक्षकके मनमें यह धुँधली-सी धारणा सर्वप्रथम कैसे आती है ? कुछ प्रचलित धारणाएँ अवश्य पहलेसे ही मनुष्यके मनमें रहती हैं, चाहे वह कितनी ही भ्रमात्मक क्यों न हो । अर्थात् कुछ भ्रमात्मक धारणाको लेकर ही परीक्षा प्रारम्भ होती है । लेकिन स्मरण रहे कि कोई भी धारणा एकदम भ्रमात्मक नहीं होती । प्रत्येक धारणामें कुछ सत्यका अंश भी रहता है । यदि कोई वैज्ञानिक, प्रचलित धारणाके विपरीत नवीन कल्पना नहीं कर पाता, तो उसकी सफलता प्राप्त नहीं हो सकती । नवीन-से-नवीन कल्पना करनेकी शक्ति ही वैज्ञानिकोंकी सफलताका मूल कारण है । किन्तु केवल कल्पनाशक्ति रहनेसे ही काम नहीं चलता । कल्पनाको परीक्षागारमें जाँच करके, स्थूलरूपमें, पार्थिवरूपमें अथवा सूक्ष्मरूपमें, इन्द्रियग्राह्यरूपमें, उसे अनुभव कर लेना, वैज्ञानिकका काम है । बिना परीक्षा किये किसी बातको मान लेना विज्ञानविरुद्ध बात है । केवल युक्तिके मार्गसे कोई बात सिद्ध नहीं हो सकती । इसलिये परीक्षाकी आवश्यकता है । किसी बातकी परीक्षाका अर्थ है

उसे साक्षात्‌रूपमें अनुभव कर लेना। लेकिन परीक्षाके पूर्व परीक्षकके मनमें कुछ धारणा अवश्य होनी चाहिये। उस धारणाकी पुष्टिके लिये ही परीक्षा की जाती है। परीक्षाके परिणाममें उस धारणाको हम ग्रहण भी कर सकते हैं, त्याग भी सकते हैं। किसी विशेष धारणाके अभावमें कोई परीक्षा संभव नहीं है। यह कल्पना, यह धारणा, परीक्षकके मनमें कैसे उत्पन्न होती है? वैज्ञानिक खोजकी मर्मकथा यहींपर है। प्रथम तो किसी विशेष विषयमें आजतक जितनी परीक्षायें हुई हैं, परीक्षकको उनसे परिचित होना आवश्यक है। लेकिन इससे भी काम नहीं चल सकता। नयी खोज तभी हो सकती है जब नूतनके प्रति हम ध्यान दें। नूतन कल्पनाकी सृष्टि करना, नूतन सिद्धान्तको ध्यानमें ले आना, यही प्रतिभाका काम है।

पर्य्यवेक्षणके फलस्वरूप, केवलमात्र घटनाके संग्रह करनेसे ही, विज्ञानकी उन्नति नहीं होती है। प्रत्येक घटनाको एक संयोगसूत्रसे ग्रथित करके, उन घटनाओंको एक रीतिके, एक पद्धतिके अन्तर्गत कर लेना, वैज्ञानिक उन्नतिके मूलमें प्रधान बात है। 'टाइकोब्राही' ने अद्भुत अध्यवसायके साथ अनेक घटनाओंका संग्रह किया था। लेकिन जिस समय 'केपलर' ने उन्हीं घटनाओंके आधारपर एक नवीन सिद्धान्तकी स्थापना की, तभी वैज्ञानिक-जगत्‌में युगान्तर उपस्थित हुआ। केपलरके सिद्धान्तको लेकर ही 'न्यूटन' ने अपनी प्रतिभाके बलसे वैज्ञानिक जगत्‌में विप्लव मचा दिया। अवश्य यह भी सत्य है कि 'टाइकोब्राही' की संगृहीत घटनाओंके न मिलने-पर, 'केपलर' के लिये किसी नूतन सिद्धान्तकी स्थापना करना सम्भव न होता। तथापि यह और भी सत्य है कि किसी नूतन सिद्धान्तकी परिकल्पनाकी सहायता न लेते हुए विज्ञानकी उन्नति कभी भी नहीं हो सकती है। घटनाओंके समावेशसे ही सिद्धान्तकी उत्पत्ति नहीं होती है। एवं समय-समयपर किसी विशेष घटनाके प्रति ध्यान न रखते हुए भी, अति नवीन, युगान्तरकारी वैज्ञानिक सिद्धान्तका उद्भव हुआ है। उदाहरणार्थ 'मैक्स प्लांक' की 'क्वान्टम थ्योरी'को ले लीजिये। 'क्वान्टम थ्योरी' क्या है इसकी आलोचना अभी नहीं करूँगा। लार्ड रदरफोर्डने इस थ्योरीके बारेमें ऐसा कहा था कि पहले-पहल कुछ दिनोंतक इस बातका कोई प्रमाण नहीं मिला कि यह थ्योरी सत्य है अथवा नहीं।

[देखिये—"Where is Science Going" by Max Planck P. 19: Lord Rutherford writes about the Quantum theory as follows:—

"It was difficult at first to obtain any convincing proof of the correctness of the theory and the deductions that follow from it."]

अर्थात् परीक्षागारमें तथ्य संग्रह करनेसे ही तत्त्वका उद्भव नहीं होता है। विभिन्न तथ्योंमें क्या सम्बन्ध है, इसका अनुमान करना मानसिक शक्तिपर निर्भर करता है। बहुत-सी अभिनव वैज्ञानिक खोजके मूलमें ऐसी भी बात थी कि प्रचलित वैज्ञानिक धारणाओंके विरुद्ध जाकर प्रतिभावान् व्यक्तिने मानसिक शक्तिके एकाग्र प्रयोगसे एकदम नूतन तथ्यका आविष्कार किया है। इस आविष्कारके साथ पूर्वापरका कोई सम्बन्ध नहीं था। युक्तिकी कोई शृङ्खला नहीं थी। जिस समय मनुष्य एक ही विषयपर एकाग्र मनःशक्तिका प्रयोग करता है उस समय वह अपनी मनःशक्तिके द्वारा प्रकृतिके गूढ़ रहस्यको जान लेता है। आधुनिक संसारकी सबसे विस्मयकर वस्तु बेतारका तार भेजनेके विज्ञानके आविष्कारके मूलमें 'मैक्सवेल' साहबका एक नूतन गणित-सूत्रका आविष्कार है। इस प्रकारसे तथ्यसे तथ्यका आविष्कार होता है। मैक्स प्लांकने आधुनिक विज्ञानमें युगान्तरकारी परिवर्तन किया है। उसी मैक्स प्लांकका कहना है—

"It is not true, as has often been stated in physicist circles, that in the exposition of an hypothesis the explorer must draw the material for his ideas solely and strictly from those original data which have been definitely furnished by the results of the research measurements. This would mean that the formative concepts which give shape to an hypothesis must be strictly independent of all theoretical origin. That is not so. For on the one hand, every hypothesis—as a factor in the picture of the external universe presented by the physicist—is a product of the freely speculating human mind; and, on the otherhand, there are no physical formulae whatsoever which are the immediate results of research measurements. The opposite is the case. Every measurement first acquires its meaning for physical science through the significance which

a theory gives it. , Anybody who is familiar with a precision laberatory will agree that even the finest and most direct measurement—such as those of weight and current—have to be corrected again and again before they can be employed for any practical purpose. It is obvious that these corrections cannot be suggested by the measurement process itself. They must first be discovered through the light which some theory or other throws upon the situation; that is to say, they must arise from an hypothesis. The truth of the whole matter is that the inventor of an hypothesis has unlimited scope in the choice of whatever means he may deem helpful to his ultimate purpose. He is not hindered by the physiological tendencies towards constructive picturing which are a feature of the activity of his own sense-organs. Nor is he restricted by the guiding hand of his physical measuring-gear. With the eye of the spirit he penetrates and supervises the most delicate processes that unfold themselves in the pattern of the physical universe which unrolls before him. He follows the movements of every electron and watches the frequency and form of every wave. He even invents his own geometry as he goes along. And so with his spiritual working-gear, with these instruments of ideal exactitude, he takes a personal part, as it were, in every physical process that happens before him. And all this is for the purpose of pushing through these difficult thought experiments—which are a factor of every research process—to the final establishment of conclusions that will be of wide application. Naturally all such conclusions have, at the outset of their statement, nothing to do with the real research measurements. And therefore an hypothesis can never be declared true or false in the light of such measurements..." "a merely physical measuring process tells us just as little about the accerent which we are to give of the physical universe as it does about the reality of that universe itself......The measurement itself gives no immediate results that have a meaning of their own.........it is the task of science to try to establish the meaning of the abovementioned connection,......the...task can be accomplished only by the speculative mind of the researcher". (See pages 92-95 of "Where is Science Going?" by Max Planck)

अर्थात् 'मैक्स प्लांक' साहब अविचलित स्वरसे ललकारकर यह कह रहे हैं कि केवलमात्र नाप-तौलसे वैज्ञानिक आविष्कार कभी भी नहीं हो सकता है। यहाँतक कि नाप-तौल भी करते समय बीसों दफे प्रत्येक वैज्ञानिकको अपनी भूल सुधारनी पड़ती है। और यह सुधारनेका काम तभी सम्भव है जब इस नाप-तौलके अतिरिक्त सिद्धान्तके प्रति भी हम कुछ ध्यान रखें। केवल नाप-तौलकी सहायतासे नाप-तौलकी भूल हम नहीं निकाल सकते। 'प्लांक' साहब कहते हैं कि वैज्ञानिक अनुसन्धान-कार्य वैज्ञानिककी ध्यान करनेकी शक्तिपर अत्यधिक निर्भर है। केवल नाप-तौलके आँकड़ेसे ही विश्वका कुछ परिचय नहीं मिल सकता। उदाहरणार्थ एक दृष्टान्त ले लीजिये—मान लीजिये एक तिरछे तख्तेके ऊपरसे एक विराटकाय हाथी दस फीटकी ऊँचाईसे नीचेकी तरफ फिसलकर गिर रहा है। हाथीके तौलके आँकड़ेको लिया गया, ऊँचाईके आँकड़ेको लिया गया, मध्याकर्षणशक्तिके आँकड़ेको लिया गया, तख्तेपरसे गिरनेमें जो रुकावट है उसके आँकड़ेको भी लिया गया, एवं प्रथम जिस वेगसे हाथीने फिसलना प्रारम्भ किया उस वेगके आँकड़ेको भी लिया गया। अब इन आँकड़ोंकी सहायतासे, गणितशास्त्रके सूत्रके अनुसार हिसाब करके यह बताया जा सकता है कि कितने समयमें हाथी नीचे जमीनपर आकर पहुँचेगा। अब यह समयका ज्ञान अथवा हाथीके तौलकी संख्यासे हाथीका ज्ञान, गणितशास्त्रके सूत्रसे नहीं प्राप्त हो सकता है। इसी प्रकारसे विज्ञानकी नाप-तौलसे विश्वका स्वरूप क्या है, अथवा विश्वका अन्तिम परिणाम क्या है इसका पता नहीं चल सकता है।

तो यह भी प्रश्न किया जा सकता है कि इसी वैज्ञानिक नाप-तौलकी सहायतासे ही तो हवाई जहाज, रेडियो, वायरलेस, आदिके अद्भुत आविष्कार हुए हैं ? फिर हम कैसे कह सकते हैं कि वैज्ञानिक नाप तौलकी सहायतासे प्रकृतिके गूढ़ रहस्यका पता नहीं चल सकता ? इसी बातको समझनेके लिये यह आवश्यक है कि हम वैज्ञानिक खोजकी प्रणालीको अच्छी तरह समझ लें। वैज्ञानिक खोजके अधिकांश अवसरोंपर वैज्ञानिकगण अनुसन्धानकार्यमें प्रवृत्त होनेके पहले ही अपनी एक धारणा बना लेते हैं, और तब वे यह खोज करना प्रारम्भ करते हैं कि वह धारणा सत्य है अथवा मिथ्या। कभी तो वह धारणा सत्य निकलती है और कभी मिथ्या। और कभी-कभी उस खोजके परिणाममें, अचम्भामें डालनेवाली कुछ नवीन बातोंका पता चल जाता है, जैसे केंचुआ खोदते-खोदते साँप निकल आता है। यथार्थमें जब मनुष्यका मन एकाग्र होकर ध्यानमें लग जाता है, तभी, उसी ध्यानावस्थामें नवीन वस्तुका प्रथम दर्शन होता है। इसीको 'योग' कहते हैं। योगकी विषय-वस्तु आत्मा हो सकती है, कीटाणु हो सकता है, इलेक्ट्रान हो सकता है, आकाश हो सकता है एवं इसी प्रकारसे अन्य वस्तु भी हो सकती है। वैज्ञानिकगण इस योगके नियमको नहीं जानते हैं, लेकिन व्यावहारिकरूपमें वे एक प्रकारका 'योग' ही करते हैं।

गुरुकी कृपा

(कहानी)

(लेखक—श्री'चक्र')

'तू यहाँ कैसे आया ?'

'महाराज ! करूँ भी क्या, पापी पेट जहाँ भी भेज दे, जाना ही होगा।' महाराजजीके प्रश्नके उत्तरमें देवप्रसादने कहा।

'तेरे और कोई हैं ?'

'स्त्री थी, पर उसका देहान्त हो गया। भाई तथा उनका परिवार है।'

'यदि तुझे अपने पेटकी चिन्ता न रहे तो फिर संग्रह या घरका ध्यान तो नहीं आवेगा ?'

'नहीं आवेगा।'

'एक बार और सोच ले।'

'भली प्रकार सोच लिया। जिनके द्वारा अपमानित होकर मुझे घर छोड़कर काशीसे बम्बई आना पड़ा, जिन्होंने मेरी थोड़ी भी सहायता नहीं की, उनसे मेरा क्या सम्बन्ध। घरपर मेरा कौन है ? माता-पिता रहे ही नहीं, मेरे बाल-बच्चे भी नहीं। मैं क्यों घरके झगड़ेमें पड़ूँ ? जिनका घर है वे उसे देखें। मुझे तो सम्मानके साथ जीवननिर्वाहकी सामग्री मिल जावे, बस यही पर्याप्त है।'

'अच्छा फिर देखा जायगा कि इन बातोंमें कितना तथ्य है। सेठजी ! इस मनुष्यको मेरे कहनेसे पाँच सौ मुद्राएँ दान कर दीजिये।' महात्माजीके समीप हाथ जोड़े एक बम्बईके बहुत बड़े सेठ बैठे थे। वे भी महात्माजीके दर्शनोंको ही आये थे। उन्होंने हाथ जोड़कर कहा 'जो आज्ञा।'

सेठजीने उठकर ड्राइवरसे कुछ कहा। अकेला ड्राइवर ही मोटर लेकर चला गया। थोड़ी देरमें मोटर लौटी। ड्राइवरने लाकर एक नोटोंका पुलिन्दा सेठजीको दे दिया।

सेठजीने पुलिन्दा बड़ी नम्रतासे महात्माजीके पास रख दिया। महात्माजीने पूछा 'कितने हैं ?'

'एक हजार।'

'इनमेंसे पाँच सौ तो इसे दे दो और शेषको जब दानके लिये निकाल दिया तो दान कर देना।'

सेठजीने पाँच सौ रुपयोंके नोट गिनकर देवप्रसादको दे दिये। शेष उठाकर रख लिये। महात्माजीने पूछा 'इस धनपर तुम्हारा कोई स्वत्व है ?'

'कुछ भी नहीं ?'

'इसके द्वारा जो कुछ तुम्हें प्राप्त हो उसपर तुम्हारा स्वत्व हो सकता है ?'

'नहीं'

'अच्छा इसे ले जाओ। इससे एक हलवाईकी दूकान खोल लो। सम्मानपूर्वक सुखसे तुम्हारा जीवन-निर्वाह हो जायगा। इस धनको या इसके द्वारा प्राप्त धनको अपना मत समझना। तुम स्वयं अपने सुखके लिये इसका उपयोग कर सकते हो, दान-पुण्य भी कर सकते हो, पर कुकर्ममें लगाने या घर भेजनेकी चेष्टा मत करना। जाओ उद्योग करो।'

देवव्रत अत्यन्त कृतज्ञतासे महात्माजीके चरणोंमें प्रणाम करके चलने लगा। महात्माजीने जाते समय अपने-आप कुछ गुनगुनाते हुए-से कहा 'अभी समय नहीं है, समय आने दो। तुम्हारे मनमें सांसारिक भोगोंके भोगनेकी लालसा भरी है, उसे भी कुछ भोग लो। यह घरवालोंसे घृणा कबतक रहेगी। तुम इन संसारके विषयोंमें रहनेके लिये ही नहीं आये हो। उसका समय आने दो, तुम्हें अपने सत्यपथपर बढ़ना होगा।'

किसीने कुछ भी न समझा। सभी जानते थे कि महात्माजी कभी-कभी ऐसे ही कुछ पागलोंसे बड़बड़ाते रहते हैं। देवव्रत पुनः प्रणाम करके चला गया। धीरे-धीरे दूसरे लोग भी चले गये।

(२)

बेचारा देवव्रत खेतपर काम करके थका हुआ घरपर आया था। भूख लग रही थी, भोजन करने गया। बड़े भाईकी स्त्रीने सूखी रोटियाँ लाकर सम्मुख रख दीं।

'भाभी ! तनिक नमक भी दे दो।'

'क्यों, तुम तो घरमें नमक खरीदकर रख गये हो न ? नमक नहीं है, ऐसे ही भोजन करना पड़ेगा।'

देवव्रत घरमें अकेला-सा ही था। उसके दो बड़े भाई थे। भाइयोंकी स्त्रियाँ तथा बड़े भाईको एक लड़का भी था। विवाह तो देवव्रतका भी हुआ किन्तु, उसकी पत्नीका विवाहके दो महीने पश्चात् ही देहान्त हो गया। माता-पिता रहे नहीं थे। भाई देवव्रतसे स्नेह नहीं करते थे।

घरपर खेती होती थी। देवव्रत सबसे अधिक कार्य करता था, पर सबसे खराब भोजन उसीके भागमें पड़ता। भाभियाँ उसके लिये पृथक् मटरकी रोटियाँ बनातीं। मजदूरसे भी अधिक घरमें वह अपमानित होता।

आजके भाभीके शब्द युवकके हृदयपर लगे। वह इतना परिश्रम करता है, पर उसे नमकके लिये भी इतना अपमानित होना पड़ता है ! उसने रोटियाँ छोड़ दीं। रोता हुआ उठकर बाहर आया। अपना फटा कुर्ता पहनकर स्टेशनकी ओर चल पड़ा।

किसी प्रकार छिपते-छिपाते, टिकट-चेकरोंकी दृष्टिसे बचते हुए वह बम्बई पहुँच गया। भाग्य अच्छे थे, बम्बईमें उसे अपने यहाँके एक परिचित मिल गये। वे यहाँ नौकरी करते थे। उन्होंने देवव्रतको अपने यहाँ ठहरने और भोजनका प्रबन्ध कर दिया।

देवव्रत सातवीं कक्षातक हिन्दी पढ़ा था। परिश्रमी भी था। वह बम्बईमें अपने योग्य कार्य ढूँढ़ने लगा। उसके परिचित सज्जन भी उसे किसी कार्यमें लगा देना चाहते थे।

देवव्रत कहीं कार्यकी खोजमें निकला था। उसके साथके व्यक्तिने पासके मकानके बाहरी चबूतरेपर लेटे हुए एक महात्माजीको दिखलाया। केवल कौपीन लगाये महात्माजी पृथ्वीपर ही लेटे हुए थे। उनका शरीर स्थूल तथा विशाल था, गौर वर्ण तथा मुख तेजोमय था। नेत्र तेजसे पूर्ण थे। आस-पास कुछ मेवे-मिष्टान्न आदि पत्तोंमें पड़े थे। कुत्ते और कौवे उन्हें खा रहे थे।

उस साथके व्यक्तिने बताया 'ये सिद्ध महापुरुष हैं। आप पाँच-सात दिन हुए यहाँ आये। जबसे आये इसी स्थानपर ऐसे ही लेटे हैं। उठनेका नाम भी नहीं लेते। कोई कुछ भी पास लाकर रख जावे, उसे देखते ही नहीं। जिसपर बहुत प्रसन्न होते हैं उससे बोलते हैं। कोई अपने हाथसे कुछ खिलावे तो प्रसन्न हुए तो एक-दो ग्रास ले लेते हैं। नहीं तो ऐसे ही कुत्ते-कौवे खाते रहते हैं।'

देवव्रत स्वभावतः श्रद्धालु एवं आस्तिक था। महात्माजीके पास हाथ जोड़े बैठे हुए बड़े-बड़े धनी-मानी पुरुषोंने उसे और प्रभावित किया। वह भी जाकर महात्माजीको प्रणाम कर एक ओर हटकर बैठ गया।

(३)

देवव्रतने महात्माजीके दिलाये रुपयोंसे बाजारमें एक भाड़ेका मकान लेकर मिठाइयोंकी दूकान खोल ली। दूकान चल निकली। धीरे-धीरे नौकरोंकी संख्या बढ़ने लगी। अन्तमें दूकानका काम केवल नौकर ही करने लगे। देवव्रत केवल देख-भाल कर लिया करता था। वह अब लखपती हो चुका था।

देवव्रतको पहले दिनके पश्चात् पुनः उन महात्माजीके दर्शन नहीं हुए। वे उसी दिन बम्बईसे कहीं रमते राम हो गये।

अपने सुखके साथ देवव्रत दान-पुण्य भी बहुत करता था। दूकानसे प्राप्त द्रव्यका उसने कभी अपव्यय नहीं किया।

देवव्रतको दूकान करते हुए तीन वर्ष हो गये। उसे किसी प्रकार समाचार मिला कि घरपर भाई बड़े संकटमें हैं। जमींदारने लगानका दावा किया है। यदि लगान नहीं दी गयी तो खेत तो बेदखल हो ही जायँगे, घर भी नीलाम हो जायगा। उसने सोचा 'जैसे और सब दीनोंको दान किया जाता है, वैसे ही दो सौ रुपये भाइयोंको भी दान कर दिया जाय।' मनीआर्डर लिखने बैठ गया।

सहसा लेखनी काँपी, फार्म पूरा भरा जा चुका था, इसी समय हृदयकी गति बन्द हो गयी। समीपके सेवकने स्वामीको गिरते देखकर सम्हाला। देवव्रतकी मृत्युसे कुहराम मच गया। बम्बईमें उससे बड़े-बड़े लोग परिचित थे। जिसे भी समाचार मिला दौड़ा-दौड़ा आया। डाक्टर भी आये, पर अब अवसर निकल चुका था। मकानपर बहुत बड़ा जनसमुदाय एकत्र हो गया।

देवव्रतका शव वस्त्राच्छादित करके श्मशानके लिये ले जानेको रखा जा चुका था। भीड़को चीरते हुए वे देवव्रतको रुपया दिलानेवाले महात्माजी इस समय आ पहुँचे। महात्माजी क्रोधित-से जान पड़ते थे। वे कह रहे थे 'यह बेईमान है। इसने मेरी सम्पत्ति हड़प ली है। इसे ऐसे ही नहीं मरने दूँगा। मरने चला है, चोरीका फल कौन भोगेगा?'

सब लोग भयसे पीछे हट गये। महात्माजीने शवके बन्धन तोड़ दिये। वस्त्र उठाकर फेंक दिया। पैर पकड़कर शवको पृथ्वीपर घसीटने लगे। क्रोधसे बीच-बीचमें शवपर पाद-प्रहार भी करते जाते और अपनी बातोंको दुहराते भी जाते। 'और चोरी करेगा? तनिक देख तो परायी सम्पत्तिका आनन्द!'

बुरा सबको लग रहा था। पर महात्माजीकी क्रोध-मुद्रासे सब भयभीत थे। एक सिद्ध महापुरुषको छेड़नेका उनमें साहस नहीं था। साथ ही सब लोग आश्चर्यमें भी थे। महात्माजीका ध्यान कहीं भी नहीं था। वे उस शवको घसीट-घसीटकर पीट रहे थे।

'आह! मरा रे मरा। मुझे छोड़ दीजिये। क्षमा कीजिये, अपराध हो गया। हाय! अब ऐसा

फिर कभी नहीं करूँगा ।' आश्चर्य ! उस शवमें जीवन आ गया और वह रोकर क्षमा माँगने लगा ।

महात्माजीने पैर छोड़कर एक बार फिर वेगसे पदाघात किया । पुनः जीवित हुआ देवव्रत उनके चरणोंमें गिर पड़ा । महात्माजीने पूछा 'अभी सांसारिक सुख भोगनेकी इच्छा तृप्त हुई या नहीं ?'

'प्रभो ! सब तृप्त हो गयी । अब तो इन पावन चरणोंमें स्थान मिले ।'

'अच्छा, यह सब ऐश्वर्य और सम्पत्ति दीनोंको वितरण करके ठीक तीसरे दिन प्रातः तत्पर रहो ।'

महात्माजी विना किसीसे कुछ कहे जैसे आये थे, वैसे ही चले गये । देवव्रत उसी समयसे सब सम्पत्ति दीनोंको देने लगा । दूकान, दूकानकी सामग्री, घर, घरके सब साज-सामान यहाँतक कि वस्त्र भी बेचकर दान कर दिये ।

तीसरे दिन प्रातः महात्माजी आये । देवव्रतसे शरीरपरके वस्त्र भी उतरवा दिये । कौपीनधारी बनाकर अपने साथ कहीं ले गये ।

ठीक बारह वर्ष बाद देवव्रत किसी दूसरे रूपमें लोगोंके सम्मुख आये । एक गुफामें बैठाकर गुरुने बारह वर्ष अपने सम्मुख उनसे साधन कराया । गुरु भिक्षा भी स्वयं ही कर लाते थे । बारह वर्षतक देवव्रत गुफासे बाहर भी नहीं आने पाये । साधनके अन्तमें जब वे उस परमसाध्यको प्राप्त कर चुके तो गुफासे निकलनेकी आज्ञा मिली ।

नारी
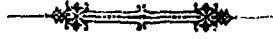
पाश्चात्य समाजमें और हिन्दूसमाजमें

(लेखक—श्रीचारुचन्द्र मित्र, एटर्नी-एट-ला)

पाश्चात्य देशोंमें समाज-रचनाके दोषसे नारियोंको कितनी विपत्तियोंका सामना करना पड़ता है, पिछले लेखमें यह बात कुछ अंशोंमें दिखायी गयी है । अब उसके अन्यान्य कुपरिणामोंकी आलोचना की जाती है और पाश्चात्योंकी नकल करनेसे हमारे यहाँ नारियोंकी कितनी भयानक दुर्दशा होगी और क्रमशः हो रही है, यह दिखलाया जाता है ।

पश्चिममें व्यक्तितान्त्रिक समाज है—सबको अपने ही ऊपर निर्भर करना पड़ता है । उन लोगोंकी इस प्रथाको देखकर आज हमारा शिक्षित समाज भी अपनी पूर्वप्रचलित संयुक्तपरिवारकी प्रथाको दूषित समझने लगा है, पाश्चात्य शिक्षाके विस्तारसे हमारा समाजसंगठन आज भग्नप्राय हो गया है—संयुक्त-परिवार-प्रथाकी नींव—घरवालोंका परस्परके प्रेमवश स्वाभाविक ही एक दूसरेकी सहायता करना और इसके लिये अपनेको बाध्य समझना प्रायः लुप्त हो गया है । हम आज पाश्चात्योंकी भाँति व्यक्ति-तान्त्रिक हो चले हैं और इसीमें देशका कल्याण समझने लगे हैं । लड़कपनमें हमने देखा था कि संयुक्तपरिवार कहीं टूट न जाय, पुरुषोंका आपसका झगड़ा मिट जाय, इसके लिये घरोंकी स्त्रियाँ चेष्टा करती थीं । आज देखते हैं कि बहुत-सी जगह स्त्रियाँ ही संयुक्तपरिवारको तोड़नेकी चेष्टा कर रही हैं । इसके फलस्वरूप नारियोंकी कितनी भयानक दुर्दशा होगी और पाश्चात्य जगत्में नारियोंकी कितनी अधिक दुर्दशा है; इसी बातको यहाँ दिखलाना है । प्रायः सबको, सिर्फ अपनी ही आमदनीपर निर्भर करनेकी प्रथा होनेसे वहाँ बहुत-से नर-नारियोंको दीर्घ-कालतक—किसी-किसीको जीवनभर अविवाहित रहना पड़ता है । हमारी अपेक्षा बहुत अधिक धनी इंगलैंडमें हमारे देशकी तुलनामें कितनी अल्प-संख्यक स्त्रियाँ विवाह कर पाती हैं और वह भी किस उम्रमें, इसको नीचे दिये हुए इंगलैंड और बंगालके संख्याकोष्ठकोंमें देखिये । (Statistical abstract of England and Census Report of Bengal से हर उम्रके एक हजार नर-नारियोंमें कितने अविवाहित हैं ।)

	अविवाहित पुरुष		अविवाहित नारी	
उम्र वर्ष	इंगलैंडमें संख्या	बंगालमें संख्या	इंगलैंडमें संख्या	बंगालमें संख्या
०–५	१०८०	९९६	१०००	९९२
५–१०	१०००	९९०	१०००	९०९
१०–१५	१०००	९५०	१०००	३७८
१५–२०	९९८	७६६	९८८	५५
२०–२५	८५७	५१०	७५७	२०
२५–३०	४९२	११३	४३४	१२
३०–३५	२७३	५८	२७०	१०
३५–४०	१८६	३०	२१०	७
४०–४५	१४८	२६	१८०	७
४५–५०	१२७	१९	१६५	५
५०–५५	११४	१७	१५०	५

सन् १९२१ ई० की बंगालकी मनुष्य-गणना-रिपोर्टमें इंगलैंड और वेल्सकी बंगालके साथ तुलना करके लिखा गया है कि १५ वर्षसे अधिक उम्रकी जहाँ हमारे यहाँ एक हजारमें केवल १८ नारियाँ अविवाहिता हैं, वहाँ इंगलैंड और वेल्समें ३९० अविवाहिता हैं। इससे पता लगता है कि इंगलैंडमें कितनी प्राप्तवयस्का स्त्रियाँ कितनी बड़ी उम्रतक अविवाहिता रहती हैं और उसका क्या फल होना अनिवार्य है;—१३, १४ वर्षकी अवस्थासे कामकी जाग्रति होने लगती है, मातृत्वके अङ्ग भी पूर्ण हो जाते हैं, अतएव उसे चरितार्थ करनेके लिये प्रकृतिसे प्रेरणा मिलती है और वह उन्हें अपने मनोनुकूल युवकोंके प्रति दौड़ाकर ले जाती है—उनका संग भी प्रिय मालूम होता है। युवकोंको भी युवतियोंका संग प्रिय प्रतीत होता है। ऐसी अवस्थामें किसी-किसीमें प्रेम भी उत्पन्न हो जाता है और उसे घनिष्ठरूपसे प्राप्त करनेकी इच्छा भी जाग उठती है। उपर्युक्त सूचीसे पता लगता है कि तीस वर्षके प्रायः आधे युवक-युवतियाँ अविवाहित हैं। १३-१४ वर्षकी अवस्थासे लेकर इतने लंबे समयतक अविवाहित अवस्थामें युवतियाँ कितने ही मनोनुकूल युवकोंके प्रति आकर्षित होती हैं, उनके साथ मिलती हैं, उनके प्रीति पैदा करनेवाले वार्तालापमें रस लेती हैं, मन-ही-मन कितनी आशाके मधुर स्वप्न देखती हैं—कुछ समयतक विवाहके प्रस्तावकी प्रतीक्षा करती हैं, परन्तु उन युवकोंमेंसे—ऊपरसे मौखिक प्रेम प्रकट करनेमें पराङ्मुख न होनेपर भी तथा अंग-संग करनेकी इच्छा रखनेपर भी विवाहका जुआ कन्धेपर उठानेको कोई तैयार नहीं होता। इससे विफलमनोरथ होकर अनादर और उपेक्षा अथवा आशाभंगके भारी दुःखभारको हृदयके अन्तस्तलमें छिपाकर ऊपरसे हँसते हुए उन्हें फिर अपने मनोनुकूल युवकोंकी तलाशमें जाना पड़ता है और उनके साथ फिर पहलेकी भाँति मन मिलानेकी चेष्टा करनी पड़ती है।

प्रायः सभी पाश्चात्य कवियोंने एक स्वरसे प्रथम प्रेमके श्रेष्ठत्व और स्थायित्वको स्वीकार किया है। परन्तु पाश्चात्य नारियाँ (पुरुष भी) इस प्रथम प्रेमसे तो प्रायः सभी वञ्चित ही रहती हैं। वह (प्रथम प्रेम) आकाशकुसुमको पानेकी भाँति प्राप्त न होने योग्य पात्रके प्रति जगकर तुरन्त ही विलीन हो जाता है—हृदयमें एक तीखी कड़ुवास छोड़ जाता है—बहुत-से स्थलोंमें उसकी स्मृति—केवल पीछेसे होनेवाले वैवाहिक जीवनके सुखमें विघ्नरूप होनेके लिये ही बीच-बीचमें जाग उठती है। नयी उम्रमें इस प्रकार ठुकराये जानेका अपमान और आशाभंगका भारी भार अधिकांश युवतियोंको कितनी बार उठाना पड़ता है, इसका हिसाब कौन रखता है? युवतियाँ जिनको सुयोग्य समझती हैं—जिनके प्रति आकर्षित होती हैं उन्हींसे बदलेमें बार-बार ऐसा निष्ठुर व्यवहार प्राप्त करना क्या ग्रीकपुराणके टैंटेल्सके अत्याचारके समान ही नहीं है? इससे उन युवतियोंके हृदयमें विष पैदा होना और पुरुष-जातिमात्रके प्रति विद्वेष हो जाना कौन-सी आश्चर्यकी बात है?

पाश्चात्य जगत्‌में आज स्त्रियों और पुरुषोंमें, जो पहलेके इतिहासोंमें कहीं नहीं पाया जाता ऐसा, प्रकृतिविरुद्ध विद्वेष जाग उठा है, इसको सभी समाजतत्त्वविद् लोग जानते और स्वीकार करते हैं। यह विद्वेष केवल धनोपार्जनके कार्योंमें सुविधा न पानेके और परस्परकी प्रतियोगिताके कारण नहीं है, युवतियोंके अनादर और उपेक्षाके साथ ठुकराये जानेका अपमान भी इसका एक खास कारण है। एक प्रधान कारण और भी है। इस प्रकार लगातार बहुत दिनोंतक मनोवाञ्छित युवकोंके साथ विवाह न होनेपर युवतियोंको क्रमशः बाध्य होकर विवाहकी आशा छोड़ देनी पड़ती है। इधर प्रकृतिकी ताड़ना है। हृदयकी शून्यता है। उधर स्त्रीजातिमात्रमें ही स्थायित्वके प्रति प्राकृतिक आकर्षण है—अपने और अपनी सन्तानके लिये ही पहले गृहनिर्माणकी कल्पना हुई थी—फिर धनकी भी आवश्यकता है, बहुतोंको तो सम्भवतः ऐसे समयमें धन कमाने जाकर अपनी बड़ी फजीहत करानी पड़ती है। पाश्चात्य युवतियोंको नित-नयी सुन्दर पोशाकोंसे सजकर भाँति-भाँतिके आमोद-प्रमोदके और

लोक-समागमके स्थानोंमें जाना पड़ता है—खास करके मनोनुकूल युवकोंसे मिलकर रहनेकी आशासे। ऐसा करनेमें बड़ा खर्च लगता है जो धनी अभिभावकोंके लिये भी क्रमशः नाराजीका कारण बन जाता है, और इसके लिये युवतियोंको बहुत बार घरमें ही जली-कटी बातें सुननी और सहनी पड़ती हैं।

परन्तु युवतियाँ देखती हैं कि मनोहर वेशभूषा, नाच-गानमें निपुणता, मजलिसोंकी बातें, खेल-नाटक सामयिक-राजनीति और समाचारपत्रोंके चलते हुए प्रसंगोंमें शामिल होनेकी योग्यता आदि बाह्य गुणोंसे ही प्रधानतः युवकोंका मन खिंचता है। पश्चिममें वे लोग Ladies' men के नामसे पुकारे जाते हैं, ऐसे लोग प्रायः अकर्मण्य होते हैं और विविध पुष्पोंपर बैठनेवाली तितलीकी तरह युवतियोंके मन-हरण करके अनेकों बार उनका सर्वनाश करके खिसक पड़ते हैं। ऐसे समयमें सच्चे गुणोंको देखनेकी प्रायः युवक-युवतियोंमें न तो शक्ति होती है, न अनुभवयुक्त ज्ञान होता है, न उन्हें अवसर ही मिलता है। युवक-युवतियाँ नाटक-उपन्यासादि पढ़कर,—जिनमें वास्तविकता बहुत ही थोड़ी होती है—सिनेमाओंमें उपभोगके उद्दाम चित्रोंको देखकर, मन-ही-मन दाम्पत्य प्रेमका एक बहुत ऊँचा असम्भव आदर्श गढ़ लेते हैं। कुछ तो ऐसी आशा कर बैठते हैं—'ऐसा मनगढ़ंत मनोनुकूल पात्र एक दिन अकस्मात् ही आकर मिल जायगा —और उसी क्षण नाटक-उपन्यासके वर्णनके अनुसार हमलोग एक-दूसरेके प्रति अदम्य आकर्षणसे खिंच जायँगे। सारी विघ्नबाधाएं कुछ ही समयमें जादूकी तरह आप ही हट जायँगी और फिर जीवनभर सुखके अथाह समुद्रमें डूबे रहेंगे।' इसीलिये आजकल अधिकांश युवक-युवती खुद पसंद करके अपने योग्य पात्री और पात्र चुनकर विवाह करनेकी चालको—जो अनेकों पाश्चात्य देशोंमें प्रचलित है—उत्तम और श्रेष्ठ समझते हैं, और अपने यहाँकी माता-पितादि अभिभावकोंके द्वारा निर्वाचित विवाहप्रथाको दूषित और नारीनिग्रहका आदर्श बतलाते हैं। उपन्यासादिमें अधिकांश जगह नायक-नायिकाके पूर्वरागका वर्णन करके उनका विवाह करवा दिया जाता है, और इसके बाद परदा गिर जाता है। अगले दाम्पत्य जीवनका चित्रण उनमें नहीं देखा जाता। अतएव नाटक-उपन्यासादिसे दाम्पत्य जीवनकी कोई यथार्थ धारणा नहीं होती—वह तरुण अवस्थाकी उद्दाम कल्पना और आशा भर ही रह जाती है। फिर वह मनका मनुष्य कैसा है—जिसको विवाहित जीवनके घनिष्ठ सम्पर्कमें पाकर सम्पूर्ण जीवन सुखसे कटेगा—इसकी कोई सुस्पष्ट धारणा भी नहीं होती—अथवा वह इतने गुणोंसे युक्त है कि पृथ्वीमें कहीं उसकी समताका कोई है ही नहीं। इसके अतिरिक्त, मनुष्यके मनकी अवस्था भी सदा ही बदलनेवाली है, खास करके यौवनकालमें, इस समय जो अच्छा लगता है, दो दिनके बाद उससे बिल्कुल ही मन हट जाता है। अतएव किस प्रकारके मनुष्यके साथ—उसके सम्पर्कमें आकर जीवनभर सुखसे बीतेगा, इसकी कुछ भी स्थिरता नहीं है। फिर सहसा यह पता भी कैसे लगे कि कौन किस प्रकृतिका है! बहुदर्शी संसाराभिज्ञ बुद्धिमान् पुरुष भी किसीके चरित्रके बारेमें कुछ दिनोंके परिचयमें बहुत बार धोखा खा जाते हैं फिर युवावस्थामें तो भ्रान्ति या धोखा होना बहुत ही सम्भव है। प्रथम तो हम किसी दूसरे मनुष्यके चरित्रका बहुत थोड़ा ही भाग स्पष्ट देख पाते हैं, शेषकी तो अपनी अभिज्ञता या कल्पनाकी सहायतासे पूर्ति कर लेनी पड़ती है; उसमें भूल होना बहुत सम्भव है। फिर, ज्यों-ज्यों सभ्यताका विकास हो रहा है त्यों-ही-त्यों मनुष्य अपने दोषों और भूलोंको बड़े यत्नके साथ छिपाना सीख रहे हैं—साथ ही किसीके मतविरुद्ध कोई काम करना या मत प्रकट करना भी बहुतोंको सुरुचिके विपरीत प्रतीत होता है, इससे लोग उसे भी नहीं करते। ऐसी अवस्थामें यथार्थमें कौन किस प्रकृतिका है, दूसरेके लिये इसका ठीक-ठीक जान लेना बहुत ही कठिन है।

फिर, युवक युवतियाँ जिनके प्रति आकर्षित होते हैं, अपनी उद्दाम कल्पनाके बलसे उनको अनेकों गुणोंसे ही विभूषित देखते हैं, साथ ही काम उन्हें मोहित करके चुपचाप उनकी आँखोंमें एक ऐसा जादूभरा अञ्जन लगा देता है कि जिससे उनकी दृष्टिमें वे सम्पूर्ण गुणोंके और सौन्दर्यके आधार ही दिखायी देते हैं; अतएव उनमें जो प्रेम दिखलायी देता है, वह असली मनुष्यके प्रति नहीं होता, वह काम और कल्पनासे गढ़े हुए एक नकली मनुष्यके प्रति ही होता है। परन्तु विवाह होनेके बाद घनिष्ठ सम्पर्कमें आनेपर कुछ ही दिनोंमें जब उसका असली स्वरूप प्रकट होता है—उसकी एक ऐसी मूर्त्ति सामने आती है, जिसकी कभी आशा या कल्पना भी नहीं की थी; तब स्वाभाविक ही कलह आरम्भ होता है और मनमें अपने धोखा खा जानेका निश्चय हो जाता है। विवाहित जीवनकी सारी सुख-शान्ति नष्ट हो जाती है, इसीलिये बहुत-से स्थलोंमें तलाककी नौबत आती है। हमारे इस कथनमें कितनी सत्यता है, यह दिखलानेके लिये फुटनोटमें Havelock Ellis लिखित Psychology of Sex का अवतरण

पढ़िये।* इससे आपको मालूम हो जायगा कि अपने-आप पसंद करके विवाह करनेसे विवाहित जीवनमें सुखकी आशा कितनी थोड़ी है; इसपर भी आजकलके बहुतेरे सुधारक अपने-आप पसंद करके विवाह करनेको ही ठीक बतलाते हैं और अभिभावकोंद्वारा निर्वाचित प्रथाको नारी-अत्याचारका नाम देते हैं।

पहले कहा जा चुका है कि उपन्यासादिमें प्रायः केवल पूर्वरागका ही वर्णन पाया जाता है। विवाहित जीवनकी सुख-शान्तिका हृदयग्राही वर्णन बहुत थोड़ा देखनेमें आता है। विवाहके बाद ही यवनिका गिर जाती है। अगला जीवन कैसे सुखमें कटता है, यह बात पाठक-पाठिकाओंकी उद्दाम कल्पनापर ही छोड़ दी जाती है। अतएव दाम्पत्य-सुखकी कोई भी कल्पना युवक-युवतियोंको नहीं होती। नायक-नायिकाके पूर्वरागको पढ़कर बहुत-से तरुण-तरुणी दाम्पत्य-प्रेमकी एक बहुत ऊँची अद्भुत असम्भव धारणा कर बैठते हैं, मानो विवाहके बाद नायक-नायिकाएँ ज्योत्स्नाको निचोड़ कर उसमेंसे अमृत निकालकर उसको पीते हुए जीवन बितायेंगी; उनके यहाँ नित्य नव वसन्तका मलय-समीर बहता रहेगा, सङ्गीतसुधाका पान करते-करते ही उनकी रातें बीत जायँगी। दोनों जने चौबीसों घंटे आमने-सामने बैठे कला-चर्चामें और मौज-मजोंमें, परस्परके सम्मान-सत्कारमें ही बिता देंगे।' इसी कल्पनाके अनुसार वे आशा भी कर बैठते हैं!

परन्तु वास्तव जीवन एकदम ही काव्य नहीं है, अत्यन्त नीरस गद्य है। रोग, शोक, भाँति-भाँतिके झंझट, कलह, ईर्ष्या, दूसरोंके द्वारा अपमान और दुर्व्यवहारकी प्राप्ति उसके नित्य-नैमित्तिक व्यापार हैं। बहुतोंके लिये तो पेटकी चिन्ता ही सबसे बड़ी समस्या होती है। इसपर रुचिकर आहार सभीको चाहिये, घरकी सुघड़ता और सजावट भी आवश्यक है। ये सभी बातें देखनी पड़ती हैं, बीमारीमें सेवा करनी पड़ती है और बहुत तरहसे परिश्रम करना पड़ता है। इन सबके कारण बीच-बीचमें मिजाज बहुत बिगड़ जाता है; इसीलिये समय-समयपर आपसके व्यवहारमें न्यायका और अनुरागका अभाव हो जाता है। वह आदर्श प्रेमी और प्रेमिकाके अनुरूप भी नहीं होता। ऐसी हालतमें दोनोंमें ही सहिष्णुता, त्यागशीलता, सहानुभूति, श्रमशीलता, मितव्ययिता और शान्त तथा मधुर प्रकृतिकी अत्यन्त आवश्यकता है। रूप-सौन्दर्य, नाचने-गानेकी पटुता, मौजमजोंमें निपुणता, Binomial Theorem या Einstein की Theory of Relativity, अथवा चार्ल्स प्रथम कैसे राजा थे, और कार्ल मार्क्सकी Political Economy क्या है, इसके जानने न जाननेसे कुछ भी नहीं आता-जाता। दुःख तो यह है हमारे युवक-युवतियाँ इस तत्त्वपर विचार ही नहीं करते और मोहवश इन्हीं बाह्य गुणोंकी ओर आकर्षित होते हैं, और इन्हीं गुणोंसे युक्त जीवनसंगी पानेकी इच्छा रखते हैं।

फल यह होता है, इस प्रकारके नकली गुण और रूपसे रहित नारियोंकी दुर्गतिकी कोई सीमा नहीं रहती। उनके असली गुणोंकी ओर कोई नहीं देखता, उनकी सर्वत्र ही उपेक्षा होती है। आजकल कला (Art) के नामपर शारीरिक और अन्य बाह्य सौन्दर्यके प्रति, खास करके गोरी चमड़ीके प्रति ही युवकोंका विशेष लक्ष्य देखा जाता है। मनुष्यमें असली और प्रधान सौन्दर्य तो है उसके मन, हृदय अथवा चरित्रकी उज्ज्वलता और पवित्रता। उसीकी उपासना

* "She knows nothing truly of her husband. She knows nothing of the great laws of love—She knows nothing of her possibilities and worse still she is even ignorant of her own ignorance. A young girl believes she has a certain character; she arranges her future in accordance with that character. Then in a considerable proportion of cases (five out of six according to the novelist Bourget) within a year or even within a week, she finds she is completely mistaken in herself and in the man she is married, she discovers within her another self and that self detests the man she has married.

(Phychology of Sex. Vol. VI. P. 78-79)

वह अपने पतिके (चरित्रके) विषयमें वास्तवमें कुछ भी नहीं जानती, न वह प्रेमके महान् नियमोंको ही जानती है यहाँतक कि वह अपने चरित्रके सम्बन्धमें और भविष्यमें उसकी किस प्रकारकी अभिव्यक्ति होनेकी सम्भावना है, इस विषयमें भी बिल्कुल अनजान रहती है। (परन्तु समझती है कि मैं खूब जानती हूँ)। युवतीने अपने चरित्रके बारेमें एक धारणा कर रक्खी है और उसीके अनुरूप वह अपने भविष्यत्‌की व्यवस्था करती है। परन्तु उसके बाद बहुत-सी एक वर्षके अंदर, यहाँतक कि एक ही सप्ताहके अंदर (विख्यात उपन्यासरचयिता बोरजेटके मतानुसार ६ मेंसे ५) वह देखती है कि उन्होंने अपने और अपने पतिके चरित्रके सम्बन्धमें जो धारणा की थी, वह सर्वथा भूलभरी है। वह अपने अंदर किसी और ही आत्माको पाती है जो उस पतिसे घृणा करती है।

वास्तविक सौन्दर्यकी उपासना है। परन्तु इस असली सौन्दर्यकी ओर युवकोंकी दृष्टि नहीं है। जिन सब गुणोंसे वेश्याओंकी प्रतिष्ठा होती है, आज ठीक उन्हीं गुणोंके प्रति प्रायः युवकलोग आकर्षित होते हैं। युवतियाँ नित्य ही देखती हैं कि ऐसे बाहरी रूप और गुणोंसे बहुत-से मनचाहे युवकोंका मन खिंचता है। युवकोंमें ऐसे गुणोंवाली नारियोंसे विवाह करनेकी इच्छा रखनेवाले ही अधिक मिलते हैं। चरित्रहीना नर्तकी, गायिका और अभिनेत्रियोंका पाणिग्रहण चाहनेवालोंकी संख्या अधिक है। बहुतेरे ड्यूक, काउंट और लार्ड-ऐसी ही स्त्रियोंसे विवाह करते हैं। मनके, हृदयके और चरित्रके यथार्थ गुणोंको प्रायः कोई नहीं देखते; उन्हें देखनेकी शक्ति भी नहीं है और अवकाश भी नहीं है। अतएव युवतियोंको बाध्य होकर अपनेमें इन्हीं सब बाह्य गुणोंको लानेकी चेष्टा करनी पड़ती है और बहुत खर्चीली और भड़कीली up-to-date फैशनभरी पोशाकोंसे सज-धजकर आमोद-प्रमोद, खेल-सिनेमा और नाच-गानोंमें सम्मिलित होना पड़ता है। ऐसा करते-करते क्रमशः वे अत्यधिक विलासिताकी आदी हो जाती हैं, आखिर यही उनके जीवनका प्रधान ध्येय बन जाता है और इसके परिणामस्वरूप बहुतोंपर इतनी विपत्ति छा जाती है कि उन्हें अपने शील और अपनी आत्मा-तकको बेचनेके लिये बाध्य होना पड़ता है।

ऐसा होनेसे देशकी नैतिक अवनति होती है। प्रथम तो लम्बे समयतक अविवाहित रहना ही अपमान है; फिर हृदयकी शून्यता, कामकी प्रताड़ना और अर्थका अभाव है ही। बहुतोंको धन कमानेके लिये दूसरोंके अत्याचार सहने पड़ते हैं। फिर जिस युवकसे विवाहकी बातचीत चलती है, काम-मोहित होनेके कारण उसमें अपनी कल्पनासे बहुत-से ऐसे गुण दीखने लगते हैं जो वस्तुतः उसमें होते नहीं, इधर जवानी भी बीती चली जा रही है, इस बातका भी खयाल होता है। ऐसी अवस्थामें जान या अनजानमें अधिकांश नारियोंको सर्वथा अवाञ्छनीय पुरुषोंके साथ ही विवाह करना पड़ता है। अनेकों पाश्चात्य उपन्यासोंमें ये सब बातें दिखलायी गयी हैं— H. G. Wells के Marriage और फ्रेंच पण्डित-मण्डलीके सदस्य E. Brieux लिखित Three daughters of M. Dupont में देख सकते हैं। इसीसे महात्मा टाल्सटायने अपनी Kreutzer Sonata नामक पुस्तकमें लिखा है कि 'प्राचीन कालमें जैसे बाजारोंमें दासियाँ बिकती थीं, आजकल पाश्चात्य युवतियाँ भी पैसोंके लिये वैसे ही बिक रही हैं।' Havelock Ellis ने भी अपने Psychology of Sex नामक विख्यात पुस्तकके छठे खण्डमें प्रसिद्ध जर्मन समाजतत्त्ववेत्ता Max Nordau और George Hirst के मतका अनुमोदन करते हुए उसको उद्धृत कर दिया है कि 'सौमें पचहत्तर पाश्चात्य विवाह धन अथवा अन्य किसी सांसारिक सुविधाकी दृष्टिसे ही होते हैं। विवाह (Marriage du Convenance) युवक-युवतियोंके काम्य होते हैं, प्रेम परिणय नहीं। फिर बहुत-से विवाह जो पहले प्रेम-परिणयसे प्रतीत होते हैं, वास्तविक प्रेमजन्य नहीं होते;—उनमें बाह्य रूप-गुणोंके आकर्षणसे उत्पन्न कामजनित मोह ही प्रधान कारण होता है। अतएव विवाहित जीवनके घनिष्ठ सम्पर्कमें—जहाँ परस्परकी सहायशीलता और सुखसुविधाके लिये त्यागकी अत्यन्त आवश्यकता होती है, उस त्यागके अभावसे कुछ दिनोंके भोगके बाद ही मोह दूर हो जाता है, और विवाहित जीवन द्वेष और अशान्तिका घर बन जाता है। बहुतेरे स्थलोंमें तो नारियोंकी विलासिताकी आदत ही उनके विवाहित जीवनमें परम अशान्तिका कारण होती है। प्रथम तो दोनोंके ही जीवनका बहुत-सा भाग अकेलेमें कटा है, इसलिये उन्हें अकेले रहनेका अभ्यास हो गया है, फिर जब विवाह हुआ था तब मन-ही-मन बहुत-सी सुखसुविधाओंकी कल्पना कर ली गयी थी जो अब देखनेको भी नहीं मिलती, कइयोंने रूपगुणके क्षणिक मोहमें भूलकर विवाह किया था, बहुतोंके मनमें इस विवाहके पहिले ही किसी दूसरेके प्रति प्रेम उत्पन्न हो गया था, जिसकी अबतक स्मृति बनी है। ऐसी अवस्थामें विवाहित जीवन शान्ति और प्रेम प्रदान करनेवाला कैसे हो सकता है? इसीलिये तलाककी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ रही है।'

इसीलिये पाश्चात्य विवाहपद्धति आजकल अनावश्यक और अशुभ फल देनेवाली समझी जाने लगी है। 'क्या विवाह असफल है' 'Is marriage a failure' इस विषयपर सामयिक समाचारपत्रोंमें और मासिक पत्रोंमें प्रायः आलोचना चलती रहती है। हमारे युवक-युवतियाँ पाश्चात्य प्रथा देखकर और नाटक-उपन्यासादि पढ़कर सोचते हैं कि—'बस, अपने-आप पसंद करके विवाह करना ही उत्तम है। फिर तो जीवनभर सुख-समुद्रमें ही डूबे रहेंगे।' परन्तु वास्तविक जीवनमें ऐसे विवाहोंका फल सर्वथा विपरीत होता है। उपन्यासादिमें वर्णित प्रेमका उज्ज्वल चित्र आकाश-कुसुमकी भाँति दुष्प्राप्य है। इन सब बातोंकी जानकारी न होनेसे ही ये हमारी

प्रथाको दूषित बतलाते हैं। हमारे पारिवारिक जीवनमें यदि कहीं जरा-सी अशान्ति दिखायी पड़ती है, जो पश्चिमकी तुलनामें बहुत ही नगण्य होती है—तो पाश्चात्य पारिवारिक जीवनसे अनभिज्ञ होनेके कारण कई सहृदय पुरुष भी भ्रममें पड़कर यहाँकी अपेक्षा वहाँको अच्छा समझने लगते हैं!

लगातार वर्षोंतक बाट देखनेके फलस्वरूप बहुत-सी युवतियोंको प्रेमके अभिनयमें धोखा खाना भी अवश्यम्भावी है। पाश्चात्य देशोंमें उत्तरोत्तर यही बढ़ रहा है। वहाँ वेश्याओंमें अधिकांश ऐसी हैं जिनको पुरुषोंके द्वारा विवाहकी प्रतिज्ञा भंग की जानेके कारण ही ऐसा घृणित जीवन बितानेके लिये बाध्य होना पड़ा है। यह बात Havelock Ellis की पुस्तकसे दिखायी जा चुकी है। अमेरिकाके डेनवर नगरके अल्पवयस्क अपराधियोंके जज श्रीलिंडसे महोदयने अपने २५ वर्षके अनुभवके आधारपर अपनी Revolt of Modern Youth नामक विख्यात पुस्तकमें लिखा है कि १३ से १७ वर्ष तककी अविवाहिता छात्राओंके अंदर बहुतोंको स्कूलजीवनमें ही गर्भसञ्चार हो जाता है। सन् १९२४ में इस उम्रकी १०० छात्राओंने उनसे अपने गर्भसञ्चारकी बात सुनाकर उनसे सहायताकी प्रार्थना की थी। इस सूत्रको पाकर उन्होंने जाँच करके प्रमाण संग्रह किये थे कि जितनी छात्राओंने उनके सामने गर्भसञ्चारकी बात स्वीकार की थी उनसे १९ गुणा अधिक उसी उम्रकी छात्राओंने कामोपभोग किया था। उन्होंने और भी लिखा है कि जितनी युवतियोंकी ऐसी बातोंके वे प्रमाण पा चुके हैं, उतनी ही और भी ऐसी युवतियाँ हो सकती हैं, जिनके लिये प्रमाण नहीं मिले। इस हिसाबसे पता लगता है कि एक सालके अंदर १३ से १७ वर्षकी विद्यालयोंकी छात्राओंमें एक डेनवर नगरमें ही ३८०० युवतियाँ काम-प्रेरणाके वश हुई थीं, शिक्षा और उपदेश उन्हें इस कार्यसे निवृत्त नहीं कर सके!

उन्होंने यह भी लिखा है कि 'बहुत-सी युवतियोंने स्वयं अपनी ही ओरसे चेष्टा करके युवकोंको प्रलुब्ध किया था।' विख्यात औपन्यासिक Upton Sinclair ने अपनी Oil नामक पुस्तकमें ऐसी ही दो तीन युवतियोंका वर्णन किया है, जिन्होंने स्वयं ही आगे बढ़कर तरुणोंको प्रलुब्ध किया था। इससे यह पता लगता है कि तरुण अवस्थामें कामका प्रभाव कितना अधिक होता है और उसके उपभोगके लिये कितनी अधिक युवतियोंको बाध्य होना पड़ता है। Havelock Ellis ने लिखा है कि नारियोंमें रजोदर्शनके प्रारम्भ होने और शेष होनेके समय कामकी प्रबलता सबसे अधिक होती है। पाश्चात्य प्रथाकी शिक्षा उन्हें संयमका उपदेश नहीं दे सकती। इसपर भी हमारे सुधारक सज्जन उसी शिक्षासे संयमका पाठ पढ़ानेकी आशा करते हैं और बहुतेरे तो समझते हैं कि विवाहके बिना ही कामोपभोगकी सुविधा होनेमें नारी-स्वत्वाधिकारका विस्तार है। ऐसे लोगोंके द्वारा सञ्चालित समाचारपत्र और मासिक पत्र भी इस प्रकारके कार्योंकी प्रशंसा करते हैं और स्वच्छन्द कामोपभोगको कुसंस्कारके त्याग और नारी-अधिकारकी रक्षाका प्रधान निदर्शन समझकर प्रकारान्तरसे उसका समर्थन और प्रतिपादन करते हैं। इसीके फलस्वरूप यहाँ भी यह बीमारी बड़े वेगसे फैल रही है।

डेनवर नगरकी कुल जनसंख्या तीन लाख है; अतएव स्त्रियोंकी संख्या डेढ़ लाख समझी जा सकती है। सब उम्रकी जीवित स्त्रियोंमें दससे बीस वर्षकी स्त्रियोंकी संख्या प्रतिसहस्र २१५ मान लें तो १० से २० वर्षकी उम्रवाली स्त्रियोंकी संख्या ३२२५० होती है। इस हिसाबसे १३ से १७ वर्षकी उम्रवाली युवतियोंकी संख्या उनका $\frac{5}{11}$ अंश होती है। इससे उस समय डेनवर नगरमें इस उम्रकी १४६६० युवतियोंका होना सिद्ध होता है। इनमें अनुमान ३८०० यानी प्रतिशत २६ युवतियाँ कामोपभोगकी प्रेरणासे कुकर्म करती थीं। शिक्षा उन्हें इस कर्मसे रोकनेमें समर्थ न हो सकी। यह तो सन् १९२४ की बात है, अब तो इसमें और भी संख्यावृद्धि हुई होगी! जिस समय श्रीलिंडसे महोदयने यह बात प्रकट की थी उस समय बहुतोंने कहा था कि अत्यन्त नीच कुलोंकी लड़कियोंमें ही ऐसा हुआ होगा; संभ्रान्त परिवारोंमें ऐसा होना असम्भव है, परन्तु लिंडसे महोदयने लिखा कि बहुत-से भद्र परिवारोंकी कन्याएँ इस प्रसंगमें दोषी पायी गयी थीं। जिनके अभिभावकोंको कभी ऐसा होनेका विश्वास ही नहीं हो सकता, ऐसे लोगोंकी भी बहुत-सी लड़कियाँ इनमें थीं!

इससे यह प्रमाणित होता है कि युवक-युवतियाँ इन सब विषयोंमें इतना गुप्तरूपसे कार्य करती हैं कि उनके अभिभावकोंको इसका जरा भी पता नहीं लगता। अपने यहाँ भी स्कूल-कालिजोंकी लड़कियोंमें यह दोष बहुत बड़ी मात्रामें बढ़ रहा है। इस दिशामें पंजाब और बंगालकी छात्राओंकी दशा बहुत ही शोचनीय सुनी जाती है। इसलिये अविवाहिता कन्याओंके अभिभावकोंको, जो पाश्चात्योंका अनुकरण करके कन्याओंको स्कूल-कालेजोंमें भेजते हैं और

उन्हें बिना बाधा युवकोंमें मिलने देते हैं, सावधान हो जाना चाहिये। क्योंकि इससे चरित्रमें दोष आ जाना प्रायः अवश्यम्भावी है। और यदि ऐसा हो गया तो शास्त्रदृष्टिकी बात छोड़ दीजिये—जीवन-निर्वाहकी दृष्टिसे भी इसका परिणाम बहुत ही बुरा होगा—खासकर हमारे देशमें !

Havelock Ellis ने लिखा है कि (देखिये–Psychology of Sex, Vol. VI, P. 380) की 'इंगलैंडके बहुत-से प्रान्तोंमें युवक-युवतियाँ प्रायः आपसमें मिलती रहती हैं। स्टाफर्ड शायर (Stafford Shire) के कुछ भागमें तो विवाहके पहले सन्तान होना देशकी एक चाल ही मानी जाती है, बर्लिन शहरमें जितने बच्चे पैदा होते हैं, उनमें प्रतिशत १७ जारज होते हैं। विवाहके पहले प्रतिशत ५० से अधिक युवतियोंके गर्भसञ्चार हो जाता है। (पाश्चात्य देशोंमें गर्भ-सञ्चारके बाद यदि विवाह होता है तो उस गर्भसे उत्पन्न सन्तान जारज नहीं मानी जाती, वह वैध ही मानी जाती है।) वहाँ प्रतिशत लगभग चालीस सन्तान ऐसी होती हैं जिनका गर्भ-सञ्चार विवाहके पहले ही हो चुका है। यह तो शहरकी बात है, गाँवोंकी संख्या इससे कहीं अधिक है। हानोवर और सेक्सनी प्रदेशोंमें विवाहके पहले ही स्त्री-पुरुषोंका संगत होना देशाचार माना जाता है। वास्तविक कुमारी अवस्थामें विवाह इंगलैंड तथा अन्यान्य पाश्चात्य देशोंमें बहुतही कम संख्यामें होते हैं।' बड़ी उम्रतक विवाह न होनेके फलस्वरूप ऐसा होना बहुत-सी युवतियोंका धोखा खाना, और बहुतोंका गर्भसञ्चार होना भी अवश्यम्भावी है।

हमारे यहाँ भी ऐसा हो चला है, परन्तु इसका फल बहुत ही बुरा होगा। पापकी बात तो छोड़ दीजिये। यहाँ अस्पताल और त्यागे हुए शिशुओंके आश्रमोंकी संख्या भी बहुत ही थोड़ी है। फिर इनको आश्रय कहाँ मिलेगा। एक तो, संस्कारवश इस देशमें ऐसी स्त्रियोंके प्रति अभीतक लोगोंमें एक घृणा और अवज्ञाका भाव बना है—इससे सहजहीमें कोई इनसे विवाह करनेको राजी नहीं होता—भाई-बन्धु भी आपत्ति करते हैं। पाश्चात्य देशोंमें ऐसी अवस्थामें विवाह करना कर्तव्य माना जाता है—वहाँ भी आधेसे अधिक पुरुष धोखा देकर खिसक जाते हैं—फिर यहाँ तो अभी वह कर्तव्यबोध जाग्रत ही नहीं हुआ है। अतएव यहाँ ऐसा होगा तो आधीसे अधिक ऐसी युवतियोंके विवाह ही नहीं होंगे। इससे उनकी बड़ी दुर्दशा होगी। इतनेपर भी बहुत बड़ी उम्रतक लड़कियोंके विवाह न करनेकी ही रुचि लोगोंकी बढ़ रही है, यह देशका दुर्भाग्य ही है !

नारीकी आत्मकथा

(लेखिका—श्रीमती अनिला देवी)

मैं हूँ नारी। मैं अपने स्वामीकी सहधर्मिणी हूँ और पुत्रकी माता हूँ। मुझ-सा श्रेष्ठ जगत्‌में और कौन है? तमाम जगत् मेरा कर्मक्षेत्र है—मैं स्वाधीना हूँ, क्योंकि मैं अपने इच्छानुरूप कार्य कर सकती हूँ। मैं जगत्‌में किसीसे नहीं डरती, मैं महाशक्तिका अंश हूँ। मेरी सहायता पाकर ही मनुष्य शक्तिमान् है।

मैं स्वाधीना हूँ परन्तु उच्छृङ्खल नहीं हूँ। मैं शक्तिका उद्गमस्थान हूँ परन्तु अत्याचारके द्वारा अपनी शक्तिका प्रकाश नहीं करती। मैं केवल कहती ही नहीं, करती हूँ। मैं काम न करूँ तो संसार अचल हो जाय। जो कर्म करनेका अभिमान करते हैं, उनके हाथ थक जाते हैं।

मेरा कर्मक्षेत्र बहुत बड़ा है—वह बाहर नहीं है, अंदर है। वहाँ मेरी बराबरीकी समझ रखनेवाला कोई नहीं है। मैं जिधर देखती हूँ, उधर ही अपना अप्रतिहत कर्तृत्व पाती हूँ। मेरे कर्तृत्वमें बाधा देनेवाला कोई नहीं है, क्योंकि मैं वैसा सुअवसर किसीको देती ही नहीं। पुरुष मेरी बात सुननेके लिये बाध्य है—परन्तु वह मेरे कर्म-क्षेत्रमें। मेरी बातसे संसार उन्नत होता है—इसलिये स्वामीके सन्देहका तो कोई कारण ही नहीं है। और पुत्र—वह तो मेरा ही है, उसीके लिये तो हम दोनों सदा व्यस्त हैं—वह तो मेरी बात सुननेको बाध्य है। इन दोको—पतिको और पुत्रको—वशमें करके मैं जगत्‌में अजेय हूँ। डर किसको कहते हैं, मैं नहीं जानती। मैं पापसे घृणा करती हूँ—अतएव डर मेरे पास नहीं आता। मैं भयको नहीं देखती, इसीसे कोई दिखानेकी चेष्टा नहीं करता।

संसारमें मुझसे बड़ा और कौन है? मैं तो किसीको नहीं देखती। और जगत्‌में मुझसे बढ़कर छोटा

भी कौन है? उसको भी तो कहीं नहीं खोज पाती। पुरुष दम्भ करता है कि मैं जगत्‌में प्रधान हूँ—बड़ा हूँ, मैं किसीकी परवा नहीं करता—वह अपने दम्भ और दर्पसे देशको कँपाना चाहता है। वह कभी आकाशमें उड़ता है, कभी सागरमें डुबकी मारता है और कभी रणभेरी बजाकर आकाशवायुको कँपाकर दूर-दूरतक दौड़ता है, परन्तु मेरे सामने तो वह छोटा ही है, क्योंकि मैं उसकी माँ हूँ। उसके रुद्ररूपको देखकर हजारों-लाखों काँपते हैं, परन्तु मेरे अँगुली हिलाते ही वह चुप हो जानेके लिये बाध्य है। मैं उसकी माँ—केवल असहाय बचपनमें ही नहीं—सर्वदा और सर्वत्र हूँ। जिसके स्तनोंका दूध पीकर उसकी देह पुष्ट हुई है, उस मातृत्वके इशारेपर सिर झुकाकर चलनेके लिये वह बाध्य है।

गर्वित पुरुष जब सिंह, बाघ आदि हिंस्र प्राणियोंकी अपेक्षा भी अधिक हिंस्र हो जाता है, कठोरताके साथ मिलते-मिलते उसकी कोमल वृत्तियाँ जब सूख-सी जाती हैं, जब वह राक्षसी वृत्तियोंका सहारा लेकर जगत्‌को चूर-चूर कर डालनेपर उतारू हो जाता है—तब उस शुष्क मरुभूमिमें जलकी धारा कौन लाता है? मैं ही- उसकी सहधर्मिणी ही। उसको अपने पास बैठाकर—अपना अपनपा उसमें मिलाकर मैं उसे कोमल करती हूँ। मेरी शक्ति अप्रतिहत है। प्रयोग करनेकी कला जाननेपर वह कभी व्यर्थ नहीं जाती।

मैं बाहरके जगत्‌में कर्तृत्व नहीं चाहती। वह मेरे पिता, पति, भाई और पुत्रकी कर्मभूमि है। उन्हें कोई क्षेत्र नहीं मिलेगा तो वे क्या करेंगे? परन्तु मेरी कर्मभूमि उनकी कर्मभूमिसे कहीं विशाल है। पुरुष जिस कामको नहीं कर सकता, उसको मैं अनायास ही कर सकती हूँ। प्रमाण—पुरुषके अभावमें संसार चल सकता है—परन्तु मेरे अभावमें अचल हो जाता है। सब रहनेपर भी कुछ नहीं रहता।

मैं पढ़ती हूँ—सन्तानको शिक्षा देनेके लिये, पतिके थके हुए मनको शान्ति देनेके लिये। मैं गाना-बजाना सीखती हूँ—शौकीनोंकी लालसा पूर्ण करनेके लिये नहीं—नर-हृदयको कोमल बनाकर उसमें पूर्णता लानेके लिये। मैं स्वयं नहीं नाचती—वरं जगत्‌को नचाती हूँ।

मैं सीखती हूँ—सिखानेके लिये। शिक्षाके क्षेत्रमें मेरा जन्मगत अधिकार है। मैं गुलाम नहीं पैदा करती। मैं प्रकट करती हूँ आदर्श—सृजन करती हूँ मनुष्य!

मैं खड्गधारिणी काली हूँ, पाखण्डोंका वध करनेके लिये। मैं दशप्रहरणधारिणी दुर्गा हूँ—समरमें नारी-शक्तिको जगानेके लिये। मैं लक्ष्मी हूँ—संसारको सुशोभन बनानेके लिये। मैं सरस्वती हूँ—जगत्‌में विद्या वितरण करनेके लिये। मैं धरणी हूँ—सहिष्णुताके गुणसे। आकाश हूँ—सबकी आश्रयदायिनी होनेसे। वायु हूँ—सबको जीवनदायिनी होनेसे। और जल हूँ—सबको स्निग्ध करनेवाली—दूसरोंको अपना बनानेवाली होनेसे। मैं ज्योति हूँ—प्रकाशके कारण, और मैं माटी हूँ—क्योंकि मैं मा हूँ।

मेरे धर्मके विषयमें मतान्तर नहीं है—मेरा धर्म है नारीत्व-मातृत्व। मुझमें जातिभेदजनित कोई चिह्न नहीं है—सम्पूर्ण नारीजाति मेरी जाति है।

मैं सबसे अधिक छोटा बनना जानती हूँ—परन्तु मैं बड़ी अभिमानिनी हूँ। मेरे भयसे त्रिभुवन काँपता है। मै जो चाहती हूँ वही पाती हूँ तो भी मेरा मान जगत्-प्रसिद्ध है।

पुरुष कामुक है, इसीलिये वह अपने ही समान मानकर मुझको कामिनी कहना चाहता है। पुरुष दुर्बल है, सहज ही विभक्त हो जाता है, इसीसे मुझे दारा कहता है। मैं सभी सहती हूँ, क्योंकि मैं सहना जानती हूँ। मैं मनुष्यको गोदमें खिलाकर मनुष्य बनाती हूँ, उसके शरीरकी धूलिसे अपना शरीर मैला करती हूँ, इसीलिये कि मैं यह सब सह सकती हूँ।

रामायण और महाभारत—ये दो ही ग्रन्थ मुझे यथेष्ट ज्ञान देते हैं, क्योंकि जगत्‌के और जगत्‌के लोगोंके साथ खेलनेमें इनके समान कोई भी ग्रन्थ समर्थ नहीं हुआ। मैं दूसरी भाषा सीखती हूँ—परन्तु बोलती हूँ अपनी ही भाषा। और मेरी सन्तान इसीलिये उसे गौरवके साथ मातृभाषा कहती है।

मुझको क्या पहचान लिया है? नहीं पहचाना तो फिर जगत् कैसे पहचानेगा? वासुदेव!

हृदयोद्गार

(लेखक—कुँवर श्रीराजेन्द्रसिंहजी एम० ए०, एल-एल० बी०)

(१)

(चेतावनी)

तुम कैसे हो, कहाँ रहते हो, और कैसे मिल सकते हो, यही सोचते-सोचते मेरे जीवनके इतने दिन व्यतीत हो गये। प्रातःकाल, भगवान् अंशुमालीकी दिव्य ज्योतिके प्रस्फुटित होते समय, प्रकृतिकी अनिर्वचनीय रूप-राशिमें, गगनाङ्गनकी अपूर्व दीप्तिमें, भूमण्डलके अलसाये हुए जागरणमें, और अपने वातावरणकी मादकतामें, सब कुछ, जो इस जीवनमें देखा जा सकता है देखा; परन्तु तुम न दिखायी दिये।

धीरे-धीरे संसारके कोलाहलसे परिपूर्ण इस हृदयाकाशमें, प्रचण्ड-से-प्रचण्ड आतपद्वारा झुलसाये हुए अभिलाषाओं; और कहीं-कहीं मदन-दहन-जैसे अद्भुत व्यापारके दृश्योंमें, अपने मनकी प्रगतिशील—डूबती-उतराती हुई संसार-यात्रामें, एक धीमा-सा अस्फुट, अस्पष्ट शब्द-सा सुनायी दिया। जान पड़ा किसीने कोमल परन्तु दृढ़ स्वरमें कहा 'सावधान।' शब्द वायुमण्डलमें बिलीन हो गया, परन्तु उसकी याद कभी-कभी अब भी आ जाती है, और एक प्रकारके अज्ञात भयसे शरीर कण्टकित-सा हो उठता है। इस यादमें कैसी मधुर टीस है, क्या यह भी शब्दोंद्वारा व्यक्त किया जा सकता है!

दोपहरके जाज्वल्यमान प्रकाशमें बिखरी हुई सूर्यरश्मियोंके देदीप्यमान जालीमेंसे किसके पीताम्बर-का छोर सहसा एक बार फहराकर अनन्तमें विलीन हो गया। और उस पीताम्बरपर रौप्य अक्षरोंमें किस प्रकार लिखा हुआ दिखायी पड़ा—'सावधान।' माथा थामकर बैठ गया, परन्तु यह भी एक इन्द्रजाल-सा जान पड़ा और विस्मृतिके घनान्धकारमें समा गया।

सन्ध्या-समय, जब तपते हुए दिवाकरका भी अस्त समीप आया, और संसारके थके-माँदे लोग दिनभरका काम समाप्त करके अपनी सुध-बुध खोनेका उपक्रम करने लगे, उस समय भी मेरे मनमें अस्थिरताका ही साम्राज्य दिखायी पड़ा। सोचने लगा कि अनन्त शोभाराशिको जगत्के कोने-कोनेमें बिखरानेवाला, सुषुप्तिमें अपनी शक्तिको अन्तर्निहित किये हुए मानव-जीवनमें, नवीन बलका सञ्चार करनेवाला, कोलाहलके वातावरणको जागृत करनेवाला, इन चिपके हुए चर्मचक्षुओंको सहसा अपनी ज्योतिराशिके कोमल स्पर्शसे खोल देनेवाला सूर्य, अपनी दिनभरकी यात्राको समाप्त करके, अब किस लोकको जा रहा है, और नित्य ही जाया करता है। भावावेशमें तन्मय हो गया—उस अनादि और अनन्त पथका पथिक बनना कितना कठिन है, जिसपर सूर्य भगवान् नित्य ही चलते हैं और कभी विश्राम नहीं लेते।

अन्धकार फैल चुका था। परन्तु दीपककी टिमटिमाती हुई ज्योतिका प्रकाश मेरे घरके एक कोनेमें हो रहा था, और उस प्रकाशके मधुमय आमन्त्रणको स्वीकार करके कितने ही पतिंगे अपने जीवनको समाप्त करनेका आयोजन कर रहे थे। मैंने कहा कि 'इस प्रकारकी मूर्खताकी भी कोई हद है। अरे, पतिंगो, तुम जिसके आलिंगनको अपने जीवनकी निधि समझ रहे हो, वह तुमको झुलसा देनेवाला केवल एक वञ्चक रूप-जाल है। मूर्खो! अभी भी समय है। जाओ यहाँसे चले जाओ, अपने जीवन-

नाशका उपाय न करो।' परन्तु मेरी यह चेतावनी व्यर्थ गयी और पतिंगोंने अपना वही क्रम जारी रक्खा। सहसा मेरी दृष्टि अपने कमरेकी खिड़कीकी ओर गयी। सघन आम्रवृक्षके पत्तोंपर जुग-जुग चमकते हुए असंख्य जुगनू दिखायी दिये और उनकी उस चमकमें, मुझको दिखायी-सा दिया कि किसीने लिख रक्खा है, 'सावधान'! मेरे नेत्र सहसा बंद हो गये और उसी नेत्रनिमीलित अवस्थामें मुझको जान पड़ा कि कोई कह रहा है कि 'मूर्ख! तू अब भी नहीं समझा। जिस दीपकके प्रेममें पतिंगोने अपना सर्वस्व समर्पण कर दिया, जिसकी ज्योतिमें उन्होंने अपने तन, मनको भस्म कर दिया, वही ज्योति उनके आत्मबलिदानके कारण किस प्रकार उनसे एकाकार हो गयी है। देख! इन जुगनुओंको देख और अब भी अपने वास्तविक मार्गका अनुसरण कर। जबतक इन पतिंगोंका अपना पृथक् अस्तित्व, अपना निजत्व, अहम्मन्यता तथा अहङ्कार बना रहा तबतक ये अपनी प्रियतम ज्योतिसे कोसों दूर रहे। परन्तु आत्मसमर्पण करके, जैसे ही इन्होंने अपना सब कुछ अपने प्रेम-पात्रको दे दिया, उसी समय ये पतिंगे, पतिंगे नहीं रहे, जुगनू हो गये। और अब वही ज्योति इनके जीवनकी चिरसंगिनी बन गयी है।'

(२)

अश्रुहार

तुमको कैसे समझाऊँ कि मेरे इन नेत्रोंकी पुतलियों-के पीछे छिपे हुए कोटरोंमें, किस प्रकार मेरी अन्तर्व्यथा पिघल-पिघलकर इकट्ठी हो गयी है! जो तुम्हारी ही भाँति अलख और अगोचर है, जिसके एक-एक बुन्दमें मेरी चिरसञ्चित अभिलाषाओं और मेरे जीवनकी अपूर्ण साधके कण घुल-मिलकर एकत्र हो रहे हैं, और जिसमें छिपे हुए मुक्तामणिकी समतामें तुम्हारे रत्नाकरके अमूल्य रत्न भी लज्जित हो जाते हैं; उस कल्लोलिनीमें किस प्रकारकी तरङ्गें नित्य ही उठा करती हैं, यह तुमको कैसे समझाऊँ! जिस समय मेरे हृदयमें वेदना-की आग धक-धक जल उठती है, और उसकी उष्णतामें मेरे रक्तमें सञ्चार होनेवाला जलतत्त्व भाप बनकर उड़ जाता है; जिस समय मैं अपने इस शुष्क और नीरस जीवनसे व्यथित होकर ऊब उठता हूँ, उसी समय यह सब भाप न जाने किस प्रकार मेरे नेत्रोंके कोटरोंमें भर जाता है।

जिस साधनाका अणु-अणु मेरे जीवनकी धमनियोंमें सदा ही प्रवाहित हुआ करता है, और जिससे मेरी आशा-अभिलाषाओंके सुख-दुःखपूर्ण सपने सदा ही अठखेलियाँ किया करते हैं, उसका प्रवाह किस अलक्षित रूपसे मेरे नेत्र-युग्ममें हुआ करता है, यह भी क्या तुम नहीं जानते!

न जाने कितने जन्म-जन्मान्तरसे सञ्चित की हुई मेरी यह साधकी सुधा अब सुधाधामसे मिलनेको उतावली हो रही है, और चाहती है कि किसी प्रकार अपने जीवन-धनसे सर्वसन्तापहारी पीताम्बलके एक कोनेमें छिपकर द्वन्द्वातीत हो जाय। प्राणनाथ! मैं बड़े यत्नसे एक-एक कोमल और तरल अश्रुविन्दुको अपने अहङ्कारके तागमें पिरोकर, तुम्हारे लिये माला प्रस्तुत किये बैठा हूँ। आओ जीवनधन! आज उसी अश्रुहार-को तुम्हारे गलेमें पहनाकर एक बार अपना तन, मन सुखी कर लूँ।

(३)

अभिसार

तरल तोया, पुण्यसलिला जाह्नवी किस प्रकार अपने जीवननाथसे मिलनेका अभिसार करती है; और इस अभिसारमें वह कैसे-कैसे दुर्गम स्थानोंका अतिक्रमण करती हुई, मन्थर-गतिसे, अपने अस्तित्वतकको भुला-

कर—यह भी भुलाकर कि उसका वास्तविक स्थान देवलोकमें है—अबाध गतिसे चलती ही जाती है। किस प्रकार सूर्य, चन्द्र नित्य ही अभिसार करते हैं। और सदा ही दिवाभिसार और शुक्राभिसारके रूपमें अपने एक निश्चित मार्गका अनुसरण करते हुए आते और चले जाते हैं। उनको न किसी प्रकारका भय है, और न लज्जा। उनको यह भी भय नहीं है कि आज इस बीसवीं शताब्दीमें, कोई उनकी प्राचीन परिपाटीकी हँसी उड़ावेगा। अपने गन्तव्य स्थानकी ओर जाते-जाते वे कभी-कभी हमारी ओर सहास नेत्रोंसे एक बार देखकर और हमारी दयनीय दशापर अपनी सहानुभूति-सूचक इंगितका भ्रूक्षेप करके फिर चलते ही जाते हैं। नित्य ही भगवान् अंशुमालीके अभिसारका अन्त जान करके सन्ध्यादेवी श्याम-परिधान धारण करके, अपने रूप-माधुर्यकी तन्द्रामयी मदिरा ढरकाती हुई अपने प्रियतमसे मिलनेका उपक्रम करती हैं और श्याम अंचलमें, अपना मुख छिपाये हुए मदमाती चालसे धीरे-धीरे आती हैं और फिर उसी प्रकार चली जाती हैं। उस मोहमयी मदिराके नशीले प्रभावसे मनुष्य तो मनुष्य, पशु-पक्षीतक निद्राभिभूत हो जाते हैं और सन्ध्यादेवी रात्रिका रूप सँवारकर अपने प्राणनाथसे कैसी अनुपम भेंट करती हैं।

प्रकृतिकी इस अभिसार लीलाको देखकर कभी-कभी हमारे भी व्याकुल, विरह-व्यथित प्राण, अपने प्राणधनसे मिलनेके लिये उतावले-से हो उठते हैं, परन्तु उनको यह भी नहीं मालूम कि अपने प्राणाधारतक पहुँचनेका मार्ग क्या है। इस शरीरमें बंद-बंद उनकी सारी दुनिया इस शरीरहीमें बन गयी है। दुर्भेद्य दुर्गको पार करनेके लिये वे भीतर-ही-भीतर मन मसोसकर रह जाते हैं। ऐ मेरे जीवनके मार्ग-दर्शक! एक बार तो बता दे कि मेरे जीवन-धनका निवास कहाँ है। मेरे प्राण अपने प्राणोंका न्योछावर करके भी—उनतक पहुँचनेमें आगा-पीछा न करेंगे।

क्या कहा? अपने प्राणोंसे ही अपने प्राणाधारका पता पूछ। क्या कहा? मोहान्धकारकी सघनतामें ही प्राणोंके अभिसारसे प्रियतमका मिलन होगा। आह! मेरे व्याकुल प्राण, चल उस अनन्त पथकी ओर जहाँ-पर शरीरके व्यापार-जनित लोकापवादका भय नहीं है। चल उस स्थानकी ओर जहाँ जवाबका डर नहीं है और न जहाँ तेरे अनुरागको विलासिताका नाम देकर लोग तेरी हँसी उड़ावेंगे।

क्या कहा? डरते हो कि इस प्रकारके गुप्त अभिसारसे तुम्हारी लाज खुल जायगी, तुम किसीको मुँह दिखाने योग्य न रह जाओगे और तुम्हारा जीवनसखा यह शरीर छूट जायगा। यदि तुमको ऐसा ही मोह है, तो अभिसारका स्वाँग भरनेकी भी क्या आवश्यकता है! अपने हृदयमें ही आँखें खोलकर सावधानतापूर्वक देख। देख, वहीं किसी कोनेमें तेरा प्राणाधार छिपा हुआ बैठा होगा। क्या कहा? वहाँ कुछ दिखायी नहीं पड़ता है। अरे, तनिक उस हृदयाकाशमेंसे, अहंकारके बादलोंको, अपनी अनुभूतिकी हवासे उड़ा तो दे। देखा! उन बादलोंके पीछेसे वह कौन झाँक रहा है! भलीभाँति पहचान ले। वही तेरा प्राणाराम, जीवनधन है।

दुःखोंसे घबराओ मत। दुःख तुम्हारी भलाईके लिये ही तुम्हारे पास आते हैं। प्रत्येक दुःखको अपने पहले किये हुए किसी कर्मका ही फल समझो। याद रक्खो, दुःखकी प्राप्तिसे तुम्हारे कर्मका भोग पूरा हो जाता है, और तुम कर्मफलके बन्धनसे मुक्त होकर निर्मल हो जाते हो। भीष्मपितामहने तो देहत्यागके पूर्व कर्मोंको पुकारकर कहा था कि 'यदि मेरे कोई कर्म शेष हों तो वे आकर मुझे अपना फल भुगता दें।' अतएव कोई भी दुःख प्राप्त हो तो उसको शान्तिपूर्वक भोगो और मनमें यह जानकर सुखी होओ कि कर्मफल-का भोग हो गया यह बहुत उत्तम हुआ।

तुम्हारे प्रत्येक सुख-दुःखका विधान भगवान् किया करते हैं, भगवान् परम दयालु हैं, उनका कोई विधान ऐसा नहीं होता जिसमें तुम्हारा कल्याण न भरा हो। इसलिये प्रत्येक दुःखकी प्राप्तिमें उनका विधान समझकर आनन्द प्राप्त करो। निश्चय समझो, इस दुःखको तुम्हारे मङ्गलके लिये ही भगवान्ने तुम्हारे ऊपर भेजा है।

निश्चय समझो कि अभावके अनुभव या प्रतिकूल अनुभवका नाम ही दुःख है। अभावका अथवा प्रतिकूलताका बोध राग-द्वेषके कारण तुम्हारी अपनी भावनाके अनुसार होता है। राग-द्वेष न हो तो सब अवस्थाओंमें आनन्द रह सकता है। संसारमें जो कुछ होता है, सब भगवान्की लीला होती है, उनका खेल है, यह समझकर कहीं राग और ममता, तथा द्वेष और विरोध न रखकर प्रतिकूलता या अभावका बोध त्याग कर दो, फिर कोई भी दुःख तुमपर असर नहीं डाल सकेगा।

मनके अनुकूल विषयोंकी अप्राप्ति अथवा नाशका नाम ही दुःख है। विषयोंकी प्राप्तिसे मन विषयोंमें अधिक फँसता है। इसीलिये मुमुक्षु साधक जानबूझकर धन, मान, सम्पदा, यश आदि सुखरूप विषयोंका त्याग किया करते हैं। यदि तुम्हारे पास ये विषय न रहें या होकर नाश हो जायँ तो यही समझो तुम एक बहुत घने दुःखजालसे छूट गये हो। इस अवस्थामें किसी प्रकारसे भी व्यथित मत हो।

सांसारिक सुख-दुःख नाम और रूपको लेकर होते हैं, तुम आत्मस्वरूप हो, तुम न शरीर हो, न नाम हो। तुम तो सदा ही सब सुख-दुःखोंके द्रष्टा हो। तुमने लड़कपनको देखा, जवानी देखी, बुढ़ापा देखते हो। अवस्थाएँ बदल गयीं परन्तु तुम देखनेवाले वहके वह हो इसीसे तुम्हें वे देखी हुई बातें याद आती हैं। निश्चय करो, तुम भोक्ता नहीं हो, तुम तो द्रष्टामात्र हो। सुख-दुःखोंसे सर्वथा परे हो, निर्लेप हो। तुम्हारे आत्मस्वरूपमें आनन्द-ही-आनन्द है। वह न कभी धनहीन होता है, न अपमानित होता है, न निन्दित होता है, न बीमार होता है और न मरता है। वह सब अवस्थाओंमें सम रहता है। फिर तुम नामरूपसे सम्बन्धित घटनाओंको दुःखका नाम देकर व्यथित क्यों होते हो? इस मूर्खताको छोड़कर हर-हालतमें आनन्द-का अनुभव करो। तुमपर कभी दुःख आ ही नहीं सकता। तुम दुःखको ग्रहण करते हो, इसीसे दुःख आता है। ग्रहण करना छोड़ दो फिर कोई भी दुःख तुम्हारे पासतक नहीं फटकेगा।

अपना तन-मन-धन सब भगवान्के अर्पण कर दो; तुम्हारा है भी नहीं, भगवान्का ही है। अपना मान बैठे हो—ममता करते हो इसीसे दुःखी होते हो। ममताको सब जगहसे हटाकर केवल भगवान्के चरणोंमें जोड़ दो, अपने माने हुए सब कुछको भगवान्के अर्पण कर दो। फिर वे अपनी चीजको चाहे जैसे काममें लावें, बनावें या बिगाड़ें। तुम्हें उसमें व्यथा क्यों होने लगी? भगवान्को समर्पण करके तुम तो निश्चिन्त और आनन्दमग्न हो जाओ।

याद रक्खो, विधान और विधातामें कोई भेद नहीं है। खेल भी वही और खिलाड़ी भी वही। इस परम रहस्यको समझकर हर-हालतमें प्रत्येक अवस्थामें विधानके रूपमें आये हुए विधाताको पहचानकर उन्हें पकड़ लो! फिर आनन्द-ही-आनन्द है।

'शिव'

बच्चोंसे

(गुरुजीका उपदेश)

आज अष्टमीका दिन है, पढ़ाई बंद है। परन्तु गुरुजीका यह नियम था कि वे अष्टमीकी छुट्टीके दिन सब लड़कोंको एक घंटे अपने घर बुलाकर कुछ उपदेश सुनाया करते थे। गुरुजी बड़े स्नेहसे उपदेश करते थे और उपदेशके बाद सब बच्चोंको ठाकुरजीका प्रसाद बाँटा करते थे। इससे बच्चे खुशी-खुशी छुट्टीके दिन भी गुरुजीके घर आते थे। आज भी सब बच्चे आये और बारी-बारीसे गुरुजीके चरणोंमें माथा टेककर उनका आशीर्वाद पाकर अपनी-अपनी जगह बैठ गये। गुरुजीने भगवान्‌की स्तुति गायी। बच्चे भी उनके पीछे-पीछे गाते रहे।

दीनन दुख हरन देव संतन सुखकारी।
अजामील गीध ब्याध,इनमें कहो कौन साध,
पंछीहू पद पढ़ात, गनिका-सी तारी॥ दीनन०
ध्रुवके सिर छत्र देत, प्रह्लादको उबार लेत,
सीता हेतु बाँध्यो सेत, लंकपुरी जारी॥ दीनन०
तंदुल देत रीझ जात, सागपात सों अघात,
गिनत नहिं जूँठे फल, खाटे मीठे खारी॥ दीनन०
गजको जब ग्राह ग्रस्यो, दुःसासन चीर खस्यो,
सभा बीच कृष्ण कृष्ण, द्रौपदी पुकारी॥ दीनन०
इतने हरि आय गये, बसनन आरूढ भये,
सूर कूर द्वारे ठाढ़ो, आँधरो भिखारी॥ दीनन०

फिर गुरुजी उपदेश करने लगे—उन्होंने कहा—बच्चो! तुम्हें तीन चीजें भगवान्‌ने ऐसी दी हैं कि जो तुम इनको साफ और पवित्र रख सको तो तुम्हारा बहुत बड़ा काम और नाम हो जाय। बुद्ध, शंकराचार्य आदि बड़े-बड़े महापुरुषोंको आजतक लोग इसीलिये पूजते हैं कि उन्होंने इन तीनों चीजोंको सदा साफ और पवित्र रक्खा था। तुम भी वैसे ही महापुरुष बन सकते हो अगर तीनोंको साफ और पवित्र रक्खो। ये तीन चीजें हैं—शरीर, वचन और मन। शरीरकी सफाई और पवित्रताके लिये इन बातोंपर ध्यान रखो।

शरीरपर गंदगी मत रहने दो, रोज नहाओ। कपड़े साफ रक्खो, अपने हाथसे उन्हें धोनेकी आदत डालो। कुछ भी खा-पीकर पहननेके कपड़ेसे हाथ-मुँह मत पोंछो। कहीं बैठो तो जगह झाड़कर बैठो। सादे और साफ कपड़े पहनो। रोज समयपर पाखाने जाओ। खाने-पीनेमें जीभके स्वादके वश मत होओ। भूखसे ज्यादा न खाओ। बहुत मीठी, बहुत खट्टी और बहुत चटपटी चीजें मत खाओ। दिनमें तीन बारसे ज्यादा मत खाओ। दूसरेकी चीज कभी चोरी मत करो। किसीको मारो मत। घरमें माता, पिता, ताऊ, चाचा, बड़े भाई आदि जो तुमसे बड़े हों सबको रोज सबेरे प्रणाम करो। भगवान्‌की मूर्तिको रोज प्रणाम करो। गरीबों और दुखियोंकी सेवा करो; बड़ोंकी सेवा करो। किसी भी जीवको तकलीफ मत दो। ऐंठकर मत बैठो। अकड़कर न चलो। अच्छे खेल खेलो!

जबानसे किसीको गाली मत दो, किसीकी चुगली मत करो, निन्दा मत करो, झूठ मत बोलो, कड़वे मत बोलो। जो बोलो—सच बोलो, मीठे बोलो। दूसरेका भला हो ऐसी बात कहो। भूलकर भी ऐसी न कहो जिससे किसीका जी दुखे या किसीका बुरा हो। नियमसे रोज भगवान्‌के नामका कीर्तन करो, उनकी स्तुति-प्रार्थना गाओ और अच्छे-अच्छे भजन गाओ। गरबके वचन मत बोलो। नरमीसे बात करो। माता-पिता, गुरु वगैरहके सामने बहुत विनयसे बात करो। सभीके साथ प्रेमसे हँसकर बोलो। रूखी-तीखी वाणी मत बोलो। गरीबोंके साथ विशेष स्नेहसे बात करो। वाणीसे सभीका सम्मान करो।

मनसे सबका भला चाहो, दूसरोंका भला होता देखकर सुखी होओ। किसीको दुःखमें देखकर दया करो। किसीसे डाह मत करो। सदा प्रसन्न रहो। फाल्तू बातें मत सोचा करो। मनमें कोई बुरी बात आवे तो उसे रोको। मनसे भगवान्‌को याद करो। भक्तोंकी तथा महात्माओंकी बातें याद करो। किसीसे वैर मत रक्खो। कभी ऐसा मत खयाल करो कि धनके कारणसे या और किसी कारणसे मैं बड़ा हूँ, और लोग छोटे हैं। मनमें किसीको छोटा मत मानो। भगवान् सबमें हैं, इसलिये सभीका मन-ही-मन सम्मान करो। रोज सबेरे मन-ही-मन भगवान्‌की स्तुति करो।

सब बच्चे बड़े चावसे उपदेश सुन रहे थे। उपदेश समाप्त होनेपर गुरुजीने सबको प्रसाद बाँटा। सबलोग गुरुजीको प्रणाम करके प्रसन्न होकर अपने-अपने घरोंको लौटे।

एक ही—सुख और दुःख दोनोंमें

(लेखक—श्रीयुत टा० रामसुमेरसिंहजी बी० ए०)

सुख और दुःखमें अर्थतः महान् विषमता होनेपर भी शब्दतः अद्भुत समानता है। दोनोंमें एक अक्षर है ख, जिसका अर्थ है आकाश, शून्य अथवा ब्रह्म। 'सु' और 'दुः' यह दोनों उपसर्ग हैं। उपसर्गका अर्थ होता है विघ्न। खके एक होनेपर भी उपसर्गोंकी भिन्नताके कारण सुख और दुःख दो शब्द बन जाते हैं। ख जो कि वस्तु है, वह सु और दुः अर्थात् अच्छाई और बुराईसे रहित है। यह सु और दुः की कल्पनाने ही सुख और दुःखकी सृष्टि की है। किसी वस्तुके अच्छी होनेकी कल्पना, अच्छीको पानेकी इच्छा, इच्छापूर्ति होनेपर सुख। किसी वस्तुके बुरी होनेकी कल्पना, उसे हटानेकी इच्छा, उसकी पूर्तिमें सुख। दोनों ही प्रकारकी इच्छाओंके अपूर्ण होनेपर दुःख। दुःख तो दुःख है ही, इच्छा-पूर्तिके कारण होनेवाला सुख भी दुःख ही है; क्योंकि सुख होते ही सुखी होनेका अभिमान, अभिमानसे कामनाओंकी वृद्धि और धर्मका उल्लङ्घन, फिर चिन्ता, शोक, भय, ग्लानि, उद्वेग, दुःख।

शास्त्रोंमें सुख और दुःखकी अनेकों परिभाषाएँ आती हैं। अनुकूल वेदना सुख है और प्रतिकूल वेदना दुःख; आत्माधीनता सुख है और पराधीनता दुःख; अन्तर्मुखता सुख है और बहिर्मुखता दुःख; परमात्माका स्मरण सुख है, विस्मरण दुःख; कर्तव्य-पालन सुख है और कर्तव्यच्युति दुःख; सत्त्वगुण सुख है और रजोगुण-तमोगुण दुःख; ज्ञान सुख है, अज्ञान दुःख; अपेक्षा दुःख है और निरपेक्षता सुख इत्यादि। ये सुख-दुःख दोनों ही मनके भावविशेष हैं। मन सर्वदा एक रूपमें नहीं रहता; इसलिये उससे होनेवाले सुख, दुःख भी एक रूप नहीं रहते। जो आज दुःख है, वह कल सुख हो सकता है; जो आज सुख है, वह कल दुःख हो सकता है। एक व्यक्तिके लिये जो सुख है, वही दूसरेके लिये दुःख है। देश, काल, पात्र, अवस्था, शक्ति और भावके भेदसे भी एकके सुख, दुःख दूसरेके विपरीत हो जाते हैं।

सुख-दुःख मनके भावविशेष हैं और मनके भाव अनेक रूढ़ियोंपर अवलम्बित हैं। रूढ़ियाँ भी देश, काल आदिके भेदसे अनेकों प्रकारकी होती हैं। किसी भी स्थितिको, चाहे वह शारीरिक हो या मानसिक, पानेकी इच्छा ही दुःख है। यह इच्छा आत्मा, परमात्मा और उनके स्वरूप एवं लीलाविलास-

के अज्ञानसे ही होती है। सब कुछ आत्मा है, जो कुछ है भगवान् ही है; यह निश्चय हो जानेके पश्चात् कोई भी वस्तु अप्राप्य नहीं रह जाती। सब कुछ भगवान्‌की लीला है, चराचर जगत् भगवान्‌की दयासे परिपूर्ण हो रहा है; यह निश्चय होते ही कामनाओंका मूल उखड़ जाता है; सारी वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं, अपनेसे दूर और बाहर कुछ रह ही नहीं जाता। फिर कामना किसकी हो और कौन करे! जो हो रहा है, वह हो; जो कुछ सोचा जा रहा है, सोचा जाय। न उनसे राग होता है न द्वेष। केवल मस्ती-ही-मस्ती रहती है। यह स्थिति सुख और दुःख दोनोंसे परे है और दोनोंकी ओरसे दृष्टि हटा लेनेसे प्राप्त होती है।

अच्छा क्या है, बुरा क्या है! आत्मामें, परमात्मा-में ऐसे भावोंके लिये अवसर ही कहाँ है! परन्तु न जाने किस अज्ञानके कारण ऐसी कल्पना हुई और यह अच्छा है, इस प्रकारका संकल्प एवं कहीं यह बुरा न हो इस प्रकारका विकल्प उठने लगा। इन सङ्कल्प-विकल्पोंसे भी चिन्ताकी कोई बात नहीं थी, नहीं है और नहीं होनी चाहिये, यदि अपनी तटस्थता-का, साक्षिताका अथवा लीला होनेका ज्ञान बना रहे। परन्तु ये सङ्कल्प-विकल्प मेरे हैं और मेरे सुख-दुःखके कारण हैं; इस भ्रान्तिने भूलभुलैयामें डाल दिया और दुःखका जो भय सुखके लिये किया गया था, वह भय ही महान् दुःखके रूपमें परिणत हो गया।

जीवकी कर्माभिमुख प्रवृत्ति केवल सुखके लिये हुई थी; परन्तु अपनेमें—अपने अन्तरात्मा भगवान्‌में अभावका अनुभव करके बाहर प्रवृत्त होना ही तो मूढ़ता थी। न जाने कबसे इसी मूढ़ताके कारण जीव दर-दर भटक रहा है। आनन्दस्वरूप तुच्छ सुखके लिये व्याकुल है। अमृतके समुद्रमें सराबोर एक बूँद पानीके लिये तरस रहा है। कितनी विडम्बना है—कैसा मोह है! सुख और दुःख, सङ्कल्प एवं विकल्पके कारण होते हों ऐसी बात नहीं। उनमें दुःख-सुखकी कल्पना ही दुःख-सुख हैं।

संसारमें एक चक्र चल रहा है। स्वयं संसार ही एक चक्र है। अज्ञानसे सत्ताकी प्रतीति; प्रतीति होने-के पश्चात् प्रिय-अप्रियकी कल्पना; प्रियमें राग, अप्रिय-में द्वेष; रागके अनुकूल प्रवृत्ति और द्वेषके प्रतिकूल प्रवृत्ति; प्रवृत्तियोंके अनुसार संस्कार; संस्कारके अनुसार वासना और वासनाके अनुसार पुनः प्रवृत्ति। इसी चक्रमें सारे जीव भटक रहे हैं। कहीं सुख, कहीं दुःख; कहीं अन्धकार, कहीं प्रकाश। इससे निकलनेके उपाय भी इसके अन्तर्गत ही हैं। स्वप्न टूटनेका अनुभव भी कभी-कभी स्वप्नमें हुआ करता है। ऐसी स्थितिमें इसके मूल अज्ञानको नष्ट कर डालना ही इससे छूटनेका उपाय है।

अज्ञान कोई वस्तु नहीं है। वह स्वयं एक कल्पना है। उसका नाश ही मुक्ति है और वह मुक्ति स्वयं ज्ञान है। ज्ञान अर्थात् अनन्त प्रकाश, जिसने कभी अन्धकारका स्पर्श नहीं किया। ज्ञान अर्थात् वह सूर्य जिसे रात्रि और दिनके भेदका पता नहीं है। ज्ञान अर्थात् वह परम स्थिति जिसमें गति और स्थिति दोनों ही अपने स्वरूपको खोये हुए हों। ज्ञान अर्थात् वह परमानन्द, जिसे सुख और दुःखके जन्मदाता मनने कल्पनाके द्वारा भी कभी स्पर्श नहीं किया है। फिर सुख और दुःख क्या है! पञ्चभूतोंसे होनेवाले सुख-दुःख और पञ्चभूत, 'ख' अर्थात् शून्यमें—साम्या-वस्था प्रकृतिमें समा गये, अब सु और दुः कहाँ! साम्यावस्था प्रकृति ब्रह्ममें समा गयी। उसमें सु और दुः का भेद कभी हो ही नहीं सकता। केवल ब्रह्म है, केवल परमात्मा है!

Regd. No. A. 1724.

श्रीकृष्णस्तवन

एक बार श्रीकृष्णको प्रणाम करनेसे दस अश्वमेध यज्ञ करनेका फल होता है। जो मनुष्य दस अश्वमेध यज्ञ करता है उसे फिर संसारमें जन्म लेना पड़ता है; किन्तु एक बार जो श्रीकृष्णको प्रणाम कर लेता है उसे कभी जन्म नहीं लेना पड़ता। जो श्रीकृष्णका व्रत करता है, जो रातमें और दिनमें उनका स्मरण करता है वह, अग्निमें मन्त्रोंद्वारा होम किये हुए घीके समान, कृष्ण-रूप होकर श्रीकृष्णके शरीरमें समा जाता है।

हे कृष्ण! तुम नरकका भय दूर करनेवाले और संसार-सागरके भँवरसे पार करनेके लिये नौका-स्वरूप हो; तुम गौ, ब्राह्मण और जगत्के हितकारी हो। हे कृष्ण! तुमको नमस्कार है। 'हरि' ये दो अक्षर जीवन-वनकी यात्रामें पाथेयरूप हैं, संसारके बन्धनसे छुड़ानेवाले हैं और दुःख-शोकका विनाश करनेवाले हैं। सत्य विष्णुमय है, जगत् विष्णुमय है, संसारकी सभी वस्तुएँ विष्णुमय हैं, वही विष्णु मेरे सब पापोंका नाश करें (नारायण, विष्णु आपके ही नाम हैं)। हे पुण्डरीकाक्ष! अभीष्ट गति पानेके लिये मैं आपकी शरण हूँ, आप मेरा भला करें। आप विद्या और तपकी उत्पत्तिके स्थान और स्वयम्भू हैं, मेरी की हुई इस स्तुतिसे आप प्रसन्न हों। वेद, तप और श्रेष्ठ देवता सब कुछ नारायणस्वरूप हैं। हे नारायण! आप सदा सब वस्तुओंमें विराजमान हैं।

(महाभारत शान्तिपर्व)
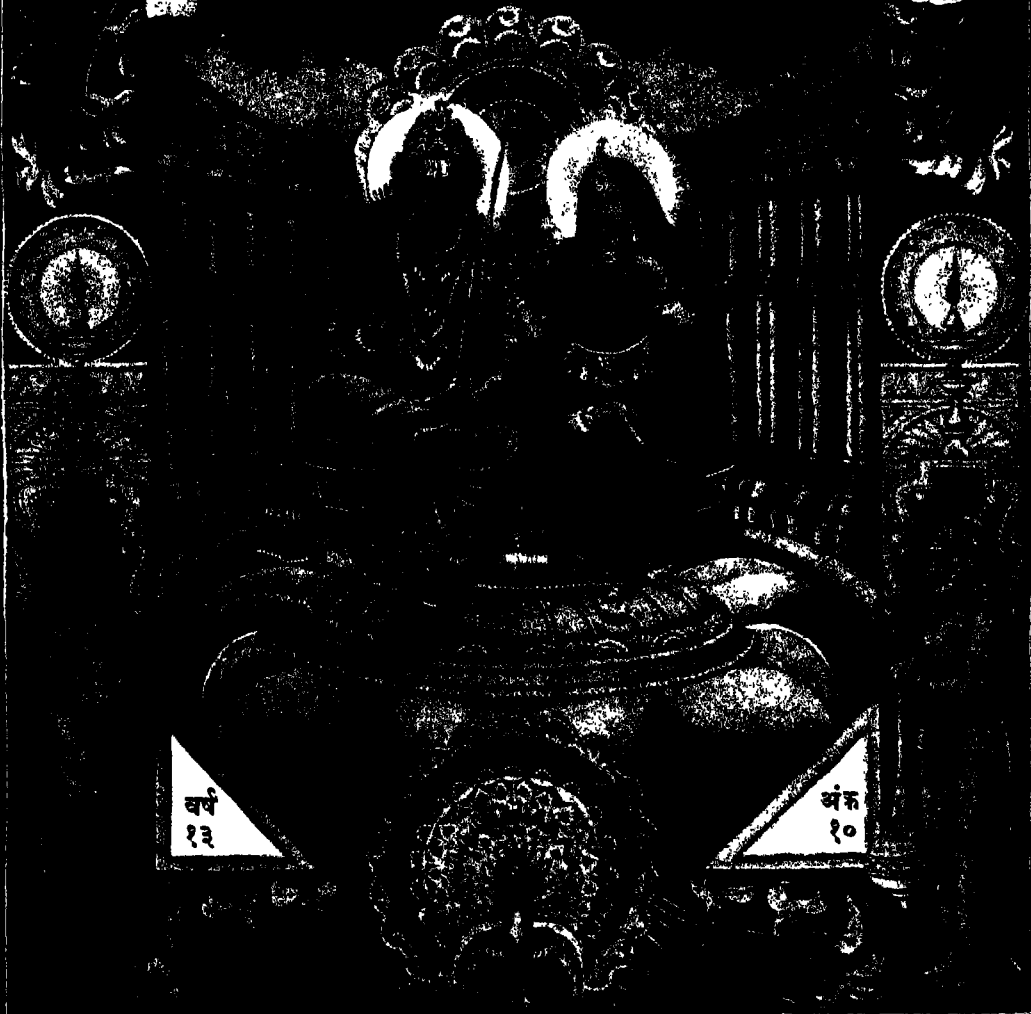
कल्याण
वर्ष
१३
अंक
१०

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियराम ॥

रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥

जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण ५४१००]

वार्षिक मूल्य
भारतमें ४≡)
विदेशमें ६॥≥)
(१० शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।)
विदेशमें ।≥)
(८ पेंस)

Edited by Hanumanprasad Poddar.

Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur (India)

श्रीहरिः

वर्तमान पूरे वर्षके ग्राहक अब और न बनाये जायँगे।

मानसांकके बादके कई फुटकर अङ्क समाप्त हो चुके हैं अतः अब पूरे वर्षके और ग्राहक नहीं बनाये जा सकते।

केवल मानसांक (तीनों खण्डसहित) का मूल्य ४) है। परन्तु दूसरा और तीसरा खण्ड भी प्रायः नहीं बचा है। इसलिये केवल प्रथम खण्डका मूल्य २||) कर दिया है अब केवल वही प्राप्य है। जिनको लेना हो वे मँगा सकते हैं।

व्यवस्थापक—**कल्याण, गोरखपुर**

कल्याण मई सन् १९३० का

विषय-सूची

गीताप्रेमी संत-महात्मा और विद्वानोंसे प्रार्थना

'गीता-तत्त्वांक'

इस बातको प्रायः सभी स्वीकार करते हैं कि जगत्‌के धार्मिक साहित्यमें श्रीमद्भगवद्गीता अपने ढंगका एक ही ग्रन्थ है। तत्त्वजिज्ञासुओं और विद्वानोंमें इसका बड़ा भारी आदर है, इसीसे जगत्‌की अधिकांश सभ्यभाषाओंमें गीताका अनुवाद हो चुका है। गीतापर निबन्ध तो इतने लिखे गये हैं कि जिनकी कोई गणना ही नहीं है। गीताका प्रचार भी दिनोंदिन बढ़ ही रहा है। गीताप्रेससे भी लाखोंकी संख्यामें गीता निकल चुकी है।

आगामी जुलाईमें 'कल्याण' का तेरहवाँ वर्ष समाप्त होगा। इस बार चौदहवें वर्षका प्रथमाङ्क 'श्रीगीता-तत्त्वांक' प्रकाशित करनेका निश्चय हुआ है। 'कल्याण' का एक गीताङ्क पहले निकल चुका है और उसको लोगोंने बहुत पसन्द भी किया था, परन्तु उसमें केवल लेख ही थे। इसमें लेखोंके अतिरिक्त पूरी गीतापर प्रश्नोत्तररूपसे सरल भाषामें विस्तृत टीका रहेगी। जिससे गीताप्रेमियोंको गीताके अध्ययनमें बड़ी सुविधा होगी। 'कल्याण' के इस 'गीता-तत्त्वांक' में निम्नलिखित विषय रहेंगे---

१. श्रीमद्भगवद्गीताके विभिन्न विषयोंपर महात्माओं और विद्वानोंके लेख।
२. श्रीमद्भगवद्गीताके पात्रोंका विशेष परिचय।
३. श्रीमद्भगवद्गीताकी अन्यान्य बहिरंग और अन्तरंग विशेषताएँ।
४. श्रीमद्भगवद्गीता सम्पूर्ण मूल, अनुवाद और विस्तृत टीकासहित।
५. श्रीमद्भगवद्गीतासम्बन्धी अनेकों रंगीन और सादे चित्र।

इस समय 'कल्याण' ५४१०० छपता है, श्रीमद्भगवद्गीता सर्वप्रिय वस्तु है इससे 'गीता-तत्त्वांक' भी बहुत बड़ी संख्यामें छापना होगा। अतएव छपाईका काम बहुत शीघ्र आरम्भ करना है, नहीं तो छपकर समयपर निकलना कठिन हो जायगा। लेख भेजनेवाले महानुभावोंको शीघ्रता करनी चाहिये, लेख आगामी १५ मईतक आ जाने चाहिये। लेख कागजकी एक पीठपर हाँसिया छोड़कर लिखे होने चाहिये। लेख चार पृष्ठसे बड़ा न हो।

लेखोंकी विषय-सूची

१. श्रीमद्भगवद्गीताके वक्ताका महत्त्व।
२. श्रीमद्भगवद्गीताके अधिकारी श्रोता।
३. श्रीमद्भगवद्गीता और भारतीय दर्शनशास्त्र।
४. श्रीमद्भगवद्गीता और पाश्चात्य दर्शनशास्त्र।
५. श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार जीवन्मुक्त महात्माका आदर्श।
६. श्रीमद्भगवद्गीताका सार्वभौम स्थान।

कल्याणके ग्राहकोंसे और ग्राहक बनानेवाले सज्जनोंसे नम्र निवेदन

यह 'कल्याण' की दसवीं संख्या है। दो महीने बाद कल्याण नवीन वर्षमें प्रवेश करेगा। इसका अगला प्रवेशांक "गीता-तत्त्वांक" होगा। विषय-सूची आपके सम्मुख उपस्थित है ही। गीतातत्त्वके विवेचनके साथ ही सैकड़ों रंग-बिरंगे चित्र इस अंकमें रहेंगे। अंक बहुत ही रोचक, सरल और उपादेय होगा।

आपलोग 'कल्याण' को अपनी प्यारी चीज मानकर इसके प्रचारके लिये निःस्वार्थ प्रेमसे सदा प्रयत्न करते हैं और उसीके फलस्वरूप कल्याणका इतना प्रचार है, यह आपलोगोंके लिये बड़े ही गौरवकी बात है। भगवान् और धर्मके सन्देशको घर-घर पहुँचानेमें आप जो इतनी सहायता दे रहे हैं, यह भगवान्‌की बड़ी ही कृपा है। प्रचारकी वृद्धिके लिये अभी बहुत बड़ा क्षेत्र खाली है। आशा है आपलोग और भी उत्साहके साथ ग्राहक बनानेकी चेष्टा करेंगे।

व्यवस्थापक—कल्याण, गोरखपुर

गीताप्रेस, गोरखपुरकी गीताएँ

श्रीमद्भगवद्गीता–[श्रीशांकरभाष्यका सरल हिन्दी-अनुवाद] इसमें मूल भाष्य तथा भाष्यके सामने ही अर्थ लिखकर पढ़ने और समझनेमें सुगमता कर दी गयी है। पृष्ठ ५१९, ३ चित्र, मूल्य साधारण जिल्द २॥) बढ़िया कपड़ेकी जिल्द .... २॥।)

श्रीमद्भगवद्गीता–मूल, पदच्छेद, अन्वय, साधारण भाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान और सूक्ष्म विषय एवं त्यागसे भगवत्प्राप्ति-सहित, मोटा टाइप, कपड़ेकी जिल्द, पृष्ठ ५७०, ४ चित्र, मूल्य १।)

श्रीमद्भगवद्गीता–मराठी टीका, हिन्दीकी १।) वाली नं० २ के समान, मूल्य .... १।)

श्रीमद्भगवद्गीता–प्रायः सभी विषय १।) वाली नं० २ के समान, विशेषता यह है कि श्लोकोंके सिरेपर भावार्थ छपा हुआ है, साइज और टाइप कुछ छोटे, पृष्ठ ४६८, मू० ॥≈) स० .... ॥।≈)

श्रीमद्भगवद्गीता–बंगला टीका, गीता नं० ४ की तरह, इसमें हिन्दी-गीताकी सब बातें बंगलामें लिख दी गयी हैं। इसमें भगवान् और अर्जुनका चित्र दूसरा नया बनाकर लगाया गया है। पृष्ठ ५४०, मूल्य ॥।)

श्रीमद्भगवद्गीता गुटका–(पाकेट साइज) हमारी १।) वाली गीताकी ठीक नकल, साइज २२×२९–३२ पेजी, पृष्ठ-संख्या ५८८, सजिल्द, मूल्य केवल .... ॥)

श्रीमद्भगवद्गीता–श्लोक, साधारण भाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान विषय, साइज मझोला, मोटा टाइप, गीता नं० १२ की तरह, पृष्ठ ३१६, मूल्य ॥) सजिल्द .... ॥≈)

श्रीमद्भगवद्गीता–सचित्र, इसके अक्षर खूब मोटे हैं। यह नित्यपाठके लिये पूजामें रखनेयोग्य है। नवसिखिये बालकों और स्त्रियों एवं बूढ़ोंके लिये विशेष कामकी चीज है। आकार २२×२९ सोलहपेजी। कागज चिकना, पृष्ठ १०६, मूल्य अजिल्द।-) सजिल्द .... ।≈)

श्रीमद्भगवद्गीता–केवल भाषा, संस्कृत-श्लोक न पढ़ सकनेवालोंके लिये बड़ी उपयोगी है। छोटे अक्षरोंसे जिनकी आँखोंमें पीड़ा होने लगती है वे इससे अधिक लाभ उठा सकते हैं, क्योंकि इसके अक्षर बड़े और गहरे हैं। आकार २०×३० सोलहपेजी। पृष्ठ २००, मूल्य ।) सजिल्द ।=)

श्रीमद्भगवद्गीता भाषा–(गुटका) प्रत्येक अध्यायके माहात्म्यसहित २२×२९–३२ पेजी साइज, पृष्ठ ४००, मूल्य अजिल्द ।) सजिल्द .... ।-)

पञ्चरत्न गीता–श्रीमद्भगवद्गीता (माहात्म्यादिसहित), श्रीविष्णुसहस्रनाम, श्रीभीष्मस्तवराज श्रीअनुस्मृति और श्रीगजेन्द्रमोक्ष यह पाँचों ग्रन्थ मूल मोटे टाइपोंमें नित्य पाठ करने लायक सुन्दर छापे गये हैं। आकार ४। इञ्च × ५॥ इञ्च, ग्लेज कागज, पृष्ठ-संख्या ३२८, सजिल्द मूल्य .... ।)

श्रीमद्भगवद्गीता–साधारण भाषाटीका, पाकेट-साइज, सभी विषय ॥) वाली गीता नं० ७ के समान, सचित्र, पृष्ठ ३५२, मूल्य =)॥ सजिल्द .... ≈)॥

श्रीमद्भगवद्गीता–मूल ताबीजी, बहुत छोटी होनेके कारण हर समय पास रखनेमें बहुत सुभीता रहता है। आकार २×२॥ इञ्च, पृष्ठ २९६, मूल्य केवल .... =)

श्रीमद्भगवद्गीता–मूल, विष्णुसहस्रनामसहित, इसमें गीताके मूल श्लोकोंके अतिरिक्त विष्णुसहस्रनाम भी छपा है। आकार छोटा, कागज चिकना, पृष्ठ १३२, सजिल्द, मूल्य केवल .... -)॥

श्रीमद्भगवद्गीता–७॥×१० इञ्च साइजके दो पन्नोंमें सम्पूर्ण, चित्रकी तरह शीशेमें मढ़ाकर रखनेयोग्य है। मू० -)

पता–गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
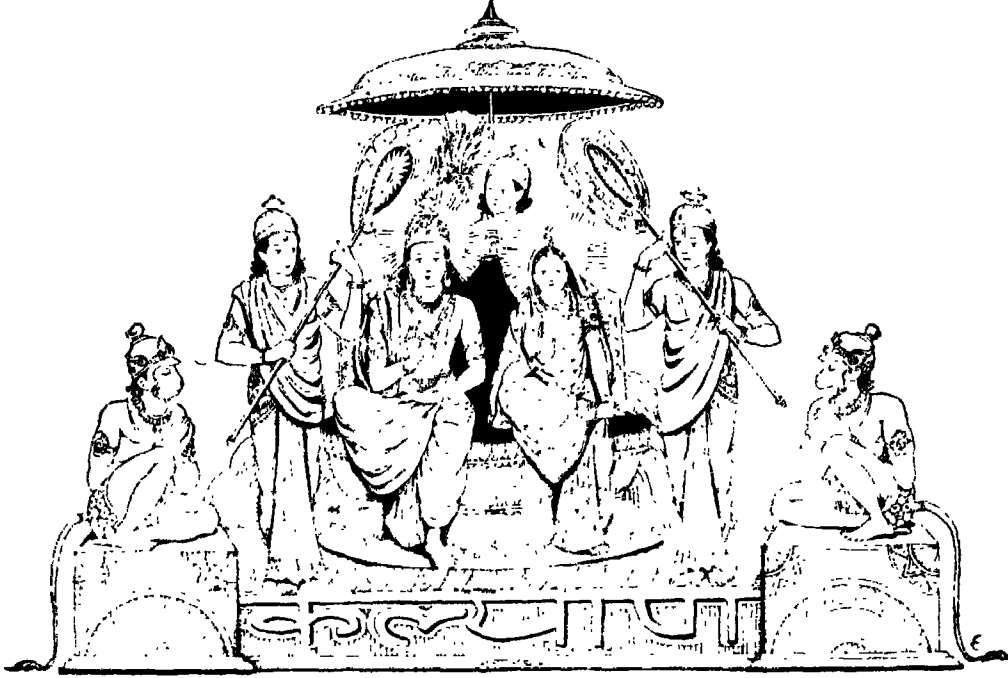
नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्गं सीतासमारोपितवामभागम् ।
पाणौ महासायकचारुचापं नमामि रामं रघुवंशनाथम् ॥

वर्ष १३ } गोरखपुर, वैशाख १९९६, मई १९३९ { संख्या १०
पूर्ण संख्या १५४

राम-नामकी महिमा

भरोसो जाहि दूसरो सो करो ।
मोको तो रामको नाम कलपतरु कलि कल्यान फरो ॥ १ ॥
करम उपासन ग्यान, बेदमत, सो सब भाँति खरो ।
मोहि तो सावनके अंधहि ज्यों सूझत रंग हरो ॥ २ ॥
चाटत रह्यो स्वान पातरि ज्यों कबहुँ न पेट भरो ।
सो हौं सुमिरत नाम-सुधारस पेखत परसि धरो ॥ ३ ॥
स्वारथ औ परमारथ हू को नहिं कुंजरो नरो ।
सुनियत सेतु पयोधि पषाननि करि कपि-कटक तरो ॥ ४ ॥
प्रीति-प्रतीति जहाँ जाकी, तहँ ताको काज सरो ।
मेरे तो माय-बाप दोउ आखर, हौं सिसु-अरनि अरो ॥ ५ ॥
संकर साखि जो राखि कहौं कछु तो जरि जीह गरो ।
अपनो भलो राम-नामहि ते तुलसिहि समुझि परो ॥ ६ ॥

—तुलसीदासजी

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी महाराज)

[श्वेताश्वतरोपनिषद्]

[मणि ११]

(गताङ्कसे आगे)

परमात्मदेवकी व्यापकता

हे संन्यासियो ! इस लोकमें जीवोंके मुख, मस्तक, ग्रीवा, हस्तपादादि जितने अवयव हैं वे सब परमात्मदेवके ही हैं। परमात्मदेव सर्व जीवोंके हृदयमें स्थित है और सब जीवोंका आत्मा है, इसलिये सर्वगत है । आनन्दरूप आत्मामें शोकादिकोंका कारण अविद्या नहीं है, इसलिये शोकादि विकार भी उसमें सम्भव नहीं हैं। इसीलिये श्रुति भगवती परमात्मदेवको 'शिव' कहती है। आनन्दस्वरूप आत्मदेव आकाशादि महान् पदार्थोंसे भी अतिशय महान् है। दो चक्षु, दो नासिका, दो श्रोत्र, मुख, उपस्थ, पायु, नाभि और मूर्द्धद्वार, इन ग्यारह द्वारोंसे युक्त जितने जीवोंके शरीर हैं, उन सबमें परमात्मदेव विराजमान है। परमात्मदेव इन जीवोंके हृदयमें स्थित होकर जीवोंकी बुद्धिका शुभ-अशुभ कर्मोंमें प्रवृत्त करता है। परमात्मदेव अपने स्वरूपभूत आनन्दको अपने स्वप्रकाशरूपसे ही जानता है और भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालोंमें स्थित स्थूल-सूक्ष्म पदार्थोंका स्वामी है। परमात्मदेव सूर्य आदि ज्योतियोंका भी ज्योतिरूप है, नाशसे रहित साक्षी क्षेत्रज्ञ है । हे संन्यासियो ! यह स्वयंज्योति परमात्मदेव यद्यपि परमार्थसे आकाशके समान सर्वत्र परिपूर्ण है, तो भी जीवोंके अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाले हृदयछिद्रमें स्थित होनेसे अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाला कहा जाता है। यद्यपि परमात्मदेव स्थावर-जङ्गमरूप समस्त जगत्में समानरूपसे व्यापक है, तो भी हृदयदेशमें बुद्धि आदि संघातके साक्षीरूपसे परमात्मदेवकी विशेषरूपसे प्रतीति होती है; इसलिये श्रुति भगवती परमात्मदेवको हृदयदेशमें स्थित कहती है। परमात्मा बुद्धिकी सब वृत्तियोंको प्रवृत्त करनेवाला है। श्रवण-मननादि साधनोंसे युक्त अन्तर्मुख शुद्ध मनसे ही परमात्मा जाननेमें आता है, बहिर्मुख पुरुष उसको जान नहीं सकते। हे संन्यासियो ! जो अधिकारी पुरुष शुद्ध मनसे अन्तर्यामी आत्माका साक्षात्कार करता है, वह मोक्षरूप अमृतभावको प्राप्त होता है। यह परमात्मदेव सर्व भूतप्राणियोंका आत्मा है, इसलिये सहस्र मस्तकवाला, सहस्र नेत्रवाला और सहस्र पादवाला कहलाता है। जैसे दश अङ्गुल परिमाणवाले काष्ठको व्याप्त करके अग्नि उस काष्ठसे बाह्य अधिक देशमें भी रहता है, उसी प्रकार परमात्मदेव विराट्, हिरण्यगर्भ, अव्याकृत, इन तीनोंको व्याप्त करके उनसे अधिक देशमें भी रहता है। यह अधिक देश परमात्माकी महिमारूप है, इसलिये आनन्दस्वरूप आत्मा आकाशके समान ब्रह्माण्डके भीतर-बाहर सर्वत्र व्यापक है। हे संन्यासियो ! भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों कालमें स्थित सम्पूर्ण जगत् परमात्मदेवसे व्याप्त है; इसलिये परमात्मा ही अधिकारियोंको मोक्षरूप अमृतकी प्राप्ति कराता है, और कर्म-उपासना करनेवालोंको धर्म, अर्थ, काम, इन तीन प्रकारके पुरुषार्थकी प्राप्ति कराता है। यह परमात्मदेव ही पृथिवीमें अन्नरूपसे प्रकट होता है, इसलिये अन्तर्यामी अद्वितीय ब्रह्मरूप है। इस लोकमें जीवोंके जितने हस्त, पाद, नेत्र, मुख, श्रोत्रादिक अङ्ग हैं, वे सब ब्रह्मके ही अङ्ग हैं। ब्रह्म

सर्व जगत्‌को व्याप्त करके स्थित है। परमार्थसे नेत्रादि सर्व इन्द्रियोंसे रहित भी परमात्मदेव नेत्रादि सर्वेन्द्रियोंके विषयोंको प्रकाश करता है, सर्व जगत्‌का स्वामी है, सम्पूर्ण जगत्‌को अपनी आज्ञामें चलाता है, सबका रक्षण करता है और सर्व जगत्‌के ऊपर उपकार करता है। हे संन्यासियो! जैसे महाराजा अपने पुरमें प्रवेश करके स्थित होता है, उसी प्रकार परमात्मदेव जीवरूपसे इस शरीरमें प्रवेश करके स्थित होता है। यह शरीर मुखादि नव द्वारवाला है, इसलिये विवेकी पुरुष इस शरीरको नव द्वारवाला 'पुर' कहते हैं। अथवा अन्न-पानादिकोंके परिणामरूप रसादि धातुओंसे यह शरीर नित्य पूर्ण होता है, इसलिये विवेकी पुरुष शरीरको 'पुर' कहते हैं। ऐसे शरीररूप पुरमें स्थित होकर यह जीवात्मा अपनेको अद्वितीय ब्रह्मरूप जानकर जब कार्यसहित अज्ञानका नाश करता है तब यह जीवात्मा 'हंस' संज्ञाको प्राप्त होता है। यह जीवरूप हंस इस शरीररूप पुरमें स्थित होकर विषयोंकी प्राप्तिके लिये बाहर जाकर नाना प्रकारकी चेष्टा करता है। हे संन्यासियो! जैसे स्त्रियोंके वशवर्ती कामी पुरुष इस लोकमें 'वशी' कहलाता है, उसी प्रकार परमार्थसे स्वतन्त्र परमात्मदेव जब अविद्यारूप उपाधिके सम्बन्धमें इस संसारचक्रमें पड़कर सब लोकोंके वशवर्ती होता है, तब 'वशी' कहलाता है। अथवा जीवोंको वश करनेवाले मन्त्र, औषध आदि पदार्थ जिस पुरुषके पास होते हैं उसको लोग 'वशी' कहते हैं, इसी प्रकार स्थावर-जङ्गमरूप जगत्‌को वश करनेका साधनरूप चैतन्यता परमात्मामें सर्वदा विद्यमान है, इसलिये श्रुति भगवती परमात्मदेवको 'वशी' कहती है। हे संन्यासियो! यह परमात्मा हाथ-रहित होकर भी पदार्थोंका ग्रहण करता है, बिना पैर भी मनसे अधिक वेगवाला है, नेत्ररहित भी सबको देखता है, श्रोत्ररहित भी सब शब्दोंको सुनता है।

शङ्का-हे भगवन्! परमात्मदेव सब जगत्‌का उपादान कारण है, इसलिये उसका सब जगत्‌से सम्बन्ध है, तब परमात्मामें नेत्रादि इन्द्रियोंका अभाव कहना नहीं बनता।

समाधान-हे संन्यासियो! नेत्रादि इन्द्रियाँ और इन्द्रियोंके गोलक सम्पूर्ण स्थूल-सूक्ष्म शरीरोंमें रहते हैं, आत्मामें नहीं रहते। आत्माका स्थूल-सूक्ष्म शरीर और इन्द्रियोंके साथ तादात्म्य-अध्यास है। ब्रह्मविद्यासे जिस आत्माका शरीरादिकोंके साथ तादात्म्यअध्यास निवृत्त हो जाता है, उस मुक्त आत्माका इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध नहीं होता, इसीलिये श्रुतिमें परमात्माका सर्व इन्द्रियोंसे रहित कहा है और माया-शक्तिके सम्बन्धसे परमात्मामें सर्व इन्द्रियोंका व्यापार सिद्ध होता है, इसलिये परमात्माको सर्व इन्द्रियोंके व्यापारका कर्ता कहा है। हे संन्यासियो! यह परमात्मा ही सर्व इन्द्रियोंके व्यापारको करता है, इसमें तुम आश्चर्य मत करो, बल्कि जैसे एक ही मृत्तिका घट-शरावादि अनेक रूपोंको प्राप्त होती है, उसी प्रकार यह जीव नेत्रादि बाह्य इन्द्रियोंसे तथा मन-बुद्धि आदि अन्तःकरणोंसे जिन-जिन पदार्थोंको ग्रहण करता है, वे सम्पूर्ण पदार्थ भी परमात्मा ही हैं, क्योंकि परमात्मा देश-काल-वस्तु-परिच्छेदसे रहित सर्वत्र व्यापक है। ऐसे स्वयंज्योति आनन्दस्वरूप आत्माको कोई जड-चेतन पदार्थ विषय नहीं कर सकता, इसीलिये ब्रह्मवेत्ता विद्वान् पुरुष इस जगत्‌की उत्पत्तिसे पूर्व भी अद्वितीय आत्माकी स्थिति कथन करते हैं। हे संन्यासियो! यह परमात्मदेव अणु पदार्थोंसे भी अत्यन्त अणु है और आकाशादि महान् पदार्थोंसे भी अत्यन्त महान् है। यह परमात्मदेव सब जीवोंके हृदयरूप गुहामें विराजमान है, तो भी पूर्ण गुरुकी कृपा बिना किसीको प्राप्त नहीं होता इसलिये अधिकारी विषय-वासनाओंसे रहित होकर गुरुकी शरणमें जाते हैं और गुरुके उपदेशसे इस स्वयंज्योति आत्माका साक्षात्कार करते हैं और काम-

क्रोधादिक सर्व पाशोंसे मुक्त होते हैं।

हे संन्यासियो! जो रुद्र भगवान् अपनी कल्याण-मूर्तिद्वारा हम सर्व अधिकारी जनोंका पालन करते हैं, वे ही सब जीवोंके गुरुरूप हैं और हम अधिकारियोंको इस प्रकारका उपदेश देते हैं—

हे शिष्यो! तुम पुण्य-पापरूप कर्मोंके कर्ता नहीं हो, उन कर्मोंके सुख-दुःखरूप फलके भोक्ता नहीं हो, किन्तु वेदान्तशास्त्रमें कथन किये हुए अद्वितीय आनन्दस्वरूप ब्रह्म हो; इसमें किञ्चित् भी संशय न करो! तुम्हारे स्वरूपसे भिन्न जितना जगत् है, वह सर्व स्वप्नके समान मिथ्या है और तुम्हारे स्वरूपमें कल्पित है।

हे संन्यासियो! इस प्रकारके रुद्र भगवान्के उपदेशसे उत्पन्न हुए आत्मज्ञानसे अधिकारी सर्व शोकसे रहित हो जाते हैं। मैं श्वेताश्वतर भी रुद्र भगवान्के उपदेशसे आत्माका साक्षात्कार कर रहा हूँ। अद्वितीय आत्मा सबका आत्मारूप है, अजर है, अमर है, पुरातन है, विभु होनेसे सर्वत्र व्यापक है और सर्व भेदसे रहित है। अज्ञानी जीव आत्माको जन्म-मरणवाला जानते हैं और ब्रह्मवेत्ता विद्वान् आत्माको नित्य कहते हैं। अशुद्ध अन्तःकरणवाले-को आत्माका साक्षात्कार नहीं होता, इसलिये अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये अधिकारियोंको प्रथम सगुण ब्रह्मका चिन्तन करना चाहिये।

सगुण ब्रह्मका स्वरूप

हे संन्यासियो! परमात्मदेवके पर और अपर दो रूप हैं। निर्गुणका नाम पर है और सगुणका नाम अपर है। श्रुति—'द्वे ब्रह्मणी रूपे परं च अपरं च'। ऐसा पर-अपर रूपवाला परमात्मा ॐकाररूप प्रणवका अर्थरूप है। इन दोनोंमें परब्रह्म प्रणवका लक्ष्य अर्थ है और अपर ब्रह्म वाच्य अर्थ है। मीमांसादि शास्त्र शब्दका अर्थके साथ तादात्म्य सम्बन्ध मानते हैं, इसलिये परमात्मा प्रणवरूप है। प्रणवरूप परमात्मदेव अपनी माया-शक्तिसे सृष्टिके आदिकालमें जीवोंके भोगकी सिद्धिके लिये 'प्रणव' नामसे सब शब्दोंको और सब अर्थोंको उत्पन्न करता है और प्रलयकालमें सब प्रपञ्चको अपने शान्त-स्वरूपमें लय कर लेता है। ऐसा परमात्मदेव हम अधिकारियोंको शुभ बुद्धि दे! जिस शुभ बुद्धिके प्रसादसे हम अपने आत्माका अद्वितीयरूपमें निश्चय करें! हे संन्यासियो! 'मैं ब्रह्मरूप हूँ' इस प्रकार शुद्ध बुद्धिसे जानने योग्य जो ब्रह्म है, वही अग्निरूप है, वही आदित्यरूप है, वही वायुरूप है, वही चन्द्रमारूप है, वही अव्याकृतरूप है, वही तारामण्डलरूप है, वही ऋगादि वेदरूप है, वही सूक्ष्म पञ्चभूतरूप है, वही हिरण्यगर्भरूप है, वही विराट्रूप है, वही मरीचि, दक्ष, प्रजापतिरूप है। यहाँतक ब्रह्ममें अधिदैवरूपता कथन की, अब अध्यात्मरूपता कहता हूँ। हे संन्यासियो! वह ब्रह्म ही स्त्रीरूप है, वही पुरुषरूप है, वही कुमाररूप है, वही कुमारीरूप है, वही युवा, वही वृद्ध है, वही सर्व शरीररूप है, वही अन्तःकरणकी वृत्तिके भेदसे नाना ज्ञानरूप है। इस प्रकार जो 'त्वं' पदका अर्थ-रूप आत्मा है, वह 'तत्' पदार्थरूप ईश्वरसे भिन्न नहीं है किन्तु उपाधि छोड़कर ईश्वररूप ही है।

आत्माका पक्षीरूपमें वर्णन

हे संन्यासियो! जो अधिकारी निर्गुण ब्रह्मको जाननेमें समर्थ नहीं हैं, उनके ऊपर अनुग्रह करके महात्मा पुरुष विराट्रूप परमात्माका पक्षीरूपसे वर्णन करते हैं। जगत्का कारणरूप विराट्भगवान् पक्षीरूप हैं, दूर्वादलके समान पक्षीका श्यामवर्ण है, दोनों नेत्र अग्निके समान रक्तवर्णवाले हैं, जैसे माताके उदरमें बालक रहता है, वैसे ही विद्युत्के समान शीघ्र ही उत्पत्ति-नाशवाला यह जगत् विराट्रूप पक्षीके गर्भमें रहता है। वसन्तऋतु आदि काल, क्षारादि नाना प्रकारके समुद्र विराट्रूप पक्षीके पक्षरूप हैं, विराट्रूप पक्षी उपासकोंको

ब्रह्माण्डसे बाहर ले जाता है और ब्रह्माण्डके भीतर-बाहर व्यापक है। विराट्भगवान्से चौदह भुवन उत्पन्न होते हैं। उन्हींसे भुवनोंके कारण स्थूल भूत उत्पन्न होते हैं। हे संन्यासियो! इस प्रकार सगुण ब्रह्मके ध्यानसे जब अधिकारियोंका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, तो शीघ्र ही उनको निर्गुण ब्रह्मका साक्षात्कार होता है।

महावाक्य-विचार

हे संन्यासियो! इस प्रकार परमेश्वरमें पक्षीकी कल्पना करके शुद्धचित्तवालोंके लिये विद्वान् महावाक्यका उपयोगी विचार निरूपण करनेके लिये परमात्मदेवमें जीव, ईश्वर और माया, इन तीन प्रकारके भेदोंकी कल्पना करते हैं, माया सर्व जगत्का कारण है, मायाका जन्म नहीं हुआ है, इसलिये श्रुति भगवती मायाको 'अजा' कहती है। यह अजा माया तेज, जल, पृथिवी, इन तीन कार्यरूपसे तीन रूपवाली है। अग्निरूपसे माया लोहितवर्णवाली है, जलरूपसे शुक्लवर्णवाली है और पृथिवीरूपसे कृष्णवर्णवाली है। इन तीन रूपोंसे माया अपने समान सर्व जगत्को उत्पन्न करती है। जैसे लोकप्रसिद्ध अजा (बकरी) अपने समान रूपवाले अजों (बकरों) को उत्पन्न करती है, उसी प्रकार मायारूप अजा भी अपने समान ही रूपवाले जगत्को उत्पन्न करती है। जैसे अजाके भोगनेकी इच्छावाला अज अजाका सेवन करता है और अजाके भोगनेकी इच्छा न करनेवाला निष्काम अज अजाका परित्याग करता है, उसी प्रकार 'त्वं' पदका अर्थरूप जीवात्मारूप अज मायारूप अजाके भोगनेकी इच्छावाला होनेसे मायारूप अजाका सेवन करता है, इसलिये बन्धायमान होता है और 'तत्' पदका अर्थरूप ईश्वररूपी अज मायारूप अजाके भोगनेकी इच्छासे रहित होनेसे उसका परित्याग करता है, इसलिये ईश्वर नित्यमुक्त है।

और हे संन्यासियो! कई महात्मा पुरुष जीव, ईश्वर, मायाका इस प्रकार वर्णन करते हैं, कार्यरूप जगत्सहित माया वृक्षरूप है। जैसे वृक्षोंपर पक्षी रहते हैं, उसी प्रकार मायारूप वृक्षपर 'तत्' पदका अर्थरूप ईश्वर और 'त्वं' पदका अर्थरूप जीव ये दोनों पक्षी रहते हैं। ये दोनों जीव-ईश्वररूप पक्षी परमार्थतः अभिन्न हैं और समान रूपवाले हैं। इन दोनोंमेंसे बुद्धिविशिष्ट जीवरूप पक्षी तो मायारूप वृक्षके पुण्य-पापरूप पुष्पोंसे उत्पन्न हुए सुख-दुःखरूप फलोंको स्वादु मानकर भोगता है और दूसरा ईश्वररूप पक्षी सुख-दुःखरूप फलोंको कभी नहीं भोगता किन्तु उनका केवल प्रकाश ही करता है।

हे संन्यासियो! अजरूपसे और पक्षीरूपसे श्रुतिमें भोक्ता-अभोक्तारूप जीव-ईश्वरकी विलक्षणता कथन की है। श्रुतिका जीवके भोक्तापनेमें तात्पर्य नहीं है, किन्तु भोक्तापनेकी निवृत्तिमें तात्पर्य है। क्योंकि लोग जिस अर्थको नहीं जानते, उस अर्थको जनानेसे ही शास्त्रमें प्रमाणरूपता है, लोकप्रसिद्ध अर्थको बोधन करानेमें शास्त्रकी प्रमाणरूपता नहीं है। इस लोकमें अज्ञानी पुरुषोंको जीवमें भोक्तापना प्रत्यक्ष सिद्ध है, इसलिये लोकप्रसिद्ध अर्थ जीवके भोक्तापनेमें श्रुतिका तात्पर्य सम्भव नहीं है किन्तु भोक्तापनेके निवृत्त करनेमें ही तात्पर्य हो सकता है।

शङ्का—हे भगवन्! श्रुतिवचन जीवका भोक्तापना निवृत्त नहीं करता, किन्तु ईश्वरका ही भोक्तापना निवृत्त करता है।

समाधान—हे संन्यासियो! जो वस्तु जिस स्थानमें किसी प्रमाणसे प्राप्त होती है, उसीका उस स्थानमें निषेध होता है और जो वस्तु जिस स्थानमें किसी प्रमाणसे प्राप्त नहीं है, उसका उस स्थानमें निषेध नहीं होता, यह सर्व शास्त्रोंका सिद्धान्त है, इसलिये श्रुतिवचन ईश्वरमें भोक्तापनेकी निवृत्ति तभी कर सकता है जब ईश्वरमें किसी प्रमाणसे भोक्तापना सिद्ध हो। ईश्वरमें किसी प्रमाणसे भोक्तापना सिद्ध नहीं है, तब श्रुति ईश्वरके भोक्ता-

पनेको कैसे निवृत्त करेगी ? नहीं करेगी । किंवा जो वादी ईश्वरमें भोक्तापना मानता है, उससे पूछना चाहिये कि ईश्वरमें भोक्तापना प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाणोंसे सिद्ध है अथवा किसी श्रुतिप्रमाणसे सिद्ध है ? इनमेंसे प्रथम पक्ष सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाण लोकप्रसिद्ध घटादि पदार्थोंको ही विषय करते हैं, अलौकिक पदार्थोंको विषय नहीं करते । ईश्वर लोकप्रसिद्ध नहीं है, इसलिये अलौकिक है । अलौकिक ईश्वरको प्रत्यक्षादि प्रमाण विषय नहीं कर सकते । दूसरा पक्ष भी सम्भव नहीं है, क्योंकि ईश्वरमें भोक्तापनेका प्रतिपादन करनेवाली कोई श्रुति नहीं है, उलटा 'न तदश्नाति किञ्चन' इत्यादि श्रुतियाँ ईश्वरमें अभोक्तापना ही कथन करती हैं, इसलिये 'तत्' पदार्थरूप ईश्वरमें भोक्तापना किसी प्रमाणसे प्राप्त नहीं है । इसलिये उपर्युक्त श्रुतिवचनसे ईश्वरमें भोक्तापनका निषेध सम्भव नहीं है, किन्तु श्रुतिवचन पूर्वपक्षीकी शङ्का-को निवृत्ति करके 'त्वं' पदार्थ जीवमें ही भोक्तापने-की निवृत्ति करता है । पूर्वपक्षीकी शङ्का यह है कि 'मैं ब्रह्म हूँ' यह जीव-ब्रह्मके अभेदका कथन करने-वाला वचन व्यर्थ है, क्योंकि जीव भोक्ता है और ब्रह्म अभोक्ता है, इसलिये भोक्ता जीवका अभोक्ता ब्रह्मके साथ अभेद सम्भव नहीं है । इस प्रकारकी वादीकी शङ्काको श्रुति निवृत्त करती है ।

शङ्का—हे भगवन् ! जीव-ईश्वरको अज और पक्षीरूप वर्णन करनेवाला श्रुतिवचन वादीकी शङ्काको किस प्रकार निवृत्त करता है ?

समाधान—हे संन्यासियो ! जैसे 'तत्' पदार्थरूप निर्विकार ईश्वरमें अजपना और पक्षीपना शब्दके बलसे प्रतीत होता है, परन्तु वास्तवमें है नहीं केवल आरोपित है, उसी प्रकार 'त्वं' पदार्थरूप जीवमें बुद्धिके सम्बन्धसे भोक्तापना प्रतीत होता है, परन्तु परमार्थसे नहीं है, केवल आरोपित है । तात्पर्य यह है कि अन्तःकरणादि उपाधियोंसे युक्त चेतनका नाम जीव है, उपाधिरहित जीवका स्वरूप साक्षी कूटस्थ है । उसमें तीन कालमें भी भोक्तापना नहीं है केवल अन्तःकरणमें है । अन्तःकरणके भोक्तापने-का आत्मामें आरोप करके जीव भोक्ता कहलाता है, परमार्थसे जीव अभोक्ता ही है; इसलिये अभोक्ता जीवका अभोक्ता ब्रह्मसे अभेद बन सकता है ।

हे संन्यासियो ! अविद्यारूप वृक्षपर रहनेवाला यह जीवरूप पक्षी अपने वास्तविक स्वरूपके अज्ञानसे ही सुख-दुःखरूप फलको भोगता है और शरीर, बुद्धि आदिके अध्याससे दुःखरूप समुद्रमें डूबता है । जब 'त्वं' पदका अर्थरूप जीवात्मा गुरुकृपासे प्राप्त हुई शुद्ध बुद्धिसे स्वयंज्योति आनन्दस्वरूप अद्वितीय आत्माको देहादिसे भिन्न जान लेता है, तब वह सर्व शोकोंसे रहित हो जाता है और 'तत्' पदार्थरूप ईश्वरके साथ अभेद भावको प्राप्त करके ईश्वरकी सर्वात्मभावरूप महिमाको प्राप्त हो जाता है ।

हे संन्यासियो ! ब्रह्मवेत्ता गुरुकी कृपासे विद्वान् अधिकारी जिस 'तत्' पदार्थरूप ईश्वरको प्राप्त होता है, उस ईश्वरके स्वरूपको याज्ञवल्क्यमुनिने गार्गीको अक्षररूपसे कहा है, उस अक्षर आत्मामें ऋगादि वेद, विश्वेदेवता तथा अग्नि आदि देवता-सहित सम्पूर्ण जगत् स्थित है । सर्व जगत्के अधिष्ठानरूप अक्षर परमात्माको जो अज्ञानी सर्वान्तर्यामीरूपसे नहीं जानते, वे लोकमें व्यर्थ ही जीते हैं और जो अधिकारी अक्षर परमात्माको सर्वान्तर्यामीरूपसे जानते हैं, उन्हींका जीवन सफल है । जैसे गर्दभके ऊपर लदा हुआ चन्दनका भार गर्दभके उपकारके लिये नहीं होता किन्तु क्लेशरूप होता है, उसी प्रकार अन्तर्यामी परमात्माको न जाननेवाले बहिर्मुख पुरुषोंको छहों अंगोंसहित चारों वेदोंका अध्ययन किसी उपकारके लिये नहीं होता किन्तु अभिमानकी ही वृद्धि करता है । हे संन्यासियो ! तुम्हारे समान परमात्मदेवको अपने आत्मारूपसे जाननेवाले विद्वान् ही महाराजाके

समान सुखपूर्वक स्थित होते हैं। ऋगादि वेदोंके अध्ययनका फल आत्मज्ञान ही है, आत्मज्ञानसे अधिक कोई फल नहीं है।

शङ्का—हे भगवन्! एक आत्माके जाननेसे पुरुष कृतकृत्य नहीं हो सकता, क्योंकि आत्माके सिवा अनेक पदार्थ अधिकारीको जाननेयोग्य हैं।

समाधान—हे संन्यासियो! आत्माके ज्ञानके सिवा अन्य किसी उपायसे सर्व जगत्का ज्ञान नहीं हो सकता किन्तु आत्माके ज्ञानसे ही सर्व जगत् जाननेमें आ सकता है, क्योंकि जैसे इस लोकमें घट-पटादि कार्योंका मृत्तिका-तन्तु आदि कारण ही वास्तविक स्वरूप होता है, कारणके सिवा कार्यका दूसरा स्वरूप नहीं होता, इसलिये मृत्तिकादि कारणोंका ज्ञान होनेपर घट-पटादि कार्योंका अवश्य ज्ञान हो जाता है, इसी प्रकार परमात्मारूप कारणके ज्ञानसे कार्यरूप सब जगत्का ज्ञान हो जाता है। जैसे मायावी पुरुष नाना प्रकारके ऐन्द्रजालिक पदार्थोंका कारण होता है, उसी प्रकार परमात्मदेव अपनी माया-शक्तिसे इस सर्वजगत्का कारण है। परमात्मदेव अपनी माया-शक्तिसे गायत्री आदि नाना छन्दोंको, ऋगादि चारों वेदोंको, अग्निष्टोमादि नाना यज्ञोंको, नाना प्रकारके शुभ-अशुभ फलोंको, नाना प्रकारके तपोंको तथा भूत, भविष्य और वर्तमान जगत्को उत्पन्न करता है। इसलिये परमात्मारूप कारणके जाननेसे कार्यरूप सम्पूर्ण जगत्का ज्ञान हो सकता है।

शङ्का—हे भगवन्! जिस माया-शक्तिसे परमात्मा जगत्को उत्पन्न करता है, उसका क्या स्वरूप है?

मायाका स्वरूप

समाधान—हे संन्यासियो! जैसे अन्धकार अपनी सिद्धिके लिये सूर्यादि प्रकाशोंकी अपेक्षा नहीं करता, उसी प्रकार जो वस्तु अपनी सिद्धिके लिये किसी दूसरे प्रमाणकी अपेक्षा नहीं करती और सम्पूर्ण कार्योंको उत्पन्न करती है, उस वस्तुका नाम माया है। हे संन्यासियो! जैसे स्वप्नद्रष्टा पुरुष निद्राके बलसे स्वप्नमें अनेक पदार्थोंकी उत्पत्ति, स्थिति, लय करता है, उसी प्रकार परमात्मदेव भी माया-शक्तिसे इस जगत्की उत्पत्ति, स्थिति, लय करता है। हे संन्यासियो! इस प्रकार परमात्मदेवसे उत्पन्न हुए संसारचक्रमें अविद्यासे निरुद्ध हुआ जीव अपनेको परमात्मासे भिन्न मानता है और कर्मरूप बन्धनगृहमें काम-क्रोधादि पाशोंसे बँधा हुआ नाना प्रकारसे दीन-दुःखी हो रहा है। इस माया-शक्तिमें अत्यन्त आश्चर्यरूप बल है; उसके दिङ्मात्र बलका निरूपण करता हूँ, सुनो—

मायाका सामर्थ्य—हे संन्यासियो! माया प्रकृतिरूप है, मायाका अधिष्ठान महेश्वर है। यह पुरुष जिसके द्वारा अत्यन्त दुर्घट कार्य करता है, उसका नाम प्रकृति है। परमात्मदेव मायासे अत्यन्त दुर्घट कार्य करता है, इसलिये शास्त्रवेत्ता मायाको 'प्रकृति' कहते हैं। हे संन्यासियो! परमात्मदेव निर्गुण, असंग, जन्मादि विकारोंसे रहित, अद्वितीयरूप है; ऐसे आत्मामें नानापना अत्यन्त दुर्घट है, तो भी माया उस अद्वितीय परमात्माको कार्यभावसे नानाभावको प्राप्त कराती है, इसलिये दुर्घट कार्य करनेवाली मायाको बुद्धिमान् पुरुष 'प्रकृति' कहते हैं। हे संन्यासियो! लोकप्रसिद्ध ऐन्द्रजालिक पुरुषोंकी मायामें एक तो मिथ्या पदार्थोंकी उत्पत्ति करना और दूसरे, एक पदार्थको नानारूपसे दिखलाना, ये दो स्वभाव प्रसिद्ध हैं, दोनों स्वभाववाली मायासे युक्त ऐन्द्रजालिक पुरुषोंको लोग 'मायी' कहते हैं। परमात्माके आश्रित मायामें भी ये दोनों स्वभाव हैं, क्योंकि एक ही असंग निर्गुण परमात्मदेव मायासे अनेक प्रकारका हो जाता है और अपने अवयवरूप आकाशादि और इन्द्रियादिकोंसे चराचर जगत्को व्याप्त करता है। हे संन्यासियो! अधिकारी जिस किसी शरीरमें स्थित होकर जब परमात्माका अपने आत्मारूपसे साक्षात्कार करता है, तभी मोक्षरूप परम शान्तिको

प्राप्त होता है। परमात्मदेव जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज, इन चार प्रकारके शरीरोंमें एकरूपसे स्थित है; इस जगत्की उत्पत्ति, स्थिति, लय करनेवाला है; अधिकारियोंको मोक्षकी प्राप्ति करानेवाला है; बुद्धि आदि सबका प्रेरक है और सर्व देवताओंसे स्तुति करने योग्य है। ऐसे अद्वितीय परमात्माको अपना आत्मारूप जानकर अधिकारी पुरुष मोक्षरूप शान्तिको प्राप्त होता है।

हे संन्यासियो ! जो हम अधिकारियोंको शुभ बुद्धि देनेवाला और हिरण्यगर्भादिकोंको उत्पन्न करनेवाला है, वही परमात्मा इन्द्रादि देवताओंका अधिपति है। जैसे यह मनुष्य-शरीर पृथिवीके आश्रित रहता है, उसी प्रकार भूरादि लोक जिस परमात्माके आश्रित रहते हैं, जो परमात्मा दो पाववाले मनुष्यादि शरीरोंका, चार पादवाले अश्वादि शरीरोंका और वृक्षादि स्थावर प्राणियोंका नियन्ता है, उस परमात्मदेवको प्रसन्न करनेके लिये हम अधिकारी जन घृत, यव, तिल आदि हविष्य पदार्थोंसे तथा नाना प्रकारके अन्नसे पूजन करते हैं। हे संन्यासियो ! जबतक हमको आत्मसाक्षात्कार नहीं हुआ था, तबतक हमने शास्त्रोक्त रीतिसे अपने वर्णाश्रमके अनुसार घृतादि पदार्थोंसे परमात्माका पूजन किया और जब हमको गुरु एवं शास्त्रकी कृपासे अपने आत्मारूपसे परमात्माका साक्षात्कार हुआ, तब आत्मदेव हमारा स्वरूप ही है। इसलिये आत्मज्ञानकी अवस्थामें अन्न-पानादिसे हम जिस शरीरको धारण करते हैं, उस शरीरका धारण करना ही हमारा पूजन है। हे संन्यासियो ! इस लोकमें जो पदार्थ नेत्रादि इन्द्रियोंसे नहीं जाना जाता किन्तु केवल बुद्धिसे जाननेमें आता है, उसे 'सूक्ष्म' कहते हैं। यह परमात्मदेव तो बुद्धिसे भी नहीं जाना जाता, इसलिये सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म है। यह आत्मदेव अपने स्वरूपके अज्ञानसे पुण्य-पापरूप कर्म करता है। उस कर्मके वशसे अन्नद्वारा पिताके शरीरमें आता है, पिताके शरीरसे वीर्यद्वारा स्त्रीके उदरमें आता है। स्त्रीके रजके साथ मिलकर वह वीर्य फेनाकार कलिल अवस्थाको प्राप्त होता है। इस प्रकार कलिलरूप उपाधिमें स्थित होकर परमात्मदेव नाना प्रकारके शरीरोंको उत्पन्न करता है। इसी प्रकार वटादि बीजोंमें स्थित होकर वह नाना प्रकारके वृक्षोंको उत्पन्न करता है। हे संन्यासियो ! यह परमात्मदेव शरीररूप उपाधिके सम्बन्धसे नानारूप होता हुआ भी वस्तुतः सर्वभेदसे रहित एक अद्वितीयरूप है और स्मरणमात्रसे अधिकारियोंके भयकी निवृत्ति करता है, इसलिये मंगलरूप है। ऐसे आनन्दस्वरूप अद्वितीय परमात्माको जो अधिकारी अपने आत्मारूपसे जानता है, वह मोक्षको प्राप्त होकर सर्व दुःखोंसे रहित हो जाता है। हे संन्यासियो ! जो परमात्मा वीर्यादि बीजोंमें स्थित होकर जगत्को उत्पन्न करता है, वही जगत्के स्थितिकालमें काष्ठोंमें अग्निके समान सर्व जगत्के भीतर गुह्य रहकर उसका पालन करता है, इसलिये श्रुति भगवती परमात्माको 'विश्वाधिपति' कहती है। इसी परमात्मामें योगीजन, अन्तर्मुख ब्राह्मण और हिरण्यगर्भादि देवता स्थित होते हैं। ऐसे परमात्मदेवको जो अधिकारी सर्व जगत्का उपादान कारण और सर्वान्तर्यामी जानता है, वही अधिकारी ज्ञानरूप तलवारसे प्रमादजन्य काम-क्रोधादि पाशोंका छेदन करता है। हे संन्यासियो ! जैसे दधिसे निकला हुआ घृत दधिसे उत्कृष्ट होता है और द्रवीभूत घृतसे घनीभावको प्राप्त हुआ घृत अत्यन्त स्वादिष्ट होता है, इसलिये द्रवीभूत घृतसे घनीभूत घृत उत्कृष्ट है, उसी प्रकार स्थूल-सूक्ष्म जगत्से मायाविशिष्ट सगुण ब्रह्म उत्कृष्ट है और सगुण ब्रह्मसे भी निर्गुण ब्रह्म उत्कृष्ट है। ऐसे आनन्दस्वरूप शुद्ध ब्रह्मको जब यह अधिकारी अपना आत्मारूप जान लेता है तभी वह काम-

क्रोधादि पाशोंसे मुक्त होता है। हे संन्यासियो! पूर्व मैंने जिस परमात्माको हृदयके सम्बन्धसे अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाला कहा था, वही परमात्मदेव सर्वत्र परिपूर्ण है, जगत्का कर्ता है, मन, बुद्धि आदिका साक्षी है, प्रेरकरूपसे सर्वदा प्रसिद्ध है और स्वयंज्योतिरूप है। ऐसे परमात्मदेवको अपना आत्मा जानकर अधिकारी अमृतरूप मोक्षको प्राप्त होता है।

हे संन्यासियो! गुरु तथा शास्त्रके उपदेशसे जब अधिकारीको ब्रह्म एवं आत्माका अभेदज्ञान होता है, तब इस सर्व जगत्की जननी मायारूप तमका नाश हो जाता है। ज्ञान-अवस्थामें दिन-रात्रि, स्थूल-सूक्ष्म आदि सर्व पदार्थ लयभावको प्राप्त हो जाते हैं और विद्वान् पुरुषोंको एक स्वयंज्योति अक्षर शिवरूप आत्मा ही प्रकाशित होता है। उसी अक्षर परमात्मदेवको गायत्री आदि छन्द जगत्के कारण सूर्यरूपसे वर्णन करते हैं। हे संन्यासियो! उसी परमात्मदेवके आराधनसे हम अधिकारियोंको यह शुद्ध बुद्धि प्राप्त हुई है, जिस बुद्धिसे हमने 'तत्' पदार्थरूप परमात्मदेवका साक्षात्कार किया है। हे संन्यासियो! गुरुके उपदेशसे पूर्व यद्यपि हमको वह बुद्धि प्राप्त थी परन्तु वह बुद्धि दशों दिशाओंमें भ्रमण करती थी और आनन्दस्वरूप आत्माको ग्रहण नहीं करती थी और अब गुरुका उपदेश पाकर हमारी बुद्धि परमात्मदेवको सर्वत्र व्यापकरूपसे जानती है। हे संन्यासियो! तुम ऐसी शंका कभी मत करना कि परमात्माका कैसा स्वरूप है, क्योंकि जैसे इस लोकमें गौके समान स्वभाववाला 'गवय' पशु होता है, इसलिये उसके जाननेके लिये गौकी उपमा दी जाती है, उसी प्रकार इस लोकमें यदि कोई पदार्थ परमात्मदेवके समान स्वभाववाला हो तो परमात्माके जाननेके लिये उस पदार्थकी उपमा दी जाय। परन्तु परमात्माके समान स्वभाववाला कोई पदार्थ लोकमें है ही नहीं, इसलिये आत्माके जाननेके लिये किसी अनात्मपदार्थकी उपमा नहीं दी जा सकती। परमात्मदेव सर्व अनात्मपदार्थोंसे अत्यन्त प्रिय है, इसलिये श्रुति भगवती परमात्माको 'महद्यशः' कहती है। हे संन्यासियो! आनन्दस्वरूप आत्माको कोई भी चक्षु-इन्द्रियसे ग्रहण नहीं कर सकता, किन्तु जिस अधिकारीपर रुद्र भगवान्की कृपा होती है वही सर्व वृत्तियोंसहित मनका निरोध करके आनन्दस्वरूप आत्माका साक्षात्कार करता है। इसलिये हे संन्यासियो! रुद्र भगवान्को प्रसन्न करनेके लिये अधिकारीको इस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिये।

प्रार्थना—हे रुद्र भगवन्! आप जन्म-मरणादि सर्व विकारोंसे रहित हैं, आप हमारे काम-क्रोधादि पाशोंको निवृत्त करनेमें समर्थ हैं। हे भगवन्! जैसे जीता हुआ कोई जन्तु अग्निके मध्यमें स्थित होकर दुःसह दुःखको प्राप्त होता है, उसी प्रकार हम अज्ञानी जीव इस शरीररूप अग्निमें स्थित हुए नाना प्रकारके दुःख पा रहे हैं। हे भगवन्! ज्वरादि व्याधियोंसे तथा काम-क्रोधादि आधियोंसे उत्पन्न होनेवाले आध्यात्मिक दुःख हैं, सिंह-सर्पादिसे उत्पन्न होनेवाले आधिभौतिक दुःख हैं और अग्नि-जलादिसे उत्पन्न होनेवाले आधिदैविक दुःख हैं। इन तीन प्रकारके दुःखोंसे मैं सर्वदा पीड़ित रहता हूँ और पुण्य-पापके वश हुआ मैं पशु आप पशुपतिके अधीन हूँ। हे भगवन्! पुण्य-पापरूप कर्मके फलप्रदाता आप ईश्वर हैं! आपके समान इस लोकमें कोई उद्धार करनेवाला कृपालु नहीं है! मेरे समान इस लोकमें कोई दीन नहीं है, इसलिये मेरा आपका योग्य सम्बन्ध है। हे भगवन्! यदि ऋगादि वेद प्रमाणरूप हैं और सुखका देनेवाला शंकरनामक देव यदि जीवत् और मोक्ष अवस्थामें परिपूर्णरूप है, तो जन्म-मरणादि मेरे दुःख आप नाश करें! हे भगवन्! रुद्र भगवान् शरणागत जीवोंकी रक्षा करते हैं, इस प्रकारके वेदवचनोंसे मैंने आपकी महिमा

सुनी है, इसलिये जन्म-मरणादि दुःखोंकी निवृत्ति करानेके लिये मैं अनाथ आपकी शरण आया हूँ, इसलिये आत्मज्ञानकी प्राप्ति कराके मेरे सर्व दुःखोंकी निवृत्ति कीजिये! यदि आप कहें कि तू स्वयं ही आत्माका विचार करके जन्म-मरणादि दुःखोंसे रहित हो जा, हमारे अनुग्रहका क्या प्रयोजन है, तो हे भगवन्! मैं अल्प बुद्धिवाला जीव जब किसी अर्थको जानता ही नहीं, तो आपके अनुग्रह विना दुर्विज्ञेय आत्माको मैं किस प्रकार जान सकता हूँ, नहीं जान सकता। इसलिये बुद्धिमान् पुरुषोंमें मेरी गणना नहीं है। यदि आप कहें कि जब तू किसी भी अर्थको नहीं जानता, तो तू पाषाणके समान जड होगा! तो हे भगवन्! जैसे सर्प-व्याघ्रादिसे युक्त किसी निर्जन वनमें किसी बालकको छोड़ दिया जाय तो वह बालक उस वनमें भयको प्राप्त होकर केवल दुःखका ही अनुभव करता है, इसी प्रकार मैं भी इस संसाररूप वनमें केवल दुःखका ही अनुभव करता हूँ, इतनी मात्र ही मुझमें चेतनता है। हे भगवन्! इस संसाररूप वनमें क्षुधा-पिपासारूप पिशाच मुझे परम दुःख देते हैं। हे भगवन्! संसाररूप वनमें भी यह यौवन अवस्था महान् वन है, इसमें आकर मैं सर्वथा अनाथ हूँ, मुझ अनाथको महान् विषवाला कामदेवरूप सर्प डस रहा है। इसके विषकी निवृत्ति करनेवाला आप सरारिके ध्यानके सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है। एक आपका ध्यान ही विषकी निवृत्तिका उपाय है। हे भगवन्! इस यौवनरूप वनमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, ये पाँच प्रकारके विषयरूप वृक और स्त्रीरूप काक रहते हैं ये दोनों मेरे धर्मविचाररूप शरीरको सर्वदा हनन करते रहते हैं। हे भगवन्! संसाररूप वनमें क्रोधरूप सिंह रहता है, उसकी गर्जनासे मेरा हृदय सर्वदा तपायमान रहता है। हे भगवन्! इस संसाररूप वनमें लोभरूप तरक्षु* रहता है, जो अपने दर्शनसे ही मेरे नेत्रोंको तपायमान करता है। इसीलिये लोभी पुरुषको देखकर दाता पुरुष अपनी आँखोंको लोभी पुरुषकी ओरसे मोड़कर दूसरी ओर कर लेते हैं। हे भगवन्! जैसे विन्ध्याचलादि पर्वत सूर्यके प्रकाशको आच्छादन करते हैं, उसी प्रकार संसाररूप वनमें आत्मारूप सूर्यके प्रकाशको आच्छादन करनेवाला अहंकाररूप महान् पर्वत है। हे भगवन्! इस प्रकार इस संसाररूपी वनमें मैं दिन-रात असंख्य दुःख उठा रहा हूँ, आपका स्वभाव अत्यन्त दयालु है, मेरे दुःखोंको आप श्रवण करनेमें समर्थ नहीं हैं, सब जानते ही हैं इसलिये मैं आपके समीप अपने बहुत दुःखोंका वर्णन नहीं करता। हे रुद्र भगवन्! तत्पुरुष, अघोर, सद्योजात, वामदेव, ईशान, ये आपके पाँच मुख क्रमशः पूर्वादि चार दिशाओंमें तथा मध्यमें स्थित हैं। इनमें भी दक्षिणकी ओरका अघोरनामक मुख अधिकारी जनोंके प्रति ब्रह्मविद्याका उपदेश करनेमें अत्यन्त कुशल है। उस गुरुरूप अघोरनामक मुखसे हम अधिकारीजनोंकी आप रक्षा कीजिये और आत्मज्ञानकी प्राप्ति कराके सर्व शोकोंसे रहित कीजिये। हे भगवन्! श्रुति कहती है 'तरति शोकमात्मवित्' अर्थात् आत्माको जाननेवाला सब शोकोंसे तर जाता है। सर्व शोकोंकी निवृत्ति करनेवाला आत्मज्ञान जबतक हम जीवोंको प्राप्त न हो, तबतक जैसे अन्य पापी जीवोंके पुत्रादि प्रिय पदार्थोंका आप मृत्युरूप होकर हनन करते हैं, वैसे हम अधिकारियोंके पुत्रादि प्रिय पदार्थोंका हनन न कीजिये और उनमें रोगादि उपद्रव भी उत्पन्न न होने दीजिये! हे भगवन्! आप साक्षात् मोक्षकी प्राप्ति करानेवाले हैं, इसलिये आपसे अनात्मपदार्थोंकी रक्षा करनेकी प्रार्थना करना यद्यपि उचित नहीं है, तो भी प्रिय पदार्थोंके वियोगसे हमारे चित्तमें क्षोभ होता है, क्षोभवाले चित्तसे आपका ध्यान नहीं हो सकता, इसलिये हमारे मृत्युसे पूर्व हमारे पुत्र, भ्राता, अग्नि और

* डाकिनीके वाहनका नाम तरक्षु (जरख) है।

हमारे ऊपर उपकार करनेवाले राजादिकोंका आप मृत्युरूप होकर हनन मत कीजिये किन्तु उन सबको दीर्घ आयुवाला बना दीजिये ! हे भगवन् ! यद्यपि आप स्वभावसे ही दयालु हैं, इसलिये आप हमारे प्रिय पदार्थोंको कभी हनन नहीं करते, किन्तु उन्हें दीर्घ आयुवाला बनाते हैं, इसलिये हमको आपसे उनकी रक्षा करनेकी प्रार्थना करना उचित नहीं है, तो भी हम आपके दयालु स्वभावका ही अनुवाद करते हैं (पूर्वसिद्ध अर्थका फिर कथन करना, इसका नाम अनुवाद है) हे भगवन् ! जिन धन-धान्यादि पदार्थोंसे युक्त हम अधिकारीजन सुखपूर्वक आपका आराधन कर सकें उन पदार्थोंकी आप हमको प्राप्ति कराइये।

कर्ममीमांसा

(लेखक—एक महात्मा)

कर्मका स्वरूप

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके मुख-कमलसे निर्गत और पूज्यपाद महर्षि वेदव्यासद्वारा ग्रथित श्रीमद्भगवद्गीतामें कर्मका स्वरूप अपूर्व रूपसे वर्णन किया गया है। भगवान् कहते हैं कि अक्षर ही ब्रह्म है। उसका स्वभाव ही 'अध्यात्म' कहलाता है। इस सच्चिदानन्दमय ब्रह्मस्वभावका जो त्याग होता है उसको 'कर्म' कहते हैं। वह ब्रह्मस्वभावका त्याग भूतोंकी उत्पत्तिका कारण बनता है (देखिये भगवद्गीता, अध्याय८)। इसी प्रकार पूज्यपाद महर्षि भरद्वाजके कहे हुए कर्ममीमांसा दर्शनमें कर्मके स्वरूपके विषयमें वर्णित है कि प्रकृतिके स्पन्दनको 'कर्म' कहते हैं। दोनों लक्षणोंका तात्पर्य एक ही है और बहुत ही विचारपूर्वक समझने योग्य है।

क्या सृष्टि अवस्था, क्या स्थिति अवस्था और क्या लयावस्था, इन तीनों अवस्थाओंमें एक, अद्वितीयरूपसे रहनेवाला, विकाररहित अक्षर पद ही 'ब्रह्म' कहलाता है। ब्रह्मकी प्रकृति अर्थात् ब्रह्मका स्वभाव सच्चिदानन्दमय है। वह सच्चिदानन्दभाव एक और अद्वितीय है। इस अद्वितीय ब्रह्मस्वभावका त्याग होकर जब द्वैत अवस्थाका प्रारम्भ होता है तब ब्रह्म-प्रकृति त्रिगुणभावको धारण करती है, और सत्त्व, रज एवं तमोमयी होकर तरङ्गायित होने लगती है। उस समय त्रिगुणविकारके कारण वह अपनी एक अद्वितीय साम्यावस्थाको छोड़कर वैषम्यावस्थाको प्राप्त होती है। तभी अनन्तभूतमयी सृष्टिका उदय होता है और ब्रह्म एवं ब्रह्म-प्रकृति अलग-अलग प्रतीत होते हैं। उसी अवस्थामें ब्रह्म प्रकृति-विलासरूपी सृष्टिके द्रष्टा बनकर परमपुरुषरूपी ईश्वर कहलाते हैं, और परमा प्रकृति महामाया कहलाती है। इसी समय अनन्त रूपधारी अनन्त भूतोंकी उत्पत्ति होती है और ब्रह्माण्ड तथा पिण्डमय सृष्टिधारा बहने लगती है। इसी द्वैतभावको उत्पन्न करनेवाली प्रकृति-तरङ्गसे उत्पन्न क्रियाको ही 'कर्म' कहते हैं। उसको श्रीगीताशास्त्रने ब्रह्मके स्व-स्वभाव-को त्याग करानेवाली और भूत-भावको उत्पन्न करनेवाली क्रिया कहकर उसका 'कर्म' नाम दिया है। और उसी त्रिगुणविकारमय अवस्थाको कर्ममीमांसा दर्शनने प्रकृतिके स्पन्दनरूपसे वर्णन करते हुए 'कर्म' नामसे अभिहित किया है।

इस समाधिगम्य गहन कर्मविज्ञानको समझनेके लिये तन्त्रशास्त्रोंमें कहे हुए शक्तिविज्ञानकी सहायता लेनेकी आवश्यकता है। तन्त्रशास्त्रोंमें ब्रह्म-शक्तिकी चार अवस्थाएँ बतायी गयी हैं। एक स्थूल शक्ति, दूसरी सूक्ष्म शक्ति, तीसरी कारण शक्ति और चौथी तुरीय शक्ति। तुरीय शक्ति ही ब्रह्म-प्रकृतिकी अव्यक्त अवस्था है। उस समय गायककी गानशक्ति गायकके चुप रहते समय जैसे उसमें छिपी रहती है, उसी प्रकार अक्षररूपी ब्रह्ममें तुरीय शक्ति लीन होकर छिपी रहती है, ऐसा समझना चाहिये। इसी अवस्थाको 'अव्यक्त अवस्था' कहते हैं। यह अव्यक्त भाव वस्तुतः ब्रह्मका नहीं है, किन्तु ब्रह्म-प्रकृतिका है। इस अवस्थामें शक्तिमान्की शक्तिका विकास नहीं रहता। शक्ति शक्तिमान्में छिपी रहती है। यही अद्वितीय ब्रह्मकी द्वैतभावरहित स्वाभाविक अवस्था है। इसीको श्रीगीताशास्त्रमें व्यक्त और अव्यक्तसे परे 'तद्धाम परमं मम' कहकर वर्णन किया गया है।

ब्रह्म-शक्तिकी कारणावस्था वह कहलाती है जब ब्रह्मसे ब्रह्म-शक्ति अलग दिखायी पड़ने लगती है। इस समय

शक्ति और शक्तिमान्‌का प्रभेद और प्रकृतिरूपी दृश्य और परमपुरुषरूपी द्रष्टा ईश्वरका द्वैतभाव हो जाता है। इस अवस्थामें ब्रह्म-स्वभावकी सत्सत्तासे प्रकृति और उसकी चित्सत्तासे पुरुष इस प्रकार दो अलग-अलग भाव बन जाते हैं। इसी अवस्थाके साथ श्रीगीताकथित अधिदैव-विज्ञानका सम्बन्ध है। इसी अवस्थासे सर्वशक्तिमान् अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंके द्रष्टा ईश्वर, परमात्मा, विराट्पुरुष आदि नामोंसे उल्लिखित सत्ताका सम्बन्ध है। इसी अवस्थाकी ब्रह्म-प्रकृति तन्त्रोक्त कारण-शक्ति है। और इसीको तन्त्रशास्त्रोंने ब्रह्मा-विष्णु-महेशरूपी त्रिमूर्तिकी जननी कहकर वर्णन किया है। इस अवस्थामें ब्रह्म-प्रकृति अपने त्रिगुण रूपको धारण नहीं करती और साम्यावस्थामें रहकर ब्रह्मानन्द-सत्ताको अलग दिखानेवाली बनती है। इस दशामें ब्रह्मका सच्चिदानन्दमय स्वभाव अलग-अलग दिखायी पड़ता है। उनका सत्-भाव प्रकृति और उनका चित्-भाव पुरुष बनकर आनन्दभावको प्रकट करनेका कारण बन जाता है।

तन्त्रोंमें ब्रह्म-शक्तिकी सूक्ष्म दशाका रहस्य इस प्रकार वर्णित है कि जब सृष्टि, स्थिति और लयका कार्य प्रारम्भ होता है तब ब्रह्म-प्रकृति सूक्ष्म प्रकृति कहलाती है। उस समय प्रत्येक ब्रह्माण्डके अलग-अलग अधिदैव प्रकट होते हैं। ब्रह्म-प्रकृति तब भगवान् ब्रह्माको सृष्टि-कार्यके लिये, भगवान् विष्णुको स्थिति-कार्यके लिये और भगवान् रुद्रको लय-कार्यके लिये प्रेरित करती है, तथा त्रिगुणकी पृथक्-पृथक् शक्तियाँ तीनोंको अलग-अलग देकर त्रिगुणात्मक जगत्‌का लीला-विलास प्रकट करती है। इसी प्रकार नाना अधिदैवरूपसे विभिन्न देवतासमूह उत्पन्न होकर अपनी अलग-अलग शक्तियोंके साथ जगत्‌की सृष्टि, स्थिति और लयकार्यमें सहायक बनते हैं।

तन्त्रोंमें स्थूलशक्तिका वर्णन इस प्रकारसे है कि स्थूल प्रपञ्चकी सृष्टि, स्थिति और लयके लिये जो अनेक गुप्त आधिभौतिक शक्तियाँ सृष्टिमें रहती हैं वे ही सब स्थूल शक्तियाँ हैं। उदाहरणरूपसे समझना चाहिये कि वैद्युतिक शक्ति आदि जो अनेक शक्तियाँ आजकल विज्ञानके द्वारा आविष्कृत हुई हैं वे सब शक्तियाँ स्थूल शक्तिके अन्तर्गत हैं। इस प्रकार ब्रह्म-शक्तिकी चारों दशाओंको अच्छी तरह समझ लेनेपर उपरिकथित रहस्यको हृदयङ्गम करनेमें सुविधा होगी।

इस गहन विषयको यों भी समझ सकते हैं कि तुरीया शक्तिके भावमें ब्रह्मस्वभावा ब्रह्मशक्ति अलग नहीं दिखायी पड़ती। वह सच्चिदानन्दमयी ब्रह्मप्रकृति एक, अद्वितीयरूपसे ब्रह्मके स्वस्वरूपमें लीन रहती है। इसी अवस्थाको उपनिषदोंमें एवं दर्शनशास्त्रोंमें 'ब्रह्म' नामसे अभिहित किया है तथा तन्त्रशास्त्रोंमें इसी अवस्थाको सच्चिदानन्दमयी आद्याशक्ति कहकर वर्णन किया गया है। और इसी अवस्थाको श्रीमद्भगवद्गीताशास्त्रने—

'अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते'

—इस श्लोकार्द्धके द्वारा निरूपितकर ब्रह्म तथा ब्रह्मस्वभावका निर्देश किया है। इसके बादकी अवस्था सगुण अवस्था है। उस अवस्थाको किसी शास्त्रमें प्रकृति-पुरुषात्मक अवस्था, किसी शास्त्रमें शक्ति-शक्तिमान्‌की अवस्था, किसी शास्त्रमें माया तथा मायिककी अवस्था, और किसी शास्त्रमें सगुण ब्रह्मरूपी ईश्वरभाव कहकर वर्णन किया गया है। इसी अवस्थाकी प्रकृति 'कारण-शक्ति' कहलाती है। इस अवस्थामें ब्रह्म-प्रकृतिके तीनों गुण अलग-अलग स्पष्ट नहीं दिखायी देते। तथा इसी अवस्थाकी ब्रह्म-प्रकृति ब्रह्मा-विष्णु-महेशरूपी त्रिमूर्तिकी जननी कही गयी है। इसी समाधिगम्य सृष्टिकी आदि अवस्थाके साथ कर्मके प्रारम्भ होनेका मौलिक सम्बन्ध है जिसका गीताशास्त्रने—

'भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः'

—कहकर वर्णन किया है। तथा कर्ममीमांसा दर्शनने 'प्राकृतिकस्पन्दनं क्रिया' ऐसा कहकर कर्मोत्पत्तिके गम्भीर रहस्यका निर्देश किया है।

इसी समाधिगम्य कर्मोत्पत्ति-विज्ञानको लक्ष्य करके किसी-किसी दर्शनशास्त्रने कर्मको ही ईश्वर और जगत्‌का कर्ता करके माना है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भी 'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि' कहकर कर्मकी महिमा प्रकट की है।

कर्मसे सृष्टि

ब्रह्मकी तरह ब्रह्म-प्रकृतिको भी सब वैदिक शास्त्रोंने अनादि माना है। इसमें किसीका मतभेद नहीं है। मतभेद हो ही नहीं सकता, क्योंकि ब्रह्म जब स्वयं अनादि है तो उसकी प्रकृति अर्थात् स्वभाव भी अनादि ही होना चाहिये। परन्तु मीमांसाशास्त्रोंने उसको अनादि और सान्त कहा है। यह भी एक प्रकारसे ठीक ही है, क्योंकि मीमांसाशास्त्र जीवको मुक्ति दिलानेवाला शास्त्र है। जीवकी मुक्त दशामें उसके साथकी प्रकृति लय हो जाती है, तब मुक्तिका उदय

होता है। इस कारण प्रकारान्तरसे यह सिद्धान्त भी ठीक ही है। कर्म जब प्रकृतिकी सहचारिणी सखी है, तो उसको भी वैसे ही मान सकते हैं। कर्म भी प्रवाहरूपसे अनादि और अनन्त है और विशिष्टरूपसे अनादि और सान्त भी है। जैसे एक मनुष्यपिण्डके मृत्युदशाको प्राप्त हो नष्ट हो जानेपर भी अगणित मानवपिण्ड पृथ्वीपर जीवित रहते हैं, ठीक उसी प्रकार एक ब्रह्माण्डके प्रलयके समय लयको प्राप्त हो जानेपर भी अनन्त ब्रह्माण्डसमूह आकाशमें त्रसरेणुकी* तरह मँडराया करते हैं। इस विज्ञानके अनुसार प्रकृति-पुरुषात्मक सृष्टिप्रवाह, प्रवाहरूपसे अनादि और अनन्त है। इस विज्ञानको किसी-किसी मीमांसाशास्त्रने बहुत अच्छी तरह सिद्ध किया है। श्रीगीताशास्त्रमें श्रीभगवान्‌ने स्पष्टरूपसे कहा है कि मैं अपनी प्रकृतिको अधिष्ठान करके स्वभावके वश कर्मपरवश हुए सब भूतोंकी पुनः-पुनः सृष्टि किया करता हूँ (देखो गीताका नवम अध्याय)। इस वचनसे स्पष्ट सिद्ध है कि कर्मके वश होकर ही ब्रह्माण्डोंका प्रलय होता है और कर्मके वश ही पुनः-पुनः उनकी सृष्टि हुआ करती है।

एक ब्रह्माण्डके प्रलयमें लीन हो जानेके बाद जब उसकी पुनः सृष्टि होती है, तो उसके जीवसमूहके पूर्वकर्मोंके अनुसार ही होती है। उस ब्रह्माण्डके ब्रह्मप्रकृतिमें लय हो जानेके बाद पुनः जब उस ब्रह्माण्डके समष्टिकर्मके संस्कार अङ्कुरोत्पत्तिके योग्य हो जाते हैं तभी उस ब्रह्माण्डकी पुनः सृष्टि होती है। यही ब्रह्माण्डसृष्टिका कारण है। समष्टिकर्म ही उसका मूल है। जब एक ब्रह्माण्डकी सृष्टि प्रारम्भ होती है तो पहले प्रकृतिके स्पन्दनसे कर्मका प्राकट्य होकर उस ब्रह्माण्डकी पूर्वकर्मराशिके अनुसार ही उसकी सृष्टि होती है। जैसे माताके गर्भमें पुत्रका जड मानवपिण्ड पहले बनता है और कुछ महीने बाद उस मानवपिण्डमें जीवका प्रवेश होता है, ठीक उसी प्रकार पहले नवीन ब्रह्माण्डका गोलक बनता है। इस जड गोलकका निर्माण सहज कर्मसे ही होता है। तदनन्तर ऐश कर्मके द्वारा दैवी राज्यकी सृष्टि होती है और तत्पश्चात् मनुष्यलोकमें जैव कर्मके अनुसार मानवपिण्डकी सृष्टि होती है। इसी कारण कर्म-मीमांसाशास्त्रमें कर्मके सहज, ऐश और जैवरूपसे तीन भेद विस्तारपूर्वक बताये गये हैं। और सृष्टि-प्रकरणके चार भेद बताये गये हैं। यथा प्राकृतिक सृष्टि, ब्राह्मी सृष्टि, प्राजापत्य सृष्टि, और वैजी सृष्टि। पहले प्रकृतिके प्रथम तरङ्गरूपी सहजकर्मद्वारा ब्रह्माण्डगोलककी जडमयी सृष्टि उत्पन्न होती है, यही प्राकृतिक सृष्टि कहलाती है। तदनन्तर सृष्टिकर्ता भगवान् ब्रह्मा प्रकट होकर दैवी सृष्टिका प्रारम्भ करते हैं। यही ब्राह्मी सृष्टि सृष्टिकी दूसरी अवस्था है। तब ऐश कर्म-प्रवाह प्रारम्भ हो जाता है और विशाल दैवी राज्य उत्पन्न हो जाता है। तदनन्तर भगवान् ब्रह्माके मानस पुत्र प्रजापति-गण (जो एक श्रेणीके देवता हैं) मानस सृष्टिका विस्तार करते हैं, उसीको प्राजापत्य सृष्टि कहते हैं। उस समय जो देवता, जो मनुष्य और जो उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुजरूपी चतुर्विध भूतसंघ उत्पन्न होते हैं; वे सब पूर्णावयवरूपमें उत्पन्न होते हैं। उसके बाद वैजी सृष्टि प्रारम्भ होती है। तब स्त्री-पुरुषके संयोगसे सृष्टिप्रवाह आगे बढ़ने लगता है। ये ही सृष्टिके चार स्तर मीमांसा-शास्त्रोंमें वर्णित हैं। कर्म सहजरूप, ऐशरूप और जैवरूप, इन तीनों स्वरूपोंके द्वारा सृष्टिकी शृंखला बाँधी जाती है। और देवतागण अपने-अपने अधिकारके अनुसार कर्मके चालक बनते हैं। सूक्ष्म दैवी राज्यके चलानेवाले पदाधिकारी-गण नाना देवता होते हैं। देवताओंकी प्रधानतः तीन श्रेणियाँ होती हैं। ज्ञानके चालक ऋषि, स्थूल शरीर आदिके निर्माता पितर और कर्मशृंखलाके चालक देवता कहाते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवान्‌ने कहा है कि सृष्टिके प्रारम्भमें प्रजापतिने यज्ञके सहित प्रजाकी सृष्टि करके आज्ञा की है कि इस यज्ञके द्वारा तुमलोग उत्तरोत्तर अभ्युदयको प्राप्त होओ और अपनी इष्ट वस्तुओंको प्राप्त करो। इस यज्ञद्वारा तुम सब देवताओंका संवर्धन करो और देवतागण तुम्हारा संवर्धन करें। इस प्रकार परस्परका संवर्धन करते हुए परस्पर मंगल प्राप्त करो। क्योंकि देवतागण यज्ञके द्वारा संवर्धित होकर तुमलोगोंको अभीष्ट भोग प्रदान करेंगे। उनकी दी हुई वस्तु उनको न देकर जो भोग करता है वह चोर है। यज्ञके शेषका भोजन करनेवाले साधुगण सब प्रकारके पापसे मुक्त होते हैं। और जो केवल अपने भोगके लिये भोजन बनाते हैं वे दुराचारीगण पाप ही भोजन करते हैं। भूतगण अन्नसे उत्पन्न होते हैं। वृष्टिसे अन्नकी उत्पत्ति होती है। यज्ञसे वृष्टि करनेवाला मेघ बनता है और यज्ञ

* किसी मकानकी जालीके छिद्रोंमेसे जब सूर्यकी किरणें प्रविष्ट होती हैं तब उनमें जो रजके अनगिनत अत्यन्त सूक्ष्म कण उड़ते हुए दिखायी देते हैं उन्हें वैशेषिकशास्त्रमें 'त्रसरेणु' कहते हैं।

कर्मसे उत्पन्न होता है। कर्म ब्रह्मसे उत्पन्न होता है, ब्रह्म अक्षरसे उत्पन्न होता है। इस कारण सर्वव्यापी ब्रह्म सदा यज्ञमें प्रतिष्ठित रहते हैं (देखिये भगवद्गीता, अध्याय ३)। इन भगवद्वचनोंमें 'यज्ञ' शब्द धर्मका पर्यायवाचक है। क्योंकि सब प्रकारके धर्म-साधनोंको 'यज्ञ' कहते हैं। इसका वर्णन श्रीगीताजीके चौथे अध्यायमें ही आया है। और कर्मसे ही धर्म बनता है। सृष्टिधाराके अनुकूल सृष्टि-धारक कर्म ही धर्म कहाते हैं। कर्मका और धर्मका परस्पर सम्बन्ध कर्म-मीमांसाशास्त्रमें विशदरूपसे वर्णन किया गया है।

ऊपर जो 'प्रजापति' शब्द आया है वह सृष्टिकर्ता भगवान् ब्रह्माके लिये ही आया है। सृष्टिके आरम्भ होते ही सृष्टि-धारक धर्मशृंखलाकी आवश्यकता होती है। इसी कारण सृष्टिके साथ-ही-साथ यज्ञकी सृष्टि की गयी ऐसा कहा गया है। कर्मकी गति दोनों प्रकारकी हो सकती है—एक धर्मके अनुकूल और दूसरी धर्मके प्रतिकूल। इस कारण इस वर्णन-में 'कर्म' शब्दका प्रयोग न करके 'यज्ञ' शब्दका प्रयोग किया गया है। धर्मरूपी यज्ञद्वारा केवल सृष्टिकी रक्षा ही नहीं होती, अपि तु उसके द्वारा मनुष्य सब प्रकारके अभ्युदय एवं कर्मोन्नतिको प्राप्त करते हैं। देवतागण कर्मराज्यके चालक हैं, क्योंकि कर्म जड़ होनेसे उसकी शृंखलाको यथावस्थित-रूपसे चलानेवाले चेतन देवताओंकी आवश्यकता होती है। विश्वधारक धर्मके द्वारा देवतागण संवर्द्धित होते हैं; क्योंकि अधर्मरूपी कर्म उनकी शृंखला और शासनका विरोधी है और धर्मरूपी कर्म उनके शासन तथा उनकी बनायी हुई शृंखलाकी सहायता करता है। देवतागण कर्मके चालक होनेपर भी मनमानी रीतिसे कर्मका फल नहीं देते, किन्तु जीवसमूहोंके व्यष्टिकर्मके अनुसार उनको अलग-अलग फलकी प्राप्ति कराते हैं और जीवोंके समष्टिकर्मके अनुसार वृष्टि आदिद्वारा तथा देश और कालको वैसे ही बनाकर समष्टिफल उत्पन्न करते हैं। देश और कालमें जो परिवर्तन होता है, और समष्टिरूपसे जीवोंको जो सुख-दुःखकी प्राप्ति होती है, वह सब जीवोंके समष्टिकर्मके अनुसार ही होती है। उसीके अनुसार कर्मके चालक देवतागण फल प्रदान करते हैं। उदाहरणरूपसे कहा गया है कि भूतगण अन्नसे उत्पन्न होते हैं। क्योंकि जिस जीवके देह और प्राणकी रक्षा जो पदार्थ करता है वही उसका अन्न है। और सुवृष्टि होनेसे सब प्रकारके अन्न ठीक तौरपर उत्पन्न होते हैं। तथा समष्टिधर्मके फलके अनुसार वैसा ही देश और काल बनता है और वृष्टि ठीक समयपर होती है। और कर्मसे ही यज्ञ बनता है। क्योंकि जो कर्म व्यष्टिरूपसे जीवके और समष्टिरूपसे ब्रह्माण्डके अभ्युदयका कारण हो वही धर्म कहलाता है। अर्थात् शुभ और विहित कर्म ही धर्म अथवा 'यज्ञ' शब्दवाच्य है। और कर्म जब ब्रह्म-प्रकृतिसे प्रकट होता है और ब्रह्मरूपिणी ब्रह्म-प्रकृति अक्षररूपी अद्वितीय परमात्मासे प्रकट होती है, तो यह मानना ही पड़ेगा कि ब्रह्म यज्ञरूपी धर्ममें सदा प्रतिष्ठित है। अतः परमात्माकी सर्वव्यापिनी सत्ताका अनुभव करते हुए और दैवी जगत्की शृंखलाको स्मरण रखते हुए, देवताओंकी सहायतासे प्राप्त भोग पदार्थोंको देवताओंको अर्पण न करके अथवा उनका स्मरण न करके जो व्यक्ति अकेला उन्हें भोग करता है, वह चोर है, इसमें सन्देह नहीं। अतः कर्मके व्यापक होने और उसके साथ सृष्टिके ओतप्रोत होनेके विज्ञानको सबको मानना पड़ेगा।

कर्मके भेद

कर्मकी महिमा ऐसी है कि किसी-किसी धर्म-मतने कर्मको ही जगत्कर्ता ईश्वर करके माना है। जैसे सगुण ईश्वर एक अद्वितीय होकर भी त्रिमूर्तिमें प्रकट होते हैं और अपनी ब्रह्मा-मूर्तिसे सृष्टिका कार्य, विष्णुमूर्तिसे स्थितिका कार्य और रुद्र-मूर्तिसे लयका कार्य प्रत्येक ब्रह्माण्डमें करते हैं; उसी प्रकार एक महान् कर्म, कार्य करते समय सहज कर्म, ऐश कर्म और जैव कर्मरूपसे अपने तीन रूप बनाकर सृष्टिकार्यको चलाता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, सहज कर्मके द्वारा ब्रह्माण्डका जड़मय गोलक बनता है, उसके द्वारा उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुजरूपी चतुर्विध भूतसंघका सृष्टिप्रवाह बहता रहता है और इसी प्रकार अन्यान्य स्वाभाविक कार्य होते रहते हैं। ऐश कर्मके द्वारा सम्पूर्ण दैव राज्यकी शृंखला बाँधी जाती है। देवतागण अपने-अपने पदपर प्रतिष्ठित रहकर ब्रह्माण्डकी दैवी क्रियाका सम्पादन करते हैं। असुरगण अपने लोकोंमें रहकर अपने हिस्सेका काम करते रहते हैं। और इसी प्रकार सब श्रेणीके दैव कार्य सुसम्पन्न होते रहते हैं। और जैव कर्म मानवपिण्डमें प्रकट होकर मनुष्यकी उन्नति और अवनति, उसकी अभ्युदय एवं निःश्रेयस-प्राप्ति तथा उसके सुख-दुःखका कारण बनकर उसको आवागमनचक्रमें परिभ्रमण कराता रहता है। संक्षेपसे सहज कर्म, ऐश कर्म और जैव कर्मके स्वरूप और शृंखलाका यही रहस्य है।

एक अद्वितीय कर्म ही रूपान्तरसे धर्म और अधर्म बन

जाता है। पुण्यप्रधान कर्मको धर्म और पापप्रधान कर्मको अधर्म कहते हैं। जिस श्रेणीके कर्मोंके करनेसे जीवको सत्त्व-गुणकी प्राप्ति होती है उस कर्मको 'धर्म' कहते हैं। और जिस श्रेणीके कर्मोंको करते हुए जीवमें तमोगुणकी वृद्धि होती है उन कर्मोंको 'अधर्म' कहते हैं। रजोगुण केवल क्रिया करानेवाला है। इसीको दूसरे शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि जिन कर्मोंके द्वारा जीवको इस लोकमें अभ्युदय और परलोकमें निःश्रेयस प्राप्त हो वही उसके लिये धर्म है। और जो-जो कर्म उसको विपरीत फलप्रदान करें वे ही उसके लिये अधर्म हैं। इसी प्रकार जो-जो समष्टिकर्म किसी मनुष्यजातिमें क्रमशः ज्ञानोन्नति करके उस जातिका लक्ष्य निरन्तर सत्त्वगुणको बढ़ानेकी ओर तथा आत्माकी प्राप्तिकी ओर कराते रहते हैं वे ही उस जातिके लिये धार्मिक कर्म कहलाते हैं। और ऐसे कर्मोंको करती हुई मनुष्यजाति धार्मिक कहलाती है। और जो मनुष्यजाति पूर्वापरका विचार न कर इससे विपरीत कर्म करती रहती है और अपनेमें सत्त्वगुणकी वृद्धि नहीं करती, वह मनुष्यजाति अधार्मिक कहलाती है। इसी लक्षणके अनुसार आत्माकी ओर पूर्ण लक्ष्य रखनेवाली मनुष्यजाति आर्यजाति कहलाती है और इन्द्रियसेवाकी ओर पूर्ण लक्ष्य रखनेवाली मनुष्यजाति अनार्यजाति कहलाती है। सुतरां कर्म ही रूपान्तरसे धर्म और अधर्म बन जाता है। यही कर्मके दो मौलिक भेद हैं।

मीमांसाशास्त्रोंमें मनुष्यजातिके कर्मोंके नित्य, नैमित्तिक और काम्य तथा अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत इस प्रकार छः भेद किये हैं। आर्यजाति इन सब कर्मोंको मानती है और इनके अनुसार अपनी आध्यात्मिक उन्नतिका निरन्तर विचार रखती है। जिन-जिन कर्मोंके करनेसे पुरुष और स्त्री या व्यक्तिविशेष या मनुष्यकी श्रेणीविशेषका कर्तव्यपालन होता हो और उसको किसी पुण्यकी प्राप्ति न हो बल्कि न करनेसे पापकी प्राप्ति हो उन सब कर्मोंको नित्यकर्म कहते हैं। नित्यकर्मके द्वारा मनुष्य मनुष्यत्वको प्राप्त करता है। और अपने-आप ही उसकी क्रमोन्नति होती रहती है। उदाहरण-रूपसे समझना चाहिये कि आर्यजातिके लिये उसके प्रत्येक कार्यमें अध्यात्मका लक्ष्य रखना उसका नित्यकर्म है। द्विज-जातिके लिये तीन कालकी सन्ध्या करना उसका नित्यकर्म है। विवाहिता स्त्रीके लिये पतिसेवा करना और गृहकर्म करना नित्यकर्म है। नैमित्तिक कर्म वे कहलाते हैं जिनके करनेसे पुण्यकी प्राप्ति हो परन्तु जिनके न करनेसे पाप न लगता हो, जैसे तीर्थयात्रा करना। तीर्थयात्रा करनेसे मनुष्यको पुण्यकी प्राप्ति होती है और उसकी धर्मबुद्धि बढ़ती है। परन्तु तीर्थ-यात्रा न करनेसे उसको अधर्मकी प्राप्ति नहीं होती। पुरुष अथवा स्त्री कोई भी अपनी किसी कामनाकी सिद्धिके लिये कोई दान-पुण्य, याग-यज्ञ अथवा कोई अनुष्ठान आदि करे तो उस कर्मको काम्य कर्म कहते हैं, जैसे रोगमुक्त होनेके लिये दान-पुण्य, अनुष्ठान आदि करना। आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये अथवा आत्मोन्नतिके लिये जो कर्म किये जायँ वे आध्यात्मिक कर्म कहलाते हैं। दैवी राज्यकी सहायता-प्राप्तिके लिये जो कर्म किये जायँ वे आधिदैविक कर्म कहलाते हैं। और किसी स्थूल विषयकी उन्नतिके लिये, शरीरकी उन्नतिके लिये अथवा स्थूल जगत्के शुभके लिये जो कर्म किये जायँ उनको आधिभौतिक कर्म कहते हैं। ये छः प्रकारके कर्म साधारण धर्मके अङ्गभूत भी माने जाते हैं और सब श्रेणीके पुरुष और स्त्री इनका आचरण करके धार्मिक बन सकते हैं।

सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणके विचारसे श्रीमद्भगव-द्गीतामें कर्मके तीन भेद कहे गये हैं। जो कर्मफलकी आकांक्षा-से शून्य हो अर्थात् निष्कामभावसे नित्यरूप समझकर आसक्ति-रहित होकर किया जाय और रागद्वेषशून्य होकर अनुष्ठित हो उसको सात्त्विक कर्म कहते हैं। जो कर्मफलकी कामनासे युक्त होकर अहंकारके द्वारा पुनः-पुनः किया जाय और बहुत चेष्टासे किया जाय उसको राजस कर्म कहते हैं। और जो परिणाममें होनेवाले कर्मबन्धन, दूसरोंका नाश, हिंसा तथा अपनी सामर्थ्यका विचार न करके मोहके वश किये जायँ ऐसे कर्मोंको तामस कर्म कहते हैं (देखो भगवद्गीता, अध्याय १८)। मनुष्यमात्रको गुणभेदसे इन तीनों श्रेणीके कर्मोंके लक्षणोंपर विचार करके सात्त्विक बुद्धिसे कर्म करने चाहिये।

स्वार्थके विचारसे कर्मके भेद मीमांसाशास्त्रमें चार कहे हैं। उनके नाम स्वार्थ, परमार्थ, परोपकार और परमोपकार हैं। पूज्यपाद महर्षि वेदव्यासजीने कहा है, कि जो अपना और पराया विचार करते हैं वे लघुचेता हैं और जो व्यक्ति सारे संसारको अपना परिवार मानते हैं वे उदारचित्त महापुरुष कहलाते हैं। मनुष्यमात्रको ऐसी उदारतापर लक्ष्य रखकर दिनोंदिन अपनी उन्नति करनी चाहिये। इस महान् लक्ष्यके अनुसार स्वार्थसे परमार्थका, परमार्थसे परोपकारका और परोपकारसे भी परमोपकारका दर्जा क्रमशः बड़ा है। अपने इहलौकिक सुखोंके साधनको स्वार्थ कहते हैं। अपने परलोक-सम्बन्धी सुखके साधनको परमार्थ कहते हैं। दूसरोंके इहलौकिक सुखोंके साधनको परोपकार कहते हैं। और दूसरे

व्यक्तियोंकी पारलौकिक उन्नतिके साधनोंको परमोपकार कहते हैं। इन चारों पुरुषार्थोंमें एकसे दूसरेमें, दूसरेसे तीसरेमें, और तीसरेसे चौथेमें साधकके चित्तकी उदारता क्रमशः बढ़ती जाती है। इस कारण ये चारों पुरुषार्थ यथाक्रम मनुष्यको उदार बनानेमें क्रमशः सहायक बनते हैं। कर्म करनेवाला व्यक्ति इन चारों पुरुषार्थोंके लक्षणोंपर पूरा ध्यान रखकर यदि आत्मोन्नतिका विचार रक्खे तो वह क्रमशः भगवान् व्यासदेवके गम्भीर उपदेशके अनुसार अपनी आध्यात्मिक उन्नति करनेमें समर्थ हो सकता है। और कर्मके द्वारा प्रथम दशामें अभ्युदय प्राप्त करता हुआ अन्तमें मुक्ति पदनकको प्राप्त करके जीवन्मुक्त होता हुआ सारे संसारको अपना परिवार मानकर कृतकृत्य हो सकता है।

कर्मका संग्रह

सब वेदोंका सार उपनिषद् है। और सब उपनिषदोंका सार श्रीमद्भगवद्गीता है। श्रीगीताजीमें वर्णित है कि कर्मका संग्रह पांच वस्तुओंके द्वारा होता है। कर्मका अधिष्ठान, कर्मका कर्ता, कर्मका करण, कर्म-सम्बन्धमें विविध चेष्टा और दैव, ये पाँचों मिलकर कर्म कराते हैं। यथार्थमें निर्लिप्त आत्मा कुछ नहीं करता। शरीर, वचन और मनके द्वारा जो धर्म अथवा अधर्मरूपी कर्म मनुष्य करता है यही पाँचों उसके हेतु हैं (देखो भगवद्गीता, अध्याय १८)।

स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर, इन्हीं दोनोंको कर्मका प्रधान अधिष्ठान कह सकते हैं। अन्नमय कोषको ही स्थूल शरीर कहते हैं। अन्नके द्वारा पोषित होनेसे उसको अन्नमय कोष कहते हैं। जीवकी मृत्यु होनेपर अन्नमय कोषरूपी स्थूल शरीर यहीं पड़ा रह जाता है। और प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष और आनन्दमय कोषसे बना हुआ लिङ्गशरीर अथवा सूक्ष्म शरीर लोकान्तरमें चला जाता है। स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर, इन दोनोंको कर्मका मुख्य अधिष्ठान कहा गया है। इनके अतिरिक्त स्थान आदिका प्रभाव भी कर्मपर पड़ता है, इस कारण वे भी गौण अधिष्ठान माने जा सकते हैं। मानस कर्मका साक्षात् सम्बन्ध सूक्ष्म शरीरसे होता है, शारीरिक कर्मका साक्षात् सम्बन्ध स्थूल शरीरसे होता है, एवं वाचनिक कर्मका साक्षात् सम्बन्ध दोनों प्रकारके शरीरोंसे होता है।

जीवात्मा ही कर्ता कहलाता है। जो जैवाहंकारके कारण अपने शरीरका अहंकार रखता हुआ अपनेको एक पृथक् वस्तु समझता है वही शरीराभिमानी, सुख और दुःख आदि द्वन्द्वोंका अनुभव करनेवाला जीव ही कर्ता कहलाता है, इसमें सन्देह नहीं।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, तथा गन्धरूपी पाँचों तन्मात्राएँ; कर्ण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिकारूपी पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ और हस्तपादादि कर्मेन्द्रियाँ कर्मसिद्धिके करण कहलाती हैं। इन करणोंके द्वारा कर्ता कर्मसिद्धि करता है। गौणरूपसे अथवा परम्परारूपसे भोजन-पदार्थ तथा स्त्री आदि विषय भी कर्म-सिद्धिके करण हैं। इन सबके बिना कर्मकी सिद्धि हो ही नहीं सकती पृथक्-पृथक् श्रेणीके कर्मोंके लिये पृथक्-पृथक् करण उपयोगी होते हैं।

कर्मकी सिद्धिके निमित्त की जानेवाली विविध प्रकारकी चेष्टाएँ चतुर्थ स्थानीय हैं। कर्ताकर्मकी निष्पत्तिके लिये जैसे अधिष्ठान और करणकी सहायता प्राप्त करता है उसी प्रकार विविध चेष्टाओंकी भी सहायता प्राप्त करके कर्मसिद्धि प्राप्त करता है। केवल अधिष्ठान और करणके द्वारा ही कार्यकी सिद्धि नहीं होती। प्राणमय कोषकी सहायतासे तथा विभिन्न इन्द्रियोंकी सहायतासे नाना प्रकारकी चेष्टाओंके द्वारा वह कर्मकी निष्पत्ति करता है।

कर्मकी निष्पत्तिके लिये दैव पञ्चमस्थानीय है। दैवको समझनेके लिये प्रारब्ध कर्म और दैवी जगत्‌की शृंखलाका रहस्य समझना आवश्यक है। जिन कर्मोंके फलस्वरूप इस लोकका अन्नमय कोषरूपी स्थूल शरीर बनता है और जिनके द्वारा मनुष्यको जाति, आयु, भोग, प्रकृति, प्रवृत्ति, शक्ति और संस्कार, इन सातों पदार्थोंकी प्राप्ति होती है, उनको 'प्रारब्ध' कहते हैं। कर्म जड होनेसे उसके चलानेके लिये चेतनशक्तिकी आवश्यकता है, उसी चेतनशक्तिके अधिष्ठाता देवता होते हैं। जैसे एक साम्राज्यके चलानेके लिये तथा उसके सुप्रबन्धके लिये शासनके अनेक कार्यविभाग और उसके पदधारी होते हैं, उसी प्रकार दैवी जगत्‌में अनेक प्रकारके देव पदधारी हुआ करते हैं। वे ही देवपदधारी जीवके प्रारब्धके अनुसार कर्मनिष्पत्तिके लिये जो कुछ सहायता देते हैं वही 'दैव' शब्दवाच्य है। इस प्रकारसे अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा और दैव, ये पाँचों मिलकर सब प्रकारके कर्मकी निष्पत्ति करते हैं।

कर्मसंग्रहका ढंग अति विचित्र है। जैसे वृक्षसे बीज और फिर बीजसे वृक्ष इस प्रक्रियासे वृक्षकी सृष्टिका प्रवाह नियमित-रूपसे सदा जारी रहता है, उसी प्रकार कर्मका संग्रह पूर्वलिखित

रीतिसे होकर फलोत्पत्ति करता हुआ आगे बढ़ता है। कर्मके बीजको संस्कार कहते हैं। यदि कर्म पूर्व प्रबल संस्कारके अनुसार किया गया हो तो उसकी दशा और होगी, और जो नवीन वासनाके अनुसार किया गया हो तो उसकी दशा और होगी। यदि कर्म साधारणरूपसे निष्पन्न हुआ हो तो उसकी दशा और होगी और अति प्रबलरूपसे निष्पन्न किया गया हो तो उसकी दशा और होगी। यदि कर्म वासनासे युक्त होकर किया गया हो तो उसकी दशा और होगी और यदि वासनारहित होकर किया गया हो तो उसकी दशा और होगी। इसी प्रकार व्यष्टि-सम्बन्धसे कर्मसंग्रह और समष्टि-सम्बन्धसे कर्मसंग्रहकी प्रणालीमें भेद होगा।

पूर्वलिखित रीतिके अनुसार जब मनुष्य कर्म करता है तो उसके कर्मका संस्कार उसके अन्तःकरणमें अङ्कित हो जाता है। वही कर्मबीज अथवा संस्कार कहलाता है। अन्तःकरणके जिस स्थानपर संस्कार अङ्कित होता है उसको दर्शनशास्त्रमें 'चित्त' कहते हैं। जैसे 'कैमेरा' यन्त्रमें मनुष्यके चित्रकी छबि (इम्प्रेशन) तुरंत अङ्कित हो जाती है और उसीसे फोटोग्राफ़ बन जाता है, उसी प्रकार मनुष्यके अन्तःकरणके चित्त नामक विभागमें उसके किये हुए कर्मका संस्कार अङ्कित हो जाता है। ये संस्कार स्थायी हो जाते हैं और जैसे अन्नके खजाने (खलिहान) में अन्न सुरक्षित रहता है और बोनेके समय वह उसमेंसे निकालकर बोया जाता है, उसी प्रकार संस्कार-राशि चित्ताकाश, चिदाकाश और महाकाशमें सुरक्षित रहती है और यथासमय उन कर्मबीजसंस्कारोंसे यथायोग्य रीतिसे अङ्कुरोत्पत्ति होती है। इस सम्बन्धसे सबसे पहले इन तीनों आकाशोंका स्वरूप समझना उचित है। जैसे सर्वव्यापी आकाश घरमें रक्खे हुए घटके अन्दर भी है, घरमें भी है और घरके बाहर व्यापकरूपसे है, उसी प्रकार मनुष्यके अन्तःकरणमें चित्ताकाश, एक ब्रह्माण्डभरमें चिदाकाश और सब ओर महाकाशका सम्बन्ध समझना उचित है। इस प्रकार आकाश ही कर्मबीजरूपी संस्कारोंके संग्रहका स्थान है। रेडियो यन्त्रमें प्रत्येक जगह शब्दके संस्कारसे शब्दोंका प्रकट होना जिन्होंने देखा और सुना है उनको इस विज्ञानके विषयमें सन्देह करनेका कोई कारण नहीं है। जैसे एक घरमें गाया हुआ गान आकाशमें अङ्कित हो जाता है और वह पृथ्वीके चाहे जिस भागके आकाशमें पुनः प्रकट हो जाता है, उसी प्रकार प्रत्येक कर्मका संस्कार चित्ताकाश, चिदाकाश और महाकाशव्यापी हो सकता है।

संस्कारके प्रधानतः तीन भेद हैं—एक क्रियमाण संस्कार, दूसरा प्रारब्ध संस्कार, और तीसरा सञ्चित संस्कार। जो पूर्वकथित रीतिके अनुसार नया संग्रह होता है और अभी अङ्कुरित नहीं हो सकता, उसको 'क्रियमाण संस्कार' कहते हैं। जो संस्कार पूर्व रीतिके अनुसार पूर्वजन्मोंमें संग्रह होकर वर्तमान शरीरोत्पत्तिका कारण बना है और जिससे जीवकी जाति, आयु, भोग, प्रकृति, प्रवृत्ति, शक्ति और वर्तमान स्वाभाविक संस्काररूपी मनोवृत्ति बनी है, उसको 'प्रारब्ध संस्कार' कहते हैं। और जो संस्कार चित्ताकाश, चिदाकाश और महाकाशरूपी खजानेमें भविष्यकालमें अङ्कुरोत्पत्तिके लिये जमा रहते हैं उनको 'सञ्चित संस्कार' कहते हैं। जो कर्मसंग्रह साधारणरूपसे निष्पन्न हुआ है वह तीनों आकाशोंमें पहुँचकर सुरक्षित रहेगा, और जो कर्म अति प्रबलरूपसे निष्पन्न किया गया है उसका प्रभाव चित्ताकाशमें प्रबलताको प्राप्त करके प्रारब्धमें मिल जायगा, तथा ऐसे प्रबल संस्कारोंका भोग इसी जन्ममें भोगना होगा। जो कर्म भविष्य फलकी इच्छासे वासनासे युक्त होकर किया गया है वह पूर्वकथित साधारण रीतिसे आकाशोंमें पहुँचकर यथासमय अङ्कुरित होगा और जो कर्म निष्काम व्रतधारी योगियोंके द्वारा वासनारहित होकर किये गये हैं उनके संस्कार उक्त योगिराजके भोगका कारण न बनकर ब्रह्माण्डके चिदाकाशको आश्रय करके भविष्यमें समष्टिरूपसे अङ्कुरोत्पत्तिका कारण बनेंगे। इसी प्रकार व्यष्टि-सम्बन्धसे प्रत्येक जीवकी कर्म-संस्कारराशि उसी जीवके भोगका कारण यथासमय बनेगी। और किसी मनुष्यजाति, किसी मनुष्यसमाज अथवा किसी देशकी जातिविशेषकी समष्टि कर्मराशिके द्वारा जो समष्टि संस्कार संगृहीत होकर त्रिविध आकाशोंमें प्रसरित होते हैं वे यथासमय समष्टिरूप फलको उत्पन्न करके देश-कालको प्रभावित करते हैं एवं उस मनुष्यजाति और मनुष्यसमाज तथा देशवासियोंको सुख और दुःख देनेका कारण बनते हैं।

सारांश यह है कि प्रत्येक जीवके द्वारा अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा और दैवसे प्रेरित होकर जो कर्म बनते हैं वे उपरिलिखित रीतिसे बीजसे वृक्ष और वृक्षसे बीज तथा पुनः बीजसे वृक्षकी भाँति क्रियासे प्रतिक्रियाका फल प्राप्त करके नियमितरूपसे कर्मप्रवाहको प्रवाहित करते रहते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक स्त्री अथवा पुरुष व्यष्टिरूपसे इस जन्ममें तथा जन्मान्तरमें सुख-दुःखका भोग भोगते रहते हैं और

आवागमन-चक्रमें परिभ्रमण करते रहते हैं। इसी प्रकार समष्टि कर्मोंके द्वारा विशेष-विशेष मनुष्यजातियाँ अथवा विशेष-विशेष मनुष्यसमाज कभी उन्नति और कभी अवनति, कभी सुख और कभी दुःखको प्राप्त होते रहते हैं। इस प्रकार कालचक्र कर्माधीन होकर घूमता रहता है और इसी प्रकार यह जीव मनुष्यलोक, प्रेतलोक, असुरलोक और नाना दैवलोकोंमें आवागमन-चक्रके आश्रयसे जाता-आता रहता है। परन्तु जो तत्त्वज्ञानी अथवा भगवत्कृपा-प्राप्त महापुरुष भगवान्का यथार्थस्वरूप समझकर यथार्थ-रूपसे उनके शरणापन्न होते हैं वे इस चक्रसे बाहर निकल आते हैं।

कर्मका परिणाम

स्वभाव और प्रकृति, ये पर्यायवाचक शब्द हैं। अतः 'ब्रह्मस्वभाव' और 'ब्रह्मप्रकृति' से एक ही अर्थका बोध होगा। इसी विज्ञानके अनुसार यदि कर्मके स्वरूप-वर्णनको मिलाया जाय तो यही सिद्धान्त होगा कि ब्रह्मका स्वभाव अथवा ब्रह्मकी प्रकृति जब भूतोंकी उत्पत्तिके लिये बदलती है, तब वह ब्रह्मके साथ एक, अद्वितीय भावमें न दिखायी देकर अलग-अलग दिखायी देती है, और उसमें कर्मका विस्तार होकर नाना भूतोंकी उत्पत्ति होती रहती है। उसी प्रकृतिकी विकृतावस्थासे कर्मकी उत्पत्तिका सम्बन्ध है। उसमें चिन्मयी प्रकृति चिज्जडमयी भी हो जाती है। सच्चिदानन्दमय ब्रह्मस्वभाव इस दशामें अपने अद्वितीय भावको छोड़कर अनन्त भावों और अनन्त रूपोंमें प्रतीत होता है।

वैदिक दर्शनके सांख्यदर्शनमें प्रकृतिको अनादि कहकर भी उसका जिस प्रकारसे वर्णन किया है, उससे श्रीमद्भगवद्गीतामें कथित प्रकृतिविज्ञान अथवा वेदान्तदर्शन-कथित एक ब्रह्मवादके विज्ञानके साथ विरोध देखकर विचारशील व्यक्तियोंके हृदयमें शंका उत्पन्न हो सकती है। इस श्रेणीकी शंकाका समाधान तब हो सकता है, जब ब्रह्म-प्रकृतिके लिये दर्शनशास्त्रोंमें जितने प्रकारके नाम आये हों उन नामोंके साथ ब्रह्मप्रकृतिके जिन-जिन भावोंका अलग-अलग सम्बन्ध है उनकी पर्यालोचना अच्छी तरह की जाय। कहीं शास्त्रोंमें प्रकृतिको 'ब्रह्म' शब्दसे अभिहित किया गया है, कहीं महद्ब्रह्म कहा गया है, कहीं स्वभाव कहा है, कहीं प्रकृति कहा है, कहीं माया कहा है, कहीं शक्ति कहा है, और कहीं अव्यक्त आदि शब्दोंसे अभि-हित किया है। परम पुरुष और परमा प्रकृति, इन दोनोंके सम्बन्धका विज्ञान इतना गहन है कि वह समाधिगत बुद्धिसे ही समझमें आ सकता है। तो भी यथासम्भव इन शब्दोंके भावोंपर प्रकाश डालनेसे विचारशील व्यक्तियोंको समझनेमें बहुत कुछ सहायता मिल सकती है और साथ-ही-साथ कर्मकी उत्पत्ति और कर्मके परिणामके रहस्यको समझनेमें भी बहुत कुछ सुविधा प्राप्त होगी। श्रीमद्भगवद्गीता-में जो 'ब्रह्म' शब्द व्यवहृत हुआ है वह ब्रह्मके लिये भी हुआ है, अव्यक्त प्रकृतिके लिये भी हुआ है और परिणाम-शील प्रकृतिके लिये भी हुआ है। उदाहरणतः बुद्धिको भी 'ब्रह्म' कहा गया है और मनको भी 'ब्रह्म' कहा गया है। गीताशास्त्रमें जो 'महद्ब्रह्म' शब्दका व्यवहार हुआ है वह मूल प्रकृतिके लिये ही हुआ है। उसी शास्त्रमें जो 'स्वभाव' शब्दका प्रयोग हुआ है वह ब्रह्ममें लीन, मूलप्रकृतिरूपिणी, अद्वैतभावापन्न ब्रह्म-प्रकृतिके लिये ही हुआ है। नाना शास्त्रोंमें जो 'प्रकृति' शब्दका प्रयोग हुआ है वह कहीं तो साम्यावस्थापन्न प्रकृतिके लिये, कहीं वैषम्यावस्थापन्न प्रकृतिके लिये और कहीं विकारभावापन्न प्रकृतिके लिये प्रयोग किया गया है। ऐसा समझकर भावके समझनेमें यथायोग्य सहायता लेनी चाहिये। शास्त्रोंमें जहाँ 'माया' शब्दका प्रयोग हुआ है वहाँ यह समझना चाहिये कि उस शब्दका ज्ञानजननी विद्या और अज्ञानजननी अविद्या दोनोंसे सम्बन्ध है। इसी प्रकार शास्त्रोंमें जहाँ 'शक्ति' शब्दका प्रयोग हुआ है वहाँ परमानन्दरूपिणी ब्रह्मकी सत्ता और पूर्ण ज्ञानमय शक्तिमानकी चित्सत्ता, इन दोनोंका एकमें ही समावेश दिखाया गया है। 'अव्यक्त' शब्दके विषयमें तो स्पष्ट सिद्धान्त श्रीगीताशास्त्रमें मिलता है, क्योंकि उस शास्त्रमें व्यक्त और अव्यक्तसे परे एक तीसरी अवस्थाका भी उल्लेख है। इन सब शब्दोंके तात्पर्यपर मनन करनेसे ब्रह्म और ब्रह्म-प्रकृतिके स्वरूपका तात्पर्य हृदयङ्गम करनेमें सहायता मिलेगी।

श्रीमद्भगवद्गीतामें प्रकृतिकी सब अवस्थाओं और सब भावोंका यथावत् स्थान-स्थानपर निर्देश किया गया है। श्रीभगवान्ने कहा है कि प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं, ऐसा समझो। तथा विकार और गुण प्रकृतिसे उत्पन्न हैं, ऐसा समझना। कार्य और करणके कर्तृत्वके विषयमें प्रकृति ही हेतु कही जाती है। और सुख-दुःखके भोक्तृत्वके विषयमें

पुरुष हेतु कहा जाता है (देखो अध्याय १३)। स्थानान्तरमें श्रीभगवानने कहा है कि अव्यक्तरूपी मैं इस सम्पूर्ण सृष्टिमें व्याप्त हूँ। सारा चराचर भूतसमूह मुझमें अवस्थित है। मैं उन सबमें अवस्थित नहीं हूँ। मेरे ऐश्वर्य योगको देखो। भूतसमूह मुझमें अवस्थित नहीं हैं; मैं भूतधारक और भूतपालक होते हुए भी भूतोंमें अवस्थित नहीं हूँ। जैसे सर्वव्यापी और महान् वायु निर्लिप्तरूपसे आकाशमें अवस्थित है, वैसे ही सम्पूर्ण भूतसमूह मुझमें अवस्थित हैं। हे कौन्तेय! प्रलयके समय भूतसमूह मेरी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं और सृष्टिके समय मैं उनको पुनः उत्पन्न करता हूँ। मैं अपनी प्रकृतिको अधिष्ठान करके स्वभावके वश होकर कर्ममें विवश भूतसमूहोंकी पुनः-पुनः सृष्टि किया करता हूँ, हे धनञ्जय! उन कर्मोंमें अनासक्त एवं उदासीनवत् अवस्थित मुझको वे सब कर्म बाँध नहीं सकते। मेरी अध्यक्षतासे मेरी प्रकृति चराचर विश्वको प्रसव करती है। हे कौन्तेय! इसी कारण जगत् बार-बार उत्पन्न होता है (देखिये अध्याय ९)। इन सब वर्णनोंमें ब्रह्म-प्रकृतिकी स्वाभाविक स्वरूप-अवस्थाका, जिसको स्वभाव कहा गया है, तथा प्रकृति और प्रकृतिमानकी द्वितीयावस्थाका, दिग्दर्शन कराया गया है। इस विज्ञानको इस प्रकार भी समझ सकते हैं कि अद्वैत अवस्थामें प्रकृति 'स्वभाव' कहलाती है और द्वैतावस्थामें प्रकृति 'प्रकृति' कहलाती है। प्रकृतिसे ही पुरुषके ईक्षणद्वारा सृष्टि, भूतसमूहोंके कर्मके अनुसार, बार-बार उत्पन्न होती है, और प्रकृतिमें ही बार-बार लयको प्राप्त होती है। कर्मसमूह भूतसमूहोंकी सृष्टि, स्थिति और लयके कारण होते हैं। उनका आविर्भाव और तिरोभाव प्रकृति-राज्यमें ही हुआ करता है। परमपुरुष परमात्मामें न कर्म पहुँच सकता है, न सृष्टि पहुँच सकती है। सत्सत्तामें ही सृष्टि, स्थिति और लय होता है और चित्सत्ता सदा निष्क्रिय और निर्लिप्त रहती है। श्रीमद्भगवद्गीताके इन शब्दोंमें जो 'विकार' शब्द आया है वह प्रकृतिकी विषमताकी अवस्थाका द्योतक है। एकमें दोका भान होना ही, अद्वैतभावसे द्वैतभावका प्राकट्य ही वस्तुतः समताका त्यागरूप विषमता है। अतः समाहित होकर विचार करनेसे प्रकृतिके दोनों पूर्वापर अति गहन और अति सूक्ष्म अवस्थाओंके भावोंका स्वानुभव प्राप्त हो सकता है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें और भी कहा गया है कि महद्ब्रह्म मेरी योनि है, उसमें मैं गर्भ स्थापित करता हूँ, जिससे भूत-समूह उत्पन्न होते हैं। हे कौन्तेय! स्थावर-जङ्गमादि योनियोंमें जो मूर्तियाँ उत्पन्न होती हैं, महद्ब्रह्म उनकी योनि है और मैं बीजदाता पिता हूँ। सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण, ये प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं और हे महाबाहो! देहमें स्थित निर्विकार आत्माको बाँध लेते हैं। हे अनघ! इन तीनों गुणोंमेंसे सत्त्वगुण निर्मलत्वके कारण ज्ञानप्रकाशक होनेसे और शान्त होनेसे सुख और ज्ञानमें आसक्ति उत्पन्न करके देहीको बन्धन प्राप्त कराता है। हे कौन्तेय! रजोगुण रागात्मक है, और विषयकी इच्छा एवं आसक्तिसे उत्पन्न होता है और देहीको कर्मसंगसे बाँधता है। हे भारत! तमोगुण अज्ञानसे उत्पन्न होता है और सब देहियोंको मोहित करनेवाला है ऐसा जानो। वह प्रमाद, आलस्य और निद्रासे देहीको बाँध लेता है। हे भारत! सत्त्वगुण देहीको सुखमें आबद्ध करता है, रजोगुण कर्ममें आबद्ध करता है और तमोगुण ज्ञानको ढककर प्रमादमें आबद्ध करता है (देखो गीता अध्याय १४)। यह वर्णन प्रकृतिकी परवर्ती अवस्थाका है। प्रकृति-पुरुषात्मक द्वैत अवस्थासे पहले कर्मकी सहज अवस्था और उसके बाद ऐश और जैव अवस्था प्रकट होकर कर्मके तीन भेद बनते हैं। सहज कर्मके द्वारा ब्रह्माण्डकी स्थूल सृष्टि पहले होती है। आजकलका विज्ञान भी इस स्थूल सृष्टिका पहले होना स्वीकार करता है। यावत् जड़मयी स्थूल सृष्टि और जड़प्रधान जीवोंकी सृष्टिधारा सहज कर्मतरङ्गकी सहायतासे होती है। उसके बाद दैवी राज्यकी सृष्टि होती है। उस सृष्टिका कारण ऐश कर्मका प्रवाह है। एवं मनुष्ययोनिके साथ जैव कर्मका सम्बन्ध माना गया है। त्रिगुणके द्वारा तरङ्गायित होकर सृष्टि आगे बढ़ती है और तब कर्मके ये तीनों भेद अलग-अलग काम करने लगते हैं।

हमारा लक्ष्य और कर्त्तव्य

(लेखक —श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

मनुष्य सबसे श्रेष्ठ प्राणी माना जाता है, वह अपनेको श्रेष्ठ समझता है, और विचार करनेपर यह सिद्ध होता है कि भगवान्ने उसकी रचनामें विशेषता रक्खी भी है परन्तु वह वास्तवमें श्रेष्ठ तभी है, जब कि अपने जीवनके प्रधान लक्ष्यको ध्यानमें रखकर अपना कर्त्तव्य पालन करता है। आजके संसारकी ओर देखते हैं तो मालूम होता है, लक्ष्यको जानकर कर्त्तव्य पालन करना तो दूर रहा, लक्ष्य और कर्तव्य क्या है, इस बातको भी प्रायः हमलोग नहीं जानते और न जानना चाहते ही हैं!

बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि वह शास्त्रोंसे, शास्त्रोंके वाक्य न समझमें आवें तो किन्हीं भगवत्प्राप्त पुरुषसे, खोज करनेपर भी वैसे पुरुष न मिलें तो धर्मको जानकर धर्मका आचरण करनेवाले किसी पुरुषसे, वह भी न मिले तो अपनी समझसे जो धर्मका जाननेवाला जान पड़े, उसीसे पूछकर अपने कर्त्तव्यको जान लें। कुछ भी न हो तो, कम-से-कम अपने अन्तरात्मासे तो पूछते ही रहना चाहिये। एक आदमी कहता है 'सत्य बोलना धर्म है' दूसरा कहता है, 'धर्म-कर्म कुछ भी नहीं है।' ऐसी अवस्थामें अपने अन्तरात्मासे पूछना चाहिये। बुद्धिसे कहना चाहिये कि वह निष्पक्षभावसे अपना मत जनावे। ऐसा किया जायगा तो अन्तरात्माकी आवाज या बुद्धिका निर्णय यही मिलेगा कि—'सत्य बोलना ही ठीक है।' क्योंकि सत्य सभीको प्रिय है। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य, अहिंसादि अन्यान्य प्रसंगोंपर भी विचार करना चाहिये। और अन्तरात्माका या बुद्धिका निर्णय प्राप्त हो जानेपर तदनुसार करनेके लिये तत्पर हो जाना चाहिये। ऐसे निर्णयको पाकर भी जो तदनुसार नहीं करते, वे अपना पतन आप ही करते हैं। अच्छी बात समझकर भी उसका पालन न करे, और बुरी समझकर भी उसका त्याग न करे, उसका पतन अवश्य ही होना चाहिये। श्रीभगवान् कहते हैं—

> **उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।**
> **आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥**
> (गीता ६।५)

'मनुष्यको चाहिये कि वह अपने द्वारा ही अपना उद्धार करे और अपने आत्माको अधोगतिमें न पहुँचावे। क्योंकि यह आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है।'

हमें जो राग-द्वेष, शोक-भय आदि होते हैं, वे क्यों होते हैं? लोग समझते हैं कि प्रारब्धसे होते हैं परन्तु बात ऐसी नहीं है। ये सब होते हैं अज्ञानसे। रागद्वेष ही शोक-भयमें कारण हैं और राग-द्वेष ही क्लेश देनेवाले हैं। अविद्या यानी अज्ञान ही इनका हेतु है। अविद्याका नाश होते ही इन सबका अपने-आप ही नाश हो जाता है।

धन प्राप्त होना या नष्ट हो जाना, बीमारी होना या स्वस्थ हो जाना और जन्म होना या मर जाना—इन सबमें तो प्रारब्ध हेतु है। परन्तु चिन्ता, भय, शोक, मोह आदिमें तो अज्ञान ही प्रधान कारण है। अज्ञानका नाश होनेपर शोक-मोह नहीं रहते। श्रुति कहती है—

> **'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।'**
> **'हर्षशोकौ जहाति'**

शोकादिमें यदि प्रारब्ध हेतु होता तो भगवान् अर्जुनके प्रति यह कैसे कहते कि—

> **अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।**
> **गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥**
> (गीता २।११)

'तू शोक न करने योग्यके लिये शोक करता है और पण्डितोंके-से वचन कहता है। परन्तु पण्डितजन

जिनके प्राण चले गये हैं अथवा जिनके नहीं गये हैं, उनके लिये शोक नहीं करते।'

अज्ञानका नाश ज्ञानसे होता है। हमें साधन करके उस ज्ञानको प्राप्त करना चाहिये जिससे शोक-मोह, चिन्ता-भय, चोरी-व्यभिचार, झूठ-कपट और आलस्य-अकर्मण्यता आदि दोषोंका सर्वथा नाश हो जाय। ज्ञान होनेपर अज्ञानका कार्य रह नहीं सकता। बड़ी अच्छी रसोई बनी है, मिठाई बहुत ही स्वादिष्ट है, हम बड़े चावसे खानेको बैठे हैं। दो ही ग्रास लिये थे कि एक मित्रने चुपकेसे आकर सूचना दी कि 'मिठाईमें जहर है खाना मत' बस, इतना सुनते ही हम मुँहका ग्रास उसी क्षण थूक देते हैं, थाली दूर हटा देते हैं और पेटमें गये हुए ग्रासको भी जल्दी वमन करके वापस निकालनेकी चेष्टा करते हैं। जहरका ज्ञान हो जानेपर पदार्थ कितना ही मधुर और स्वादिष्ट क्यों न हो, हम अब उसे नहीं खा सकते। मित्रकी बातपर विश्वास जो ठहरा, उसने जो बताया सो ठीक ही बताया है। बस, यही हाल संसारके भोगोंका है। हम यदि शास्त्र, भगवान् या संतपुरुषोंकी वाणीपर विश्वास कर लें तो फिर इन भोगोंमें कभी मन न लगावें। भगवान् स्वयं कहते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
(गीता ५। २२)

'इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले जो ये सब भोग हैं, भ्रमवश सुखरूप दीखनेपर भी ये निस्सन्देह ही दुःखोंको ही उत्पन्न करनेवाले, तथा आदि-अन्तवाले हैं। बुद्धिमान् पुरुष इनमें नहीं रमता।'

इतना जानकर भी यदि मनुष्य इन्हींमें मन लगाता है तो वह महान् मूर्ख है। तुलसीदासजी महाराज भी कहते हैं—

नरतनु पाइ बिषय मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥

लोग कह सकते हैं कि विषका असर तो तुरन्त होता है, परन्तु इसका तो कोई असर नहीं दिखलायी पड़ता, इसका उत्तर यह है कि विष भी तो कई प्रकारके होते हैं, ऐसे विष भी होते हैं, जिनका असर पड़ता है तो धीरे-धीरे परन्तु पड़ता है बड़ा ही भयानक! भोग ऐसे ही धीरे-धीरे असर करनेवाला भयानक मीठा विष है।

इसीलिये राजस विषय-सुखको भगवान्ने परिणाममें विषतुल्य बतलाया है—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥
(गीता १८। ३८)

'जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है वह यद्यपि भोगकालमें अमृतके समान भासता है परन्तु परिणाममें विषके सदृश है। इसलिये वह सुख राजस है।'

यदि कहा जाय कि 'हमलोग तो बहुत विष खा चुके हैं, इसके लिये क्या उपाय करें?' उपाय बहुत हैं। पहले खाया हुआ विष निकाला भी जा सकता है और पचाया भी! अच्छे वैद्य इसका उपाय बतला सकते हैं, परन्तु पहले यह विश्वास भी तो हो कि यह वस्तुतः विष है। विश्वास होता तो कम-से-कम नया खाना तो बन्द हो ही जाता। जब खाना उसी प्रकार चालू है, तब कैसे माना जाय कि हमने भगवान्के वचनोंपर विश्वास करके इन्हें दुःखदायी और विष मान लिया है?

सुनते हैं, पढ़ते हैं परन्तु विश्वास नहीं होता। पूरा विश्वास होनेपर मनुष्य बिना उपाय किये रह ही कैसे सकता है? विश्वास ही विषनाशक साधनके लगन-की आधारभूमि है। सच्ची लगन कैसी होती है:

लगन लगन सब कोइ कहै, लगन कहावै सोय।
नारायन जेहि लगनमें तन-मन डारै खोय॥
जो सिर काटे हरि मिले तो हरि लीजै दौर।
ना जाने या देरमें गाँहक आवै और॥

परन्तु इस विष-सेवनका त्याग तो करना ही चाहिये; और शीघ्र ही करना चाहिये । क्योंकि विलम्ब होनेसे रक्षा कठिन हो जायगी । जबतक मृत्यु दूर है, देहमें प्राण है, तभीतक शीघ्र-से-शीघ्र उपाय कर लेना चाहिये। यह नहीं सोचना चाहिये कि अभी क्या है, कुछ दिन बाद कर लेंगे । कौन जानता है, मृत्यु कब आ जायगी । दीर्घजीवनका पट्टा थोड़े ही है ! इधर विष तो लगातार बढ़ ही रहा है । रातको ही मौत आ गयी तो फिर क्या होगा ? अतएव इसी क्षणसे जग जाना चाहिये, और लग जाना चाहिये पूरी लगनसे !

हमारा लक्ष्य होना चाहिये परमात्माकी प्राप्ति, क्योंकि परमात्मा ही एकमात्र परम सुख और शाश्वती शान्तिके केन्द्र हैं, वे ही सर्वश्रेष्ठ और सबसे बढ़कर प्राप्त करने योग्य परम वस्तु हैं, उनकी प्राप्तिमें ही जीवनकी पूर्ण और यथार्थ सफलता है । और इस परम लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये सतत प्रयत्न करना ही मनुष्य-जीवनके कर्तव्यका पालन करना है । इस कर्तव्यपालनमें जो कुछ भी त्याग करना पड़े, वही थोड़ा है । बस, त्यागकी तैयारी होनी चाहिये, फिर शास्त्र कहते हैं कि 'परमात्मा मिल सकते हैं और उनका मिलना भी सहज ही है । और यह भी विश्वास रखना चाहिये कि हम परमात्माकी प्राप्तिके पात्र हैं । पात्र हैं, तभी तो मनुष्य-शरीर भगवान्‌ने दिया है । दूसरी योनियोंकी कमी तो थी ही नहीं; पशु, पक्षी, रीछ, बन्दर कुछ भी बना सकते थे । फिर उन्होंने 'मनुष्य' क्यों बनाया ? इसीसे सिद्ध है हम पात्र हैं । भगवान्‌ने हमें मुक्तिका पासपोर्ट दे दिया है । अब जो कुछ कमी है, वह केवल हमारी ही ओरसे है । उन्होंने मनुष्य-शरीर देकर हमें मुक्तिका अधिकारी बना दिया, हम यदि अब प्रमाद करें तो हमारी बड़ी भारी मूर्खता है । ऐसे ही मूर्खोंके लिये भगवान् कहते हैं—

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥
(गीता १६ । १९)

'ऐसे, उन द्वेष करनेवाले पापाचारी और क्रूरकर्मी नराधमोंको मैं संसारमें बार-बार आसुरी योनियोंमें ही डालता हूँ ।'

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥
(गीता १६ । २०)

'हे अर्जुन ! जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त वे मूढ पुरुष मुझको न प्राप्त होकर उससे भी अति नीच गतिको ही प्राप्त होते हैं । अर्थात् घोर नरकोंमें पड़ते हैं ।'

पापाचारी और क्रूरकर्मी नराधमोंके लिये आसुरी-योनि और नरकोंका विधान तो ठीक ही है । परन्तु भगवान्‌ने जो 'मुझे न प्राप्त होकर' कहा, इसका क्या रहस्य है ? ऐसे पापियोंके लिये भगवत्प्राप्तिकी बात ही कैसी ? सरकारका यह कहना तो ठीक है, अमुक चोर है, बदमाश है उसे बार-बार जेलमें और कालेपानीमें भेजना है, परन्तु उसे राज्य न देकर जेलमें भेजना है । इस कथनका क्या अभिप्राय है ? बात यह है कि भगवान् जब किसी जीवको मानव-शरीरमें भेजते हैं तो उसे मुक्तिका अधिकार देकर ही भेजते हैं । और वह मुक्तिका अधिकार प्राप्त करके आया हुआ जीव जब भगवान्‌को भूलकर—अपने जन्मसिद्ध अधिकारकी उपेक्षा कर पाप करता है और पुनः नरकोंमें जानेयोग्य बन जाता है, तब मानो भगवान् खेद प्रकट करते हुए-से कहते हैं कि, देखो, इसको मैंने 'अपनी प्राप्तिका अधिकार देकर भेजा था, परन्तु आज इसे नरकमें भेजनेकी व्यवस्था करनी पड़ती है, इससे बढ़कर खेदकी बात और क्या होगी ?'

जैसे किसी राजाके देहावसान हो जानेपर उसके पुत्रका राज्यपर अधिकार होता है परन्तु उस समय

वह नाबालिग होनेके कारण राज्यशासनके योग्य नहीं समझा जाता । सरकार राज्यकी समस्त व्यवस्था करती है और राजकुमारके बालिग होनेपर उसे सारे अधिकार सौंप देती है परन्तु वह यदि अयोग्य निकलता है और बुरी सङ्गतमें पड़कर ऐसे कर्म कर बैठता है जिनके फलस्वरूप, पिताका राज्य होनेके कारण उसपर जन्मसिद्ध स्वत्व होनेपर भी वह राज्याधिकारसे वञ्चित कर दिया जाता है, इतना ही नहीं प्रत्युत उसे और भी दण्ड भोग करना पड़ता है । और उसे दण्ड देते समय जैसे सरकार पश्चात्ताप करती है । ठीक वैसी ही बात मनुष्योंके लिये भी है । मनुष्यको परमात्माकी प्राप्तिका जन्मसिद्ध अधिकार है तथापि अपनी अयोग्यता और विपरीताचरणके कारण उसे अपने अधिकारसे वञ्चित रहकर उल्टा दण्ड भोग करना पड़ता है । इससे अधिक उसका दुर्भाग्य और क्या होगा ? इसीलिये भगवान्‌ने उपर्युक्त श्लोकमें 'मुझे न प्राप्त होकर' नीच गतिको प्राप्त होते हैं, ऐसा कहा है ।

वस्तुतः यह हमारे लिये बड़े ही परिताप और लज्जाकी बात है कि इस प्रकार हम दयालु भगवान्‌की दयाका तिरस्कारकर अपने मानव-जीवनको व्यर्थ खो रहे हैं । यही मानव-जीवनकी सबसे बड़ी विफलता है और यही मनुष्यकी सबसे बड़ी भूल है । भगवान् कहते हैं—जल्दी चेतो--कालका भरोसा करके विषयभोगोंमें जरा भी मत फँसो । यह मत समझो कि शरीर सदा रहेगा; यह भी मत समझो कि मुझे भूलकर तुम इसमें कहीं भी सुखकी तनिक छाया भी पा सकोगे । यह मनुष्य-शरीर तो मैंने तुम्हें विशेष दया करके दिया है, अपनी ओर खींचकर परमानन्द-रूप परमधाममें ले जानेके लिये । यह बड़ा ही दुर्लभ है । परन्तु यह है अनित्य, क्षणभंगुर और जो मुझको भूल जाता है उसके लिये नितान्त सुखरहित भी ! इसको प्राप्त होकर तो बस, निरन्तर प्रेमपूर्वक मेरा भजन ही करो । तभी तुम जीवनके परम लक्ष्यरूप मुझको प्राप्त करके धन्य हो सकोगे !

'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥'

दैनिक कल्याण-सूत्र

१ मई सोमवार—जो केवल धन बटोरनेमें ही लगे रहते हैं, उन कृपण मनुष्योंको धनसे कभी सुख नहीं मिलता । जीवनभर धन बढ़ानेकी और उसकी रक्षा करनेकी चिन्तामें जलना पड़ता है और मरनेपर नरकमें गिरना पड़ता है ।

२ मई मंगलवार-जैसे जरा-सा कोढ़ सुन्दररूपको बिगाड़ देता है, वैसे ही थोड़ा-सा भी लोभ यशस्वी पुरुषोंके विशुद्ध यशको और गुणवानोंके प्रशंसनीय गुणोंको बिगाड़ देता है ।

३ मई बुधवार—वही बुद्धिमान् पुरुष है जो धनके लोभसे अथवा राग, क्रोध, डाह, काम और भयके वश होकर कभी धर्मको नहीं छोड़ता ।

४ मई गुरुवार—जो मनुष्य लोभके वश होकर धर्मको छोड़ देता है और धन बटोरनेमें लग जाता है, वह मानो सोनेके ढेरको छोड़कर मुट्ठीभर राखके लिये लपकता है ।

५ मई शुक्रवार—मनुष्यके पास जबतक धन रहता है, तभीतक माता, पिता, स्त्री, पुत्र, स्वजन, कुटुम्बी और मित्र उसका साथ देते हैं । धन न रहनेपर कोई बात भी नहीं करता । जगत्‌की यही स्वार्थमयी नीति है ।

६ मई शनिवार—परन्तु अन्तसमयमें धन कुछ भी काम नहीं आता । जीवनभर बटोरे हुए धनपर दूसरे मालिक बन बैठते हैं । अपने द्वारा किया हुआ

धर्म ही एक ऐसा सहायक है जो मरनेके बाद भी साथ जाता है ।

७ मई रविवार—जो मनुष्य धर्मका तिरस्कार करके धनके पीछे भटकता है वह उस प्यासे हरिनके समान निराश होता है जो जल समझकर रेगिस्तानकी जलती हुई बालूकी ओर दौड़ता है।

८ मई सोमवार—चोरी, हिंसा, झूठ, दंभ, काम, क्रोध, घमण्ड, मद, कलह, वैर, अविश्वास, स्पर्धा, व्यभिचार, जूआ और शराब—इन पन्द्रह दोषोंके पैदा होने और बढ़नेमें धन प्रधान कारण होता है, इसलिये अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषको धनमें आसक्त नहीं होना चाहिये ।

९ मई मंगलवार—धनको लेकर भाई-भाई, स्त्री-स्वामी, पिता-पुत्र और मित्र-मित्रमें फूट पड़ जाती है । धनकी कौड़ियोंके लिये 'एक आत्मा दो शरीर' माननेवाले स्नेही मित्र भी वैरी बन जाते हैं ।

१० मई बुधवार— थोड़े-से धनके लिये प्यारे मित्र भी घबराकर और क्रोधित होकर तुरंत ही सारी सुहृदता भूल जाते हैं और एक दूसरेको त्याग देते और कहीं-कहीं तो मार भी डालते हैं ।

११ मई गुरुवार—देवता भी जिसके लिये लालायित रहते हैं —ऐसे मनुष्य-शरीरको पाकर जो लोग प्रमादवश उसे व्यर्थ ही खो देते हैं और अपने सच्चे स्वार्थकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं देते, उनकी बहुत ही बुरी गति होती है ।

१२ मई शुक्रवार—मनुष्य-शरीर मोक्षका दरवाजा है, इसी शरीरमें आकर मनुष्य सारे बन्धनोंसे छूट सकता है । इसे पाकर जो मनुष्य केवल अनर्थ-मय धनमें ही आसक्त रहता है वह बुद्धिमान नहीं है ।

१३ मई शनिवार—धन होनेपर भी जो मनुष्य उस धनका हिस्सा पानेके अधिकारी देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य, अन्यान्य प्राणी, जातिवाले तथा बन्धु-बान्धवोंको उनका हिस्सा नहीं देता, वह कृपण मनुष्य अवश्य ही नीचे गिरता है ।

१४ मई रविवार—धन हो तो, उसे गरीब परिवार और उचित अधिकारियोंको यथायोग्य देते रहकर भगवानकी सेवा करो इससे तुम्हारे दोनों लोक बन जायँगे । नहीं है तो पापभरे साधनोंसे उसे कमानेकी चेष्टा न करो ।

१५ मई सोमवार—याद रक्खो, मृत्युके मुखमें पड़े हुए मनुष्यका धन, भोग, कर्म या देवता कोई भी कुछ भी हित नहीं कर सकते । उस समय एक भगवान्का भजन ही काम आता है ।

१६ मई मंगलवार—केवल स्त्री-संग और धन कमानेमें ही लगे हुए असत् जनोंका संग भूलकर भी नहीं करना चाहिये । ऐसे विषयी पुरुषके पीछे चलनेवाला, जैसे अन्धेके पीछे चलनेवाला अन्धा गिरता है, वैसे ही गिर जाता है ।

१७ मई बुधवार जिसका मन कामके द्वारा हरा गया है उसके विद्या, तप, संन्यास, एकान्तवास और वाणीका संयम आदि सभी निष्फल हैं ।

१८ मई गुरुवार—जैसे जलमें डूबने उतरानेवालेके लिये मजबूत नौका ही परम आश्रय है वैसे ही भवसागरमें डूबनेवाले जीवोंके लिये सच्चे संत ही एकमात्र आश्रय हैं ।

१९—मई शुक्रवार—बिना ही किसी हेतुके भगवानमें चित्त लगानेवाले, शान्त, समदर्शी, ममता रहित, अहंकाररहित, और रागद्वेषादि द्वन्द्वोंसे छूटे हुए अकिंचन ही सच्चे संत हैं ।

२० मई शनिवार—सूर्य तो बाहरी नेत्रोंको प्रकाशित करते हैं। परन्तु संतजन भीतरके ज्ञानरूपी नेत्रोंको प्रकाशित कर देते हैं। ऐसे संत ही सच्चे देवता और मित्र हैं। वे भगवान्‌के रूप ही हैं।

२१ मई रविवार—गृहस्थको प्रतिदिन सबको भगवान्‌का रूप समझकर अपनी शक्तिके अनुसार पितृ-सेवा, देवसेवा और अतिथिसेवा करनी चाहिये।

२२ मई सोमवार—शुद्ध वृत्तिके द्वारा पैदा किये हुए धनसे न्यायपूर्वक जिन कुटुम्बियोंका तथा अन्यान्य जीवोंका भरण-पोषण होता है, उन लोगोंको पीड़ा पहुँचा कर परलोककी इच्छासे कोई शुभ कर्म नहीं करना चाहिये। उन्हें प्रसन्न रखना ही शुभ कर्म है। उनपर कभी अहसान-का भाव नहीं लादना चाहिये।

२३ मई मंगलवार—कुटुम्बकी चिन्तामें ही आसक्त न रहो और न भगवान्‌के भजनको कभी भूलो, भगवान्‌पर पूर्ण श्रद्धा और विश्वास करो।

२४ मई बुधवार—जैसे मुसाफिर लोग जलशाला (प्याऊ) पर जल पीनेके लिये आकर थोड़ी देरके लिये मिल जाते हैं और जल पीकर अपनी-अपनी राह चले जाते हैं, वैसे ही संसार-में बन्धु-बान्धव, स्त्री-स्वामी और पुत्र-पिता आदिका समागम होता है।

२५ मई गुरुवार—जो मनुष्य भगवान्‌को भूलकर केवल परिवारमें ही आसक्त है, जो धन और पुत्रोंके लिये ही व्याकुल है, जो स्त्री-संगमें ही लिप्त है और मन्दबुद्धि है, उस मूढ़को 'मैं हूँ' तथा 'मेरा है' इस अज्ञानके चक्करमें पड़कर बार-बार जन्म-मृत्युके कठिन कष्ट भोगने पड़ते हैं।

२६ मई शुक्रवार—मनुष्यजन्म पाकर भलीभाँति भगवान्‌की ही आराधना करनी चाहिये। क्योंकि भगवान् ही सब प्राणियोंके प्रिय आत्मा, सुहृद् और स्वामी हैं।

२७ मई शनिवार—जबतक शरीर स्वस्थ है और इन्द्रियाँ सबल हैं, तभीतक कल्याणके लिये पूरा प्रयत्न हो सकता है। रोगी शरीरसे साधना नहीं होगी, अतएव अभीसे साधनमें लग जाओ।

२८ मई रविवार—विषयरूप दैत्योंकी सेवा न करके भगवान्‌की शरण हो जाओ, तभी सुख-शान्ति पा सकोगे।

२९ मई सोमवार—सम्पूर्ण सुखोंकी खान एकमात्र भगवान् ही हैं, जो भगवान्‌को छोड़कर अन्यत्र सुख-शान्ति खोजता है, उसे सदा निराशाकी ही चोटें सहनी पड़ती हैं।

३० मई मंगलवार—यह मनुष्यकी मूर्खता है कि वह बार-बार निराशाकी चोटें खाकर भी फिर उसी ओर जाता है और दुःखके बाद फिर दुःख उठाता है।

३१ मई बुधवार—अतएव मूर्खता छोड़कर भगवान्‌को प्रसन्न करो, वे सब प्राणियोंके आत्मा हैं, इससे उनको प्रसन्न करना और पाना कुछ भी बड़ी बात नहीं है।*

* श्रीमद्भागवतके आधारपर लिखित।
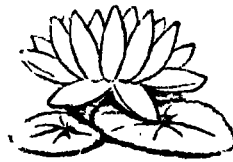
निराश न हो, निश्चय रक्खो, भगवान्‌का वरद हाथ सदा ही तुम्हारे ऊपर छाया किये हुए है। भजन करो, उस छत्रछायाको प्रत्यक्ष देख सकोगे, और फिर तो अपनेको इतने महान्‌की शक्तिसे सुरक्षित पाकर आनन्दमें नाच उठोगे।

देखो, देखो, वे मुसकुराते हुए तुम्हें पुकार रहे हैं, तुम्हारे बहुत समीप आ गये हैं, अत्यन्त ही निकट हैं; बस, चाहते ही तुम उन्हें स्पर्श कर सकते हो; पकड़ लो उन्हें! अभागे, क्यों देर करते हो? विश्वास नहीं है, इसीसे वञ्चित हो रहे हो!

समझते हो, ये भावुकताकी बातें हैं, कल्पनाकी सृष्टि है, शब्दजालमात्र है! हाय! इसीसे ठगे जा रहे हो। एक बार पूरा विश्वास करके देखो तो सही!

बच्चा दुखी होकर रोता है, माँको पुकारता है, बच्चेकी दर्दभरी और आवेगभरी पुकार सुनते ही माँ आती है। माँ शायद दूर हो तो न सुन सके, परन्तु यह तुम्हारी सच्चिदानन्दमयी माँ तो निरन्तर तुम्हारे साथ ही रहती है। जब पुकारोगे, तभी उत्तर पाओगे। पुकारना सीखो! पुकारो-पुकारो।

पूछते हो, कैसे पुकारें? वैसे ही पुकारो, जैसे अनन्य-आश्रित मातृपरायण बच्चा पूरे विश्वाससे माँको पुकारता है। पुकारना तो तुम जानते हो, परन्तु विश्वास नहीं करते, इसीसे नहीं पुकार पाते।

विश्वास करो, सरलता, कोमलता तथा भरोसेसे हृदयको भर लो। फिर पुकारो। तुम्हारी पुकार व्यर्थ नहीं जायगी।

द्रौपदीने पुकारा था, गजराजने पुकारा था। आज भी लोग पुकारते होंगे और उसी भाँति उत्तर भी पाते ही होंगे। तुम भी वैसे ही पुकारो—उत्तर पाओगे!

परन्तु यह मत आशा रक्खो—इस धारणाको ही छोड़ दो कि सब जाननेवाले तुम्हारे सुहृद् भगवान् तुम्हारे मनकी करके तुम्हें अधोगतिमें जाने देंगे।

बच्चा आगकी तरफ दौड़ता है, रास्तेमें कोई बाधा पाकर रोता है। करुणस्वरमें माँको पुकारता है, माँ दौड़ी आती है परन्तु आकर बच्चेको आगके सामने थोड़े ही जाने देती है। वह आगसे उसको और भी दूर हटा लेती है, वह यदि नहीं भूलता तो अज्ञानवश और भी रोता है। विशेष दुःखका अनुभव करता है। माँ उसके इस रोनेकी परवा तो नहीं करती, परन्तु माँको उसका किसी बातके लिये भी रोकर दुखी होना सहन भी नहीं होता। वह पुचकारती है, उसे शान्त करना चाहती है और अपने आँचलमें छिपाकर—आवरण अलग करके अमृत-तुल्य स्तन्य पिलाने लगती है।

बस—भगवान्‌को पुकारो वे भी आवेंगे, तुम्हें गोदमें उठा लेंगे और अपने हृदयकी अप्रतिम सुधा-धारासे तुम्हें तृप्त कर देंगे। वह सुधा-धारा ऐसी मधुर होगी कि तुम तृप्त होकर भी अतृप्त ही रहोगे। भगवत्प्रेमसे प्राप्त हुई इस नित्य तृप्तिमें निरन्तर अतृप्तिका बोध ही भक्ति है। यही भक्तका महान् मनोरथ है, जिसके सामने वह कैवल्य मोक्षतकको तुच्छ समझता है।

"शिव"

भक्त-गाथा

विसोबा सराफ

(लेखक—पं० श्रीभुवनेश्वरनाथजी मिश्र, 'माधव' एम० ए०)

नलिनीदलगतजलवत्तरलं
तद्वज्जीवनमतिशयचपलम् ।
क्षणमपि सज्जनसङ्गतिरेका
भवति भवार्णवतरणे नौका ॥
—मोहमुद्गर

कितना चञ्चल, कितना क्षणभङ्गुर है यह मानवजीवन ! कमलके पत्तेपरसे जलकी बूँदको ढुलकते देर लग सकती है, परन्तु इसके जाते देर नहीं लगती । यहाँका सारा पसारा पलक मारते जाने कहाँ छिप जायगा । परन्तु इस धुएँके धौरहरके पीछे हम सभी परेशान हैं । अँधेरे घरमें लूट-खसोट मची है । इस घोर अन्धकारमें अपना हाथ भी नहीं सूझता । द्वारपर खड़ा कोई जोर-जोरसे पुकार रहा है कि दरवाजा खोलो, बाहर सूरज निकल आया है, प्रकाशमें आओ । परन्तु कमरेके भीतर इतनी तुमुल ध्वनि हो रही है कि बाहरके शब्द कोई सुन ही नहीं पाता । यह है हमारी भीषण विषयासक्ति !

ऐं ! यह कितनी मधुर वाणी, कितना मीठा स्वर ! कौन गा रहा है पर्देके उस पारसे ? कितना मीठा, कितना प्यारा है यह मोहक स्वर !

जाग रे, नर ! जाग रे ।
क्यों सोया गफलतका माता ? जाग रे, नर ! जाग रे ॥
या जागै कोइ जोगी-भोगी या जागै कोई चोर रे ।
या जागै कोई संत पियारा लगी रामसों डोर रे ॥
ऐसी जागन जाग पियारे, जैसी ध्रुव प्रह्लाद रे ।
ध्रुवको दीनी अटल पदवी, प्रह्लादको राज रे ॥
मन है मुसाफिर, तन सराय बिच, तू कीता अनुराग रे ।
रैन बसेरा कर ले डेरा उठ चलना परभात रे ॥
साधु सँगत सतगुरुकी सेवा पावै अचल सुहाग रे ।
नितानंद भज रामगुमानी ! जागत पूरन भाग रे ॥
जाग रे, नर ! जाग रे ।

इतने प्यारसे, इतनी आत्मीयताके साथ यह कौन जगा रहा है ? इस अँधेरे घरमें प्रकाशकी किरणें कौन फेंक रहा है ? यह तो कोई दयापरवश संत ही है । जो स्वयं जगा हुआ है और 'अचल सुहाग' का सुख लूट रहा है वह जगत्को जगानेके लिये इतना व्यग्र क्यों दीखता है ? क्या इसमें एकमात्र हेतु उसकी दयापरवशता ही नहीं है ?

जगत्की निद्रासे मुक्त—भगवान्में जागनेवाले संत इस संसारके जीवोंको दयापरवश ही जगाते फिरते हैं । वे एक-एकके द्वारपर जाकर जगाते हैं; परन्तु किसे जागनेकी पड़ी है, सभी सोनेका आनन्द लूट रहे हैं । फिर भी संत टेर लगा रहे हैं—

जाग रे, नर ! जाग रे ।

ऐसे ही दयालु संतोंमें संत विसोबा हैं । आज इन्हींका गुणचिन्तन किया जाय और इन्हींकी सन्निधिमें रहा जाय । भगवान्की ही भाँति भक्तोंका गुणचिन्तन भी जन्म-जन्मके कल्मषको मिटाकर चिरशान्ति और शाश्वत आनन्दका दाता है । और इसी अर्थमें श्रीआद्यशङ्कराचार्यने 'मोहमुद्गर'में कहा है कि सज्जनोंका एक क्षणका भी संग संसार-सागरको पार करनेके लिये सुदृढ़ नौका है । संतोंका सङ्ग दोनों ही प्रकारसे होता है--उनकी सन्निधिमें रहनेसे और उनके गुण-स्मरणसे भी ।

भक्तिपुरी पण्ढरपुर और प्रभु श्रीपण्ढरीनाथसे हम सभी परिचित हैं । वहाँसे पचास कोसके अन्तरपर औंढ़िया नागनाथ एक अत्यन्त प्राचीन शिवक्षेत्र है । यह बहुत ही जागता हुआ स्थान है । और भगवान् शङ्करके द्वादश ज्योतिर्लिङ्गोंमें एक है । विसोबा यहींके

रहनेवाले थे । ये जातिके तो थे यजुर्वेदी ब्राह्मण, परन्तु काम करते थे सराफीका । इसीलिये ये विसोबा सराफके ही नामसे प्रख्यात हुए । घरमें एक सती साध्वी धर्मपत्नी और चार लड़के थे । जीवन बड़ा ही सादा और सेवा-परायण था और सब-के-सब साधुसेवी थे । व्यवसायमें रहते हुए भी विसोबाका चित्त निरन्तर भगवान्‌में ही बसता था । वे एक आदर्श गृहस्थ थे और गृहस्थ-धर्मका मुख्य व्रत अतिथि-सेवा उन्हें प्राणोंसे भी प्यारा था । पत्नी भी इतनी अनुकूल और बच्चे इतने आज्ञाकारी कि यदि भोजन बन चुकनेपर कोई संत-महात्मा या अभ्यागत आ जाता तो उनमें होड़-सी लग जाती कि मैं भूखा रहूँगा—मेरा ही भोजन अभ्यागतको दिया जाय । इस होड़ा-होड़ीमें विसोबाको बड़ा सुख मिलता था । और यह नहीं कि भोजन देकर ही विसोबाको सन्तोष हो जाय । वे अभ्यागतको साक्षात् नारायण समझकर उसकी सब प्रकारसे परिचर्या करते और उसके सुख और सुविधा-की एक-एक बातका पूरा ध्यान रखते । सोचते—आज तो साक्षात् श्रीहरिने मुझपर दया की है । आज जिस प्रकार भी हो इनकी सेवासे अपने जीवनको धन्य कर लेना है । किसी अतिथिके आते ही वे अपनी प्राणप्रिया पत्नी और बच्चोंसे धीरेसे कहते—देखो, आज स्वयं प्रभु इस वेशमें हम लोगोंके घर पधारे हैं; इनकी पूजा करो, इनको सन्तुष्टि-लाभ करो । घरवाले भी सेवा करनेमें अपना परम सौभाग्य समझते ।

एक बारकी बात है—दक्षिणमें भयानक दुर्भिक्ष पड़ा । रुपयेका दो सेर अन्न बिकने लगा और वह भी पीछे अप्राप्य हो गया । क्षुधासे पीड़ित हजारों नर-नारी विसोबाके द्वारपर दाताकी जय मनाने लगे । विसोबाने समझा स्वयं नारायणने ही मुझसे अन्नकी सेवा स्वीकार करनेकी कृपा की है । वे लगे खुले हाथ लुटाने । जो भी आता भरपूर पाता । कोठला-का-कोठला खाली होता गया । घरका सारा अन्न समाप्त हो चुकनेपर रुपयेसे महँगा अन्न खरीदकर बाँटा जाने लगा । परन्तु उधर भीड़ने भी दातापर धावा बोल दिया—संख्या नित्य बढ़ती गयी और विसोबाके रुपये भी समाप्त होनेपर आये । भिखारियों, नहीं-नहीं दरिद्रनारायणोंका जमघट रात-दिन दरवाजेपर लगा रहता । माँके स्तनमें दूध न होनेपर भी बच्चा जैसे उसे चूसता ही जाता है, उसी प्रकार विसोबाके निर्धन हो जानेपर भी अभ्यागतोंकी बाढ़ न रुकी । घरके बासन बिके, गहने बिके, जो कुछ भी बिक सकता था बिक गया । विसोबाके हृदयमें अपनी कङ्गालीपर, जिसे उन्होंने स्वेच्छासे वरण किया था तनिक भी ग्लानि नहीं हुई । वे दोनों हाथोंसे लुटाते गये । और अन्तमें, अन्तमें वही हुआ जो ऐसे भाग्यवानोंका होता है ।

दुनिया हँसने लगी ! कैसा मूर्ख है यह विसोबा ! नगरसेठ बना फिरता था ! आज यह राहका भिखारी बन बैठा । अरे, दानकी भी एक सीमा होती है, दयाकी भी एक हद है । ऐसा पागल तो कहीं देखनेमें ही नहीं आया जो घरका सब अनाज तो लुटा ही दे, जेवर गहने, यहाँतक कि घरके बासन भी बेचकर भिखारियोंको भीख देता फिरे । जिस गलीसे विसोबा निकलते लोग उनपर आवाजें कसते ! विसोबा इसे प्रभुका प्रसाद समझकर सिर-आँखोंपर रखते ।

दुर्भिक्ष अभी गया नहीं था । विसोबाका हृदय लोगोंकी बढ़ती हुई दुर्दशाको देखकर टूक-टूक हो रहा था । घरमें पैसे थे नहीं कि अन्न लाकर बाँटा जाय । परन्तु विसोबा हिम्मत हारनेवाले जीव नहीं थे । अपने गाँवसे कई कोस दूर कासेगाँव नामक बस्तीमें जाकर विसोबाने एक पठानसे कई हजार रुपये बहुत कड़े सूदपर कर्ज लिये । पठान विसोबाकी पहली दशासे परिचित था, इसलिये बिना आनाकानी किये उसने रकम दे दी । विसोबाने पुरनोट लिख दिया । रुपये लेकर विसोबा घरकी ओर बढ़े तो उनके आनन्दका कोई ठिकाना ही न था । वे राहभर यही सोचते आये कि इतने रुपयेसे कई दिन दरिद्र-

नारायणकी सेवा कर सकूँगा। सब-के-सब रुपयोंका अन्न आया और लगा बँटने। विसोबाकी इस निष्ठासे प्रभुका सिंहासन डोल उठा और वे आये अपने इस प्यारे भक्तका दर्शन करने। कैसे छिप-छिपकर, किस-किस वेशमें वे आते हैं! परन्तु हाय! हम उन्हें पहचान नहीं पाते और वे द्वारपरसे लौट जाते हैं! हमारी उपेक्षा और झिड़कियोंसे वे कभी ऊबते नहीं; वे आते हैं और फिर आते हैं, धीरेसे द्वारपर धक्का देकर कहते हैं—ओ मानव, खोलो, अपना हृदय-द्वार खोलो; मैं तुमसे मिलने आया हूँ, मुझे तुम्हारे विना, तुम्हें देखे विना चैन नहीं, जरा खोलो तो। परन्तु अभागा मानव प्रभुकी इस आतुर पुकारको सुनकर भी अनसुनी कर देता है—इतना व्यस्त है वह इस प्रपञ्चमें, इतना गर्क है वह इस दुनियामें।

प्रभु आये। स्वयं हरि पधारे, और किस रूपमें सो भी देखिये।

'दाताकी जय हो! जय हो मालिककी! सरकार! बहुत दिनोंका भूखा हूँ। पेटमें अन्नका एक दाना नहीं गया है। कहीं कोई बाततक नहीं पूछता। आपका नाम सुनकर आया हूँ। एक मुट्ठी अन्नकी दया हो। भगवान् आपका भला करें! दाताकी जय हो! नारायण हरि!'

भिखारियोंकी भीड़में—पीछेसे एक आर्त चीत्कार आ रहा था। गंदे चिथड़ोंमें लिपटा हुआ एक नरकङ्काल हाथ उठाकर बड़ी कठिनाईसे दाताकी जय बोल रहा है। विसोबाने उसकी ओर देखा और बड़े ही भावभरे हृदयसे उसे देखा। जल्दी-जल्दी सबको दे चुकनेपर उसकी बारी आयी। वह बेचारा अपने स्थानपर ही खड़ा लड़खड़ा रहा था। उसमें और चलनेकी शक्ति नहीं थी। विसोबा उसके पास पहुँचा। शरीरसे भयानक दुर्गन्ध आ रही थी उसे गोदमें उठाकर अपने घर लाया। शीतोष्ण जलसे उसे स्नान कराया, कपड़े बदले और मस्तकपर चन्दनका लेप किया। घरमें जो कुछ भी तैयार हो सकता था तैयार कराकर प्रेमपूर्वक भोजन कराया। अपने हाथसे उसके पैर धोये, स्त्रीने पंखा लिया। भिखारीने भरपेट भोजन किया। उन्हें ऐसा ही भोजन विशेष प्रिय है। वह तो भावके भूखे न ठहरे। 'सबसे ऊँची प्रेम सगाई।' आज त्रिभुवनके स्वामी भक्तके घर भिखारीका स्वाँग बनाकर भोजन करने आये हैं। धन्य भाग्य है भक्तका! वैष्णव तो सच्चा वही है जिसके लिये समस्त जगत्में—चर-अचरमें विष्णुके सिवा कुछ रह ही नहीं जाता। जो जगत्के जीवोंकी उपेक्षाकर केवल मूर्तिमें ही भगवान्को केन्द्रित समझता है वह भक्त कैसा, वैष्णव कैसा?

विसोबाका आदर्श अतिथि-प्रेम देखकर भिखारीका रोम-रोम पुलकित हो उठा। उसने गद्गद वाणीसे कहा—बेटा! मैं तुम्हें क्या असीस दूँ। भगवान् तुम्हारा भला करें।

लगाने-बझानेवाले लोग बराबर मौका ढूँढ़ते रहते हैं और किसीको सङ्कटमें देख उन्हें पुत्रोत्पत्तिका-सा सुख मिलता है। विसोबाकी दानशीलता उनसे देखी न गयी और गाँवके ही कुछ लोगोंने पता लगाया कि इस बार कासेगाँवके पठानसे रुपया लाकर विसोबा अन्न बाँट रहा है। फिर क्या था! पठानके पास जाकर उन लोगोंने विसोबाके दिवालियेपनका ढिंढोरा पीटना शुरू किया। पठानको भी अपनी भूल मालूम हुई और वह सीधे विसोबाके घर आकर लगा रुपयेका तकाजा करने। विसोबाके पास रुपये थे कहाँ कि वह देता। परन्तु उसने कहा—'धीरज रखिये, सात दिनमें कहीं-न-कहींसे प्रबन्ध कर आपके रुपये लौटा दूँगा।' 'ना, ना, मैं यह सब बहानेबाजी नहीं सुनता; मुझे अभी रुपये दो या गाँवके किसी सम्पन्न आदमीकी जमानत दिलाओ।' गाँवमें कुछ भले आदमी भी थे जो यह जानते थे कि विसोबा कभी असत्य नहीं

बोलता, चाहे उसे प्राण ही क्यों न देने पड़ें। उन लोगोंने आकर पठानको मनाया।

छः दिन बीत गये। विसोबा कहींसे भी कोई प्रबन्ध नहीं कर सका। सातवाँ दिन भी आ गया। विसोबा सोचने लगा—हा नारायण, आजतक तुमने मेरी एक भी बात खाली नहीं जाने दी है, आज मेरी लाज जा रही है। यह तो मेरी लाज नहीं, तुम्हारी ही लाज है। हे हरि, मैं तो तुम्हारी ही बाट जोह रहा हूँ। तुम्हीं तो मेरे संगी हो—तुम्हीं मेरे जन्म-मरणके साथी हो। चाहे जो हो जाय, तुम्हें छोड़कर मैं जाऊँ तो कहाँ?

ऐसा अलौकिक भाव जिस भक्तका हो क्या प्रभु कभी उसकी उपेक्षा कर सकते हैं? ऐसा कौन-सा सङ्कट है जिसमेंसे भगवान् भक्तको नहीं उबार सकते? भगवान्‌ने क्या कभी अपने किसी भक्तकी उपेक्षा की है? और कैसी अपरम्पार है उनकी लीला! क्षणमें असम्भवको सम्भव और सम्भवको असम्भव कर देना उनका एक कुतूहल है। घरमें दीया जलानेसे जैसे झरोखोंमें भी प्रकाश दिखायी देता है, वैसे ही मनमें जब भगवान् प्रकट होते हैं तब इन्द्रियोंमें भी भजनानन्द प्रकट होने लगता है। विसोबा आज एकान्तमें बैठा-बैठा प्रभुका नाम-स्मरण कर रहा है, आँखोंसे आँसुओं-की धाराएँ बह रही हैं, वाणी गद्गद हो रही है—राम-कृष्ण-हरिका अखण्ड स्मरण हो रहा है।

भक्तकी लाज भगवान्‌की लाज है। भक्तकी टेक भगवान्‌की टेक है। पण्ढरीनाथने विसोबाके लिये विसोबाके मुनीमका रूप धारण किया और पठानके पास जाकर ठीक निश्चित दिनपर हिसाब करनेकी प्रार्थना की। पठानके आश्चर्यका ठिकाना न था। वह सोचने लगा कि इस दुर्भिक्षमें विसोबाको किसने रुपये दिये। परन्तु मुनीमने कहा कि विसोबाकी साख उसकी सचाईके कारण सदा बनी हुई है। कई आदमियोंके सामने सारा हिसाब हुआ और मुनीमने पाई-पाई चुका दिया।

दूसरे दिन प्रातःकाल विसोबाने पाठ करनेके लिये गीताकी पोथी खोली तो देखता क्या है कि उसका लिखा हुआ पुरनोट फटा हुआ उसकी पोथीमें पड़ा हुआ है। उसे बड़ा ही आश्चर्य हुआ। वह सीधे पठानके पास पहुँचा और अपनी असमर्थता प्रकट करने लगा। पठानको कुछ समझमें नहीं आ रहा था। उसने कहा—आप नाहक परेशान क्यों हो रहे हैं? कल ही तो आपके मुनीमजी आये थे और मेरा हिसाब चुकता कर गये। विश्वास न हो तो गाँवके और भी कई आदमी उस समय उपस्थित थे, आप उनसे पूछ लें। गाँवके लोगोंकी शहादत मिल जानेपर भी विसोबाको आश्चर्य ही हुआ—वे कुछ समझ नहीं सके। सीधे घर लौटे और अपने मुनीमसे पूछने लगे—भाई! मुझे भरमाओ मत, ठीक-ठीक कहो तुम कल पठानके यहाँ कब गये और किस तरह मेरे हिसाबके रुपये चुका आये। मुनीम बेचारा हक्का-बक्का रह गया। कहता तो क्या? ना, महाराज! मैं सच कहता हूँ। आपके चरणोंकी शपथ, मैं इस बारेमें कुछ भी नहीं जानता; मैं पठानके यहाँ गया ही नहीं, आप विश्वास मानिये।

अब विसोबाकी आँखें खुलीं! सहसा उनके मुखसे निकल पड़ा—हे दीनबन्धो! हे दयासागर! कैसे विचित्र हैं तुम्हारे खेल! मेरे साथ तुम यह कैसा खेल खेल रहे हो? मैं अधम·········!! विसोबाका गला भर आया, वाणी रुँध गयी, वे फूट-फूटकर रोने लगे!!

जिस प्रभुको मुझ अधमके कारण इतना कष्ट उठाना पड़ा अब उसे छोड़कर कहाँ भटकता फिरूँ—यह सोच विसोबा सीधे पण्ढरपुर आये और अपना जीवन एकमात्र हरि-भजनमें व्यतीत करने लगे। हृदयमें

हरिका नित्य ध्यान हो, मुखसे उनका नाम-कीर्तन हो, कानोंमें सदा उन्हींकी कथा गूँजती रहे, प्रेमानन्दसे उन्हींकी पूजा हो। नेत्रोंमें उनकी ही मूर्त्ति विराज रही हो, चरणोंसे उन्हींके स्थानकी यात्रा हो, रसनामें उन्हींके चरणोदकका रस हो, भोजन हो तो बस, उन्हींका प्रसाद हो; साष्टाङ्ग नमन हो उन्हींके प्रति, आलिङ्गन हो आह्लादसे उन्हींके भक्तोंका और एक क्या, आधा पल भी उनकी सेवा बिना व्यर्थ न जाय। सब धर्मोंमे यही श्रेष्ठ धर्म है और इसीमें विसोबाका सारा समय बीतने लगा।

विसोबा पीछे श्रीज्ञानेश्वर-मण्डलमें सम्मिलित हुए। योगका ज्ञान प्राप्त किया और सिद्ध महात्माओंमें इनकी गणना होने लगी। वे श्रीज्ञानेश्वर महाराजको अपना गुरु मानते थे। उन्होंने अपने एक अभंगमें स्पष्टत: लिखा है कि मेरे गुरु हैं श्रीज्ञानेश्वर, जो महाविष्णुके अवतार हैं। एक स्थानपर उन्होंने यह भी लिखा है कि 'चांगदेवको मुक्ताबाईने अंगीकार किया और सोपानदेवने मुझपर दया की; अब जन्म-मरणका भय नहीं रहा।' श्रीज्ञानेश्वर और सोपानदेव दोनोंको ही ये गुरु मानते थे।

नामदेवको प्रभु श्रीपाण्डुरंगने आदेश किया था कि विसोबासे जाकर दीक्षा लो। ये विसोबा वही हैं। जब नामदेवजी इनके पास आये तो ये अंतर्ज्ञानसे उनका आना जानकर जान-बूझकर शिवलिङ्गपर पैर पसारे पड़े थे। नामदेवको इससे बड़ा आश्चर्य हुआ। पड़े-ही-पड़े इन्होंने कहा—रे नमिया, मैं बूढ़ा हो गया हूँ, पैर मुझसे अब उठते नहीं; एक काम कर। तू इन्हें उठाकर ऐसी जगह रख दे जहाँ शिवलिङ्ग न हो। नामदेवने पिण्डिकापरसे इनके पैर हटाकर नीचे रक्खे, परन्तु जहाँ भी पैर रखा वहीं पिण्डिका निकल आयी। नामदेव अब समझे। उन्होंने गुरुचरणोंको पकड़ लिया, शरणागत हो गये। विसोबाने तब नामदेवको स्वरूप-साक्षात्कार कराया। नामदेवजीने अपने अभंगोंमें इन सद्गुरु श्रीविसोबाकी बड़ी महिमा गायी है। कहा है कि ऐसे सद्गुरुके चरण कभी न छोड़े। 'ये मेरी मैया हैं जिन्होंने मेरे ऊपर अपने कृपा-छत्रसे छाया की है।'

क्यों न हो, ऐसे गुरुदेवको पाकर कोई भी धन्य हो सकता है। नामदेव तो नामदेव ही थे।

मेरे 'भगवान्'

(लेखक—श्रीठाकुरदासजी वर्मा)

स्तुति कर ज्यों ही मैंने श्री 'ठाकुर' जीके श्रीचरणोंमें शिर रक्खा उन्होंने पूछा—'क्यों ? तुम्हारे भगवान् इसी हाथभर स्थानमें रहते हैं अथवा और भी कहीं ?' मैंने उत्तर दिया—'वह राजा हैं! सर्वत्र रहते हैं।' उन्होंने कहा—'पर मैंने तो उन्हें तुम्हारे साथ मधुकरी (झोली) में अथवा इसी स्थानपर देखा है! और कहीं नहीं दिखलायी पड़े।' मैंने उत्तर दिया—'वह भक्तोंके हृदयमें विशेष रहते हैं। वहाँ ढूँढ़ते तो मिल जाते।'

'क्यों जी, तुम्हारे 'ठाकुर' जी रहते हैं तो वह भोजन भी करते और पानी भी पीते होंगे ?' उन्होंने प्रश्न किया।

'हाँ!' मैंने उत्तर दिया।

'किसका भोजन करते ?'

'भक्तके द्वारा अर्पित भोजन तो वह करते ही हैं, परन्तु वह गर्वके आहारी हैं। और पीते हैं भक्तोंके प्रेमाश्रु।'

उन्होंने व्यंग्य किया—'हँसते कब हैं तुम्हारे भगवान् ?'

भगवान्ने अपने हँसनेका कारण स्वयं ही बतलाया है कि—

मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तो कहहु कहा बिस्वासा?

'और रोते भी होंगे?' उन्होंने गम्भीरताका नाट्य करते हुए कहा।

'हाँ ! जब कोई अपनेको अनाथ कहता है ।'

उन्होंने मुस्कुराकर कहा—'और सोते कब हैं ?'

मैंने उत्तर दिया—'जब मनुष्य ब्रह्मज्ञान बघारने लगता है।'

उनकी मुस्कुराहट कुछ अधिक विकसित हुई। बोले—'और जागते कब हैं ।'

मैंने कहा—'जब कोई आर्तस्वरसे उन्हें पुकारता है।'

उन्होंने फिर व्यंग-बाण छोड़ते हुए कहा—'तुम्हारे भगवान् भोजन करते, पानी पीते, उठते-बैठते, सोते-जागते हैं तो गाते और रोते भी होंगे ?'

'क्यों नहीं ! वे गाते हैं—'हम भगतनके भगत हमारे ?' और रोते हैं तब जब बार-बार चेतानेपर भी मनुष्य दुष्कृत्य नहीं छोड़ता ।'

'और ध्यान किसका करते हैं ?'

'अपने भक्तोंका ।'

हँसते हुए उन्होंने कहा—'सुनो जी, ठाकुरदास ! तुम्हारे पहलेके और अबके विचारोंमें आकाश-पाताल-का अन्तर है ! यदि तुम्हें यही अभीष्ट है तो मानसिक ध्यान कर सकते हो । बाहरी मूर्ति-पूजा और यह मालाका जपना मुझे ढोंग जान पड़ता है ।

अच्छे कर्म करो । इससे यह जीवन नहीं तो अगला तो अच्छा बन ही सकता, किन्तु राम-राम बकनेसे क्या लाभ ?'

'लाभ क्यों नहीं ? अच्छे कर्मोंका फल तो अच्छा होगा, पर रामके नामसे तो महान् लाभ है ।'

'क्या ?'

'जैसे तुम्हारा नाम लेकर पुकारनेसे तुम पुकारनेवालेके निकट चले जाते हो, वैसे ही भगवान् भी भागते आते हैं ।'

'अच्छा, यह मान भी लें कि वह चले भी आये तो कर क्या लेंगे ? क्या कर्मोंका फल भोगनेसे वे बचा सकते हैं ? यदि वे ऐसा करें तो अन्याय है और नहीं करें तो दयालु नहीं ।'

'वह दयालु और न्यायकारी दोनों हैं ।'

'कैसे ?'

'वह मनुष्योंको यथोचित फल देते हैं, इससे न्याय-कारी हैं, पर भक्तके फल स्वयं भोगते और उसे बचा लेते हैं, इससे दयालु हैं। नारद, जय, विजय आदि इसके प्रमाण हैं ।'

उन्होंने कहा—'तो यह कहिये, ईश्वरके हाथ, पाँव भी होते हैं ? पर ओ भोले-भाले नवयुवक ! तुम्हें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि आकार नाशवान् होता है ।' ईश्वर तो—

बिनु पग चलइ सुनइ बिनु काना ।
कर बिनु कर्म करइ बिधि नाना ॥
आननरहित सकल रस भोगी ।
बिनु बानी बकता बड़ जोगी ॥

मैंने उत्तर दिया—'आपका ईश्वर निराकार हो सकता है। हमारे भगवान्के तो हाथ-पाँव सब हैं । यदि न होते तो भक्तोंकी रक्षा कैसे करते ! भक्तके वशमें होनेसे ही तो 'भगवान्' नाम पड़ा । पुकारने-पर वह तो पयादे भागते हैं ।'

'कदाचित् पनही नहीं जुरती !'

इसलिये कि भक्तकी सर्वोपरि इच्छा श्रीचरणोंके देखनेकी होती है ? किन्तु एक प्रश्न मेरा भी है जब तुम्हारे ईश्वरके कान नहीं तो स्तुति कौन सुनता है, हाथ नहीं तो रक्षा क्या करते होंगे और सुन्दर छबि नहीं तो प्रेम और आसक्ति कैसे होती है। आँखोंके बिना देख नहीं सकते, पाँव बिना आ नहीं सकते । और समदर्शी कहे जाओ, पर जो सहायता नहीं करता उसकी सेवासे क्या लाभ ? तुम्हारा ईश्वर निराकार ही है । पर मेरे 'भगवान्' निराकार-साकार और न जाने क्या-क्या हैं ?

उन्होंने उत्तर न दिया ।

रामचरितमानसका तापस-प्रकरण

(लेखक—प्रो० श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू, बी० ए०-सी०, एम० ए०)

भरद्वाज मुनिसे बिदा पाकर "बटु चारि" को साथ लिये जब श्रीराम-जानकीजी-लखनलाल आगे चले उस समय-का वर्णन कविवर तुलसीदासजीने इन शब्दोंमें किया है:—

ग्राम निकट जब निकसहिं जाई। देखहिं दरसु नारि नर धाई॥
होहिं सनाथ जनमफलु पाई। फिरहिं दुखित मनु संग पठाई॥

बिदा किए बटु बिनय करि, फिरे पाइ मन काम।
उतरि नहाए जमुन जल, जो सरीर सम स्याम॥

सुनत तीर बासी नर नारी। धाए निज निज काज बिसारी॥
लखन राम सिय सुंदरताई। देखि करहिं निज भाग्य बड़ाई॥
अति लालसा बसहिं मनमाहीं। नाउँ गाउँ बूझत सकुचाहीं॥
जे तिन्ह महुँ बयबिरिध सयाने। तिन्ह करि जुगुति रामु पहिचाने॥
सकल कथा तिन्ह सबहि सुनाई। बनहि चले पितु आयसु पाई॥
सुनि सबिषाद सकल पछिताहीं। रानी रायँ कीन्ह भल नाहीं॥

यहाँतक तो सब ठीक है। लोगोंको इसके गोस्वामीजीकृत होनेमें कोई सन्देह नहीं होता। लेकिन इसके आगे है:—

तेहि अवसर एक तापसु आवा। तेजपुंज लघु बयस सुहावा॥

इस "लघु बयस" तापसका आना बहुतोंको खटका है और कई विद्वानोंकी सम्मतिसे इस तापस-प्रकरणपर क्षेपक होनेका दोष लगाया गया है।

यदि गोस्वामीजी "एक तापसु" न कहकर कोई तापस-विशेष कह देते तो विवाद न होता। तापसका नाम न भी अगर वे लिखते, यदि छोटा-सा इशारा ही कर देते तो विद्वज्जन इस तापसका नाम, धाम, कुल, गुरुपरम्परा सब छान-बीन कर निकाल लेते जैसे कुछ लोगोंने ढूँढ़कर यह निकाल ही लिया कि जनक-फुलवारी-प्रकरणमें जो "सखी सिय संग बिहाई गई रही देखन फुलवाई" थी उसका नाम हो न हो सुशीला था। लेकिन कविवरने इस तापसको तो "एक तापसु" कहकर टाल दिया। यही नहीं बल्कि यह भी कह दियाः—

'कबि अलखित गति'

और समस्या और भी कठिन कर दी।

टीकाकारोंने इस तापसके विषयमें अनेक कल्पनाएँ की हैं। संक्षेपमें यह तापस (१) रावण-वधका संकल्प-शरीर था (२) अग्नि देवता था (३) यमुनाकिनारे अगस्त्य-जीका एक शिष्य था (४) तापस वेष धारण किये स्वागतार्थी चित्रकूट था (५) हनुमान्‌जीका रूप था (६) श्रीशंकरजी स्वयं थे या (७) ध्यानस्थ तुलसीदासजी थे। और इनमेंसे यदि कोई कल्पना ठीक नहीं बैठती तो यह प्रकरण क्षेपक है—यही टीकाकारोंके मतोंका सार है। संतसिंहजी पंजाबी-ऐसे रामभक्त और विनायकी टीकाकार-ऐसे विद्वान्‌ने इस प्रकरणको क्षेपक माना है और नागरी-प्रचारिणी-सभाकी ग्रन्थावलीके सम्पादकोंने इसे स्थान तो दे दिया लेकिन फुट नोटके बहाने अपनी शंका प्रकट कर दी।

यह तो हुई टीकाकारोंकी बात। आइये देखें कविवर स्वयं तापसके बारेमें क्या कहते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं कि यह तापस लघुवयस था, लेकिन तपस्या और छोटी उम्र-से क्या काम! "लघु बयस" में तो होलीकी बहार अच्छी लगती है। चलती-फिरती ठुमरीकी मिठासको कान ढूँढ़ते हैं। तपस्या और लघुवयस! खेल-कूदके दिनोंमें कोई पागल ही होगा जिसे तपकी सूझेगी। लेकिन कविवर तो कहीं यह नहीं कहते हैं कि वह पागल था। वह तो तापस था और था भी लघुवयस ही।

यही नहीं। एक बार पाठक! आइये इस तापसकी ओर फिर देखें। यह तो "तेजपुंज" भी है। कितना प्रबल तेज है इसका! तीरवासी नर-नारी जो 'राम-सीता-लखन'के देखनेभरके लिये अपना काम-काज छोड़-छोड़कर "धाए" थे, जो इन तीनोंकी सुन्दरता देखकर मुग्ध हो गये थे, जो अपने-अपने भाग्यकी बड़ाई कर रहे थे कि आज इन्हें देखकर आँखें होनेका फल पा लिया, जिनके हर एकके दिलमें इन तीनोंके नाम-गाँव जाननेकी अति लालसा थी, जो नर-नारी राम-वन-गमनकी कथा सुनकर सविषाद पछताने लगे और कहने लगे कि "रानी रायँ कीन्ह भल नाहीं"—वे नर और नारी इस तापस, इस लघुवयस तापसके आते ही अपनी बात अधकही छोड़ इसकी ओर देखने लगे। तापस केवल तेजस्वी ही नहीं था। वह तो था "तेजपुंज"। आँखें उसकी ओर कैसे न खिंचतीं! उसमें तेज ही नहीं सौन्दर्य भी था।

"सुहावा"—वह सुहावना लगता था, जी चाहता था आँखें उसे देखा ही करें। लेकिन उसके सौन्दर्यमें शृंगाररसके किसी भावका आह्वान नहीं था। उसका तो भेस ही कहे देता था कि वह विरागी है—समस्त रागसे विमुख।

नर और नारी, युवक और वृद्ध—सब लोग उसकी ओर देख रहे थे। थोड़ी देरके लिये वे रानी और राय दशरथपुर और कौशल्याको भूल गये। उनकी आँखें राम-जानकी-लक्ष्मणकी ओरसे सहसा हट गई थीं। लेकिन यह तापस इन तीरवासियोंकी ओर नहीं देख रहा था। उसकी आँखें—उसका मन सरकारकी ओर लगा था। वह तो श्रीरामचन्द्रजीके प्रति अनुरागसे भरा था। उस तापसके लिये इस जगतीपर उन नर-नारियोंका अस्तित्व था ही नहीं। बस, रामका था। राम-जानकीका। राम-जानकी-लक्ष्मणका। वह इन्हींको ढूँढ़ रहा था। तापस, तुम कौन हो? कबसे इन्हें कैसे ढूँढ़ रहे थे? कुछ याद हो तो बोलो। हम भी इनको उसी तरह ढूँढ़ना सीखें। तुलसीने तो कविवर होकर भी हमें निराश कर दिया। वे तो यही कहकर चुप हो रहे:—

कवि अलखित गति

इस लघुवयस तापसने थोड़ी देरके लिये सबोंके मनकी गति चुरा ली। लोग इसे देखते रहे। यह अपने प्रभुको। इसने अपने इष्टदेवको देखा, और पहचाना। सरकार खड़े थे। माँ सीता थीं। भाई लक्ष्मण, भक्त निषादपति। वह कैसे न पहचानता? क्या वह एक जन्मसे तापस था? क्या उसका विषय-रससे विमुख होना, बस इसी जन्मकी कहानी थी? वह तेजपुंज था। कितने जन्मोंसे उसने वैराग्यकी रीति निबाही थी! विघ्नोंने कितने बार—कितने सहस्र बार—उसकी तपस्या नष्ट कर डाली होगी। लेकिन उसने हर असफलताके बाद पूर्वसे अधिक उत्साहसे तपस्याका श्रीगणेश किया और जैसा कि उसका तेजपुंज होना सूचित करता है इधर कई जन्मोंसे उसकी अखण्ड तपस्या प्रभुकी कृपासे निभती चली आ रही थी। कितने जन्मोंसे? यह तो राम ही जानें कबसे। क्या लघुवयसवाला कोई एक ही जन्मकी तपस्यासे तेजस्वी हो सकता है, तेजस्वी ही नहीं। "तेजपुंज"! जीवनके दिन ही कितने होते हैं? पूरे जीवनके दिन। और जो लघुवयस हो उसे होश सँभालते देर ही कितनी हुई होगी?

लेकिन यह तापस लघुवयस होनेपर भी तेजपुंज था। कोटि जन्मोंसे अपने देवतासे लौ लगाये बैठा था। ढूँढ़ता फिरा। बाहर बहुत ढूँढ़ा, भीतर देखा, कुछ-कुछ स्वरूप समझ पड़ा परन्तु वास्तवमें देख आज पाया। क्या अब भी वह न पहचान पाता?

उसने प्रभुको देखा—और पहचाना। और "सजल नयन तन पुलकि" "परेउ दंड जिमि"।

"परेउ दंड जिमि"! साष्टांग दण्डवत् नहीं किया। इतना किसे अवकाश था। वह तो दंडकी तरह प्रेममग्न होकर बेहोश गिर पड़ा। उसका प्रेम और भक्ति मनुष्यके संकीर्ण हृदयमें न समा सके। वे आँखोंका नीर बनकर प्यारेके चरणोंपर निछावर हो गये।

तापस बेहोश था।

लेकिन केवल सेवक ही न पहचान पाया। राम, "सुस्वामि राम", ने उसे चीन्ह लिया। उन्होंने उसे "पुलकि उर लावा"। धन्य रे तापस!

राम सप्रेम पुलकि उर लावा।

प्रभुको अपने भक्त तो सब ही प्यारे हैं परन्तु पाठक! मानसमें कितने बार भक्तको गले लगाते समय सरकार पुलकायमान हुए? श्रीरघुनाथको देखकर तो सभी पुलकगात होते हैं—अयोध्यामें माता, पिता, गुरु, जनकपुरमें बालक-तक, ऋषि, मुनि, भरत, विभीषण, सब कोई, लेकिन कितने भक्तोंको गले लगाकर प्रभु "पुलकि" उठे, "सप्रेम पुलकि"? चित्रकूटमें जब भरत आकर सरकारसे मिले—

उठे राम सुनि प्रेम अधीरा। कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा॥

जब हनुमान्‌जी सीता माताकी सुधि लेकर आये और—

पवन तनयके चरित सुहाए। जामवंत रघुपतिहि सुनाए॥
सुनत कृपानिधि मन अति भाए। पुनि हनुमान हरषि उर लाए॥

और जब उन्होंने कहा—

सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं।
पुनि-पुनि कपिहि चितव सुरत्राता। लोचन नीर पुलक अति गाता॥

—वाली दशा कहाँतक प्राणप्रियाकी अटूट भक्ति और प्रेमकी याद और "सीता कै अति बिपति बिसाला" के कारण हुई और इसमें कितना हिस्सा कपि-भक्तके प्रति प्रभुके प्रेमका था, कहना बड़ा कठिन है।

और प्रेमाकुल हनुमान्‌जी श्रीचरणोंसे लिपट गये ।

बार-बार प्रभु चहइ उठावा । प्रेम मगन तेहि उठब न भावा ॥
....

कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा । कर गहि परम निकट बैठावा ॥

इसी सोपानमें जब रावणसे ठुकराया हुआ विभीषण आता है—

श्रवन सुजसु सुनि आयउँ प्रभु भंजन भवभीर ।
त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर ॥

अस कहि करत दंडवत देखा । तुरत उठे प्रभु हरष बिसेषा ॥
दीन बचन सुनि प्रभु मन भावा । भुज बिसाल गहि हृदयँ लगावा ॥

छठे सोपानमें लखणलालकी मूर्छा भंग होनेपर तुलसीदासजी कहते हैं—

तुरत बैद तब कीन्हि उपाई । उठि बैठे लछिमन हरषाई ॥
हृदयँ लाइ प्रभु भेंटेउ भ्राता । .... ॥

लक्ष्मण, हनुमान, विभीषण, इनसे अधिक कौन भक्त हुआ ! परन्तु इनसे मिलनेमें भी ''राम सप्रेम पुलकि उर लावा'' नहीं पाया जाता । भरतजीके चित्रकूटपर मिलनेमें प्रेमकी अधीरता अवश्य है । लेकिन तापस-मिलनवाली प्रेमकी अति नहीं । लेकिन हाँ, रावण-वधके उपरान्त अयोध्यामें भरत-मिलनपर—

स्यामल गात रोम भए ठाढ़े । नव राजीव नयन जल बाढ़े ॥

तो क्या इस तापससे मिलना सरकारको वैसा ही सुखदायी हुआ जैसा कि राजरस-विमुख, अटूट तपस्वी, महान् त्यागी भरतके साथ जिसके ''मन क्रम बचन राम अनुरागी'' होनेकी प्रभु श्रीरामचन्द्रजीने तेरह वर्षकी घोर परीक्षा ली थी !

अस्तु, जब सरकारको देखकर वह तापस प्रेम-अधीर होकर 'दंड जिमि' गिर पड़ा तब करुणानिधानने उसे सप्रेम गले लगा लिया । उनके स्पर्शसे जो चित् हैं उसे होश कैसे न आता ? तापसने देखा कि जिसके चरणकी कल्याणदा रजके लिये वह तरस रहा था उन्हींके गले वह लगा हुआ था । उसके भाग्य और सुखका कौन वर्णन कर सकता है !

परम रंक जनु पारस पावा ।

अपनेको सँभालकर लक्ष्मणजीके चरणोंमें पड़ा । उन्होंने भी—

लीन्ह उठाइ उमगि अनुरागा ।

अनुराग उमड़ पड़ा क्योंकि उन्होंने परम कृपालुको ''सप्रेम पुलकि'' तापसको गले लगाते देखा था । माँ सीताने भी निजजन जान शुभ आशीर्वाद दिया ।

अब क्या था ! श्रीराम—इष्टदेव—मिल गये । माँ सीताकी असीस मिली । दर्शन किये, प्रभुका प्रेम देखा, भक्ति फल पाया ।

लेकिन जन्मोंका कंगाल तो कंगाल ही ठहरा । परम रंकको पारस भी मिल जाय तो क्या । दिल अमीर एक पलमें थोड़े हो जाता है । परमरंक अमीर हो गया तो क्या दिल तो अभी कंगाल ही था । इसलिये दूर खड़ा होकर—

पिअत नयनपुट रूप पियूषा

इस सुन्दर तापसके तेजने और उसकी विरागभरी गतिने तीरवासी नर-नारियोंकी आँखें और चित्त हटाकर अपनी ओर कर लिये थे जो 'राम-सीय-लखन'में लगे थे । वे इसको देखते रहे, इसकी राम-अनुरागभरी मस्तीको । यह तापस प्रभुके पास जैसे-जैसे आ रहा था वैसे-वैसे तीरवासियोंकी आँखें उसके साथ-साथ सरकारकी ओर बढ़ रही थीं । जब वह सरकारके चरणोंपर गिरा तब उसके साथ ही उनकी आँखें और मन प्रभु-चरणोंपर गिरे और जब उन्होंने तापसको उठाकर गले लगाया तब एक बार फिर उन नर-नारियोंकी आँखें श्रीरघुवीरके मुखपर आकर अटक रहीं जहाँपर वे उस समय अटकी थीं जब कि वह तेजपुंज तापस इन लोगोंके दृष्टिक्षेत्रमें आया था । एकदम उनको वह भूली बात याद आयी—

रानी रायँ कीन्ह भल नाहीं

उन्होंने उस तापसको देखा जो दूर खड़ा आँखोंसे 'राम-सीय-लखन-रूप पियूषा' पी रहा था । उनको उसकी वह मस्तीकी हालत याद थी, उसका 'सजल नयन तन पुलकित' होना, ''दण्ड जिमि'' प्रेम-मुग्ध होकर गिर पड़ना । तब उनके मुखसे सहसा यह शब्द निकले—

ते पितु मातु कहहु सखि कैसे । जिन्ह पठए बन बालक ऐसे ॥

वे सोचने लगे ''ऐसे बालक'' ! जिनको देखने एक तेजपुंज तापस पागल-सा आया, जिनके प्रेममें उन्मत्त होकर वह विरागी दण्डके समान गिर पड़ा, जिनको देखते-देखते उसकी आँखें नहीं थकतीं, जिनके साथके सौभाग्यके लिये

निषादपति अपना राज्य छोड़कर संग हो लिया, और जिनकी पमाधुरीने हमसे गृहकाज छुड़वा दिया ! ऐसे बालक !

बिना तापस-प्रकरणके—

"ते पितु मातु कहहु सखि कैसे । जिन्ह पठए बन बालक ऐसे" के रसका पूरा विकास नहीं हो पाता ।

यह भाग्यवान् तापस कौन था ?

रामके भक्त तो अनेकों हैं । अथाह अनन्त समुद्रकी ओर दौड़कर जानेवाली नदियाँ असंख्य हैं । परन्तु महानद गिने-चुने हैं, और रामके मुख्य भक्तोंमें लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, हनुमान्, विभीषण, सुग्रीवकी ही विशेषतर गणना की जाती है । ये सब बड़ी ऊँची कोटिके भक्त थे । परन्तु एक बात स्मरण रखने योग्य है । ये सब भक्त होते हुए भी हमारे इस पिता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-भाई, सेवक-स्वामी, राजा-प्रजाके नातोंसे बँधे हुए संसारमें जीवनके कर्त्तव्य-पालन करते थे । इनके हृदय राम-अनुरागसे लबालब ऐसे भरे थे कि स्मरणमात्रसे थोड़ी-सी गति पाकर वह अनुराग आँसू बनकर उन आँखोंसे छलक पड़ता था जिनमें सिय-रघुबीरकी जोड़ी सदा विराजी रहती थी; रामके ही होते हुए ये भक्त अपने और नाते भी निबाहते थे । और जिस सौन्दर्यसे इन्होंने वे अन्य नाते निबाहे वह रामके भक्तोंके ही बसकी बात थी ।

ये छः एक प्रकारके भक्त थे । परन्तु भक्तोंकी एक दूसरी श्रेणी भी होती है । वे सम्बन्धकी डोरियोंसे बने संसार-जालमें उत्पन्न अवश्य होते हैं लेकिन ज्ञानवश अथवा पूर्वजन्मोंके संस्कारोंद्वारा उस जालकी डोरियोंको काट इसके झंझटोंसे मुक्त होकर वे जीवन व्यतीत करते हैं । उनके न स्त्री होती है, न पुत्र, न भाई, न बहिन, न मित्र, न वैरी, न स्वामी, न सखा । उनको किसी नामकी भी आवश्यकता नहीं होती । नाम तो इस सम्बन्ध-सने संसारमें अपने अस्तित्वके अभिमानकी रक्षाका हेतु है । जिन्होंने मायावी-रस-माधुरीमें डूबे पड़े इस संसारको सूखा, नीरस समझकर मुँह मोड़ लिया उनको नामसे क्या काम ? सोऽहंकी रट लगाने-वाले अपने उस "अनामा" की तरह ही बिना नामके विचरते शोभा पाते हैं जिसमें वे एक हो जाना चाहते हैं । यह "विरागी" तापस भी ऐसा ही एक भक्त था । उसके अनामा होनेमें ही उसकी शोभा थी । उसका तेज-पुञ्ज होना उसके वैराग्यका सौन्दर्यभर ही नहीं था बल्कि इस बातका साक्षी था कि वह अपने रामकी एकमात्र आराधनामें इतने जन्मोंसे लगा हुआ था कि भक्तवर कवि भी उसका अनुमान ठीक न कर सके ।

यह तापस एक था । एक ! उन १३ वर्षोंमें जब कि राम-सीय-लषन वनमें रहे और जिस समयका वर्णन कविवरने बहुत ही संक्षेपमें किया है, उन तेरह वर्षोंके मौनमें ऐसे-ऐसे कई भक्तोंके—राम ही जाने कितने भक्तोंके—इतिहास छिपे हैं । कविवरने तेरहों वर्षोंका वर्णन नहीं किया है । जब कोई विशेष घटना होती तभी वे उसका उल्लेख करते हैं । एक दिनकी बात उन्होंने कह दी, एक बात, जिससे काव्यके प्रेमी समझ लें कि इस प्रकारके अनेक दिन हुए थे और इस प्रकारकी अनेकों घटनाएँ हुईं । राम-लक्ष्मणके उन तेरह वर्षोंमें अगणित संवाद हुए होंगे । सरकार लषनलाल और जनकललीको प्रसन्न रखनेके लिये प्रतिदिन "कथा-पुरानी" कहा करते होंगे और ये दोनों चकोरोंकी भाँति श्रीरामचन्द्रके रूपको एकटक देखते, उनकी अमृत-मधुर वाणीसे मुग्ध हुए वे कथाएँ सप्रेम सादर सुना करते होंगे । उन वनवासके वर्षोंमें जिनकी कठोरता और जिनका विस्तार कोई माँ कौशल्याके हृदयसे पूछे, हज़ारों बार सूर्यदेव राम-सीताके दर्शनकी लालसासे पूर्वदिशासे उठकर इस "शोभासींव" जोड़ीके विश्रामका समय पहचान पश्चिममें इस आशासे जा-जाकर छिपे होंगे कि कल फिर राम-सीताके अलौकिक दर्शनका सौभाग्य मिलेगा, उन सहस्रों दिनोंमें जिन्होंने एक-एक करके वनवासकी अवधिके १३ वर्ष पूरे किये लक्ष्मणजीने कितने ही बार अपनी शंकाएँ भाईके प्रति प्रकट की होंगी और कौन कह सकता है कितने बार सरकारने कभी भक्तिद्वारा, कभी ज्ञान या कर्मद्वारा अनुजकी शंकाएँ मिटाई होंगी ? तुलसीने उन अगणित संवादोंके लिखनेका प्रयत्न नहीं किया क्योंकि वे केवल भक्त ही नहीं थे, वे कविवर थे । उन्होंने मानसके तीसरे सोपान, अरण्यकाण्डमें राम-लक्ष्मण-संवाद दिया है, बस एक बार, और काव्यकी अनूठी रीतिसे इस बातका संकेत कर दिया कि ऐसे ही अनेक संवादोंसे उस वनवासके दिनोंको इन रघुवंशियोंने हल्का किया ।

श्रीरामचन्द्रजीके वनवासकी खबर राज्यभरमें और उसके बाहर दूर-दूर फैल गयी । दशरथका कैकेयीपर प्रेम और विश्वास और रानीका उस विश्वास और प्रेमकी हत्या करना घर-घरकी कहानी हो गयी । वनमें रामको ढूँढ़ने केवल भाई ही नहीं आये । कोल-किरात आये और रघुवीरकी ढूँढ़ अपनी सेवा उन्होंने सुफल की । ऋषि-मुनि आये, देवी-देवता आये और दर्शन पाकर अपना जीवन सुफल माना । और वे आये—

तापस, लघुवयस तापस, 'बेष बिरागी' जिनको जन्म-जन्मान्तरकी कठोर अटूट तपस्याने तेजपुंज कर दिया था, जिनसे मिलनेपर राम, प्रेमसागर सुखराशि राम भी सप्रेम पुलकायमान हो गये। जैसे एक राम-लक्ष्मण-संवादद्वारा कविने यह संकेत किया कि ऐसी-ऐसी प्रेम-ज्ञान-रसभरी बातें वे भाई किया करते थे, वैसे तुलसीने "एक तापसु आवा" से यह बतलानेका प्रयत्न किया कि अनेकों तेजपुंज लघुवयस तापस सरकारको खोजते-खोजते उनसे मिल पाये। तुलसीने इनकी गणना करनेका प्रयत्न नहीं किया क्योंकि राम-रावण-कथासे जो मानसकी कथा है इनका कोई सम्बन्ध नहीं था। लेकिन कविवर यह नहीं चाहते थे कि हम रामकी भक्त-श्रेणीमें विरागी तापस भक्तोंको भूल जायँ क्योंकि वे सरकारको अतिप्रिय थे।

राम सप्रेम पुलकि उर लावा

सरकारके सनाम गृहस्थ भक्त, या कपि-भालू-निशाचर भक्त तो थे ही, और उनको सब जानते हैं। लेकिन बहुत-से ऐसे थे जिनका हम रामायणकी कहानीमें कहीं नाम नहीं सुनते हैं। गेहका नाता तोड़ अनेकों तेजपुंज तापस भी सरकारके भक्त थे जो राम-जानकीकी वनयात्राकी प्रतीक्षामें बरसोंसे दर्शनकी आस लगाये पड़े थे। इन्हें कहीं हम भूल न जाय, कहीं सीताके आर्त्तनादमें, कपियोंकी कूक या असिधारकी चम-चमाहटमें भक्त-श्रेणीसे तापस नामरहित भक्तोंको हम भुला न दें इसलिये कविसम्राट् तुलसीने "एक तापसु आवा" कहकर हमें सचेत कर दिया। जब कोई ऐसा तापस आता तब राम-सीताको देखनेको आये हुए सैकड़ों नर-नारी उसके प्रतापको नहीं पहचान पाते थे। उनके लिये तो वह एक तापस ही होता था लेकिन उसको सर्वज्ञ राम पहचान लेते क्योंकि उसकी भक्तिकी परख केवल "परम कृपाला" को ही थी।

ये तापस कहाँ-कहाँसे आये, कविके लिये कहना कठिन है। ये लोग तो इस जगतीपर छिपे-छिपे अपने-आपको ऐसे रखते हैं जैसे कोई सूम अपना धन चुराकर रक्खे। जो "बिरागी" हो उसका कहाँ घर ? कैसा ठिकाना ? उसका आना क्या ? और जाना कैसा ! अगर कविवरने उस तापसके जानेका उल्लेख नहीं किया तो बुरा क्या किया ? किसी पात्रको लाकर उसका जाना स्पष्ट प्रकारसे कहना नाटकके लिये बाध्य है काव्यके लिये नहीं, और फिर ऐसा "बिरागी" तापस कहाँ जाय जिसको अपना इष्टदेव ही मिल गया हो ! अब कैसा जाना ! और कहाँ जाना !

एक बात और है। तुलसीने तापसको जिस स्थानपर मिलाया है वह साभिप्राय है। यों तो अयोध्या छोड़ते ही वनवास आरम्भ हो गया था लेकिन फिर भी प्रयागतक एक प्रकारसे जाना हुआ देश था क्योंकि प्रयागतक तो यों भी ये लोग तीर्थस्नानके लिये राजकुमार होते हुए भी कभी-कभी आये-गये होंगे। गंगा और यमुना तो सरयूकी तरह यों कहिये घरकी ही नदियाँ थीं—जानी-पहचानी, कई बार दर्शन-मज्जन की हुई। अब ये लोग यमुनाका वर्षांके लिये अन्तिम दर्शन कर रहे थे। इसके आगे ऐसा देश था जो नया था, जिसमें विचरना वास्तविक वनवास था, सच पूछिये तो यहाँके आगेसे ही नये देशमें घुसना और अनजाने पथोंपर चलना था और वनवासके कठोर दुःखोंका आरम्भ। और ठीक इसी स्थानपर तुलसीने अपना तापस-प्रकरण रखा है।

कविवरने इस विशेष स्थानपर तापसको बुलाकर अपने हृदयके एक बड़े रहस्यका परिचय दिया है। "अखिल-लोक-विश्राम" प्रभुने प्रेम-भक्तिवश "कौसल्याके गोद" में प्रकट होकर अनेक लीलाएँ कीं। काव्यकी संकेतभरी भाषामें गोस्वामीजी तापसको यहाँ लाकर हमें यह जता देना चाहते हैं कि मैं आगे प्रभुकी कुछ लीलाओंका वर्णन करूँगा (जैसे इसके पहले भी किया था) जो प्रभुने अपने सनाम भक्तोंके हितके लिये कीं। परन्तु प्रभुने अनेकों ऐसी लीलाएँ भी कीं जिनका वर्णन कठिन है, जो बड़ी रहस्यमयी हैं, बड़ी गुप्त हैं। इस श्रेणीकी लीलाओंसे प्रभु श्रीरामचन्द्रजीके अनाम भक्तोंका सम्बन्ध है जो लघुवयस होते हुए भी तेजपुंज थे, जो विरागी थे, जिनकी गति कविके "बिमल बिबेक बिलोचन" के लिये भी "अलक्षित" थी। "एक तापसु आवा" से उन्होंने केवल यही संकेत नहीं किया कि ऐसे अगणित तापस राम जाने कहाँसे अपने इष्टदेवको ढूँढ़ते हुए आये, बल्कि यह भी जता दिया कि प्रभुकी सनाम भक्तोंके प्रति लीलाएँ ही सब कुछ नहीं हैं। अनेक लीलाएँ ऐसी भी हैं जो परम रहस्य, अकथ प्रेम, अति गूढ़ अर्थसे भरी हैं, जिनके पात्र तेजपुंज अनाम विरागी तापस हैं जिनका मिलन प्रभुको इतना सुखद होता है कि अच्युतको भी पुलकायमान कर दे, ऐसी लीलाएँ जिनका पूरा, विस्तृत वर्णन एक महान् कविके भी चुने-चुने शब्दोंकी शक्तिके बाहर है।

तापस-प्रकरण बड़ा चमत्कारपूर्ण प्रकरण है। काव्यकलाकी ऐसी सूक्ष्म छवि कविवर गोस्वामीजीके ही हाथों निर्मित हो सकती थी और ऐसी सुन्दर विधिसे करुणानिधानकी गुप्त लीलाओंका संकेत किसीकी काव्यकला अगर कर सकती थी तो बस तुलसीकी।

असूया

(लेखक—स्वामी श्रीरामाश्रमजी परमहंस)

पराये अवगुणोंको—दोषोंको—देखने, निरीक्षण करनेको 'असूया' कहते हैं। यह असूया एक अजब विषैली कटारी है, यह जिसके हृदयमें पैठ जाती है, उसके शान्ति, क्षमा, मैत्री, करुणा, मुदिता, समता, अहिंसा आदि गुणोंको काट-काटकर उसके हृदयसे निकाल बाहर करती है। इतना ही नहीं, अपितु यह द्वेषका घाव करके उसपर अशान्तिका नमक लगाकर हृदयको नरकालय बना देती है, अपने आनन्दस्वरूपसे विमुख करके जन्म-मरणके चक्करमें डाल देती है।

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको ज्ञानोपदेशका अधिकारी क्यों समझा? इस बातको भगवान्‌ने ही अपने श्रीमुखसे गीताके नवें अध्यायमें कहा है—'हे अर्जुन! इस गोपनीय ज्ञानको मैं विज्ञानके सहित तुझसे इसलिये कहता हूँ कि तू असूयासे रहित है, अर्थात् तेरा स्वभाव ही दूसरोंका गुणग्राही है, तूने दूसरोंके अवगुण-निरीक्षणद्वारा अपने अन्तःकरणको कलुषित—अपवित्र—नहीं किया है, इसलिये तेरा हृदय इस पवित्र ज्ञानके लिये योग्य पात्र है।' अठारहवें अध्यायमें तो भगवान्‌ने स्पष्ट कह दिया है कि इस गीताज्ञानका कथन उन लोगोंके प्रति हरगिज नहीं करना चाहिये जिनकी मुझमें दोषदृष्टि है।

इस घोर कलिकालमें आजकल बड़ी अन्धाधुन्ध मच रही है। एक दूसरेकी उन्नति नहीं देख सकता, लोग दूसरोंमें दोष निकालने तथा दूसरोंकी निन्दा करनेमें कटिबद्ध हो रहे हैं। जैसे गाय, भैंस आदि पशुओंका भोजन विना जुगाली किये नहीं पचता, वैसे ही निन्दकोंका अन्न भी तबतक नहीं पचता जबतक वे इस दरवाजेसे उस दरवाजे जाकर दूसरोंकी शिकायत भरपेट नहीं कर लेते, मानो उन्होंने दूसरोंकी निन्दा-चुगलीको बदहजमीकी दवा ही समझ लिया हो। ब्राह्मण ब्राह्मणकी निन्दा करते हैं। विद्वान् विद्वानोंकी विद्यामें भरपूर दोष निकालते हैं। एक कवि दूसरे कविकी कविताको दोषपूर्ण बताकर उसकी दिल्लगी उड़ाता है। एक गायक दूसरे गायककी कलामें दोष बतलाकर उसकी बदनामी करता है। तात्पर्य यह है कि सर्वत्र असूया और निन्दाका ही साम्राज्य है। यहाँतक कि साधु-संन्यासी तथा अच्छे कहलानेवाले लोग भी इस रोगसे मुक्त नहीं हैं।

निन्दक मनुष्य सर्वदा मात्सर्य (डाह), द्वेष, ईर्ष्या तथा क्रोधकी अग्निमें जला करते हैं और वे ईश्वर, महात्मा, कवि, विद्वान्, साधु, संन्यासीमें दोष निकालनेपर ही उतारू रहते हैं। जिस प्रकार मक्खियाँ सुन्दर-से-सुन्दर अंगोंमें भी व्रण (घाव) ही ढूँढ़ा करती हैं, वैसे ही निन्दक रमणीक-से-रमणीक स्थानमें, अच्छे-से-अच्छे समाजमें, सच्चरित्र-से-सच्चरित्र व्यक्तिमें दोष ही ढूँढ़ते फिरते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजीने 'खल गहि अगुन साधु गुन गाहा' इस चरणमें निन्दकोंका ही खल नामसे संकेत किया है। इनके बुरे विचार, बुरी भावनाएँ, अश्लील वाणी तथा गन्दे आचरण, वायुमण्डल एवं समाजको जितना दूषित कर डालते हैं, वह अकथनीय है। इनके वचन-सर्प तो श्रवण-रन्ध्रके द्वारा जिसके हृदयमें प्रवेश कर जाते हैं, उसका हृदय अशान्तिरूप विषकी ज्वालासे व्याकुल हो उठता है, मानो उसे मृगी आ गयी हो। ऐसे दुष्टोंका सङ्ग साक्षात् मृत्युके समान है; इसीसे गोस्वामीजीने कहा है—

बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ बिधाता॥

इनका सङ्ग निर्भीकको भीरु, उदारको कृपण,

पुरुषार्थीको आलसी, उत्साहीको सुस्त तथा धर्मात्माको पापात्मा बना देता है । ये भगवच्चरित्ररूपी विमल विधुके लिये राहु, सज्जनगुणरूपी सूर्यके लिये बादल, एवं शान्तिरूपी शशिकिरणोंसे विकसित हृदय-कमलोंके लिये तुषार बन जाते हैं । कल्याणार्थी जीवोंको इनका सङ्ग कभी नहीं करना चाहिये; सङ्गकी तो बात ही क्या है, इनके दर्शन, स्पर्श एवं सम्भाषणसे भी बचे रहना चाहिये ।

मेरे आत्मन् ! जरा चित्तको स्थिर करके सोचो, विचारो, तथा ध्यान तो दो ! तुम किसकी निन्दा कर रहे हो ? आत्माकी अथवा अनात्माकी ? आत्मदृष्टिसे तो यह सारा संसार ही आत्मा है, ब्रह्म है, ईश्वर है, अपना निज रूप ही है । इसलिये प्यारे ! तुम संसारकी निन्दा नहीं कर रहे हो, किसी व्यक्तिकी भी नहीं बल्कि तुम जगन्नियन्ता निर्विकार परमेश्वरकी निन्दा कर रहे हो, तुम अपने आत्माको ही नीचे ले जा रहे हो, अपने हाथोंसे अपना घात कर रहे हो । आत्मा—परमात्मा—तो अजर है, अमर है, निर्दोष है, वह तुम्हारा सच्चा स्वरूप है । तुम्हारे दोषारोपणसे उसमें जरा भी बट्टा नहीं लगनेका, कुछ भी अन्तर नहीं पड़नेका ।

सम्पूर्ण जीव परमात्माके सनातन अंश हैं, उस अनन्तके ही स्वरूप हैं, तुम भी उसी अनन्त सागरकी एक तरङ्ग हो । किसी भी जीवसे द्वेष न करो, नहीं तो गल जाओगे, सड़ जाओगे, मर जाओगे । यदि हम पृथ्वीको लात मारते हैं, तो उलटे हमारे ही पैरमें चोट लगती है; यदि हम चन्द्रमापर थूकते हैं तो वह थूक हमारे ही मुखपर आकर गिरता है । वैसे ही दूसरेकी निन्दा करना अपनी ही निन्दा करना है, दूसरेका नाश करना अपना ही नाश करना है ।

प्यारे ! यदि तुम यह कहो कि हम तो आत्मा या परमात्माकी निन्दा नहीं करते, अपितु हम अनात्मपदार्थकी ही निन्दा करते हैं, तो इससे तुमको मिलता ही क्या है ! अनात्मपदार्थ तो स्वयं मिथ्या है, इसने तुम्हारा बिगाड़ा ही क्या है ? मिथ्या पदार्थके पीछे पड़कर क्यों समय नष्ट करते हो ? व्यर्थका कष्ट क्यों मोल लेते हो ? भला बालकी खाल निकालनेसे तुम्हें क्या मिलेगा ? अरे भलेमानुस ! कहीं अँधेरी रातकी रस्सीमेंका सर्प मारा जा सकता है ? यह अनात्मजगत् तो एक प्रगाढ़ स्वप्न है । यदि पूछो कि प्रगाढ़ कैसे तो इसलिये कि स्वप्नके पदार्थोंकी स्मृति तो जागनेपर बनी भी रहती है, परन्तु यह जगत् तो सो जानेपर बिल्कुल ही विस्मरण—विलीन—हो जाता है । भूतकालके पदार्थ बिल्कुल मिथ्या हो गये, और भविष्यके कल्पनामात्र होनेसे मिथ्या ही हैं, तथा वर्तमानके अभी भूतकालके गालमें जानेवाले हैं, तब इनपर आस्था कैसी ? इनपर विश्वास ही कैसा ? इन मिथ्या पदार्थोंसे द्वेष ही क्यों होने लगा ? अथवा प्रेम ही क्यों ?

गोस्वामी तुलसीदासजीने कैसी महत्त्वपूर्ण बात कही है—

> सुनहु तात मायाकृत गुन अरु दोष अनेक ।
> गुन यह उभय न देखिअ देखिअ सो अबिबेक ॥

काकभुशुण्डिजी गरुड़जीसे कह रहे हैं कि 'हे तात ! सुनो, मायाके रचे हुए गुण और दोष अनेक हैं । किन्तु यथार्थ गुण तो यह है कि गुण और दोष, इन दोनोंको न देखे; क्योंकि इनका देखना ही अविवेक है । कारण यह है कि मायारचित पदार्थ कहीं भी सच्चे नहीं पाये जाते ।

एक मदारी आता है, वह अपनी बाँसुरी फूँकता है, उस बाँसुरीकी मनोहर ध्वनिको सुनते ही नर-नारी, बाल-वृद्ध इकट्ठे हो जाते हैं । बस, फिर क्या कहना

है, उस मायावीने विचित्र खेल किया । उसने अपनी माया फैलायी, लोग एकटक होकर देखने लगे मानो चित्रमें खींचे हुए हों । देखते-देखते उसने अपना पुत्र तैयार कर लिया और उसे जमीनपर लिटाकर चादरसे ढक दिया । फिर उसने एक कटार निकाली और बड़ा भयंकर कर्म किया । ओफ़!! उसने तो उस बालकके गलेमें उसी कटारको भोंक दिया । हाय ! हाय ! यह तो बड़ा ही निर्दयी है, अत्यन्त क्रूर है; इसने तो बालक-वध-जैसा महापातक कर डाला, अपने पुत्रकी ही जान ले ली ! भला, इससे बढ़कर अवगुण ही क्या हो सकता है ?

अच्छा, ज़रा फिर देखिये तो, यह अब क्या करता है । अरे ! इसने तो बात-की-बातमें एक आमका पेड़ तैयार कर दिया । अहा हा !!! यह सुन्दर पेड़ फलोंसे कैसा लदा है ? देखिये न, ये फल तो पके हुए हैं ! अजी इधर तो देखिये, यह कैसी भीड़ है !

यह तो पथिकोंका समुदाय है ।

ये मुसाफिर कहाँसे आ गये ?

आ कहाँसे गये ? इस मदारीकी ही तो सब करामात है !

अरे ! एक ओर वह क्या है ?

हौज है, हौज ।

उसमें क्या है ?

क्या आप नहीं जानते कि हौज़में जल रहता है ?

हाँ ठीक, यह है तो जल ही, परन्तु वह आ कहाँसे गया ?

आया कहाँसे ? यह सब इस मायावीकी माया है । देखिये न, अब तो यह मदारी फलोंको तोड़-तोड़कर पथिकोंको देने लगा और वे सब खाने लगे । अजी ! वे सब तो बात-की-बातमें सारे फल खा गये, परन्तु अब उन्हें प्यास लगी है, इसलिये वे पानी माँग रहे हैं । देखिये, अब यह मायावी पानी भी पिलाने लगा और सब मुसाफिर पानी पी-पीकर तृप्त हो गये, तथा पेड़के तले जाकर छायामें लेट रहे । अजी ! यह तो बड़ा उदार भी है, बड़ा दानी है, इसमें तो अटूट दया भरी पड़ी है । देखिये न, इसने धूपके मारे तथा थके-माँदे इन पथिकोंको कितना सुख पहुँचाया ! इनका कितना उपकार किया ? इससे बढ़कर गुण ही क्या होगा ? तुलसीदासजीने भी तो कहा है—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई । पर पीड़ा सम नहिं अधमाई ॥

इतनेहीमें वह मायावी अपनी बाँसुरी फिर फूँकता है और उसका लड़का जी उठता है । लो, सारा खेल गायब ! न तो वे पथिक हैं, न वह लड़का है और न वह आमका पेड़ ही है । अब तो अकेला वह मदारी और दर्शकोंका समूह ही बच गया है । क्या आप कह सकते हैं कि उस मायावीने अपने लड़केको सचमुच ही मार डाला था या उसने वास्तवमें पथिकोंको आमके फल खिलाये थे ? इसपर आप यही कहेंगे कि अजी, इनमेंसे तो एक भी बात सत्य नहीं थी; क्योंकि जब वह लड़का ही झूठा था, जब वहाँपर न कोई पेड़ था और न पथिक ही थे, तो मारना और खिलाना कैसा ? तब तो उस पुरुषमें हिंसारूपी दोष तथा दयारूपी गुणका व्यर्थ ही आरोप किया गया था न ? जी हाँ, यह सब तो उसकी झूठी करामात थी । वहाँ तो वास्तवमें कुछ हुआ ही नहीं, उस बेचारेपर गुण या दोषका लादना निरा पागलपन है, अविवेक है ।

प्रिय मित्रगण ! तो क्या इस जगत्‌रूपी नाट्यगृहमें जगन्नियन्ता सूत्रधर भगवान्‌की मायाने अपने गुणोंद्वारा झूठमूठके गुण-दोष नहीं रच डाले हैं ? क्या किसी भी प्राणीपर दोषारोपण करना पागलपन नहीं है ?

क्या इसे अविवेक नहीं कहा जा सकेगा ? इसीसे गोस्वामीजी कहते हैं—'गुन यह उभय न देखिअ देखिअ सो अबिबेक।'

प्यारे ! यदि तुम विना देखे नहीं रह सकते, यदि तुम्हें देखनेकी आदत ही पड़ गयी है, तो देखो अपने दोषोंको, अपने अवगुणोंका बार-बार निरीक्षण करते रहो और उन्हें एक-एक करके निकालते रहो । जिस दिन तुम्हारे सम्पूर्ण अवगुण निकल जायँगे, उसी दिन तुम्हारे हृदयके अंदर समस्त गुण अपने-आप ही आ बसेंगे। जब किसी बोतलका जल निकालकर फेंक दिया जाता है, तो उसमें हवा अपने-आप भर जाती है। उसी प्रकार दोषोंके निकलते ही तुम्हारे अन्तःकरणमें विवेक, वैराग्य, शम, दम, क्षमा, मैत्री, विचार, शान्ति आदि गुण आ-आकर अपना डेरा जमा लेंगे।

जैसे जब कहीं बादशाहकी पल्टन जाकर खेमा डाल देती है, तो पीछेसे स्वयं बादशाह भी वहाँ पहुँच जाता है, वैसे ही तुम्हारे हृदयमें शमादि गुणोंके आते ही दिव्यस्वरूप परमेश्वर भी आ विराजेंगे। और उनके आते ही तुम्हारा सम्पूर्ण शोक दूर हो जायगा, तुम कृतकृत्य हो जाओगे, तुम देवमूर्ति बन जाओगे; समस्त जगत् तुम्हारा आत्मा बन जायगा तथा चराचर तुमसे प्रेम करने लगेगा । अतएव तुम आज ही एक कविके इस मन्त्रको पढ़ लो—इससे तुम्हारा कल्याण हो जायगा, इस मन्त्रसे तुम्हारी सचमुच बड़ी भलाई होगी—

बुरा जो ढूँढन मैं चला, बुरा न दीखा कोय ।
जो दिल खोजा आपना, मुझ-सा बुरा न कोय ॥

भाइयो ! यदि तुम्हें दूसरोंकी ओर ही देखना है, तो उनके गुणोंको देखो, कहो, सुनो और अमलमें लाओ; इससे तुम्हें बड़ी शान्ति मिलेगी, विश्राम प्राप्त होगा, तुम्हारे मनमें प्रसन्नता आ विराजेगी। दूसरोंका दोष देखना महापाप है। जब तुम दूसरेका एक अवगुण देखने या कहने लगते हो तो तुम्हारे अंदर उसके साथ ही घृणा, द्वेष, क्रोध, अभिमान, अशान्ति इत्यादि अनेक अवगुण आ जाते हैं, जिससे तुम्हारा मन-मन्दिर दूषित—अपवित्र—हो जाता है, तुम उस आनन्दस्वरूप भगवान्से वञ्चित रह जाते हो, तुम्हारा हृदय दुःखालय बन जाता है, तुम परम दुखी हो जाते हो। भला, अपने आपको दुःख-जालमें फँसाना, अपने आप ही शोकसागरमें गोता लगाना, कहाँकी बुद्धिमत्ता है ? अरे यह तो भारी भूल है; यह निरी मूर्खता नहीं तो और क्या है ?

प्यारे ! एक ईश्वरके सिवा कोई निर्विकार थोड़े ही है। भला, तुम पहले अपने ही जीवनका निरीक्षण करो, जबसे तुमने होश सँभाला तबसे क्या तुम बिल्कुल निर्दोष ही हो ? क्या तुमसे कोई भी पाप नहीं बना है ? इसपर तुम शायद यह कह सकते हो कि अजी, मैं बिल्कुल विशुद्ध तो नहीं हूँ परन्तु मुझसे कोई महापातक तो नहीं घटा है, मुझसे तो बहुत ही साधारण पाप हुए हैं, इसलिये मैं उन व्यक्तियोंकी शिकायत किया करता हूँ जो महापातकी हैं, जिनमें बहुत-से अवगुण हैं।

मैं मान लेता हूँ कि वे तुमसे अधिक पाप करनेवाले हैं जिनकी तुम प्रायः निन्दा किया करते हो, परन्तु यह तो बतलाओ कि तुमने पूर्वजन्ममें कितने पाप किये हैं ? अजी महाशय, पूर्वजन्मको कौन जानता है ? कोई सर्वज्ञ थोड़े ही है। जब तुम यह जानते ही नहीं तो दूसरेको पापी कहनेका तुम्हें अधिकार क्या है ? सम्भव है कि पूर्वजन्मोंमें तुम्हींसे अधिक पाप हुए हों, तथा जिनको तुम अभी पापी समझते हो वे पूर्वजन्मोंके पुण्यात्मा हों और किसी कारणविशेषसे उनसे पाप हो रहे हों।

अरे भाइयो ! इन जीवोंके अनादि कालसे अनगिनत जन्म होते आ रहे हैं और उन अनगिनत जन्मोंमें इनसे अनन्त कर्म भी होते आये हैं । न तो इनके पुण्यकी सीमा है, न पापकी; इसलिये किसीको निरा पापी या केवल पुण्यात्मा समझ लेना बड़ी भूल है । पुण्य तथा पापोंकी निवृत्ति सिवा भगवद्भजनके हो ही नहीं सकती । एक परमात्माकी प्राप्तिसे ही जीव पुण्य तथा पापोंसे छूटकर जन्म-मरणसे रहित हो सकता है ।

थोड़ी देरके लिये मैं मान लेता हूँ कि तुम बड़े भारी पुण्यात्मा हो, तो इससे तुम्हें कौन-सा बड़ा भारी लाभ हो गया ? अपने पुण्योंका फल भोगनेके लिये तुम्हें जन्म लेना ही पड़ेगा और तुम जब अपने पुण्य-फल—स्त्री, पुत्र, धन, पशु आदि भोगोंको पा जाओगे तो तुम अपनेको बड़े भारी ऐश्वर्यवान्, सम्पत्तिशाली तथा बलवान् मानने लगोगे, जिससे तुम्हें महा अभिमान हो जायगा और फलतः तुम जीवोंको सताने लगोगे तथा और भी अनेक प्रकारके अत्याचार करने लगोगे । अपने इन दुष्कर्मोंको भोगनेके लिये तुम्हें दूसरा शरीर अवश्य धारण करना पड़ेगा । अब कहो तुम्हारे पुण्योंने तुम्हें किस दशापर पहुँचाया ? तुम्हारा धर्मात्मापन कहाँ गया ? इसलिये मेरे प्रिय आत्मन् ! तुम अपने धर्मात्मापनके अभिमानको छोड़कर सभी जीवोंपर कृपादृष्टि रक्खो, उनके साथ हृदयसे प्रेम करो, उन्हें अपना समझो, उनके अवगुणोंको तथा उनके अपकारोंको भूल जाओ ।

गोस्वामीजीके शब्दोंमें संत-शिरोमणि भरतजीने निन्दकोंको महापातकी ठहराया है । वे महापातकियोंको गिनाते हुए कहते हैं—

बेचहिं बेदु धरमु दुहि लेहीं । पिसुन पराय पाप कहि देहीं ॥
तिन्ह कै गति मोहि संकर देऊ । जननी जौं यहु जानउँ भेऊ ॥

हे माता ! जो वेदको बेचकर अर्थात् अर्थप्राप्तिके लिये दूसरोंको वेद-शास्त्र सुनाकर धर्मको नष्ट कर देते हैं, तथा जो पिशुन (निन्दक) दूसरोंके अवगुणोंका कथन करते फिरते हैं, उनकी जो घोर गति होती है, वही गति शंकरजी हमें दें, यदि श्रीरामचन्द्रजीके वनवासके भेदको मैं जानता होऊँ या उसमें मेरी सम्मति हो ।

गोस्वामीजीने अन्यत्र लिखा है कि चुगलखोरोंका जन्म चमगादड़की योनिमें होता है । जैसे—

सब कै निंदा जे नर करहीं । ते चमगादुर होइ अवतरहीं ॥

भाइयो ! पाप-पुण्यका निर्णय करना कुछ साधारण बात भी नहीं है, यह तो बड़ी जटिल समस्या है । श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है—'कर्म क्या है तथा अकर्म क्या है, इस विषयमें पण्डितजन भी मोहको प्राप्त हो जाते हैं ।' भगवान्‌के इस कथनके अनुसार तुम किसीको सहसा दोषी कैसे ठहरा सकते हो ? जिसको तुम दोष समझते हो वह शायद गुण ही हो, हो सकता है कि उसके कर्तव्यको देखने या विचारनेमें तुम्हारी ही भूल हो, अथवा उस बेचारेने अपने जानमें अच्छा ही किया हो, कर्म करते समय उसकी नीयत बिल्कुल शुद्ध रही हो और वह दोष उससे अनजानमें बन गया हो, तब उसे पापी कहनेका अथवा दोषी ठहरानेका तुम्हें अधिकार ही कहाँ रह जाता है, पाप-पुण्यका निर्णय तो प्रायः नीयतपर ही किया जाता है ।

फिर मान लो कि किसीने जान-बूझकर सचमुच ही पाप किये हैं, तो उसकी शिकायत करनेसे तुमको मिल ही क्या जाता है ? क्या तुम्हारी निन्दासे वह सुधर जायगा ? नहीं, नहीं, याद रक्खो, सम्भव है कि अपनी निन्दा सुनकर वह भड़क उठे और तुम्हारा अनिष्ट करनेके लिये तुम्हारे पीछे पड़ जाय । यदि ऐसा हुआ तो तुम्हारी कितनी हानि हुई ! उसे पीछे पड़े

देख तुम्हें भी क्रोध आ ही जायगा और तुम भी उसकी जानको लग जाओगे; लो! अब मचा द्वन्द्व, बढ़ी कलह। इससे भाई! किसीकी 'असूया' करना छोड़ दो; हाँ, तुम्हें यदि उसे कुछ कहना ही है, तो पहले उससे मेल करो, उसकी बातोंको ध्यानपूर्वक सुनो; जब तुम्हारे प्रति उसकी श्रद्धा होने लगे, जब तुम यह जान जाओ कि यह अब मेरा कहना सहर्ष सुनेगा तो शान्तिसे, धीरेसे एकान्तमें, प्रेमपूर्वक उसकी त्रुटियोंको उसे समझानेकी चेष्टा करो। तुम्हारे इस व्यवहारका उसपर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ेगा और वह अपने कर्मोंपर लज्जित होगा, पश्चात्ताप करेगा, आगेके लिये सावधान हो जायगा, अपनी भूलोंको सुधारनेमें लग जायगा। इस रीतिसे तुम्हारी भी भलाई होगी और उसकी भी।

यदि तुम्हारे सदुपदेशोंको लोग नहीं मानते, तो तुम चिढ़ो मत, उनपर रुष्ट होकर उन्हें बुरा-भला मत कहने लगो, किन्तु अपनी शान्तिमें डटे रहो। लोग नहीं मानते तो इससे तुम्हारा बिगड़ ही क्या जाता है? और उनका दोष ही क्या है? वे बेचारे भ्रान्त हैं, इस समय उनकी बुद्धि ठिकाने नहीं है; नहीं तो अमृत पीना कौन नहीं चाहता? अजी हाथमें आये हुए पारसको जान-बूझकर कौन फेंक देगा? जब उनकी बुद्धि शुद्ध होगी तो वे अपने-आप ही ज़रा-से इशारेसे सुधर जायँगे, अपने कर्तव्यमें संलग्न हो जायँगे।

इसलिये भी तुम किसीको बुरा न समझ बैठो कि वह तुम्हारी निन्दा करता है। वह खुद भूला है, वह बेचारा अज्ञानसे निन्दा-जैसा निन्दनीय कर्म करके अपनी आत्माको नीचे ले जा रहा है; यदि तुम उसे बुरी दृष्टिसे देखोगे तो तुम भी उसीके समान निन्दक बन जाओगे, जिससे तुम्हारी बड़ी हानि होगी। इसलिये तुम उसपर दया करो, उसका उपकार मानो कि तुम्हारे अवगुणोंके निरीक्षणमें उसने अपना अमूल्य समय लगाया और तुम्हारे पापोंको कह-कहकर हल्का कर दिया, तुम्हें चेतावनी दे दी कि 'आगे फिर ऐसा न करना।'

ॐशान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

संसार क्या है ?

क्षणिक जगकी सब कथाएँ मूलतः मैं जानता हूँ॥
पूर्णके उस 'उदधि-उर' पर एक विकच सरोज आया।
थी उसीकी प्रकृत छाया, यह हमारी प्रकृति-माया॥
कालसे-प्रारब्धसे-अज्ञात ही कारण रहा यह-
लोल लहरोंने उठाया बिन्दुओंका पुंज आया॥
उस जलज-दलके सुसीकर जीव हैं यह मानता हूँ।
क्षणिक जगकी सब कथाएँ मूलतः मैं जानता हूँ॥

क्षणिक जगकी सब कथाएँ मूलतः मैं जानता हूँ॥
सीकरोंका संगठन यह वायुकी केवल दया ही।
शुष्क होना, सरस रहना—भानु-किरणोंकी कृपा ही॥
स्थिति कहाँ है जीवकी? दलपर थपेड़े कालके हैं।
कर्म ही अपने हुये अब अमिट अक्षर भालके हैं॥
'मैं' स्वयं मल-धूलिमें निज तरल जीवन सानता हूँ।
क्षणिक जगकी सब कथाएँ मूलतः मैं जानता हूँ॥

क्षणिक जगकी सब कथाएँ मूलतः मैं जानता हूँ॥
एक इस दलसे छिपा है 'वह' अनन्त समुद्र मेरा।
निकट होकर दूर-सा है 'वह' विशुद्ध स्वरूप मेरा॥
'मैं' विभाजित सीकरोंमें, दल बना यह रूप 'मेरा'।
तुच्छता—अज्ञान मेरा, सोचता 'मम' और 'तेरा'॥
मैं जगतके रूपमें हूँ, जगत मैं यह ठानता हूँ।
क्षणिक जगकी सब कथाएँ मूलतः मैं जानता हूँ॥

—'सुदर्शन'

श्रीरामचरितमानसमें भरतजीकी महिमा

(लेखक—पं० श्रीगोपीनाथजी)

जो न होत जग जनम भरत को। सकल धरम धुरि धरनि धरत को॥

श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीके मानस महाकाव्यमें सभी चरित्रोंका वर्णन मनोहर है। उसमें भी श्रीभरतजीका चरित्र मुझे सबसे बढ़कर महान् आदर्शकी अनुपम भव्यमूर्ति दिखायी पड़ा। सच पूछिये तो मेरी सम्मतिमें श्रीरामचन्द्रजीसे बढ़कर श्रीभरतजीके चरित्रकी महिमा है। श्रीरामने तो पिताकी आज्ञासे वनवास लिया, परन्तु भरतजीने पिताके दिये हुए राज्यको श्रीरामजीकी चरणरजमें फटकार दिया और श्रीरामके बहुत आग्रह करनेपर परम कठोर 'सेवाधर्म' का पालन करते हुए भी उनकी पादुकाको ही राजसिंहासनपर स्थापित करके आप जटा-जूट बाँधकर अयोध्या-से अलग नन्दिग्राममें धरती खोदकर और कुटी बनाकर पूर्ण वनवासियोंकी नाईं कठोर तपस्या करते हुए १४ वर्ष व्यतीत कर दिये। इस तपस्याके आगे बड़े-बड़े ऋषि और मुनियोंकी भी गति नहीं पहुँचती। इसी भरतजीकी पवित्र महिमाका कुछ वर्णन करना इस लेखका उद्देश्य है।

श्रीगोस्वामीजीने भी श्रीभरतजीकी महिमाके वर्णनमें बड़ा जोर लगाया है और अपनी पूर्ण भक्तिका परिचय दिया है। देखिये श्रीगोस्वामीजी अयोध्याकाण्डकी समाप्तिपर किस शुद्ध भावनासे श्रीभरतजीका इस छन्दमें वर्णन करके इस प्रसंगको समाप्त करते हैं—

सियराम प्रेम पियूष पूरन होत जनमु न भरत को।
मुनि मन अगम जम नियम सम दम बिषम ब्रत आचरत को॥
दुख दाह दारिद दंभ दूषन सुजस मिस अपहरत को।
कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को॥

इस भावनामें लीन होकर श्रीगोसाईंजीने अपने मानसमें आरम्भहीसे श्रीभरतजीकी महिमाका भाव प्रत्येक स्थानपर प्रकट किया है। यथा—

बालकाण्डके १६ वें दोहेके बाद ही गोस्वामीजी लिखते हैं—

प्रनवउँ प्रथम भरत के चरना। जासु नेम ब्रत जाइ न बरना॥
रामचरन पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू॥

फिर मानससरका रूपक वर्णन करते हुए श्रीगोस्वामीजी इसी काण्डके ४१ वें दोहेमें लिखते हैं—

समन अमित उतपात सब भरत चरित जपजाग।

फिर जब जनकजीके दूत श्रीरामचन्द्रजीके विवाहका निमन्त्रण लेकर महाराज दशरथके पास जाते हैं उस समयका चित्र गोसाईंजी इन शब्दोंमें खींचते हैं—

खेलत रहे तहाँ सुधि पाई। आए भरतु सहित हित भाई॥
पूछत अति सनेहँ सकुचाई। तात कहाँ तें पाती आई॥

कुसल प्रानप्रिय बंधु दोउ अहहिं कहहु केहिं देस।
सुनि सनेहँ साने बचन बाची बहुरि नरेस॥

सुनि पाती पुलके दोउ भ्राता। अधिक सनेहु समात न गाता॥
प्रीति पुनीत भरत कै देखी। सकल सभाँ सुखु लहेउ बिसेषी॥

(दो० २८९। ४; २९०; २९०-१)

जब श्रीभरतजीका श्रीराममें इतना प्रेम है तो भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका उनकी ओर वैसा ही खिंचाव क्यों न हो। उसका आभास गोसाईंजी अयोध्याकाण्डके छठे दोहेके बाद इन शब्दोंमें देते हैं—

सुनत राम अभिषेक सुहावा। बाज गहागह अवध बधावा॥
राम सीय तन सगुन जनाए। फरकहिं मंगल अंग सुहाए॥२॥
पुलकि सप्रेम परसपर कहहीं। भरत आगमनु सूचक अहहीं॥
भए बहुत दिन अति अवसेरी। सगुन प्रतीति भेंट प्रिय केरी॥३॥
भरत सरिस प्रिय को जग माहीं। इहइ सगुन फलु दूसर नाहीं॥
रामहि बंधु सोच दिन राती। अंडन्हि कमठ हृदउ जेहि भाँती॥४॥

इसके अनन्तर श्रीभरतजीकी अनुपस्थितिमें अयोध्यामें उनकी माता कैकेयीके दो वरदानद्वारा जो अनर्थ हो गया—महाराज दशरथका मरण और श्रीरामचन्द्रका वनवास—उस दशामें श्रीभरतजीकी जो गति हुई उसका वर्णन जो गोस्वामीजीने किया है वह पूर्ण प्रभावकारी है। कैकेयीने श्रीरामचन्द्रजीका वनवास भरतको राज देनेके लिये माँगा था कि श्रीरामके वनवासके कारण वह निष्कंटक राज्य करें—उसने सोचा कि भरत इससे अति प्रसन्न होंगे। परन्तु श्रीभरतजीकी जो दशा हुई और कैकेयीसे उनका जो वार्तालाप हुआ उसका वर्णन मानसमें इस प्रकार है:—

आवत सुत सुनि कैकयनंदिनि । हरषी रबिकुल जलरुह चंदिनि ॥
सजि आरती मुदित उठि धाई । द्वारेहिं भेंटि भवन लेइ आई ॥
भरत दुखित परिवारु निहारा । मानहुँ तुहिन बनज बनु मारा ॥
कैकेई हरषित एहि भाँती । मनहुँ मुदित दव लाइ किराती ॥
सुतहि ससोच देखि मनु मारें । पूँछति नैहर कुसल हमारें ।
सकल कुसल कहि भरत सुनाई । पूँछी निज कुल कुसल भलाई ॥
कहु कहँ तात कहाँ सब माता । कहँ सिय राम लखन प्रिय भ्राता ॥
(दो० १५८ । १—४)

श्रीभरतजीके पूछनेपर जब कैकेयीने—

आदिहु तें सब आपनि करनी । कुटिल कठोर मुदित मन बरनी ॥
(दो० १५९ । ४)

कैकेयीके इस प्रकार बड़े उत्साह और उमंगके साथ वर्णन करनेपर—

भरतहि बिसरेउ पितु मरन सुनत राम बन गौनु ।
हेतु अपनपउ जानि जियँ थकित रहे धरि मौनु ॥१६०॥

जो श्रीराम भरतजीके परम सेव्य थे उनको कैकेयीने इसलिये वनवास दिया कि भरतका राज्य अकण्टक हो जाय, यह सोचकर भरतजीके कोमल हृदयपर जो चोट लगी उसका वर्णन कोई कैसे कर सकता है। पर धन्य हैं श्रीगोस्वामीजी जिन्होंने किस अपूर्व प्रकारसे उसका वर्णन किया है, श्रीभरतजीको थकित और मौन देखकर कैकेयी उनको समझाती है, ढाढ़स देती है और शोक छोड़कर "सहित समाज राज पुर करहू" कहती है तो—

सुनि सुठि सहमेउ राजकुमारू । पाकें छत जनु लाग अँगारू ॥
धरि धीरज भरि लेहिं उसासा । पापिनि सबहि भाँति कुल नासा ॥
जो पै कुमति रही असि तोही । जनमत काहे न मारेसि मोही ॥
पेड़ काटि तैं पालउ सींचा । मीन जियन निति बारि उलीचा ॥
(दो० १६० । ३-४)

अहो धन्य गोस्वामीजीकी वर्णन-शैली श्रीभरतजीके मुखसे यह दोहा कहा कर मानो उन्होंने सागरको गागरमें भर दिया है। श्रीभरतजी अपनी माता कैकेयीसे कहते हैं—

हंस बंसु दसरथु जनकु राम लखन से भाइ ।
जननी तूँ जननी भई बिधि सन कछु न बसाइ ॥१६१॥

अहा ! कैसे हृदयवेधी वचन श्रीभरतजीके हैं। आप कहते हैं कि सूर्यका तो वंश (जिसमें मेरा जन्म हुआ), और दशरथ-जैसे पिता (जिनको इन्द्र भी उठकर अपना आसन देता है) और राम-लक्ष्मण-जैसे भाई मिले (जो संसारभरको परम प्रिय हैं) इस समाजमें तुझ-जैसी (कलंकिनी) माता मुझे मिली । विधातासे कुछ वश नहीं चलता । अर्थात् हे माता ! तू ऐसे पवित्र परिवारमें मेरी माता होनेके योग्य नहीं थी। कैसे मर्मवेधी वचन श्रीभरतजीके हृदयसे निकल रहे हैं ! फिर आप कहते हैं—

जबतें कुमति कुमत जियँ ठयऊ । खंड खंड होइ हृदउ न गयऊ ॥
बर मागत मन भइ नहिं पीरा । गरि न जीह मुहँ परेउ न कीरा ॥
अस को जीव जंतु जग माहीं । जेहि रघुनाथ प्रान प्रिय नाहीं ॥
भे अति अहित रामु तेउ तोही । को तू अहसि सत्य कहु मोही ॥
जो हसि सो हसि मुहँ मसि लाई । आँखि ओट उठि बैठहु जाई ॥
(दो० १६१ । १—४)

श्रीभरतजी अपनी माता कैकेयीकी ऐसी करनी सुनकर उससे कह रहे हैं कि जब तूने अपने मनमें ऐसा खोटा निश्चय किया उसी समय मेरा हृदय टुकड़े-टुकड़े क्यों न हो गया ! ऐसा वर माँगते मनमें कठोर कष्ट न हुआ, जीभ भी न गली और मुँहमें कीड़े भी न पड़े ! संसारमें ऐसा कौन जीव-जन्तु है जिसे श्रीरामचन्द्रजी प्राणोंसे प्यारे नहीं ! ऐसे श्रीरामचन्द्रजी तुझे ऐसे बुरे लगे (कि उन्हें तूने वनवास दिया) ! सो सच बता, तू कौन (डायन वा चुड़ैल) है ? अस्तु जो तू है सो है, पर काला मुँह करके यहाँसे उठकर मेरी आँखोंके सामनेसे हटकर जा बैठ, अर्थात् मुझे अपना मुँह न दिखला। फिर अन्तिम शब्द यह कहकर चुप हो गये—

राम बिरोधी हृदय तें प्रगट कीन्ह बिधि मोहि ।
मो समान को पातकी बादि कहउँ कछु तोहि ॥
(दो० १६२)

बस, ये अन्तिम वचन हैं जो भरतजीने कैकेयीसे कहे हैं। सारे मानसमें इससे आगे भरतजीने कभी कैकेयीसे बात-चीत नहीं की और उसको आँखकी ओटमें ही रक्खा। इसके अनन्तर श्रीभरतजीकी सब बातचीत श्रीकौसल्याजीसे है। उन्हींकी सेवामें वे रहे, उन्हींके आज्ञा-पालनमें तत्पर रहे, उन्हींके चरण चाँपते रहे, उन्हींकी आज्ञा शिरोधार्य करके चित्रकूटको पैदल चल दिये। जब लोगोंने उनको पैदल चलते देखा तो सब लोग सवारियोंसे उतर गये, कैकेयीका हौसला उनके सामने होनेका नहीं हुआ, कौसल्याजीने ही उनसे सवारीका अनुरोध किया और उन्होंने सिर आँखोंपर इस

आज्ञाको धारण किया । तबसे भरतजी कौसल्याजीको ही अपनी माता मानकर सुख प्राप्त करते हैं और कौसल्याजी उनको राम-समान जानकर वैसा ही हित करती हैं और उनको गोदमें लेती हैं तो उनके स्तनोंसे प्रेमका दूध टपक जाता है । उनके इस प्रेमपर मानसकार लिखते हैं—

देखि सुभाउ कहत सबु कोई । राम मातु अस काहे न होई ॥
(दो० १६४ । २)

वास्तवमें श्रीभरतजीकी विचित्र दशा है जिसपर बड़ी करुणा आती है । अयोध्यावासियोंमेंसे कइयोंको सन्देह हो गया कि कैकेयीने जो वर माँगे उनमें भरतजीकी भी सम्मति थी जिससे उनको राज मिले । चित्रकूटको जाते हुए निषाद-राजको भी पूरा सन्देह हुआ कि भरतजी दुष्ट अभिप्रायसे इतनी भीड़भाड़के साथ वहाँ जा रहे हैं कि जिससे श्रीरामचन्द्र-जीको मारकर अकण्टक राज करें । और तो क्या, इनका हाथी, घोड़े, रथ आदिका बड़ा लश्कर सुनकर लक्ष्मणजीको भी सन्देह हो गया कि भरतका अभिप्राय खोटा है । पर वाह रे भरतजी ! वे किस प्रकार अपनी अखण्ड भक्तिके प्रेममें लीन हैं और इस बातकी उन्हें जरा भी परवा नहीं है कि लोग उन्हें क्या समझते वा कहते हैं । वे बारम्बार यही प्रार्थना करते और वर माँगते हैं कि चाहे संसार मुझे दुष्ट और "साहिब द्रोही" अर्थात् अपने स्वामीका शत्रु कहे, चाहे श्रीरामचन्द्रजी भी मुझे कुटिल, कपटी, अधम समझते रहें: परन्तु मेरी अचल भक्ति श्रीराम और सीताजीके चरणोंमें उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहे । भरतजीकी महिमाका पार कौन पा सकता है !

मानसकार लिखते हैं कि जब श्रीरामजी अपनी माता कौसल्याजीसे विदा माँगनेको दशरथ और कैकेयीके भवनसे बाहर आये तो—

नगर ब्यापि गइ बात सुतीछी । छुवत चढ़ी जनु सब तन बीछी ॥

× × × ×

जो जहँ सुनइ धुनइ सिरु सोई । बड़ बिषादु नहिं धीरजु होई ॥
(दो० ४५ । ३-४)

× × × ×

एक भरत कर संमत कहहीं । एक उदास भायँ सुनि रहहीं ॥
कान मूदि कर रद गहि जीहा । एक कहहिं यह बात अलीहा ॥
सुकृत जाहिं अस कहत तुम्हारे । रामु भरत कहुँ प्रान पिआरे ॥

चंदु चवै बरु अनल कन सुधा होइ बिष तूल ।
सपनेहुँ कबहुँ न करहिं किछु भरत राम प्रतिकूल ॥
(दो० ४७ । ३-४; ४८)

अयोध्यावासियोंका पूर्ण समाधान और निषादराज तथा लक्ष्मणजीका सन्देह-निवारण जिस सुन्दरतासे हुआ उसका वर्णन अपने स्थानपर आगे आता है ।

कैकेयीको इस प्रकार आँख ओट बैठने और अपना काला मुँह न दिखानेको कहकर श्रीभरतजी कौसल्या माताके पास जाते हैं । कौसल्याजीकी कैसी दशा है—

मलिन बसन बिबरन बिकल कृस सरीर दुख भार ।
कनक कलप बर बेलि बन मानहुँ हनी तुसार ॥
(दो० १६१)

फिर क्या हुआ—

भरतहि देखि मातु उठि धाई । मुरुछित अवनि परी झइँ आई ॥
देखत भरतु बिकल भए भारी । परे चरन तन दसा बिसारी ॥
(दो० १६२ । १)

और चरण पकड़कर कौसल्या माताजीसे कहते हैं—

मातु तात कहँ देहु दिखाई । कहँ सिय रामु लखनु दोउ भाई ॥
कैकइ कत जनमी जग माझा । जौं जनमित भइ काहे न बाँझा ॥
कुल कलंकु जेहिं जनमेउ मोही । अपजस भाजन प्रियजन द्रोही ॥
को त्रिभुवन मोहि सरिस अभागी । गति असि तोरि मातु जेहि लागी ॥
(दो० १६२ । २-३)

श्रीभरतजी रोते हुए कहते हैं कि कैकेयी जगत्‌में क्यों जनमी । यदि जनमी ही तो बाँझ क्यों न हुई, मुझ-जैसा कुल-कलंक बदनामीका टीका, प्रियजनोंका विरोधी पुत्र क्यों उत्पन्न किया । मेरे समान तीनों लोकोंमें कौन अभागा है जिसके कारण हे माता ! तुम्हारी ऐसी गति हुई अर्थात् न मैं पैदा होता न कैकेयी ऐसा वरदान माँगती, न रामचन्द्रजी-को वनवास होता और न तुम्हारी ऐसी दशा होती ।

भरतजीके इस प्रकार बिलख-बिलखकर रोनेपर श्री-कौसल्याजीका हृदय भर आया, और भरतजीको देख जो उठते समय घुमेर खाकर गिर पड़ी थी उन्होंने अपने आपको सँभाला और भरतजीको उठाकर छातीसे लगा लिया । उनके नेत्रोंसे प्रेमके आँसू बहने लगे और उन्होंने सहज स्वभावसे ही इस प्रकार उनको हृदयसे लगा लिया कि मानो श्रीरामजी ही फिर लौट आये हों । उनको अति प्रेमसे गोदमें बैठाकर सब

चरित्र उनसे वर्णन किया और काल-कर्मकी गतिको अमिट बताकर उनको धैर्य दिया कि किसीको दोष मत दो, धीरज धरो। उस समयके करुण रसका वर्णन कोई कैसे करे ?

श्रीकौसल्याजीके धीरज भरे शब्द सुनकर भी भरतजीके मनमें बड़ी व्याकुलता हो रही है और वे भारी-से-भारी शपथें खाकर निश्चय दिला रहे हैं कि कैकेयीकी इस करतूतसे वे सर्वथा निर्लेप हैं—

जे अघ मातु पिता सुत मारें। गाइ गोठ महिसुर पुर जारें॥
जे अघ तिय बालक बध कीन्हें। मीत महीपति माहुर दीन्हें॥
जे पातक उपपातक अहहीं। करम बचन मन भव कबि कहहीं॥
ते पातक मोहि होहुँ बिधाता। जौं यहु होइ मोर मत माता॥
(दो० १६६। १-४)

ऐसे करुणापूर्ण वचन सुनकर माता कौसल्याजी उनको धीरज देती हैं और कहती हैं—

राम प्रानहु तें प्रान तुम्हारे। तुम्ह रघुपतिहि प्रानहु ते प्यारे॥
बिधु बिष चवै स्रवै हिमु आगी। होइ बारिचर बारि बिरागी॥
भएँ ग्यानु बरु मिटै न मोहू। तुम्ह रामहि प्रतिकूल न होहू॥
मत तुम्हार यहु जो जग कहहीं। सो सपनेहुँ सुख सुगति न लहहीं॥
(दो० १६८। १-२)

यह कहकर कौसल्याजीने भरतजीको फिर हृदयसे लगा लिया। उस समय उनके स्तनोंसे दूध टपकने लगा और आँखोंमें आँसू भर आये। कैसा करुणाजनक दृश्य है !

इसके बाद वह प्रसंग चलता है जहाँ श्रीवसिष्ठजी सब क्रिया-कर्म कराकर और शुभ दिन साधकर दरबारके भवनमें आते हैं और सब मंत्रियों और दरबारियोंको एकत्र करके राजसभामें भरतजीको बुलाते हैं और भरे दरबारमें भरतजीको अनुशासन करते हैं कि पिताका वचन पूरा करके राजगद्दीको सँभालें। इससे प्रजा सुखी होगी, स्वर्गमें राजा दशरथजीको संतोष होगा कि उनका वचन पूरा किया और वनमें श्रीरामचन्द्रजी भी प्रसन्न होंगे क्योंकि वे सब मर्म जानते हैं। फिर सब मन्त्रीगण भी इस आज्ञाका अनुमोदन करके उनसे राज सँभालनेका अनुरोध करते हैं कि गुरु महाराजकी आज्ञाका पालन करें, जिससे उनको पुण्य और सुयश प्राप्त होगा। तब भी जब भरतजी गंभीर सोच और विषादहीमें पड़े रहे तो माता कौसल्याजी धीरज धरकर उनको समझाती हैं कि बेटा ! गुरुकी आज्ञा अवश्य माननीय है, इसका आदरपूर्वक पालन करो और शोक-विषाद छोड़ दो। महाराज (दशरथ) स्वर्गमें हैं, श्रीरामजी वनमें हैं और तुम इस प्रकार घबरा रहे हो! इस समय सारी प्रजा तथा मन्त्रियों और सब परिवारकुटुम्बको तुम्हारा ही भरोसा है। शंका त्यागकर गुरुकी आज्ञा मानो और राज्यभार ग्रहण करके प्रजाको सुख दो।

उस समय श्रीभरतजीकी दशा कैसी थी यह श्रीगोस्वामीजीके शब्दोंमें ही सुनिये—

गुर के बचन सचिव अभिनंदनु। सुने भरत हिय हित जनु चंदनु॥
सुनी बहोरि मातु मृदुबानी। सील सनेह सरल रस सानी॥
सानी सरल रस मातु बानी सुनि भरतु ब्याकुल भये।
लोचन सरोरुह स्रवत सींचत बिरह उर अंकुर नये॥
सो दसा देखत समय तेहि बिसरी सबहि सुधि देह की।
तुलसी सराहत सकल सादर सीवँ सहज सनेह की॥
भरतु कमल कर जोरि धीर धुरंधर धीर धरि।
बचन अमिअँ जनु बोरि देत उचित उत्तर सबहि॥
(दो० १७५। ४। १७६)

वाह-वाह सचमुच अमृतमयी वाणीमें ही उनका उत्तर है और श्रीगोस्वामीजीने उसके वर्णनमें अद्भुत चमत्कार दिखाया है। एक-एक शब्द है मानो हीरे-मोती जड़े हैं। संक्षेपतः भरतजी गुरु वसिष्ठजी तथा सब मन्त्रियों और माता कौसल्याकी आज्ञाकी गौरवताका इस प्रकार वर्णन करते हैं कि:—

गुर पितु मातु स्वामि हित बानी। सुनि मन मुदित करिअ भलि जानी॥
उचित कि अनुचित किएँ बिचारू। धरमु जाइ सिर पातक भारू॥
(१७६। २)

× × × ×

जद्यपि यह समुझत हउँ नीकें। तदपि होत परितोषु न जी कें॥
(१७६। ३)

× × × ×

ऊतरु देउँ छमब अपराधू। दुखित दोष गुन गनहिं न साधू॥
(१७६। ४)

× × × ×

सोक समाजु राजु केहि लेखें। लखन राम सिय बिनु पद देखें॥
(१७७। २)

× × × ×

जाउँ राम पहिं आयसु देहू। एकहिं आँक मोर हित एहू॥
(१७७। ४)

× × × ×

कैकेई सुअं कुटिल मति राम बिमुख गतलाज ।
तुम्ह चाहत सुख मोह बस मोहि से अधम कें राज ॥
(दो० १७८)

× × × ×

मोहि राजु हठि देइहहु जबहीं । रसा रसातल जाइहि तबहीं ॥
मोहि समान को पाप निवासू । जेहि लगि सीय राम बनबासू ॥
(१७८ । १-२)

× × × ×

लखन राम सिय कहुँ बनु दीन्हा । पठइ अमरपुर पति हित कीन्हा ॥
लीन्ह बिधवपन अपजसु आपू । दीन्हेउ प्रजहि सोकु संतापू ॥
मोहि दीन्ह सुखु सुजसु सुराजू । कीन्ह कैकई सब कर काजू ॥
एहि तें मोर काह अब नीका । तेहि पर देन कहहु तुम्ह टीका ॥
कैकइ जठर जनमि जग माहीं । यह मोहि कहँ कछु अनुचित नाहीं॥
मोरि बात सब बिधिहिं बनाई । प्रजा पंच कत करहु सहाई ॥

ग्रह ग्रहीत पुनि बात बस तेहि पुनि बीछी मार ।
ताहि पिआइअ बारुनी कहहु काह उपचार ॥
(दो० १७९ । २—१८०)

श्रीभरतजी कहते हैं कि मैं जो कैकेयीके उदरसे हुआ मानो यह मुझे ग्रह लगे, पिताकी मृत्यु सन्निपात रोग हुआ, और श्रीरामचन्द्रजीका वनको जाना ऐसा हुआ मानो बिच्छूने डंक मारा। इसपर आप सब मिलकर मुझे राजकी मदिरा पिलाते हो तो फिर मेरे बचनेका क्या उपाय है ? इस एक ही दोहेमें गोस्वामीजीने क्या करामात दिखायी है ?

भरतजी फिर कहते हैं:—

राममातु सुठि सरलचित मोपर प्रेमु बिसेषि ।
कहइ सुभाय सनेह बस मोरि दीनता देखि ॥
(दो० १८१)

फिर गुरु वसिष्ठजीके विषयमें कहते हैं:—

गुर बिबेक सागर जगु जाना । जिन्हहि बिस्व कर बदर समाना ॥
मो कहँ तिलक साज सज सोऊ । भएँ बिधि बिमुख बिमुख सबु कोऊ ॥
परिहरि रामु सीय जग माहीं । कोउ न कहिहि मोर मत नाहीं ॥
(१८१ । १-२)

× × × ×

आपनि दारुन दीनता कहउँ सबहि सिरु नाइ ।
देखें बिनु रघुनाथ पद जिय कै जरनि न जाइ ॥
(दो० १८२)

× × × ×

एकहिं आँक इहइ मन माहीं । प्रातकाल चलिहउँ प्रभु पाहीं ॥
जद्यपि मैं अनभल अपराधी । भै मोहि कारन सकल उपाधी ॥
तदपि सरन सनमुख मोहि देखी । छमि सब करिहहिं कृपा बिसेषी ॥

× × × ×

तुम्ह पै पाँच मोर भल माना । आयसु आसिष देहु सुबानी ॥
जेहिं सुनि बिनय मोहि जनु जानी । आवहिं बहुरि रामु रजधानी ॥

जद्यपि जनमु कुमातु तें मैं सठु सदा सदोस ।
आपन जानि न त्यागिहहिं मोहि रघुबीर भरोस ॥
(१८२ । १-२, ४; १८२)

श्रीभरतजीके मुखारविन्दसे ऐसे वचन सुनकर सारी सभाको जो आनन्द हुआ उसका वर्णन सुनिये:—

भरत बचन सब कहँ प्रिय लागे । राम सनेह सुधाँ जनु पागे ॥
लोग बियोग बिषम बिष दागे । मंत्र सबीज सुनत जनु जागे ॥
मातु सचिव गुर पुर नर नारी । सकल सनेहँ बिकल भए भारी ॥
भरतहि कहहिं सराहि सराही । राम प्रेम मूरति तनु आही ॥
तात भरत अस काहे न कहहू । प्रान समान राम प्रिय अहहू ॥
जो पावँरु अपनी जड़ताईं । तुम्हहि सुगाइ मातु कुटिलाईं ॥
सो सठु कोटिक पुरुष समेता । बसिहि कलप सत नरक निकेता ॥
अहि अघ अवगुन नहिं मनि गहई । हरइ गरल दुख दारिद दहई ॥

अवसि चलिअ बन रामु जहँ भरत मंत्रु भल कीन्ह ।
सोक सिंधु बूड़त सबहि तुम्ह अवलंबनु दीन्ह ॥
(दो० १८३ । १—१८४)

फिर भरतजीके साथ सब पुरवासी, सैनिक और मन्त्री आदि वाहन-साज सजाकर बड़ी भीड़-भाड़के साथ वनको चले। सबको श्रीरामचन्द्रके दर्शन और उनको लौटा लानेकी अत्यन्त लालसा थी और इस प्रकार सब नर-नारी चले जैसे परम प्यासे हाथी-हथिनियोंका झुंड पानीको देखकर वेगसे जाता है। शृंगवेरपुर पहुँचनेपर निषादको बड़ी चिन्ता हुई कि इतना कटक लेकर भरतजी श्रीरामके पास वनमें क्यों जाते हैं। अवश्य कुछ खोटा भाव मनमें है, वे सोचते हैं, कि अकेले रामको वनमें मारकर अकंटक राज करूँगा—

का आचरजु भरतु अस करहीं । नहिं बिष बेलि अमिअ फल फरहीं ॥
(१८८ । ४)

अर्थात् यदि भरत ऐसा करते हैं तो कोई अचम्भेकी बात नहीं है, कैकेयी-जैसी विषकी बेलिमें अमृतफल कहाँ

लग सकता है। अहो! श्रीभरतजीको किन-किन अपवादोंका लक्ष्य बनना पड़ा।

यह विचार आते ही निषाद ठान लेता है कि जीते-जी भरतको पार नहीं उतरने दूँगा; युद्ध करके मरूँगा या मारूँगा और अपना सब लश्कर तैयार करता और परम उत्साहसे युद्धका जोश उनमें बढ़ाता है। इतनेमें ही एक बूढ़ा कहता है कि लक्षणोंसे मालूम होता है कि भरत युद्धके लिये नहीं जाते बल्कि श्रीरामचन्द्रजीको मनाने जा रहे हैं। यह परीक्षा लेनेको निषाद सेनाको तैयार रहनेकी आज्ञा देकर भेंट लेकर आगे जाता है और श्रीवसिष्ठजीको देखकर दूरहीसे अपना नाम लेकर दण्ड-प्रणाम करता है और वसिष्ठजीने भरतको संकेत किया कि यह श्रीरामजीका सखा है। यह सुनते ही भरतजी रथसे उतरकर दौड़े और निषादने ज्यों ही अपना नाम-ग्राम बताते हुए धरतीपर माथा टेककर प्रणाम किया—

करत दंडवत देखि तेहि भरत लीन्ह उर लाय।
मनहु लखन सन भेंट भइ प्रेम न हृदयँ समाय॥
(१९३ अयो० कां०)

भरतजीने उसे ऐसे प्रेमके साथ छातीमें लगा लिया कि मानो लक्ष्मण भाईके साथ भेंट हो गयी। जिस जातिकी छाया पड़नेपर लोग स्नान करते हैं उसीके प्रधानको आपने राम-प्रिय होनेपर इस प्रकार हृदयसे लगा लिया इसपर देवता-तक धन्य-धन्य करने और फूल बरसाने लगे। भरतजीका शान्तस्वभाव और प्रेम देखकर निषाद विदेह हो गया अर्थात् उसे अपने देहतककी सुध न रही और उनकी नीयतपर शंका करनेका उसे बड़ा संकोच हुआ; और प्रेम और आनन्दमें मग्न होकर श्रीभरतजीको टकटकी बाँधकर देखने लगा और भरतजीके कुशल पूछनेपर हाथ बाँध निवेदन करता है—

कुसल मूल पद पंकज पेखी। मैं तिहुँ काल कुसल निज लेखी॥
अब प्रभु परम अनुग्रह तोरें। सहित कोटि कुल मंगल मोरें॥
(१९४. ४)

फिर भरतजी सबके साथ गंगाजीमें स्नान करते हैं और श्रीगंगाजीसे प्रार्थना करते हैं—

भरत कहेउ सुरसरि तव रेनू। सकल सुखद सेवक सुरधेनू॥
जोरि पानि बर मागउँ एहू। सीय राम पद सहज सनेहू॥
(१९६. ४)

तदनन्तर अपने सखा निषादराजके साथ हाथमें हाथ दिये हुए चलते हैं और विनती करते हैं कि वह स्थान दिखाकर मनको ठंडक दो जहाँ श्रीसीताराम और लक्ष्मणजी रातको सोये थे। निषाद उनको उस अशोकके पेड़के पास ले गया जिसके नीचे उन्होंने रात काटी थी। श्रीभरतजीने अत्यन्त आदरके साथ वहाँ दण्डप्रणाम किया और—

कुस साँथरी निहारि सुहाई। कीन्ह प्रनामु प्रदच्छिन जाई॥
चरन रेख रज आँखिन्ह लाई। बनइ न कहत प्रीति अधिकाई॥
(१९८. १)

फिर श्रीसीताजीके वस्त्रोंसे गिरे हुए दो-चार सुनहरे सितारे देखे और सीताजीके समान ही जान अपने मस्तकपर रख लिये और नेत्रोंमें जल भरकर अति दुःखी मनसे अपने सखा (निषाद) से कहते हैं कि ये सितारे सीताजीके वियोगमें अयोध्यापुरीके नर-नारियोंके समान छबिहीन हो रहे हैं। सीताजीका गौरव फिर इन शब्दोंमें वर्णन करते हैं—

पितु जनक देउँ पटतर केही। करतल भोगु जोगु जग जेही॥
ससुर भानुकुल भानु भुआलू। जेहि सिहात अमरावति पालू॥
प्राननाथ रघुनाथ गोसाईं। जो बड़ होत सो राम बड़ाईं॥

पतिदेवता सुतीयमनि सीय साँथरी देखि।
बिहरत हृदउ न हहरि हर पबि तें कठिन बिसेषि॥
× × × ×
सुख सरूप रघुबंसमनि मंगल मोद निधान।
ते सोवत कुस डासि महि बिधिगति अति बलवान॥

राम सुना दुखु कान न काऊ। जीवन तरु जिमि जोगवइ राऊ॥
पलक नयन फनि मनि जेहि भाँती। जोगवहिं जननि सकल दिनराती॥
ते अब फिरत बिपिन पदचारी। कंद मूल फल फूल अहारी॥
धिग कैकई अमंगल मूला। भइसि प्रान प्रियतम प्रतिकूला॥
मैं धिग धिग अघ उदधि अभागी। सबु उतपातु भयउ जेहि लागी॥
कुल कलंकु करि सृजेउ बिधाताँ। साँइदोह मोहि कीन्ह कुमाताँ॥
(१९८-९९)

ओहो! कैसे हृदयवेधी वचन हैं ये श्रीभरतजीके। और मानसकारने कैसे दिल छेदनेवाले शब्दोंमें श्रीभरतजीका भाव प्रकट किया है! निषाद श्रीभरतजीको बहुत धैर्य देता है और किसी तरह रात बिताकर सबेरे सारे समाजको पार करा श्रीभरतजी सबसे पीछे प्यादे ही चलते हुए प्रयाग पहुँचते हैं। पैदल ही सारा रास्ता काटनेसे उनके पैरोंमें छाले पड़ जाते हैं जो ऐसे लगते हैं मानो कमलकी कलियोंपर ओसकी बूँदें चमकती हों। सेवक जो घोड़ोंकी बाग पकड़े साथ-साथ चल रहे हैं बार-बार आग्रह करते हैं कि नाथ घोड़ेपर सवार होइये। परन्तु भरतजी उत्तर देते हैं—

रामु पयादेहिं पायँ सिधाए। हम कहँ रथ गज बाजि बनाए॥
सिरभर जाउँ उचित अस मोरा। सब तें सेवक धरमु कठोरा॥
(२०२. ३-४)

श्रीप्रयागराजमें गंगा-यमुनाके संगममें स्नान करके श्रीभरतजी अहा! कैसी प्रार्थना करते हैं। वे कहते हैं—

सकल कामप्रद तीरथराऊ। बेद बिदित जग प्रगट प्रभाऊ॥
मागउँ भीख त्यागि निज धरमू। आरत काह न करइ कुकरमू॥
(२०३. ३-४)

अभिप्राय यह कि क्षत्रियका धर्म भीख माँगना नहीं है; पर मैं अपना धर्म छोड़कर भी भीख माँगता हूँ, क्योंकि महादुखी क्या-क्या कुकर्म नहीं करते। अब सुनिये आप क्या भीख तीर्थराजसे माँगते हैं—

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन॥

फिर क्या कहते हैं—

जानहुँ रामु कुटिल करि मोही। लोग कहउ गुर साहिब द्रोही॥
सीताराम चरन रति मोरें। अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरें॥

तदनन्तर श्रीभरतजी भरद्वाजमुनिके आश्रममें पधारते हैं। उस पवित्र दशाका वर्णन करनेमें श्रीमानसकारने कमाल कर दिया है। लिखते हैं—

दंड प्रनामु करत मुनि देखे। मूरतिमंत भाग्य निज लेखे॥
(२०५. २)

मानो उनका सौभाग्य ही मूर्तिमान् होकर श्रीभरतजीके रूपमें आया हो। फिर दौड़कर आगे बढ़े और—

धाइ उठाइ लाइ उर लीन्हे। दीन्हि असीस कृतारथ कीन्हे॥
आसनु दीन्ह नाइ सिरु बैठे। चहत सकुच गृहँ जनु भजि पैठे॥

भरतजी संकोचके मारे ऐसे बैठे मानो लज्जाके घरमें दौड़कर घुसना चाहते हों। लाज इस बातकी है कि मुनि महाराज कुशल पूछेंगे तो क्या उत्तर दूँगा। मुनि महाराज उनका यह स्नेह, शील और संकोच देखकर गद्गद हो गये और आप ही कहते हैं—

सुनहु भरत हम सब सुधि पाई। बिधि करतब पर किछु न बसाई॥

श्रीभरतजीका बहुत कुछ समाधान करके श्रीभरद्वाजजी जो प्रशंसा श्रीभरतजीकी करते हैं उसके आगे त्रिलोकीका राज्य भी तुच्छ है। श्रीभरद्वाजजी कहते हैं—

तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरें देह जनु राम सनेहू॥
× × × ×
नव बिधु बिमल तात जसु तोरा। रघुबर किंकर कुमुद चकोरा॥
उदित सदा अँथइहि कबहूँ ना। घटिहि न जग नभ दिन दिन दूना॥
कोक तिलोक प्रीति अति करिही। प्रभु प्रताप रबि छबिहि न हरिही॥
निसि दिन सुखद सदा सब काहू। ग्रसिहि न कैकइ करतबु राहू॥
पूरन राम सुप्रेम पियूषा। गुरु अवमान दोष नहिं दूषा॥
राम भगत अब अमिअँ अघाहूँ। कीन्हेहु सुलभ सुधा बसुधाहूँ॥
× × × ×
कीरति बिधु तुम्ह कीन्ह अनूपा। जहँ बस राम प्रेम मृगरूपा॥
× × × ×
सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस बन रहहीं॥
सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसनु पावा॥
तेहि फल कर फलु दरस तुम्हारा। सहित पयाग सुभाग हमारा॥
भरत धन्य तुम्ह जसु जगु जयऊ। कहि अस प्रेम मगन मुनि भयऊ॥
(२०८-२०९)

अहो धन्य है श्रीमान् गोस्वामीजी जिन्होंने श्रीभरद्वाजजी-के मुखारविन्दसे ऐसे शब्द कहलाकर श्रीभरतजीकी अखण्ड महिमा प्रकट की है। श्रीभरद्वाजजी कहते हैं कि—सुनो, भरतजी! हम झूठ नहीं कहते, तपस्या करते हुए वनमें रहते हैं, हमारा चिकनी-चुपड़ीसे क्या काम? सच तो यह है कि सब साधनोंका सुन्दर फल तो यह मिला कि श्रीराम-लक्ष्मण-सीताजीके दर्शन हुए। और इस फलका भी महाफल यह मिला कि तुम्हारा दर्शन हुआ। सो केवल हमारा ही नहीं, सारे प्रयागका धन्य भाग्य है! यह कहकर मुनिराज प्रेममें मग्न हो गये!

श्रीभरतजीने जो उत्तर इन अमृतवचनोंका दिया उसको सुनकर सब सभासद् बड़ाई करते हैं और उन भक्ति-प्रेमपूर्ण दीन वचनोंको सुनकर मुनि महाराज आश्वासन देते हैं कि श्रीरामजीके चरणोंके दर्शनसे सब दुःख मिट जायँगे?

फिर श्रीभरतजी भरद्वाज मुनिसे विदा लेकर अगाध भक्तिमें भरे हुए जब आगे चलते हैं तो इन्द्रको बड़ी भारी फिकर लग जाती है कि भरतजी अपने भक्तिप्रभावसे श्रीरामजीको लौटा ले जावेंगे और अपने गुरु महाराज बृहस्पतिजीसे प्रार्थना करते हैं कि कोई ऐसा उपाय कीजिये जिससे श्रीरामचन्द्रजी-की भरतजीसे भेंट ही न होने पावे क्योंकि—

रामु सँकोची प्रेम बस भरत सप्रेम पयोधि।
बनी बात बेगरन चहति करिअ जतनु छलु सोधि॥
(२१७)

इन्द्रकी यह प्रार्थना सुनकर गुरुजी मुस्कुराये और इन्द्रको हजार आँखें होनेपर भी उसे अन्धा समझा और धमकाया कि यहाँ खोटी चाल चलना वृथा है। छल छोड़

दो। यहाँ कपट करनेसे भंडा फूट जायगा और तुम्हारी दुर्गति होगी—

मायापति सेवक सन माया। करइ त उलटि परइ सुरराया॥
तब किछु कीन्ह राम रुख जानी। अब कुचालि करि होइहि हानी॥
सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ। निज अपराध रिसाहिं न काऊ॥
जो अपराधु भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई॥

× × × ×

भरत सरिस को राम सनेही। जगु जप राम रामु जप जेही॥

× × × ×

अस जियँ जानि तजहु कुटिलाई। करहु भरत पद प्रीति सुहाई॥

× × × ×

सत्यसंध प्रभु सुर हितकारी। भरतु राम आयसु अनुसारी॥
स्वारथ बिबस बिकल तुम्ह होहू। भरत दोसु नहिं राउर मोहू॥
(२१७-२१८)

इन्द्रको जब इस प्रकार गुरु बृहस्पतिजीने फटकार बतायी कि तुम स्वार्थके वश व्याकुल हो रहे हो इसमें भरतका दोष नहीं, तुम्हारा अपना अज्ञान है, तब इन्द्रका अज्ञान दूर हुआ और वे भरतजीके स्वभावकी सराहना करते हुए उनपर फूल बरसाने लगे। इस प्रकार श्रीभरतजी श्रीरामभक्तिमें परम मग्न होते हुए जा रहे हैं। उनकी दशा देख सिद्ध-मुनि भी एकाएक कहते हैं कि धन्य है भरतजीका प्रेम! इस प्रकार रास्तेमें पड़ाव डालते हुए भरतजी यमुनातीर आये और जलको देखकर उन्हें श्रीरामचन्द्रजीका सुन्दर श्याम शरीर स्मरण हो आया और वे वियोगरूपी समुद्रमें मग्न होते हुए भी ज्ञानरूपी जहाजपर चढ़ गये, अर्थात् उन्होंने धीरज धर लिया। यमुना पार होकर आगे चले। मार्गमें रहनेवाले नर-नारी घरका धन्धा छोड़कर उनके दर्शनोंको प्रेमपूर्वक दौड़-दौड़कर आते हैं और जन्मका फल पाकर प्रसन्न होते हैं। सब प्रसंग जानकर सब स्त्रियाँ भरतके शील, प्रेम, स्वभावकी सराहना करके अपनेको बड़भागी मानने लगीं और कहती हैं—

चलत पयादें खात फल पिता दीन्ह तजि राजु।
जात मनावन रघुबरहि भरत सरिस को आजु॥

भायप भगति भरत आचरनू। कहत सुनत दुख दूषन हरनू॥
जो कछु कहब थोर सखि सोई। राम बंधु अस काहे न होई॥
हम सब सानुज भरतहि देखें। भइन्ह धन्य जुबती जन लेखें॥

भरतजीकी महिमासे प्रभावित हुई वे कहती हैं कि कैकेयी इस योग्य नहीं थीं कि भरत-जैसे सुपूत उनके गर्भसे जन्म लेते।

उस दिन रास्तेमें निवास करके सबेरे ही श्रीभरतजी समाजसहित चल दिये और सोचने लगे कि अब श्रीरामके दर्शन होंगे, क्योंकि अब उनके आश्रमके पास ही पहुँच रहे हैं। उस समयका कैसा सुन्दर चित्र मानसकारने खींचा है—

भरतहि सहित समाज उछाहू। मिलिहहिं रामु मिटिहि दुख दाहू॥
करत मनोरथ जस जियँ जाके। जाहिं सनेह सुराँ सब छाके॥
सिथिल अंग पग डगमग डोलहिं। बिहबल बचन प्रेम बस बोलहिं॥
राम सखाँ तेहि समय देखावा। सैल सिरोमनि सहज सुहावा॥
जासु समीप सरित पय तीरा। सीय समेत बसहिं दोउ बीरा॥
देखि करहिं सब दंड प्रनामा। कहि जय जानकि जीवन रामा॥
प्रेम मगन अस राज समाजू। जनु फिरि अवध चले रघुराजू॥
सकल सनेह सिथिल रघुबर कें। गए कोस दुइ दिनकर ढरकें॥
जलु थलु देखि बसे निसि बीतें। कीन्ह गवनु रघुनाथ पिरीतें॥
(२२४-२२५)

इधर श्रीभरतजी श्रीरामजीसे मिलनेको चले कि उधर अपने आश्रमसे उत्तर दिशामें धूल उठते और बहुत-से पशु-पक्षी आश्रमकी ओर भागते हुए देखकर श्रीरामजी उठे। इतनेमें वनवासियोंने खबर दी कि भरतजी आ रहे हैं और यह भी एकने कहा कि साथमें चतुरंगिणी सेनाकी भी बड़ी भारी भीड़ है। भरतजीका आगमन सुनते ही श्रीरामचन्द्रजीके हृदयमें आनन्द छा गया और उनके शरद्ऋतुके कमल-समान नेत्रोंमें प्रेमका जल भर आया। किन्तु भरतजी उनको लौटानेके लिये आ रहे हैं इस बातसे उनको बड़ा सोच हुआ। इधर तो पिताका वचन और उधर प्यारे भाई भरतका संकोच! करें तो क्या करें, फिर यह समझकर मनमें समाधान हो गया कि भरतजी साधु हैं, बुद्धिमान् हैं और आज्ञाकारी हैं। इधर लक्ष्मणजीके चित्तमें यह सन्देह हुआ कि सेनाको साथ लेकर भरतजी श्रीरामको धराशायी करके अकण्टक राज्य करनेकी नीयतसे आये हैं, बस फिर क्या था! उनके हृदयमें क्रोध और वीररस उमड़ आया और श्रीरामजीको चिन्तित देखकर हाथ जोड़कर बोले—

बिनु पूछें कछु कहउँ गोसाईं। सेवकु समयँ न ढीठ ढिठाई॥
तुम्ह सरबग्य सिरोमनि स्वामी। आपनि समुझि कहउँ अनुगामी॥
बिषई जीव पाइ प्रभुताई। मूढ़ मोह बस होहिं जनाई॥
(२२६-२२७)

भरतु नीति रत साधु सुजाना । प्रभुपद प्रेमु सकल जगु जाना ॥
तेऊ आजु राम पद पाई । चले धरम मरजाद मेटाई ॥
कुटिल कुबंधु कुअवसरु ताकी । जानि रामु बनबास एकाकी ॥
करि कुमंत्र मन साजि समाजू । आए करै अकंटक राजू ॥
कोटि प्रकार कलपि कुटिलाई । आए दल बटोरि दोउ भाई ॥
जौं जियँ होति न कपट कुचाली । केहि सोहाति रथ बाजि गजाली ॥
भरतहि दोसु देइ को जाएँ । जग बौराइ राज पदु पाएँ ॥

भरतजीका कहना आरम्भमें ही कैसा सच निकला कि सिवा श्रीरामचन्द्रजी और सीताजीके संसारमें कोई नहीं कहेगा कि रामजीके वनवासमें मेरी सम्मति न थी । यहाँ श्रीलक्ष्मण-जीकी यह दशा थी तो वहाँ किन्हीं-किन्हीं अयोध्यावासियोंकी तथा निषाद आदिकी भी यही दशा हुई थी । हा ! हा ! सरल, सुशील, रामचरणानुरागी, रामभक्त श्रीभरतजीकी कैसी अवस्था थी कि जिसे देखकर करुणा भी बिसूर-बिसूरकर रुदन करती है, परन्तु भरतजी इस अङ्गारोंभरी भट्ठीमेंसे कैसे कुन्दन होकर निकलते हैं ! (शेष आगे)

यह धर्म-विप्लव क्यों ?

(लेखक—पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी)

वर्तमान मानवसमाजका गम्भीरताके साथ अध्ययन करनेपर ऐसा अनुभव होता है कि भोगाभिमुखताकी अभूतपूर्व अभिवृद्धि हो रही है । सारा समाज मनोमुखी हो रहा है । जो काम मनको अप्रिय लगे वही अधर्म, जो वस्तु मनस्तुष्टिमें बाधक हो वही अनावश्यक, जो शास्त्र, धर्म, व्यक्ति अथवा ईश्वर मनकी उच्छृङ्खलताओं-का निवारण करना चाहें वही त्याज्य—वर्तमानकालकी यही मनोवृत्ति है । इस मनोवृत्तिका उद्गम धर्म-भूमि भारतवर्ष नहीं है, दूसरे भोगप्रधान देश ही हैं; फिर भी इस मनोवृत्तिका शिकार होनेसे भारतवर्ष भी नहीं बचा है, यहाँ भी यह बीमारी आ चुकी है ।

समाजमें प्रायः दो प्रकारके लोग देखे जाते हैं—एक तो वे जो सद्बुद्धिसे विचार करके किसी विषयका निर्णय करते हैं और फिर उसकी ओर अर्थात् सद्बुद्धि-द्वारा निर्णीत आदर्शकी ओर अपने मनको चलानेकी चेष्टा करते हैं; दूसरे वे हैं जो मनको अच्छी लगनेवाली वस्तुओंके पीछे अपनी बुद्धिको दौड़ाते हैं और उन्हीं-को प्राप्त करनेके लिये नाना प्रकारकी युक्ति एवं उपाय सोचते तथा करते हैं । सद्बुद्धि वह है जो सब देशमें, सब समयमें और सब वस्तुओंमें रहनेवाले अनन्त आनन्दको ढूँढ़ निकाले और मनको उसीके रसास्वादनमें लगा दे । यह केवल कल्पना अथवा आदर्शकी ही बात नहीं है, भारतीय ऋषियोंने—संतोंने उस आनन्दको ढूँढ़ निकाला है और उसका साक्षात् अनुभव किया है । शारीरिक कर्मोंको मर्यादित एवं मनोवृत्तियोंको बुद्धिकी अनुगामिनी बनाकर उन लोगोंने जिस 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' वस्तुकी उपलब्धि की है, वह मनोमुखी भोगप्रधान व्यक्तियों, जातियों अथवा देशोंकी बुद्धिमें अबतक आ ही नहीं सकी है, यह बात घंटाघोषके साथ कही जा सकती है ।

मनुष्य ज्ञानप्रधान प्राणी है, आपातरम्य विषयोंकी ओर झुकना इसका स्वभाव नहीं है; फिर भी हिन्दू-दर्शनोंके अनुसार अनेक जन्मोंमें मनुष्येतर होनेके कारण मनुष्योंमें भी अभी पूर्वयोनियोंके संस्कार अवशेष हैं, जिनके कारण वह पशु निर्विशेष होकर विषयोंकी ओर दौड़ता है । पशु मनःप्रधान अथवा भावप्रधान प्राणी है । जो वस्तु सामने आयी, अच्छी लगी, उसकी ओर दौड़ पड़ना पशुका स्वभाव है; वह विचार करना नहीं जानता । मनुष्य विचार करना जानता है । जब मनुष्य अपनी पाशविक प्रवृत्तियोंको चरितार्थ करनेके लिये बुद्धिका उपयोग करने लगता है तब वह संसारके लिये इतना क्रूर और हिंस्र पशु हो

उठना है कि वह सारे संसारमें अशान्ति, हिंसा और दुःखकी सृष्टि कर देता है। आज धन, अधिकार और राज्यके लिये मनुष्यबुद्धिने कितनी तोप, मशीनगन, गैस और अन्यान्य प्राणघातक वस्तुओंकी सृष्टि की है, यह बात विचारशीलोंसे छिपी नहीं है।

ऐसे ही मनोमुखी लोगोंने अपनी इच्छापूर्तिमें बाधक देखकर ईश्वर, धर्म और उनके प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रोंका विरोध खड़ा किया है। यदि वे मनुष्योंके अच्छे-बुरे कर्मोंका फल देनेवाले ईश्वर, अच्छे-बुरे कर्मरूप धर्म-अधर्म और उनके व्यवस्थापक शास्त्रोंकी सत्यता स्वीकार करें तो उनकी मनोमुखी प्रवृत्ति, विचारके द्वारा उसका समर्थन और अमर्यादित उच्छृङ्खलताओंका विस्तार ही न हो सके। इसलिये उन्होंने खुले शब्दोंमें धर्म और ईश्वरका विरोध करना शुरू कर दिया और बड़े साहसके साथ वे अपने कल्पित सिद्धान्तोंका प्रचार कर रहे हैं। विदेशोंकी बात तो जाने दीजिये, धर्मप्राण भारतवर्षमें भी ऐसे लोगोंकी कमी नहीं है जो विभिन्नरूपोंमें धारासभा, शिक्षासंस्था, राष्ट्रीय सभा, भाँति-भाँतिके मण्डल आदिमें सम्मिलित होकर या उनके जन्मदाता होकर ईश्वर और धर्मके विरुद्ध अपनी मनगढ़ंत बातोंका प्रचार-प्रसार कर रहे हैं। यद्यपि इनका प्रचार दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है, तथापि इनकी स्पष्टवादिताके कारण भारतीय धार्मिकोंपर इनका प्रभाव बहुत ही कम है। फिर भी वह उपेक्षा करने योग्य नहीं है। धार्मिकजन यदि चाहें तो थोड़े ही परिश्रमसे इनके प्रचारको व्यर्थ कर सकते हैं, क्योंकि इनका मत भारतीय जनमतके लिये सर्वथा अस्वाभाविक है। यह पश्चिमी हवा बहुत जोरदार मालूम होनेपर भी भारतवर्षमें बहुत दिनोंतक नहीं ठहर सकती।

धर्मविप्लवकारियोंकी दूसरी श्रेणी पहलीसे भयङ्कर है, वह बड़ी-बड़ी युक्तियोंसे ईश्वर और धर्मकी सत्ता सिद्ध करती है और उन्हें उपयोगी बतलाकर लोगोंको उनकी ओर अग्रसर होनेके लिये प्रोत्साहित भी करती है; परन्तु उस श्रेणीके लोग प्राचीन शास्त्रोंकी महत्ता स्वीकार नहीं करते, वे मनमाने ढंगसे ईश्वर और धर्मके स्वरूपका निर्णय करते हैं। लोकहितकी दृष्टिसे और उनकी त्याग-तपस्याके प्रभावसे वर्तमान जनमत उनकी बातोंको स्वीकार भी कर लेता है, क्योंकि वे बातें बुद्धिग्राह्य होती हैं। किन्तु गम्भीरतासे विचार करनेपर पता चलता है कि धर्म और ईश्वरके स्वरूप-निर्णयमें किसी व्यक्ति या समाजकी युक्तियोंको प्रमाण मान लेना उनको निराधार और परिवर्तनशील बना देना है। देश और कालके भेदसे उपयोगितामें परिवर्तन होता रहता है। व्यक्ति और समाजकी बुद्धि-वृत्ति समय-समयपर बदलती रहती है। आज किसीका तर्क अकाट्य मालूम होता है, परन्तु कल ही वह निस्सत्त्व जँच सकता है, क्योंकि उससे अधिक पुष्ट तर्ककी उद्भावना सम्भव है। धर्म और ईश्वर मन एवं इन्द्रियोंके विषय नहीं हैं, उनके कार्य, कारण और स्वरूप अतीन्द्रिय एवं असंवेद्य हैं। वे केवल क्रियागत नहीं हैं मनके सूक्ष्म-से-सूक्ष्म स्तरमें निवास करते हैं। इसलिये लौकिक वस्तुओंकी भाँति उनका विवेचन और विश्लेषण नहीं किया जा सकता। धर्मकी आवश्यकता केवल शरीर और शरीरसुखकी दृष्टिसे नहीं है, अन्तरात्माकी दृष्टिसे है। अन्तरात्माके सम्बन्धमें जिसकी दृष्टि जितनी ऊँची है, जिसका अनुभव जितना विशाल है, वह उतना ही अधिक जान सकता है। शरीरका जीवन अधिक-से-अधिक सौ वर्ष अथवा कुछ ही सौ वर्षका है। अन्तरात्माका जीवन अपरिमित है और उसीसे धर्मका सम्बन्ध है। इसलिये धर्मका निर्णय करनेमें केवल अपौरुषेय वाणी अथवा पारदर्शी ऋषियोंकी ऋतम्भरा प्रज्ञा ही प्रमाण हो सकती है। जो लोग इसके विपरीत अथवा परम्परागत

सदाचारके विपरीत अपनी युक्तियों, तर्कों और अनुमानोंके द्वारा, धर्म तथा ईश्वरके स्वरूपका निर्णय करना चाहते हैं, वे युक्तियोंको ईश्वर और धर्मका भी मूल बतलाकर अपनी मनोवृत्तियोंको उनसे भी अधिक महत्त्व देते हैं और यदि यह मनोवृत्ति नष्ट न हुई तो वे एक दिन ईश्वर और धर्मको मानस कल्पना कहकर तिरस्कृत करनेमें भी नहीं हिचकेंगे। पहली श्रेणीकी अपेक्षा धर्मविप्लवकारियोंकी यह दूसरी श्रेणी अधिक प्रबल है और बहुत बड़े-बड़े विद्वान् इस श्रेणीके अन्तर्गत हैं। इनमेंसे कुछ लोग अपना नया पंथ चलाना चाहते हैं और कुछ लोग अपनी विद्वत्ताका प्रदर्शनमात्र करना चाहते हैं। कुछ लोग जान-बूझकर कूटनीतिसे धर्म और ईश्वरको अनवस्थित करना चाहते हैं। चाहे जो हो, जान या अनजानमें इन लोगोंके द्वारा ऐसी चेष्टा हो रही है जिससे शास्त्रपर लोगोंकी अनास्था हो जाय और शास्त्रमूलक धर्म तथा ईश्वर अनवस्थित हो जायं।

धर्मविप्लवकारियोंकी एक तीसरी श्रेणी और भी है, जो पहली और दूसरीकी अपेक्षा अधिक भयङ्कर है, यद्यपि लोगोंकी दृष्टि इस ओर कम पड़ती है। इस श्रेणीके लोग धर्मको मानते हैं, ईश्वरको मानते हैं, शास्त्रोंको भी मानते हैं, इसलिये सर्वसाधारण उन्हें धर्मप्रेमी, ईश्वरपरायण और सनातनधर्मी समझते हैं। इसीसे उनका विरोध नहीं होता, विश्वास बढ़ता जाता है और भीतर-ही-भीतर वे ऐसा प्रयत्न करते हैं, या अनजानमें ही उनसे ऐसी चेष्टा हो जाती है, जिससे शास्त्रोंका अर्थ ही सन्दिग्ध हो जाय। इस समय ऐसे लोगोंकी संख्या बड़े वेगसे बढ़ रही है।

हमारे प्राचीन वेद-शास्त्र अनादिकालसे हैं, प्रत्येक कल्पके प्रारम्भमें ब्रह्मा और बड़े-बड़े ऋषि उनका स्मरण करते हैं और शिष्य-प्रशिष्य-परम्पराके द्वारा उनका विस्तार करते हैं। आजसे लाखों वर्ष पूर्वकी वाक्यरचना, शब्दविन्यास तथा भाव प्रकट करनेकी शैली आजके समान नहीं थी, विलक्षण प्रकारकी थी। जैसे आजकल अपनी देशभाषा सब लोग समझ लेते हैं, वैसे ही उस समयके लोग उस भाषाको समझते थे और उसके अनुसार आचरण करते थे। समयके फेरसे सूर्य, अग्नि एवं गायत्रीकी उपासना शिथिल पड़ने लगी, वेदोक्त सदाचारका ह्रास होने लगा, लोगोंकी बुद्धि, शक्ति, आयु क्षीण होने लगी और वह भाषा जन-सम्पर्कसे कुछ दूर हो गयी। अब वेदोंके तात्पर्यका निर्णय कैसे किया जाय? अथवा आगेके लोग इसका निर्णय कैसे करेंगे? यह चिन्ता ऋषियोंको हुई, उन्होंने वेदार्थ-निर्णयके लिये पूर्वोत्तरमीमांसाकी रचना की। वेदके कर्मकाण्डात्मक भागका अर्थनिर्णय पूर्वमीमांसामें हुआ है और उपासना-ज्ञानकाण्डात्मक श्रुतियोंका तात्पर्यनिर्णय उत्तरमीमांसामें हुआ है। श्रुतियोंका वास्तविक तात्पर्य मीमांसासम्मत ही है, क्योंकि आजकलकी भाषा और भावप्रकटन-शैलीके अनुसार उनका अर्थ लगाना अन्याय है।

वर्तमान मानवसमाजकी अहंकारपूर्ण मनोमुखी प्रवृत्तिने शास्त्रोंको भी अछूता नहीं छोड़ा। शास्त्रोंके मर्मको श्रद्धापूर्वक समझनेकी चेष्टा न करके उनके सम्बन्धमें अपने-अपने मनके अनुकूल धारणाएँ की गयीं। ऋषियोंके अनुभवसिद्ध ज्ञानको तर्ककी कसौटी-पर कसनेका प्रयास किया गया, जिससे व्यक्तित्व और व्यक्तिगत विचारोंका प्रचार होकर शास्त्रोंका वास्तविक अर्थ दूर हो गया। आचार्योंने परम्परागत विद्या और सदाचारके अनुसार मीमांसा-पद्धतिसे जो अर्थ किया था, उसका प्रकारान्तरसे विरोध किया गया, जिससे सामान्य पुरुष भी शास्त्रोंका मनमाना अर्थ करनेके लिये उत्साहित हुए।

किसी भी सर्वमान्य ग्रन्थकी नवीन ढंगसे व्याख्या करनेकी प्रवृत्ति भी बढ़ती जा रही है। अपनी बुद्धिसे

निकले हुए भाव अपनेको स्वाभाविक ही प्रिय लगते हैं और युक्तियुक्त जँचते हैं तथा जो बात अपनेको युक्तियुक्त मालूम होती है, उसका प्रचार करनेकी भी स्वाभाविक ही इच्छा होती है। समान विचारके लोग भी प्रायः सभीको मिल जाते हैं, जो उन भावोंका समर्थन करते हैं और इस प्रकार उन विचारोंका एक सम्प्रदाय-सा बन जाता है। यद्यपि सब लोगोंकी मनोवृत्ति एक-सी नहीं होती, कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जिनके मनमें व्यक्तित्वके प्रचारकी कोई इच्छा नहीं होती, फिर भी उनके द्वारा इस धर्मविप्लवको प्रोत्साहन मिलता ही है। कहनेका तात्पर्य यह कि प्राचीन आध्यात्मिक ग्रन्थोंकी परम्परागत व्याख्याओंकी अवहेलना कर, उनके प्रति जनतामें अनास्था उत्पन्न कर देना भी प्रकारान्तरसे बढ़ते हुए धर्मविप्लवमें सहायता पहुँचाना है।

यह बात सर्वथा निश्चित है कि समस्त शास्त्रोंका तात्पर्य एक ही है। ऋग्वेदसे लेकर आधुनिक धर्मसिन्धु, निर्णयसिन्धु आदि निबन्धपर्यन्त शास्त्रग्रन्थोंमें जिस सत्यका प्रतिपादन हुआ है, वह विभिन्न नहीं है। ऐसी स्थितिमें मीमांसा-पद्धतिके अनुसार जो अर्थ होता है वह समस्त शास्त्रोंके सब प्रकरणोंके वचनोंकी एकवाक्यता करता है, उनकी संगति और व्यवस्था बैठाता है। शास्त्रोंमें ही परस्पर विरोध हो, कोई प्रसंग उपेक्षणीय अथवा त्याज्य हो तो शास्त्रोंकी प्रामाणिकता ही नहीं रहती। जो लोग नये ढंगसे अर्थ करते हैं, उनमें सबसे बड़ी त्रुटि यह रहती है कि वे समस्त शास्त्रवचनोंकी एकवाक्यता और विरोध-परिहार करनेमें असमर्थ होते हैं, उन्हें कई प्रसंग प्रक्षिप्त कहने पड़ते हैं, उनका विरोध करना पड़ता है अथवा उनके सम्बन्धमें उपेक्षा भाव ग्रहण करके मौन ले लेना पड़ता है। दूसरे लोग उनके मौनसे लाभ उठाते हैं और शास्त्रोंकी निन्दा करनेमें एक प्रमाण संग्रह कर लेते हैं।

धर्मविप्लवकारियोंकी चौथी श्रेणी बहुत ही आश्चर्यजनक है। इस श्रेणीमें ऐसे लोग आते हैं जो अपनी धार्मिकताका विज्ञापन करते हुए भी स्वयं धर्माचरण नहीं करते। वर्तमान समयमें ऐसे विज्ञापनदाताओंकी संख्या बहुत बढ़ गयी है। धर्मके सम्बन्धमें लम्बे-लम्बे व्याख्यान देनेवाले, गम्भीर विचारपूर्ण लेख लिखनेवाले, शास्त्रोंके विद्वान् और प्रचारक जब काम, क्रोध, लोभ, भयके कारण अथवा मान, प्रतिष्ठा, कीर्ति आदिके लोभसे धर्मसे विचलित देखे जाते हैं, तब साधारण जनता भी धर्मसे विचलित होना स्वाभाविक मान लेती है। धर्मके नेताओंकी ऐसी स्थिति देखकर धर्मविरोधी उससे अनुचित लाभ उठाते हैं और धर्मविप्लवके प्रचारमें शक्तिशाली होते हैं। इस रूपमें हम धार्मिक ही धर्मविप्लवमें कारण बन रहे हैं।

हम भूल गये हैं कि भारत-भूमि भोगभूमि नहीं है, धर्मभूमि है; आर्यजाति केवल बहिर्मुख और इन्द्रियभोगोंको चाहनेवाली नहीं है, समस्त विषयभोगोंकी उपेक्षा करके अनन्त आत्मसाम्राज्यके सिंहासनकी अधिकारिणी है; हिन्दूशास्त्र केवल भावनाओं और कल्पनाओंके आधारपर निर्मित नहीं हुए हैं, उनका आधार परम पवित्र अनुभव और सर्वोच्च सत्य है। इस भूलके कारण ही आज हमारी प्रवृत्ति मनोमुखी हो गयी है और हम अपनी इच्छापूर्तिके लिये धर्मके नामपर अनेकों अनर्थ कर रहे हैं। जो लोग धर्मज्ञ हैं, वे धर्मप्रचारसे उदासीन हो रहे हैं; हम लोग, जो धर्मप्रचारके लिये कार्यक्षेत्रमें उतरते हैं, उसके लिये अपेक्षित त्याग, तपस्या, पवित्रता और ज्ञानसे वञ्चित ही हैं। ऐसी परिस्थितिमें हमारे अन्दर दम्भ आ जाय, हम अशिष्टतावश किसीको गाली बकने लगें तो क्या आश्चर्य है!

धर्मप्रचारके लिये जितना साहित्य प्रकाशित हो रहा है, उसमें बहुत ही थोड़ा ऐसा है जो विशुद्धभावसे

धर्मप्रचारके हेतुको लेकर ही प्रकाशित किया गया हो। उसका केन्द्रबिन्दु कोई-न-कोई व्यक्ति है, जिसका प्रचार वे धर्म और ईश्वरके स्थानपर करना चाहते हैं। जहाँ हमारे विरोधी अपने व्यक्तित्व और शरीरका मोह त्याग करके धर्मविप्लवके कार्यमें लगे हुए हैं, वहाँ हम अपने व्यक्तित्वकी अभिवृद्धि और सांसारिक सुखोंके लिये जान या अनजानमें उनकी सहायता कर रहे हैं।

धर्मप्रचारकी प्रणाली आज रचनात्मक नहीं, ध्वंसात्मक हो गयी है। खण्डनपर हमारा जितना लक्ष्य है, उतना मण्डनपर नहीं। हम मूर्तिपूजा, अवतार, श्राद्ध आदिके विरोधियोंके खण्डनमें जितनी शक्तिका अपव्यय करते हैं, उसका आधा भी उनकी महत्ताके प्रचारमें नहीं करते। विधवा-विवाह विवाह-विच्छेद, वर्णाश्रमध्वंस आदिके प्रचारकोंको जली-कटी सुनानेमें हमारा जितना समय लगता है उसका कुछ अंश भी ब्रह्मचर्य, वर्णाश्रम, सतीत्व आदिके प्रचारमें नहीं लगता। हमारे आचार-व्यवहार इतने शुद्ध, सात्त्विक और आदर्श नहीं होते कि उन्हें देखकर एक बार धर्मविरोधी भी दाँतोंतले अँगुली दबा ले और कह उठे कि कितनी आदर्श धर्मनिष्ठा है। हम यह नहीं कहते कि धर्मविरोधियोंका खण्डन करना ही नहीं चाहिये, करना चाहिये और खूब करना चाहिये; परन्तु ऐसा समझकर करना चाहिये कि इन धर्म-विरोधियोंको भी धर्मविरुद्ध नहीं रहने देना है, धर्मके अनुकूल आचरण करनेवाला बनाना है। उनके मनमें धर्म और धार्मिकोंके प्रति दुर्भावना न हो और हमारे विनय आदि सद्गुणोंसे वे भी कुछ सीखें और यदि वे न सीखें तब भी उनके हृदयपर उनकी छाप तो बैठ ही जाय, ऐसा आचरण हमारी ओरसे होना चाहिये। अन्यथा आचरण करके हम उनके मनमें दौर्मनस्यका बीज बोते हैं, उनकी वृत्तियोंको प्रोत्साहित करते हैं और इस प्रकार हम स्वयं धर्मविप्लवके हेतु बन जाते हैं।

इस प्रकार संक्षेपमें धर्मविप्लवके हेतुओंकी विवेचना की गयी। और भी बहुत-से हेतु हो सकते हैं, इस धर्मविप्लवके निवारणका उपाय इस समय तो एकमात्र यही माळूम पड़ता है कि भगवान्का आश्रय लेकर निःस्वार्थभावसे शास्त्रविश्वास, धर्म और भगवद्भाव-नाओंकी महत्ताका प्रचार किया जाय और सच्चे हृदयसे उनके अनुसार आचरण किया जाय। यह कलियुग है दूसरे शब्दोंमें नाम-युग है, कीर्तन-युग है। धर्मके गूढ़ रहस्योंको समझनेवाले बहुत थोड़े-से लोग रह गये हैं, सबका हृदय कलुषित हो गया है, केवल भगवान्का नाम ही सबके हृदयको पवित्र करनेमें समर्थ है। आजका नवशिक्षित समाज प्राचीन आदर्शों और महापुरुषोंको भूलता जा रहा है। नाम-संकीर्तनकी पवित्र ध्वनियोंके द्वारा उनकी स्मृति जगायी जाय और अक्षुण्ण रक्खी जाय। यदि भगवान् राम और कृष्णकी स्मृति एवं स्मृति दिलानेवाले नाम भी अवशेष रह जायँगे और वे रहेंगे ही, तो फिर भी धर्मका संस्थापन और अधर्मका परिहार किया जा सकेगा। सब धार्मिक, धार्मिकोंकी सब संस्थाएँ अवान्तर मतभेद रखते हुए भी केवल भगवान्के नाम-संकीर्तनकी ध्वजाके नीचे संगठित हो जायँ। एक स्वरसे—एक हृदयसे भगवन्नामका मधुर संगीत गाकर सारे आकाशमण्डलको प्रतिध्वनित कर दें। उस ध्वनिसे धर्मविरोधियोंकी अन्तरात्मा भी पवित्र होगी और वे धर्मकी महत्ता समझकर धर्मप्रेमी बन जायँगे। धर्म-विप्लवके प्रबलतम कारणोंको देखते हुए एकमात्र भगवन्नाम-की शरण लेना ही धर्मरक्षाका अमोघ उपाय निश्चित होता है। क्या धर्मप्रेमी सज्जन इस ओर ध्यान देंगे?
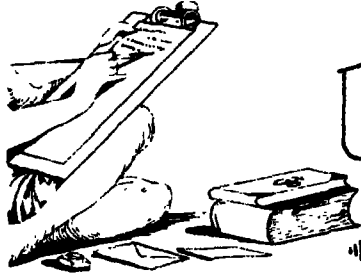
(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

चिट्ठी भेजी सो पहुँच गयी है। तुम भी तो मेरे मित्र ही हो, पर भाई धनसे तुम्हारी तृप्ति नहीं होती, तब क्या उपाय हो ? तुम्हारी भूखका कुछ पता नहीं लगता। तुम्हारे पास इतने रुपये हैं कि तुम उनका ब्याज भी नहीं खर्च कर सकते, फिर भी काम बढ़ाते जाते हो, यह दुःखका मूल है। अधिक धन लेकर क्या करोगे ? सब लोग धनको यहीं छोड़कर चले जाते हैं। तुम्हारे साथ भी कुछ नहीं जायगा। इसलिये जल्दी ही सचेत हो जानेकी आवश्यकता है। यदि तुम इस समय भी चार-छः घंटेका समय भजनके लिये नहीं निकाल सकते तो पीछे ऐसा मौका कब मिलेगा ?

तुम्हारा यह लिखना कि 'आपकी नजर रहनेसे सब कुछ ठीक हो सकता है' केवल लिखनामात्र है। मैंने तो बहुत बार लिखा और कहा, पर तुम उसे ध्यानमें नहीं लाते तो मेरा क्या वश है ? मनुष्यकी 'नजर' किस काम आवेगी ? नजर तो केवल भगवान्‌की चाहिये और वह सबपर बहुत अच्छी है ही, परन्तु कोई इसपर ठीक-ठीक विश्वास करे तब तो !

तुम मुझे अपना मालिक बनाते हो और अपनी देख-रेखका भार मुझपर सौंपते हो सो भाई ! इस प्रकार लिखने और कहनेमात्रसे कुछ भी काम नहीं बनेगा। यदि तुम मेरे भरोसे रहकर भजन नहीं करोगे तो मुझे तो इसका परिणाम पीछे पछताना ही नजर आता है। भजन ही तुम्हारा उद्धार कर सकता है। मुझमें कोई सामर्थ्य नहीं है। यदि तुम संसारके दुःख-रूपी जालसे निकलकर सच्चे और पूर्ण आनन्दकी प्राप्ति करके सदाके लिये सुखी होना चाहते हो तो मनसे सब कुछ छोड़कर केवल भगवान्‌के नाम-जप, ध्यान और सत्संगमें सदाके लिये अपनेको लगा दो। यदि मनुष्य धीरे-धीरे संसारके सब विषयोंसे प्रेम करना छोड़कर एकमात्र आनन्दस्वरूप भगवान्‌की भक्तिमें लग जाय तो बेड़ा पार हो सकता है। यह बहुत बड़ी चिन्ताकी बात है कि तुम्हारे-सरीखा मित्र भी इन बातोंको सुनी, अनसुनी कर दे।

भगवान्‌में ऐसी लौ लगानी चाहिये कि शरीरकी सुधि भी न रहे। यदि सब समय एक-सी लगन लगी रहे तो उद्धार होना कौन बड़ी बात है ? भगवान् कहते हैं कि जो हर समय उनमें लौ लगाये रहता है, वह अन्तमें उन्हींमें समा जाता है—

जैसी लौ प्रथमहिं लगी तैसी ही रहि जाय।
जाके हिरदै लौ बसै सो मोहि माहिं समाय॥

अतः आनन्दस्वरूपको छोड़कर तुम क्यों दुःखरूप संसारमें हर समय लौ लगाते हो ? यदि तुम्हें विश्वास है तो किस लिये मिथ्या रुपयोंमें मग्न हो रहे हो ? मग्न तो केवल भगवान्‌में होना चाहिये और ऐसा

होना चाहिये कि मन उन्हींके आनन्दमें रम जाय, उनके सिवा और कुछ भासे ही नहीं—

औरै सुरति बिसारि सब लौ लगि रहै असंग।
आव जाव कासे कहूँ मन रातो हरि रंग॥

तात्पर्य यह कि मनके आनन्दरूपमें रम जानेपर वह स्वयं भी आनन्दरूप हो जाता है। फिर दुःख तो स्वप्नमें भी नहीं भासता। जिस पुरुषका मन इस प्रकार भगवान्‌में रम जाता है, उसको अपना सारा कुटुम्ब और धन झंझट मालूम होने लगता है, फिर पीछे झंझट बढ़ानेवाले कामकाज भी आप-से-आप कम होने लगते है।

रुपयोंमें प्रेम होनेसे रात-दिन रुपये पैदा हों, इस प्रकारकी चेष्टा तथा उसी विषयकी स्फुरणाएँ हुआ करती हैं, जो मनुष्यको चैन नहीं लेने देतीं। इसी प्रकार भगवान्‌में प्रेम होनेसे और वे किस प्रकार मिलें, इसी विषयका चिन्तन होनेसे भगवान्‌की ही स्फुरणा होने लगती है। सो इसका विशेष ध्यान रखना चाहिये।

भजनका अभ्यास हर समय करते रहना चाहिये, चाहे इससे कोई नाराज ही क्यों न हो। नहीं तो पीछे बहुत पछताना पड़ेगा। कोई दूसरा काम नहीं आवेगा। यह सारा संसार एक दिन भस्म हो जानेवाला है—

हाड़ जरै ज्यों लाकड़ी केस जरै ज्यों घास।
सब जग जलता देखि कै भयो कबीर उदास॥

एक दिन सबका यही हाल होगा। काल भगवान् अपने आगमनकी किसीको सूचना नहीं देते, वे तो प्रतिक्षण मुँह बाये खड़े हैं। भगवान्‌ने आठ पहर चौंसठ घड़ी हमें रुपये कमाने और पेट भरनेके लिये नहीं भेजा है. चौरासी लाख योनियोंके भोगोंको भोगनेके उपरान्त बड़ी कठिनाईसे यह मनुष्य-शरीर हमें मिला है। अतः मनुष्यजन्मका वास्तविक उद्देश्य समझकर जगत्‌के मिथ्या प्रपंचोंको छोड़ देना चाहिये और उस उद्देश्यकी सिद्धिमें प्राणपणसे लग जाना चाहिये—

जीवन मरन बिचारि कै कोरे काम निवार।
जिन पंथा तोहि चालना सोई पंथ सँभार॥

इसलिये भाई! यदि तुमसे भगवान्‌के भजनका पुरुषार्थ नहीं हो सका तो पीछे बहुत पछताना पड़ेगा। अन्तसमयमें भगवान्‌के सिवा कोई दूसरा तुम्हारी सहायता नहीं कर सकेगा। संसारके दुःखरूपी समुद्रमें डूब रहे हो, यदि इससे उद्धार पाना है तो भगवान्‌को भजो। फुरसत न मिलनेका बहाना न करो। यहाँ किसीको फुरसत नहीं मिलती, परन्तु मरनेके समय सबको फुरसत मिल जाती है। समय बहुत तेजीसे बीतता चला जा रहा है, मृत्यु नजदीक है, उसे कोई एक पलके लिये भी नहीं टाल सकता। केवल भजन ही सहारा है। तन-मनसे भजन करनेमें लग जाओ।

(२)

आपने मनको स्थिर करनेका उपाय पूछा सो ठीक है। भगवान्‌के नामका जप, ध्यान और सत्संग करनेसे तथा संसारके ऐश-आराम, स्वाद और शौकीनीसे वैराग्यका अभ्यास करनेसे मन स्थिर हो सकता है। कुछ उपाय नीचे लिखे जाते हैं—

१—मन जहाँ-जहाँ जाय, वहाँ-वहाँ भगवान्‌के स्वरूप-चिन्तनका अभ्यास करना चाहिये।

२—अथवा मन जहाँ-जहाँ जाय, वहाँ-वहाँसे खींचकर भगवान्‌के स्वरूपमें लगाना चाहिये।

३—सत्संगकी बातोंको बहुत उत्तम और अनमोल समझकर मनको उन्हींमें लगाना चाहिये।

४—भगवान्‌के नामका जप मुँहसे तो करे ही, श्वासद्वारा लगातार जप करनेका भी अभ्यास करना चाहिये।

५—संसारमें जितनी भी वस्तुएँ दीखती हैं, सब मिथ्या

हैं। इस प्रकारकी धारणा करनेसे भी वैराग्य होकर मन स्थिर हो सकता है।

६–शरीर सब क्षण-भंगुर हैं; भोग सभी रोगरूप हैं तथा अन्तमें ग्लानि तथा दुःख उत्पन्न करनेवाले हैं, इस प्रकार समझनेसे भी जगत्से वैराग्य होकर मन स्थिर हो सकता है।

७–अथवा अपनी जो सबसे प्यारी वस्तु हो, उसमें भगवान्की भावना करके मनको स्थिर करनेका अभ्यास करना चाहिये।

और भी कई प्रकारके उपाय हो सकते हैं। इनमें-से एक उपायका भी अच्छी प्रकार अभ्यास कर लिया जाय तो मन स्थिर हो सकता है और भगवान्के भी दर्शन हो सकते हैं। इसलिये किसी-न-किसी उपायका अवलम्बन अवश्य करना चाहिये। जो मनुष्यशरीर पाकर अपना एक पल भी व्यर्थके काममें बिताता है, वह अपने बहुमूल्य रत्नको धूलमें मिला देता है।

(३)

मनुष्यको प्रतिक्षण भगवान्का भजन-ध्यान करना चाहिये। प्रत्येक समय ध्यान और नाम-जप करनेसे ही परमपद मिल सकता है।

रग रग बोले रामजी रोम रोम रंकार।
सहजे ही धुनि होत है सोई सुमिरन सार॥

इस प्रकारका स्मरण हृदयमें हर समय होता है। यदि उसमें मन लगा रहे तो फिर आनन्द-ही-आनन्द है। तथा हृदयमें बिना ही जपे जाप हो रहा है, उसमें मन लग जाय तो फिर क्या कहना है। भीतर जप तो हो ही रहा है, उसकी ओर ध्यान रखना चाहिये।

अजपा सुमिरन घट बिषे दीना सिरजनहार।
ताही सों मन लगि रहा कहै कबीर बिचार॥

निष्कामभावसे जितना ही अधिक ध्यान और जप हो, उतना ही अधिक करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। यही असली काम है।

(४)

आपने पूछा कि हर समय प्रेमका आविर्भाव किस प्रकार हुआ रहे सो ठीक है। भगवान्के गुणानुवाद, प्रभावके चिन्तन तथा नाम एवं स्वरूपके स्मरणसे ऐसा हो सकता है। यही नहीं, बहुत अधिक अभ्यास होनेसे तो निरन्तर प्रेम रह सकता है। किसी वस्तुका आविर्भाव तो उसके पूर्वकालमें तिरोभाव होनेपर ही होता है सो प्रेमका तिरोभाव होने ही क्यों दिया जाय? जो प्रेम निरन्तर बना रहता है, उसीकी महिमा है। अतः प्रेमको अक्षुण्ण बनाये रखनेका अभ्यास करना चाहिये।

आपने लिखा कि जिस प्रेमसे स्वयं श्रीभगवान् ही संतरूपमें दर्शन दें, वह प्रेम किस प्रकार हो सो ऐसा प्रेम नाम-जप तथा सत्संगके तीव्र अभ्याससे हो सकता है। अभ्यास विश्वासपूर्वक चेष्टा करनेसे ही बढ़ता है। अपनेमें पुरुषार्थकी न्यूनताका अनुमान करके निराश नहीं होना चाहिये। बल्कि उसके परायण होकर उसके लिये पूरी चेष्टा करनी चाहिये। सच्चिदानन्दघन भगवान्का ध्यान निरन्तर बना रहे, इस प्रकारकी कामना भले ही रहे, कोई हर्ज नहीं। इस तरहकी इच्छा तो साधन बढ़ानेमें हेतु है। जबतक निरन्तर साधन नहीं होने लगता, तबतक इस प्रकारकी उत्कण्ठा अवश्य रहनी चाहिये। प्रेमसहित भगवान्से मिलनेकी तीव्र लालसाका नाम ही उत्कण्ठा है। भगवान्में प्रेम और संसारसे तीव्र वैराग्य होनेके बाद तो बिना चेष्टा किये ही भगवान्के ध्यानमें निरन्तर स्थिति रहती है। परन्तु प्रेम और वैराग्यके लिये सत्संग और भजनकी तीव्र चेष्टा ही उपाय है।

जितना समय ऊपर लिखे हुए साधनोंके करनेमें

बीतता है, वही सर्वोत्तम है। संसारके कामोंमें मन लगाकर बिताये हुए समयको तो धूलमें गया समझना चाहिये। और ऐसा समझनेसे ही साधनमें उत्तेजना हो सकती है। साधनके लिये उत्तेजना होना ही साधनमें वृद्धिका हेतु है। भगवान् सच्चिदानन्दरूपसे सर्वत्र पूर्ण हो रहे हैं; परन्तु ऐसा विश्वास न होनेके कारण ही वे प्राप्त होकर भी अप्राप्त-से दीखते हैं। विश्वास न होनेका कारण अनादिकालीन अविद्या ही है।

किसी समय सत्संग, भजन और ध्यानके प्रतापसे श्रीभगवान्के सच्चिदानन्दरूपकी प्रतीति हो जानेपर भी फिर भूल जानेका कारण पूछा सो इसका कारण पहलेका असत् अभ्यास ही है। उसको सुधारनेके लिये भजन, ध्यान और सत्संगका तीव्र अभ्यास करना चाहिये। तभी संसारकी आसक्ति और रमणीयताकी अनुभूति क्षीण हो सकती है।

भगवान्में मन लगानेका उपाय पूछा सो प्रेम होनेसे ही मन लग सकता है। प्रेम उत्पन्न होनेके लिये सबसे प्रथम श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भजन और सत्संगकी चेष्टा करनी चाहिये। चेष्टाकी वृद्धि होनेपर मन अपने आप ही रम सकता है।

भगवान्का भजन-ध्यान करते हुए संसारका काम करनेमें भूल हो जानेकी बात आपने लिखी सो ठीक है। बहुत सावधानीसे अभ्यास करना चाहिये। काम भले ही थोड़ा हो। जबतक परिपक्व साधन निरन्तर नहीं होने लगता तबतक भूलें होती ही हैं। साधन तेज करनेका उपाय भजन-सत्संगकी तीव्र उत्कण्ठा ही है।

जिस प्रेमके आगे प्राणोंका मूल्य कुछ भी नहीं है, उसके मर्मको जाननेका आपने उपाय पूछा सो वैसा प्रेम उत्पन्न होनेसे ही उसका मर्म जाना जा सकता है। प्रेमकी उत्कण्ठा रखनेसे ही प्रेमकी वृद्धि होती है। पहले तो विश्वासके आधारपर ही प्रेम करना पड़ता है, पीछे जैसे-जैसे मर्म जाना जाता है, वैसे-वैसे प्रेम बढ़ता जाता है।

सत्संगति

कहानी

(लेखक—श्री 'चक्र')

'कई बार सोचा अब मन्दिर नहीं जाऊँगा, पुजारीजी बेकार लज्जित करते हैं। अपने तो घरबार छोड़ा, दूसरोंको भी वैसा ही बनाना चाहते हैं। उन्हें क्या पता कि सुरामें कितनी मधुर मादकता है! पर साथी मानते ही नहीं, संध्याके रामायणगानमें कुछ मनोविनोद भी हो जाता है। नगरसे जबसे आये, इस ग्राममें जी बहलानेका और कोई साधन हो नहीं।'

सोचते-सोचते बाबू गिरिधारीसिंह पुजारीको मन-ही-मन भला-बुरा कहने लगे। 'मेरी जमींदारीमें रहता है, पर मेरा तनिक भी दबाव नहीं मानता। सब लोगोंके बीचमें मुझे लज्जित करता है। जाने मेरे पीछे क्यों पड़ा है! यहाँके लोग उसे इतना मानते हैं कि, उसे हटाना कठिन ही नहीं, असम्भव है।'

आप यहाँ इस विष्णुपुरके जमींदार हैं, प्रायः जौनपुर रहते हैं और कभी-कभी जमींदारीके कार्यसे ग्राममें आ जाते हैं। वैसे आपका स्वभाव सीधा है, दुखियोंको देखकर दया भी आ जाती है। रोता हुआ कृषक लगानमेंसे बहुत-कुछ छूट आपसे पा लेता है। पर आप हैं पूरे विलासी। शहरमें तो पता नहीं क्या होता होगा, यहाँ भी विदेशी सुरा साथ आती है। जुआ खेलनेमें बड़े पटु हैं और गाने-बजानेके पक्के शौकीन।

ग्राममें तथा आसपास जितने गाने-बजानेवाले तथा भाँग-गाँजाके प्रेमी हैं, बाबू साहबके समीप दिन-भर एकत्र रहते हैं। यहाँ जुआ तो क्या होगा, ताश अवश्य दिनभर चलता है। जो व्यसन ग्रामके रहनेवालों-को ज्ञात न हों, उन्हें कोई आपसे सीख ले। दिनभर निन्दा तथा परचर्चा ही तो चलती है आपकी मण्डलीमें।

ग्रामके बाहर एक श्रीहनुमान्‌जीका मन्दिर है। मन्दिरके साथ ही एक कुटिया है और सामने पीपलका विशाल वृक्ष है। आजसे पचीस वर्ष पूर्व एक साधु आये और मन्दिरपर रात्रि-विश्रामके लिये रुक गये। ग्रामके लोगोंने आग्रह किया 'आप यहीं रहकर हनुमान्‌जीकी पूजा करें।' वे वहीं रहने लगे।

ग्रामके लोग नित्य अपने यहाँ थोड़ा आटा, चावल, दाल आदि भोजन बनानेके पूर्व अलग रख देते हैं, वे साधु सप्ताहमें एक दिन सबके यहाँसे उसे ले आते हैं। यही उनकी आजीविका है। लोग उन्हें अब 'पुजारी बाबा' कहते हैं। पुजारी बाबा सौम्यताकी मूर्ति हैं। उन्हें देखते ही हृदय प्रसन्न हो जाता है। छोटे बच्चे सदा उनकी कुटी घेरे रहते हैं। ग्राममें किसीके रुग्ण होनेपर पुजारी बाबा बड़ी लगनसे उसकी सेवा करते हैं। वे सबकी आपत्तिके सहायक हैं।

प्रातः ब्राह्ममुहूर्तमें नित्य क्रियासे निवृत्त होकर वे स्नान करके पूजापर बैठ जाते हैं। आठ बजे पूजा समाप्तकर श्रीरामायणजीकी पुस्तक लेकर पीपलके नीचे आ बैठते हैं। उनका पाठ उच्च स्वरसे चलता है, कोई आ बैठा तो उसे अर्थ भी समझाते जाते हैं। ठीक मध्याह्नमें भोजन बनना प्रारम्भ होता है और दो बजे भोग लगता है। प्रसाद पाकर माला हाथमें ले वे कुटियाके बाहर बैठ जावेंगे, जो आवेगा उसकी बातें भी सुनेंगे और जप भी चलता रहेगा। आवश्यकता हुई तो माला लिये ही ग्राममें चले जावेंगे।

ग्रामके लोग पुजारी बाबाका बड़ा सम्मान करते थे। बाबाके ही उद्योगसे नित्य सन्ध्याको पीपलके नीचे रामायणका पाठ सस्वर होता था। अपने गृहकार्योंसे निवृत्त होकर ग्रामके कृषक कुटियापर जाते और वहाँ बड़े प्रेमसे दो-तीन घण्टे रामायणगान होता। इस प्रकार वह मन्दिर ग्राममें एक पवित्र धार्मिक केन्द्र बन गया था।

ग्रामके जमींदार साहब जब पधारते तो वे भी प्रायः नित्य कुटीपर रामायणगानमें सम्मिलित होते। उनके आनेसे उनके साथ आस-पासके गाँवोंके गायक भी आते थे। उन दिनों बड़ा आनन्द रहता था। पुजारी बाबाको यह अच्छा नहीं लगता था कि इतने भले आदमी इन दुर्व्यसनोंमें फँसे रहें। वे कभी-कभी दुःखित होकर उनके लिये भगवान्‌से प्रार्थना भी करते थे।

इसे सद्गुण कहिये या दुर्गुण, पर पुजारीजी थे बड़े स्पष्टवादी। न तो किसीका संकोच करते थे और न किसीके असन्तुष्ट होनेकी परवा ही करते थे। जो उन्हें उचित लगता था उसे स्पष्ट शब्दोंमें सबके सम्मुख कह देते थे। उन्होंने गिरिधारीसिंहको कई बार रामायणपाठके पश्चात् सबके सम्मुख ही शराब और जुएके लिये लज्जित किया, फटकारा। स्पष्ट कहते थे "आप रामायणपाठमें प्रेमसे थोड़े ही आते हैं, आप तो आते हैं कर्णतृप्ति एवं मनोविनोदके लिये।" पर पुजारीजीका वहाँ कुछ ऐसा प्रभाव था कि उनके सम्मुख बाबूसाहब बोल नहीं सकते थे। चुपचाप मस्तक झुकाकर बाबाजीकी फटकारें सुन लेते।

(२)

संयोगकी बात, शहरमें बाबू गिरिधारीसिंहजी अत्यन्त बीमार हो गये। शरीरके प्रत्येक रोमछिद्रसे पीब आने लगा। वैद्य और डाक्टरोंने बहुत चिकित्सा की, परन्तु कोई लाभ नहीं हुआ। अन्तमें जीवनकी आशा छोड़कर वे जलवायु-परिवर्तनके विचारसे ग्राममें आये। वैसे तो ग्राममें उनसे सहानुभूति रखनेवाले सभी आते-जाते रहे, परन्तु पुजारी बाबा तो एक प्रकारसे उनके समीप ही रहने लगे।

पुजारी बाबा उन्हें धैर्य देते, रामायणका पाठ सुनाते और भगवान्से प्रार्थना करनेको कहते। धीरे-धीरे स्वास्थ्य कुछ सुधरने लगा। रुग्णावस्थामें पुजारी बाबाके उपदेशोंने बड़ा काम किया। गिरिधारीसिंहने प्रतिज्ञा की "यदि मेरा जीवन बच गया तो आगेसे शराब और जुएके पास नहीं जाऊँगा।" पूर्णतया स्वस्थ तो नहीं हुए, फिर भी चलने-फिरने योग्य हो गये। पुजारी बाबाने अब उन्हें महावीरजीको रामायणका पाठ सुनाने और राम-नामका जप करनेको कहा।

शरीरका मोह सब कुछ करा लेता है। बाबू-साहबने अब लोगोंसे मिलना-जुलना बंद कर दिया। वे प्रातः सूर्योदयसे पूर्व ही उठकर स्नानादिसे निवृत्त हो जाते। महावीरजीके मन्दिरमें उनका 'मानस' का नवाह्नपारायण चलने लगा। प्रातः मन्दिरमें जाते तो दोपहरको केवल भोजनके लिये बाहर आते। विश्राम तो छूट ही गया। भोजन करके पुनः मन्दिरमें जा बैठते। पाठसमाप्तिके पश्चात् जप होता रहता। सन्ध्याको रामायणगानमें सम्मिलित होते मन्दिरसे बाहर आते और सबके चले जानेके बाद लगभग दस बजे रात्रिको पुजारी बाबाको प्रणाम करके तब मन्दिरसे जाते।

स्वास्थ्यमें पाठ आरम्भ करनेके दिनसे ही आश्चर्य-जनक परिवर्तन होने लगा। नौ पारायण होते-होते रोग जड़से नष्ट हो गया। शरीर पुष्ट, सुगठित और सुन्दर हो गया। इतना अच्छा शरीर उनका कभी नहीं रहा। इधर पाठ और जपमें उन्हें आनन्द आने लगा। मन चाहता ही न था उन्हें छोड़नेको। दूसरी किसी भी चर्चामें उन्हें आनन्द नहीं आता था। इच्छा नहीं होती थी शहर जानेकी।

जमींदारीका कार्य था, शहरमें भी बहुत-सी उलझनें आ गयी थीं, किसी प्रकार गाँवसे चलनेकी तैयारी हुई। जाते समय वे पुजारी बाबाके चरण पकड़, फूट-फूटकर रोने लगे। इससे पूर्व महावीरजीके सम्मुख भी बहुत रुदन कर चुके थे। पुजारीजीने धीरे-धीरे समझाकर उन्हें सान्त्वना दी। ग्रामसे शहरको विदा हुए।

वही साथी, वही स्थान, वही वायुमण्डल अब जैसे काट खानेको दौड़ते थे। एक भी कार्य रुचिसे नहीं होता था। मन कहीं भाग जानेको उद्यत था। ऐसा प्रतीत होता था कि स्वर्गसे नरकमें फेंक दिये गये हों। अधिकांश समय माला लेकर एकान्त कमरेमें बीतता था। किसी प्रकार शहरके कार्योंको शीघ्रतासे निपटा-कर ग्राम आना चाहते थे। इस परिवर्तित दशामें पुराने मित्रोंका आना-जाना सर्वथा बंद हो गया। घरके लोग चिन्तित थे 'ये साधु न हो जायँ।'

कोई नहीं चाहता था, पर अपने हठसे वे केवल दो सप्ताह पश्चात् शहरसे गाँवमें आ गये। यहाँ आने-पर उन्हें कुछ शान्ति मिली। पुजारी बाबाके समीप

कुछ घंटे उनके उपदेशोंको सुननेमें बड़े आनन्दसे बीतते थे। अब वे पुजारी बाबाके सच्चे सेवक बन चुके थे। अधिकांश समय उन्हींकी कुटियापर बीतता था। रामायणजीका पाठ और जप तो चलता ही रहता था।

यहाँ भी जमींदारीका झगड़ा था। शहरसे बार-बार पत्र आते थे 'बहुत आवश्यक कार्य है, आप आ जाइये।' पत्रसे कार्य न हुआ तो तार आने लगे और फिर आदमी। आज भाई आया तो कल लड़का। इस प्रकार बार-बार शहर चलनेका आग्रह होता। ये विघ्न अब असह्य होने लगे। अब तो एकान्तमें बैठकर केवल भजन करनेकी इच्छा शेष रही थी। दूसरे सभी कार्य दुःखद ज्ञात होते थे।

बार-बार बाबू साहब पुजारीजीसे आग्रह करते "मुझे आज्ञा दीजिये, इस जंजालसे दूर कहीं जाकर प्रभुका स्मरण करूँ। यहाँ तो इन उत्पातोंके मारे अब रहना कठिन हो गया है।" पुजारीजी उन्हें समझाते और इन विघ्नोंका सामना करते हुए भजन करनेका उपदेश देते रहते। पुजारीजीको वे गुरु मानते थे, अतः बिना आज्ञाके कुछ कर भी नहीं सकते थे।

घरवालोंका आना-जाना और आग्रह बढ़ता गया। इधर इनका वैराग्य तीव्रतर हो चला। उपयुक्त समय देखकर पुजारीजीने एक दिन उनसे कहा "यदि भगवान्‌की ऐसी ही इच्छा है तो आप यहाँसे जा सकते हैं। कहीं एकान्त स्थानमें विरक्त भावसे रहते हुए श्रीकोशलकिशोरका स्मरण कीजिये। श्रीरामदूत आपके सहायक हों।"

गद्गद होकर उन्होंने पुजारीजीके चरणोंमें मस्तक रक्खा। जितने वस्त्र शरीरपर थे, उतने ही पहने हुए बिना किसी पाथेयके अर्धरात्रिमें अपने गुरुदेवको प्रणाम करके उन्होंने इस मायिक जगत्‌से मुख मोड़ा और विदा हुए किसी उपयुक्त स्थानके लिये। दूसरोंके लिये प्रातः केवल सूना अन्वेषण शेष रह गया।

(३)

चित्रकूटके वनमें सुदूर अनसूयाजीसे थोड़ी दूरपर एक ऊँचा चौरस टीला है, उसपर कुछ खाली झोपड़ियाँ बनी रहती हैं। टीलेसे नीचे एक कुआँ है और वहाँ एक संत कुटी बनाकर रहते हैं। उन संतने बतलाया "कभी-कभी कुछ सिद्ध महात्मा रात्रिमें टीलेकी ऊपर-वाली झोपड़ियोंमें रहा करते हैं।"

उन्हींने बतलाया—"उन झोपड़ियोंमें जो बीचकी झोपड़ी है, उसमें एक बड़े भक्त महापुरुष रहते थे। वे धोती और कुर्ता पहने रहते थे। जङ्गली बेर और भिंडियोंपर, जो यहाँ बहुत हैं, निर्वाह करते थे तथा दिन-रात रामायणका पाठ और जप करते रहते थे। अनवरत बहती हुई अश्रुधाराने उनके कपोलोंपर रेखा बना दी थी। अभी पिछले वर्षों जब चित्रकूटमें भगवान्‌का विमान निकला तो वे दर्शन करने गये थे। वहाँ श्रीचरणोंपर मस्तक रखते ही उन्होंने शरीर छोड़ दिया। विमानके पीछे ही उनके शवका विमान भी निकला था।"
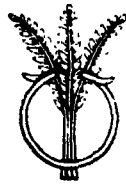
एक लोटा पानी

[कहानी]

(लेखक—मुखिया विद्यासागरजी)

चैतका महीना था। ग्वालियर राज्यका मशहूर डाकू परसराम, अपने अरबी घोड़ेपर चढ़ा हुआ, जिला दमोहके देहातमें होकर कहीं जा रहा था। लकालक दोपहरी थी। प्यासके कारण परसरामका गला सूख रहा था। कोई तालाब, नदी या गाँव दिखायी न देता था। चलते-चलते एक चबूतरा मिला जिसपर एक शिवलिंग रक्खा था। छोटे और कच्चे चबूतरेपर बरसातके पानीने छोटे-छोटे गड्ढे कर दिये थे। इसलिये महादेवजीकी मूर्ति कुछ तिरछी-सी हो रही थी। यह देख परसराम उतरा और घोड़ेको एक पेड़से बाँध दिया। उसने अपनी तलवार निकाली और पिण्डीको ठीक बिठलाने लगा। परसराम बोला—"महादेव गुरुजी हैं। परशुरामके गुरु थे—इसलिये मेरे भी गुरु हैं। वे भी ब्राह्मण थे—मैं भी ब्राह्मण हूं। उन्होंने अमीरोंका नाश किया था और गरीबोंका पालन किया था, वही मैं भी कर रहा हूं। मूर्ख लोग मुझे डाकू कहते हैं। धनवानोंसे जबरन धन लेकर दीनोंका पालन करना क्या डाकूपन है? है तो बना रहे। ग्वालियर राज्यने मेरे लिये पाँच हजारका इनामी वारण्ट जारी किया है और भारत सरकारने पचीस हजारका। मेरी गिरफ्तारीके लिये तीस हजारका इनाम छप चुका है। वे लोग, अमीरोंके पालक और गरीबोंके घालक हैं। इसीलिये मुझे डाकू कहते हैं। डाकू वे हैं या मैं? इसका निर्णय कौन करेगा? खैर—कोई परवा नहीं। जबतक शंकर गुरुका पंजा मेरी पीठपर है, तबतक कोई परसरामको गिरफ्तार नहीं कर सकता। लेकिन क्या मैं आज प्यासके मारे इस जंगलमें मर जाऊँगा! मेरे पन्द्रह साथी,—जो सब पढ़े-लिखे और बहादुर हैं—अपने-अपने अरबी घोड़ोंपर चढ़े मुझे खोज रहे होंगे। जब वे मुझे इस जंगलमें मरा हुआ पायेंगे, तब वे नेताहीन होकर बड़े दुखी होंगे। बाबा! गुरुदेव! क्या एक लोटा पानीके बिना, आप आज मेरी जान ले लेंगे!"

तबतक एक बुढ़िया वहाँ आयी। उसके एक हाथमें एक लोटा जल था और लोटेके ऊपर एक कटोरी थी कि जिसमें मिठाई रक्खी थी।

परसराम—बूढ़ी माई! तुम कहाँ रहती हो?

बुढ़िया—थोड़ी दूरपर सेखूपुर गाँव है। बागोंमें बसा है इसलिये दिखायी नहीं देता। वहीं मेरा घर है। जातिकी अहीर हूँ—बेटा!

परसराम—यहाँ क्यों आयी हो?

चबूतरेपर पानी और मिठाई रखकर बुढ़िया बैठ गयी और रोने लगी। परसरामने जब बहुत समझाया तब वह कहने लगी—"बेटा, मौतके दिन पूरे करती हूँ। घरमें एक लड़का था और बहू थी। मेरा बेटा बिहारी, तुम्हारी ही उमरका था। उसीने यह चबूतरा बनाया था और कहींसे लाकर, उसीने महादेव यहाँ रक्खे थे। रोजाना पूजा करता था। पारसाल इस गाँवमें कलमुँही ताऊन (प्लेग) आयी। बेटा और बहू दोनों एक दस सालकी कन्या छोड़कर, उड़ गये। रोनेके लिये मैं रह गयी। जबसे बेटा मरा तबसे मैं रोज एक लोटा पानी चढ़ा जाती हूँ और रो जाती हूँ। इस साल वैशाखमें नातिन चम्पाका विवाह है। घरमें कुछ नहीं है। न जाने—कैसे महादेव बाबा, चम्पाका विवाह करेंगे।"

परसराम—महादेव बाबा चम्पाका विवाह खूब करेंगे। तुम यह पानी मुझे पिला दो—बड़ी प्यास लगी है।

बुढ़िया—पी लो बेटा पी लो। मिठाई भी खा लो। यह पानी जो तुम पी लोगे सो मैं समझूँगी कि महादेवजीपर चढ़ गया। आत्मा सो परमात्मा। मैं फिर चढ़ा जाऊँगी। पी लो बेटा पी लो—पहले यह मिठाई खा लो।

इतना कहकर बुढ़ियाने पानीका लोटा और मिठाई-की कटोरी परसरामके सामने रख दिये। मिठाई खाकर और शीतल स्वच्छ जल पीकर परसराम बोले—"चम्पाका विवाह कब होगा?"

बुढ़िया—वैशाख उँजेरे पाखकी पञ्चमीका टीका है। केसरीपुरसे बारात आवेगी।

परसराम—विवाहके लिये तुम कुछ चिन्ता मत करना। तुम्हारी चम्पाका विवाह महादेव ही करेंगे।

बुढ़िया—तुम कौन हो बेटा? तुम्हारी हजारी उमर होवे। गाँवतक चलो तो तुमको कुछ खिलाऊँ। भूखे मालूम होते हो!

परसराम—भूखा तो हूँ, पर गाँवमें नहीं जा सकता। मेरा नाम परसराम है और लोग मुझे डाकू कहते हैं। आगरेके कप्तान यंग साहब, जिन्होंने सुल्ताना डाकूको गिरफ़्तार किया था, तीस सिपाहियोंके साथ, मेरे पीछे लगे हुए हैं। मेरे साथी छूट गये हैं। इसलिये मैं गाँवमें नहीं जा सकता। जिस दिन चम्पाका विवाह होगा, उस दिन तुम्हारे गाँवमें पाँच मिनटके लिये आऊँगा।

बुढ़िया—तुम डाकू तो मालूम नहीं पड़ते—देवता मालूम पड़ते हो।

घोड़ेपर सवार होकर परसरामने कहा—"अब ऐसा ही उल्टा जमाना आया है—माई! उदार और बहादुरको डाकू कहा जाता है और दिनदहाड़े गरीबोंको लूटनेवालोंको रईस कहा जाता है। धर्मात्मा भीख माँगते हैं, पापी लोग हुकूमत करते हैं। पतिव्रताएँ उघारी फिरती हैं, छिनालोंके पास रेशमी साड़ियाँ हैं। कलियुग है न! मैं जाता हूँ। मेरा नाम याद रखना। पञ्चमीको आऊँगा।"

परसराम चले गये। बुढ़ियाने भी घरकी राह ली। महादेवजीपर जल चढ़ाकर उसने चम्पासे परसरामके मिलनेकी सारी कहानी बयान कर दी। गाँवका मुखिया भी वहीं खड़ा था। उसने भी सारा हाल सुना। मुखियाने सोचा मेरा भाग जग गया, इनामका बड़ा हिस्सा मैं पाऊँगा। थानेमें जाकर रिपोर्ट लिखायी कि—"वैशाख शुक्लपक्षकी पञ्चमीके दिन परसराम सेखूपुरमें, चम्पाके विवाहमें शामिल होने आवेगा। पुलिसके द्वारा यह समाचार, यंग साहबको मालूम करा देना चाहिये। अगर उस रोज डाकू परसराम गिरफ़्तार न हुआ तो फिर कभी न हो सकेगा।"

(२)

चौथेके दिन, बिहारी अहीरके दरवाजेपर, पाँच गाड़ियाँ आकर खड़ी हुईं। एकमें आटा भरा था। एकमें घी, शक्कर और तरकारियाँ भरी थीं। एक गाड़ीमें कपड़े-ही-कपड़े थे, तरह-तरहके नये थानोंसे वह गाड़ी भरी थी। चौथी गाड़ीमें नये-नये बर्तन भरे थे। और पाँचवीं गाड़ी, तरह-तरहकी पक्की मिठाइयोंसे भरी थी। गाड़ीवानोंने सब सामान बिहारी अहीरके घरमें भर दिया। लोगोंने जब यह पूछा कि यह सामान किसने भेजा तब गाड़ीवानोंने कहा कि हमलोग भेजनेवालेका नाम-धाम कुछ नहीं जानते। हमलोग दमोहके रहनेवाले हैं। किरायेपर गाड़ी चलाया करते हैं। हमलोगोंको किराया अदा कर दिया गया। हम-

लोगोंको केवल यही हुक्म है कि यह सामान, सेखूपुरके बिहारी अहीरके घरमें जबरन भर आवें। बस, और ज्यादा तीन-पाँच हमलोग कुछ नहीं जानते। इस विचित्र घटनापर गाँवभर आश्चर्य कर रहा था। केवल मुखियाको और बुढ़ियाको मालूम था कि यह सब काम परसरामका है। मुखियाने थानेमें इस घटनाकी रिपोर्ट लिखायी और यह भी लिखाया कि—"कल पञ्चमीके दिन सुबहको जब चम्पाके फेरे पड़ेंगे, उस समय कन्यादान देने, खुद परसरामके आनेकी उम्मीद है। क्योंकि वह अभीतक खुद नहीं आया है। पाँच मिनटके लिये गाँवमें आनेका उसने वचन दिया है। चाहे धरती इधर-की-उधर हो जाये पर परसरामका वचन खाली नहीं जा सकता।"

चौथकी रातमें ही मिस्टर यंग साहब, अपने तीस मरकट सिपाहियोंके साथ सेखूपुरमें आ धमके। उन सबोंने घोड़ोंके सौदागरोंका भेष बनाया था। मुखियाके दरवाजेपर वे लोग ठहर गये। गाँववालोंने जाना कि घोड़ेके सौदागरलोग किसी मेलेको जा रहे हैं। मुखिया और चौकीदारके सिवा, असली भेदको कोई नहीं जानता था।

(३)

पञ्चमीका सवेरा हुआ। परसरामने ज्यों ही घोड़े-पर चढ़ना चाहा, त्यों ही छींक हुई। एक साथीका नाम था—रहीम! बी० ए० पास था। पेशावरका रहनेवाला था। घोड़ेकी सवारीमें और निशाना लगाने-में एक ही था। रहीमने परसरामको रोकते हुए कहा—'कहाँ जा रहे हैं आप!'

परसराम—सेखूपुर चम्पाका कन्यादान देने। तुमको तो सब हाल मालूम करा दिया था। रोको मत। रुक नहीं सकता।

रहीम—छींक हुई है!

परसराम—मुसलमान होकर भी छींकको मानते हो?

रहीम—बात यह है कि यंग साहब अपने तीस सिपाहियोंके साथ इधर ही गये हैं। उन लोगोंने सौदागरोंका स्वाँग बनाया है। मगर, मेरी नजरको धोखा नहीं दे सकते।

परसराम—घूमने दो। क्या करेगा—यंग साहब?

रहीम—मालूम होता है कि मूर्ख बुढ़ियाने आपके मिलनेका हाल अपने गाँवमें बयान कर दिया है। पुलिसको आपके जानेका हाल मालूम हो गया है। तभी यंग साहबने मौका देखकर चढ़ाई की है।

परसराम—सम्भव है, तुम्हारा अनुमान सही हो। लेकिन इसी डरसे मैं अपने वचनको तोड़ नहीं सकता। एक लोटा पानीसे उऋण होना है।

रहीम—अच्छा, तो मैं भी साथ चलता हूँ। जो वक्तपर साथ दे वही साथी।

परसराम—तुम्हारी क्या जरूरत है? तुम यहीं रहो।

रहीम—मैं आपको अकेला नहीं जाने दूँगा। नमकहरामी नहीं करूँगा। आपकी जान जायगी तो पहले मेरी जान जायगी।

दोनों सवार सेखूपुरको ओर चल दिये। वे उस समय बिहारीके दरवाजेपर पहुँचे जब चम्पाके फेरे पड़ गये थे और कन्यादानका समय आ गया था।

अपने घोड़ेकी बागडोर, रहीमको पकड़ाकर, परसराम उतर पड़े और घरमें घुस गये। पाँच मुहरों-से परसरामने चम्पाका कन्यादान, सबसे पहले दिया और बाहर जाने लगे। गाँववालोंने जान लिया कि इस व्यक्तिने ही पाँच गाड़ियाँ सामान भेजा था। श्रद्धाके मारे उन लोगोंने परसरामको घेर लिया। मारे खुशीके बुढ़ियाकी बोलती बंद थी। एक आदमी

बोला—'वाह मालिक ! बिना जलपान किये कहाँ जाते हो।' दूसरा आदमी लोटा लिये चरण धोनेका उपाय करने लगा। तीसरा आदमी, परसरामको बैठनेके लिये, अपना साफा धरतीपर बिछाने लगा। चौथा आदमी दौड़ा तो एक दोनेमें मिठाइयाँ भर लाया। परसरामने कहा—'कैसे पागल हो तुम लोग ! जिस कन्याका कन्यादान दिया उसीका भोजन कैसे करूँगा ?' इतना कहकर वह घरसे बाहर आ गये। घोड़ेपर चढ़ते-चढ़ते परसरामने देखा कि यंग साहबने सदल-बल उनको घेर लिया है। परसरामने उनको ललकारकर कहा—'गाँवके बाहर आकर मरदूमी दिखलाओ।' इसके बाद रहीमके साथ परसरामने घोड़ोंके एँड़ लगायी और गाँवके बाहर हो गये। साहबने पीछा किया। सब लोग घोड़ोंपर सवार थे। तड़ातड़ गोलियाँ छूटने लगीं। वे दोनों भी फायर करते जाते थे। परसराम और रहीमके अचूक निशानोंने पांच सिपाही मार डाले।

(४)

परसरामको भागनेका अवसर देनेके लिये, रहीमने अपना घोड़ा पीछे लौटाया और वह सिपाहियोंके साथ जूझने लगा। सब लोगोंने उसे घेर लिया। दनादन गोलियाँ छूटने लगीं। तीन सिपाही रहीमने मौतके घाट उतार दिये। शरीरमें चार गोलियाँ घुस चुकी थीं। एक गोली घोड़ेको लगी। घोड़ा और सवार दोनों मर कर गिर पड़े। तबतक परसराम एक कोस आगे निकल गये थे। साहबने रहीमको वहीं छोड़ा और परसरामका पीछा किया। तीन कोसके बाद परसराम दिखायी पड़े। साहबकी गोलीसे परसरामका घोड़ा, घायल होकर गिर पड़ा। परसराम पैदल चलने लगे। आगे था—एक नाला। ५-६ गज चौड़ा था और तीस हाथ गहरा था। बरसाती पानीने उस नालेको खन्दकका रूप दे दिया था। परसरामने कूदकर उसे पार करना चाहा। परन्तु, पैर फिसल गया। वे खन्दकमें गिर पड़े। किनारेपर यंग साहब आ खड़े हुए। नीचे अँधेरा था—साफ-साफ दिखाई न पड़ता था।

ज्योंही साहबने नीचे झाँका त्योंही परसरामने गोली छोड़ दी। विक्टोरियाके इकबालसे साहब तो बच गये मगर उनका टोप उड़ गया। सिपाहियोंने गोली छोड़ी। परसराम एक किनारे छिप गये। फायर खाली गया। साहबने कहा—'तीस हाथ नीचे गहरे गड्ढेमें गिरा और तो भी निशाना मार रहा है—शाबास, बहादुर, शाबास !' तबतक परसरामने आवाजके निशानेपर एक गोली छोड़ दी। साहबके पास एक सिपाही खड़ा था। उसकी खोपड़ी उड़ गयी।

साहबने कहा—'हमारे नौ आदमी काम आ चुके हैं। मगर डाकूका एक ही आदमी मरा।'

एक सिपाही था—राजपूत। उसने आगे बढ़कर कहा—'मिट्टी गिराकर डाकूको दाब देना चाहिये।' आवाजका निशाना साधकर, परसरामने गोली छोड़ी। राजपूत बेचारा मरकर गिर गया।

साहबने कहा—'वेल परसराम ! टुम बाहर आ जाओ। अम टुमपर बहोत खुस है। टुम एक बहादुर और बातका धनी आडमी है। अम टुमारे निशानेपर खुश हूँ।'

परसरामने जवाब दिया—'मैं अपना वचन पूरा कर चुका। एक लोटा पानीसे उऋण हो चुका। अब मरनेका डर नहीं है।'

साहब—अगर टुम डाका डालना बंद करनेकी कसम खाओ तो अम टुमको वायसरायसे कहकर छुड़ा लेगा। इतमीनान करो और बाहर आओ। टुम भी बातका धनी, अम भी बातका धनी। आजसे टुम अमारा दोस्त हुआ।

परसराम बाहर निकल आये और आत्मसमर्पण कर दिया। यंग साहबने उनको गिरफ़्तार कर लिया और आगरा ले गये। कुछ दिनों मुकदमा चला। मगर यंग साहबने परसरामको साफ बरी करा दिया। परसरामने समझ लिया, अच्छा उद्देश्य होनेपर भी आखिर डकैती थी बहुत बुरी चीज, उसका समर्थन हो ही नहीं सकता। अतएव उस कामको छोड़ दिया। वे साधु हो गये और अपने साथियोंको नेकीका जीवन व्यतीत करनेका उपदेश दिया। परसरामने हरिद्वारमें जाकर पाँच सालतक घोर तपस्या की और सन् १९३५ ई० में गंगाजीकी बीच धारामें खड़े-खड़े शरीर त्याग दिया। परसरामने यह दिखला दिया कि विपत्तिको देखकर भी वचनका पालन करना चाहिये।

कामके पत्र

सेवा और भजन

आपका कृपापत्र मिला। आपका लिखना बहुत ही दुरुस्त है। 'भगवान्‌की याद करते हुए भगवान्‌को अर्पण करके जो कुछ भी कर्म किये जाते हैं, सब भजन ही हैं।' समस्त जीव भगवान्‌के ही स्वरूप हैं, भगवान् ही इन सबके रूपमें प्रकट हैं, अतएव जीवोंकी सेवा निश्चय ही भगवान्‌की सेवा है तथा सेवा और भजन एक ही वस्तुके दो नाम हैं। इसलिये जीवसेवा भजन है इसमें जरा भी सन्देह नहीं। आप इस प्रकारकी सेवा करते हैं और करना चाहते हैं, यह बहुत ही अच्छी बात है। इसमें चार बातोंका ध्यान सदा रखना चाहिये—

(१) भगवान्‌का अखण्ड स्मरण।

(२) सब कुछ भगवान्‌के अर्पण।

(३) सब जीव भगवान्‌के ही स्वरूप हैं यह अटल विश्वास, और

(४) जब सब कुछ उन्हींका है और सब जीव वे ही हैं, तब सेवा करनेवाला मैं तो केवल निमित्तमात्र हूँ। सेवा नहीं करता हूँ तो कर्तव्यसे च्युत होता हूँ, पाप करता हूँ; और सेवा करके अभिमान करता हूँ तो बेईमानी करता हूँ—यह ध्यान।

यदि इन चार बातोंको हृदयमें उतारकर आप जगत्‌के दुःखी जीवोंकी सेवा कर सकें तो इससे बढ़कर और भजन क्या होगा? जीव-सेवाके द्वारा भगवद्भजनकी यह प्रणाली बहुत ही श्रेष्ठ है। ऐसा भाव हो जानेपर तो मनुष्यका प्रत्येक कार्य—चाहे वह अपने भरण-पोषणका ही हो—भगवान्‌का भजन ही बन जाता है। परन्तु भाई साहब! ऐसा सोचना जितना सहज है, होना बहुत ही कठिन है। आप जगत्‌में देख रहे हैं, सेवाके नामपर क्या-क्या हो रहा है, और किस बुरी तरहसे लोग उस नकली सेवाका कितना अधिक बदला चुकवाना चाहते हैं। सेवाकी दूकान नहीं खुलती। सेवा तो हृदयकी स्वाभाविक वस्तु है। क्या अपनी निजकी सेवाके लिये किसी प्रकारके विज्ञापनकी किसीपर अहसान प्रकट करके और किसीसे उसका बदला चाहनेकी भी कहीं जरूरत होती है? वह तो ऐसा कार्य है, जिसको करना ही पड़ता है, किये बिना सन्तोष होता ही नहीं। ठीक यही भाव लोकसेवामें होना चाहिये। देशात्मबोध हुए बिना वास्तविक देशभक्ति या जीवात्मबोध हुए बिना वास्तविक जीव-सेवा नहीं हो पाती। जो अपने व्यक्तित्वको आभ्यन्तरिक चित्तसे देश या जीवोंके साथ घुला-मिलाकर एक कर देता है, अपने पृथक् व्यक्तित्वको खो देता है, उसकी परवा ही नहीं

करता, वही यथार्थ देश-सेवा या जीव-सेवा कर सकता है। और जीवमात्रको भगवान्‌का स्वरूप समझकर, जिन वस्तुओंके द्वारा उनकी सेवा की जाती है—उन समस्त वस्तुओंको, जिन साधनोंसे सेवा की जाती है, उन 'मन-बुद्धि-शरीरादि' साधनोंको, और जिस 'अहं'में सेवाकी भावना जागृत होती है, उस 'अहं' को, भगवान्‌के अर्पण करके जो सेवा होती है, वह तो इससे कहीं विलक्षण होती है। उन महात्मा पुरुषोंको धन्य है, जो इस प्रकार जनताकी सेवा कर पाते हैं। वस्तुतः वे भगवान्‌के बड़े ही प्रिय भक्त हैं। भगवान्‌ने अपने प्रिय भक्तोंके लक्षण बतलाते हुए कहा है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

जगत्‌में अनन्त प्रकारके प्राणी हैं और उन सभीके रूप, स्वभाव, कर्म, कर्मफलभोगकी स्थिति आदि भिन्न-भिन्न हैं। मनुष्यके मनमें कुछ ऐसा अज्ञान है कि वह सबको न तो अपने अनुकूल पाता है और न प्रतिकूल। इससे उनके रूप, स्वभाव, कर्म तथा स्थिति आदिमें जहाँ अनुकूलता होती है वहाँ राग होता है और जहाँ प्रतिकूलता होती है, वहाँ द्वेष होता है। भगवान्‌का सच्चा भक्त सब जीवोंमें भगवान्‌को देखता है, इसलिये वह रूप, स्वभाव, कर्म और स्थिति आदिके भेदसे किसी अवस्थामें भी किसीके साथ द्वेष नहीं करता। और न वह अनुकूल विषयोंकी दृष्टिसे होनेवाले रागकी भाँति किसीसे राग ही करता है। शरीर और स्थिति आदिके भेदसे व्यवहार-भेद रहनेपर भी वह सबमें अपने भगवान्‌को पहचानकर हृदयसे स्वाभाविक ही सबसे प्रेम करता है। जैसे अपनेमें अपना मैत्रीभाव नित्य, विशुद्ध और सदा अक्षुण्ण होता है, वैसे ही जगत्‌के सभी प्राणियोंमें वह मैत्रीभाव रखता है। मित्रताका आदर्श देखना हो तो रामचरितमानसके भगवान् श्रीरामके इन वचनोंको याद कीजिये—

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी।
तिन्हहि बिलोकत पातक भारी॥
निज दुख गिरि सम रज करि जाना।
मित्रक दुख रज मेरु समाना॥
जिन्हके असि मति सहज न आई।
ते सठ कत हठि करत मिताई॥
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा।
गुन प्रगटै अवगुनन्हि दुरावा॥
देत लेत मन संक न धरई।
बल अनुमान सदा हित करई॥
बिपति काल कर सतगुन नेहा।
श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥

यह मैत्रीभाव प्राणिमात्रके प्रति अखण्ड और अचल होता है। परन्तु जहाँ दुःख और कष्टोंकी विशेषता होती है, वहाँ तो उसका हृदय फटने-सा लगता है। करुणभावकी तीव्र धारा मन-प्राणको विगलितकर दुःख और कष्टमें पड़े हुए दीन प्राणियोंकी पीड़ाको अपने अन्दर आत्मसात् कर लेना चाहती है। यह वह दया नहीं है जो दीनोंपर हुआ करती है; यह परोपकारका भाव नहीं है जो दूसरोंके प्रति हुआ करता है, यह तो वह महान् करुणभाव है जो बड़े-से-बड़े बुद्धिमान् और बलवान्‌को भी बल-बुद्धिकी विस्मृति कराकर, अभिमन्यु और घटोत्कचके मरनेपर जैसे धीमान् अर्जुन और बलवान् भीम रोये थे और पछाड़ खाकर जमीनपर गिर पड़े थे, वैसे ही रुला देता है। ऐसा होनेपर भी भक्तके इस रोनेमें अर्जुन और भीमको व्याकुल करनेवाला शोक अथवा दुःख नहीं है। यह तो वह सात्त्विक पीड़ा है जो सर्वभूतोंमें आत्मवत् दृष्टि रखनेवाले मैत्रीभावापन्न पुरुषोंके हृदयमें जीवोंको दुःखकी धारामें बहते देखकर होती है। इसमें शोकजनित निर्वेद,

निराशा और अशक्ति तथा प्रमादजनित निरुद्यमता, आलस्य और लापरवाही नहीं है । इसमें आँसुओंके साथ-साथ बड़ी भारी कर्मशीलता है । क्योंकि ये आँसू आत्मा-में, मन-बुद्धिमें और सारे अवयवोंमें पवित्र बोध, तेज, प्रकाश, बल, उत्साह और उल्लासका अदम्य प्रवाह बहा देनेवाले सत्त्वगुणसे प्रसूत विशुद्ध 'करुणा' भावके होते हैं, जो दीनोंके आँसुओंको सुखाकर ही सूखते हैं । परन्तु इतनी ही बात नहीं है, भगवान्‌के सच्चे भक्तमें यह मैत्री और करुणाका भाव भी केवल नाट्यके लिये ही होते हैं । उसका असली भाव तो इससे भी ऊँचा है । जैसे किसी नाटकमें कोई पिता भिन्न-भिन्न प्रसंगोंपर मित्रताका और दीनताका अभिनय करे और उस पिताको ठीक पहचाननेवाला पितृभक्त पुत्र स्टेजपर अपने पार्टके अनुसार बदलेमें मैत्री और करुणा-भावका अभिनय करे, परन्तु उसका मन इन अभिनयोंको करते समय भी इनसे कहीं ऊँचे सर्वसमर्पणसे युक्त पितृभक्तिके भावोंसे भरा रहे । वैसे ही भक्त जहाँ मैत्री और करुणाका अभिनय करता है, वहाँ भी वह भगवान्‌की भक्तिमें ही डूबा रहता है । वह जानता है कि मेरे भगवान् ही आज यहाँ मेरे सामने 'मित्र' और 'दीन' के रूपमें उपस्थित हैं और मेरे साथ लीला करना चाहते हैं । अतएव वह सोचता है मुझे इनकी रुचि और इच्छाके अनुसार इनके साथ ऐसी लीला करनी चाहिये जिससे इन्हें अपनी लीलामें सुभीता हो और इसलिये ये महान् आनन्दको प्राप्त हों । भक्त इसी भावसे, प्रतिक्षण उन्हें देखता हुआ और मन-ही-मन उन्हें प्रणाम करता हुआ उनके इच्छानुसार लीलामें संलग्न रहता है । उसे न तो इसमें कहीं ममता होती है, न अपने कर्तृत्वका या अपने अस्तित्वका कहीं अभिमान या अहंकार होता है, न वह लीलाके सुख-दुःखसे सुखी-दुखी होता है और न वह किसीके द्वारा अत्यन्त सताये जानेपर भी किसीको कभी भी भय देनेमें कारण होता है । वह सदा ही क्षमावान् रहता है क्योंकि वह जानता है कि सभी मेरे हरिके स्वरूप हैं फिर वह किसपर कैसे क्रोध करे ? किसका बुरा चाहे ! और किससे वैर करे ! 'अब हौं कासौं बैर करौं । कहत पुकारत हरि निज मुखतें घट-घट हौं बिहरौं ॥' उसे अपने लिये कुछ प्रयोजनीय ही नहीं होता, इससे वह अपनी स्थितिमें ही सदा सन्तुष्ट रहता है, सदा अपने भगवान्‌से युक्त रहता है । मन, इन्द्रिय और शरीरपर उसका पूरा अधिकार रहता है । वह अपने निश्चयमें, दृढ होता है । और सबसे बड़ी बात और असली बात तो यह है कि उसके मन और बुद्धि भगवान्‌के अर्पण किये हुए होते हैं । भगवान् ही उनके स्वामी, प्रेरक और और उसमें बसनेवाले होते हैं । भगवान्‌के अपने घर बन जाते हैं । इससे उसके मन-बुद्धिमें जो कुछ भी आता है, सब भगवान्‌की ही ओरसे आता है । ऐसा भक्त भगवान्‌को बड़ा प्यारा होता है । सच पूछिये तो असली जन-सेवा तो ऐसे ही भक्त कर सकते हैं ।

इसका यह अभिप्राय नहीं कि ऐसा न हो तो फिर सेवा ही न करे । किसी भी भावसे की जाय, सेवा तो उत्तम ही है । जो लोग भजनका बहाना करके सेवासे मुँह मोड़ लेते हैं और शरीरके आराम, भोग और नींदके खुर्राटोंमें अपना जीवन बिताते हैं, वे वस्तुतः भजन नहीं करते, वे तो अपने-आपको ही धोखा देते हैं । इतना अवश्य समझ रखना चाहिये कि जैसे भजनके नामपर सेवा छोड़नेवाला आदमी बड़ी

भूल करता है, उससे भी कहीं बड़ी भूल वह करता है जो सेवाके नामपर भगवान्‌का विस्मरण करके उनका भजन छोड़ देता है। जिसके हृदयमें भगवान्‌का अस्तित्व और अवलम्बन नहीं है, उसके द्वारा की जानेवाली सेवासे 'सर्वभूत हित' कभी हो ही नहीं सकता। वैसी सेवा राग-द्वेषको बढ़ाकर, वैर-विरोध और काम-क्रोधको जगा देती है और फिर कहीं तो खुली हिंसा आती है और कहीं वह पिशाचिनी अहिंसाकी बनावटी सुन्दर पोशाक पहनकर अन्दरसे जबर्दस्त हमला करती है।

मैं आपको या अन्य किसीको भी कर्मक्षेत्रसे हटनेकी बात तो कभी नहीं करता। परन्तु वर्तमान परिस्थितिमें—जहाँ सभी क्षेत्रोंमें राग-द्वेष और काम-क्रोधका ही नंगा नाच हो रहा है, चाहे उसका नाम कुछ भी हो; वहाँ, भगवत्प्राप्तिकी इच्छावाले पुरुषको अपने थोड़े-से जीवनमें इतनी बड़ी जोखिम नहीं उठानी चाहिये और जहाँतक हो सके भगवान्‌के नामका आश्रय लेकर अधिक-से-अधिक भगवन्नाम-स्मरण करना चाहिये। मेरी समझसे—यदि सेवाकी वासना मनमें होगी तो भगवन्नाम-ग्रहणके द्वारा जगत्‌की सेवा भी कम नहीं होगी। यह विश्वास करना चाहिये! कलियुगमें यही एकमात्र मार्ग है।

भगवान्‌की कृपापर निर्भर करके, बस, उनका नाम लेते रहिये। इस कालमें जीवोंके लिये यही सर्वोत्कृष्ट साधना है। दूसरे सब साधन तो इस सुधामयी बूटीके अनुपानमात्र हैं। सच पूछिये तो यह कहना भी अत्युक्ति न होगा कि इस युगमें जगत्‌के उद्धारकी चेष्टा तो बस, अहंकारकी सृष्टिमात्र होगी।

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

अरण्य-रुदन

(गीत)

दूर है हरि-मन्दिरका द्वार!
"चलो चलें अब खूब नहायेंगे सरिताकी धार।
मिला भाग्यसे प्रभु पूजनका अवसर है इस बार॥
हरि-नगरीमें पथिक, मिले हैं अहा! प्रेम आधार।"
सुखद-स्वप्न भी लुप्त हो गया मैं 'बेबस' लाचार॥
हुआ सबेरा, रैन-बसेरा दिन रहना दो चार!
वह निकुंज वह पंथ खो गया सोनेका संसार!!
'वृन्दावनमें भोलेभाले श्याम सखाके प्यार।
मधुवनकी वह सघन कुञ्जकी छिप छिपकर किलकार॥
हृदय बेधती वह सुधि, वह छबि, वह चितवनकी मार।
स्वप्नमयी थी स्वप्न हो गयी वह कदम्बकी डार!!
हुई निराशा, अजब अँधेरा, सूझे आर न पार।
अरे दया कर दीन-हीन पर, राह दिखा दे यार॥

—'बेबस'

स्त्रीका अपराध

एक पत्र मिला है जिसमें लेखकका नाम-पता कुछ भी नहीं है । उनके पत्रका सार यह है—एक स्त्रीने ऐसा अपराध किया है जो पातिव्रतधर्मके सर्वथा प्रतिकूल है । यह सत्य है कि अपराधका मूल कारण अज्ञान या लोभ है, और जहाँतक अनुमान है, यह उसका पहला ही अपराध है । अपराध बहुत बड़ा है । उसपर भविष्यमें विश्वास किया जा सकता है या नहीं । पति घोर मानसिक अशान्तिसे पीड़ित है, वह क्या करे ? इसका क्या दण्ड या प्रायश्चित्त है ? क्या यह स्त्री सर्वथा त्याज्य है ? इस विषयपर 'कल्याण'के अगले अंकमें ही जरूर राय दें। नहीं तो डर है मानसिक अशान्तिके कारण वह और कुछ कर न बैठे ।

'वह और कुछ कर न बैठे' इसी वाक्यको पढ़कर 'कल्याण' में इस विषयपर कुछ लिखना आवश्यक समझा गया है । पत्रसे अनुमान होता है घटना चरित्रसम्बन्धी ही है । घटना बड़ी ही दुःखद है परन्तु ऐसी घटनाएँ आजके युगमें विरली ही नहीं होतीं। मेरी समझसे इसमें प्रधान दोषी पुरुष हैं, जो अपनी बुरी वासनाकी तृप्तिके लिये भोली-भाली स्त्रियोंको कुमार्गपर लाते हैं । सच्ची बात तो यह है कि स्त्रियोंको बुराईकी ओर खींचनेवाले और लोभ आदि देकर उन्हें धर्मसे डिगानेवाले ऐसे पुरुष जितने महान् पतित और दण्डके पात्र हैं, उतनी स्त्रियाँ नहीं हैं । तथापि जिस बहिनसे यह अपराध हुआ है, उसके पतिको भयानक मानसिक पीड़ा होना स्वाभाविक है । उन भाईका यह कर्तव्य है कि वे आजकलकी पुरुषजातिकी नीचताकी ओर ध्यान देकर और साथ ही यह भी सोचकर कि पुरुषोंके द्वारा ऐसे ही अपराध होनेपर उनको हमलोग कितना दण्ड देते हैं, अपनी पत्नीको क्षमा करें, उसका तिरस्कार न करें । न पाँच आदमियोंमें बदनामी करें, न निन्दा करें और अपने चरित्रसम्पन्नजीवन, पवित्र सदाचार और प्रेमपूर्ण सद्व्यवहारसे ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दें जिससे पत्नीको अपनी भूलपर महान् पश्चात्ताप हो । मेरी समझसे सच्चे पश्चात्तापसे बढ़कर और कोई प्रायश्चित्त नहीं है । पश्चात्तापहीन दण्ड या प्रायश्चित्त पापकी जड़ नहीं काट सकता । बल्कि देखा जाता है कि दण्ड तो भूलसे पाप करनेवालोंको बार-बार क्लेश भुगताकर स्वाभाविक पापी बना देता है । इसलिये दण्ड न देकर ऐसा अच्छा बर्ताव करना चाहिये जिससे अपराधीके मनमें आत्मग्लानि जाग उठे और वह पश्चात्ताप करे ।

एक बार एक महात्माके पास एक स्त्रीको साथ लेकर पाँच पुरुष आये, और उन्होंने कहा कि 'इस स्त्रीका चरित्र खराब है, हम इसे पत्थरोंसे मारना चाहते हैं ।' इसपर महात्माने कहा—'जरूर, इसका अपराध भयंकर है, इसे मारना चाहिये, परन्तु मारे वही जिसकी आँखें कभी परस्त्रीकी ओर न गयी हों और जिसके मनमें कभी परस्त्रीके प्रति कोई पाप न आया हो । नहीं तो मारनेवाला ही मर जायगा ।' महात्माकी इस बातको सुनकर तो सभी एक दूसरेका मुँह ताकने लगे । महात्माने कहा, 'मारते क्यों नहीं ?' उन्होंने कहा, भगवन् ! कैसे मारें, ऐसी भूल तो हम सभीसे होती है ।' तब महात्मा बोले—'भले मानसो ! तुम स्वयं जो अपराध करते हो, उसीके लिये दूसरेको मारना चाहते हो, तुम्हारे न्यायानुसार पहले तुम्हींको क्यों नहीं मारना चाहिये ?'

बात यह है कि जो पुरुष आज स्त्रियोंकी अपेक्षा कहीं अधिक मात्रामें पाप करते हैं, पर अपने पापोंका कोई प्रायश्चित्त नहीं करना चाहते, उनका स्त्रियोंको दण्ड देनेका विचार करना एक प्रकारसे हास्यास्पद ही है ।

इन सभी बातोंपर विचार करनेसे यही ठीक मालूम होता है कि उस बहिनका प्रथम अपराध और वह

भी अज्ञानकृत होनेसे क्षमाके योग्य है और वह अब अपने पति तथा घरवालोंके द्वारा ऐसा प्रेमपूर्ण सद्व्यवहार प्राप्त करनेकी अधिकारिणी है, कि जिससे भविष्यमें उसके मनमें ऐसी कोई पापकी कल्पना ही न आने पावे। यह विश्वास रखना चाहिये कि जिनसे छोटी उम्रमें अज्ञानवश कुसंगतिमें पड़नेसे अपराध हो जाते हैं, उनका भविष्य-जीवन यदि अच्छा संग मिले तो बहुत ही पवित्र हो सकता है। ऐसे बहुतसे उदाहरण हमारे सामने हैं। मानसिक चिन्ता त्यागकर सद्व्यवहार करने तथा बुरे संगको बचानेसे ऐसा अवश्य हो सकता है। मेरे इस कथनसे जरा भी पापका समर्थन कदापि न समझना चाहिये।

ऐसे अपराधोंमें आजकल एक कारण और हो गया है, वह है स्त्रियोंका पुरुषोंके साथ बेरोक-टोक मिलना-जुलना। स्त्री-स्वातन्त्र्यके नामपर यह यदि बढ़ता रहा तो दशा और भी शोचनीय होगी।

यह सब होते हुए भी जो बहिन किसी भी कारणसे ऐसा पाप कर बैठती है, वह हिन्दू आदर्शकी दृष्टिसे तो बड़ा ही भयानक पाप करती है। किसी प्रकार कुसंगमें पड़कर किसीसे ऐसा पाप बन जाय तो उसे अपने मनमें बड़ा ही पश्चात्ताप करना चाहिये, और कम-से-कम एक लाख भगवन्नाम-जप और तीन उपवास करना चाहिये। साथ ही भगवान्की साक्षी देकर दृढ़ प्रतिज्ञा करनी चाहिये कि किसी भी स्थितिमें अब मैं किसी भी कारणवश ऐसा पाप नहीं करूँगी। और भगवान्से करुणभावसे प्रार्थना करनी चाहिये कि वे दया करके क्षमा करें। हिन्दू स्त्री हँसते-हँसते अपने प्राण त्याग देती है। परन्तु ऐसे किसी बुरे विचारको भी सहन नहीं कर सकती। रानी शरत्सुन्दरी छोटी उम्रमें ही विधवा हो गयी थीं। अँगरेज कलक्टरकी स्त्री उनसे मिलने आयी और अपने देशकी प्रथाके अनुसार उनसे पुनर्विवाह करनेको कह दिया। उसके ऐसा कहनेमें कुछ भी बुरा भाव नहीं था, परन्तु सती शरत्सुन्दरीको बड़ा ही दुःख हुआ। उनको ऐसी पापकी बात अपने कानों सुननी पड़ी, इसीका बड़ा सन्ताप हुआ और उन्होंने इसके प्रायश्चित्तके लिये अन्न-जलका त्याग कर दिया। कलक्टर-पत्नीको पता लगा तब उसने आकर उनको समझाया और क्षमा माँगी। हिन्दू-स्त्रीके लिये सबसे बड़ी मूल्यवान् सम्पत्ति उसका सतीत्व है। और इसीके संरक्षणमें उसका लोक-परलोकमें महान् कल्याण निश्चित है। इस विषयपर गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजके श्रीरामचरितमानसमें अनसूयाजीने जगज्जननी सीताजीसे जो कुछ कहा है, उसे पढ़ना चाहिये—

एकइ धर्म एक ब्रत नेमा। काय बचन मन पतिपद प्रेमा॥
जग पतिब्रता चारि बिधि अहहीं। बेद पुरान संत सब कहहीं॥
उत्तमके अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥
मध्यम परपति देखइ कैसें। भ्राता पिता पुत्र निज जैसें॥
धर्म बिचारि समुझि कुल रहई। सो निकिष्ट त्रिय श्रुति अस कहई॥
बिनु अवसर भय तें रह जोई। जानेहु अधम नारि जग सोई॥
पतिबंचक परपति रति करई। रौरव नरक कल्प सत परई॥
छन सुख लागि जनम सत कोटी। दुख न समुझ तेहि सम को खोटी॥
बिनु श्रम नारि परम गति लहई। पतिब्रत धर्म छाड़ि छल गहई॥
पति प्रतिकूल जनम जहँ जाई। बिधवा होइ पाइ तरुनाई॥

सो०-सहज अपावनि नारि पति सेवत सुभ गति लहइ।
जसु गावत श्रुति चारि अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय॥

अर्थात् शरीर, वचन और मनसे पतिके चरणोंमें प्रेम करना, स्त्रीके लिये, बस यह एक ही धर्म है, एक ही व्रत है और एक ही नियम है। जगत्में चार प्रकारकी पतिव्रताएँ हैं। वेद, पुराण और संत सब ऐसा कहते हैं कि उत्तम श्रेणीकी पतिव्रताके मनमें ऐसा भाव बसा रहता है कि जगत्में [मेरे पतिको छोड़कर] दूसरा पुरुष स्वप्नमें भी नहीं है। मध्यम श्रेणीकी पतिव्रता पराये पतिको कैसे देखती

है, जैसे वह अपना सगा भाई, पिता या पुत्र हो। (अर्थात् समान अवस्थावालेको वह भाईके रूपमें देखती है, बड़ेको पिताके रूपमें और छोटेको पुत्रके रूपमें देखती है।) जो धर्मको विचारकर और अपने कुलकी मर्यादा समझकर बची रहती है वह निकृष्ट (निम्न श्रेणीकी) स्त्री है, ऐसा वेद कहते हैं। और जो स्त्री मौका न मिलनेसे या भयवश पतिव्रता बनी रहती है, जगत्में उसे अधम स्त्री जानना।

पतिको धोखा देनेवाली जो स्त्री पराये पतिसे रति करती है, वह तो सौ कल्पोंतक रौरव नरकमें पड़ी रहती है। क्षणभरके सुखके लिये जो सौ करोड़ (असंख्य) जन्मोंके दुःखको नहीं समझती, उसके समान दुष्टा कौन होगी। जो स्त्री छल छोड़कर पातिव्रत धर्मको ग्रहण करती है, वह बिना ही परिश्रम परम गतिको प्राप्त करती है। किन्तु जो पतिके प्रतिकूल चलती है वह जहाँ भी जाकर जन्म लेती है, वहीं जवानी पाकर (भरी जवानीमें) विधवा हो जाती है। स्त्री जन्मसे ही अपवित्र है; किन्तु पतिकी सेवा करके वह अनायास ही शुभ गति प्राप्त कर लेती है। [पातिव्रत धर्मके कारण ही] आज भी 'तुलसीजी' भगवान्को प्रिय हैं और चारों वेद उनका यश गाते हैं।

अन्तर्ज्ञान

(लेखक—श्रीव्रजमोहनजी मिहिर)

विचार और चेतके सम्मिलनसे मैंपनका उद्भव होता है। मनकी इस चैतन्यावस्थामें मैंपनकी उत्पत्तिका स्थान है। इससे हमारे अन्दर मैंपनको कायम रखनेकी इच्छा होती है। इस भावनासे भावित होकर किसी कामको करते समय हम यह कहने लगते हैं कि हम ही इस कार्यके विचारक और कर्ता हैं। इस प्रकारकी प्रतीतिमें कर्ताका स्वाभिमान सदा जाग्रत् रहता है।

सत्यकी खोजके आरम्भमें भी इन्द्रियाँ विद्यमान रहती हैं, लेकिन उस अवस्थामें मन उन इन्द्रियोंकी सहायता लेकर मैंपनकी उत्पत्ति नहीं करता। उस समय भी हमारे अन्दर भाव रहता है लेकिन वह मैंपनकी भावनासे रहित होता है। हमें वस्तु-विशेषका बोध होता है जिसमें यह शक्ति रहती है कि वह हमें मैंपनका भान करावे, लेकिन इस चैतन्यतामें उसका भान निर्जीव-सा हो जाता है। हम आवश्यक सब प्रकारकी बातोंपर विचार करते हैं, लेकिन वे हमें अपने माया-जालमें नहीं फँसाते।

मैंपनका भान तो माया—प्रपञ्चके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। लोगोंकी सभ्यता, संस्कृति, चरित्र, प्रेम और पारस्परिक सम्मिलन आदि यदि केवल स्वार्थपर अवलम्बित हैं तो सत्यको समझना या उसकी पूर्णतामें निवास करना नितान्त असम्भव है। इससे द्वैतकी उत्पत्ति करके मनुष्य उसमें फँस जाता है। दुःखका प्रमुख कारण अपनेको औरोंसे अलग समझनेका भाव है। इसके रहस्यको भली प्रकार समझ लेनेपर जीवन एक बिल्कुल नवीन वस्तु हो जाता है। जिन चीजोंने हमें अभीतक अपनेमें फँसा रक्खा था उनका असली रूप हमारी निगाहके सामने आ जायगा।

ज्ञानकी उपलब्धिके क्रममें जिन आदर्शोंको हम सम्मुख रखते हैं वे भी हमारे स्वार्थके ही अन्तर्गत आ जाते हैं। सत्यकी ऐसी कल्पनामें हम असत्यका ही दर्शन करते हैं। केन्द्ररूप बनकर ऐसे असत्यको, हम सदा उत्पन्न किया करते हैं। उसे हम चाहे जितना परिशिष्ट बना लें, लेकिन अपने-परायेका

भेद-भाव नहीं मिटता। अच्छे-बुरे, ऊँच-नीचका खयाल बना ही रहता है। इसी विभिन्नताके सबबसे ही हम अपनेको दूसरोंसे श्रेष्ठ मान लेते हैं और अपने स्वार्थकी पूर्तिमें एक दूसरेको नष्ट करनेके भागी बनते हैं। 'मैं' और 'तुम' के भेद-भावमें ही सब प्रकारका अज्ञान निहित है। अपना स्वार्थ इसे सदा पुष्ट करता है। औरोंसे अपनेको श्रेष्ठ समझकर हम आध्यात्मिक जगत्में भी विभिन्नता उत्पन्न करते हैं। सत्यको बाहर देखनेमें इस अनर्थका अस्तित्व है। इसलिये हमें यह आवश्यकता हो जाती है कि सत्यका हमें कोई परिशीलन करा दे। इस प्रकार सत्यकी बाहर खोजमें हम एक और मध्यवर्तीकी उत्पत्ति कर लेते हैं; यही बादमें हमारे नाशका कारण बन जाता है। अपने इच्छानुसार यह हमें नचाया करते हैं।

मैंपनके क्रममें अपने स्वार्थके लिये हम बहुत-से नियम बनाते हैं और उसके बलपर एक दूसरेसे मिला करते हैं। चरित्रके समझनेमें भी हमारे सामने दूसरोंके नमूने रहते हैं जो कि अज्ञानको दूर करनेके बजाय उसमें वृद्धि ही किया करते हैं। ऐसे वातावरणमें जिन विचारोंकी उत्पत्ति होती है, वे सुख-चैनकी खोज, द्रव्योपार्जन, इन्द्रिय-सुखके अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। जिस समयतक हमारा विचार, भाव, रहन-सहन अपने स्वार्थपर निर्भर करता है, अर्थात् मैंपनके क्रमको चिरस्थायी रखता है तबतक वे हमारे अन्दर उन वस्तुओंके प्रति दासताकी ही वृद्धि करते हैं, चाहे हम उसे समझें अथवा न समझें। हमारा स्वार्थ चाहे आध्यात्मिक जगत्का हो या सांसारिक, जबतक इसमें भेद-भाव है, यह सदा दुःख, क्लान्ति और स्वार्थकी ही वृद्धि करेगा।

'हमता' की भावना स्वतः स्थिर और स्थित नहीं है। हमारी इन्द्रियाँ हमें इसका भान कराती हैं। अन्यथा मैंपनका भान असम्भव है। इन्द्रिय, विचार, स्पर्श, ग्रहण, बोध, चेत आदिको मालूम करने और उनके सुखमें मैंपनका भान होता है। अब यह बात समझनेकी है कि यह मैंपनका भान किस प्रकार कार्यमें परिणत होता है।

मैंपन अथवा हमता अस्थायी वस्तु है। गुणोंके मिल जानेसे इसमें चैतन्यता आ जाती है, फिर हम आदर्शको सामने रखकर वस्तुओंमें भेद-भाव उत्पन्न कर लेते हैं। इसमे नवीन परिस्थितिका निर्माण होता है। प्राचीन प्रवृत्ति और परिस्थितिके साथ नवीन परिस्थितिका मेल न बैठनेसे द्वन्द्व उत्पन्न होता है। यह द्वन्द्व हमारी सबसे बड़ी मुसीबतका कारण है। इसके चक्करमें फँसकर हम अपनी परिस्थितियोंके साथ खेला करते हैं और किसीको रुचिकर न होनेसे हम उसके साथ युद्ध किया करते हैं। इसका आदि और अन्त दोनों हैं। यदि हमारा जीवन विरुद्ध परिस्थितिको न उत्पन्न करे तो इसका कार्य सरल हो जाता है। जीवनकी इस सरलतामें मैंपनका भान लुप्त हो जाता है। लेकिन जबतक हमारा कार्य स्वभावके वशमें होकर इन्द्रियोंके सुखके लिये होता है, जिसमें चित्तवृत्ति और ग्रहण-बोध भी शामिल है, तबतक हम मैंपनकी सत्तासे अलग नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त मैंपनकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इसे स्वतः मैंपनका भान नहीं होता। मनकी उमंग और भावुकता कार्य उत्पन्न करके मैंपनका स्मरण कराती हैं।

जिस कार्यमें भय, प्रलोभन, इन्द्रिय-सुख, ग्रहण-बोध आदि शामिल हैं, उसकी उत्पत्ति चाहे जहाँसे होती हो, चाहे वह किसी आदर्शतक पहुँचनेके लिये हो, चरित्र-सम्बन्धी हो चाहे मुक्ति ऐसी कही जानेवाली किसी वस्तुका प्रदाता हो, चाहे वह उपदेश किसी बड़े-से-बड़े आदमीके मुखसे निकला हो, प्राणीको नाशकी ओर अग्रसर

करेगा। जबतक हमारे अन्दर किसी वस्तुके लिये प्रलोभन विद्यमान है हम सत्यका दर्शन कभी नहीं कर सकते, वह पूर्णता जीवन-मरण, नाश, राग, विरागके परे होनेसे सदा पूर्ण है। वह स्वतः सदा नवीन है, आनन्दस्वरूप है। वहाँ गुण, कर्मफल, बन्धन आदि कुछ नहीं है। हमताके द्वारके सब प्रकारसे बन्द हो जानेपर उसकी अनुभूति होती है।

लम्बी यात्रा आरम्भ करनेके लिये पहला कदम उठाना बहुत जरूरी है। सजगबुद्धिके बलपर हम यात्राकी सब झंझटोंको समझ सकेंगे और उन्हें सहन कर सकेंगे। सजगबुद्धिके परिपक्व हो जानेपर अन्तर्ज्ञानकी प्राप्ति होती है। यह सब प्रकारकी हमता और बन्धनोंसे नितान्त स्वतन्त्र है। यहींसे हमारी यात्रा आरम्भ होती है। आवश्यकताको जान लेनेकी शक्ति और उसकी रक्षा हमें उस मार्गकी ओर अग्रसर करती है। यही हमारा अन्तर्ज्ञान है।

अन्तर्ज्ञान उच्चकोटिका सहज ज्ञान है। यह सबमें रहता है। इसे समझकर कार्य करना चाहिये। इस समझके व्यक्तिगत हो जानेसे विवेककी उत्पत्ति होती है। अन्तर्ज्ञान इस ज्ञानका वास्तविक स्वरूप है। कुछ स्वाभाविक बातें सबमें होती हैं। हमें पहले उसका ज्ञान हो जाना चाहिये। तब अनवरत समाधान और उसकी आवृत्तिसे हम उस पूर्णताके लिये सजग हो जायँगे। यह हमें अनन्तकी ओर ले जायगा। इस प्रकार ध्यानावस्थित होनेसे जीवनके रहस्यको समझनेकी क्षमता प्राप्त होती है। इस प्रकार-की बातें कुछ थोड़ेही-से आदमियोंके लिये नहीं हैं, इसमें रमण करनेका अधिकारी तो समस्त जगत् है। शनैः-शनैः विकास-क्रमके अनुसार उसे प्राप्त करेंगे सो भी नहीं है। क्योंकि प्राप्त करनेके भावमें भी तो हमता शामिल है। सत्यको इस दृष्टिकोणसे देखनेपर इसकी प्राप्ति नहीं होती। विकास-क्रमसे अपनेको बिल्कुल अलग कर लेनेपर ज्ञानका उदय होता है। ज्ञानकी प्राप्ति विचार, सजगता और अपनी बातोंको बराबर देखते हुए उसकी समाधानतासे होती है। आगे बढ़ते हुए एक दिन सत्यकी प्राप्ति कर लेनेका विचार भ्रमात्मक है। जिस क्षण हम होशमें हो जायँ और अपने कार्यके स्वयं जिम्मेदार बन जायँ उसी क्षण सत्य हमारे सम्मुख है। दूसरोंपर आश्रित रहनेकी आदतको छोड़कर हम स्वयं अपने लिये नियम बन जायँ। यह बात मुश्किल जरूर है, क्योंकि इसमें अधिक शक्ति-विवेक और विचारकी आवश्यकता है। अन्तर्ज्ञान तो जीवनका शुद्ध कार्य है, जिसमें मैंपनका कुल भाव गायब हो जाता है। यह बात अपने ही परिश्रम, अपनी ही निगरानी और अपने ही धैर्यसे प्राप्त होती है। एक क्षण भी हमारा ऐसा नहीं बीतना चाहिये जब कि हम अपने विचार और कार्यसे बेहोश हों। हम क्या कर रहे हैं इसकी हमें पूर्ण सजगता होनी चाहिये। कृत्रिम इन्द्रिय-उद्वेगसे हमारे अन्दर मैंपनकी उत्पत्ति होती है या हमारे वे कार्य हमें निरन्तर मैंपनका स्मरण दिलाया करते हैं जिन्हें हम अपनी उमंग या भावुकतामें आकर कर डालते हैं जिसके कि हम पात्र नहीं थे। विचारहीन और अपूर्ण कार्य कष्टके मूल हेतु हैं क्योंकि ये सदा अज्ञानसे ही उत्पन्न होते हैं। इसपर हमारी कड़ी निगाह होनी चाहिये।

अन्तर्ज्ञानकी प्रवृत्तिके लिये कोई ऊपरी प्रयास नहीं करना पड़ता। यह तो सूर्यके प्रकाशकी भाँति सदा प्रकाशमान है। इस सजगतामें हम व्यर्थ और अनावश्यक कार्योंको सदा अलग करते रहेंगे। सजगताकी यह एक स्वाभाविक बात है। इसके लिये स्थान और समयका कोई बन्धन नहीं है। स्वतन्त्र होनेके प्रयासमें यह वर्तमानकी कुल बातोंको सुलझा देता है।

बाह्य नियमोंके पालनमें ही यह विचार आता है

कि हम उन्नति कर रहे हैं। इससे हमताकी वृद्धि होती है। मैंपनके लिये भविष्यकालका कोई बन्धन नहीं है, इसलिये इसमें उन्नति नहीं होती। किसीका यदि यह विचार है कि क्रम-विकासके अनुसार धीरे-धीरे उन्नति करते हुए सत्यकी अनुभूति कर लेंगे तो समझ लो कि वह मायाकी ही पुष्टि कर रहा है।

सत्य तो वह पूर्णता है जिसमें कोई परिधि नहीं है। इसमें न कोई पृथक्त्वका भाव है और न सम्मिलनका ही। इसकी पूर्णता कालके बन्धनोंमें भी नहीं है। सत्यकी पूर्णता तो मुक्तावस्था है—किसी व्यक्तिकी नहीं, बल्कि स्वयं सत्यकी। जब यह एक ऐसी अनोखी वस्तु है तो इसके लिये आदेश भी कोई बन्धन नहीं है। कोई कार्य ऐसा नहीं है जो हमें इस ओर अग्रसर करता हो, क्योंकि अगर तुम जीवन-को कार्यसम्पादनके खयालसे लेते हो कि यह सत्यकी ओर ले जा रहा है तो इससे कर्मबन्धन उत्पन्न होता है। चूँकि हम सत्यकी अनुभूति करना चाहते हैं इसलिये हमें शुभ आचरण करना चाहिये। इसमें हमारा अपना एक उद्देश्य रहता है। यह कार्य और उद्देश्यमें भिन्नता उत्पन्न कर देता है। यह भिन्नता कर्मफलकी इच्छा उत्पन्न करती है और हमें बराबर मैंपनका स्मरण कराती रहती है। इसलिये वह बाह्य कार्य जिसमें कोई उद्देश्य शामिल है हमें सदा असत्य-की ओर ले जाता है। यदि सत्यकी तलाश है तो कार्य ही सब कुछ है, क्योंकि उसमें उद्देश्यकी पूर्तिमें कालका कोई भाव नहीं है। जहाँपर कोई आदेश है, उद्देश्य है, आदर्श है, वहाँपर द्वन्द्व भी अवश्य है, इसलिये परेशानी और थकान भी है। हमें अपने सब प्रकारके उद्देश्योंका अन्त कर देना चाहिये क्योंकि सत्यकी अनुभूति किसी प्रलोभनसे नहीं होती। इससे तो हमता ही बढ़ती है।

सत्यकी अन्तिम झाँकी आनन्दके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसके लिये जीवन, मृत्यु, आदर्श, उद्देश्य, कुछ नहीं है। इसमें न किसीका अलगाव है और न किसीका साथ है। जो सब बातोंको समाहित कर लेता है वही जीवन है। अन्तर्ज्ञानकी यही पराकाष्ठा है। यह अनुभूति बहुत ही सूक्ष्म है। सारा विश्व इसीके अन्दर है।

हमताका अन्त हो जानेसे ज्ञानदीपक उद्भासित होता है। चरित्रमें इसकी जब अनुभूति हो जाती है तो राग और विराग दोनोंका अन्त हो जाता है। इसीलिये ज्ञानी होकर सदा वर्तमानमें निवास करना चाहिये, इस अन्तिम लक्ष्यके साथ हमें सारे कर्मोंको एक कर देना चाहिये। ज्ञानके द्वारा जब विचार, भाव और कार्य एक हो जाते हैं तो इसकी पूर्णतामें सजगताकी ज्योति मनको शान्त कर देती है इसकी प्राप्तिके पश्चात् हम आनन्दमें निवास करनेकी अनुभूति करते हैं।

संसारमें कितनी ही ऐसी बातें प्रचलित हैं जिन्हें मनुष्य शताब्दियोंसे करता हुआ चला आ रहा है, जहाँ उसके स्वार्थका खुला खेल है; इतना ही नहीं बल्कि स्वार्थ ही उनका अधिनायक है। दूसरोंकी सेवा, सहा-यता, प्रचलित प्रथाओंका अनुसरण, इच्छा आदिके रूपमें हम इसका नित्य-प्रति प्रदर्शन करते रहते हैं। इस प्रकारके भाव और कार्यमें हम एक प्रकारका सन्तोष प्राप्त करते हैं। सन्तोषके इस प्रलोभनके बलपर ही सहायता और सेवाका भाव निर्भर करता है। जैसे प्रलोभनोंसे हमारे अन्दर प्रवृत्तिकी भावना उत्पन्न होती है जिससे हमारा मन सदा उसकी पुनरावृत्ति चाहने लगता है। इस प्रवृत्तिसे जीवनका उच्च ध्येय नष्ट हो जाता है। केवल हमताको जाग्रत् रखनेके लिये कुछ-न-कुछ किया करते हैं। अज्ञानके चक्रमें फँस जानेसे ऐसा कार्य अधिक होता है जिसमें अनिष्टकी सम्भावना रहती है। क्षणिक सुखका उद्वेग होनेसे, और शक्तिको अपनानेकी इच्छासे हम उसे बारम्बार किया करते हैं।

सहायताके भावसे उत्साहित होकर जिसका आधार भूतक्षेत्र हमारे सुख-सन्तोषकी कल्पना है।

हम अपने अन्दर उसकी प्रतिक्रियासे मैंपनकी उत्पत्ति करते हैं। किसी स्वार्थको सामने न रखकर हम अवश्य दूसरोंको सहायता पहुँचा सकते हैं। सन्तोषकी भावनामें स्वार्थ गुप्तरीतिसे निवास करता है अतः जिस कार्यका आधार सन्तोषकी प्राप्ति है वैसे सब कार्योंमें लोगोंको सतर्क रहना चाहिये, चाहे वे ऐहिक हों या धार्मिक।

निर्भरताको त्यागकर स्वतन्त्र विचार, स्वतन्त्र कार्य और स्वतन्त्र आचरणमें स्वार्थ नहीं रह जाता। कर्तृत्व-की भावना कर्तापनके भावकी उत्पत्ति करती है, जिसमें कार्य और फलासक्ति दोनों विद्यमान हैं। अर्थात् यदि हमारे अन्दर कर्तापनका भाव है तो उसमें कर्मफलकी आसक्ति भी अवश्य होगी। अतः हम असावधान और जिम्मेवारीसे अलग हो जाते हैं। जीवन वह है जहाँ न कर्ता है, न कार्य है और न कर्मफल है। जहाँ ये तीनों वस्तुएँ एक हो जाती हैं वहाँ सत्यकी पूर्णता है। यदि उसका स्वरूप है।

अतः हमें यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जानी चाहिये कि हमारा भाव कहाँपर स्वार्थमय—इच्छा, आदर्श, आदत और तृष्णा आदिसे भावित रहता है। हमें मनुष्य, जाति और देशके सब प्रकारके स्वार्थसे अलग हो जाना चाहिये। सबसे अलग हो जानेपर मनुष्य बिल्कुल ही अपना हो जाता है; उसके अन्दर अपने-पन या स्वार्थका कोई भाव नहीं रह जाता। इस अकेलेपनमें ही सत्यकी प्राप्ति है। खोजका यह अनिवार्य परिणाम है। इसमें आनन्दकी उपलब्धि है, खोजकी मस्ती है। भिन्नतामें अपनी शक्तिका क्षय नहीं करना चाहिये। सत्यकी खोज हमें द्वन्द्वात्मक बुद्धिसे स्वतन्त्र कर देती है।

जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है, मैंपनका भान तो शारीरिक इन्द्रिय-सुख और स्पर्शसे उदय होता है। सुखके भानमें मायाको उत्पन्न करनेकी शक्ति है।

उत्पत्ति मायाकी होती है, सत्यकी नहीं। सत्य बाह्य वस्तु या स्वार्थकी कल्पना नहीं है। इसे बाहर तलाश करनेमें ही हमें संस्था, आदर्श और रक्षककी जरूरत होती है। यह सब इसीलिये ही किया जाता है कि हमारे सन्तोषमें कोई वस्तु प्रतिबन्धक न हो सके।

इच्छामात्र ही सब दुःखोंकी जड़ है, इसीलिये दूसरोंकी सहायताके लिये भी हमें शक्तिकी इच्छा नहीं करनी चाहिये। शक्ति स्वार्थसे कभी अलग नहीं रहती, इसीलिये इसमें सदा मैंपनकी स्मृति है। इससे भी हमें स्वतन्त्र हो जाना चाहिये। सत्यमें पूर्ण रुचि होनेसे तो अवश्य हम प्रयासरहित होकर कार्य कर सकते हैं।

इस प्रकारकी अनुभूतिका केन्द्र बाह्य आश्रय कभी नहीं हो सकता, अपना जीवन ही इसके लिये सबसे उत्तम क्षेत्र है। नित्यप्रतिके जीवनमें हमें इसे देखना चाहिये, तभी हमें इसका पता चल सकता है। यहाँ ही सत्यकी खोज है। इसीलिये सत्यकी अनुभूतिके लिये हमें पहली बात यह करनी है कि हम अपने कार्योंमें ममता और अज्ञानसे सचेत हो जायँ। यहाँ पूर्णता और ज्ञानकी झलक मिलती है।

हमारे अन्दर जीवनके रहस्यको समझनेका पूर्ण वेग होना चाहिये क्योंकि इसमें ही विरागकी सुगन्ध है। ममतासे छुट्टी मिलनेपर अपने प्रति पूर्ण जिम्मेदार हो जानेसे सत्यकी अनुभूति होती है, जो सब नियम और आदर्शके परे है।

कलियुगमें हरिनाम ही एकमात्र साधन है

(लेखक—पं० श्रीवासुदेवजी उपाध्याय, एम० ए०, बी० टी०)

'किसने भेद तुम्हारा पाया ।' भगवान् ! तेरी माया अपरंपार है । यद्यपि यह बतलाना असम्भव है कि अमुक मार्गपर चलनेसे तथा अमुक साधनासे भक्त अपने प्राणप्रियतम परमेश्वरको प्रसन्न कर सकेगा, परन्तु इतनी बात सत्य है कि जिस समय तथा जिस रूपमें भक्तोंने उसे स्मरण किया तथा उसका ध्यान किया, उसको उसी समय तथा उसी रूपमें प्रकट होना पड़ा । 'भगवान भगतके बसमें ।' प्रह्लादके कारण नरसिंह-का तथा नन्दा भक्तके कारण नाईका रूप धारण किया ।

यद्यपि संसारमें मनुष्यको अनेक प्रकारके कर्म करने पड़ते हैं तथा सिद्धिके लिये अनेक मार्गोंका अवलम्बन करना पड़ता है, परन्तु योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें स्वयं अर्जुनको बतलाया है कि—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥
(६ । ४७)

'हे अर्जुन ! सम्पूर्ण योगियोंमें वह भक्तियोगी मेरे मतमें परम श्रेष्ठ है जो श्रद्धाके साथ अन्तरात्माको मुझमें लगाकर मेरा भजन करता है ।' इस मतके स्थिर हो जानेपर कि भक्तियोगी परम श्रेष्ठ है, यह जिज्ञासा होती है कि किस प्रकार भगवान्की भक्ति की जाय । अपने आराध्यदेवकी किस तरह पूजा की जाय, किस साधनको काममें लाया जाय तथा किस मार्गका अनुसरण या अवलम्बन किया जाय कि इष्टदेव प्रसन्न हों । शास्त्रोंमें 'नवधा भक्ति'—नौ प्रकारके भक्तिमार्गका वर्णन मिलता है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥

मनुष्य बड़ी विकट स्थितिमें हो जाता है जब वह सारे मार्गपर दृष्टि डालता है । अपना मार्ग और वह भी उचित मार्ग स्थिर करना साधारण काम नहीं है । कौन नहीं चाहेगा कि हमारे आराध्यदेव शीघ्र प्रसन्न हो हमें दर्शन दें तथा हमारा जीवन सुफल बनावें । यद्यपि सच्चे भक्तोंको मार्ग बतलानेकी आवश्यकता नहीं है परन्तु कलियुगमें भगवान्का नाम लेना ही शास्त्रानुकूल परम आदर्श तथा कल्याणकारी मार्ग है । भक्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदासजीने इस बातपर विशेष जोर दिया है कि कलियुगमें रामनाम ही ऐसा साधन है जिससे मनुष्य संसारसे मुक्त हो सकता है । गोस्वामीजीने बतलाया है कि भगवान्को प्रसन्न करनेके अनेक मार्ग हैं, परन्तु कलियुगमें एक रामनाम ही साधन है—

कृतजुग सब जोगी बिग्यानी । करि हरि ध्यान तरहिं भव प्रानी ॥
त्रेता बिबिध जग्य नर करहीं । प्रभुहि समर्पि कर्म भव तरहीं ॥
द्वापर करि रघुपति पद पूजा । नर भव तरहिं उपाय न दूजा ॥
कलिजुग केवल हरि गुन गाहा । गावत नर पावहिं भव थाहा ॥
कलिजुग जोग न जग्य न ग्याना । एक अधार राम गुन गाना ॥

वर्तमान युगमें यज्ञादि तथा जप इत्यादिसे उतना लाभ नहीं है जितना भगवान्का नाम लेनेसे होता है । इसीके सहारे प्राणी संसाररूपी समुद्रसे अनायास तर जाते हैं—

'नाम अजामिलसे खल कोटि अपार नदी भव बूड़त काढ़े ।'

रामनाम लेनेमें मनुष्यको किसी सामग्रीकी आवश्यकता नहीं है और न किसी विशिष्ट समयकी । प्रत्येक अवस्थामें तथा किसी भी स्थानमें (चाहे वह पवित्र हो या अपवित्र) भगवान्का नाम लिया जा सकता है । इसीलिये तुलसीदासजीने कहा है—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास ।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास ॥

अतएव इस कलियुगमें जो रामनामका स्मरण न कर सका, उससे बढ़कर मूर्ख तथा दुराग्रही कौन हो सकता है !

देह धरे कर यह फल भाई । भजिअ राम सब काम बिहाई ॥

हरिनाम लेनेके तीन मार्ग हैं–(१) श्रवण, (२) कीर्तन तथा (३) स्मरण । इन तीनों मार्गोंमें सबसे उत्तम मार्ग हरिनाम-कीर्तन है । इस रीतिसे मनुष्य न केवल अपना ही भला कर सकता है किन्तु सारे जीव-जन्तुओंका कल्याण कर सकता है । भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥

भगवान् वहीं निवास करते हैं जहाँ भक्तगण उनके पावन नामोंका कीर्तन करते हैं । यह सभीको विदित है कि हरिकीर्तनका प्रचार स्वयं भगवान्‌ने अवतार लेकर गौराङ्गमहाप्रभुके शरीरद्वारा किया था । आधुनिक समयमें नवधा भक्तिमें कीर्तन ही सर्वश्रेष्ठ मार्ग समझा जाता है । अतएव मनुष्य यदि अपनी मुक्ति चाहता है तो प्रेमके साथ रामका भजन तथा नाम-कीर्तन करे ।

राम कथा सुंदर करतारी । संसय बिहग उड़ावनिहारी ॥
भवसागर चह पार जो पावा । रामकथा ताकहँ दृढ़ नावा ॥

हरिनाम-कीर्तनसे शरीर और मनके सारे विकार जाते रहेंगे और मनुष्य परमश्रेष्ठ भक्तियोगी बन सकेगा, जिससे कि अन्तिम अवस्थामें सिवा उस साँवली सूरत मोहनी मूरतके और कुछ उसके ध्यानमें रह ही नहीं जायगा—

प्रीतम छवि नैनन बसी पर छवि कहाँ समाय ।
भरी सराय 'रहीम' लखि आपु पथिक फिरि जाय ॥

इन्हीं सब कारणोंसे कलियुगमें हरिनाम-स्मरण तथा कीर्तन ही भवसागरसे पार होनेके लिये एकमात्र साधन बतलाया गया है ।

दामोदर कृष्ण नाम हरि हरि बोल रे,
सीताराम बोल मन, राधे कृष्ण बोल रे ।

खेद-प्रकाश

गत माघके 'कल्याण' में 'भारतीय देवियो' शीर्षक एक लेख छपा है । जिस समय लेख छपनेके लिये दिया गया था, उस समय मेरे मनमें यह कल्पना भी नहीं थी कि यह लेख किसी दूसरेका हो सकता है । परन्तु कुछ दिनों पूर्व मुझे अपने एक कृपालु मित्रसे सूचना मिली कि यह लेख, जिनके नामसे छपा है, उनका नहीं है, यह स्व० श्रीप्रेमचन्दजीकी अन्तिम कृति 'गोदान' से लिया हुआ है । जाँच करनेपर बात भी ऐसी ही निकली ! कुछ वर्षों पूर्व एक सज्जनने 'कल्याण' में प्रकाशनार्थ एक लेख भेजा था, उसको पढ़ते ही मैंने जान लिया था कि यह लेख प्रेषक महोदयका नहीं है, क्योंकि वह लेख जहाँसे लिया हुआ था, वहाँका वह प्रसंग मेरा पढ़ा हुआ था, इससे वह लेख नहीं छापा गया । सम्भव है, अज्ञानवश ऐसी भूलें और भी हुई हों तथा होती हों । इसके सम्बन्धमें भी यदि उपर्युक्त मित्र महोदय सूचना न देते तो मुझको क्या पता लगता । सम्पादक न तो सर्वज्ञ होता है और न वह तमाम साहित्य पढ़ ही सकता है, इससे वह प्रतिज्ञापूर्वक यह तो नहीं कह सकता कि मुझसे ऐसी भूल होगी ही नहीं, तथापि उसकी जिम्मेवारी तो है ही ! मैं इस भूलको नहीं पकड़ पाया, इसके लिये मुझे बड़ा ही खेद है, और मैं अपने पाठकोंसे करबद्ध क्षमा-प्रार्थना करता हूँ । मैं अपने उन मित्रका भी हृदयसे कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने भूल बताकर मुझे सावधान किया ।

इस सम्बन्धमें मैंने लेखकके प्रेषक महोदयको पत्र लिखा था, उन्होंने उत्तरमें बहुत ही पश्चात्ताप प्रकट करते हुए क्षमा-प्रार्थना की है । उनके पत्रका यह भाव जान पड़ता है कि वे श्रीप्रेमचन्दजीका नाम लिखना चाहते थे, पर भूलसे लिखना रह गया । मुझे उनकी नीयतपर सन्देह करनेका कोई अधिकार नहीं है । सम्भव है, भूलसे ही उनसे नाम लिखना रह गया हो । परन्तु भूल भूल ही है—और इसके लिये वे पश्चात्ताप कर ही रहे हैं । भविष्यमें उन्हें विशेष सावधान रहना चाहिये । —सम्पादक

* * * कल्याणके नियम * * *

उद्देश्य—भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचार-समन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है।

नियम

(१) भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वर-परक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। **लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं है।**

(२) इसका डाकव्यय और विशेषांकसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ४≡) और भारतवर्षसे बाहरके लिये ६॥–) नियत है। बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए, पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता।

(३) 'कल्याण' का वर्ष अंगरेजी अगस्त माससे आरम्भ होकर जुलाईमें समाप्त होता है, अतः ग्राहक अगस्तसे ही बनाये जाते हैं। वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं किन्तु अगस्तके अङ्कसे। कल्याणके बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते; छः या तीन महीनेके लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते। 'कल्याण' प्रतिमास अंगरेजी महीनेकी पहली तारीखको निकलता है।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें स्वीकारकर प्रकाशित नहीं किये जाते।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका 'कल्याण' न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये। डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें बड़ी अड़चन होगी।

(६) पता बदलनेकी सूचना कम से कम १५ दिन पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। **लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम-पता साफ-साफ लिखना चाहिये।** महीने-दो महीनेके लिये बदलवाना हो तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये।

(७) अगस्तसे बननेवाले ग्राहकोंको रंग-बिरंगे चित्रोंवाला अगस्तका अङ्क (चालू वर्षका विशेषांक) दिया जाता है। विशेषांक ही अगस्त तथा वर्षका पहला अङ्क होता है। फिर जुलाईतक महीने-महीने नये अङ्क मिला करते हैं। कल्याणके सातवें वर्षसे ग्यारहवें वर्षतक भाद्रपद-अङ्क परिशिष्टाङ्करूपमें विशेषाङ्कके अन्तमें प्रतिवर्ष दिया गया है।

(८) चार आना एक संख्याका मूल्य मिलनेपर नमूना भेजा जाता है। ग्राहक बननेपर वह अङ्क न लेवें तो।) बाद दिया जा सकता है।

आवश्यक सूचनाएँ

(९) 'कल्याण' में किसी प्रकारका कमीशन या कल्याणकी किसीको एजन्सी देनेका नियम नहीं है।

(१०) पुराने अङ्क, फाइलें तथा विशेषांक कम या रियायती मूल्यमें प्रायः नहीं दिये जाते।

(११) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ **ग्राहक-संख्या** अवश्य लिखनी चाहिये।

(१२) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है।

(१३) **ग्राहकोंको चन्दा मनिआर्डरद्वारा भेजना चाहिये** क्योंकि वी० पी० के रुपये प्रायः देरीसे पहुँचते हैं।

(१४) ग्राहकोंको **वी० पी० मिले, उसके पहले ही यदि वे हमें रुपये भेज चुके हों**, तो तुरन्त हमें एक कार्ड देना चाहिये और हमारा (फ्री डिलेवरीका) उत्तर पहुँचनेतक वी० पी० रोक रखनी चाहिये, नहीं तो हमें व्यर्थ ही नुकसान सहना होगा।

(१५) प्रेस-विभाग और कल्याण-विभाग अलग अलग समझकर अलग अलग पत्र-व्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये।

(१६) सादी चिट्ठीमें टिकट कभी नहीं भेजना चाहिये।

(१७) मनिआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर, पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये।

(१८) प्रबन्ध सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनिआर्डर आदि **'व्यवस्थापक "कल्याण" गोरखपुर'** के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि **'सम्पादक "कल्याण" गोरखपुर'** के नामसे भेजने चाहिये।

(१९) स्वयं आकर ले जाने या एक साथ एकसे अधिक अङ्क रजिस्ट्रीसे मँगानेवालोंसे कुछ कम नहीं लिया जाता।

(२०) 'कल्याण' गवर्नमेण्टद्वारा यू० पी०, आसाम, बिहार, उड़ीसा, बम्बई प्रेसीडन्सी और सी० पी० आदि प्रान्तीय शिक्षा-विभागके लिये स्वीकृत है। उक्त प्रान्तोंकी संस्थाओंके संचालकगण (तथा स्कूलोंके हेडमास्टर) संस्थाके फण्डसे 'कल्याण' मँगा सकते हैं।

Regd. No. A. 1724.

हरि कब आवहिंगे!

नैन सलोने स्याम, हरि कब आवहिंगे।
वे जो देखत राते राते फूलन फूले डार।
हरि बिन फूलझरी-सी लागत झरि झरि परत अँगार॥
फूल बिनन नहिं जाउँ सखी री हरि बिन कैसे फूल।
सुन-री सखी मोहि राम दोहाई लागत फूल त्रिसूल॥
जबते पनिघट जाउँ सखी री वा जमुनाके तीर।
भरि भरि जमुना उमडि चलत है इन नैननके नीर॥
इन नैननके नीर सखी री सेज भई घर नाव।
चाहत हौं ताही पै चढ़िकै हरिजीके ढिग जाव॥
लाल पियारे प्रान हमारे रहे अधर पर आय।
सूरदास प्रभु कुंजबिहारी मिलत नहीं क्यों आय॥

कल्याण

वर्ष १२

अंक ११

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण [illegible]]

वार्षिक मूल्य		साधारण प्रति
भारतमें ४≡)	जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित आनँद भूमा जय जय ॥	भारतमें [illegible]
विदेशमें ६॥≈)	जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥	विदेशमें ≤)
(१० शिलिङ्ग)	जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥	(८ पेंस)

Edited by Hanumanprasad Poddar.
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur (India)

श्रीहरिः

कृपाकर ग्राहकनंबर नोट करना न भूलें ।

प्रत्येक कृपालु प्रेमी पाठक महाशयकी सेवामें हम बार-बार प्रार्थना करते आये हैं कि वे अपना-अपना ग्राहकनंबर नोट कर लें और पत्रव्यवहार करते या रुपये भेजते समय अवश्य लिखें परन्तु अब भी कई पत्र और मनीआर्डर बिना ग्राहकनंबरके आते हैं । अतः हमारी पुनः-पुनः विनम्र प्रार्थना है कि सब सज्जन अपना ग्राहकनंबर जो "कल्याण" के रैपरपर उनके पतेके पास लिखा रहता है, अवश्य नोट कर लें और पत्रव्यवहार आदि करते समय अवश्य लिखें ।

मैनेजर, 'कल्याण'

ग्राहक नंबर

कल्याण जून सन् १९२९ की

विषय-सूची

गीतातत्त्वांक तीनों खण्ड (अगस्त, सितम्बर, अक्टूबरका) मूल्य ४) डाकमहसूलसमेत होगा। सालभरके ग्राहकोंसे ४≡) लिये जायँगे।

'गीता-तत्त्वांक' बहुत ही उपयोगी और सबके लिये उपादेय होगा। इसलिये ग्राहक बननेवालोंको जल्दी करनी चाहिये। नहीं तो, 'मानसांक'की भाँति दुबारा छपनेपर मिलनेमें बहुत ही देर हो सकती है।

गीता-तत्त्वांकके लेखक

'गीता-तत्त्वांक' के लिये जिन सज्जनोंसे खास तौरपर लिखनेके लिये अनुरोध किया गया है उनमेंसे कुछ महानुभावोंके नाम ये हैं। इनमेंसे कई सज्जनोंके लेख तो आ भी गये हैं।

म० स्वामीजी श्रीश्रीउड़ियाबाबाजी, स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी, जगद्गुरु श्रीशंकराचार्यजी, महामण्डलेश्वर स्वामीजी श्रीविद्यानन्दजी, महामण्डलेश्वर स्वामीजी श्रीजयेन्द्रपुरीजी, महामण्डलेश्वर स्वामीजी श्रीभागवतानन्दजी, म० श्रीहरिबाबाजी, पं० श्रीरामवल्लभाशरणजी महाराज, महामना पं० श्रीमदनमोहनजी मालवीय, महात्मा श्रीगांधीजी, श्रीअरविन्द, साधु वास्वानीजी, डा० भगवानदासजी, महामहोपाध्याय पं० श्रीप्रमथनाथ तर्कभूषण, म० म० पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज, पण्डितप्रवर श्रीपञ्चाननजी तर्करत्न, म० म० पं० गिरधरजी शर्मा चतुर्वेदी, गोस्वामी श्रीदामोदरलालजी महाराज, सर मन्मथनाथ मुखोपाध्याय, डा० श्यामाप्रसाद मुखोपाध्याय, म० म० डा० गंगानाथ झा, देवर्षि पं० श्रीरमानाथजी शास्त्री, श्रीएडविन ग्रीव्स, श्रीआटो श्राडर, श्रीजीन डिलेयर, श्रीअरण्डल, श्रीअर्थर मैसो, रे० सी० एफ एण्ड्यूज, डा० राजेन्द्रप्रसादजी, श्रीपट्टाभि सीतारामैया, श्रीकेलकर, श्रीसम्पूर्णानन्दजी, श्रीश्रीकृष्णसिंहजी, श्रीपुरुषोत्तमदासजी टंडन, काका कालेलकरजी, श्रीकिशोरीलालजी मश्रूवाला, श्री एस सत्यमूर्ति, श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय, श्री वी० एन० मेहता, श्रीएस० के० मैत्र, एम० ए०, पी० एच० डी०, डा० तारापोरवाला, श्रीफिरोज कावसजी दावर, श्रीहीरेन्द्रनाथ दत्त, महात्मा बालकरामजी विनायक, श्रीअनिलवरण राय, स्वामी श्रीशुद्धानन्दजी, आचार्य श्रीरसिकमोहन विद्याभूषण, श्रीमोतीलाल राय, डा० महम्मद हाफिज सैयद, श्रीश्रीपाद दामोदर सातवलेकर, आदि-आदि।

व्यवस्थापक—कल्याण कार्यालय,
गोरखपुर

चित्र-सूची

गीताप्रेस, गोरखपुरके सुन्दर सस्ते धार्मिक दर्शनीय चित्र

कागज-साइज १५×२० इञ्चके बड़े चित्र

सभी चित्र बढ़िया आर्ट पेपरपर सुन्दर छपे हुए हैं।

सुनहरी—नेट दाम प्रत्येकका ~)॥

१ युगलछबि
२ राम-सभा
३ अवधकी गलियोंमें आनन्दकंद
४ आनन्दकंदका आँगनमें खेल
५ आनन्दकंद पालनेमें
६ कौसल्याका आनन्द
७ सखियोंमें श्याम
८ दशरथके भाग्य
९ भगवान् श्रीराम
१० राम-दरबारकी झाँकी

रंगीन—नेट दाम प्रत्येकका ~)

११ श्रीराधेश्याम
१२ श्रीनन्दनन्दन
१३ गोपियोंकी योगधारणा
१४ श्याममयो संसार
१५ वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण
१६ विश्वविमोहन श्रीकृष्ण
१७ श्रीमदनमोहन
१८ भगवान् श्रीकृष्णरूपमें
१९ श्रीव्रजराज
२० श्रीकृष्णार्जुन
२१ चारों भैया
२२ भुवनमोहन राम
२३ राम-रावण-युद्ध
२४ रामदरबार
२५ श्रीरामचतुष्टय
२६ श्रीलक्ष्मीनारायण
२७ भगवान् विष्णु
२८ श्रीश्रीमहालक्ष्मीजी
२९ कमला
३० सावित्री-ब्रह्मा
३१ भगवान् विश्वनाथ
३२ श्रीशिवपरिवार
३३ शिवजीकी विचित्र बरात
३४ शिव-परिछन
३५ शिव-विवाह
३६ प्रदोषनृत्य
३७ श्रीजगज्जननी उमा
३८ श्रीध्रुव-नारायण
३९ श्रीमहावीरजी
४० श्रीचैतन्यका हरिनामसंकीर्तन
४१ महासंकीर्तन
४२ नवधा भक्ति
४३ जडयोग
४४ भगवान् शक्तिरूपमें
४५ कौसल्याकी गोदमें ब्रह्म
४६ सच्चिदानन्दके ज्योतिषी
४७ भगवान् नारायण
४८ ब्रह्माकृत भगवत्स्तुति
४९ मुरलीका असर
५० लक्ष्मी माता
५१ श्रीकृष्ण-यशोदा
५२ भगवान् शंकर
५३ बालरूप श्रीरामजी
५४ दूल्हा राम
५५ कालिय-उद्धार
५६ जटायुकी स्तुति
५७ पुष्पकविमानपर

कागज-साइज १०×१५ इञ्च

(छोटे ब्लाकोंसे ही केवल बड़े कागजपर बार्डर लगाकर छापे हैं।)

सुनहरी चित्र, नेट दाम)॥ प्रतिचित्र

१०१ युगलछबि
१०२ तन्मयता
×
×

बहुरंगे चित्र, नेट दाम)।꠲ प्रतिचित्र

११२ श्रीरामचतुष्टय
११३ अहल्योद्धार
११५ मुरली-मनोहर
११६ गोपीकुमार
११७ राधाकृष्ण
१२० कौरव-सभामें विराट्रूप
१२५ कमलापति-स्वागत
१२६ लक्ष्मीनारायण
१२८ शिवजीकी विचित्र बरात
१३० शिवपरिवार
१३१ पञ्चमुख परमेश्वर
१३२ लोककल्याणार्थ हलाहलपान
१३४ जगज्जननी उमा
१३८ श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभु

कागज-साइज ७॥×१० इञ्च

सुनहरी चित्र, नेट दाम)।꠲ प्रतिचित्र

२०१ श्रीरामपञ्चायतन
२०२ क्रीडाविपिनमें श्रीरामसीता
२०३ युगलछबि
२०४ कंसका कोप
२०५ बँधे नटवर
२०६ वेणुधर
२०७ बाबा भोलेनाथ
२०८ मातङ्गी
२०९ दुर्गा
२१० आनन्दकन्दका आँगनमें खेल
२११ भगवान् श्रीराम
२१२ जुगल सरकार
२१३ दशरथके भाग्य
२१४ शिशु-लीला—१
२१६ श्रीभरतजी

बहुरंगे चित्र, नेट दाम)। प्रतिचित्र

२५१ सदाप्रसन्न राम
२५२ कमललोचन राम
२५३ त्रिभुवनमोहन राम
२५४ भगवान् श्रीरामचन्द्र
२५५ श्रीरामावतार
२५६ कौसल्याकी गोदमें ब्रह्म
२५७ भगवान् श्रीरामकी बाललीला

२५८ भगवान् श्रीराम और काकभुशुण्डि
२५९ अहल्योद्धार
२६० गुरुसेवा
२६१ पुष्पवाटिकामें श्रीसीताराम
२६२ स्वयंवरमें लक्ष्मणका कोप
२६३ परशुराम-राम
२६४ श्रीसीताराम [वन-गमनाभिलाषिणी सीता]
२६५ श्रीराम और कौसल्या
२६६ रामवनगमन
२६७ कौसल्या-भरत
२६८ भरतगुहमिलाप
२६९ श्रीरामके चरणोंमें भरत
२७० पादुका-पूजन
२७१ ध्यानमग्न भरत
२७२ अनसूया-सीता
२७३ श्रीराम-प्रतिज्ञा
२७४ राम-शबरी
२७५ देवताओंके द्वारा भगवान् श्रीरामकी स्तुति
२७६ *बालिवध और* ताराविलाप
२७७ श्रीराम-जटायु
२७८ विभीषणहनुमान्मिलन
२७९ ध्यानमग्ना सीता
२८० लङ्का-दहन
२८१ भगवान् श्रीरामका रामेश्वरपूजन
२८२ सुवेल-पर्वतपर श्रीरामकी झाँकी
२८३ राम-रावण-युद्ध
२८४ नन्दिग्राममें भरत-हनुमान्-भेंट
२८५ पुष्पकारूढ़ श्रीराम
२८६ मारुति-प्रभाव
२८७ श्रीरामदरबार
२८८ श्रीरामचतुष्टय
२८९ श्रीसीताराम (शक्ति-अङ्क)
२९० श्रीसीताराम (*मर्यादायोग*)
२९१ श्रीशिवकृत राम-स्तुति
२९२ श्रीसीताजीकी गोदमें लव-कुश
२९३ सच्चिदानन्दके ज्योतिषी
२९४ वात्सल्य (माँका प्यार)
२९५ परब्रह्म प्रेमके बन्धनमें
२९६ भगवान् श्रीकृष्णरूपमें
२९७ श्रीकृष्णार्जुन
२९८ भगवान् और उनकी ह्लादिनी शक्ति राधाजी
२९९ राधाकृष्ण
३०० श्रीराधेश्याम
३०१ मदनमोहन
३०२ व्रजराज
३०३ वृन्दावनविहारी
३०४ विश्वविमोहन मोहन
३०५ बाँकेविहारी
३०६ श्रीश्यामसुन्दर
३०७ मुरलीमनोहर
३०८ भक्तमनचोर
३०९ श्रीनन्दनन्दन
३१० आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र
३११ गोपीकुमार
३१२ व्रज-नव-युवराज
३१३ भक्त-भावन भगवान् श्रीकृष्ण
३१४ देवताओंद्वारा गर्भस्तुति
३१५ साधु-रक्षक श्रीकृष्ण (*वसुदेवदेवकीको कारागारमें दर्शन*)
३१६ गोकुल-गमन
३१७ मथुरासे गोकुल
३१८ दुलारा लाल
३१९ तृणावर्त-उद्धार
३२० वात्सल्य
३२१ गोपियोंकी योगधारणा
३२२ श्याममयी संसार
३२३ माखनप्रेमी श्रीकृष्ण
३२४ गो-प्रेमी श्रीकृष्ण
३२५ मनमोहनकी तिरछी चितवन
३२६ भवसागरसे उद्धार करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण
३२७ बकासुर-उद्धार
३२८ अघासुर-उद्धार
३२९ कृष्ण-सखा-सह वन-भोजन
३३० वर्षामें राम-श्याम
३३१ राम-श्यामकी मथुरा-यात्रा
३३२ योद्धा श्रीकृष्ण
३३३ बन्धनमुक्तकारी भगवान् श्रीकृष्ण
३३४ सेवक श्रीकृष्ण
३३५ जगत्-पूज्य श्रीकृष्णकी अग्रपूजा
३३६ शिशुपाल-उद्धार
३३७ समदर्शी श्रीकृष्ण
३३८ शान्तिदूत श्रीकृष्ण
३३९ मोह-नाशक श्रीकृष्ण
३४० भक्त-प्रतिज्ञा-रक्षक श्रीकृष्ण
३४१ अश्व-परिचर्या
३४२ श्रीकृष्णका अर्जुनको पुनः ज्ञानोपदेश
३४३ जगद्गुरु श्रीकृष्ण
३४४ राजा बहुलाश्वकृत श्रीकृष्णपूजन नं० २
३४५ *नृग-उद्धार*
३४६ मुरलीका असर
३४७ व्याधकी क्षमा-प्रार्थना
३४८ योगेश्वरका योगधारणासे परम प्रयाण
३४९ शिव
३५० ध्यानमग्न शिव
३५१ सदाशिव
३५२ योगीश्वर श्रीशिव
३५३ पञ्चमुख परमेश्वर
३५४ योगाग्नि
३५५ *मदन-दहन*
३५६ शिवविवाह
३५७ उमा-महेश्वर
३५८ गौरीशंकर
३५९ जगज्जननी उमा
३६० शिव-परिवार
३६१ प्रदोष-नृत्य
३६२ शिव-ताण्डव
३६३ लोककल्याणार्थ हलाहलपान
३६४ पाशुपतास्त्रदान
३६५ श्रीहरि-हरकी जल-क्रीडा
३६६ श्रीविष्णुरूप और श्रीब्रह्मारूपके द्वारा श्रीशिवरूपकी स्तुति
३६७ भगवान् विष्णुको चक्रदान
३६८ श्रीकृष्णरूपसे श्रीशिवरूपकी स्तुति और वरदानलाभ
३६९ शिव-राम-संवाद
३७० काशी-मुक्ति
३७१ भक्त व्याघ्रपाद
३७२ श्रीविष्णु
३७३ विष्णुभगवान्
३७४ कमलापति-स्वागत
३७५ भगवान् शेषशायी
३७६ लक्ष्मीनारायण
३७७ भगवान् नारायण
३७८ द्वैतसम्प्रदायके आद्याचार्य श्रीब्रह्माजी.
३७९ ब्रह्माकृत भगवत्स्तुति
३८० ब्रह्म-स्तुति
३८१ भगवान् मत्स्यरूपमें
३८२ मत्स्यावतार
३८३ भगवान् कूर्मरूपमें
३८४ भगवान् वराहरूपमें
३८५ भगवान् श्रीनृसिंहदेवकी गोदमें भक्त प्रह्लाद
३८६ भगवान् वामनरूपमें
३८७ भगवान् परशुरामरूपमें
३८८ भगवान् बुद्धरूपमें
३८९ भगवान् कल्किरूपमें
३९० भगवान् ब्रह्मारूपमें
३९१ श्रीसावित्री-ब्रह्मा
३९२ भगवान् दत्तात्रेयरूपमें
३९३ भगवान् सूर्यरूपमें
३९४ भगवान् गणपतिरूपमें
३९५ भगवान् अग्निरूपमें
३९६ भगवान् शक्तिरूपमें
३९७ महागौरी
३९८ *महाकाली*
३९९ महासरस्वती
४०० श्रीलक्ष्मीजी (चतुर्भुजी)
४०१ श्रीमहालक्ष्मी (अष्टादशभुजी)
४०२ सावित्रीकी यमराजपर विजय
४०३ देवी कात्यायनी
४०४ देवी कालिका
४०५ देवी कूष्माण्डा
४०६ देवी चन्द्रघण्टा
४०७ देवी सिद्धिदात्री
४०८ राजा सुरथ और समाधि वैश्यको देवीका दर्शन
४०९ श्रीबहुचराम्बिकामन्दिर मोरवीसे मास (षोडशमाता)
४१० समुद्र-मन्थन
४११ महासङ्कीर्तन
४१२ ध्यानयोगी ध्रुव
४१३ ध्रुव-नारद
४१४ ज्ञानयोगी *राजा जनक*
४१५ ज्ञानयोगी शुकदेव
४१६ भीष्मपितामह
४१७ अजामिल-उद्धार
४१८ सुआ पढ़ावत गणिका तारी
४१९ ठाकुरके ध्येय बाल श्रीकृष्ण

४२० सङ्कीर्तनयोगी श्रीचैतन्यमहाप्रभु
४२१ निमाई-निताई
४२२ श्रीचैतन्यका हरिनामसंकीर्तन
४२३ प्रेमी भक्त सूरदास
४२४ गोस्वामी तुलसीदासजी
४२५ मीरा (कीर्तन)
४२६ मीराबाई(जहरका प्याला)
४२७ प्रेमयोगिनी मीरा
४२८ मीरा (आजु मैं देख्यो गिरधारी)
४२९ प्रेमी भक्त रसखान
४३० गोलोकमें नरसी मेहता
४३१ परम वैराग्यवान् भक्त दम्पति राँका-बाँका
४३२ नवधा भक्ति
४३३ जड़योग
४३४ समज्ञानभूमिका
४३५ मानसरोवर
४३६ स्तवन
४३७ समुद्रताड़न
४३८ ऋषि-आश्रम
४३९ महामन्त्र नं० १
४४० महामन्त्र नं० २
४४१ रघुपति राघव राजाराम पतितपावन सीताराम
४४२ जय हरि गोविन्द राधे गोविन्द
४४३ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय
४४४ कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्
४४५ हरहर महादेव
४४६ नमः शिवाय
४४७ लक्ष्मी माता
४४८ श्रीकृष्ण-यशोदा
४४९ शुद्धाद्वैतसम्प्रदायके आदि प्रवर्तक भगवान् शङ्कर
४५० कालिय-उद्धार
४५१ यज्ञपत्नीको भगवत्प्राप्ति
४५२ श्रीकृष्ण अपने पिता-माता वसुदेव-देवकीकी हथकड़ी-बेड़ी काट रहे हैं
४५३ सुदामाका महल
४५४ श्रीकृष्ण उद्धवको सन्देश देकर व्रज भेज रहे हैं
४५५ नौकारोहण
४५६ मथुरा-गमन
४५७ भगवान् विष्णु
४५८ रामसभा
४५९ सूरके श्याम ब्रह्म
४६० भगवान् राम और सनकादि मुनि
४६१ जरासन्धसे युद्धभिक्षा
४६२ पर्वताकार हनुमान
४६३ शिव-पार्वती
४६४ गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज
४६५ चित्रकूटमें
४६६ शिवजीकी बरात
४६७ हनुमान्जीकी प्रार्थना
४६८ ताड़का-उद्धार
४६९ मनु-शतरूपापर कृपा
४७० श्रीरामराज्याभिषेक
४७१ दशरथ-मरण
४७२ भरद्वाज-भरत
४७३ वनवासियोंका प्रेम
४७४ वालि-सुग्रीव-युद्ध
४७५ दूल्हा राम
४७६ रावण-मन्दोदरी
४७७ पुष्पकविमानपर
४७८ अग्निका चरुदान
४७९ लक्ष्मणको उपदेश
४८० पादुका-दान
४८१ जटायुकी स्तुति

फुटकर एवं 'कल्याण' के बचे हुए कुछ चित्र

जाम्बवान् और हनुमान्जी
आत्मज्ञानका अधिकारी नचिकेता, 'द' 'द' 'द'
अयोध्यामें आनन्द (सुनहरी)
आनन्द और प्रेम (,,)
श्रवण भक्त राजा परीक्षित एवं कीर्तन भक्त परमहंस शुकदेव मुनि
जगद्गुरु श्रीवल्लभाचार्य
अङ्गिरस् और शौनकका संवाद,
पिप्पलादके आश्रममें सुकेशादि मुनि
दयामूर्ति आचार्य श्रीमध्व
उमा और इन्द्र, वरुण और भृगु
जगद्गुरु श्रीमध्वाचार्य
इन्द्र और विरोचनको उपदेश
अनूठी झाँकी
जगद्गुरु श्रीरामानुजाचार्य
याज्ञवल्क्य और गार्गी
श्रीसीताजीकी अग्नि प्रवेश
श्रीमनु-शतरूपा, श्रीऋषभदेव
संत दादूजी, संत सुन्दरदासजी
संत सूरदासजी, गोस्वामी तुलसीदासजी
संत राजा शिवि
गुरु-दक्षिणा
बालरूप श्रीराम
भगवान् श्रीरामका लक्ष्मणको उपदेश
काकभुशुण्डिजीकी कथा
अगस्त्यके आश्रममें श्रीराम, भरतको पादुका दान
संत गोकर्ण, राजा भरत
महात्मा ईसा, महात्मा जरथुस्त्र

एकरंगे चित्र, नेट दाम १) सैकड़ा

श्रीकृष्ण-सुदामाकी गुरुसेवा
अहल्योद्धार
योगेश्वरेश्वर श्रीकृष्ण

कागज-साइज ५×७॥ इञ्च

बहुरंगे चित्र, नेट दाम १) सैकड़ा

१००१ श्रीविष्णु
१००२ शेषशायी
१००३ सदाप्रसन्न राम
१००४ कमललोचन राम
१००५ त्रिभुवनमोहन राम
१००६ दूल्हा राम
१००७ श्रीसीताराम
१००८ श्रीराम-विभीषण-मिलन (भुज विशाल गहि)
१००९ श्रीरामचतुष्टय
१०१० विश्वविमोहन श्रीकृष्ण
१०११ वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण
१०१२ आनन्दकन्द श्रीकृष्ण
१०१३ गोपीकुमार
१०१४ श्रीबाँकेविहारी
१०१५ व्रज-नव-युवराज
१०१६ रामदरबार
१०१७ देवसेनापति कुमार कार्तिकेय
१०१८ व्रजराज
१०१९ खेल-खिलाड़ी
१०२० ब्रह्माका मोह
१०२१ युगलछवि
१०२२ श्रीमदनमोहन
१०२३ श्रीराधेश्याम
१०२४ भगवान् और ह्लादिनी शक्ति राधाजी
१०२५ नन्दनन्दन
१०२६ सुदामा और श्रीकृष्णका प्रेममिलन
१०२७ अर्जुनको गीताका उपदेश
१०२८ अर्जुनको चतुर्भुजरूप-का दर्शन
१०२९ भक्त अर्जुन और उनके सारथि कृष्ण
१०३० परीक्षितकी रक्षा
१०३१ सदाशिव
१०३२ शिवपरिवार
१०३३ चन्द्रशेखर
१०३४ कमला
१०३५ भुवनेश्वरी
१०३६ श्रीजगन्नाथजी
१०३७ यम-नचिकेता
१०३८ ध्यानयोगी ध्रुव
१०३९ ध्रुव-नारायण
१०४० पाठशालामें प्रह्लादका बालकोंको राम-राम जपनेका उपदेश
१०४१ समुद्रमें पत्थरोंसे दबे प्रह्लादका उद्धार

१०४२ भगवान् नृसिंहदेवकी गोदमें भक्त प्रह्लाद
१०४३ पवन-कुमार
१०४४ भगवान्‌की गोदमें भक्त चक्रिक भील
१०४५ शंकरके ध्येय बालकृष्ण
१०४६ भगवान् श्रीशंकराचार्य
१०४७ श्रीश्रीचैतन्य
१०४८ चैतन्यका अपूर्व त्याग
१०४९ भक्त धन्ना जाटकी रोटियाँ भगवान् ले रहे हैं
१०५० गोविन्दके साथ गोविन्दका खेल
१०५१ भक्त गोपाल चरवाहा
१०५२ मीराबाई (कीर्तन)
१०५३ भक्त जनाबाई और भगवान्
१०५४ भक्त जगन्नाथदास भागवतकार
१०५५ श्रीहरिभक्त हिम्मतदासजी
१०५६ भक्त बालीग्रामदास
१०५७ भक्त दक्षिणी तुलसीदासजी
१०५८ भक्त गोविन्ददास
१०५९ भक्त मोहन और गोपाल भाई
१०६० परमेष्ठी दर्जी
१०६१ भक्त जयदेवका गीत-गोविन्द-गान
१०६२ ऋषि-आश्रम
१०६३ श्रीविष्णु भगवान
१०६४ कमलापतिस्वागत
१०६५ सूरका समर्पण
१०६६ माँका प्यार
१०६७ प्यारका बन्दी
१०६८ बाललीला
१०६९ नवधा भक्ति
१०७० ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म
१०७१ श्रीमनुशतरूपा
१०७२ देवता, असुर और मनुष्योंको ब्रह्माजीका उपदेश

चित्रोंके दाम

चित्र बेचनेके नियमोंमें परिवर्तन हो गया है। दाम प्रायः बहुत घटा दिये गये हैं।

साइज और रंग

१५×२०, सुनहरी	-)॥	७॥×१०, सुनहरी	)।॥
१५×२०, रंगीन	-)	७॥×१०, रंगीन	)।
१०×१५, सुनहरी	)॥	७॥×१०, सादा	१) सै०
१०×१५, रंगीन	)।॥	५×७॥, रंगीन	१) सै०

१५×२० साइजके सुनहरे १०, रंगीन ४७ चित्रोंके सेटकी नेट कीमत ३॥।=) पैकिङ्ग -) डाकखर्च १≡) कुल लागत ५=) लिये जायँगे।

७॥×१० साइजके सुनहरे १७, रंगीन २५५ और सादे ३ कुल २७५ चित्रोंके सेटकी नेट कीमत ४।=)॥।॥ पैकिङ्ग -)।॥ डाकखर्च १≡) कुल ५॥≡) लिये जायँगे।

५×७॥ साइजके रंगीन ७२ चित्रोंका नेट दाम ॥≡)॥ पैकिङ्ग -)। डाकखर्च ।=)। कुल १≡) लिये जायँगे।

१५×२०, ७॥×१०, ५×७॥ के तीनों सेटकी नेट कीमत ९)।॥, पैकिङ्ग -)॥।॥ डाकखर्च २≡) कुल ११।-) लिये जायँगे।

रेलपार्सलसे मँगानेवाले सज्जनोंको ९)।॥ चित्रका मूल्य, पैकिङ्ग =)॥।॥ रजिस्ट्री ।) कुल ९।≡) भेजना चाहिये। साथमें पासके रेलवेस्टेशनका नाम लिखना जरूरी है।

नियम

(१) चित्रका नम्बर, नाम जिस साइजमें दिया हुआ है वह उसी साइजमें मिलेगा, आर्डर देते समय नम्बर भी देख लें। समझकर आर्डरमें नम्बर, नाम अवश्य लिख दें। (२) पुस्तकोंके साथ मालगाड़ीसे चित्र मँगानेपर कुल मालका चित्रोंकी क्लासका किराया देना पड़ता है, इसलिये जितना किराया अधिक लगेगा वह ग्राहकोंके जिम्मे होगा, आर्डर देते समय इस नियमको समझ लें। (३) ३०) के चित्र लेनेसे ग्राहकके रेलवेस्टेशनपर मालगाड़ीसे फ्री डिलीवरी दी जायगी। रजिस्ट्री वी० पी० खर्चा ग्राहकको देना होगा। (४) केवल २ या ४ चित्र पुस्तकोंके साथ या अकेले नहीं भेजे जाते, क्योंकि रास्तेमें टूट जाते हैं। (५) 'कल्याण' के साथ भी चित्र नहीं भेजे जाते।

नोट—सेट सजिल्द भी मिला करती है, जिल्दका दाम १५×२० का ॥), ७॥×१० का ॥), ५×७॥ का ≈) अधिक लिया जाता है। सजिल्द सेटका डाकखर्च ज्यादा लगता है।

स्टाकमें चित्र समय-समयपर कम-अधिक होते रहते हैं इसलिये सेटका आर्डर आनेपर जितने चित्र स्टाकमें उस समय तैयार रहेंगे उतने ही चित्र भेज दिये जायेंगे।
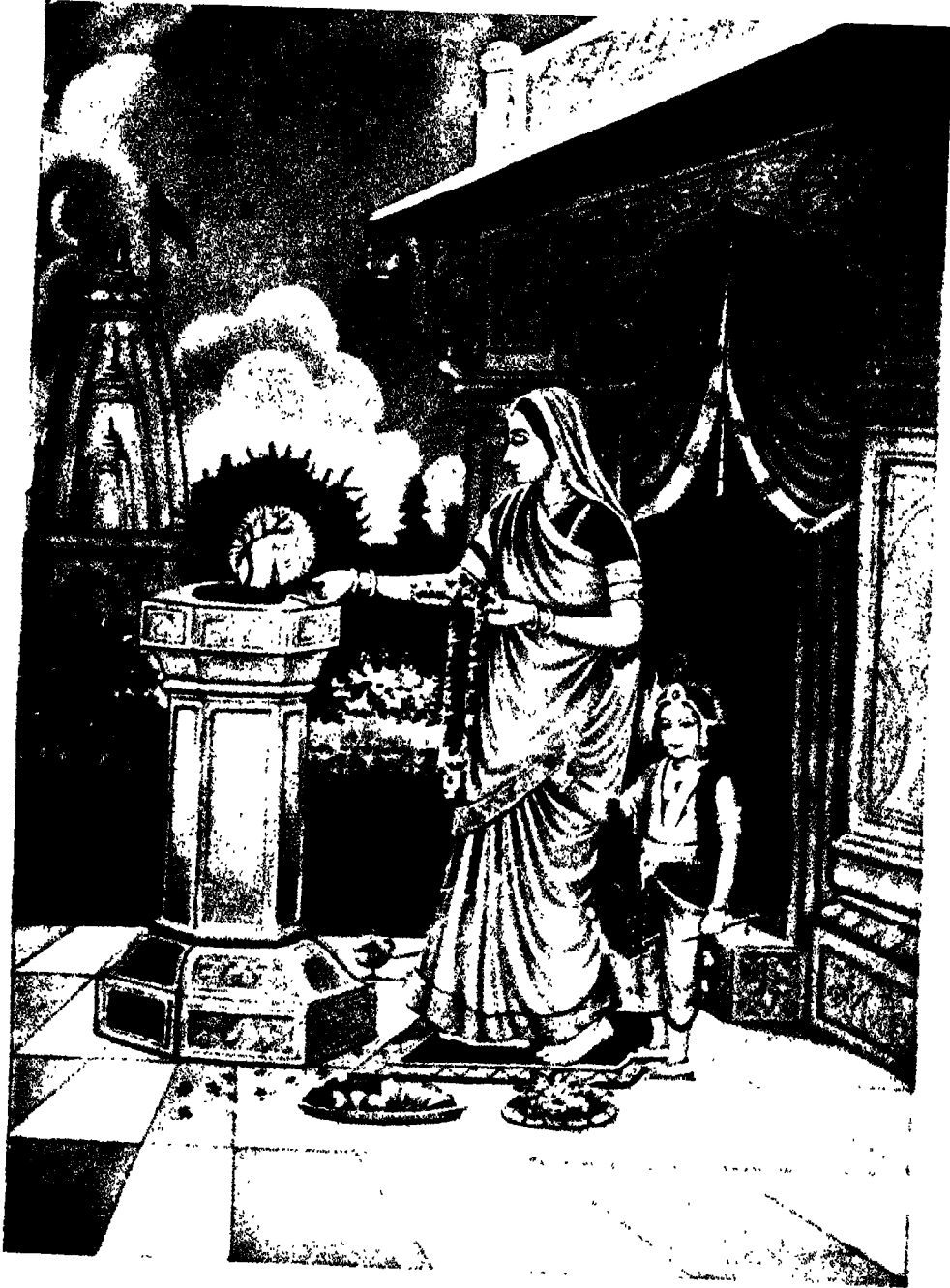
तुलसी-पूजन

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
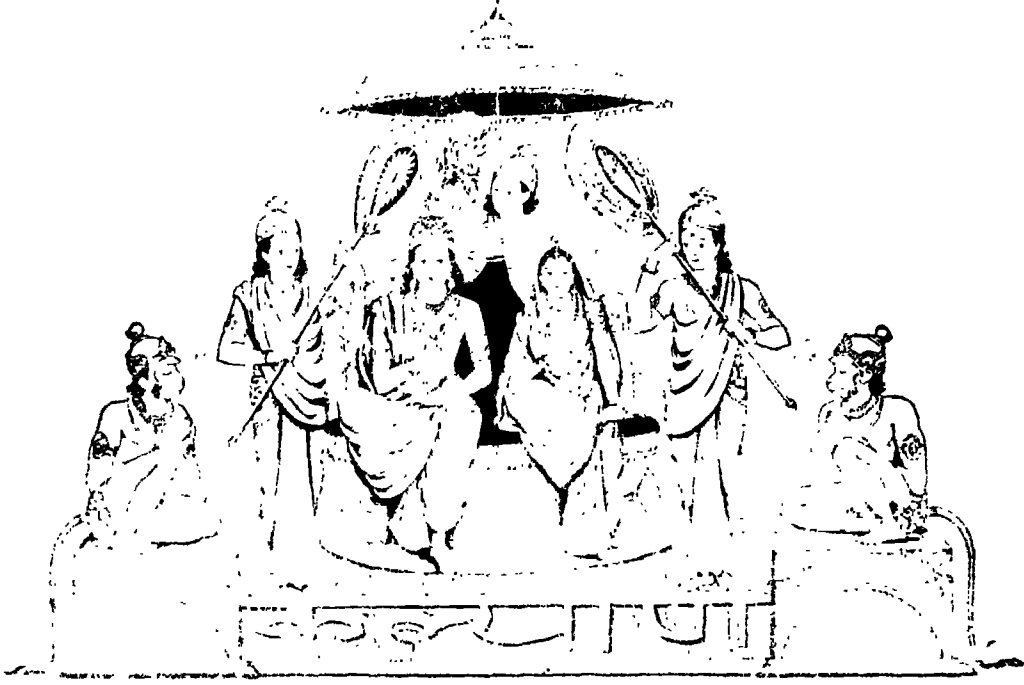
नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्गं सीतासमारोपितवामभागम् ।
पाणौ महासायकचारुचापं नमामि रामं रघुवंशनाथम् ॥

वर्ष १३ } गोरखपुर, ज्येष्ठ १९९६, जून १९३९ { संख्या ११
पूर्ण संख्या १५५

यशोदाकी मनौती

जसुमति मन-मन यहै बिचारति ।
झझकि उठ्यौ सोवत हरि अबहीं, कछु पढ़ि-पढ़ि तन-दोष निवारति ॥
जगत मैं कोउ दीठि लगाई, लै-लै राई-नोन उतारति ।
साँझहिं तैं अतिहीं बिरुझानौ, चन्दहिं देखि करी अति आरति ॥
बार-बार कुलदेव मनावति, दोउ कर जोरि सिरहिं लै धारति ।
सूरदास जसुमति नँदरानी, निरखि बदन, त्रयताप बिसारति ॥

—सूरदासजी

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—पूज्य स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी महाराज)

[श्वेताश्वतरोपनिषद्]

[मणि ११]

(गताङ्कसे आगे)

'तत्' पदार्थ ईश्वर

हे संन्यासियो ! जब इस प्रकार अधिकारी रुद्र-भगवान्‌से प्रार्थना करता है, तो वे प्रसन्न होकर उसे भोग-मोक्ष दोनोंकी प्राप्ति करा देते हैं; इसलिये जिनको भोग-मोक्षकी कामना हो उन्हें रुद्रभगवान्‌से अवश्य प्रार्थना करनी चाहिये। हे संन्यासियो ! 'शतशोऽपि पथ्यं वक्तव्यम्' इस वचनके अनुसार जो पदार्थ अधिकारी जनोंके हितका साधन हो उसका अनेक बार शास्त्रवेत्ताओंको कथन करना चाहिये, इसमें पुनरुक्ति दोष नहीं होता—ऐसा शास्त्रमें नियम है। इसलिये भोग-मोक्षके देनेवाले परमात्माका मैं फिर तुमको उपदेश करता हूँ, सावधान होकर सुनो—

हे संन्यासियो ! जैसे वृक्षोंमें पत्तोंसे ढके हुए आम्रादिक फल गुह्य रहते हैं, वैसे ही वेदरूप वृक्षमें अविद्या और विद्या दोनों गुह्य हैं। अग्निहोत्रादिक कर्मोंका नाम अविद्या है और ब्रह्मज्ञानका नाम विद्या है। कर्मरूप अविद्या स्वर्गादि अनित्य फलकी प्राप्ति कराती है, इसलिये उसको श्रुतिभगवती 'क्षर' कहती है और ब्रह्मज्ञानरूप विद्या मोक्षरूप नित्य सुखकी प्राप्ति कराती है; इसलिये श्रुतिभगवती उसको 'अक्षर', 'अमृत' कहती है। विद्या, अविद्या दोनों ही मोक्षकी प्राप्तिमें हेतु हैं। उनमें ब्रह्मज्ञान-रूप विद्या तो साक्षात् मोक्षकी प्राप्तिका हेतु है और कर्मरूप अविद्या फलकी इच्छासे रहित होकर करने-पर चित्तकी शुद्धिद्वारा मोक्षकी प्राप्तिका हेतु है। विद्या, अविद्या दोनोंके प्रवृत्त करनेवाले और फल देनेवाले रुद्रभगवान् हैं। विद्या, अविद्या दोनों अपना-अपना फल जीवोंको देकर निवृत्त हो जाती हैं, बिना फल दिये निवृत्त नहीं होतीं; इसलिये श्रुति-भगवती दोनोंको 'अनन्त' कहती है। ये दोनों शिव-भगवान्‌के प्रसादसे ही प्राप्त होती हैं, अन्य उपायसे प्राप्त नहीं होतीं; इसलिये रुद्रभगवान् ही दोनोंके ईश्वर हैं।

हे संन्यासियो ! जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज, इन चार प्रकारके शरीरोंके बीजोंको आश्रयण करके जो परमात्मदेव स्थित होता है, जो आकाशादि भूतोंको तथा सर्व बीजोंको अपनेमेंसे उत्पन्न करता है, उस परमात्माको श्रुतिभगवती विचित्रवर्ण होनेसे 'कपिल' और सर्व पदार्थोंका द्रष्टा होनेसे 'ऋषि' कहती है। उसीका नाम हिरण्य-गर्भ है। हिरण्यगर्भ इस स्थूल जगत्‌से पूर्व उत्पन्न होता है। जो परमात्मा हिरण्यगर्भको अर्थसहित चारों वेद देकर नाना प्रकारके ज्ञानोंसे भरण करता है और जो परमात्मा हिरण्यगर्भको स्थूल जगत्‌की उत्पत्ति करनेमें समर्थ करता है, वही परमात्मा 'तत्त्वमसि' इस वाक्यमें स्थित 'तत्' पदका अर्थ-रूप है। यही परमात्मा प्रथम उपर्युक्त चारों योनियोंको उत्पन्न करता है और एक-एक योनिको इक्कीस लाख प्रकारकी करता है। सब मिलकर चौरासी लाख योनियाँ हैं, इन चौरासी लाख योनियोंमें भी अवान्तरभेदसे एक-एक योनिको जालके समान अनेक प्रकारकी करता है। इस प्रकार सृष्टिकालमें सर्व जगत्‌को उत्पन्न करके प्रलयकालमें परमात्मा सर्व जगत्‌को अपने मायारूप क्षेत्रमें लय करता है, पश्चात् सृष्टिकालमें

फिर मायारूप क्षेत्रसे पूर्वके समान नाना प्रकारके जगत्‌को उत्पन्न करता है, और जगत्‌के पालन करनेवाले दिक्पालोंको उत्पन्न करता है। इस प्रकार सर्व जगत्‌को उत्पन्न करके परमात्मा सर्व जगत्‌का अधिपति होता है। हे संन्यासियो! जैसे वृषभ भारको उठाता है, वैसे ही परमात्मा सर्व विश्वके भारको धारण करता है और सर्व जगत्‌के उपकारके लिये सूर्य होकर पूर्वादि दिशाओंका प्रकाश करता है। वही परमात्मा अनेक शरीरोंको उत्पन्न करके उन शरीरोंके अनेक स्वभावोंको अपनेमें आरोपण करके स्थित होता है। पुत्रादि प्रजाकी उत्पत्ति करनेवाले स्त्री-पुरुषोंके स्वभावोंको धारण करके परमात्मा ही उनको फलकी प्राप्ति कराता है और नाना योनियोंके शरीरोंको उत्तरोत्तर कालमें परिणामकी प्राप्ति कराता है—जैसे कभी तो यह शरीर बाल्यावस्थावाला होता है, कभी युवावस्थावाला होता है और कभी वृद्धावस्थावाला होता है। इस प्रकार परमात्मा इन शरीरोंको अनेक प्रकारके परिणामोंकी प्राप्ति कराता है।

हे संन्यासियो! यह परमात्मदेव सर्व पदार्थोंका अधिष्ठान है, इस सम्बन्धमें मैं बहुत क्या कहूँ? नाना प्रकारके स्वभाववाले शरीर जिस ब्रह्माण्डमें हैं उस ब्रह्माण्डको भी परमात्मा ही धारण कर रहा है, और वही ब्रह्माण्डवर्ती जीवोंको अपने-अपने कार्यमें प्रवृत्त कराता है। हे संन्यासियो! इस प्रकार सर्व जगत्‌के कारणरूप अद्वितीय ब्रह्मको मैं रुद्र-भगवान्‌के अनुग्रहसे साक्षात् करता हूँ। यह ब्रह्म उपनिषद्‌रूप वेदोंसे प्रतिपादित है, सनातन है, नाना प्रकारके प्रवृत्तिरूप ज्ञानोंमें स्वप्रकाशरूपसे स्थित है, और शास्त्रविचाररहित मूढ़ पुरुषोंको दुर्विज्ञेय है। हे संन्यासियो! जैसे मैं रुद्रभगवान्‌के प्रसादसे 'तत्' पदार्थरूप ब्रह्मको अपने आत्मारूपसे जानता हूँ, उसी प्रकार पूर्व हिरण्यगर्भ भगवान्, इन्द्रादिक देवता तथा सनकादि ऋषि रुद्रभगवान्‌के प्रसादसे स्वयंज्योति सर्वज्ञ परमात्माको अपना आत्मारूप जान चुके हैं। इसी प्रकार आजकल भी जो कोई बुद्धिमान् रुद्रभगवान्‌की आराधना करेगा, वह भी अद्वितीय ब्रह्मको अवश्य जानेगा। हे संन्यासियो! जिन हिरण्यगर्भादि देवता, ऋषि और मनुष्योंने अद्वितीय ब्रह्मको जाना है, वे सब ब्रह्मभावको प्राप्त होकर मोक्षरूप अमृतभावको प्राप्त हो चुके हैं।

'त्वं' पदार्थ जीव

हे संन्यासियो! जैसे स्वभावसे उष्ण स्पर्श और गन्धसे रहित जल अग्निके सम्बन्धसे उष्ण स्पर्शको और पुष्पादिकोंके सम्बन्धसे गन्धगुणको प्राप्त होता है उसी प्रकार वस्तुतः सर्वधर्मोंसे रहित निर्गुण परमात्मदेव जब अपने स्वरूपके अज्ञानसे जीवभावको प्राप्त होकर अन्तःकरणादि उपाधियोंसे तादात्म्य-अध्यास करता है, तो अन्तःकरणके धर्मोंको और सत्त्व, रज, तम, तीनों गुणोंको अपनेमें मान लेता है। पश्चात् यह आत्मदेव रागपूर्वक पुण्य-पापरूप कर्म करता है, और पुण्य-पापरूप अदृष्टद्वारा सुख-दुःखरूप फल और सुख-दुःखके साधनोंको उत्पन्न करता हुआ अन्तःकरणादि उपाधियोंके तादात्म्य-अध्याससे सुख-दुःखरूप फलको भोगता है। शुभ अशुभ कर्मोंमें भी उपासनारूप मानस कर्मसे जीवात्मा देवयाननामक उत्तम मार्गद्वारा ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है और अग्निहोत्रादि कर्मसे पितृयान-नामक मध्यम मार्गद्वारा स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त होता है और ब्रह्महत्यादि पाप-कर्मोंसे तृतीय स्थान-नामक अधम मार्गद्वारा कीट-पतंगादि क्षुद्र शरीरोंको प्राप्त होता है। इस प्रकार पुण्य-पापरूप कर्मके वशसे यह जीवात्मा निरन्तर संसारमें भ्रमण करता है।

हे संन्यासियो! यह आत्मदेव यद्यपि वस्तुतः देश-काल-वस्तु-परिच्छेदसे रहित सर्वत्र परिपूर्ण-रूप है, तो भी अङ्गुष्ठमात्र हृदयरूप उपाधिके

सम्बन्धसे अङ्गुष्ठपरिमाणवाला एवं अहङ्कार तथा मनके सङ्कल्पों तथा बुद्धिके परिणामवृत्तिरूप गुणोंसे युक्त होता है। ये वृत्तिरूप गुण मायाविशिष्ट आत्माके रचे हुए हैं, इसलिये आत्माके भी गुण हैं तथा स्वप्नके समान मिथ्या हैं। बुद्धिके वृत्तिरूप गुणोंको प्रकाशित करनेवाला आत्मादेव सूर्यके समान स्वयंज्योति है। यद्यपि आत्मादेव महान् है तो भी अल्पपरिमाणवाली बुद्धिमें स्थित होनेसे आरके अग्रभागके समान अल्प परिमाणवाला होता है। चर्मकारकी सुईका नाम आरा है। इस प्रकार बुद्धिरूप उपाधिके तादात्म्य-सम्बन्धसे यह आत्मादेव जीवभावको प्राप्त होकर यद्यपि अविवेकियोंकी दृष्टिमें निकृष्टभावको प्राप्त हुआ दीखता है, तो भी विवेकी इस आनन्दस्वरूप आत्माको सबसे उत्कृष्ट ही देखते हैं। हे संन्यासियो! बुद्धिमें स्थित होकर यह जीवात्मा जिस सूक्ष्मताको प्राप्त होता है, उस सूक्ष्मतामें कोई सूक्ष्मदर्शी यह दृष्टान्त देते हैं। एक केशके अग्रभागके शत भाग करें और उन शत विभागोंमेंसे एक विभागके फिर एक शत विभाग करें। वह केशका विभाग जिस सूक्ष्म परिमाणवाला होता है, उसी सूक्ष्म परिमाणवाला यह जीवात्मा होता है। हे संन्यासियो! जीवात्माको जबतक अपने वास्तव स्वरूपका अज्ञान होता है तभीतक वह बुद्धिके तादात्म्य-सम्बन्धसे इस प्रकारकी अल्पताको प्राप्त होता है और जब वह रुद्रभगवान्के प्रसादसे अपनेको ब्रह्मरूप जान लेता है, तब कार्यसहित अज्ञानके निवृत्त हो जानेसे जीवात्मा परिपूर्ण ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है।

हे संन्यासियो! यद्यपि यह आत्मादेव स्त्री-पुरुष-नपुंसकभावसे रहित है, तो भी अपने स्वरूपके अज्ञानसे जिस-जिस शरीरके तादात्म्य-अध्यासको ग्रहण करता है, उस-उस शरीररूपसे प्रतीत होता है। जैसे कोई नट स्त्री आदिके वेषको धारण करके स्त्री आदि रूपसे प्रतीत होता है, उसी प्रकार आत्मा अनेक रूपसे प्रतीत होता है। हे संन्यासियो! शब्द-स्पर्शादि विषयजन्य बाह्य भोग, सङ्कल्पजन्य आन्तर भोग, सुख-प्राप्तिकी इच्छा, नाना प्रकारके अन्न-जलकी प्राप्ति इत्यादि अनेक कारणोंसे यद्यपि देहादि ही वृद्धिको प्राप्त होते हैं, तो भी देहादिकोंके अध्याससे आत्मादेव उस वृद्धिको अपनेमें मान लेता है और उनकी वासनाओंसे अनेक जन्मोंको प्राप्त होता है। जीवोंके पूर्ववासनानुसार जन्म-मरणादिमें पुण्य-पापरूप कर्म भी निमित्त कारण है। कर्मानुसार जीवात्मा सुख-दुःखकी प्राप्तिके लिये संसारमें नाना प्रकारके शरीरोंको प्राप्त होता है। कभी यह जीवात्मा नपुंसक-शरीरको, कभी स्त्री-शरीरको, कभी पुरुष-शरीरको, कभी स्वर्गादिमें देव-शरीरको प्राप्त होता है। इस प्रकार पुण्य-पापरूप कर्मके वशसे यह जीवात्मा अनेक योनियोंमें भ्रमण करता है। हे संन्यासियो! जैसे इस लोकमें नट अनेक प्रकारके रूप धारण करता है, उसी प्रकार यह आत्मादेव भी बुद्धि आदिके साथ तादात्म्यभावको प्राप्त होकर पुण्य-पापके वशसे कभी हस्ती आदिके स्थूल शरीरोंको प्राप्त होता है, कभी चींटी आदिके सूक्ष्म शरीरोंको प्राप्त होता है। हे संन्यासियो! जीवोंको निकृष्ट भावकी प्राप्ति करानेवाला अपने स्वरूपका अज्ञान है। इस अज्ञानको जब जीवात्मा अपनेमें आरोपित करता है, तब श्रोत्रादि इन्द्रियोंके साथ तादात्म्यभावको प्राप्त होकर नाना प्रकारके शरीरोंको ग्रहण करता है। इस आनन्दस्वरूप आत्माको परमार्थतः जन्म-मरणादिकी प्राप्ति नहीं होती। इसलिये गर्भमें स्थित जिस आत्माका मैंने तुमसे कथन किया था, वह 'त्वं' पदका अर्थरूप आत्मा 'तत्' पदके अर्थरूप परमात्मासे

भिन्न नहीं है, किन्तु ब्रह्मरूप ही है; ऐसे आत्मादेवके ज्ञानसे अधिकारी काम-क्रोधादि सर्व पाशोंसे मुक्त हो जाता है।

हे संन्यासियो ! यह आत्मादेव अधिकारी जीवोंको 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकारके अभेद-ज्ञानसे ही प्राप्त होता है, अभेद-ज्ञानके सिवा अन्य उपायसे नहीं। हे संन्यासियो ! प्राण, श्रद्धा, आकाश, तेज, जल, पृथिवी, श्रोत्रादि इन्द्रियाँ, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम—इन सोलह कलाओंको परमात्मदेव ही सृष्टिके आदिकालमें उत्पन्न करता है। यह परमात्मदेव सर्वमंगलोंका भी मंगल है, इसलिये श्रुति परमात्माको 'शिव' कहती है। इस अद्वितीय परमात्मदेवका जो आत्मरूपसे साक्षात्कार करता है, वह स्थूल, सूक्ष्म, कारण—तीनों बन्धनरूप शरीरोंको त्यागकर मोक्षरूप अमृतको प्राप्त होता है।

वेदभगवान्का यथार्थ तात्पर्य

हे संन्यासियो ! कोई-कोई बुद्धिमान् काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, प्रकृति और पुरुष, इन्होंको जगत्का कारण कहते हैं; पूर्वमें इनका मत विस्तारसे निरूपण किया है। परन्तु ये वादी वेदभगवान्के यथार्थ तात्पर्यको नहीं जान सके हैं, इसीलिये मोहको प्राप्त होकर वे जगत्के कारणके विषयमें नाना प्रकारका विवाद करते हैं। जैसे जन्मके अन्धे दुग्धादिके रूपके विषयमें विवाद करते हैं, उसी प्रकार वादी परस्पर विवाद करते हैं। हे संन्यासियो ! उन वादियोंके वचन प्रमाण तथा युक्तिसे रहित हैं, इसलिये विद्वानोंको उनके वचन कदापि ग्रहण नहीं करने चाहिये।

प्रमाणका अभाव—हे संन्यासियो ! काल-स्वभावादि जगत्के कारण हैं, इसमें कोई वेद-वचन तो प्रमाण है नहीं और जगत्का कारण नेत्रादि इन्द्रियोंसे ग्रहण नहीं हो सकता, इसलिये प्रत्यक्ष प्रमाण भी नहीं है। प्रत्यक्ष प्रमाणके अधीन अनुमान प्रमाण है, इसलिये अनुमान प्रमाण भी सम्भव नहीं है। इसलिये इन वादियोंके मत प्रमाणरहित हैं।

युक्तिका अभाव—हे संन्यासियो ! काल-स्वभावादि पदार्थ जड हैं, इसलिये चेतन आत्माके बिना उनमें स्वतन्त्र कारणता सम्भव नहीं है। इसके सिवा जो पदार्थ जड होता है, वह घट-पटादिके समान कार्यरूप ही होता है; इसलिये काल-स्वभावादि भी जड होनेसे कार्यरूप ही होने चाहिये। जो कार्य होता है, वह किसी कारणसे अवश्य जन्य होता है—जैसे घट-पटादिक कार्य होनेसे मृत्तिका-तन्तुओंसे जन्य हैं; इसलिये काल-स्वभावादिका भी कोई कारण मानना होगा। जो उनका कारण माना जायगा, उसीसे सब जगत्की उत्पत्ति हो सकती है; इसलिये कालादिको कारण मानना निष्फल है। इसलिये उन वादियोंका मत युक्तिसे भी रहित है।

शंका—हे भगवन् ! वेदरूप सूर्यके रहते हुए भी उन वादियोंको इस प्रकारका मोह क्यों होता है ?

समाधान—हे संन्यासियो ! जगत्के कारणके विषयमें नाना प्रकारका विवाद होना आश्चर्य नहीं है; क्योंकि परमात्माकी जो माया-शक्ति इस संसार-चक्रको घुमाती है, वही अद्भुत प्रभाववाली शक्ति उन वादियोंको भी मोहित कर लेती है। जैसे वायु आकाशमें रुईको भ्रमण कराता है, उसी प्रकार परमात्मा अपनी माया-शक्तिसे बुद्धिमानोंकी बुद्धिको भ्रमण कराता है। हे संन्यासियो ! जिस ज्ञानरूप परमात्मदेवसे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, वह परमात्मा कालका भी काल है और सत्यकाम, सत्यसङ्कल्पादि गुणोंसे युक्त है। परमात्मा अपने स्वप्रकाशज्ञानसे सब जगत्को जानता है, और जीवोंको शुभ-अशुभ कर्मका सुख-दुःखरूप

फल देता है। वही परमात्मदेव आकाशादि पञ्चभूतरूपसे विवर्तभावको प्राप्त होता है। अपने स्वरूपका त्याग न करके अन्यरूपसे प्रतीत होनेका नाम विवर्त है। जैसे रज्जु अपने स्वरूपका त्याग न करके सर्पादिरूपसे प्रतीत होती है, उसी प्रकार परमात्मा भी अपने स्वरूपका त्याग न करके आकाशादिरूपसे प्रतीत होता है। उसी परमात्माका मुमुक्षुओंको सर्वदा चिन्तन करना चाहिये। मुमुक्षुको चाहिये कि वह प्रथम फलकी इच्छा छोड़कर यज्ञादि कर्म करके अपना अन्तःकरण शुद्ध करे, पश्चात् मनसहित नेत्रादि इन्द्रियोंको अपने-अपने व्यापारसे निवृत्त करे, और गुरु-शास्त्रके उपदेशसे आनन्दस्वरूप आत्माका साक्षात्कार करे। यह आत्मदेव अविद्या, पुण्य-पापरूप कर्म और सत्त्व, रज, तम, इन तीनों गुणोंसे रहित है तथा आकाशादि पञ्चभूत, अव्यक्त, बुद्धि, अहंकार, इन आठोंसे भी रहित है। ऐसे आत्मदेवको शुद्धचित्तवाला अधिकारी ही जान पाता है।

हे संन्यासियो! इस प्रकार परमार्थतः सर्वधर्मोंसे रहित भी यह परमात्मदेव तीनों गुणोंका अभिमान करके पुण्य-पापरूप कर्म करता है और सुख-दुःखकी प्राप्तिके लिये भीतर-बाहरके पदार्थोंको अपने-अपने व्यापारमें जोड़ता है, और जब अपने स्वरूपमें उन पदार्थोंके अभावका निश्चय करता है तब आत्मज्ञानरूप अग्निसे सर्वकर्मोंका क्षय करके अपने ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त होता है।

हे संन्यासियो! जो मायाका आश्रयरूप परमात्मदेव इस जगत्की उत्पत्तिसे पूर्व कारणरूपसे स्थित होता है, वही अपने चिदाभासके सम्बन्धसे कार्यसहित अविद्याको चेतनके समान करता है। महात्मा पुरुष इस परमात्माको तीनों कालोंसे तथा प्राणादि सोलह कलाओंसे रहित देखते हैं। परमात्मदेव सब जगत्का आत्मारूप है, इन्द्रादि देवताओंसे स्तुति करने योग्य है और सर्वप्राणियोंके चित्तमें स्थित है। इस परमात्मदेवकी उपासना करके प्रथम अधिकारी सब विघ्नोंसे रहित होता है और पश्चात् गुरु-शास्त्रके उपदेशसे आत्म-साक्षात्कार करके ब्रह्मभावको प्राप्त होता है।

हे संन्यासियो! परमात्मदेव स्मरणमात्रसे जीवोंके पापकी निवृत्ति करता है और धर्मकी प्राप्ति कराता है। यह परमात्मा ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य, इन षट्भगोंसे युक्त है; इसलिये भगवान् कहलाता है। अथवा यह परमात्मा जगत्की उत्पत्ति, स्थिति, जीवोंका परलोकमें गमन, परलोकसे आगमन, विद्या, अविद्या, इन षट्भगोंसे युक्त है; इसलिये भगवान् कहलाता है। यह परमात्मदेव जीवोंके पुण्य-पापरूप कर्मोंका स्वामी है, जन्म-मरणादि सर्व विकारोंसे रहित है, सर्व प्राणियोंके हृदयमें स्थित है, स्वयंज्योति अद्वितीयरूप है, सर्व विश्वका ईश्वर है और सूर्यादि सर्व प्रकाशोंका आश्रयरूप है। ऐसे परमात्मदेवको जो अधिकारी अपना आत्मारूप जानता है, वह कृतकृत्य हो जाता है। हे संन्यासियो! जो परमात्मदेव ब्रह्मादि ईश्वरोंका भी ईश्वर है, इन्द्रादि देवताओंका भी देवता है, मरीचि आदि प्रजापतियोंका भी पति है, और भूरादि चौदह लोकोंको अपनी आज्ञामें चलाता है, उस परमात्मदेवको हम अधिकारीजन केवल वेदके वचनोंसे जानते हैं।

शंका—हे भगवन्! अद्वितीय आत्माका वेदवचन किस प्रकार बोधन करते हैं?

समाधान—हे संन्यासियो! परमात्मदेवका स्थूल प्रपञ्चरूप स्थूलशरीर, नेत्रादि इन्द्रिययुक्त सूक्ष्मशरीर और अज्ञानरूप कारणशरीर नहीं है। इस लोकमें परमात्माके समान कोई पदार्थ नहीं है—जब समान ही नहीं है, तब अधिक तो कहाँसे होगा। हे संन्यासियो! परमात्माकी एक माया-शक्ति सर्वत्र प्रसिद्ध है। वह माया ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्तिके

भेदसे दो प्रकारकी है । प्रमाण-संशयादिके भेदसे ज्ञान-शक्ति अनेक प्रकारकी है और बल-वीर्यादिके भेदसे क्रिया-शक्ति भी अनेक प्रकारकी है ।

हे संन्यासियो ! जैसे पिता पुत्रादिकोंका पालन करता है, इसलिये पिता पुत्रादिकोंका पति है । महाराजा ब्राह्मणादि चारों वर्णोंको धर्म-मर्यादामें चलाता है, इसलिये महाराजा चारों वर्णोंका नियन्ता है । पर्वतोंमें धूम देखकर लोगोंको अग्निका ज्ञान होता है, इसलिये धूम अग्निको जनानेवाला लिंग है । इस प्रकार परमात्माका कोई पति, नियन्ता अथवा लिंग नहीं है । तात्पर्य यह है कि परमात्मा अन्तर्यामीरूपसे सर्व जगत्का पालन करता है, इसलिये परमात्माका कोई पति नहीं है; परमात्मा ब्रह्मादि देवताओंको अपनी आज्ञामें चलाता है, इसलिये परमात्माका कोई नियन्ता नहीं है और परमात्मा असंग, निर्गुण है, इसलिये परमात्माका कोई जनानेवाला लिंग नहीं है । परमात्माका न कोई जनक है और न कोई नियन्ता है । हे संन्यासियो ! जैसे तन्तुनाभ नामक जन्तु अपने तन्तुओंसे गृहको व्याप्त करता है, उसी प्रकार परमात्मा मायाजन्य पञ्चभूतरूप तन्तुओंसे सब जीवोंको व्याप्त करके स्थित है । ऐसा स्वयंज्योति अद्वितीय परमात्मा हम अधिकारियोंके चित्तमें अपने निर्गुण स्वरूपका प्रकाश करे । भाव यह है कि हमारे चित्तकी वृत्तियोंमें आरूढ होकर परमात्मदेव हमारे अज्ञानको निवृत्त करे !

हे संन्यासियो ! जैसे आकाश सर्वत्र व्यापक है उसी प्रकार स्वयंज्योति परमात्मा सर्वभूतोंमें व्यापक है । जैसे अग्नि सर्वकाष्ठोंके भीतर गुप्त रहता है, उसी प्रकार स्वयंज्योति परमात्मा सर्वप्राणियोंमें गुप्त रहता है । परमात्मा ही सब जीवोंको पुण्य-पापरूप कर्मोंका फल सुख-दुःख देता है और वही सब जीवोंके शरीरोंमें आत्मारूपसे निवास करता है । परमात्मा चैतन्यरूप है, इसलिये सर्वबुद्धि-वृत्तियोंका साक्षी है । हे संन्यासियो ! परमात्मामें साक्षीपना बुद्धि आदि उपाधियोंके सम्बन्धसे ही है, वस्तुतः परमात्मामें साक्षीपना नहीं है; क्योंकि परमात्मा केवल, निर्गुण एवं सर्वसंगसे रहित है ।

हे संन्यासियो ! स्वभावसे प्रवृत्त होनेमें असमर्थ जड पदार्थोंको चेतन परमात्मदेव अपने-अपने कार्यमें प्रवृत्त करता है और सम्पूर्ण स्थूल शरीरोंके बीजरूप हिरण्यगर्भको सूक्ष्म उपाधिमें प्रवेश करके उत्पन्न करता है । जो अधिकारी परमात्माका अपने आत्मारूपसे साक्षात्कार करते हैं, उन विद्वानोंको ही सर्वदुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्तिपूर्वक मोक्षरूप नित्यसुखकी प्राप्ति होती है । आत्मज्ञानके सिवा अन्य उपायसे नित्यसुखकी प्राप्ति नहीं होती, इसलिये मुमुक्षुओंको आत्मज्ञान अवश्य सम्पादन करना चाहिये ।

हे संन्यासियो ! आकाशादि प्रसिद्ध नित्य पदार्थोंका भी परमात्मदेव नित्यरूप है, चेतन प्रमाताओंका भी चेतनरूप है । भाव यह है कि परमात्माकी नित्यता और चेतनताको लेकर ही अनित्य जड पदार्थ भी नित्य एवं चेतन प्रतीत होते हैं । जब ब्रह्मचर्यादि साधनोंसे अधिकारियोंको परमात्मदेवका आत्मारूपसे साक्षात्कार होता है, तब अधिकारियोंकी अविद्या और अविद्याजन्य काम-क्रोधादि सर्वपाश कट जाते हैं ।

सांख्य-योग

हे संन्यासियो ! सांख्य और योग, ये दो परमात्माकी प्राप्तिके साधन हैं । इनमेंसे प्रथम सांख्यसाधनको सुनो । आत्मप्राप्तिके लिये मुमुक्षु इस प्रकार चिन्तन करे । शास्त्रवेत्ता विद्वान् अद्वितीय ब्रह्मको मन-वाणीका अविषय कहते हैं । ऐसे अद्वितीय ब्रह्मको मैं किस प्रकार जान सकता हूँ ? नहीं जान सकता । इसलिये प्रथम यह विचार करूँ कि ब्रह्मरूप सुख मुझको प्रतीत होता है या नहीं ? प्रतीत होनेपर भी ब्रह्मरूप सुख प्रकाशरूपसे

प्रतीत होता है अथवा अप्रकाशरूपसे ? प्रकाशरूप होनेपर भी ब्रह्मरूप सुख मुझे घटादि पदार्थोंके समान विषयरूपसे प्रतीत होता है अथवा अविषयरूपसे ?—हे संन्यासियो ! इस प्रकारका विचार मुमुक्षु गुरु-उपदेशसे पूर्व न करे; किन्तु श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु जब मुमुक्षुको 'तू आनन्दस्वरूप आत्मा ब्रह्मरूप ही है' इस प्रकारका उपदेश करे, तब मुमुक्षु इस प्रकारका विचार करे—

विचार-श्रीगुरुने मुझे जिस आत्माका उपदेश किया है, वह आनन्दस्वरूप आत्मा चैतन्यरूप प्रकाशसे भिन्न है या अभिन्न ? भिन्न है, यह प्रथम पक्ष तो सम्भव नहीं है; क्योंकि आनन्द प्रकाशसे भिन्न है, इस पक्षमें यह विचार करना चाहिये कि आनन्द और प्रकाश दोनों ही नित्य हैं अथवा दोनोंमें एक नित्य है, एक अनित्य है। यदि आनन्द एवं प्रकाश दोनों नित्य हैं, यह प्रथम पक्ष माना जाय तो जैसे काल, आकाश, इन दोनोंका परस्पर संयोगसम्बन्ध तथा समवायसम्बन्ध नहीं होता, उसी प्रकार निरवयव, परिपूर्णरूप जो आनन्द एवं प्रकाश हैं, उन दोनोंका भी परस्पर संयोगसम्बन्ध तथा समवायसम्बन्ध सम्भव नहीं है। इसी प्रकार आनन्द एवं प्रकाश, इन दोनोंका परस्पर तादात्म्यसम्बन्ध भी सम्भव नहीं है; क्योंकि जिन दो पदार्थोंमें एक पदार्थ कल्पित होता है, उन दो पदार्थोंका ही परस्पर तादात्म्यसम्बन्ध होता है। जैसे घटरूप कार्यका तथा मृत्तिकारूप कारणका परस्पर तादात्म्यसम्बन्ध है, इनमें घटरूप कार्य कल्पित है और मृत्तिकारूप कारण सत्य है। इसी प्रकार आनन्दस्वरूप आत्माका तथा चैतन्यरूप प्रकाशका जो परस्पर तादात्म्यसम्बन्ध माना जाय, तो उन दोनोंमें भी एकको कल्पित मानना पड़ेगा। आनन्दस्वरूप आत्माको कल्पित मानना सम्भव नहीं है; क्योंकि यदि आनन्दस्वरूप आत्मा कल्पित होगा तो कृतनाश, अकृताभ्यागमरूप दोनों दूषणोंकी प्राप्ति होगी। किये हुए कर्मका फल भोगे बिना नाशका नाम कृतनाश है और न किये कर्मोंके फलभोगका नाम अकृताभ्यागम है। इसलिये आनन्दस्वरूप आत्मामें तो कल्पितपना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार चैतन्यरूप प्रकाशमें भी कल्पितपना सम्भव नहीं है। क्योंकि यदि चैतन्यरूप प्रकाश कल्पित हो, तो प्रकाशसे पूर्व आनन्दस्वरूप आत्माकी सिद्धि नहीं होगी; इसलिये चैतन्यरूप प्रकाशमें भी कल्पितपना सम्भव नहीं है। अथवा जैसे घटमें रूपादि गुण हैं, उसी प्रकार आनन्दस्वरूप आत्मामें चैतन्यरूप प्रकाश गुण है—ऐसा मानना भी नहीं बनता। क्योंकि 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' इस श्रुतिमें आनन्दस्वरूप आत्माको सर्वगुणोंसे रहित कहा है, इसलिये निर्गुण आत्मामें प्रकाशरूप गुण सम्भव नहीं है। युक्तिसे भी प्रकाशमें गुणरूपता नहीं सिद्ध होती, क्योंकि प्रकाशरूप गुण निर्गुण आत्मामें रहता है अथवा सगुण आत्मामें रहता है ? निर्गुण आत्मामें प्रकाशरूप गुण मानें तो 'वदतो व्याघात' दोष आता है और सगुण आत्मामें प्रकाशरूप गुण मानें तो आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक, अनवस्था, इन चार दोषोंकी प्राप्ति होती है। क्योंकि गुणवाले पदार्थका नाम सगुण है; जिस सगुण आत्मामें प्रकाशरूप गुण रहता है, वह आत्मा उसी प्रकाशरूप गुणसे सगुण हुआ है अथवा उस प्रकाशरूप गुणसे भिन्न किसी दूसरे गुणसे सगुण हुआ है ? यदि उसी प्रकाशरूप गुणसे आत्मा सगुण हुआ है—यह प्रथम पक्ष मानें तो प्रकाशरूप गुणको अपनी स्थितिमें अपनी अपेक्षारूप आत्माश्रय दोषकी प्राप्ति होगी और उस प्रकाशरूप गुणसे भिन्न किसी दूसरे गुणसे सगुण भावको प्राप्त हुए आत्मामें प्रकाशरूप गुण रहता है—यह दूसरा पक्ष मानें तो इसमें भी यह विचार करना चाहिये कि वह दूसरा गुण भी निर्गुण आत्मामें रहता है या सगुण आत्मामें ? यदि दूसरा गुण निर्गुण आत्मामें रहता है—यह प्रथम पक्ष मानें तो पूर्वके

समान 'वदतो व्याघात' दोषकी प्राप्ति होती है, और वह दूसरा गुण भी सगुण आत्मामें रहता है—यह दूसरा पक्ष मानें तो यह विचार करना चाहिये कि दूसरे गुणसे सगुण भावको प्राप्त हुए आत्मामें वह दूसरा गुण रहता है अथवा प्रथम प्रकाशरूप गुणसे सगुणभावको प्राप्त हुए सगुण आत्मामें वह दूसरा गुण रहता है अथवा किसी तीसरे गुणसे सगुणभावको प्राप्त हुए सगुण आत्मामें वह दूसरा गुण रहता है? द्वितीय गुणविशिष्ट आत्मामें वह दूसरा गुण रहता है—यह प्रथम पक्ष मानें तो पूर्वके समान आत्माश्रयदोषकी प्राप्ति होगी और प्रथम गुणविशिष्ट आत्मामें वह दूसरा गुण रहता है—यह दूसरा पक्ष मानें तो प्रथम गुणविशिष्ट आत्मामें वह दूसरा गुण रहता है और द्वितीय गुण-विशिष्ट आत्मामें प्रथमगुण रहता है, इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष होगा। और दूसरा गुण किसी तृतीय गुणविशिष्ट आत्मामें रहता है—यह तीसरा पक्ष मानें तो वह तीसरा गुण भी यदि अपनेसे विशिष्ट आत्मामें आप रहेगा तो आत्माश्रय दोष होगा और तीसरा गुण द्वितीय गुणविशिष्ट आत्मामें रहेगा, तो अन्योन्याश्रय दोष होगा। और यदि तीसरा गुण प्रथम गुणविशिष्ट आत्मामें रहेगा तो तीसरा गुण प्रथम गुणविशिष्ट आत्मामें रहता है और प्रथम गुण द्वितीय गुणविशिष्ट आत्मामें रहता है और दूसरा गुण तृतीय गुण-विशिष्ट आत्मामें रहता है और तीसरा गुण प्रथम गुणविशिष्ट आत्मामें रहता है, इस प्रकार चक्रके समान भ्रमणरूप चक्रकदोषकी प्राप्ति होगी। और तीसरा गुण चतुर्थ गुणविशिष्ट आत्मामें रहता है और चतुर्थ गुण पञ्चम गुणविशिष्ट आत्मामें रहता है, इस प्रकार आगे-आगे गुणोंके माननेमें अनवस्था-दोषकी प्राप्ति होगी। इसलिये चैतन्यरूप प्रकाश गुणरूपसे आत्मामें नहीं रहता। और आनन्दस्वरूप आत्मा तथा चैतन्यरूप प्रकाश, इन दोनोंमेंसे एकमें नित्यपना और एकमें अनित्यपना हो, तो उन दोनोंका परस्पर सम्बन्ध ही नहीं हो सकता; क्योंकि योग्य पदार्थका योग्य पदार्थके साथ ही सम्बन्ध होता है, अयोग्य पदार्थके साथ नहीं। इसलिये दोनोंके सम्बन्धकी सिद्धिके लिये दोनोंको नित्य ही अथवा अनित्य ही मानना चाहिये। इन दोनोंके अनित्य माननेमें पूर्वोक्त दूषण प्राप्त होते हैं। यदि दोनोंका परस्पर सम्बन्ध ही न मानें, तो आनन्दस्वरूप आत्मामें सर्वदा प्रकाशका अभाव मानना होगा। ऐसा मानना अत्यन्त विरुद्ध है। क्योंकि यदि आनन्दस्वरूप आत्मामें प्रकाशका अभाव हो तो हमको आनन्दस्वरूप आत्माकी अत्यन्त प्रियरूपताकी प्रतीति नहीं होनी चाहिये और प्रतीति होती है, इससे सिद्ध होता है कि आनन्दस्वरूप आत्माका प्रकाशके साथ नित्य सम्बन्ध है। अब विचारना चाहिये कि आनन्दमें आत्मरूपता है या नहीं? यदि आनन्द आत्मासे भिन्न हो, तो आत्मा अत्यन्त प्रिय न होगा किन्तु दुःखरूप होगा, अथवा स्रक्-चन्दनादिके समान सुखका साधन होगा। जो पदार्थ दुःखरूप अथवा सुखका साधन होता है, उसमें जीवोंकी निरतिशय प्रीति नहीं होती; इसलिये आत्मामें जीवोंकी निरतिशय प्रीति न होनी चाहिये और 'मेरा कभी भी अभाव न हो, किन्तु मैं सर्वदा बना रहूँ' इस प्रकारकी निरतिशय प्रीति सब लोगोंकी आत्मामें देखनेमें आती है। इससे सिद्ध होता है कि आनन्द आत्मारूप ही है। आत्माकी उत्पत्ति करनेवाला कोई कारण है नहीं, इसलिये आत्मा नित्य है। नित्य आत्मासे आनन्द अभिन्न है, इसलिये आनन्द भी नित्य है। ऐसे आत्मारूप नित्य आनन्दके साथ अनित्य प्रकाशका सम्बन्ध सम्भव नहीं है, इसलिये प्रकाशको भी नित्य ही मानना चाहिये। यदि प्रकाशको अनित्य माना जायगा तो अनित्य प्रकाशका नित्य आनन्दके साथ सम्बन्ध नहीं होगा। और प्रकाशके सम्बन्ध विना वस्तुका भान नहीं होता। इसलिये प्रकाशके सम्बन्धसे रहित

आत्मस्वरूप आनन्दकी हमको प्रतीति न होगी। और अज्ञात पदार्थमें किसी जीवकी प्रीति नहीं होती, किन्तु ज्ञात पदार्थमें ही होती है; इसलिये आनन्दस्वरूप आत्माके अज्ञात होनेसे आनन्दस्वरूप आत्मामें हमारी परम प्रीति न होगी। और अपने आत्मामें हम सबकी परम प्रीति देखनेमें आती है, इसलिये आनन्दस्वरूप आत्माके समान प्रकाशको भी नित्य ही मानना चाहिये। किंवा जैसे घटादि पदार्थोंका ज्ञान नेत्रादि इन्द्रियोंसे जन्य है, इस प्रकार आत्मस्वरूप आनन्दका ज्ञान किसी इन्द्रियसे जन्य नहीं है। क्योंकि जो पदार्थ जिस वस्तुके साथ सम्बन्धको प्राप्त होकर उस वस्तुका ज्ञान उत्पन्न करता है, वह पदार्थ उस वस्तुके ज्ञानमें करण होता है। जैसे नेत्रादि इन्द्रियाँ घटादि पदार्थोंके साथ सम्बन्धको प्राप्त होकर उनका ज्ञान उत्पन्न करती हैं, इसलिये उनके ज्ञानमें करण होती हैं, इसी प्रकार यदि आत्मस्वरूप आनन्दके साथ किसी पदार्थका सम्बन्ध हो, तो वह पदार्थ आत्मस्वरूप नित्य आनन्दके ज्ञानमें करण हो; परन्तु आत्माके साथ किसी अनित्य पदार्थका सम्बन्ध सम्भव नहीं है, क्योंकि 'असङ्गो नहि सज्जते' यह श्रुति आत्माको असङ्ग कहती है। इसलिये आत्मस्वरूप आनन्दके ज्ञानमें किसी अनात्मपदार्थको करणरूपता सम्भव नहीं है।

शंका–आत्मस्वरूप आनन्दके ज्ञानमें मनको करणरूपता क्यों नहीं है?

समाधान–आनन्दस्वरूप आत्माके ज्ञानमें यदि मनको करणरूपता हो, तो जो करण होता है वह किसी कर्ताकी अपेक्षा अवश्य करता है। जैसे कुठारादि करण पुरुषरूप कर्ताकी अपेक्षा करते हैं, इसलिये मनरूप करण भी किसी कर्ताकी अपेक्षा अवश्य करेगा। अब प्रश्न यह होता है कि ज्ञानरूप क्रियामें आत्माको कर्तापना है या मनरूप करणको? प्रथम पक्ष सम्भव नहीं है; क्योंकि जो पदार्थ जिस क्रियाका कर्म होता है, वह उसी क्रियाका कर्ता नहीं होता। जैसे दर्शनरूप क्रियाका कर्मरूप घट दर्शनरूप क्रियाका कर्ता नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञानरूप क्रियाका कर्मरूप आत्मा ज्ञानरूप क्रियाका कर्ता नहीं हो सकता। और ज्ञानरूप क्रियामें मनरूप करणकी कर्तृरूपता है, यह दूसरा पक्ष भी सम्भव नहीं है। क्योंकि जो पदार्थ जिस कालमें जिस क्रियाका करण होता है, उसी कालमें वह उसका कर्ता नहीं होता। जैसे छेदनरूप क्रियाका करणरूप कुठार उसी क्रियाका कर्ता नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञानरूप क्रियाका करणरूप मन उसी ज्ञानरूप क्रियाका कर्ता नहीं हो सकता। यदि ज्ञानरूप क्रियाका मनको कर्ता मानें, तो ज्ञानरूप क्रियाका वह करण नहीं होगा। भाव यह है कि कर्ता उपकार्य होता है और करण उपकारक होता है। एक ही पदार्थ एक कालमें एक वस्तुका उपकार्य और उपकारक हो नहीं सकता। किंवा 'मेरा मन इस वस्तुमें गया था' इस सर्व लोगोंके अनुभवसे मनमें भी ज्ञानकी विषयता प्रतीत होती है, इसमें यह विचार करना चाहिये कि मनको विषय करनेवाले ज्ञानमें कौन करण है—नेत्रादिक इन्द्रियाँ या मन? प्रथम पक्ष तो सम्भव है नहीं; क्योंकि नेत्रादि इन्द्रियाँ बाहरके स्थूल घटादि पदार्थोंके ज्ञानमें ही करण होती हैं, आन्तर पदार्थोंके ज्ञानमें उनकी करणरूपता सम्भव नहीं है। मनको विषय करनेवाले ज्ञानमें मन करण है, यह दूसरा पक्ष भी सम्भव नहीं है। क्योंकि मन ज्ञानरूप क्रियाका कर्मरूप है, इसलिये ज्ञानरूप क्रियाका वह करण नहीं हो सकता। यदि कर्मको भी करणरूपता होती हो तो घटके ज्ञानमें घटको भी करणरूपता होनी चाहिये। किन्तु घटादिके ज्ञानमें घटादिको करणरूपता है नहीं, किन्तु उनके ज्ञानमें नेत्रादिको करणरूपता है। इससे सिद्ध होता है कि मनको विषय करनेवाला ज्ञान किसी करणसे जन्य नहीं है किन्तु नित्य आत्मस्वरूप ही है। इससे यह अर्थ सिद्ध हुआ

कि आनन्द, प्रकाश, आत्मा, तीनों पदोंका एक ही अर्थ है । ऐसा विचार करनेसे यह संशय नहीं हो सकता कि आत्मारूप आनन्द हमको प्रतीत होता है या नहीं।

अब आत्मारूप आनन्दके विपरीत भान पक्षका खण्डन करनेके लिये विपरीत भानके कारणका विचार करते हैं । आत्मस्वरूप आनन्द किस निमित्तसे विपरीत प्रतीत होता है ? एक तो आत्मारूप आनन्दमें आत्माका भेद प्रतीत होता है, दूसरे ज्ञानकी विषयता प्रतीत होती है और तीसरे विषयोंकी प्राप्तिसे जन्यता प्रतीत होती है । ये तीन विपरीत रूपताएँ आत्मारूप आनन्दमें हैं; क्योंकि जिस वस्तुका वास्तव स्वरूपज्ञान जिसमें प्रतीत नहीं होता, वह ज्ञान विपरीत ज्ञान होता है । जैसे रज्जुमें 'यह सर्प है' इस प्रकारके ज्ञानमें रज्जुका वास्तव स्वरूप प्रतीत नहीं होता, इसलिये यह ज्ञान विपरीत ज्ञान है, इसी प्रकार विषयभावसे रहित आत्मारूप नित्य आनन्दमें आत्माके भेदको विषय करनेवाला ज्ञान, आनन्दमें विषयरूपताको विषय करनेवाला ज्ञान तथा आनन्दमें विषय-जन्यताको विषय करनेवाला ज्ञान, ये सम्पूर्ण ज्ञान विपरीत ज्ञानरूप हैं । जो-जो विपरीत ज्ञान होता है, वह-वह मिथ्या होता है । जैसे सीपीमें चाँदीका ज्ञान अथवा रज्जुमें सर्पका ज्ञान विपरीत ज्ञान होनेसे मिथ्या है, उसी प्रकार आत्मारूप आनन्दमें भेद, विषयता और जन्यताको विषय करनेवाले विपरीत ज्ञान मिथ्या होने चाहिये । लोकमें कार्यके समान स्वभाववाला पदार्थ ही कारण होता है । जैसे घटके समान स्वभाववाली मृत्तिका घटका कारण है, उसी प्रकार उन मिथ्या ज्ञानोंका कारण भी मिथ्या ही मानना चाहिये, सत्य पदार्थमें उन मिथ्या ज्ञानोंकी कारणता सम्भव नहीं है । ऐसा मिथ्या कारण मायाके सिवा दूसरा कोई है नहीं, इसलिये मिथ्या माया ही मिथ्या विपरीत ज्ञानोंका कारण है । इस प्रकारके विचारका नाम सांख्य है । जो अधिकारी इस विचाररूप सांख्यको करते हैं, इनको कार्यसहित मायासे भिन्न स्वयंज्योति आनन्दस्वरूप आत्माका साक्षात्कार होता है । यहाँतक सांख्य कहा, अब योग कहते हैं ।

हे संन्यासियो ! यज्ञ-दानादि बाह्य कर्म तथा उपासनारूप आन्तर कर्म, इन दोनों प्रकारके कर्मोंका नाम योग है । निष्काम कर्मरूप योगसे जब अधिकारीका अन्तःकरण शुद्ध होता है, तब स्वयंज्योति आत्माका उसको साक्षात्कार होता है । ब्रह्म-साक्षात्कार हो जानेपर अधिकारियोंकी अविद्या नष्ट हो जाती है और अविद्यारूप कारणके नष्ट होनेसे काम-क्रोधादि सर्वपाश नष्ट हो जाते हैं । इस प्रकार निष्कामकर्मरूप योग भी चित्तकी शुद्धिद्वारा आत्मप्राप्तिका साधन है ।

समर्पण !

जब तुमने ही दिया, दयामय ! मुझको यह जीवन सुन्दर !
और दिये हैं शत-शत सुखके, साधन जब सुन्दर शुचितर !!
मेरा तो है नहीं नाथ ! कुछ, धरी धरोहर है तेरी !
तेरा-ही-तेरा है, प्रियवर ! बाहर औ घरके भीतर !!

× × × ×

माँगोगे जिस समय तुम्हारी धरी धरोहर, करुणाकर !
उसी समय कर दूँगा मैं भी चरणोंमें अर्पित सादर !!

—श्रीकुँवर मोहरसिंह चंदेल "केसरी"

सिंध-पंजाबका तुहफ़ा *

[अर्थात् गोष्ठी जो गुरु बाबा नान्हकजीकी लालफकीरके साथ हुई]

प्रश्न—फकीरीका आदि और अन्त क्या है ?

उत्तर—फकीरीका आदि नाश होना और अंत 'सत्' होना है। नाश होनेका अर्थ यह है कि शिष्य फकीरी आरम्भ करनेके समय निरभिमानभावसे मृतकके समान बनकर श्रीगुरुदेवकी आज्ञारूपी कब्रमें समा जाय, और 'सत्' होनेका भाव है देहाभिमानकी निवृत्तिपूर्वक सत्स्वरूपमें स्थित हो जाना।

प्र०—फकीरीकी बड़ाई क्या है ?

उ०—नम्रता। भाव यह है कि नम्रतासे ही सब किसीको बड़ाई प्राप्त हुई है, होती है और होगी।

प्र०—फकीरीकी बुद्धिमानी क्या है ?

उ०—परमेश्वरमें चित्त लगाना, परमेश्वरके सिवा और कहीं चित्तको न अटकाना। तात्पर्य यह कि फकीरको अपना चित्त सदैव भगवान्‌में ही लगाये रखना चाहिये, लोक-परलोकके किसी भी विषय-सुखमें चित्तको न जाने देना ही फकीरीकी बुद्धिमानी है।

प्र०—फकीरकी शक्ति क्या है ?

उ०—अशक्त होकर रहना। अर्थात् अपनेमें शक्ति होनेपर भी असमर्थ बने रहना, यही फकीरकी शक्ति है।

प्र०—फकीरके लिये मुँह काला करनेवाली वस्तु क्या है ?

उ०—अपनी स्तुति करना। फकीरका अपने मुँह अपनी प्रशंसा करना अपने मुँहपर कालिख लगाना है। कहा भी है—

स्वगुन दोष पर जाचना अर्थी व्यर्थ भनंत।
इन चारोंके कहनमें संतन जीभ लजंत॥

प्र०—फकीरका पैवंद क्या है ?

उ० परमेश्वरका ज्ञान और उस ज्ञानमें स्थित हो जाना। अर्थात् दुनियाके सम्पूर्ण नातोंसे मनको मोड़कर और एकमात्र परमेश्वरको अपना जानकर उन्हींसे दृढ़ नाता जोड़ लेना, यही फकीरका पैवंद † है।

प्र०—फकीरीका प्रकाश क्या है ?

उ०—परमेश्वरका नाम-जप और ध्यान।

प्र०—फकीरके सिरपर क्या है ?

उ०—भगवन्तकी छाया।

प्र०—फकीरके आगे क्या है ?

उ०—प्रारब्ध।

प्र०—फकीरके पीछे क्या है ?

उ०—मौन। अर्थात् उसे सदैव मौनकी याद बनी रहती है।

प्र०—फकीरके दोनों हाथ कहाँ रहते हैं ?

उ०—उसके दोनों हाथ कानोंपर और सत्य नियमोंके पालनमें लगे रहते हैं। अर्थात् परायी निन्दा-स्तुति कानोंमें न पड़े, इसके लिये वह दोनों कानोंको दोनों हाथोंसे बंद किये रहता है और पूजादिक नित्य-कर्ममें दृढ़ताके साथ लगा रहता है।

प्र०—फकीरके चरण किस अवस्थामें रहते हैं ?

उ०—सङ्कुचित और बँधे हुए—कुमार्गकी ओरसे सङ्कुचित और आसनकी दृढ़तामें बँधे हुए।

---

* यह तुहफ़ा हमें श्रीमहंत बाबा धर्मदासजी, दरबार भामंद, तथा श्रीमहंत बाबा टहलदासजी, दरबार गादियासीनसे पं० श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणीके द्वारा प्राप्त हुआ है। —संपादक

† माली लोग जो एक पुष्प या फलके वृक्षकी डालीको दूसरे पुष्प या फलके वृक्षमें जोड़कर दूसरा पुष्प या फलका वृक्ष तैयार कर लेते हैं, उसको पैवंद कहते हैं।

प्र०—फकीर किस कामके लिये कमर कसे रहता है ?

उ०—गुरुओंकी सेवा-टहल करनेके लिये ।

प्र०—फकीरका संकल्प क्या होता है ?

उ०—भजन करना (अर्थात् भजनके सिवा और कोई संकल्प न उठने देना, केवल भजनका ही संकल्प करना) ।

प्र०—फकीरको संशय किस बातका रहता है ?

उ०—यही कि भजन करता हूँ, देखें वह भगवान्‌को कबूल होता है कि नहीं !

प्र०—फकीरका घोड़ा क्या है ?

उ०—प्रियतमकी प्रीति और इच्छा ।

प्र०—फकीरका अधिकार क्या है ?

उ०—दिन-रात जागते रहना, अर्थात् सदैव सत्-असत्‌का विवेक करते रहना । भगवान् शङ्कराचार्यने भी कहा है—

'जागर्ति को यः सदसद्विवेकी ।' (प्रश्नोत्तरी)

प्र०—फकीरकी 'काहिली' (बिना विचारे सहसा कोई काम कर बैठनेको सिंधी भाषामें 'काहिली' कहते हैं) क्या है ?

उ०—बहुत खाना । कहा भी है—'बुद्धि घटै बहु भोजन खाये ।'

प्र०—फकीरकी चालाकी (होशियारी) किस बातमें है ?

उ०—अन्न-जलका संयम करना, अर्थात् कम खाना-पीना ।

प्र०—फकीरका आराम-विश्राम क्या है ?

उ०—एकान्तमें बैठना । प्रमाण देखिये—

न सुखं देवराजस्य न सुखं चक्रवर्तिनः ।
यत्सुखं वीतरागस्य मुनेरेकान्तवासिनः ॥

प्र०—फकीरका तोषा (खजाना) क्या है ?

उ०—भगवंतका भरोसा रखना ।

प्र०—फकीरका मेहमान कौन है ?

उ०—शरीर और जीविका (प्रारब्ध) । तात्पर्य यह कि फकीर शरीरके निर्वाहमात्रसे सन्तुष्ट एवं प्रसन्न रहते हैं ।

प्र०—फकीरका उद्यम क्या है ?

उ०—परमेश्वरमें चित्तको स्थित करना ।

प्र०—फकीरका घर कहाँ है ?

उ०—जगत्‌रूपी सराय ही फकीरका घर है ।

प्र०—फकीरकी मिल्कियत (सम्पत्ति) क्या है ?

उ०—परमेश्वरके भजनका नियम ।

प्र०—फकीरकी रीझ क्या है ?

उ०—शरीरका आरोग्य (क्योंकि शरीर नीरोग रहनेसे परमात्माका भजन होता है) ।

प्र०—जगत्‌पर फकीरका यंत्रा (ताला) क्या है ?

उ०—भोगोंका, अर्थात् जिन विषयोंमें चित्तको फँसावट होती हो, उनका त्याग करना ।

प्र०—फकीरके घरकी (हृदयकी) कुंजी क्या है ?

उ०—हर किसीसे शिक्षा लेना (जैसे गुरु दत्तात्रेयजीने चौबीस गुरुओंसे शिक्षा ली थी) ।

प्र०—फकीरका आहार क्या है ?

उ०—अपना ही मांस (अर्थात् शरीरको सुखाना, तितिक्षा करना) ।

प्र०—फकीरको जरूरत किस बातकी है ?

उ०—हर बातपर शुक्र मानना—अर्थात् जो बात बन आवे, उसीसे कृतार्थ हो जाना ।

प्र०—फकीरकी प्रसन्नता क्या है ?

उ०—किसी भी विषयमें चित्तको न अटकाना । कहा भी है—

प्रीति करंते बावरे हित चित्त बावरे देय ।
मूसन कौन सयानपा, चित दे चिंता लेय ॥

प्र०—फकीरकी आदत क्या है ?

उ०—भजन करते रहना ।

प्र०—फकीरको तृष्णा किस बातकी रहती है ?

उ०—तप बढ़ानेकी ।

प्र०—फकीरकी गुजरान किसपर है ?

उ०—किसीसे लोभ नहीं करना; जो स्वयं आकर प्राप्त हो जाय, उसीमें सन्तुष्ट रहना ।

प्र०—फकीरको रस (आनन्द) किस बातमें मिलता है ?

उ०—चुप रहने अर्थात् शान्त रहनेमें ।

प्र०—फकीरका न्याय क्या है ?

उ०—सबसे निर्वैर रहना ।

प्र०—मायाका व्यवहार कैसा है ?

उ०—जैसे ऊँटके नाककी महार (नकेल) । महार पशुओंके लिये भली है, मनुष्योंके लिये नहीं ।

प्र०—परमेश्वरके साथ प्रीति कब करना भला है ?

उ०—अभी इसी समय ।

प्र०—किससे प्रीति न करना भला है ?

उ०—काम, क्रोध, मोह, तृष्णा आदिसे प्रीति न करना भला है ।

प्र०—कर्मयोग और सांख्ययोग किसे कहते हैं ?

उ०—पवनको रोकना कर्मयोग और चित्तका निरोध करना सांख्ययोग है । यदि कहो कि इन दोनोंमें कौन प्रमाण है, तो इसका उत्तर यह है कि जबतक कलियुग नहीं आया था तबतक दोनों क्रियाएँ योग्य (साध्य) थीं; परन्तु अब कलियुगके आ जानेसे चित्तकी वृत्तियाँ चञ्चल हो गयी हैं, फलतः कर्मयोगकी सिद्धि जल्दी नहीं होती । इसलिये इस युगमें सांख्ययोग ही प्रमाण है ।

प्र०—फकीरके लिये कठिन क्या है ?

उ०—जप-तपका अहंकार निवृत्त करना ।

प्र०—फकीरका मेल-मिलाप क्या है ?

उ०—अपना आपा भुलाकर अपने ही रह जाना, अर्थात् देहाभिमानको भुलाकर आत्मस्वरूपमें स्थिर रहना ।

प्र०—फकीरका जामा क्या है ?

उ०—सब किसीके पापोंको कजना-ढकना ।

प्र०—क्या फकीरका नग्न रहना भला है ?

उ०—जबतक शरीरका अभ्यास है तबतक निर्वाह-मात्रके लिये कपड़ा अङ्गीकार करे और जब शरीरका अभ्यास मिट जाय तब स्वेच्छानुसार बरते ।

प्र०—भजन कैसे स्थिर होता है ?

उ०—तपके द्वारा ।

प्र०—तप कैसे सिद्ध होता है ?

उ०—कहना कम, करना अधिक—ऐसा करनेसे तप सिद्ध होता है ।

प्र०—फकीरका कर्तव्य क्या है ?

उ०—गुरुदेवकी आज्ञामें रहना ।

प्र०—फकीरका रोग क्या है ?

उ०—मायाधारियोंसे प्रीति करना ।

प्र०—फकीरको दुःख कैसे होता है ?

उ०—करामात दिखलानेसे ।

प्र०—फकीरके पाससे लोककी हजूमत (भीड़) किस प्रकार हटे ?

उ०—हर किसीसे कुछ-न-कुछ याचना करते रहनेसे ।

प्र०—फकीरका हास-विलास क्या है ?

उ०—भगवान्‌की चर्चा करना ।

प्र०—फकीरका अर्थ किस तरह सिद्ध होता है ?

उ०—सब अर्थोंका त्याग करनेसे ।

प्र०—जिज्ञासु फकीरको परमेश्वर कब प्राप्त होते हैं?

उ०—जब उसके हृदयमें सच्ची प्रीति पैदा हो जाती है ।

प्र०—सच्ची प्रीतिकी निशानी क्या है ?

उ०—गुरुओंसे प्रीति करना ।

प्र०—क्या फकीरके लिये सवाल (याचना) करना ठीक है ?

उ०—हाँ, यदि वह किसी औरके लिये किया जाय ।

प्र०—फकीरके लिये किसका त्याग योग्य है ?

उ०—अपने सम्बन्धियोंका । कहा भी है—

कुल कुटुंब थूहड़ बन, कंटक नख-सिख पूर ।
बुद्धि बस्त्र फाटै सही, 'रज्जब' रहिये दूर ॥

प्र०—फकीरका मित्र कौन है ?

उ०—मायाका त्याग ।

प्र०—जनक आदि अपने कुटुम्बमें किस प्रकार रहे?

उ०—अपने हृदयको सर्वथा निरहङ्कार बनाकर ।

अवतारका जीवन-रहस्य

(लेखक—श्रीअक्षयकुमार वन्दोपाध्याय, एम० ए०)

इसके बाद मैं अवतारके सम्बन्धमें एक अत्यन्त गूढ़-रहस्यकी आलोचनामें प्रवृत्त होता हूँ । जागतिक व्यापार-प्रवाहमें मनुष्यका जीवन एक अत्यन्त कठिन रहस्यपूर्ण दुर्ज्ञेय वस्तु है । प्राण-कर्मविहीन जडजगत्‌के समस्त व्यापार असंख्य नियमोंके द्वारा भलीभाँति नियन्त्रित हैं । वहाँ सब कुछ नियमाधीन है । वहाँ कोई विद्रोह नहीं, नियमित कार्य-कारणशृङ्खलाको तोड़कर आत्मप्रतिष्ठाकी चेष्टा वहाँ नहीं देखी जाती । हमारी बुद्धि सहज ही इस जडराज्यके रहस्यजालको भेदनेमें समर्थ होती है । एक बार किसी एक श्रेणीके व्यापारकी नियामक शक्तियोंका और उनकी कार्यप्रणालीका यथार्थरूपमें आविष्कार करनेपर हम उस जातिके समस्त अतीत और भविष्यत् व्यापारोंके स्वरूपको ठीक-ठीक निर्धारित करनेमें समर्थ हो सकते हैं । इसी कारण जडविज्ञान इतनी शीघ्र गतिसे अग्रसर हो रहा है और जड-जगत्‌के साथ इतना घनिष्ठ परिचय करके एवं इसकी नियामक शक्तियोंको वशीभूत करके इसके ऊपर प्रभुत्व स्थापित करनेमें समर्थ हो रहा है ।

प्राणहीन जगत्‌की अपेक्षा प्राणमय जगत्‌के व्यापार कहीं अधिक जटिल और रहस्यमय हैं । प्राणहीन जगत्‌की शक्तियाँ और कार्य-कारण नियम प्राणमय जगत्‌में भी विद्यमान रहते हैं । परन्तु प्राणशक्ति अपने अद्भुत प्रभावसे उन सबको वशीभूत करके, अपने प्रयोजनसिद्धिके साधनरूपमें व्यवहृत कर अपना अंग बना लेती है । प्राणीके शरीरमें जो जडशक्तिकी क्रिया, जड-उपादानका संमिश्रण और विभाजन तथा जडीय कार्य-कारण शृंखलाका प्रभाव है, सब प्राणके राजत्वके अधीन हैं तथा प्राणकी अपनी कर्मधाराद्वारा नियन्त्रित हैं । जिस शरीरमें प्राणशक्तिका जितना ही पराभव होता है वह शरीर उसी परिमाणमें मृत्युपथमें, जडत्वप्राप्तिके पथमें अग्रसर होता है । जहाँ प्राणशक्ति जडशक्तिको नियन्त्रित करनेमें असमर्थ होती है, वहाँ प्राणका ही अभाव होता है । इस प्राणके यथार्थस्वरूपको, इसकी कर्मप्रणालीको पूर्णतः समझना, जडशक्तिके ज्ञानकी अपेक्षा बहुत कठिन है । प्राण-व्यापारमें अनेकों विचित्रताएँ, अनेकों प्रकारके रहस्य हैं । इसके भीतर प्रवेश करनेके लिये अतिशय साधनाकी आवश्यकता है ।

प्राणराज्यकी अपेक्षा मनोराज्यके व्यापार और भी अधिक जटिल, विचित्र और रहस्यपूर्ण हैं । प्राणहीन और प्राणमय जगत्‌की शक्तियोंपर मनका राजत्व है । मन उनको साधन बनाकर उनके ऊपर अपनी रंगीन छाप लगा देता है और उनका अतिक्रम करके भी बहुत दूरतक अपना प्रभाव

फैलाता है तथा अपने अद्भुत क्रियाकलापोंको सिद्ध करता है। मन अपने गुण (धर्म) को इन जागतिक वस्तुओं और व्यापारोंमें प्रविष्ट कराकर इनको एक नवीनरूप प्रदान करता है, और इन्हें अद्भुतरूपसे सुसज्जित करता है। मनोराज्यमें कितने विचित्र राग-द्वेष, काम-प्रेम, ईर्ष्या-घृणा, करुणा-निष्ठुरता, संशय-आतङ्क, ज्ञान-मोह, सङ्कल्प-विकल्प, जय-पराजय, लाभ-हानि, संयोग-वियोग, सुख-दुःख, स्मृति और विस्मृति, तथा आशा और निराशा होती हैं। यह परिदृश्यमान जड और चेतन जगत् मनका विषय, मनका भोग्य और क्रियाक्षेत्र हैं। इस जगत्को मन अपने विचित्र भावोंके आवेशसे नाना रंगोंमें रञ्जित, नाना रसोंसे रसमय, नाना तरंगोंसे तरंगित नृत्यशील बनाकर अपने अंदर ग्रहण करता है, तथा अपनी आन्तरिक सम्पत्तिके द्वारा उसे और भी विचित्र रीतिसे सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्यादिसे सम्पन्न कर नये ढंगसे सृजन करता है। विषयराज्यके वैचित्र्यकी अपेक्षा मनोराज्यका वैचित्र्य कहीं अधिक रहस्यमय है, तथा विषयराज्यमें जिस विचित्र भावसम्पत्तिका हम आस्वादन करते हैं वह भी अधिकांशमें मनकी ही दी हुई है। इस मनोराज्यका परिचय प्राप्त करना, जडजगत् और प्राण-जगत्के परिचय प्राप्त करनेकी अपेक्षा कहीं अधिक कठिन और साधनसापेक्ष है।

मनोराज्यके ऊपर विज्ञानराज्य है। इस राज्यमें स्वाधीन विचारशक्ति और स्वाधीन इच्छाशक्ति अपने प्रभुत्वकी घोषणा करके मनोवृत्तियोंको अपने अभीष्टकी सिद्धिके साधनरूपमें व्यवहृत करती हैं और इनके ऊपर अपना शासन रखती हैं। केवल मानवजीवनमें ही इस विज्ञानराज्यकी प्रतिष्ठा देखी जाती है। इस विज्ञानराज्यकी स्वतन्त्र विचारशक्ति और इच्छाशक्तिने मानवजीवनको प्राकृत जगत्में भी बहुत कुछ अप्राकृत बना डाला है। ससीमतामें भी उसे बहुत कुछ असीमता प्रदान कर दी है, प्राकृतिक कार्य-कारण शृङ्खलामें रखकर भी उसे इनके ऊपर विचरण करनेका अधिकार दे दिया है। इस विज्ञानके पूर्ण विकासद्वारा मनुष्य प्राणहीन, प्राणमय और मनोमय जगत्के ऊपर अपना पूर्ण साम्राज्य स्थापित करनेमें समर्थ होता है। विज्ञानशक्तिसम्पन्न मनुष्य केवल सृष्ट जीव ही नहीं है, वह स्रष्टा भी है। वह इस जगत्को नवीनरूपसे देखता है, नवीनरूपमें श्रवण करता है, नवीनरूपमें आस्वादन करता है और नवीनरूपमें निर्माण करता है। इस विज्ञानकी शक्तिके द्वारा पराभूत होकर प्राकृत जगत्के शासनकर्ता देवगण भी मनुष्यकी सेवामें नियुक्त होते हैं और उनके इच्छानुसार अभीष्टसाधन करनेके लिये बाध्य होते हैं। विज्ञानके साधनद्वारा प्रकृति अपने गूढ रहस्यों-को मनुष्यके सामने प्रकट करनेके लिये विवश हो जाती है, विज्ञानकी शक्तिसे मनुष्य प्राकृतिक रहस्यजालका भेद कर, प्राकृतिक पदार्थों और उनके गुणों तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध और उनके नियामक तत्त्वोंके कण-कणसे अवगत होकर उनके ऊपर अपना प्रभुत्व फैलाता है; और बलपूर्वक उनको अपनी उद्देश्यसिद्धिके साधनरूपमें व्यवहृत करते हैं, तथा उन्हींको साधन बनाकर अनेकों विचित्र-विचित्र पदार्थोंकी सृष्टि करते हैं। विज्ञानराज्यके अधिवासी होनेके कारण ही मनुष्यके परिवार, समाज और राष्ट्रकी सृष्टि होती है। इसी कारणसे मनुष्यके कर्तव्य-अकर्तव्य, धर्म-अधर्म, सुनीति-कुनीति, तथा सत्य और मिथ्या ज्ञानका भेद है। इसीके कारण मानवजीवनका आदर्श है, साधना है, उत्कर्षापकर्ष है; इसी कारण उसके स्वर्ग और नरक हैं, बन्धन और मोक्ष है। इस विज्ञानकी प्रेरणासे ही मनुष्य 'दर्शन', 'विज्ञान', 'धर्मशास्त्र', 'अर्थशास्त्र', 'साहित्य', 'कला', 'इतिहास' प्रभृतिकी सृष्टि और आलोचना करता है। यह विज्ञान ही मनुष्यको संसार-प्रवाहके परे नित्य, सत्य, शुद्ध परमानन्दका पता देता है तथा जीवनमें उसको प्राप्त करनेके लिये प्रेरणा, उत्साह और क्षमता प्रदान करता है।

जडजगत्के प्रभाव, प्राणके प्रयोजन, मनके विचित्र भाव-तरंग और तदुपरान्त विचारशक्ति और इच्छाशक्तिकी स्वाधीन सृष्टि-प्रक्रियाने मानवजीवनको अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण बना दिया है। विश्वसृष्टिमें मनुष्य सबसे बढ़कर अद्भुत प्राणी है। स्रष्टा और सृष्ट—इन दोनोंके बीचमें मनुष्यका स्थान है। इसमें स्रष्टा और सृष्ट दोनोंके धर्म विद्यमान हैं। मनुष्यको सृष्ट जगत्के अन्तर्गत विचित्र जीवश्रेणियोंमें एक विशेषजातीय जीवमात्रके रूपमें विचार करनेपर उसके चरित्रका सम्यक् परिचय नहीं प्राप्त हो सकता; और पक्षान्तरमें उसे अन्यान्य जीवश्रेणीसे अत्यन्त पृथक् करके देखना भी असम्भव है। प्राकृतत्व और अप्राकृतत्वके संयोग, स्वातन्त्र्य और अस्वातन्त्र्यके संयोग, सृष्टत्व और स्रष्टृत्वके संयोग, ज्ञातृत्व-भोक्तृत्व और ज्ञेयत्व-भोग्यत्वके संयोग, आस्वाद्यत्व और आस्वादयितृत्वके संयोगके कारण मनुष्य एक अद्भुत रहस्यमय जीव है।

अब साधारण मानवजीवनका रहस्य इतना दुर्भेद्य है,

तब यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि अवतार-जीवनका रहस्य इसकी अपेक्षा कितना अधिक दुर्भेद्य होगा। अवतारमें भगवत्ता और मानवताका अद्भुत समावेश होता है। उनमें अनन्त शक्ति होती है, अनन्त ज्ञान, अनन्त ऐश्वर्य और अनन्त प्रेम होता है। वे सङ्कल्पमात्रसे ही असीम ब्रह्माण्डकी सृष्टि, स्थिति और प्रलय करनेमें समर्थ होते हैं। अखिल जीवोंको सारे बन्धनोंसे मुक्त करने, तत्त्वज्ञान प्रदान करने, तथा ब्रह्म-निर्वाणका विधान करनेमें समर्थ होते हैं। संसारमें धर्मसंस्थापन, साधुओंका त्राण और दुष्कृतिविनाश तो उनके लिये सामान्य बात है। तथापि वे प्राकृत जगत्में देशविशेषमें और कालविशेषमें एक शरीर धारण करके अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान्, दोष-गुणमिश्रित, शत्रु-मित्रसे परिवेष्टित एक साधारण जीवके समान विचरण करते हैं। उनका स्वतः-सिद्ध अनन्तत्व सान्तत्वके बीच छिपकर संकुचितरूपमें प्रकट होता है और वह सान्तत्व भी अनन्तत्वकी ज्योतिश्छटामें समुज्ज्वल होकर अपना कर्म सम्पादन करता है। वे कर्मक्षेत्रमें साधारणतः देश, काल, अवस्था और प्रयोजनका विचार कर एक विशिष्ट विचारशील मनुष्यके समान व्यवहार करते हैं, उद्देश्यके अनुसार उपायोंका अवलम्बन कर कार्यसाधनमें प्रवृत्त होते हैं, पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय कल्याण करनेवाली रीतिनीतियोंको स्वीकारकर अपने आचार-व्यवहारको नियन्त्रित करते हैं, तथा सबकी स्वाधीन इच्छाशक्ति और विचारशक्तिको अपने मतानुसार बनाकर उन रीतिनीतियोंकी प्रयोजनके अनुकूल उन्नति करते हैं। परन्तु इस प्रकारकी कार्यशैलीके अन्दर भी उनकी भागवती शक्तिका प्रकाश होता है। बिल्कुल साधारण कामोंमें भी सुनिपुण दृष्टिके सामने उनका अनन्य साधारणत्व प्रकाशित होता है। वे देश, काल, अवस्था और प्रयोजनसे ऊपर रहते हैं, उनकी उद्देश्यसिद्धिके लिये किसी प्रकारके उपायकी आवश्यकता, अथवा उनके निजी जीवनके गठनके लिये किसी प्रकारकी रीति-नीतिको मानकर चलने या साधनामें प्रवृत्त होनेकी आवश्यकता न रहते हुए भी वे इन मार्गोंका अवलम्बन करते हैं; यह सब बातें तत्त्वानुसन्धान करनेवाली बुद्धिको जब ये साधारण व्यापारोंमें लगे रहते हैं तब भी स्पष्ट दिखायी देती हैं। वस्तुतः उनके सारे कर्म 'दिव्य' होते हैं और अति साधारण लौकिक कर्म भी 'दिव्य' होते हैं।

अवतार-पुरुष सर्वदा ही भीतर भगवान् और बाहर जीव, भीतर अनन्त और बाहर सान्त, भीतर सच्चिदानन्दघनविग्रह और बाहर देहधारी, भीतर नित्य, सत्य, शुद्ध, मुक्त, अविक्रिय, अचञ्चल और बाहर देश, काल, अवस्था, प्रयोजनके अनुसार परिवर्तनशील और चञ्चल होते हैं। अवतारके कर्म भी उसी प्रकार भीतर दिव्य, बाहर मानवीय, भीतर अलौकिक, बाहर लौकिक, भीतर मायामुक्त, बाहर मायामय, भीतर कार्य-कारणसे अतीत, बाहर कार्य-कारणसे नियमित, भीतर प्रयोजनविहीन और बाहर प्रयोजनाधीन होते हैं। जो लोग अवतारके बाह्य आवरणको भेदकर भीतर साक्षात् भगवान्का दर्शन करनेमें समर्थ होते हैं, तथा 'तत्त्वतः' उनकी कर्मधाराका पर्यवेक्षण कर सकते हैं, वे उनके सब प्रकारके कर्मोंके भीतर उनकी भगवत्ताका परिचय पा सकते हैं; उनकी तात्त्विक दृष्टिमें भगवान्के ही स्वतः स्फूर्त प्रेम, अहैतुकी करुणा, त्रिकालदर्शी ज्ञान और अप्रमेय शक्ति लोगोंकी आँखोंके सामने मूर्त्त होकर विचित्र कर्मोंके आकारमें प्रकाशित होती है। उनके सामने उनका (अवतार-पुरुषका) प्रत्येक कर्म भागवती लीला है—भगवत्तत्त्वकी प्रत्यक्ष मूर्त्ति है। जो लोग इस बाहरी आवरणका भेदन करनेमें समर्थ नहीं होते, उनकी दृष्टिमें वे धर्म और नीतिके महान् उपदेष्टा हैं, युगोपयोगी साधनाके पथ-प्रदर्शक हैं, मानवसमाजके आदर्श असाधारण शक्तिसम्पन्न, ज्ञान-सम्पन्न और कर्त्तव्यनिष्ठ विशिष्ट पुरुष हैं। इस प्रकारके महापुरुष सामाजिक, राष्ट्रीय और आध्यात्मिक संकटकालमें बीच-बीचमें आविर्भूत होकर नवीन ज्ञानका प्रकाश, भावकी सम्पत्ति, कर्मका कौशल और धर्मका आदर्श मानवजातिके सामने उपस्थित करते हैं और उसकी ओर उनको आकर्षित करते हैं।

अतएव अवतारके भगवद्भाव, उनके जन्म-कर्मके दिव्य-भाव, अप्राकृतिक लीला-भाव—कुछ थोड़े-से तत्त्वानुभूति-सम्पन्न ज्ञानी और भक्तोंकी दृष्टिमें ही प्रतिभात होते हैं। और उनका महापुरुषभाव, तथा जन्म और कर्मके अशेष कल्याणप्रद लौकिक भाव ही शिक्षित, अशिक्षित सर्वसाधारण-की बुद्धिमें आते हैं, स्मरणीय और अनुकरणीय होते हैं। भगवान् स्वयं कहते हैं—

> नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
> मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥

अर्थात् 'अपनी योगमायाद्वारा मैं समावृत रहता हूँ, अतएव सबके सामने मेरा स्वरूप प्रकाशित नहीं होता। इसी कारण यह मूढ़ जनसमाज जो मायासे मुग्ध होनेके कारण मायाके

आवरणको भेदकर मेरे तात्त्विक स्वरूपको देख नहीं सकता, मुझे अज और अव्ययरूपमें नहीं पहचानता ।'

वे अवतारके व्यक्त देहको, व्यक्त ज्ञान और शक्तिको, व्यक्त कर्म और कौशलको, व्यक्त परिणाम और चाञ्चल्यको ही देखते हैं । इनके अन्तर्गत निगूढभावसे प्रकटित उनके अव्यय अनुत्तम परमभावको देखनेमें वे समर्थ नहीं होते ।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥

इस मनुष्यदेहके अवतारमें विद्यमान उनके सच्चिदानन्दमय नित्य देहको, इस प्रपञ्चाभिव्यक्त जीवभावके अन्तर्गत प्रकाशमान उनके भूतमहेश्वरभावको, इस व्यक्त और व्यक्तभावके प्राणस्वरूप उनके अव्यक्त परमभावको न देखकर, मायामोहित तत्त्वदृष्टिविहीन बहुतेरे लोग अवतारकी अवहेलना भी करते हैं; उनके कार्योंमें दोष खोजकर उनके श्रेष्ठत्वको भी अस्वीकार करते हैं तथा इसके परिणामस्वरूप कल्याणके पथसे भ्रष्ट होकर अधोगतिको प्राप्त होते हैं—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥

अवतारजीवनके इस जटिल दुर्ज्ञेय रहस्यमें ही भगवान्‌के अवतारग्रहणकी निगूढ़ सार्थकता विद्यमान है । मनुष्य मायिक शरीर और अन्तःकरणसे मायिक जगत्‌में नाना प्रकारके मायिक नागपाशद्वारा आबद्ध होकर विचरण करता है; उसको इस देहमें, इस मायिक घेरेके भीतर रहकर अन्तःकरणके सम्यक् व्यवहारद्वारा मायामुक्त होना पड़ेगा और ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करनी होगी । वह ससीम है, इस ससीममें असीमताकी प्रतिष्ठा किये विना वह विकार और दुःखकी यन्त्रणासे मुक्ति नहीं पा सकता । विना कर्म किये जीवित रहना उसके लिये असम्भव है, तथापि कर्मबन्धनसे छुटकारा मिले विना मानवजीवनकी सार्थकताका आस्वादन भी असम्भव है । उसकी इन्द्रियोंके साथ जागतिक विषयोंका एक दुश्छेद्य संयोग है और इन्द्रियोंके साथ विषयोंके संस्पर्शसे शीतोष्ण, सुख-दुःखादि देहेन्द्रियसम्बन्धी विक्षोभोंका होना अनिवार्य है; तथापि इन्द्रियों, विषयों और विक्षोभोंका अतिक्रमण किये विना अतीन्द्रिय आत्मसुखके अधिकारकी प्राप्ति नहीं होती । मनुष्यका ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, सभी क्षुद्र हैं; उसके बाहर वह एक विपुल ज्ञान, विराट् शक्ति, अप्रमेय ऐश्वर्यका परिचय पाता है । तथापि इस विशाल संसारके एक कोनेमें रहकर भी इस अप्रमेय ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्यसे सम्पन्न मायाके प्रभावसे मुक्त रहना ही उसके जीवनका आदर्श है । इस परिदृश्यमान जगत्‌में सर्वत्र ही उसे वैषम्य दिखलायी देता है, तथापि सर्वत्र समदर्शी हुए विना वह परमानन्दमें प्रतिष्ठा लाभ नहीं कर सकता ।

अतएव मानवजीवनकी समस्याएँ गुरुतर हैं; उसे वैषम्यके साथ साम्यका, ससीमताके साथ असीमताका, कर्मके साथ अकर्मका, चाञ्चल्यके साथ स्थिरताका, भोगके साथ त्यागका, सांसारिक स्थितिके साथ ब्राह्मीस्थितिका मिलन कराना पड़ेगा । वैषम्यसे परिवृत होनेपर भी उसे साम्यमें स्थिति प्राप्त करनी पड़ेगी । क्षुद्र सीमाबद्ध देश-कालमें जीवन यापन करते हुए भी उसे भीतर असीमताकी उपलब्धि करनी पड़ेगी । कर्म और भोगके साथ जड़ित होते हुए भी उसे कर्तृत्वविहीन और भोक्तृत्वविहीन होना पड़ेगा । देहेन्द्रियोंकी चञ्चल अवस्थामें भी उसे निर्विकार, निश्चल और प्रशान्तभावसे विराजित होना पड़ेगा । जगत्‌के परिवर्तन-स्रोतमें प्रवाहित होते हुए भी अपनेको नित्य, अपरिवर्तनीय बोध करना होगा । शीतोष्ण, मानापमान, सुख-दुःख प्रभृतिके प्रचण्ड आक्रमणके बीच भी उसे अपनेको असंग, अविचलित, सदानन्दमय रखना होगा । उसे जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधिमें भी अपनेको जन्महीन, मृत्युहीन, जराहीन, व्याधिहीन अनुभव करके सब प्रकारके विकारोंसे ऊपर उठना होगा । इस जगत्‌में सब कुछ त्रिगुणमय है, सभी सत्त्व-रज-तमके विकारसे उत्पन्न हैं; इसी जगत्‌में उसे त्रिगुणातीत होना पड़ेगा ।

यही मानवजीवनकी समस्या है । यह विरोधोंका समाधान ही उसकी साधनाका लक्ष्य है । परन्तु इसका आदर्श कहाँ है ? बुद्धिके सामने यदि दो विरुद्ध तत्त्व विद्यमान हों और उनके समन्वयके लिये कोई सनातन आदर्श न हो, तो इस समन्वय-साधनाकी प्रेरणा भी नहीं हो सकती, फिर चेष्टा तो होगी ही कैसे ? ब्रह्म मायातीत है और जीव मायाधीन; ब्रह्म त्रिगुणातीत है और जीव त्रिगुणोंके वशीभूत; ब्रह्म देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न है, और जीव देश-कालसे परिच्छिन्न है; ब्रह्म निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, निरवद्य और निरञ्जन है, तथा जीव सकल, सक्रिय, चञ्चल, मलिन और विकारशील है । इन दो विरुद्ध तत्त्वोंका मिलन किस प्रकार हो सकता है;

तथापि मनुष्यको अपनी साधनाद्वारा जीवत्वमें ही ब्रह्मत्वकी प्रतिष्ठा करनी पड़ेगी, जीव रहते हुए ही उसे ब्रह्मभूत होना पड़ेगा।

भगवान् अपने अवतार-जीवनमें इस चिरविरोधका चिरसमाधान प्रकट करते हैं। अवतारमें दोनों धाराओंका मिलन दीखता है—मायातीतकी मायाभिमुखी गतिधारा और मायाधीनकी मोक्षाभिमुखी गतिधारा। भगवान् जीवको मायाकी शृङ्खलासे मुक्त करनेके उद्देश्यसे ही अपनी कृपाशक्ति या गुरुशक्तिका अवलम्बन करके मायिक राज्यमें अवतरित होते हैं; जीवको अपने धाममें आकर्षण करके ले जानेके लिये ही भगवान् जीवके सामने उतर आते हैं, जीवत्वकी भूमिमें आकर आत्मप्रकाश करते हैं। यही भगवान्की नित्य जीवाभिमुखी गति है। मायातीतकी मायाभिमुखी गति है। अवतार है भगवान्की कृपाशक्ति या गुरुशक्तिका प्रत्यक्ष विग्रहरूप। पक्षान्तरमें जीव त्रितापसे तप्त होकर मायाके बन्धनसे मुक्ति पानेके लिये व्यग्र होता है और उसके लिये पुरुषार्थ करता है। इस मानवीय पुरुषार्थका ज्वलन्त आदर्श अवतार-जीवनमें प्रत्यक्ष होता है। इस पुरुषार्थकी साधना और सिद्धि दोनों ही अवतारमें प्रकट होती हैं। भगवान् जीवरूपमें विहार करके भगवत्त्व और जीवत्वके—मायातीतत्व और मायाधीनत्वके—व्यवधानको हटा देते हैं।

भगवान् अपनी भगवत्ताको अक्षुण्ण रखते हुए जीव-जगत्में देह धारण करके विहार करते हैं और जीवके सामने जीवत्वके भीतर ब्रह्मत्वकी उपलब्धिका कौशल प्रकट करते हैं। इसी कारण भगवान् कहते हैं कि 'अवतारके जन्म-कर्म दिव्य हैं, इन्हें तत्त्वतः जाननेसे सांसारिक जन्म-कर्मोंके बन्धनसे मुक्ति प्राप्त होती है।' इस प्रकार यह मुक्ति कैसे मिलती है, इसका निर्देश इस श्लोकमें सप्रमाण किया गया है—

> वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
> बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥

इसका तात्पर्य यही है कि भगवदवतारके जन्म कर्मके रहस्योंको यथार्थतः जान सकनेपर मनुष्यके राग-द्वेष-भय दूर हो जाते हैं; संसारमें विचरण करते हुए भी वह आसक्ति, विक्षेप, भय और चिन्तासे मुक्त हो सकता है। उपर्युक्त ज्ञानके नित्य-निरन्तर अनुशीलनरूप तपस्याके द्वारा उसके देह-मन-बुद्धि सब पवित्र हो जाते हैं और तब इनके व्यापार उसके स्वरूपज्ञानको आच्छादित नहीं कर सकते, ये स्वच्छ होकर भगवद्भावप्रकाशके उपयुक्त क्षेत्र या यन्त्ररूपमें परिणत हो जाते हैं। वह अपने समस्त जीवनद्वारा भगवान्का ही आश्रय ग्रहण करता है, उसके सारे अंग-प्रत्यंग मानो भगवान्के हो हो जाते हैं, वह भगवन्मय हो जाता है; तब वह भगवान्के हाथसे ग्रहण करता है, भगवान्के नेत्रोंसे देखता है और भगवान्के चरणोंद्वारा चलता है—

> आदत्ते हरिहस्तेन पश्यति हरिचक्षुषा।
> गच्छेच्च हरिपादेन मुक्तस्यैषा व्यवस्थितिः॥

तब उसका भीतर-बाहर हरिमय हो जाता है। तब जैसे अवतार भीतर अकर्मा बाहर कर्मा, भीतर मायातीत बाहर मायाधीन, भीतर अनन्त बाहर सान्त होते हैं, वैसे ही तद्भावभावित जीव भी तद्रूप ही हो जाता है। इस तत्त्व और कौशलकी घोषणा कोई नयी नहीं है। प्राचीन कालमें भी बहुतेरोंने इस कौशलसे माया-मुक्ति और भगवद्भावकी प्राप्ति की है। भगवान्के अवतार जिस प्रकार सृष्टिके आरम्भसे ही युग युगमें आविर्भूत होते हैं—'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि'—मनुष्य भी उसी आदिकालसे उनके जन्म-कर्मोंके रहस्योंको जानकर उसका अवलम्बन करनेसे कल्याणको प्राप्त होते आये हैं।

अवतार-जीवनमें किस प्रकार सारे विरोधोंका समाधान होता है, इसका निर्देश भगवान्ने निम्नलिखित श्लोकोंमें किया है। वे कहते हैं कि चतुर्वर्ण मेरे ही द्वारा सृष्ट हैं, परन्तु मैं उनका कर्ता होते हुए भी अकर्ता और निर्विकार हूँ। मुझको कोई कर्म स्पर्श नहीं करता, किसी कर्मके फलमें भी मेरी स्पृहा नहीं। कर्म और अकर्मके रहस्यके सम्बन्धमें ज्ञानी पुरुषको भी मोह उत्पन्न हो जाता है। अवतार-जीवनमें कर्म और अकर्मका समन्वय होता है। वहाँ अकर्मके भीतर भी कर्म और कर्मके भीतर भी अकर्म होता है—

> त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
> कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति सः॥
> निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
> शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥
> यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
> समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥
> गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
> यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥

अन्तःकरणमें यदि कोई आशा-आशंका न हो, कर्तृत्वाभिमान और भोक्तृत्वाभिमान न हो, ग्रहण और त्याग न हो, सर्वदा

प्रसन्नता और आनन्द विराजमान हो, सिद्धि और असिद्धिमें समत्व बोध हो, केवल बाहर लोक-कल्याणके लिये देश-काल-अवस्थाके अनुसार यथोचित कर्म सम्पादन किया जाय, तो इससे कर्म करते हुए भी मनुष्य कर्मोंसे परे रह सकता है। भीतर ज्ञानके द्वारा कर्म दग्ध हो जाते हैं और बाहर शारीरिक कर्म होते रहते हैं। अतएव भीतर देश-कालसे अपरिच्छिन्न, इष्टा-निष्ट-बोधसे रहित, कर्तृत्व-भोक्तृत्वसे परिशून्य मायातीत भावकी प्रतिष्ठा होती है। और बाहर देश-कालके अनुसार व्यवस्था, इष्टग्रहण और अनिष्टका त्याग, विधिपूर्वक कर्म-सम्पादन और मायिक व्यापारोंमें देह और इन्द्रियोंकी नियुक्ति होती है। बाहर बन्धन रहता है और भीतर मुक्ति होती है। इसी जीवन्मुक्तिकी अवस्थामें जीवत्व और ब्रह्मत्वका समन्वय होता है। अवतारजीवन इसका प्राचीनतम आदर्श है। अतएव विश्वके विधानमें अवतार कोई अनावश्यक या आकस्मिक व्यापार नहीं है। यह एक अत्यावश्यक तत्त्व है। विश्वविधानमें जैसे भगवत्तत्त्व और जीवतत्त्व नित्य हैं, उसी प्रकार इन दोनों तत्त्वोंकी समन्वय-भूमि अवतार-तत्त्व भी नित्य है। भगवान्‌की निम्नाभिमुखी कृपाशक्ति और जीवकी ऊर्ध्वाभिमुखी पुरुषार्थशक्ति एक ही साथ इस तत्त्वमें नित्य प्रकट है। इस तत्त्वके नित्य वर्तमान होनेके कारण ही जीवके लिये मायासे उत्तीर्ण होकर मायातीतके साथ मिल जाना सम्भव होता है।

कुछ धारण करने योग्य बातें

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके एक व्याख्यानके आधारपर)

आज आप लोगोंको कुछ ऐसी बातें बतायी जाती हैं, जिनको नियमकी भाँति काममें लाना चाहिये। ये बातें बहुत अनमोल, सबके हितकी, अधिक-से-अधिक लाभदायक और लोक-परलोकमें कल्याण करनेवाली हैं। इन्हें नित्य काममें लानेकी इच्छासे सुनना चाहिये। केवल सुननेसे काम नहीं बनता, इनको जीवनमें उतारनेकी पूरी चेष्टा करनी चाहिये। बातें ये हैं—

१—प्रत्येक भाई-बहिनको अपने कल्याणके लिये नित्य नियमपूर्वक अधिक-से-अधिक संख्यामें भगवन्नामका जप करना चाहिये। रोज जितना करते हैं उससे अधिक करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

२—चलते-फिरते, उठते-बैठते, काम-काज करते, सब समय भगवान्‌को याद रखनेका अभ्यास करना चाहिये। पहले आध घंटेपर, फिर पंद्रह मिनटके अन्तरसे, फिर दस मिनटपर, फिर पाँच मिनटपर, इस प्रकार करते-करते निरन्तर भगवत्स्मरण करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। इसके लिये सबसे बढ़कर चार उपाय हैं। आप लोग इन्हें काममें लावें तो इनसे बड़ी सहायता मिल सकती है। उपाय ये हैं—

१—एकान्तमें बैठकर करुणभाव और गद्गद वाणीसे भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये कि 'हे परमेश्वर, मैं हृदयमें आपकी स्मृति चाहता हूँ। आपसे आपकी स्मृति बने रहनेकी भीख माँगता हूँ।' इस प्रकार नित्य अलग-अलग शब्दोंमें भगवान्‌से कातर प्रार्थना करे। एक मिनटकी सच्ची प्रार्थनासे भी बड़ा लाभ होता है।

२—नित्य नियमपूर्वक सत्संग करे, यदि कहीं सत्संग न मिले तो सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय एवं भगवद्वाक्योंका संग करे।

३—समय बड़ा मूल्यवान् है। मनुष्यका शरीर मिल गया, यह भगवान्‌की बड़ी दया है। अब भी यदि भगवत्प्राप्तिसे वञ्चित रह गये तो हमारे समान मूर्ख कौन होगा। हमें अमूल्य समयको अमूल्य कार्यमें ही लगाना चाहिये। भगवानकी स्मृति ही अमूल्य है। इस प्रकार नित्य विचार करना चाहिये।

४—मृत्यु न मालूम कब आ जाय, वह प्रति-

क्षण हमारे सामने मुँह बाये खड़ी है। अतः जबतक निरन्तर भजन न होने लगे तबतक बड़ा खतरा है। इस प्रकार बराबर मृत्युकी याद रखनेसे भी भगवत्स्मृति बनी रह सकती है।

इन चार उपायोंको काममें लानेसे भगवान्‌की स्मृतिमें मदद मिल सकती है।

३—नित्य प्रातः-सायं बड़ोंको प्रणाम करना चाहिये। यदि इसका अभ्यास छूट गया हो तो फिरसे प्रारम्भ कर देना चाहिये। दिनमें कम-से-कम एक बार तो अवश्य ही गुरुजनोंको प्रणाम करना चाहिये। ऐसा करनेसे तप, तेज, आयु, कीर्ति आदिकी वृद्धि तथा मरनेपर उत्तम गति प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त ऐसा करनेसे घरमें कलह नहीं होता, जो बहुत बड़ा लाभ है।

४—चौथी बात बहुत ही कीमती है। इसे आजसे ही काममें लानेकी चेष्टा करनी चाहिये। इससे बहुत थोड़े समयमें आप लोगोंके भाव सुधर सकते हैं। भगवान् भी जल्दी ही मिल सकते हैं। बात कुछ कठिन भी नहीं है। सबसे प्रेम बढ़ाइये। मेरे द्वारा दूसरेका हित कैसे हो, निरन्तर यही बात सोचते रहना चाहिये। यथाशक्ति सबकी सेवा-सहायता करनी चाहिये। भगवान्‌ने स्वयं डंकेकी चोट कहा है—

'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥'

'जो सब भूतोंके हितमें लगे रहते हैं वे मुझीको प्राप्त होते हैं।' अतः सबकी सेवा करनी चाहिये। अपनेसे जो बड़े हैं, पूज्य हैं, दुखी हैं, लाचार हैं, उनकी सेवाका और भी अधिक महत्त्व है। कोई भी मिल जाय, उसे देखकर प्रसन्न होना चाहिये। सबसे मीठा वचन बोलना चाहिये। प्रेमका व्यवहार करना चाहिये। अपनी दृष्टिसे सबको भगवान्‌का स्वरूप समझना चाहिये। सेवा भी इसी भावसे करनी चाहिये। सेवाका इतना भारी प्रभाव है कि उससे भगवान् अपने-आप मिल सकते हैं। इसलिये तन-मन-धनसे दीन-दुखियोंकी, गुरुकी, माता-पिताकी, सबकी सेवा करनी चाहिये।

सेवा करनेके दो साधन हैं—दाम (धन) और काम (कर्म)। हमें भगवान्‌ने रुपये, भोग-पदार्थ, ऐश्वर्य आदि जो कुछ भी दिया है, वह यदि किसी प्रकार भी दूसरोंकी सेवामें लगे तो अपना अहोभाग्य समझना चाहिये। दूसरोंको देकर बहुत प्रसन्न होना चाहिये और यह मानना चाहिये कि इस प्रकार आज मैंने भगवान्‌की ही सेवा की है। इसी प्रकार शरीरसे करनेयोग्य सेवाका कोई कार्य सामने आ जाय तो उसे खूब परिश्रमके साथ प्रसन्न चित्तसे करना चाहिये।

सेवाके ये दो साधन, दाम और काम, बड़े महत्त्वके हैं। एकमें ऐश्वर्यका त्याग है, दूसरेमें शारीरिक परिश्रम है। अथवा यों कहें कि एकमें ममता-का त्याग है, दूसरेमें अहंताका त्याग है। अहंता और ममता, ये दो बड़ी व्याधियाँ हैं। इनका त्याग होना अत्यावश्यक है। अतः कहीं भी सेवाका अवसर मिल जाय तो समझना चाहिये कि असली धन मिल गया। सेवाका काम मिल गया तो ऐसी प्रसन्नता होनी चाहिये मानो राम मिल गया।

अच्छे पुरुष अपने समयका एक-एक मिनट काममें लेते हैं। आयु समाप्त हो जाती है, पर काम नहीं समाप्त होता। भगवान्‌ने गीता २। ४० में निष्काम-कर्मयोगकी बड़ी प्रशंसा की है। स्वार्थका त्याग ही निष्कामकर्मयोग है। यही असली धर्म है। इसका उलटा फल कभी नहीं होता, न इसका कभी नाश ही होता है। इसका थोड़ा-सा भी पालन किया जाय तो वह जन्म-मरणके बन्धनसे छुड़ा सकता है। इसी-लिये काम (कार्य) को साक्षात् राम समझकर उसका

आदर करना चाहिये और उसे तत्परताके साथ सम्पन्न करनेकी पूरी चेष्टा करनी चाहिये।

सेवाके कई स्वरूप हैं। दूसरोंको मान-बड़ाई देना भी सेवा ही है। सेवा रत्नोंकी ढेरी है। उसे लूटनेकी चीज समझकर खूब लूटना चाहिये। कोई भी नीचा काम—जैसे पैर धुलाना, हाथ धुलाना, पत्तल उठाना आदि—मिल जाय तो समझना चाहिये कि भगवान्‌की विशेष दया है। यदि किसी बीमारकी टट्टी-पेशाब उठानेका काम मिल जाय तब तो भगवान्‌की पूर्ण दया समझनी चाहिये। सेवाकार्यमें जितना उच्च भाव रक्खा जा सके, रखना चाहिये। यदि सेवाकार्य-को साक्षात् परमात्माकी सेवा समझी जाय तब तो कहना ही क्या है! उससे परमात्मा बहुत जल्दी मिल सकते हैं।

यदि कोई व्यक्ति हमसे सेवा करावे तो हमें अपने ऊपर उसकी बड़ी दया समझनी चाहिये। समझना चाहिये कि वही दाता है। हमें मुक्त करनेके लिये हमसे सेवा करवा रहा है। किसीने हमारी सेवा स्वीकार कर ली तो समझना चाहिये कि उसने हमारा उद्धार कर दिया और यदि सेव्यको ईश्वर मानकर उसकी सेवा की जाय तब तो खुला दरबार है। सेवक-को साक्षात् नारायणकी सेवाका लाभ हो सकता है। यह बड़े ऊँचे दर्जेका भाव है। सेवाको नारायणकी सेवा बनाना सेवकके हाथकी बात है।

अपने धन और ऐश्वर्यको अपने पूज्य जनों एवं दीन-दुखियोंकी सेवामें समर्पित कर देना चाहिये। इससे भी ऊँचा भाव यह समझकर देना है कि साक्षात् नारायण ही उनके रूपमें प्रकट होकर हमारे धन और ऐश्वर्यकी सेवा स्वीकार कर रहे हैं। इससे दूसरा लाभ यह समझना चाहिये कि हमारी ममताका परित्याग हो रहा है। हमारा बोझा हल्का हो रहा है। तीसरा लाभ यह है कि धन और ऐश्वर्यके त्यागसे उदारता बढ़ती है, दया बढ़ती है। ये सद्गुण धन और ऐश्वर्यसे कहीं अधिक मूल्यवान् हैं। आज यदि हमारी मृत्यु हो जाय तो धन-ऐश्वर्य सब यहीं छूट जायँगे। अतः इन्हें बटोरकर रखनेसे कोई लाभ नहीं। ये उलटे हमारे लिये बन्धनरूप हैं। परन्तु यदि हमने इनको दूसरोंके उपकारमें लगा दिया, इनसे दूसरोंका उपकार हो गया तो समझ लीजिये कि उससे हमारा बड़ा हित हो गया। भगवान्‌की चीजें भगवान्‌के काममें लग गयीं। हमारा भार उतर गया। जीवनकी जोखिम बिक गयी। यदि ऐसा समझकर निष्कामभावसे अपना सारा स्वत्व दूसरोंकी सेवामें अर्पित कर दिया जाय तो उससे बड़ा भारी लाभ है।

इतनी बातें तो सबके लिये कही गयीं। अब कुछ स्त्रियोंके कामकी बातें विशेषरूपसे कहनी हैं। स्त्रियोंमें कुछ अज्ञानता अधिक होती है। उनमें लड़ाई-झगड़ा प्रायः अधिक होता है, इसका कारण उनकी मूर्खता ही है। घरमें प्रेम बढ़ानेके लिये उन्हें सबसे हँसकर बोलना चाहिये, सबके साथ विनयपूर्वक व्यवहार करना चाहिये। यदि कोई उनपर क्रोध करे तब भी उन्हें प्रसन्नतासे हँसकर मीठा उत्तर देना चाहिये। मिष्टभाषिता स्त्रियोंका प्रधान गुण है। जो स्त्री दूसरोंको मान-बड़ाई देती है, सबके साथ विनय और प्रेमका बर्ताव करती है, उसपर भगवान् बहुत शीघ्र प्रसन्न होते हैं और साथ-साथ उसके अहङ्कार तथा कठोरताका नाश होता है। यदि किसी स्त्रीके कारणसे घरमें कलह हो गया तो उसे ऐसा मानना चाहिये मानो मुझपर कलङ्क लग गया। इस बातका बराबर ध्यान रखना चाहिये कि अपने तो भलाई ही लेकर जाना है। और भलाई तभी मिल सकती है जब हमारा व्यवहार सबके अनुकूल होगा।

स्त्रियाँ प्रायः भोली होती हैं, उनमें मोह और आसक्तिकी मात्रा अधिक होती है। उनकी गहनोंमें,

कपड़ोंमें, शरीरमें, बालबच्चोंमें आसक्ति अधिक होती है; यह आसक्ति बन्धन है, मुक्तिमें बाधा डालनेवाली वस्तु है। दूसरेके हितके लिये उदारतापूर्वक इन वस्तुओंका त्याग करना चाहिये।

स्त्रियोंमें उदारताकी भी कमी होती है। किसी लक्षाधीशके घरकी मालकिन भी सालभरमें शायद ही सौ-दो-सौ रुपये अच्छे काममें खर्च करती हो! उदारताकी बड़ी आवश्यकता है। खासकर मारवाड़ी समाजकी स्त्रियोंमें इसकी बड़ी कमी है।

स्त्रियोंमें पुरुषोंकी ओर देखनेकी भी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, यद्यपि स्त्रियोंकी अपेक्षा भी पुरुषोंमें यह आदत अधिक पायी जाती है। स्त्री-पुरुष दोनोंहीके लिये परपुरुष अथवा परस्त्रीकी ओर देखना ब्रह्मचर्यमें कलङ्क समझना चाहिये। विधवा स्त्रीको तो यह समझना चाहिये कि यदि किसी पुरुषकी ओर उसकी दृष्टि चली गयी तो उसका धर्म नष्ट हो गया।

स्त्रियाँ झाड़-फूँक और टोना आदिपर अधिक विश्वास करती हैं, यह सब वहम है! इस वहमका एकदम त्याग कर देना चाहिये। इन सबमें विश्वास करना धूर्तोंके चंगुलमें फँसना है। यदि कोई बीमार हो जाय तो उसके लिये औषधोपचारका प्रयत्न करना चाहिये। कोई कामना करनी हो तो सीधे परमेश्वरसे करनी चाहिये। पतिव्रता स्त्री तो कभी कामना करती ही नहीं। यदि करती भी है तो अपने पतिसे ही करती है, किसी दूसरेसे नहीं। इसी प्रकार ईश्वरको छोड़कर किसी दूसरेसे कामना न करे। पतिके रहते किसी दूसरेसे याचना क्यों की जाय! और सर्वोत्तम बात तो यह है कि किसीसे याचना करे ही नहीं। स्त्रियोंको चाहिये कि वे किसी कल्पित देवी-देवताके मन्दिरमें भूलकर भी न जायँ। बनावटी देवी-देवताओंकी रचना धूर्तोंने की है। उनकी मान्यता छोड़कर शास्त्रीय देवी-देवताकी उपासना करनी चाहिये। पार्वती, लक्ष्मी, सावित्री आदि देवियों; ब्रह्मा, सूर्य, चन्द्र आदि देवताओं; नारद आदि ऋषि-महात्माओं और ध्रुव, प्रह्लाद, हनुमान् आदि महान् भक्तोंकी ही पूजा-उपासना करनी चाहिये। इनके स्मरणमात्रसे आत्मा पवित्र हो जाती है। इनके अलावा किसीके बहकावेमें पड़कर अशास्त्रीय देवी-देवताओंकी पूजा कदापि नहीं करनी चाहिये। नहीं तो धूर्तोंकी बन आती है। पीर, पैगंबर इत्यादिका पूजन तो बिल्कुल ही उठा देना चाहिये। इनका पूजन-अर्चन करना और इनसे किसी कामनाकी सिद्धि चाहना पाप और मूर्खताके सिवा और कुछ भी नहीं है। इनका परित्याग करके प्रत्येक स्त्रीको अपना घर शुद्ध-पवित्र बनाना चाहिये। पूजा या तो भगवानकी करनी चाहिये या शास्त्रीय देवी-देवताओंकी। भगवान्के भक्त तो देवताओंसे भी बढ़कर होते हैं।

स्त्रियोंको खान-पानमें भी भेदभाव नहीं रखना चाहिये। जो स्त्री घरमें खान-पानके सम्बन्धमें भेद-बुद्धि रखती है, वह मरकर चमगादड़ होती है—ऐसी बात शास्त्रोंमें लिखी है। इसलिये स्त्रियोंको चाहिये कि वे घरमें छोटे-बड़े सबको एक-सा भोजन परोसें, किसीको अच्छा और किसीको हल्का नहीं।

स्त्रियोंके साथ-साथ पुरुषोंको भी अपने कर्तव्योंका पालन भलीभाँति करना चाहिये। पुरुषोंको लोभके त्यागका विशेष ध्यान रखना चाहिये। साथ-ही-साथ सत्यके पालनपर भी पूर्ण ध्यान देना चाहिये। प्राण जायँ तो भले ही जायँ, परन्तु सत्य कभी न जाय—यह व्रत बना लेना चाहिये। यदि पुरुष झूठ-कपट, पराया हक मारनेकी चेष्टा तथा लोभका त्याग कर दें तो बहुत जल्दी सुधार हो सकता है।

पुरुषोंके लिये आसक्तिका त्याग सर्वप्रधान कर्तव्य है। विशेषकर कञ्चन और कामिनीकी आसक्तिका

त्याग बड़ी दृढ़ताके साथ करना चाहिये। काम, क्रोध और लोभ, ये तीन प्रबल शत्रु हैं—साक्षात् नरकमें ले जानेवाले हैं। इसलिये इनसे विशेष सावधान रहना चाहिये।

मान-बड़ाई अथवा प्रतिष्ठाकी इच्छा करना मृत्युकी इच्छा करनेके समान है। अच्छे-अच्छे आदमी इसमें फँसकर साधनसे च्युत हो जाते हैं। यहाँतक कि कञ्चन-कामिनीका त्याग करनेवाले भी इसमें फँसकर रुक जाते हैं, साधन-मार्गमें आगे नहीं बढ़ पाते। इनके आघातसे न जाने कितने पुरुष गिरकर चकनाचूर हो गये। इसलिये बड़ी सावधानीके साथ इनसे बचना चाहिये। वैराग्यका अभ्यास करना चाहिये और जीवनको कठोर संयमके साथ बिताना चाहिये। संयम मनुष्यकी रक्षा करनेके लिये एक सुदृढ किला है। उसे हर एक शत्रु नहीं तोड़ सकता। मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको विषयोंसे रोकना ही संयम है। सांसारिक भोग-पदार्थोंसे इन्द्रियों और मनकी वृत्तियोंको वैराग्य, विवेक या हठसे रोकना चाहिये। इसीसे रक्षा होती है।

प्रत्येक मनुष्यको अधिकारानुसार स्वाध्याय करना चाहिये। गीता, रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत, वेद, उपनिषद् इन सबका स्वाध्याय करना सबसे बढ़कर है। गीता, रामायण और महापुरुषोंके वचन तो सबके लिये लाभप्रद हैं। इसलिये प्रतिदिन नियमसे एवं प्रेमपूर्वक उनका स्वाध्याय करना चाहिये। प्यारे मनमोहनको कभी बिसारना नहीं चाहिये, हृदयसे सदा-सर्वदा उनका स्मरण करते रहना चाहिये। प्राण चाहे छूट जायँ पर प्राणप्यारेकी स्मृति एक क्षणके लिये भी हृदयसे न हटे। नेत्र उन्हींको देखें, कान उन्हींकी चर्चा सुनें, वाणीसे उन्हींके गुणोंका कीर्तन और नाम-का जप हो, शरीरके द्वारा उन्हींको प्रणाम किया जाय और हाथ उन्हींकी सेवा-पूजामें लगे रहें। अर्थात शरीर एवं मनसहित सारी इन्द्रियाँ भगवान्में लग जायँ, ऐसी चेष्टा करनी चाहिये। यही सच्चा पौरुष है।

अब कुछ बालकोंके लाभकी बातें कही जाती हैं। ये बड़ोंके भी कामकी हैं—

१—प्रत्येक बालकको इस बातकी चेष्टा करनी चाहिये कि उसके बलकी वृद्धि हो। इसमें चार बातें सहायक हैं—

क—ब्रह्मचर्यका पालन; इससे शरीरके साथ-साथ आत्मबलकी भी वृद्धि होती है।

ख—नित्यप्रति नियमपूर्वक व्यायाम करना; इससे शरीरमें पौरुष एवं स्फूर्तिका उदय होता है।

ग—सायं-प्रातः उचित मात्रामें दुग्ध-पान करना। दूध साक्षात् अमृत है, बल एवं बुद्धिकी वृद्धि करनेवाला इससे बढ़कर और कोई पदार्थ नहीं है। व्यायाम करके दूध पीनेसे विशेष लाभ होता है। दूधसे मन सात्त्विक बनता है।

घ—स्वास्थ्यकी बातोंपर विशेष ध्यान रखना; नीरोग रहनेके लिये अपना घर और शरीरके वस्त्रोंको साफ रखना अत्यन्त आवश्यक है।

२—प्रत्येक बालकको अपनी बुद्धिका विकास करना चाहिये। विद्याके अभ्याससे बुद्धि बढ़ती है, अच्छे पुरुषोंका संग करनेसे विचार निर्मल होते हैं। उत्तम गुणोंका संग्रह, उत्तम आचरण एवं शौचाचारका पालन करनेसे भी बुद्धि पवित्र एवं तीक्ष्ण होती है।

३—सब बालकोंको भगवान्की भक्ति अपने हृदयमें धारण करनी चाहिये। भगवद्भक्तिसे सदाचार और सद्गुणोंकी वृद्धि अपने-आप होने लगती है। भगवद्भक्ति उत्तम आचरणोंकी जड़ है। भगवान्का भजन, ध्यान, पूजा, प्रार्थना, नमस्कार, स्तुति ये सब भक्तिके अंग हैं। बालकोंको इनपर विशेष ध्यान देना चाहिये।

लोकनाथ गोस्वामी

कदा वृन्दारण्ये विमलयमुनातीरपुलिने
चरन्तं गोविन्दं हलधरसुदामादिसहितम्।
अये कृष्ण स्वामिन्! मधुरमुरलीवादन विभो
प्रसीदेत्याक्रोशन् निमिषमिव नेष्यामि दिवसान्॥

यमुनाजीका सुन्दर पुलिन हो, वृन्दावनके सुन्दर वनोंमें मधुर वंशी बजाते हुए हलधर और सुदामा आदि प्यारे गोपोंके साथ आप विचरण कर रहे हों। हे मेरे प्राणनाथ! हे मेरे मदनमोहन! ओ मेरे चितचोर! वे दिन कब आवेंगे, जब मैं तुम्हारी इस छबिको हृदयमें धारण किये पागलोंकी भाँति कृष्ण, कृष्ण चिल्लाता हुआ अपने जीवनके शेष समयको निमिषकी नाईं बिता दूँगा।

लोकनाथ गोस्वामीका जीवन इस श्लोकका एक परम सुन्दर और अत्यन्त सजीव भाष्य है।

बंगालके जैसोर जिलेमें तालखड़ी नामका एक छोटा-सा मामूली गाँव है। लगभग चार सौ वर्ष पूर्व इस गाँवमें एक बहुत ही संभ्रान्त कुलके पद्मनाभ चक्रवर्ती नामक ब्राह्मण रहते थे। इनकी पत्नीका नाम था सीतादेवी। सीता सीता ही थी। इस धर्मप्राण ब्राह्मण-दम्पतिका एकमात्र पुत्र था लोकनाथ। घरमें वैष्णव उपासना वंश-परम्परासे चली आ रही थी। स्वयं पद्मनाभ चक्रवर्ती श्रीअद्वैत प्रभुके शिष्य थे और सदा उन्हींकी सेवा-शुश्रूषामें रहते थे। इन सब कारणोंसे लोकनाथको बहुत ही दिव्य संस्कार प्राप्त हुए और छोटी अवस्थामें ही बालक लोकनाथने संस्कृतका बहुत अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया और वह कठिन संस्कृतके ग्रन्थोंको लगाने लगा। उसकी यह अलौकिक प्रतिभा और अत्यन्त निर्मल बुद्धि देख सभी सिहाते। इतना ही नहीं, लोकनाथकी प्रतिभा और मेधा तो लोकोत्तर थी ही, साथ ही उसका हृदय भी बड़ा ही प्रेमी और भक्तिपरायण था। श्रीकृष्णका नाम उसे प्राणोंसे भी प्यारा था। कहीं किसीने गोविन्द, वासुदेव, माधव, नारायण, हरि कह दिया और लोकनाथने सुन लिया तो सुनते ही लोकनाथकी कुछ और ही दशा हो जाती। उसका हृदय भर आता, आँखें छलछला उठतीं और भेदभरी दृष्टिसे उस नामामृत पिलानेवाले व्यक्तिकी ओर वह देखने लगता! संसारकी कोई भी चर्चा लोकनाथको जहर-सी लगती।

प्रेमावतार महाप्रभु श्रीश्रीचैतन्यदेवका नाम और यश बंगालके कोने-कोनेमें शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी तरह बढ़ रहा था। स्वयं भगवान् ही प्रीतिपरवश प्रेमका यह रूप धारणकर इस धराधामपर पधारे हैं, यह बात सर्वत्र फैल गयी। लोकनाथके कानोंतक भी यह रहस्यभरी बात एक तूफ़ान लेकर पहुँची। यह तूफ़ान हममेंसे प्रत्येकके जीवनमें आता है। एक सङ्केत, एक इशारा, एक निमन्त्रण हम सभीको, एक-एक जीवको प्राप्त होता है; परन्तु हम उसे

सुना अनसुना कर देते हैं और जगत्‌के जंजालमें ही उलझे रह जाते हैं । इतनी शक्ति, इतनी क्षमता, इतना सामर्थ्य हममें नहीं होता कि एक बार पूरी शक्ति लगाकर सबकी ममता, सारे स्नेहबन्धनोंको बटोरकर प्रभुके पादपद्मोंमें जोड़ दें और इसीलिये हम दुःखके महासागरमें गोते लगाते रहते हैं । परन्तु जो संस्कारी हैं, जिनका हृदय-मन्दिर स्वच्छ एवं निर्मल है, जिनके मन-प्राण प्रभुकी प्यासमें तड़प रहे हैं, वे इस मौन निमन्त्रणको, इस निशा-निमन्त्रणको सुनते हैं और सुन लेनेपर उनकी जो दशा हो जाती है उसको कोई वैसा ही समझ सकता है ! इसीलिये एक आत्मदर्शी गुजराती संतने गाया है—

'रामबाण वाग्याँ होय ते जाणे ।' घायलकी गति घायल ही जानता है या वह 'शिकारी' जानता है जो पर्देके भीतरसे शिकार कर रहा है ।

महाप्रभुकी महिमा और प्रेमाकर्षणसे आकृष्ट लोकनाथका हृदय भाड़में पड़े हुए अन्नके दानेकी तरह तड़फड़ाने लगा । एक बार भर आँख 'उन्हें' देख लूँ, यही इस अल्हड़ बालकके प्रेमविंधे हृदयकी एकमात्र साध थी ! और लोकनाथके घरसे नवद्वीप, बस, दो दिनका रास्ता था । लोकनाथका चित्त एकदम उदास रहने लगा । संसारकी किसी भी बातमें उसे रस नहीं मिलता और वह रात-दिन केवल रोया ही करता । किसीने इसका कारण कुछ समझा, किसीने कुछ । माताका हृदय माता ही जानती है । बालककी उदासी और खिन्नता देख वह एक दिन रो पड़ी और बहुत-बहुत समझाने-बुझाने लगी । परन्तु वहाँ तो और ही आग लगी हुई थी । माँ-बापको यह भय था कि महाप्रभुके संगमें पड़ जानेपर यह लड़का बेहाथ हो जायगा । जो अपने माँ-बापकी इकलौती संतान हो, जो कुलका भूषण और घरका दीपक हो, वह लाड़ला लाल घर छोड़कर साधु-संन्यासियोंके साथ घूमता फिरे, यह माँ-बापका हृदय भला कैसे सह सकता है । वे समझाते—'बच्चा ! तुम्हें भगवान्‌के पथमें चलना ही है तो हम कैसे रोक सकते हैं ! रोकें भी क्यों ! भगवान् श्रीहरि बड़े दयालु हैं । वे कहाँ नहीं हैं ! यहीं रहकर उनका भजन करो, उनकी उपासना करो । परन्तु हमें छोड़कर अन्यत्र जानेकी बात क्यों सोचते हो ? तुम्हीं तो इस घरके एकमात्र उजियाले हो । हमलोग तुम्हारे विना कैसे रहेंगे ? तुम चाहे जो करो, परन्तु घरमें रहो ।'

परन्तु लोकनाथके हृदयमें जो भट्ठी जल रही थी, जो आग भभक उठी थी, वह उसके बूतेकी नहीं थी । फिर वह कैसे रुकता ? माँ-बापने एक तदबीर सोची, परन्तु कितनी गलत थी वह तदबीर ! कच्चे धागेमें मदोन्मत्त हाथीको बाँध रखनेका स्वप्न ! विवाहके वेष्टनमें लोकनाथकी आत्मिक ज्वालाको बुझा डालनेकी एक बालचेष्टा ! लोकनाथके कानोंमें विवाहके प्रस्तावकी भनक पड़ी । वह अपनोंकी इस साजिशको समझ गया । भीतरसे 'किसी' ने जोरसे धक्का मारा । किवाड़ खुल गये । माता-पिता, घर-द्वार, सबका मोह छोड़कर लोकनाथ प्रेममार्गमें चल पड़े ।

यह शूरोंका मार्ग है, वीरोंका पथ है । कायर इसमें चल नहीं सकते । इस मार्गमें चलनेवाले सरफरोशीकी तमन्ना लेकर चलते हैं । सुत, वित, नारी, सबकी मोह-मायाको मिटा कर ही प्रभुके मार्गमें बढ़ा जा सकता है । अपना ही सिर अपने हाथों उतारकर रख देना पड़ता है और उसीपर पैर रखकर प्रेमके मन्दिरमें प्रवेश किया जाता है । जो पग-पगपर, पल-पलपर अपने शरीर, अपने धन-जन-परिवारके लिये परेशान है, अच्छा है वह इधर न झाँके, नहीं तो लेनेके देने पड़ जाते हैं । वह न इधरका रहता

है न उधरका । उसे न खुदा ही मिलता है न विसाले सनम ! जिसे इस मार्गमें आना हो तैयार होकर आवे, मर मिटनेके लिये कमर कसकर आवे ।

हरिनो मारग छे शूरानो, नहिं कायरनुँ काम जो ने ।
परथम पहेलुँ मस्तक मूकी, वळती लेवुँ नाम जो ने ॥
सुत वित दारा शीश समरपे, ते पामे रस पीवा जो ने ।
सिंधु मध्ये मोती लेवा मांही पड्या मरजीवा जो ने ॥
मरण आगमें ते भरे मूठी, दिलनी दुग्धा वामे जो ने ।
तीरे उभा जुए तमाशा, ते कोडी नव पामे जो ने ॥
प्रेम पंथ पावकनी ज्वाळा, भाळी पाछा भागे जो ने ।
मांही पड्या ते महासुख माणे, देखनारा दाझे जो ने ॥
माथा साटे मोंघी वस्तु, साँपडवी नहिं सहेल जो ने ।
महापद पाम्या ते मरजीवा, मूकी मननो मेल जो ने ॥
राम अमल माँ राता-माता पूरा प्रेमी परखे जो ने ।
प्रीतमना स्वामीनी लीला ते रजनी-दन नरखे जो ने ॥

तीरपर खड़ा-खड़ा तमाशा देखनेवाला मोती कैसे पा सकता है ! उसके लिये तो प्राणोंकी बाजी लगाकर समुद्रके गर्भमें समा जाना पड़ता है । मोती मरजीवाको ही मिलता है । यह प्रेम-पंथ अग्निकी एक ऐसी ज्वाला है जिसके भीतर पड़ा हुआ तो महान् सुख भोगता है और जो केवल तमाशबीन है, तमाशा देखनेवाला है वह जलता है । रामके नशेमें राते-माते प्रेमी पुरुषको जो परख लेता है वह रात-दिन स्वामीकी ही लीला निरख-निरखकर आनन्द-पुलकित होता रहता है ।

अगहनका महीना था । रातका सुहावना समय । चाँदनी छिटकी हुई थी । चन्द्रमा अमृत बरसा रहा था और इस अमृत-वर्षाके द्वारा वह 'किसी' का सन्देश किसीतक पहुँचा रहा था—मानो हृदयको गुदगुदाकर कह रहा था—"उठो, 'वह' कबसे, किस अनादि कालसे तुम्हारी प्रतीक्षामें खड़ा है ! चलो, उस ललित सङ्केत-वटके नीचे 'वह' खड़ा है, झुरमुटमें छिपा हुआ तुम्हारी बाट जोह रहा है । कबसे, कितने जन्मोंसे तुम भरम रहे हो ! उसके हृदयमें तुम्हारे लिये, तुमसे मिलनेके लिये कितनी व्यथा है ! काश, तुम समझते ! कबतक भटकोगे, ओ भरमनेवाले भोले प्राणी ! आँखें खोलकर देखो, मैं 'उसी' का अमृत-सन्देश तुम्हें सुना रहा हूँ—मुझमेंसे छन-छनकर उसीका अमृत बरस रहा है !" लोकनाथने ऊपर आकाशकी ओर देखा और फिर देखा उस अमृतमें सराबोर समस्त दिग्-दिगन्तको । चन्द्रमा जो कुछ कह रहा था—कोटि-कोटि नक्षत्र उसीकी हामी भर रहे थे । दूर, बहुत दूर कोई धीरे-धीरे बंसी बजा रहा था और उसकी धीमी-धीमी मधुर अमृत-ध्वनि लोकनाथके कानोंसे प्रवेशकर प्राणोंको भिगो रही थी, आत्मसात् कर रही थी । 'अच्छा, मैं आता हूँ' कहकर लोकनाथ उठा और अपने प्यारेके मार्गमें चल पड़ा ।

रातभर लोकनाथ चलता ही रहा । दूसरे दिन सन्ध्यासमय जब सूर्यनारायण अस्ताचलको जा रहे थे वह नवद्वीप पहुँचा । महाप्रभुको भर आँख कब देखूँगा, इसी लोभमें उसकी सारी यात्रा सुखपूर्वक एवं मस्तीके साथ समाप्त हुई । थकनेका नाम नहीं । रुकनेका काम नहीं । न भूखने सताया, न प्यासने । जो परम प्रियतमके मार्गमें चल रहा है वह राहमें कैसे विरमे ? मन्दिरका पुजारी राहकी सरायमें कैसे टिके ! उसे तो, बस, चलना-ही-चलना है—अविराम, अविश्रान्त । गंगाका प्रवाह जैसे अविरल गतिसे चलता जाता है और चलता ही जाता है जबतक वह अपने प्राणनिधि महासागरकी गोदमें अपनेको लय नहीं कर देता ! ठीक इसी प्रकार भक्तकी साधना भी अथक रूपमें चलती ही रहती है और तबतक चलती रहती है—एक पल बिना विरमे हुए चलती रहती है—जबतक वह हरिके चरणोंमें अपने-आपको अर्पित नहीं कर देती ।

'क्या मेरे ऐसे भाग्य हैं कि मैं महाप्रभुका दर्शन कर सकूँगा ! क्या वे अपने श्रीचरणोंमें मुझे शरण देंगे,

मेरी बाँह पकड़कर मुझे अपनी गोदमें छिपा लेंगे ! वे इतने महान्, मैं इतना तुच्छ ! परन्तु वे मेरी ओर क्यों देखेंगे ! यदि वे मेरी ओर देखें तो मेरा निस्तार कहाँ ? वे तो अपनी ही ओर देखें, तभी अपनाये जानेकी आशा है । क्या पता, मुझे सर्वथा अनधिकारी, अपात्र समझ वे ठुकरा दें ! परन्तु उनके द्वारा ठुकराये जानेमें भी तो एक आनन्द है ! ना, ना, मैं अधम हूँ तो क्या, पतित हूँ तो क्या, वे मुझे अस्वीकार नहीं करेंगे, इतने उदार हैं जो !' हृदय इन भावोंके ज्वार-भाटामें आन्दोलित हो रहा है, प्राण मचल रहे हैं ।

मालूम हुआ, किसीने इशारा किया, महाप्रभु इसी घरमें हैं ! इतना सुनना था कि लोकनाथका हृदय एक विचित्र संवेदनामें पाषाणकी तरह जड हो गया, निश्चेतन हो गया । शरीर जहाँ-का-तहाँ यहग गया । सारी शक्ति, समस्त चेतना लुप्त हो गयी । थोड़ी देर बाद जिस किसी तरह, जैसे एक भारी बोझको उठा रहा हो, वैसे ही अपने शरीरको उठाकर लोकनाथ आँगनमें गया । वहाँ जाकर वह क्या देखता है कि महाप्रभु एक उच्च आसनपर विराजमान हैं और श्रीवास, मुकुन्द, मुरारि आदि भक्तोंकी टोली उन्हें चारों ओरसे घेरे हुए है । दृष्टि गड़ी सो गड़ ही गयी, एकटक महाप्रभुकी ओर लोकनाथ देखता ही रह गया । वाणी मूक थी । रास्तेभर सोचता आया था कि महाप्रभुके दर्शन होंगे तो उनके चरणोंमें यह निवेदन करूँगा, वह निवेदन करूँगा; यह कहूँगा, वह कहूँगा; ऐसे उनके चरणोंको छातीसे लगाकर आँसुओंसे नहला दूँगा, वैसे उनकी गोदमें मस्तक रखकर उन्हें अपने हृदयकी व्यथा सुनाऊँगा । परन्तु यहाँ उसकी यह जड पाषाणकी-सी दशा है !

आँगनमें प्रतिमाकी तरह खड़े इस सुकुमार बालकपर महाप्रभुकी दृष्टि गयी । वे दौड़े—दोनों बाँहें फैलाये वे दौड़े, और लोकनाथको उन्होंने अपनी भुजाओंके पाशमें बाँध लिया । वह पवित्र मिलन, वह मधुर आलिङ्गन ! 'प्यारे लोकनाथ, तुम इतने दिन मुझे बिसारकर कहाँ बैठे थे ?'—महाप्रभुने स्नेह और प्रीतिसे गद्गद शब्दोंमें कहा । महाप्रभुका आलिङ्गन पाकर लोकनाथकी सारी सुध-बुध खो गयी और भावावेशसे वह प्रभुके वक्षःस्थलपर मूर्छित हो गया ।

पाँच दिन एक स्वप्नकी तरह निकल गये । कहाँ क्या हो रहा है, लोकनाथको कुछ पता नहीं । एक नवीन जीवन, एक नवीन प्राण, एक नवीन स्फूर्तिसे उसका अङ्ग-प्रत्यङ्ग उच्छ्वसित हो उठा । लोकनाथ अब पहलेका लोकनाथ नहीं रहा । महाप्रभुके मधुर पावन स्पर्शसे उसका रोम-रोम पुलकित, आह्लादित हो रहा था । कण-कणसे कृष्ण-कृष्णकी मधुर ध्वनि आ रही थी, रोम-रोमसे हरि-हरिकी पुकार निकल रही थी, प्राण-प्राणमें प्रभुकी प्रीति छलक रही थी ! महाप्रभु उसके हृदयके सिंहासनपर विराजमान थे । लोकनाथ अपने अन्तस्तलकी इस स्वर्गीय सुषमाको देखकर स्वयं विमुग्ध था, विमूढ़ था । सन्ध्याकालीन शान्त आकाशमें जैसे पूर्णिमाका चन्द्रमा अपनी सम्पूर्ण कलाओंके साथ उदय होता है, उसी प्रकार लोकनाथके हृदयाकाशमें महाप्रभु अपने समस्त प्रेम, सम्पूर्ण सौन्दर्य और समग्र आनन्द-श्रीके साथ प्रकट हुए और लोकनाथकी दृष्टि अपने भीतरके इस शीशमहलके प्यारे अतिथिकी ओर जाती है तो उसकी दशा उस रङ्कके समान हो जाती है जो सहसा त्रिभुवनका स्वामी बना दिया गया हो । अपने ऊपर उसे विश्वास नहीं होता था, परन्तु अपने हृदयके अन्तःपुरमें जो कुछ वह देख रहा है उसे वह क्या कहकर अस्वीकार करे ! अपने हृदयके भीतर ही रिझानेका सुख जो लूट चुका है उसके लिये बाहरका संसार कितना फीका हो जाता है; बाहरकी ओर वह देखे भी तो किस लिये !

पाँच दिन इस पागलपनमें, इस अलौकिक उन्मादमें एक सपनेकी तरह बीत गये ! अजीब बेखुदी थी वह । छठें दिन महाप्रभुने लोकनाथको बुलाकर कहा—'वत्स ! तुम वृन्दावन चले जाओ और जीवनके शेष दिन वहीं व्यतीत करो ।'

प्रातस्तिष्ठ तले तले विटपिनां ग्रामेषु भिक्षामट
स्वच्छन्दं पिब यामुनं जलमलं चीराणि कन्थां कुरु ।
सम्मानं कलयातिघोरगरलं नीचापमानं सुधां
श्रीराधामुरलीधरौ भज सखे वृन्दावनं मा त्यज ॥

'हे भाई ! वृक्षोंके नीचे जहाँ स्थान पाओ वहीं पड़ रहो, आसपासके गाँवोंसे मधुकरी माँग लाओ, बे रोक-टोक श्रीयमुनाजीका जल भरपेट पीओ और ओढ़नेके लिये चिथड़ोंकी गुदड़ी बना लो । सम्मानको अत्यन्त कराल विष समझो और नीचोंके द्वारा अपमानको अमृत समझो; श्रीराधा-माधवका भजन करो, परन्तु मित्र ! वृन्दावन कभी न छोड़ना ।'

लोकनाथको जैसे काठ मार गया । प्रभुकी इस कोमल-कठोर आज्ञापर उसका हृदय एक बार दहल उठा । 'क्या प्रभु मुझे अपने चरणप्रान्तमें आश्रय न देंगे ! श्रीचरणोंको छोड़ मुझे अन्यत्र कहाँ आश्रय मिलेगा, कौन पूछेगा और इन चरणोंसे वियुक्त होकर मैं प्राण-धारण कैसे कर सकूँगा ! मेरे लिये यह जीवन एक भार हो जायगा ! प्रभु मुझे इस प्रकार श्रीचरणोंसे निर्वासित न करें । जैसा कुछ हूँ, आपका ही एक अबोध शिशु हूँ न ! मुझे आप किसके भरोसे छोड़ते हैं ! माँके सिवा बालकका अपना कौन है !' लोकनाथके कन्धेपर हाथ रखकर दुलारभरे शब्दोंमें महाप्रभु समझाने लगे—'तुम ऐसी बातें क्यों करते हो ! मैं तुम्हें छोड़ सकता हूँ ! अरे, तुम क्या जानो तुम्हारे लिये मेरे हृदयमें कितनी प्रीति, कितनी व्यथा है ! निराश मत हो । निराशाकी कोई बात नहीं । यह अगहनका महीना है । पूषका महीना बीचमें है—माघमें मैं भी घर-द्वार छोड़कर संन्यास लूँगा । तुम वृन्दावनके लिये हमारे पहले अगुआ बनो । तुम्हारे पीछे-पीछे और वैष्णव भी वृन्दावन जायँगे । वृन्दावन अपनी पुरातन महिमा खो चुका है । उस वृन्दावनमें विहार करनेवाले श्रीकृष्णकी लीलाभूमिमें उन समस्त स्थानोंको खोज निकालना है जहाँ-जहाँ श्रीहरिने मधुर लीलाएँ की थीं । मैं भी तुम्हारे जानेके कुछ ही दिन बाद वृन्दावन आ रहा हूँ । समझे न ?'

इस प्रकार सारी बातें समझाकर महाप्रभुने लोकनाथको वृन्दावनके लिये भेज दिया । लोकनाथ वृन्दावन धाममें पधारनेवाले महाप्रभुके सर्वप्रथम शिष्य थे । महाप्रभुने संन्यासकी बात सबसे पहले श्रीमुखसे लोकनाथको ही सुनायी थी । श्रीनित्यानन्द प्रभु, जो महाप्रभुके इतने निकट थे, संन्यासकी बात महाप्रभुके संन्यास लेनेके बस, एक ही दिन पहले जान पाये । इससे यह प्रकट है कि महाप्रभुके हृदयमें लोकनाथके लिये कितना स्नेह और सम्मान था ! महाप्रभुकी आज्ञाको लोकनाथ टाल नहीं सकते थे । इसीलिये उन्होंने आज्ञा पाकर महाप्रभुके चरणोंमें मस्तक रख दिया और श्रद्धा तथा प्रेमके अतिरेकमें निवेदन किया—'प्रभुकी यदि यही इच्छा है तो मुझे भी वह सहर्ष स्वीकार है । मुझे अब कुछ भी कहना नहीं है । आपकी आज्ञा शिरोधार्य है और उसके पालनमें ही मेरे लिये परम आनन्द है । आप दया कर मुझे यह बतलानेका कष्ट करें कि वहाँ मुझे क्या-क्या करना है ।'

महाप्रभुने भक्तको छातीसे लगा लिया और आँसुओंसे उसे नहला दिया । इसके साथ ही लोकनाथ-ने अपने हृदयमें श्रीकृष्णकी समस्त वृन्दावन-लीलाओं-का दिव्य दर्शन किया । महाप्रभुने कहा—'तुम चीरघाटपर जाओगे—वहाँ कदम्ब, तमाल और बकुलकी

सघन कुञ्जें हैं—वहीं, उन कुञ्जोंके नीचे बैठकर तुम अपनी प्रेम-साधनामें लगे रहना !

दूसरे दिन प्रातःकाल लोकनाथ महाप्रभुसे विदा लेने आये । प्रभुके चरणोंको भुजपाशमें बाँधकर वे फूट-फूटकर रोने लगे ! गदाधर पण्डित तथा उनके शिष्य भूगर्भ वहीं थे । गदाधर भी रो रहे थे । बिदाईके इस करुणदृश्यसे भूगर्भका हृदय इतना भर आया कि वे भी वृन्दावन जानेको तैयार हो गये । उन्होंने अपने गुरुदेव गदाधर पण्डितसे आज्ञा माँगी । महाप्रभुने गदाधर पण्डितकी ओर एक भेदभरी दृष्टिसे देखा और गदाधर पण्डितने अपने शिष्यको वृन्दावन जानेकी आज्ञा सहर्ष प्रदान कर दी ।

आजसे चारसौ वर्ष पूर्व बंगालसे वृन्दावन जानेमें क्या-क्या कठिनाइयाँ, क्या-क्या कष्ट थे—इसका हमलोग आज अनुमान भी नहीं कर सकते । लोकनाथ और भूगर्भ—अभी इनकी उम्र ही क्या थी—इन दो लड़कोंने अपने स्वदेशको सदाके लिये प्रणाम कर लिया और घर-द्वार, माता-पिता, सुख-सुविधा आदि सभीका मोह छोड़कर वे पैदल वृन्दावन चल पड़े । दो महीनेका रास्ता और मार्गमें भिक्षाटनके अतिरिक्त और कोई सम्बल नहीं ! वृन्दावनमें उनकी भाषा जाननेवाला भी कोई व्यक्ति नहीं था । कितने साहस, कितनी कठोर तपश्चर्याका यह व्रत था ! राजमहलतक पहुँचनेपर इन दोनों बालकोंको मालूम हुआ कि परस्परके भेदभाव तथा अनबनके कारण उत्तर भारतके सभी रजवाड़ोंमें कलह और अशान्ति फैल रही है और सभी एक-दूसरेसे लड़ रहे हैं । इसलिये वे राजमहलसे ताजपुर और ताजपुरसे पूर्णिया आये । पूर्णियासे फिर अयोध्या, लखनऊ और आगरा होते हुए वे गोकुल पहुँचे जहाँ श्रीकृष्णने बाल-लीलाएँ की थीं । गोकुलसे वे वृन्दावन आये ।

वृन्दावनकी दशा उन दिनों विचित्र थी । घने जंगलों और भूमिशायी अस्तव्यस्त खँडहरोंके सिवा वहाँ और कुछ भी न था । मुसलमान आक्रमणकारियों-ने उसके समस्त वैभव और शोभाको धूलमें मिला दिया था । मन्दिर सब ध्वंस हो गये थे, मूर्त्तियाँ टूटी-फूटी पड़ी थीं । वृन्दावनके निवासी भी उस पावन भूमिके इतिहासको भुला बैठे थे । पुण्यसलिला यमुना और श्रीगोवर्धन पर्वतके अतिरिक्त वहाँ श्रीकृष्ण-की लीला-स्मृतिके कुछ भी चिह्न अवशिष्ट नहीं रह गये थे । भूगर्भ और लोकनाथ उन खँडहरों और जंगलोंमें जहाँ बाघ-भालू और रीछोंने डेरे डाल रक्खे थे, घूमना शुरू किया । परन्तु वे करें तो क्या करें, कुछ समझमें नहीं आता था । महाप्रभुकी आज्ञा और आदेशोंका पालन किस प्रकार हो उनके लिये यह एक पहेली ही थी । वंशीवट कहाँ है, और कहाँ हैं निधुवन, भाण्डीर-वन, श्यामकुण्ड और राधाकुण्ड ? क्या करें, कहाँ जायँ, पता लगावें तो कैसे ! महाप्रभुके बिना हमें मार्ग बतावे तो कौन ! चीरघाट कहाँ है और कहाँ हैं तमाल, कदम्ब और बकुलकी कुञ्जें जहाँ महाप्रभुने हमें निवास करनेकी आज्ञा दी है ? अन्ततो गत्वा निराश और हताश होकर दोनों युवकोंने सर्वतोभावसे अपने-आप-को प्रभु श्रीकृष्ण और जगज्जननी श्रीराधारानीके चरणोंमें अर्पित कर दिया और—

गोविन्द गोविन्द हरे मुरारे !
राधाकृष्ण, गोपीकृष्ण, श्रीकृष्ण प्यारे !!

—इन नामोंसे समस्त वनप्रान्त और खँडहरोंको मुखरित कर दिया ! एक दिन सहसा उन्हें चीरघाटका पता लग गया जहाँ रहकर जीवनके शेष कालको व्यतीत करनेकी आज्ञा महाप्रभुने उन्हें दी थी ।

वृन्दावनके लोगोंको ये दोनो युवक कुछ अजीब-से लगे । पागलोंकी तरह क्षणमें इनका रोना और क्षणमें हँसना कोई समझ न पाता । राह

चलते जो भी मिल जाता उसीके चरणोंमें गिरकर वे फूट-फूटकर रोने लगते और प्रार्थना करने लगते कि मुझे श्रीहरिके दर्शन कराओ—बताओ वे कहाँ छिपे हैं ! इतना ही नहीं, वे उन्मत्तकी तरह वृन्दावनकी भूमिमें लोटते, उसे चूमते और उसकी रजको सिर-आँखोंपर रखते । बेसुध दशामें यह कहते—'तुम धन्य हो, ओ व्रजकी पावन रज ! तुम धन्य हो । श्रीहरिके कोमल-कोमल चरण तुमपर पड़े थे और यहीं उन्होंने गोपियोंके साथ, राधारानीके साथ प्रेममयी लीलाएँ की थीं । वे आज कहाँ छिप गये, ओ व्रजरज ! तुम चुप क्यों हो ? बोलो न, दया करके बोलो, एक शब्द बोलो ! अरे, तुम चुप हो तो उस साँवरेका पता मुझे कौन बतलावेगा ?

धूम मच गयी, सारे वृन्दावनमें धूम मच गयी कि दो अनोखे भक्त वृन्दावनमें आये हैं ! अब क्या था, भीड़ लगने लगी—दर्शनके उत्सुक भावुकजनोंकी ! इन दोनोंके लिये फूसकी एक कुटिया बनानेका आग्रह होने लगा, परन्तु लोकनाथ और भूगर्भने यह निश्चय कर लिया था कि रहेंगे तो किसी वृक्षके नीचे ही ! कहीं वे भिक्षाटन करने नहीं जाते, यदृच्छासे जो कुछ भी प्राप्त हो जाता उसीसे सन्तोष कर लेते, और यमुनाका जल पी लेते ।

महाप्रभुके शिष्योंमें लोकनाथ और भूगर्भ ही पहले-पहल वृन्दावन आये । सुबुद्धिराय अब भी बंगालमें ही थे और सनातन तथा रूप अब भी बंगालके मुसलिम नवाबके दीवान थे । गोपालभट्ट अपने पिताके साथ दक्षिण भारतमें रहते थे और रघुनाथभट्ट, रघुनाथदास और जीवगोस्वामी अभी बालक थे ।

अगहनके महीनेमें लोकनाथको वृन्दावन भेजकर महाप्रभुने माघके महीनेमें संन्यास लिया । उसके अनन्तर वे दक्षिणमें दो वर्षतक तीर्थयात्रा करते रहे । दक्षिणसे लौटकर वे बंगाल आये किन्तु गौड़तक ही आकर फिर वहाँसे नीलाचल लौट गये । वहाँसे वे वृन्दावनके लिये चल दिये और छोटानागपुरके झारखण्ड होते हुए वृन्दावन पहुँचे और वहाँ दो महीने ठहरे । परन्तु दुर्भाग्यवश वहाँ उन्हें लोकनाथ और भूगर्भ नहीं मिले ।

महाप्रभुके संन्यासकी बात लोकनाथने सुनी थी । उन्होंने यह भी सुन रक्खा था कि प्रभु दक्षिणभारतमें तीर्थयात्राके लिये गये हैं । इस समाचारसे लोकनाथका सारा धीरज छूट गया और इस कारण वे तथा भूगर्भ महाप्रभुसे मिलनेके लिये वृन्दावनसे दक्षिणभारतके लिये चल पड़े । वहाँ पहुँचनेपर उन्हें मालूम हुआ कि महाप्रभु वृन्दावन गये हैं । जल्दी-जल्दी वे पुनः वृन्दावनकी ओर लौटे, परन्तु दुर्भाग्यवश उनके वृन्दावन पहुँचनेके कुछ ही दिन पूर्व महाप्रभु वृन्दावनसे पुरीके लिये प्रस्थान कर चुके थे । लोकनाथका हृदय बैठ गया और वे सदाके लिये निराश हो गये । परन्तु स्वप्नमें महाप्रभुने दर्शन देकर लोकनाथको समझाया—'तुम इतने निराश क्यों होते हो ? हिम्मत हारनेकी क्या बात है ? तुमने नवद्वीपमें मेरा जो रूप देखा था वह रूप अब नहीं है । मैं अब राहका भिखारी हूँ । तुम मुझे इस वेशमें देखोगे तो तुम्हें महान् कष्ट होगा, तुम्हारा हृदय दुखेगा । अच्छा यही है कि तुम मेरे गृही वेशका ही स्मरण करो और वही वेश तुम्हारे हृदयलोकमें बना रहे । मैं अपना यह वेश इसीलिये तुम्हें दिखलाना नहीं चाहता और इसी कारण हम-तुम मिल नहीं पाये ।'

लोकनाथने अब समझा कि प्रभु किस कारण मिलनेसे बचते रहे । महाप्रभुके संन्यासी वेशकी उन्होंने अपने हृदयमें तस्वीर खींची—कल्पनासे । महाप्रभुका

शरीर चिथड़ोंसे ढका हुआ है—लज्जा-निवारणमात्रके लिये और हरि-हरि कहते हुए महाप्रभु बावलोंकी तरह घूम रहे हैं। इस वेशका स्मरण करते ही लोकनाथका हृदय विदीर्ण होने लगा और वे लगे फूट-फूटकर रोने। अब उन्होंने निश्चय कर लिया कि महाप्रभुकी जब यह आज्ञा है तो वे इस शरीरसे कभी उनसे नहीं मिलेंगे। अब लोकनाथ और भूगर्भने चीरघाटपर अपना डेरा जमा लिया और अन्तकालतक वे वहीं बने रहे। रात-दिन कृष्ण-कृष्णकी रट लगाये रहते और रातको बस, एक-दो घंटा सो लेते। न किसीसे कभी मिलते, न बात करते। यदृच्छासे जो कुछ प्राप्त हो जाता उसीको भगवान्‌का प्रसाद समझकर ग्रहण करते। यदि किसी दिन कुछ नहीं मिलता तो हरिका नाम लेकर सहर्ष उपवास करते।

लोकनाथने अपने जीवनके शेष दिन वृन्दावनमें ही भजनमें व्यतीत कर दिये और भगवान्‌के नामका आधार लेकर, संसारकी सभी बातोंसे तटस्थ रहते हुए, एक आदर्श भक्तका, एक आदर्श प्रेमीका और एक आदर्श विरहीका जीवन—जिस जीवनमें अखण्ड और अबाध स्मरणका रस है, वह जीवन जिसमें प्रभुकी करुणा और प्रीति है, और जो उनकी एकमात्र कृपासे ही प्राप्त होता है—ऐसा अनमोल जीवन उस वृन्दावनकी मधुमय पावन भूमिमें व्यतीत कर दिया।

'श्रीचैतन्यचरितामृत' के रचयिता श्रीकृष्णदास कविराज अपने ग्रन्थके प्रणयनके पूर्व लोकनाथ गोस्वामीके चरणोंमें आशीर्वादके लिये आये थे। उन दिनों वृन्दावनमें महाप्रभुके सबसे वृद्ध शिष्य लोकनाथ ही थे। लोकनाथ अपने भजनमें इतने अधिक व्यस्त रहते थे कि बात करनेका उन्हें अवसर ही न मिलता था। जब श्रीकृष्णदासने श्रीचैतन्यचरितामृतका प्रस्ताव रखकर आशीर्वादका प्रसाद माँगा तो लोकनाथने उसके लिये सहर्ष हाँ भरते हुए यह कहा कि लिखो, अवश्य लिखो; परन्तु मेरी एक शर्त रहेगी—वह यह कि इस ग्रन्थमें मेरी कहीं भी चर्चा न आवे और न मेरे तथा महाप्रभुके सम्बन्धकी ही। इतनी मूक और निरीह उपासना थी लोकनाथ गोस्वामीकी!

मानस-प्रबोध

अरे मन! है तू निपट गँवार, सार-धन सारा लुटवाया।

जगतमें मायाका व्यवहार,
स्वार्थ बिन करै न कोई प्यार;
मातु, पितु, सुत, जाया, भर्तार,
सभी मिल तुझको भरमाया॥१॥

अभी है यौवनकी भरमार,
मजा कर ले, प्यारे! दिन चार;
बुढ़ापेमें वैराग्य विचार,
शिथिल जब हों इन्द्रिय-काया॥२॥

मृत्यु क्या इतनी दया करै,
कि बूढ़ा बन तू भजन करै?
स्वाँस जितनी लेकर उतरै,
उसीतक है जीवन-छाया॥३॥

बालपन खेल-कूद खोये,
युवापन युवती सँग सोये,
बुढ़ापामें मन नहिं धोये,
अन्तमें सिर धुन पछताया॥४॥

घड़ा कब पानीका फूटै,
पात कब डालीसे टूटै,
प्राण कब इस तनसे छूटै,
नहीं कोइ निश्चय कर पाया॥५॥

"हंस" जब मानस-तट छोड़ै,
सकल मायासे मुख मोड़ै,
सत्य-चितसे नाता जोड़ै,
ब्रह्म है ब्रह्माहं गाया॥६॥

—श्री 'हंस'

श्रीरामचरितमानसका तात्पर्य

(लेखक—स्वामीजी श्रीरामदेवजी महाराज)

किसी भी ग्रन्थका तात्पर्य निर्णय करनेके लिये मीमांसकोंके सिद्धान्तमें छः लिङ्ग माने गये हैं। उन्हींके अनुसार हमें श्रीरामचरितमानसके तात्पर्यके विषयमें भी विचार करना चाहिये। उन लिङ्गोंका वर्णन निम्नलिखित श्लोकमें किया गया है—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥

अर्थात् तात्पर्यनिर्णय करनेके लिये उपक्रम-उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति, ये छः लिङ्ग हैं। जो बात ग्रन्थके आरम्भमें कही जाती है उसे उपक्रम कहते हैं और जो अन्तमें कही जाती है उसे उपसंहार कहा जाता है। पुनः-पुनः कथनका नाम अभ्यास है। जो बात अन्यत्र न कही गयी हो उसे अपूर्वता कहते हैं। प्रशंसादिमें उसी बातको पुष्ट करना अर्थवाद है। तथा अनेक प्रकारकी युक्तियाँ देना उपपत्ति है।

अब पहले, जिस प्रकार श्रीरामचरितमानसका उपक्रम हुआ है वह दिखाते हैं—

भरद्वाज मुनि बसहिं प्रयागा। तिन्हहि राम पद अति अनुरागा॥
तापस सम दम दया निधाना। परमारथ पथ परम सुजाना॥
माघ मकरगत रबि जब होई। तीरथपतिहिं आव सब कोई॥
देव दनुज किंनर नर श्रेनीं। सादर मज्जहिं सकल त्रिबेनीं॥
पूजहिं माधव पद जलजाता। परसि अखयबटु हरषहिं गाता॥
भरद्वाज आश्रम अति पावन। परम रम्य मुनिबर मन भावन॥
तहाँ होइ मुनि रिषय समाजा। जाहिं जे मज्जन तीरथराजा॥
मज्जहिं प्रात समेत उछाहा। कहहिं परसपर हरि गुन गाहा॥

ब्रह्म निरूपन धरम बिधि बरनहिं तत्त्व बिभाग।
कहहिं भगति भगवंत कै संजुत ग्यान बिराग॥

एहि प्रकार भरि माघ नहाहीं। पुनि सब निज निज आश्रम जाहीं॥
प्रति संबत अस होइ अनंदा। मकर मज्जि गवनहिं मुनि बृंदा॥
एक बार भरि मकर नहाए। सब मुनीस आश्रमन्ह सिधाए॥
जागबलिक मुनि परम बिबेकी। भरद्वाज राखे पद टेकी॥
सादर चरन सरोज पखारे। अति पुनीत आसन बैठारे॥
करि पूजा मुनि सुजसु बखानी। बोले अति पुनीत मृदु बानी॥

यहाँतक जिस प्रकार परम विवेकी याज्ञवल्क्यमुनिसे शम, दम, तप, दया, श्रद्धा, तितिक्षा एवं उपरति आदि सात्त्विक गुणोंसे सम्पन्न भरद्वाजमुनिका समागम हुआ उसका वर्णन किया गया है। अब जिस प्रकार जिस विषयमें उन्होंने अपना संशय प्रकट किया था वह बताते हैं। श्रीभरद्वाजमुनि कहते हैं—

नाथ एक संसउ बड़ मोरें। करगत बेदतत्त्व सबु तोरें॥
कहत सो मोहि लागत भय लाजा। जौं न कहउँ बड़ होइ अकाजा॥

हे नाथ! हमको एक बड़ा संशय है। और आपको तो सारा वेदका रहस्य करतलगत है। मुझे तो कहते हुए भी भय और लज्जा होती है। [कहनेमें भय इसलिये होता है कि कहीं आप यह न समझ लें कि हमारी परीक्षा ले रहे हैं और लज्जा इसलिये होती है कि आप कहेंगे इतने वृद्ध हो गये, फिर भी अभी यथार्थ ज्ञान नहीं हुआ।] तथापि यदि नहीं कहता हूँ तो बड़ा अनर्थ होता है (अर्थात् संशय बना रहनेसे अज्ञानकी निवृत्ति ही असम्भव हो जायगी।)

संतलोग ऐसी नीति कहते हैं कि गुरुसे दुराव करनेसे हृदयमें विमल विवेक नहीं हो सकता। यही बात वेद-पुराणादि भी कहते हैं। यथा—

संत कहहिं असि नीति प्रभु श्रुति पुरान मुनि गाव।
होइ न बिमल बिबेक उर गुर सन किएँ दुराव॥

अस बिचारि प्रगटउँ निज मोहू। हरहु नाथ करि जन पर छोहू॥
राम नाम कर अमित प्रभावा। संत पुरान उपनिषद गावा॥
संतत जपत संभु अबिनासी। सिव भगवान ग्यान गुन रासी॥
आकर चारि जीव जग अहहीं। कासीं मरत परम पद लहहीं॥
सोपि राम महिमा मुनि राया। सिव उपदेसु करत करि दाया॥
रामु कवन प्रभु पूछउँ तोही। कहिअ बुझाइ कृपानिधि मोही॥

यहाँ अन्तिम चौपाईसे यह प्रकट होता है कि भरद्वाजजीने रामतत्त्वके विषयमें प्रश्न किया है, जैसा कि वे आगे भी प्रकट करते हैं—

एक राम अवधेस कुमारा। तिन्ह कर चरित बिदित संसारा॥
नारि बिरहँ दुखु लहेउ अपारा। भयउ रोषु रन रावनु मारा॥

प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि।
सत्य धाम सर्बग्य तुम्ह कहहु बिबेक बिचारि॥

जैसें मिटै मोर भ्रम भारी। कहहु सो कथा नाथ बिस्तारी॥

इस प्रकार यहाँ अन्तमें अज्ञान और भ्रम मिटानेके लिये ही कथा कहनेकी प्रार्थना की गयी है। इससे प्रकट होता है कि मानसका प्रारम्भ अज्ञान और भ्रम मिटानेके लिये ही हुआ है। यह अज्ञान और भ्रम जिस वस्तुके विषयमें होता है उसीके ज्ञानसे मिटता है, और किसी प्रकार नहीं मिटता। जिस प्रकार रज्जुमें सर्पका भ्रम रज्जुके अज्ञानसे तथा सीपमें चाँदीका भ्रम सीपके अज्ञानसे होता है और इनकी निवृत्ति रज्जु और सीपके ज्ञानसे ही होती है, उसी प्रकार यहाँ रामके ज्ञानसे ही रामविषयक अज्ञान एवं भ्रमकी निवृत्ति होना सम्भव है। इसलिये रामके ज्ञानके लिये ही भरद्वाजमुनिने प्रश्न किया है।

इसपर श्रीयाज्ञवल्क्यमुनि कहते हैं—

जागबलिक बोले मुसुकाई। तुम्हहि बिदित रघुपति प्रभुताई॥
राम भगत तुम्ह मन क्रम बानी। चतुराई तुम्हारि मैं जानी॥
चाहहु सुनै राम गुन गूढ़ा। कीन्हिहु प्रस्न मनहुँ अति मूढ़ा॥
तात सुनहु सादर मनु लाई। कहउँ राम कै कथा सुहाई॥
महामोहु महिषेसु बिसाला। राम कथा कालिका कराला॥

यहाँ अन्तिम चौपाईमें महामोह अर्थात् अज्ञानको महिषासुर तथा रामकथाको कराल कालिका कहा है। अतएव यह प्रतीत होता है कि जिस प्रकार प्रश्न अज्ञानको मिटानेके लिये किया गया था वैसे ही उसके उत्तरमें रामकथाको अज्ञानका नाश करनेवाली बता रहे हैं। इस प्रकार प्रश्न और उत्तरके सामञ्जस्यसे ज्ञान ही इस कथाका मूल विषय सिद्ध होता है। तथा—

राम कथा ससि किरन समाना। संत चकोर करहिं जेहि पाना॥

इस चौपाईमें रामकथाको शशिकिरणकी उपमा दी है। इससे उसे शान्तिदायक सूचित किया है और संतोंको जो चकोर कहा इससे संत ही इस शान्तिदायक कथाके श्रवणके अधिकारी सिद्ध होते हैं।

इसके आगे श्रीयाज्ञवल्क्यमुनि कहते हैं—

ऐसेइ संसय कीन्ह भवानी। महादेव तब कहा बखानी॥

कहउँ सो मति अनुहारि अब उमा संभु संबाद।
भयउ समय जेहि हेतु जेहि सुनु मुनि मिटिहि बिषाद॥

उस उमा-शम्भु-संवादका प्रसंग वर्णन करते हुए याज्ञवल्क्यजीने कहा है कि एक बार त्रेतायुगमें सतीजीके सहित श्रीमहादेवजी कुम्भज ऋषिके आश्रमपर गये। ऋषिने उन्हें सर्वेश्वर समझकर उनकी अनेक प्रकारसे पूजा की। फिर वे श्रीरघुनाथजीकी कथा कहने लगे और श्रीमहादेवजी उसे बड़े प्रेमसे सुनने लगे। इसके पश्चात् मुनिवरके प्रश्न करनेपर भगवान् शिवने उन्हें परम अधिकारी समझकर रामभक्तिका उपदेश किया। इस प्रकार हरिचर्चा करते हुए वहाँ कुछ दिन रहकर वे अपने निवासस्थान (कैलास) को चल दिये। उसी समय संसारका भार उतारनेके लिये रघुवंशमें अवतीर्ण हुए भगवान् श्रीराम पिताकी आज्ञासे दण्डकवनमें विचर रहे थे। इधर शंकरजी भी मनमें यह विचार कर रहे थे कि किस प्रकार भगवान् श्रीरामका दर्शन हो; यदि हम उनके पास जाते हैं तो गुप्तरूपसे जनसमाजमें विचरते हुए श्रीभगवान्‌को सब लोग जान जायँगे। रावण ब्रह्माजीसे मनुष्यके द्वारा अपनी मृत्यु माँग चुका है; उस वचनको भगवान् सत्य करना चाहते हैं। उसमें भी विघ्न पड़ जायगा। और दर्शन किये बिना मन नहीं मानता। इस प्रकार तरह-तरहके विचार करके श्रीशंकरजी चिन्ताग्रस्त हो रहे थे।

इसी समय रावणने मारीचकी सहायतासे श्रीजानकीजीको हर लिया। जब श्रीरघुनाथजीने अपनी कुटीको श्रीजनकनन्दिनीसे शून्य देखा तो वे साधारण विरही पुरुषोंकी तरह सीताजीको खोजते और विलाप करते हुए वन-वनमें फिरने लगे। इस प्रसंगमें श्रीगोसाईंजी महाराज कहते हैं—

कबहूँ जोग बियोग न जाकें। देखा प्रगट बिरह दुखु ताकें॥

अर्थात् जिन श्रीभगवान्‌का कभी किसीके साथ संयोग या वियोग नहीं होता उन्हींको यहाँ स्पष्ट विरह-दुःखसे दुःखी होते देखा गया। यह सब उनकी लीला ही थी। प्रभुके चरित्रको कौन जान सकता है!

अति बिचित्र रघुपति चरित जानहिं परम सुजान।
जे मतिमंद बिमोह बस हृदयँ धरहिं कछु आन॥

जिस समय प्रभु ऐसी विरहावस्थामें निमग्न हुए विचर रहे थे उसी समय श्रीशंकरजीको उनके दर्शन हुए। उन्हें देखकर चित्तमें क्षोभ भी हुआ, परन्तु कुसमय जानकर किसी प्रकारकी पहचान नहीं की। बस, 'जय सच्चिदानंद जग पावन' कहकर आगे चल दिये। भगवान्‌के दर्शन करके परमानन्दमें डूब गये, उनके चित्तकी विचित्र दशा हो गयी। यह सब देखकर सतीके मनमें सन्देह हुआ। वे सोचने लगीं कि जिन श्रीमहादेवजीकी वन्दना समस्त देव, मनुष्य और मुनिजन

करते हैं, उन्होंने एक राजकुमारको प्रणाम किया और उनके लिये 'जय सच्चिदानंद जग पावन' कहा—इसका क्या कारण है। इस समय भी तो ये उन्हींके रूप-लावण्यकी स्मृतिमें मुग्ध हो रहे हैं!

इस प्रकार वे तरह-तरहके संकल्प-विकल्प करने लगीं। उनके संशयका वर्णन श्रीगोसाईंजी महाराज इन शब्दोंमें करते हैं—

ब्रह्म जो ब्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद॥

जो ब्रह्म सर्वत्र एकरसरूपसे व्यापक, निर्मल, अजन्मा, कलाहीन, निश्चेष्ट और भेदरहित है, तथा जिसे वेद भी नहीं जानते वह क्या शरीर धारण करके मनुष्य हो सकता है? यह तो सर्वथा असम्भव है। और—

बिष्नु जो सुर हित नर तनु धारी। सोउ सर्बग्य जथा त्रिपुरारी॥
खोजइ सो कि अग्य इव नारी। ग्यान धाम श्रीपति असुरारी॥

यदि कहा जाय कि विष्णुभगवान्‌ने देवताओंके लिये मनुष्यशरीर धारण किया है, तो वे भी तो श्रीशंकरजीकी तरह ही सर्वज्ञ हैं। वे क्या अज्ञानियोंकी भाँति स्त्रीको ढूँढ़ते फिरेंगे? विष्णुभगवान् और श्रीमहादेवजी तो परम ज्ञानवान् हैं। अतः ये विष्णु तो हो नहीं सकते। किन्तु—

संभु गिरा पुनि मृषा न होई। सिव सर्बग्य जान सबु कोई॥
अस संसय मन भयउ अपारा। होइ न हृदयँ प्रबोध प्रचारा॥

भगवान् शिवका वचन भी असत्य नहीं हो सकता; क्योंकि शिवजी सर्वज्ञ हैं, यह बात सभी जानते हैं। इस प्रकार सतीजीके मनमें बड़ा भारी सन्देह हुआ, उन्हें किसी प्रकार भी समाधान नहीं होता था। यद्यपि इस संशयको उन्होंने प्रकट नहीं किया, भगवान् शंकर अन्तर्यामी होनेके कारण सब जान गये। वे कहने लगे—देखो, जिनकी कथा हमें कुम्भज ऋषिने सुनायी थी और जिनकी भक्तिका हमने उन्हें उपदेश किया था ये वे ही भगवान् श्रीराम हैं। ये हमारे इष्टदेव हैं। इनकी महिमा कहाँतक वर्णन की जाय—

मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं।
कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं॥
सोइ रामु ब्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति माया धनी।
अवतरेउ अपने भगत हित निजतंत्र नित रघुकुलमनी॥

जिनका ध्यान मतिमान् मुनिजन, योगी और सिद्धगण सर्वदा विशुद्धचित्त होकर करते हैं, वेद, शास्त्र और पुराण 'नेति, नेति' कहकर जिनकी कीर्तिका गान करते हैं, वे निखिल-भुवननायक मायापति श्रीराम सर्वव्यापक ब्रह्म हैं। वे सर्वथा स्वतन्त्र हैं। उन्होंने अपने भक्तोंके लिये रघुकुलभूषण होकर अवतार लिया है।

इस छन्दमें व्यापक, ब्रह्म इत्यादि पदोंसे निर्गुण, निर्विकार, एक, अद्वितीय, सच्चिदानन्दघन परमात्माहीका संकेत है, जो मायाके द्वारा समस्त संसारमें बसा हुआ है। वही अपने भक्तोंके कल्याणके लिये सगुणरूपसे प्रकट होता है। इस कथनसे निर्गुण और सगुण ब्रह्मका अभेदान्वय किया गया है, न कि भेदान्वय। यह बात आगे श्रीमहादेव और पार्वतीजीके संवादसे और भी स्पष्ट हो जायगी।

इस प्रकार श्रीशंकरजीके बहुत-कुछ समझानेपर भी सतीजीके मनका भ्रम बना ही रहा। भगवान्‌की माया बड़ी प्रबल है। यह देखकर भगवान् शिवने कहा—यदि तुम्हें अब भी सन्देह है तो जाकर स्वयं परीक्षा कर लो। हम यहीं वटके नीचे बैठे हैं।

भगवान्‌की आज्ञा पाकर श्रीसतीजी चल दीं और तरह-तरहके विचार करनेके बाद उन्होंने श्रीसीताजीका रूप धारण किया तथा जिस मार्गसे भगवान् श्रीराम और लक्ष्मणजी जा रहे थे उसी ओर होकर निकलीं। किन्तु सर्वज्ञ श्रीरामजीने उन्हें पहचान लिया और प्रणाम करके कहा, 'माताजी! तुम अकेली इस वनमें कैसे विचर रही हो?' श्रीरामके वे वचन सुनकर सतीजी सकुचाकर श्रीमहादेवजीके पास चल दीं और मन-ही-मन कहने लगीं—

मैं संकर कर कहा न माना। निज अग्यानु राम पर आना॥
जाइ उतरु अब देहउँ काहा। उर उपजा अति दारुन दाहा॥

अब जब श्रीरामजीने देखा कि सतीको दुःख हुआ है तो उन्होंने उन्हें अपना प्रभाव प्रकट करके दिखाया। सतीजीने देखा कि आगे राम, सीता और लक्ष्मण तीनों जा रहे हैं। फिर उन्होंने पीछेकी ओर देखा तो वहाँ भी सीता और लक्ष्मणजीके सहित भव्य वेषधारी भगवान् श्रीरामको विराजमान पाया। अब वे जिस ओर दृष्टि डालती हैं उधर ही उन्हें सुर-मुनिसेवित प्रभु श्रीराम दिखायी देते हैं। अनेकों ब्रह्मा, विष्णु और शिव अपनी-अपनी शक्तियोंसहित भगवान्‌की सेवा कर रहे हैं। उन्हें देवताओंके तो अनेक रूप दिखायी दिये, परन्तु श्रीरामका रूप सर्वत्र एक-सा ही था। सब जगह वही राम, वही लक्ष्मण और वही सीताजी विराजमान हैं और

समस्त देवगण उनकी सेवामें संलग्न हैं। यह सब देखकर सतीजीका हृदय काँपने लगा और उन्हें अपने शरीरकी भी सुधि न रही। तब वे आँख मूँदकर बैठ गयीं। थोड़ी देर पीछे उन्होंने जब नेत्र खोले तो उन्हें कुछ भी दिखायी न दिया। तब वे बार-बार भगवान् श्रीरामके चरणोंमें सिर नवाकर श्रीमहादेवजीके पास आयीं।

शिवजीने पूछा, 'कहो, कैसे परीक्षा ली?' तो बोलीं, 'कुछ नहीं, आपहीकी तरह मैंने भी जाकर प्रणाम कर लिया।' किन्तु शंकरजी सब बात जान गये। उन्होंने भगवान्‌की मायाको प्रणाम किया और मन-ही-मन संकल्प कर लिया कि अब सतीके इस शरीरके साथ मेरा अंगसंग नहीं होगा। भगवान् शिवकी यह भीषण प्रतिज्ञा जानकर देवगण उनकी प्रशंसा करने लगे। वे बोले—

अस पन तुम्ह बिनु करइ को आना। राम भगत समरथ भगवाना॥

देवताओंके ये वचन सुनकर सतीजीने पूछा, 'भगवन्! आपने क्या प्रण किया है?' किन्तु शंकरजीने उन्हें कोई उत्तर नहीं दिया तथा अपने निवासस्थानपर चले आये। वहाँ पहुँचकर वे एक वटवृक्षके नीचे मनोहर मृगछालापर विराजमान हुए और अखण्ड अपार समाधिमें मग्न हो गये। तब तो सतीजीको बड़ा दुःख हुआ। अत्यन्त दीर्घकालके पश्चात् जब उनकी समाधि टूटी तो सतीजी उनके पास गयीं। उस समय शंकरजीने उन्हें बैठनेके लिये अपने सामने आसन दिया।

उन्हीं दिनों दक्षप्रजापतिके यहाँ एक यज्ञ हो रहा था। अपने पिताके यज्ञमें सम्मिलित होनेके लिये सतीजीने बहुत आग्रह किया और श्रीमहादेवजीके निषेध करनेपर भी वे हठ करके वहाँ चली गयीं। उस यज्ञमें श्रीशंकरजीका अपमान होते देखकर उन्होंने योगाग्निद्वारा अपना शरीर त्याग दिया और पर्वतराज हिमालयके यहाँ पार्वती नामसे पुनः प्रकट हुईं। यहाँ भी अनेक प्रकारसे तपादि करके उन्होंने श्रीमहादेवजीको पतिरूपसे प्राप्त किया। विवाह होनेके पश्चात् श्रीशंकरजीके साथ कैलासपर्वतपर आये हुए जब उन्हें कुछ दिन बीत गये तो एक दिन श्रीपार्वतीजीने भोलानाथसे कुछ प्रश्न किये। उस उमा-महेश्वर-संवादका श्रीगोसाईंजी इस प्रकार वर्णन करते हैं—

परम रम्य गिरिबरु कैलासू। सदा जहाँ सिव उमा निवासू॥

सिद्ध तपोधन जोगि जन सुर किंनर मुनि बृंद।
बसहिं तहाँ सुकृती सकल सेवहिं सिव सुख कंद॥

हरि हर बिमुख धर्म रति नाहीं। ते नर तहँ सपनेहुँ नहिं जाहीं॥
तेहि गिरि पर बट बिटप बिसाला। नित नूतन सुंदर सब काला॥
त्रिबिध समीर सुसीतलि छाया। सिव बिश्राम बिटप श्रुति गाया॥
एक बार तेहि तर प्रभु गयऊ। तरु बिलोकि उर अति सुख भयऊ॥
निज कर डासि नागरिपु छाला। बैठे सहजहिं संभु कृपाला॥
कुंद इंदु दर गौर सरीरा। भुज प्रलंब परिधन मुनि चीरा॥
तरुन अरुन अंबुज सम चरना। नख दुति भगत हृदय तम हरना॥
भुजग भूति भूषन त्रिपुरारी। आननु सरद चंद्र छबिहारी॥

जटा मुकुट सुरसरित सिर लोचन नलिन बिसाल।
नील कंठ लावन्य निधि सोह बालबिधु भाल॥

बैठे सोह कामरिपु कैसें। धरें सरीरु सांत रसु जैसें॥
पारबती भल अवसरु जानी। गईं संभु पहिं मातु भवानी॥
जानि प्रिया आदरु अति कीन्हा। बाम भाग आसनु हर दीन्हा॥
बैठीं सिव समीप हरषाई। पूरुब जन्म कथा चित आई॥
पति हियँ हेतु अधिक अनुमानी। बिहसि उमा बोलीं प्रिय बानी॥
कथा जो सकल लोक हितकारी। सोइ पूछन चह सैलकुमारी॥
बिस्वनाथ मम नाथ पुरारी। त्रिभुवन महिमा बिदित तुम्हारी॥
चर अरु अचर नाग मुनि देवा। सकल करहिं पद पंकज सेवा॥

प्रभु समरथ सर्बग्य सिव सकल कला गुन धाम।
जोग ग्यान बैराग्य निधि प्रनत कलपतरु नाम॥

जौं मो पर प्रसन्न सुखरासी। जानिअ सत्य मोहि निज दासी॥
तौ प्रभु हरहु मोर अग्याना। कहि रघुनाथ कथा बिधि नाना॥
जासु भवनु सुरतरु तर होई। सहि कि दरिद्र जनित दुखु सोई॥
ससिभूषन अस हृदयँ बिचारी। हरहु नाथ मम मति भ्रम भारी॥

इस सारे प्रसंगपर विचार करनेसे यही निश्चय होता है कि श्रीपार्वतीजीका प्रश्न अज्ञान-निवृत्तिके लिये हुआ है। आगे वे अपना सन्देह इस प्रकार प्रकट करती हैं—

प्रभु जे मुनि परमारथबादी। कहहिं राम कहुँ ब्रह्म अनादी॥

हे प्रभो! जो मननशील महात्मा परमतत्त्वका निरूपण करनेवाले हैं वे श्रीरामको अनादि ब्रह्म बताते हैं। अर्थात् उनके कथनानुसार रामका कभी जन्म नहीं होता। वे सर्वदा एकरस, परिपूर्ण, सच्चिदानन्दघनस्वरूप हैं। तथा—

सेस सारदा बेद पुराना। सकल करहिं रघुपति गुन गाना॥
तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनँग आराती॥

जब आप कामविजयी होकर भी रात-दिन राम-नाम जपते रहते हैं तो मुझे यह सन्देह होता है कि—

रामु सो अवध नृपति सुत सोई। की अज अगुन अलखगति कोई॥

वे राम, जिनका शेष, शारदा और वेद-पुराणादि सारे सद्ग्रन्थ भी गुणगान करते हैं और आप भी जिनका नाम अहर्निश जपते रहते हैं, क्या राजा दशरथके ही पुत्र हैं अथवा कोई अजन्मा, निर्गुण और अलक्ष्यगति तत्त्व हैं? क्योंकि—

जौं नृप तनय त ब्रह्म किमि नारि बिरहँ मति भोरि।
देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि॥

यदि वे राजकुमार ही हैं तो ब्रह्म कैसे हो सकते हैं? क्योंकि ब्रह्म तो व्यापक, निर्गुण, निराकार, निर्विकार और अजन्मा है; उसका एक राजपुत्रमात्र होना सर्वथा असम्भव है! तथा उनकी बुद्धि स्त्रीके विरहमें व्याकुल क्यों हो गयी? मैंने तो उनका ऐसा ही चरित्र देखा था। वे स्त्रीके विरहमें व्याकुल हुए वन-वनमें भटक रहे थे। किन्तु आपके मुखसे उनकी महिमा बड़ी भारी सुनी जाती है। इससे मेरी बुद्धि तो अत्यन्त भ्रमित हो रही है। तथा—

जौं अनीह ब्यापक बिभु कोऊ। कहहु बुझाइ नाथ मोहि सोऊ॥

यदि क्रियाहीन एवं संसारमें ओतप्रोत होकर विविध-रूपसे रहनेवाला कोई अन्य भगवान् है तो हमें उसके विषयमें भी समझाकर कहिये। हे नाथ! हमें मूढ़ समझकर हृदयमें हमारे प्रति क्रोध न लावें। कृपया ऐसा उपाय करें जिससे हमारा अज्ञान दूर हो जाय।

यहाँ मोह, भ्रम और अज्ञान—इन शब्दोंके तात्पर्यपर ध्यान रखनेकी आवश्यकता है; क्योंकि इन चौपाइयोंमें कई बार इन्हीं शब्दोंका प्रयोग हुआ है और आगे भी होगा। यहाँ इनका एक ही अर्थ जान पड़ता है, क्योंकि पार्वतीजी कभी तो कहती हैं कि जिस प्रकार हमारा अज्ञान दूर हो वह उपाय कीजिये; तथा कभी मोह और कभी भ्रम दूर करनेके लिये प्रार्थना करती हैं। इन सबका यही तात्पर्य है कि उन्हें राम-तत्त्वका यथार्थ ज्ञान नहीं है। इसके आगे वे फिर कहती हैं—

अजहूँ कछु संसउ मन मोरें। करहु कृपा बिनवउँ कर जोरें॥

स्वामिन्! यद्यपि मैंने पहले वनमें श्रीरघुनाथजीकी बड़ी भारी महिमा देखी थी, आपसे भयभीत होनेके कारण ही मैंने आपको वह नहीं सुनायी, तथापि मेरे मलिन मनमें उसे देखकर भी कुछ बोध नहीं हुआ और उस अज्ञानके कारण मुझे जन्म-मरणके चक्रमें भी पड़ना पड़ा। अब भी मेरे मनमें कुछ संशय बना ही हुआ है। आप परम कृपालु हैं, इसलिये मेरे ऊपर कृपा कीजिये। यद्यपि स्त्री होनेके कारण मेरा ऐसा अधिकार नहीं है, तो भी मैं मन, वचन और कर्मसे आपकी दासी हूँ; तथा—

गूढ़उ तत्त्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं॥

अतः—

अति आरति पूछउँ सुरराया। रघुपति कथा कहहु करि दाया॥
प्रथम सो कारन कहहु बिचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन बपु धारी॥

इस चौपाईमें यह स्पष्ट हो जाता है कि निर्गुण ब्रह्म ही सगुणरूपमें प्रकट होता है। अतः जो लोग ऐसा कहते हैं कि श्रीरामचरितमानसमें निर्गुण ब्रह्मका वर्णन है ही नहीं, वे कृपया इस चौपाईपर ध्यान दें। इसके पश्चात् श्रीपार्वतीजीने सम्पूर्ण रामचरितके विषयमें प्रश्न किया है; फिर वे पूछती हैं—

पुनि प्रभु कहहु सो तत्त्व बखानी। जेहिं बिग्यान मगन मुनि ग्यानी॥
भगति ग्यान बिग्यान बिरागा। पुनि सब बरनहु सहित बिभागा॥

इस चौपाईसे सिद्ध होता है कि उन्होंने मुनियोंके मननीय तत्त्व तथा भक्ति, ज्ञान, विज्ञान और वैराग्यादि उसे प्राप्त करनेके साधन—इन सभी विषयोंका प्रश्न किया है। इसलिये उत्तरमें भी इन सभी विषयोंका निरूपण होना चाहिये। अतः इस ग्रन्थमें केवल भक्तिवाद ही है—यह मत निराधार है। वे आगे कहती हैं—

औरउ राम रहस्य अनेका। कहहु नाथ अति बिमल बिबेका॥
जो प्रभु मैं पूछा नहिं होई। सोउ दयाल राखहु जनि गोई॥
तुम्ह त्रिभुवन गुर बेद बखाना। आन जीव पाँवर का जाना॥

पार्वतीजीका ऐसा प्रश्न सुनकर श्रीमहादेवजी बहुत प्रसन्न हुए—

प्रस्न उमा कै सहज सुहाई। छल बिहीन सुनि सिव मन भाई॥
हर हियँ राम चरित सब आए। प्रेम पुलक लोचन जल छाए॥
श्रीरघुनाथ रूप उर आवा। परमानंद अमित सुख पावा॥

मगन ध्यान रस दंड जुग पुनि मन बाहेर कीन।
रघुपति चरित महेस तब हरषित बरनै लीन॥

झूठेउ सत्य जाहि बिनु जानें। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचानें॥
जेहि जानें जग जाइ हेराई। जागें जथा सपन भ्रम जाई॥

'जिस राम-तत्त्वको बिना जाने झूठा जगत् भी सत्य जान पड़ता है, जैसे रज्जुका ज्ञान न होनेसे ही सर्पकी प्रतीति

होती है,' तथा 'जैसे जागनेसे स्वप्नका भ्रम निवृत्त हो जाता है वैसे ही जिसके ज्ञानसे संसार दूर हो जाता है'—ऐसा कहकर ये दोनों चौपाइयाँ स्पष्टतया जगत्का असत्यत्व प्रतिपादन कर रही हैं। कुछ लोग इसके विपरीत यह कहते हैं कि इन चौपाइयोंमें पूर्वपक्ष कहा गया है। उनसे पूछना चाहिये कि यदि इनमें पूर्वपक्ष है तो सिद्धान्त कहाँ कहा गया है? यदि वे कहें कि सिद्धान्तका वर्णन—

बंदउँ बालरूप सोइ रामू। सब बिधि सुलभ जपत जिसु नामू॥

—इस चौपाईमें किया गया है, तो यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि इसमें 'सोइ' पद पूर्वकथितका परामर्श करता है। अतः इसका ऐसा अर्थ होता है कि जिनके जाननेसे संसार-भ्रम निवृत्त हो जाता है उन्हीं बालरूप भगवान् श्रीरामकी मैं वन्दना करता हूँ, जो नाम-जप करनेपर अत्यन्त सुलभ हैं। नाम-महिमाका वर्णन करते हुए भी गोसाईंजीका यही कथन है कि—

नामु लेत भव सिंधु सुखाहीं। करहु बिचारु सुजन मन माहीं॥

यहाँ भी वे संसारसमुद्रके सर्वथा सूख जानेकी ही बात कहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि यहाँ पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षका वर्णन नहीं है और न जगत्की सत्यता ही अभीष्ट है। आगे भी श्रीशङ्करजी कहेंगे—

उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजन जगत सब सपना॥

अब भगवान् शिवने पुनः श्रीरामचन्द्रजीको प्रणाम किया और श्रीपार्वतीजीके प्रश्नोंकी प्रशंसा करते हुए कहा—

उमा प्रस्न तव सहज सुहाई। सुखद संत संमत मोहि भाई॥
एक बात नहिं मोहि सुहानी। जदपि मोह बस कहिहु भवानी॥
तुम्ह जो कहा राम कोउ आना। जेहि श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना॥

तुमने कहा कि जिसका मुनिजन अपने हृदयमें ध्यान करते और सम्पूर्ण वेद-पुराणादि निर्गुण निराकार ब्रह्मरूपसे निरूपण करते हैं वह राम क्या कोई और है? सो यह बात, यद्यपि तुमने मोहवश कही है, तथापि हमें अच्छी नहीं लगी; क्योंकि हमारे मतमें तो जो निर्गुण, निर्विकार, निराकार, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है, वही दशरथपुत्र राम होकर प्रकट हुआ है। इनमें कुछ भी भेद नहीं है। इनमें भेदबुद्धि करनेवाले पुरुष तो अत्यन्त निन्दनीय हैं—

कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच।
पाषंडी हरि पद बिमुख जानहिं झूठ न साच॥

हे प्रिये! ऐसा तो वही लोग कहते या सुनते हैं जिन्हें मोहरूपी पिशाचने ग्रस रक्खा है। वे तो पाखण्डी और भगवच्चरणोंसे विमुख ही हैं। उन्हें सत्यासत्यका ज्ञान नहीं है।

इतना ही नहीं, भगवान् शङ्करने उनकी और भी कड़े शब्दोंमें निन्दा की है। जैसे—

अग्य अकोबिद अंध अभागी। काई बिषय मुकुर मन लागी॥
लंपट कपटी कुटिल बिसेषी। सपनेहुँ संत सभा नहिं देखी॥
कहहिं ते बेद असंमत बानी। जिन्ह कें सूझ लाभु नहिं हानी॥
मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। रामरूप देखहिं किमि दीना॥
जिन्ह कें अगुन न सगुन बिबेका। जल्पहिं कल्पित बचन अनेका॥
हरि माया बस जगत भ्रमाहीं। तिन्हहि कहत कछु अघटित नाहीं॥
बातुल भूत बिबस मतवारे। ते नहिं बोलहिं बचन बिचारे॥
जिन्ह कृत महामोह मद पाना। तिन्ह कर कहा करिअ नहिं काना॥

इस प्रकार निर्गुण और सगुण ब्रह्ममें भेदबुद्धि करनेवालोंकी निन्दा करके फिर श्रीपार्वतीजीको समझाते हैं—

अस निज हृदयँ बिचारि तजु संसय भजु राम पद।
सुनु गिरिराजकुमारि भ्रम तम रबिकर बचन मम॥

'इस तरह अपने मनमें विचारकर तुम सब प्रकारका संशय छोड़कर श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंका चिन्तन करो। हे गिरिराजनन्दिनि! तुम मेरे वचन सुनो। ये तुम्हारे अज्ञानरूप अन्धकारके लिये सूर्यकी किरणोंके समान हैं।' वे वचन क्या हैं, सो सुनिये—

सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा॥
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥
जो गुन रहित सगुन सो कैसें। जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसें॥

श्रीशङ्करजी कहते हैं कि सगुण और निर्गुणमें कुछ भी भेद नहीं है; क्योंकि श्रुति, पुराण और मुनिजन ऐसा ही कहते हैं। जो निर्गुण, निराकार और अलक्ष्य ब्रह्म है वही भक्तोंके प्रेमवश सगुण हो जाता है। यदि कहो कि गुणरहित ब्रह्म सगुण कैसे हो सकता है, तो यह समझना चाहिये कि जिस प्रकार द्रवरूप जल शीतकी अधिकतासे ठोस बर्फ बन जाता है, किन्तु तत्त्वतः उसका जलसे भेद नहीं होता, उसी प्रकार सगुण और निर्गुण परमात्माका भी तत्त्वतः अभेद ही है। यहाँ, जो लोग ऐसा कहते हैं कि परमात्मा निर्गुण है ही नहीं, 'निर्गुण' शब्दका अर्थ अप्राकृत गुणवान् है, उन्हें समझ लेना चाहिये कि श्रीगोस्वामी-

जीको वह सिद्धान्त अभीष्ट नहीं है। उनका सिद्धान्त तो सर्वथा शास्त्रसम्मत है। उनके सिद्धान्तानुसार तो निर्गुण परमात्मा ही भक्तके प्रेमवश सगुणरूपसे प्रकट होता है। यह बात उन्होंने पुनः-पुनः 'सो' या 'सोउ' शब्दसे व्यक्त की है।

अब आगे वे राम-तत्त्वका वर्णन करते हैं—

जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा। तेहि किमि कहिअ बिमोह प्रसंगा॥
राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा॥
सहज प्रकासरूप भगवाना। नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना॥

जिनका नाम अज्ञानरूप अन्धकारके लिये सूर्यरूप है उन्हें मोहका सम्बन्ध हुआ—यह कैसे कहा जा सकता है? भगवान् राम तो सच्चिदानन्दरूप सूर्य हैं। उनमें मोहरूप रात्रिका लेशमात्र भी नहीं है। भगवान् तो स्वभावसे ही प्रकाशरूप हैं; उनमें विज्ञानरूप प्रभात भी नहीं होता। ठीक ही है, जहाँ रात्रि होती है वहीं प्रभात भी हो सकता है। जब भगवान् स्वयं सच्चिदानन्दरूप सूर्य ही हैं तो उनमें रात्रि कहाँ और जब रात्रि ही नहीं तो प्रभात कैसा? यही वेदान्तका सिद्धान्त है। अद्वैतवेदान्तके किसी भी ग्रन्थमें ईश्वरको अज्ञानयुक्त नहीं बताया गया है। जो इस सिद्धान्तसे अनभिज्ञ हैं वे ही वेदान्तियोंपर नास्तिकताका झूठा आरोप करते हैं।

इससे आगे जीवका स्वरूप बतलाते हैं—

हरष बिषाद ग्यान अग्याना। जीव धरम अहमिति अभिमाना॥

प्रसन्नता, अप्रसन्नता, 'मैं ऐसा हूँ' ऐसा ज्ञान और अज्ञान—ये जीवके धर्म हैं। यहाँ 'जीव' शब्दसे अन्तःकरणावच्छिन्न अथवा अन्तःकरणमें प्रतिबिम्बित चैतन्य लिया गया है, क्योंकि शुद्ध चैतन्य तो प्रकाशस्वरूप और एक ही है, जैसा कि आगे कहते हैं—

राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना॥
पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि प्रगट परावर नाथ।
रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ कहि सिवँ नायउ माथ॥

इससे सिद्ध होता है कि साकार और निराकाररूपमें एक ही परमात्मा है। यहाँ भेद केवल रूपका है, वस्तुका नहीं। इसके आगे श्रीशङ्करजी कहते हैं कि जीव अपने अज्ञानसे ही ईश्वरको अन्य प्रकारसे देखता है—

निज भ्रम नहिं समुझहिं अग्यानी। प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी॥

जो जड जीव हैं वे अपना तो दोष समझते नहीं, व्यर्थ भगवान्‌पर दोषारोपण करते हैं। इसी बातको दृष्टान्त देकर समझाते हैं—

जथा गगन घन पटल निहारी। झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी॥

जैसे आकाशमें मेघमालाको देखकर लोग कहते हैं कि सूर्य ढक गया, किन्तु वास्तवमें तो सूर्य नहीं ढकता, किन्तु जिनके नेत्रोंके आगे बादल आ जाते हैं उन्हें वह छिपा हुआ-सा दिखायी देता है, उसी प्रकार जिनमें अज्ञान है वे ही परमात्मामें दोष देखते हैं। जो नेत्रोंके आगे अँगुली लगाकर देखते हैं उन्हें जैसे दो चन्द्रमा दिखायी देते हैं, उसी प्रकार अपने ही दृष्टिदोषसे प्रभुमें विषमताका भान होता है। किन्तु—

उमा राम बिषइक अस मोहा। नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा॥

हे उमा! भगवान् श्रीरामके विषयमें यह जीवोंका मोह ऐसा ही है जैसे आकाशमें अन्धकार, धुआँ अथवा धूलि जान पड़ती है। अर्थात् जैसे आकाशमें दिखायी देते हुए भी आकाशका इनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता, उसी प्रकार भगवान्‌के स्वरूपमें सम्पूर्ण प्रपञ्चकी प्रतीति होते हुए भी वे उससे सर्वथा असंग हैं। अब भगवान् श्रीरामके यथार्थ स्वरूपका वर्णन करते हैं—

बिषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता॥
सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धादि विषय, श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, रसना और घ्राणादि इन्द्रियाँ, इन इन्द्रियोंके अधिष्ठाता दिगादि देवगण और जीव—ये सब एक-दूसरेसे चैतन्य लाभ करते हैं। अर्थात् जीवसे देवता, देवताओंसे इन्द्रियाँ और इन्द्रियोंसे विषय प्रकाशित होते हैं। किन्तु इन सबके परम-प्रकाशक भगवान् श्रीराम अनादि हैं और वे ही अवधपतिरूपसे विराजमान हैं। तथा—

जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ग्यान गुन धामू॥

यह सारा जगत् प्रकाश्य या जड है और ज्ञान एवं गुणोंके धाम मायापति श्रीराम इसके प्रकाशक हैं। उन्हींकी चेतनासे समस्त जीवादि सचेत हो रहे हैं। अतः सबका प्रकाशक एक ही चेतन सिद्ध होता है, अनेकता तो उपाधिसे ही प्रतीत होती है। जैसे आतिशबाजी या बिजलीके बल्बोंमें यह देखा जाता है कि मसाले या काँचके भेदसे एक ही अग्नि लाल, पीले, नीले आदि अनेकों रंगकी प्रतीत होने

लगाती है वैसे ही अन्तःकरणरूप उपाधियोंकी अनेकताके कारण चिच्छक्ति भी अनेक-सी जान पड़ती है। अग्निके समान चेतनका भेद भी औपाधिक ही है; वस्तुतः तो एक ही अद्वैत तत्त्व है।

इससे आगे कहते हैं—

जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥

'जिसकी सत्तासे जड माया सत्य-सी जान पड़ती है, जो कि अज्ञानकी सहायक है।' मायामें भी भगवान् श्रीरामकी ही सत्ता स्वीकार करते हैं, क्योंकि माया जड है और जान पड़ती है सत्य-सी। जो वास्तवमें न हो किन्तु दिखायी दे, उसीको मिथ्या कहते हैं। मायाकी भी वस्तुतः सत्ता नहीं है, वह परमात्माकी सत्तासे ही सत्य-सी प्रतीत होती है। परमात्मासे पृथक् उसकी कहीं उपलब्धि नहीं हो सकती। अतः जो मायाको सत्य मानते हैं उनका सिद्धान्त मानससे तो सिद्ध हो नहीं सकता, क्योंकि इसमें तो एक श्रीरामजीकी ही पारमार्थिक सत्ता मानी गयी है। यही बात आगे भी पुष्ट होती है।

रजत सीप महुँ भास जिमि जथा भानु कर बारि।
जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ भ्रम न सकइ कोउ टारि॥

अर्थात् जिस प्रकार सीपमें चाँदीका तथा सूर्यकी किरणोंमें जलका भान होने लगता है, वैसे ही परमानन्दघन सन्मात्र भगवान् श्रीराममें माया और उसके कार्योंकी प्रतीति होती है। यह यद्यपि तीनों कालमें असत् है तो भी इस भ्रमको कोई हटा नहीं सकता। इस दृष्टान्तमें यह दिखाया गया है कि किस प्रकार अधिष्ठानभूत अन्य पदार्थकी सत्तासे उसमें अध्यस्त अन्य मिथ्या पदार्थ भी सत्यवत् प्रतीत होने लगता है।

अब यदि कोई ऐसी शंका करे कि चाँदी और जल तो अन्यत्र वास्तविक भी हैं ही, तभी सीप और सूर्यकी किरणोंमें उनका भ्रम होता है, इसी तरह जगत्की भी कहीं वास्तविक सत्ता होनी ही चाहिये, तभी परमात्मामें उसका अध्यास होगा—तो उसकी यह शंका सर्वथा निर्मूल है। उसे यह सोचना चाहिये कि अन्यत्र वास्तविक होनेपर भी जिस अधिष्ठानमें चाँदी आदिका भ्रम होता है उसमें तो वह असत्य ही है। इस प्रकार दृष्टान्तका केवल एक ही अंश लेना चाहिये। और सीपी आदि तो परिच्छिन्न पदार्थ हैं, इसलिये उनके विषयमें तो यह कह सकते हैं कि उनमें अन्यत्र दृष्ट रजतादिका भ्रम होता है। किन्तु भगवान् तो सर्वत्र परिपूर्ण हैं। उनसे पृथक् ऐसा कोई देश ही नहीं है जहाँ जगत्की वास्तविक सत्ता मानी जाय। इस प्रकारके ख्यातिवादोंका वेदान्तके ग्रन्थोंमें विस्तारसे वर्णन किया गया है, वहाँ देख सकते हैं।

अब, आगे देखिये गोस्वामीजीने कैसे स्पष्ट शब्दोंमें प्रपञ्चकी असत्यताका निरूपण किया है—

एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई॥
जौं सपनें सिर काटै कोई। बिनु जागें न दूरि दुख होई॥

इस प्रकार यह जगत् श्रीहरिके आश्रयसे स्थित है। यद्यपि यह असत्य है तथापि दुःख देता है। जैसे यदि कोई स्वप्नमें किसीका सिर काट ले तो वह सिर कटनेकी पीड़ा बिना जागे दूर नहीं हो सकती। इसी प्रकार जबतक प्राणी मोह-निशामें सोया हुआ है वह स्वप्नरूप सांसारिक दुःखोंसे सन्तप्त होता रहता है। किन्तु जब उसे ज्ञानरूप जाग्रदवस्थाकी प्राप्ति हो जाती है तो उसका संसारदुःख सर्वदाके लिये निवृत्त हो जाता है।

कुछ लोगोंके विचारसे यह चौपाई पूर्वपक्षका निर्देश करती है। परन्तु यह बात युक्तियुक्त नहीं जान पड़ती, क्योंकि इससे आगेकी चौपाइयोंसे इसीकी पुष्टि होती है और इसका कहीं खण्डन भी नहीं किया गया। अब आगेकी चौपाईपर विचार कीजिये—

जासु कृपाँ अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपाल रघुराई॥

हे पार्वति! जिनकी कृपासे इस प्रकारका संसारभ्रम निवृत्त हो जाता है, वे ही दयामय श्रीराम हैं। यहाँ पूर्वमतावलम्बियोंका कथन है कि इस चौपाईके 'भ्रम' शब्दसे पूर्व चौपाईमें कही हुई बातकी ओर ही संकेत किया है, अर्थात् उक्त चौपाईद्वारा स्थापित सिद्धान्तको ही भ्रम कहा है। किन्तु उनका यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे तो सभी भ्रम हो जाता है; फिर उस भ्रमका आश्रय कौन होगा? जीव या ईश्वर? जीव तो भ्रमका अधिष्ठान हो नहीं सकता—यह बात पहले कही जा चुकी है। वह तो स्वयं ही भ्रमरूप है, फिर उसका अधिष्ठान कैसे होगा? अतः 'एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई' इस वाक्यके अनुसार परमात्मा ही जगत्का आश्रय बताया गया है। जीवको अज्ञानके कारण ही जगत्का भान होता है; अतः ज्ञान होनेपर इसकी निवृत्ति हो जाती है और फिर जीव-ईश्वरका भेद मिट जाता है। यदि इस सिद्धान्तको भ्रम कहेंगे तो कहनेवाला स्वयं भ्रमरूप

हो जायगा और इससे शून्यवादका प्रसंग उपस्थित होगा। किन्तु यह वैदिकोंको अभीष्ट नहीं है। अतः ऊपर 'भ्रम न सकइ कोउ टारि' इस चरणसे जो कहा था कि अपने बुद्धि-बलसे इस भ्रमकी कोई निवृत्ति नहीं कर सकता, उसीके प्रसंगसे यहाँ श्रीशंकरजीका कथन है कि जिस ईश्वरकी कृपासे यह भ्रम दूर हो जाता है वही दयामय श्रीराम हैं। इसके आगे वे फिर कहते हैं—

आदि अंत कोउ जासु न पावा। मति अनुमानि निगम अस गावा॥
बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना॥
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेषा॥
असि सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी॥

जेहि इमि गावहिं बेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथ सुत भगतहित कोसलपति भगवान॥

इस प्रकार यहाँ स्पष्ट शब्दोंमें निर्गुण निराकार ब्रह्मके साथ भगवान् श्रीरामका अभेद प्रतिपादन किया गया है। इसके आगे श्रीमहादेवजी कहते हैं, 'उन्हींके नामके प्रभावसे हम काशीमें देह त्यागते हुए प्राणियोंको संसाररूप शोकसे पार कर देते हैं। वे ही सबके अन्तःकरणोंको प्रेरित करनेवाले हमारे स्वामी हैं। वे श्रीराम परमात्मा हैं; उनमें भ्रम हो ही नहीं सकता।' भगवान् शंकरके ये वचन सुनकर पार्वतीजीका भ्रम दूर हो गया। वे कहने लगीं—

ससि कर सम सुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी॥
तुम्ह कृपाल सबु संसउ हरेऊ। राम स्वरूप जानि मोहि परेऊ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि पार्वतीजीका प्रश्न श्रीराम-तत्त्व-विषयक संशयको लेकर था और अन्तमें श्रीशंकरजीकी कृपासे उनका वह सन्देह निवृत्त हो गया और उनका सम्पूर्ण मोह भी नष्ट हो गया। अतः श्रीरामचरितमानसका उपक्रम संशय एवं मोहकी निवृत्तिके उद्देश्यसे ही हुआ है। इसी प्रकार उत्तरकाण्डमें ग्रन्थके उपसंहारमें जो श्रीकाकभुशुण्डि और गरुडजीका संवाद है उसका उद्देश्य भी श्रीराम-तत्त्वका निरूपण ही है। वहाँ भी गरुडजीको श्रीरघुनाथजीकी भगवत्तामें सन्देह होनेपर काकभुशुण्डिजीने बड़े समारोहके साथ श्रीराम-तत्त्वका निरूपण किया है। अतः अब हम संक्षेपमें उसका वर्णन करते हैं। (अपूर्ण)

नामका रस

(लेखक—प्रिंसिपल एन० बी० बूटानी, एम० ए०)

बहुत बचपनमें ही हमलोगोंको गुरु नानकका 'जप साहब' कण्ठ करा दिया जाता था। सिन्धके अनेक परिवारोंमें यही प्रथा थी। हमें यह बतलाया जाता था कि जब हम किसी संकटमें पड़ें तो हमें 'जपजी' का पाठ करने लगना चाहिये। इससे संकट कट जायगा और कोई-न-कोई आकर हमारी रक्षा अवश्य करेगा। उसे पूरी तरह एवं शुद्ध रीतिसे कण्ठस्थ कर लेनेके बाद कई महीनेतक ऐसा कोई अवसर नहीं आया जब मुझे किसी कष्ट या संकटमें 'जप साहब' की याद करनी पड़ी हो। मैं नित्यप्रति स्नान करते समय 'जप साहब' की आवृत्ति करता था—एक नित्य नियमके रूपमें, एक धार्मिक कर्तव्य समझकर। नहाता भी जाता था और पाठ भी करता जाता था—दोनों क्रियाएँ एक साथ अपने-आप ही चलती रहती थीं। अन्तमें एक अवसर ऐसा आ ही गया जब मुझे 'जप साहब' के पाठका प्रभाव परखनेको मिला। मैं उस समय ग्यारह वर्षका था। खेलके मैदानसे रातको घर लौट रहा था। काफी देर हो चुकी थी। मेरा घर भी दूर था। चाँदनी रात थी। चारों ओर सन्नाटा था। मेरे मनमें भय हुआ, जाने किस कारण। परन्तु तुरन्त ही चित्तमें आया कि 'जप साहब' का पाठ करूँ। चित्तमें आना था कि पाठ शुरू हो गया। मैं सकुशल घर पहुँच गया। कुछ हुआ नहीं। न कोई चोर ही मिला, न किसी भूत-प्रेतने ही मुझे सताया। दूसरे दिन मैंने अपने मनका इस प्रकार समाधान किया कि पाठमें चित्त लग जानेके कारण भयकी बात मेरे मनसे हट

गयी, और कोई बात नहीं थी। हुआ भी ठीक ऐसा ही. उस समय भी मेरी बुद्धि इतनी तीक्ष्ण थी कि वह इन सब बातोंका अर्थ लगा सकती थी।

उसके बाद जीवनने एक विचित्र पलटा खाया। धर्म और धार्मिक कही जानेवाली सारी बातोंसे मेरा नाता टूट गया। बाहर-बाहरसे तो यह एक उदासीनता-का भाव था, परन्तु भीतरसे मेरे मनमें धर्मके प्रति एक मौन तिरस्कार था। जहाँ कहीं भी कोई धार्मिक बात होती. कोई धार्मिक प्रसंग छिड़ता. कोई धर्मचर्चा होती, कोई उत्सव या समारोह होता, या किसी धार्मिक पुरुषका नाम ही आ जाता, मैं चट उस स्थानसे खिसक जाता। मुझे ये बातें सुहाती ही न थीं। पूरे नौ सालके बाद मुझे वह स्थिति पुनः प्राप्त हुई, जिसे मैं अपनी वर्तमान धारणाके अनुसार मानसिक स्वस्थता-की स्थिति समझता हूँ। तब मैं सारी बातोंका निरीक्षण करने लगा। मैंने एक बार देखा कि एक ब्राह्मण देवता, जिनका मेरे गाँवहीमें नहीं, सिंधके कई स्थानोंमें बड़ा सम्मान था, बराबर अपने दाहिने हाथके अँगूठे-को उसी हाथकी अँगुलियोंपर एक ही ढंगसे फेरा करते थे। इससे मालूम होता था कि वे किसी खास प्रयोजनसे ऐसा करते थे, यदृच्छासे नहीं। मैंने एक दिन उनसे इसके बारेमें पूछा। उन्होंने बड़े प्यारसे मुझे बतलाया कि वे ओ३म्का जप करते रहते हैं और अंगुलियोंपर जपकी संख्या गिनते जाते हैं। इस बातने मेरी कल्पनाको जगा दिया। मैंने पहले कभी पढ़ा तो था कि इस शब्दका बड़ा ही गम्भीर अर्थ है, परन्तु उस अर्थको मैं समझ नहीं पाया था। फिर क्या था, मैंने स्वयं ओ३म्के जपका अभ्यास शुरू कर दिया। शुरू करते ही मुझे बड़ा लाभ हुआ। मुझे कई प्रकारकी चिन्ताएँ सताया करती थीं। इन चिन्ताओंको परास्त करनेकी जितनी भी हिकमतें मैं जानता था, उनमें समय लगाता था। मैं ऐसे समयोंमें प्रायः दौड़ने चला जाया करता अथवा अपनी रसायन-शालामें बोतलोंको सलीकेसे ठीक करने लगता या अपनी पुस्तकोंको तरतीबसे सजाने लग जाया करता था; परन्तु जपके रूपमें मुझे सारी दुश्चिन्ताओंसे मुक्त होनेका एक बहुत ही सुगम उपाय मिल गया। सबसे बड़ा चमत्कार तो एक बार हुआ, जिसे विस्तारपूर्वक लिखनेका लोभ मैं संवरण नहीं कर सकता। लगभग उन्नीस वर्षकी बात है, मुझे अपने कालेजमें अज्ञानके विषयमें कुछ बोलना था। कालेजके प्रिंसिपल उस अवसरपर प्रमुखका आसन ग्रहण करनेवाले थे, मैं उन दिनों सहकारी प्रिंसिपल था। 'अज्ञान' के विषयमें मुझे क्या कहना है, इसका साङ्गोपाङ्ग चित्र तो मेरे मनमें था; परन्तु मैं अपने वक्तव्यका उपसंहार किस तरह करूँ, यह बात मेरे ध्यानमें नहीं आयी थी। मुझे आखिरी वक्ततक यह बात सूझ नहीं रही थी। मैं चाहता था कि वह बात मेरे ध्यानमें आ जाय। भाषण शुरू होनेमें केवल पांच मिनटकी देर थी। मेरे मनमें आया कि मैं मौन होकर ओ३म्का जप शुरू कर दूँ। यही मैंने किया। आखिरकार वह बात जिसे मैं खोज रहा था, बड़ी शानके साथ मेरे दिमागमें आ गयी। तबसे मैं यह समझ गया कि भाव भी चेष्टासे जगाये जा सकते हैं। ओ३म्के जपका इस दिशामें मेरा यह पहला ही प्रयोग था और उससे पहली ही बार जो अनुभव मुझे हुआ, उसके बाद प्रायः हर बातमें मैं उसका प्रयोग करने लगा। जो लोग बुद्धिके विकासमें लगे हुए हैं, उनके सामने दर्शनकी जितनी भी गम्भीर गुत्थियाँ और जटिल पहेलियाँ आती हैं, उन्हें मैं ओ३म्का जप करके बड़ी आसानीसे सुलझा लिया करता; उस जपसे चित्तमें एक अद्भुत नीरवता छा जाती, जिसके अन्दर भाव अपने आप मेरे मस्तिष्कमें प्रादुर्भूत होने लगते।

जिसे हम कर्म कहते हैं, उसका तत्त्व क्या है ?

जीवात्माको, जिसने जगत्में इतना तूफ़ान मचा रक्खा है, भगवान्ने कैसे रचा अथवा प्रादुर्भूत किया ? चोरी-चमारी, धूर्तता, पाखण्ड और नृशंसता—इनके मूलमें क्या है ? हम हँसते क्यों हैं, मुस्कुराते क्यों हैं, और रोते क्यों हैं ? दम्भ, अभिमान और चाटुकारिताका तत्त्व क्या है ? किसी वस्तुके तहतक पहुँचनेकी जब हमारी इच्छा होती है तो वस्तु-तत्त्वसे सम्बन्ध रखनेवाली सारी गुत्थियाँ और पहेलियाँ भावोंको जागृत करनेकी इस प्रक्रियासे अनायास ही सुलझ जाती हैं, वस्तु-तत्त्वको जाननेका यह सबसे निश्चित और साथ ही सबसे सुगम मार्ग है। इसमें कोई कठिनाई नहीं होती, कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। केवल अपनेको खुला छोड़ देना पड़ता है और जीवनकी दूसरी सारी कठिनाइयों और मुसीबतोंमें, जब हम यह नहीं जान पाते कि इस विषम समस्याको सुलझानेके लिये—जिसे स्वयं हमने, हमारे मित्रों और सगे-सम्बन्धियोंने अथवा हमारे शत्रु कहे जानेवालोंने उपस्थित कर दिया है—हमें क्या करना चाहिये—वह समस्या चाहे पारिवारिक हो या अन्य कार्यक्षेत्रोंसे सम्बन्ध रखनेवाली हो—हमारा बस यही काम है कि चुपचाप एकान्तमें बैठकर ओ३म्की धुन लगा दें, ऐसी धुन लगायें कि शेष सारी बातें भूल जायँ। मैं नहीं जानता कि यह कैसे होता है, परन्तु मैं यह जानता हूँ कि क्या होता है। पहले तो कठिनाई और संघर्षका भाव मिटने लगता है, संघर्षके मिट जानेसे चित्तमें एक अपूर्व शान्ति और नीरवताका अनुभव होने लगता है और तब हमें जिन भावोंकी आवश्यकता होती है, वे भाव अपने-आप हृदयमें जाग उठते हैं। यदि किसी व्यक्तिविशेषके सम्बन्धमें कोई बात होती है तो उसके प्रति एक विचित्र सहानुभूतिका भाव उत्पन्न हो जाता है और जिन्हें हम प्रायः कुत्सित प्रवृत्ति कहकर लाञ्छित करते हैं, उनके सम्बन्धमें हम यह समझने लगते हैं कि ये उस व्यक्तिकी दुर्बलताएँ हैं, अतएव उसके लिये बन्धनरूप हैं। तब हमें उन कठिनाइयोंको सुलझानेके कई सुगम उपाय सूझने लगते हैं—इतने सुगम और स्वाभाविक कि हमें अपने ही ऊपर हँसी आने लगती है—और उनसे उन कठिनाइयोंका हमारे अनुकूल ढंगसे अन्त हो जाता है। उस समयके भावका कोई वर्णन करना भी चाहे तो कैसे करे ! उस समय चित्तमें एक अपूर्व शान्ति और सुखका अनुभव होने लगता है, ऐसा प्रतीत होता है कि मेरे ऊपरसे दायित्वका बोझ बहुत घट गया है और अहंकारका भाव, जो बहुत दृढ़ हो गया था, ढीला हो गया है। उस समय प्रसिद्ध अंग्रेज कवि ब्राउनिंगके निम्नलिखित कथनकी यथार्थताका कुछ-कुछ अनुभव होने लगता है—

ज्ञानका अर्थ है अपने हृदयका द्वार खोलकर उसके भीतर अवरुद्ध हुए प्रकाशको बाहर आनेका अवसर देना, न कि बहिःस्थित किसी प्रकाशको हृदयके भीतर लानेकी चेष्टा करना।

करीब बारह वर्ष हुए, मुझे एक नवयुवक मिला—नवयुवक क्या, वास्तवमें तो अभी वह लड़का ही था। उसे देखते ही मेरा हृदय उसके प्रति आकृष्ट हो गया। कारण, जो मुझे तुरंत मालूम हो गया, यह था कि उसकी भगवान्में अतिशय एवं यथार्थ भक्ति थी और कुछ दिन बाद तो मैं उससे ईर्ष्या करने लगा। इतनी छोटी अवस्थामें भगवान्के प्रति इतना प्रेम ! उसका नाम भी भगवान्का ही एक नाम था और मुझे यह स्वीकार करते हर्ष होता है कि केवल उस लड़केकी स्मृतिका रस लेनेके लिये ही मैं कभी-कभी उसका नाम रटने लगता। परन्तु वह तो भगवान्का ही एक नाम था। हम जितनी बातें जानते हैं अथवा जिन बातोंकी कल्पना कर सकते हैं, उनसे भी अधिक आश्चर्यकी बातें हैं और होती हैं। जब भगवान् किसीके हृदयमें आना चाहते हैं तो अपना रास्ता आप ही ढूँढ लेते हैं। हम

कैसे जानें कि वे किस राह आवेंगे ? परन्तु मुख्य बात तो उनका आना है । हमारे प्राणोंमें जिसके लिये एक हूक थी, एक कलक थी, एक अजीब व्यथा और कसक थी, वह हमारा हृदयधन हमारे हृदयमें प्रवेश करता है ! यही महत्त्वकी बात है । वे सीधी राहसे आवें या टेढ़ी-मेढ़ी पगडण्डियोंसे, यह उनकी मर्जीकी बात है । इतनी बात अवश्य है कि जितना ही विलम्ब उनके आनेमें होता है, जितने ही टेढ़े-मेढ़े रास्तेसे वे आते हैं, उतनी ही दिलचस्प बातें 'मिलन' के समय होती हैं, उतने ही मधुर उलाहने दोनों ओरसे मिलते हैं ।

जो कुछ भी हो, इतनी बात तो स्पष्ट हो गयी कि यदि भगवान्‌का नाम प्रीतिपूर्वक लिया जाय, यदि हृदय उनके प्रेमका स्पर्श पा गया है तो उनके एक नामका उच्चारण ही जादूका-सा असर कर जाता है । वह आनन्द, वह मादकता ! शिराजका हाफिज अपनी प्रणयिनीके कपोलपरके एक तिलपर समरकंद और बुखाराका राज्य लुटा देनेको तैयार था, यदि उसके बदलेमें उस प्रणयिनीके हृदयपर उसका अधिकार हो जाता ! परन्तु प्रियतम प्रभुके प्रेमियोंकी दृष्टिमें यह त्याग भी कोई चीज नहीं है । अरे उसके तो एक नामपर यह लोक और परलोक दोनों लुटा दिये जा सकते हैं । यदि हमारी सबसे बहुमूल्य वस्तु, हमारा अहंभाव, नष्ट हो जाय—और प्रभुके नामका प्रेमपूर्वक उच्चारण करनेमें निश्चित ही ऐसा होने लगता है—तो फिर इस लोक और परलोकमें ऐसी कौन-सी वस्तु है, जिसे हम न लुटा दें ? सच पूछिये तो देनेकी क्रियामें ही इतना सुख है और अपने आपको दे डालनेमें तो इतना अपार आनन्द है कि देनेकी प्रबल इच्छाको पूर्ण होनेसे कोई रोक नहीं सकता, विरमा नहीं सकता । और दानके इस उन्मादमें यदि उसे कोई ऐसा पुरुष मिल जाय तो कोई आश्चर्य नहीं, जो अपने जीवनका कोई दूसरा उपयोग न देखकर अपना विश्वप्रेम प्रकट करनेके लिये यहाँ-से-वहाँ दौड़ा फिरता हो । अद्‌भुत है यह प्रेम ! परन्तु यह आनन्द, यह मस्ती मनुष्यके हृदयमें बंद रहती है ! और हृदयके बंद कपाटको खोलनेका एकमात्र साधन है प्रेमसहित प्रभुके नामकी रटन ! गौराङ्गमहाप्रभुकी जीवनीमें ऐसा उल्लेख मिलता है कि वे महीनों अपने स्थानमें जो कोई मिलता, उसीसे कहते फिरे—नहीं-नहीं अरज करते फिरे—कि भाई भगवान्‌का नाम लो ! हरि बोल ! हरि बोल !!!

नामका रस ऐसा ही है, इस रसमें जो पग गया उसकी यही दशा हो जाती है । दुनियाकी दौलत लुटानेसे घटती है और जिसके पास वह जाती है, उसके अंदर यह इच्छा उत्पन्न कर देती है कि वह उसीके पास रहे, उसे कोई दूसरा हड़प न ले । परन्तु हृदयका खजाना जब 'नाम' के द्वारा खुलता है तो वह रक्खे नहीं रहता—उसे लुटाये बिना रहा नहीं जाता, लुटाते ही बनता है । और सबसे अनोखी बात तो यह है कि लुटानेसे वह अधिकाधिक बढ़ता है—जो जितना ही लुटा सकता है वह उतना ही धनिक है । देनेमें ही उसका रस मिलता है । फिर आप उस नाचीजको अपने पास रख ही कैसे सकते हैं, जिसके स्पर्शमात्रसे आपके हृदयका द्वार खुल पड़ा और आपके अंदर आनन्दका दरिया उमड़ पड़ा हो ! ऐसी दशामें यदि आप दूसरोंके चरणोंमें गिरकर उनकी चरणधूलिमें लोटते फिरें—इसलिये कि जो कुछ आप उन्हें दें, उसे वे स्वीकार कर लें—तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? जो भगवानका प्रेमी है और उनके नामकी रट लगाता है, उसकी मुखाकृतिका निरीक्षण करो,—खासकर उस समय जब कि उसके सामने और सम्भवतः उसीके कारण कोई दूसरा मनुष्य भगवान्‌का आश्रय ग्रहण करता है, उन्हें स्वामी अथवा प्रियतमके रूपमें वरण करता है, उनकी कृपाको ग्रहण करनेके लिये अपने हृदयकी कलीको उनके सामने खोलकर रख देता है ।

तब आपको पता लगेगा कि महाप्रभु गौराङ्ग जो भगवान्‌का नाम उच्चारण करानेके लिये आतुर रहा करते थे, वह उनका पागलपन नहीं था। वे कहा करते—'चाहे जो करो, जैसे भावे रहो, परन्तु हरिनाम न भूलो; बस इतना पर्याप्त है। इसके आगे चिन्ता करनेकी कोई बात नहीं।'

सचमुच इतना ही पर्याप्त है। जिसे 'नाम' प्राप्त हो गया, उसे अब और क्या चाहिये? रह गयी पापकी बात, सो जब हमारा अहंकार और हमारी सारी जिम्मेवारी भी प्रभुके सामने नहीं ठहरती तब फिर पापकी तो मजाल ही क्या, जो उनके सामने ठहर सके?

दूसरेको प्रभुका नाम ग्रहण करते देखकर नाम-प्रेमीको जो आनन्द होता है, वह वर्णनातीत है, खास-कर जब वह उसीकी प्रेरणासे नामका आश्रय लेता है। गुरु और शिष्यके बीच जो असाधारण घनिष्ठता और प्रीति होती है, उसके मूलमें भी सम्भवतः कुछ ऐसी ही बात रहती है। कदाचित् इसीलिये यह बात कही जाती है कि गुरु अपने चेलेको अपने पुत्रसे भी कई गुना अधिक प्यार करता है कम-से-कम चेला गुरुको जितना प्यार कर सकता है, उससे तो अधिक प्यार करता ही है।

'सुखमनी' में भगवान्‌के नामकी शक्ति तथा प्रभावके सम्बन्धमें जो कुछ भी कहा गया है, वह अक्षरशः सत्य है। एक सम्पूर्ण अष्टपदी नामकी महिमापर है और प्रत्येक पदके अन्तमें ये शब्द हैं—'भगवान्‌के नाम और उसके जपकी महिमाको पूरी तरहसे कौन कह सकता है?' नाम-जप ही सच्ची कीमिया है। जलालुद्दीन रूमीने अपनी 'मसनवी' में भगवान्‌को सम्बोधित कर ठीक ही लिखा है—

कीमिया दारी कि तबदीलश कुनी।
गर्चे जू ये खूँ बुवद नीलश कुनी॥

'तुम्हारे पास एक ऐसी कीमिया है, जिससे तुम हृदयको पलट सकते हो। यदि वह रक्तकी नदी भी हो तो तुम उसे नील नदीके प्रवाहके समान स्वच्छ बना सकते हो।'

पॉल ब्रंटनने 'मिश्रका रहस्य' नामका जो ग्रन्थ लिखा है, उसके पिछले भागमें उन्होंने कुछ मुसलमान भक्तोंका वर्णन किया है, जो मण्डलाकार बैठकर एक साथ 'अल्लाह, अल्लाह, अल्लाह' की धुन लगाते हैं और 'अल्' पर अधिक जोर देते जाते हैं। मैंने भी ऐसे भक्तोंकी टोलियाँ देखी हैं। पॉल ब्रंटनका यह वर्णन अक्षरशः सत्य है, सब लोग एक लयसे उच्चारण करते हैं और जब वाणीके साथ हृदयका भाव भी संयुक्त हो जाता है—जैसा कि आगे चलकर हो ही जाता है, यद्यपि प्रारम्भमें ऐसा नहीं होता—तब तो एक विचित्र समा बँध जाता है। एक-एक शब्दका हृदयपर ऐसा ठोस प्रभाव पड़ता है, मानो ऐरनपर घनकी चोटें पड़ रही हों। परन्तु इससे शरीरको कोई परिश्रम या कष्ट नहीं होता। एक सूक्ष्म आध्यात्मिक प्रभावकी प्रबल तरंगें उठकर हृदयको आस्फालित करती हैं। ऐसी स्थितिमें यदि उनमेंसे कुछ लोगोंका मस्तिष्क विकृत हो जाता है, हृदयमें लीन हो जाता है, वे बाह्य चेतनासे शून्य हो जाते हैं, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? उस समय उन्हें जो-जो दिव्य अनुभव प्राप्त होते हैं और जिनका वे आगे चलकर वर्णन भी करते हैं, उनसे उनका आगेका जीवन प्रभावित हो जाता है और उनकी दृष्टिमें वे अनुभव भीतर रहनेवाली वास्तविक सत्ताके स्थूल प्रतिबिम्बोंकी अपेक्षा अधिक यथार्थ होते हैं, जिन प्रतिबिम्बोंसे हमारी जाग्रत् अवस्थाका सम्बन्ध रहता है।

आध्यात्मिक शान्ति और कर्म

(लेखक—पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०, बी० टी०)

जितनी भी साधनाएँ धर्मग्रन्थोंमें बतायी गयी हैं वे सब चित्तकी बेचैनी हटानेकी साधनाएँ हैं। योग, तप, व्रत, जप, अध्यात्मविचार, सब इसीलिये किये जाते हैं कि किसी प्रकार चित्तकी बेचैनी हटे। संसारी पुरुष अनेक प्रकारकी चिन्ताओंसे पीड़ित रहते हैं और संसारसे विरत व्यक्ति बेचैनीसे। जर्मनीके तत्त्ववेत्ता शोपनहर (Schopenhauer) इस बातको स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—'Human mind swings like a pendulum between pain and ennui.' अर्थात् मनुष्यका मन सदा घड़ीके लंगरके समान मानसिक क्लेश और बेचैनीके बीच घूमा करता है। शान्तिका उपभोग करनेवाला व्यक्ति ढूँढ़े नहीं मिलता।

पिछली कुछ सदियोंसे भारतवर्षमें वैराग्य और कर्मत्यागका उपदेश होता आया है। इसलिये हमारे देशके अनेक नवयुवक समयके पूर्व ही गेरुआ वस्त्र धारण कर संन्यासी बन जाते हैं। संसार मिथ्या है, अतएव इससे छुटकारा पाना चाहिये—यह धारणा जिसकी भी प्रबल हुई वह कर्म-पथका त्यागकर निकम्मे जीवनका आश्रय ग्रहण कर लेता है।

क्या इस प्रकार संसारसे विरत होनेवाले व्यक्ति सभी आत्मशान्तिको प्राप्त करते हैं? इस प्रश्नका उत्तर गीता और योगवाशिष्ठमें भलीभाँति दिया गया है। संसारकी इन दो अलौकिक धर्म-पुस्तकोंमें जिस गम्भीरताके साथ अध्यात्मविचार किया गया है वैसा कहीं नहीं किया गया। साधारणतया धार्मिक ग्रन्थ कर्म-प्रवृत्तिकी निन्दा करते हैं। वे मनुष्यको ज्ञान-चर्चामें लगाते हैं अथवा ईश्वराराधनका उपदेश करते हैं, जिससे उसे मानसिक शान्ति प्राप्त हो। पर गीता और योगवाशिष्ठ दोनोंमें ही कर्मको कर्म-निवृत्तिका एक भारी साधन बताया गया है। हमारी सुप्त वासनाओंका निवारण कोरी ज्ञानचर्चासे नहीं हो सकता।

मनुष्यका मन एक विचित्र वस्तु है। उसका बाहरी स्वरूप कुछ और होता है और भीतरी कुछ और। संसारमें चतुर कहलानेवाले किसी व्यक्तिसे यदि आप कुछ बातचीत करें तो आप देखेंगे कि वह कितनी कुशलताके साथ आपको अपने स्वार्थ-साधनका हेतु बना लेता है।

कोई भी चतुर मनुष्य किसीसे भी बिना स्वार्थके बातचीत नहीं करेगा, पर बातचीत करते समय वह इस तरहसे आपके साथ व्यवहार करेगा मानो उसका कुछ भी स्वार्थ उन बातोंमें न हो। उसकी बातोंमें आप धार्मिकता, उदारता, देशप्रेम आदि अनेक गुण पायेंगे; पर वास्तवमें ये सब चीजें उसके लिये स्वार्थ-साधनके ही हेतु हैं। वह इस प्रकार लोगोंको धोखा देता है। हम सभी इस प्रकार एक दूसरेको धोखा दिया करते हैं।

इस प्रकार अपनी भावनाओंके विषयमें दूसरोंको धोखा देनेका कार्य तो ऐसा है जिसे हम सभी कुछ प्रयाससे जान सकते हैं। पर अपने आपको जो हम धोखा देते हैं उसको जानना अत्यन्त कठिन है। जो मनुष्य व्यवहार-ज्ञानमें बहुत चतुर होता है, वह प्रायः आत्मज्ञानसे शून्य रहता है। ग्रीसके प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता सॉक्रेटीजने इसीलिये अपनी शिक्षाका सार एक वाक्यमें कह दिया है—'Know thyself,' अपने आपको जानो। अपने आपको जानना संसारमें सबसे जटिल कार्य है। कारण यह है कि हमारी

अनेक दुर्वासनाएँ हमारे व्यक्त मनसे छिपनेका प्रयत्न करती रहती हैं। इसलिये एक ओर तो मनुष्य अपने-आपको ज्ञानी और महात्मा समझता रहता है और दूसरी ओर उसकी अतृप्त इच्छाएँ उसके व्यक्तित्वके प्रति षड्यन्त्र रचा करती हैं।

स्वामी विवेकानन्दजीने अपने उपदेशोंमें एक जगह कहा है कि एक मनुष्य, जो बुद्धिमें बहुत बढ़ा-चढ़ा है, अध्यात्मविषयमें वही एक बच्चेके समान हो सकता है। (The same man who is intellectually a giant may be spiritually a child.)

महात्मा कबीरदासजीने थोथा ज्ञान बघारनेवाले और वास्तविक ज्ञानीमें इस प्रकार भेद बताया है—

पंडित और मसालची इनकी नाहीं रीत।
औरन को करै चाँदनो आप अँधेरे बीच॥

अर्थात् ज्ञान-चर्चा करते रहनेपर भी मनुष्य ज्ञान-शून्य रह सकता है। देखा जाता है कि अध्यात्म-विद्या भी रोजी कमानेके लिये पढ़ी जाती है और तत्त्वज्ञान कहलानेवाली पुस्तकें भी धनी बननेकी इच्छासे लिखी जाती हैं।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारा व्यक्त मन कुछ और है और अव्यक्त कुछ और। जो मनुष्य अपने व्यक्त मनके अनुसार ही काम करता है वह मानसिक क्लेश तथा आन्तरिक बेचैनीका शिकार बन जाता है। क्षणिक वैराग्यसे कोई-कोई लोग ऐसा काम कर बैठते हैं जिससे वे सदाके लिये अपना जीवन अशान्तिमय बना लेते हैं।

अर्जुनने जिस समय देखा कि उसे राज्य प्राप्त करनेके लिये कितने भयंकर काम करने पड़ेंगे, तो उसका हृदय काँप उठा। उसका चित्त विक्षिप्त-सा हो गया। उसे संसार दुःखमय प्रतीत होने लगा। अतएव वह राज्यके सुखको त्यागकर वनवासी होनेको तैयार हो गया। पर श्रीकृष्णने उसे अपने बन्धुओं, गुरुओं एवं पितामह आदिको मारनेका ही आदेश दिया। आजकलके कुछ अहिंसावादी समाजसुधारक सोचते हैं कि यह कोई ऐतिहासिक घटना नहीं है। यह तो एक रूपकके ढंगपर अध्यात्मस्थितिका वर्णन-मात्र है। कुछ दूसरे लोग श्रीकृष्णको एक धूर्त व्यक्ति समझते हैं, जिसने कौरव और पाण्डवोंको आपसमें लड़ाकर दोनोंका नाश करा डाला।

वास्तवमें श्रीकृष्णका गीता-उपदेश एक ऐतिहासिक घटना है और श्रीकृष्णका जीवन एक महान् योगी एवं ज्ञानीका जीवन था। यदि हिन्दू-धर्ममें कोई अद्वितीय बात है तो वह श्रीकृष्णका जीवन और उनके उपदेश ही हैं। श्रीकृष्णके जैसे उपदेश थे वैसा ही उनका जीवन भी था। वे संसारके कार्योंमें विषय-भोगकी इच्छासे प्रवृत्त नहीं होते थे वरं स्वभावसे ही उनके द्वारा लीलावत् समस्त सांसारिक व्यवहार होते थे। तीसरे अध्यायमें उन्होंने स्वयं कहा है—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥

पाँचवें अध्यायमें वे फिर कहते हैं—

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥

अर्थात् योगीलोग आत्मशुद्धिके लिये ही कर्म करते हैं।

हमारे अव्यक्त मनके भीतर अनेक वासनाएँ रहती हैं, यही वासनाएँ हमारे शरीर-निर्माणका कारण हैं। इन्हींसे हमारा स्वभाव बनता है। मनुष्यको चाहिये कि वह अपने स्वभावको पहचाने और उसके अनुसार अपने कर्तव्यका निश्चय करे। अर्जुनने क्षत्रिय घरानेमें जन्म लिया था, अतएव युद्धमें प्रवृत्त होना, अपने

अधिकारके लिये लड़ना उसका सहज स्वभाव था। वह इस स्वभावको त्यागकर सुखी नहीं हो सकता था। जो संग्राम उसके सामने उपस्थित था उसकी जड़ उसके स्वभावमें ही थी। यदि वह अपने अव्यक्त मनकी भावनाओंको जान सकता तो वह अवश्य देखता कि वह संग्राम उसकी इच्छासे ही पैदा हुआ है। संसारकी प्रत्येक परिस्थितिकी जड़ हमारे स्वभावमें ही है। श्रीकृष्ण भगवान्‌ने इसी बातको स्पष्ट कर दिया। ग्यारहवें अध्यायमें जो विराट् पुरुषका दर्शन कराया गया है वह वास्तवमें अर्जुनके अपने अव्यक्त मनका निदर्शन है। व्यक्त मन एवं अहंकारी प्रमाता इस अव्यक्त मनके सामने तुच्छ हैं। कोई भी व्यक्ति अपने स्वभावके प्रतिकूल नहीं चल सकता।

चित्तकी बेचैनी इसलिये होती है कि हम अपने स्वभावको नहीं पहचानते और उसके प्रतिकूल आचरण करनेकी चेष्टा करते हैं। जिसे धन कमानेकी इच्छा है वह ज्ञानोपदेशक बन जाता है; जिसके स्वभावमें रजोगुणकी प्रधानता है, जो सहजहीमें क्रोधित हो जाता है, वह शान्तचित्त महात्मा होनेका पाखण्ड रचता है और जिसे संसारी वैभवकी आन्तरिक इच्छा है वह संन्यासी बन जाता है। भारतवर्षका पतन यहाँकी अध्यात्मविद्याके लोप होनेके कारण ही हुआ। यहाँ झूठे संन्यासी और कर्मत्यागी पुरुष अनेक हो गये। कर्मपथको छोड़ देनेसे भारतीय दूसरी जातियोंके दास बन गये। इससे न तो आन्तरिक शान्ति ही प्राप्त हुई और न संसारी सुख लाभ हुआ।

स्वभावके अनुसार हर एक मनुष्यको कर्म करना चाहिये, यह श्रीकृष्ण और श्रीराम दोनोंके जीवन हमें सिखाते हैं। गीता और योगवाशिष्ठमें भी यही उपदेश किया गया है। आन्तरिक शान्ति न कोरा ज्ञान दे सकता है और न केवल कर्म। कर्म-ज्ञानका सदा साथ रहना चाहिये।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः॥
सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभय सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते॥
—ईश

खोज

[गद्य-गीत]

(लेखक—श्रीजमनादासजी 'अरोड़ा')

गायक! जब तेरी वीणापर नाचती हुई उँगलियोंसे निकली हुई स्वर-लहरीपर तैरते हुए तेरे गान आकर मेरे कानोंके पर्दोंसे टकराते हैं, तब मैं उनकी मादकतासे सब कुछ भूल जाता हूँ, बेसुध हो जाता हूँ। हृदय वीणाके स्वरमें स्वर मिलानेको पागल हो उठता है; लेकिन जब मैं गानेका प्रयास करता हूँ तो स्वर भंग हो जाता है और वीणाके स्वर दूर, बहुत दूर, अनन्तके पथपर चले जाते हैं।

मैं अपनी जीवन-सन्ध्याके धूमिल प्रकाशमें श्रोत्रेन्द्रियके वशीभूत होकर, उन्मत्त-सा, तुझे खोजने चल पड़ता हूँ। बड़े-बड़े महल और अट्टालिकाओंके गर्वोन्मत्त शिखरोंसे पूछता हूँ—"क्या तुमने उसे सुना है? क्या तुमने उसे देखा है?" दर्शक मुझे पागल कहते हैं, लेकिन मैं उन्हें कैसे समझाऊँ कि मैं उस अज्ञातको ढूँढ रहा हूँ जिसे मैंने कभी नहीं देखा।

अज्ञात! जब मैं तुझे ढूँढता-ढूँढता व्याकुल हो जाता हूँ, थक जाता हूँ, और जब मैं शहरसे बहुत दूर, आत्मविस्मृत-सा, उसी दीनावेशमें, कृषक-बालाओंके करुण क्रन्दन और दीन-हीन, दलित-दण्डितोंके बीचमें पहुँच जाता हूँ, तब तेरी उस स्वर-लहरीको, तेरे गानको उनके रोदन और पुकारमें सुनता हूँ। उस समय मैं हृदय थामकर बैठ जाता हूँ और तुम्हारी 'खोज' में स्वयंको खो देता हूँ। ॐ

आधुनिक विज्ञान और हिन्दू-धर्म

(लेखक—श्रीशचीन्द्रनाथ सान्याल)

हमारे योगदर्शन और आधुनिक विज्ञानमें जो सम्बन्ध है, उसे यदि हम जाननेकी चेष्टा करेंगे तो योग एवं विज्ञान इन दोनोंके बारेमें ही हमारा ज्ञान बहुत कुछ बढ़ सकता है। अपनेको मार्क्सिस्ट कहनेवाले व्यक्ति एवं जड़वादी पाश्चात्य सभ्यताके अनुयायीगण भारतीय योगदर्शनकी हँसी उड़ाया करते हैं। वे यह समझते हैं कि योगदर्शनके जो दावे हैं वे सब अतीत युगके कुसंस्काराच्छन्न घोर अज्ञानके द्योतक हैं। आधुनिक युगमें जङ्गलोंमें रहनेवाले नग्न एवं अर्धनग्न मनुष्योंके आचार-व्यवहारको देखते हुए पश्चिमीय सभ्यताके अनुयायीगण अपने पाण्डित्यके अभिमानमें मदमत्त होकर ऐसा समझने लगे हैं कि भारतीय योगकी क्रिया इत्यादि उन जङ्गली नग्न एवं अर्धनग्न मनुष्योंके आचार-व्यवहारकी तरह घोर अज्ञानमूलक एवं धोखेके आधारस्वरूप जादू-विद्याकी भाँति निराधार हैं।

यथार्थमें बात यह है कि आधुनिक विज्ञानके करिश्मे सबकी आँखोंके सामने हैं। हजारों मीलकी दूरीपर बैठे हुए चाहे जिस व्यक्तिका सङ्गीत हम घर बैठे सुन सकते हैं। घंटेमें ३०० मीलकी तेज़ीपर आकाशमार्गसे हम उड़ सकते हैं। लंदनके परीक्षागारमें बैठकर दियासलाई जलानेपर सुदूर अमेरिकाकी प्रदर्शिनीमें हजारों बत्तियाँ एक साथ जल उठती हैं। समुद्रके तल-देशमें हम जहाजको ले जा सकते हैं और उसके कमरेमें बैठे-बैठे पानीके ऊपर जो कुछ कार्यवाही होती है उसे देख सकते हैं। क्षणभरके अवकाशमें पृथ्वीके एक कोनेसे दूसरे कोनेको तारकी सहायता विना लिये ही आकाश-मार्गसे यों ही संवाद भेज सकते हैं। इन सब अद्भुत एवं आश्चर्यप्रद करिश्मोंको देखकर स्वतः ही यह भावना हृदयमें आती है कि योगकी बातें तो केवल कुछ विशेष व्यक्तियोंके मुखसे ही सुननेमें आयी हैं, विज्ञानकी बातें तो सबकी आँखों-के सामने उपस्थित हैं। ऐसी अवस्थामें विज्ञानकी तुलनामें योगकी बातोंपर किसीका भी भरोसा कैसे हो सकता है?

योग और विज्ञानमें सबसे भारी अन्तर यह है कि योगका ध्येय अतीन्द्रिय बातोंको जानना है और विज्ञानका ध्येय इन्द्रियग्राह्य वस्तुओंको जानना है। यह बात भी सत्य है कि अतीन्द्रिय विषयोंको जान लेनेसे इन्द्रियग्राह्य विषयोंको भी हम जान लेते हैं, एवं योगानुभूतिकी सहायतासे इन्द्रियग्राह्य एवं इन्द्रियातीत दोनों विषयोंको जान लेना सम्भव और सहज है। तथापि योगदर्शनका प्रधान उद्देश्य आत्मदर्शन करना है, इस कारण योगके करिश्मे जनसाधारणके सम्मुख अनायास उपस्थित नहीं किये जा सकते। योगीका ध्यान पार्थिव वस्तुओंकी ओर नहीं रहता। योगी पुरुष संसारके सामने आकर अपनी करामात दिखलाना नहीं चाहता। कारण, उसका ध्येय आत्मदर्शन करना है, न कि करामात दिखाना। आत्मदर्शन करनेके साधनका मार्ग एक विशिष्ट दार्शनिक मतवादके साथ ओतप्रोतरूपमें सम्बन्धित है। इन सब कारणोंसे योगीजन लोकचक्षुके सामने आना पसंद नहीं करते। लेकिन यदि कोई व्यक्ति यथार्थरूपमें जिज्ञासु बनकर इन योगियोंके पास जाता है तो योगीजन भी उसे यथार्थ मार्ग दिखलाना अपना परम कर्तव्य समझते हैं।

वैज्ञानिक विचारप्रणालीका मूल तत्त्व यह है कि विना परीक्षा किये हम किसी बातको न स्वीकार कर सकते हैं और न अस्वीकार ही कर सकते हैं। विना परीक्षा किये किसी बातको स्वीकार करना अथवा अस्वीकार करना अवैज्ञानिक मनोभावका परिचय देना है। जो लोग योगकी बातोंपर आक्षेप करते हैं उनको उचित है कि वे योगकी बातोंको लेकर परीक्षा करें। विना परीक्षा किये आक्षेप करना कूपमण्डूकता-का परिचय देना है। स्वामी विवेकानन्दने अमेरिकाके विद्वज्जनोंके सम्मुख प्रतिस्पर्धाके साथ ललकारकर यह कहा था कि योगकी बातोंपर विश्वास करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। ईश्वरको कोई माने या न माने, योगके सिद्धान्तोंको कोई स्वीकार करे या न करे, विश्वास करने या न करनेसे कुछ विशेष आता-जाता नहीं; योगका दावा है कि योगके मार्गपर चलनेसे अपने-आप सबको प्रतीत हो जायगा कि योगकी बातें सत्य हैं अथवा निराधार। हमारे परम सौभाग्यसे आज भी हमारे देशमें ऐसे योगीपुरुष वर्तमान हैं जो योगमें कही हुई बातोंकी सत्यताका प्रमाण दे सकते हैं।

युक्तिके मार्गसे जो व्यक्ति योगकी बातोंका खण्डन करना चाहता है उसे यह स्मरण रखना आवश्यक है कि युक्ति एवं अभिज्ञता, ये दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। अभिज्ञतासे जो वस्तु

पायी जाती है उसे युक्तिद्वारा खण्डन करना बातुलतामात्र है। अटलांटिक महासागरपरसे जहाज चलानेके पूर्व बड़े-बड़े गणितशास्त्रके पण्डितोंने आँकड़े लगाकर यह बताया था कि समुद्रकी उत्ताल तरंगोंके प्रतिरोध एवं आकाशस्थ वायुमण्डलकी अनुकूलता-प्रतिकूलताके कारण किसी जहाजके लिये यह सम्भव नहीं है कि वह अटलांटिक महासागर पार कर सके। (देखिये—'Europe since 1815' by C. D. Hazen, p. 57) आधुनिक विज्ञानसे भी एक दृष्टान्तको लीजिये। प्रकाशके स्वरूपको जाननेके लिये बहुत प्रयत्न हो चुके हैं। वैज्ञानिक अनुसन्धानके परिणामस्वरूप आज यह साबित हो रहा है कि प्रकाशका रूप तरंगवत् है एवं दूसरे प्रमाणोंसे यह भी सिद्ध हो रहा है कि प्रकाशका फैलना बंदूकसे गोली निकलनेकी भाँति असंख्य पृथक्-पृथक् वैद्युतिक कणिकाओंका प्रचण्ड वेगसे प्रधावित होना है। एक ही वस्तुका एक ही समयमें तरंगवत् विस्तारित होना एवं असंख्य कणिकाओंके रूपमें महावेगसे सरल रेखामें चलना, ये दोनों बातें युक्तिसे कदापि सिद्ध नहीं हो सकतीं। लेकिन परीक्षागारमें ये दोनों बातें तुल्यरूपसे सत्य प्रमाणित हुई हैं। इन्हें अंगरेजीमें Corpuscular Theory of Light and Wave Theory of Light कहते हैं। केवल युक्तिकी सहायतासे किसी सिद्धान्तको न हम प्रतिष्ठित ही कर सकते हैं और न खण्डित ही कर सकते हैं। आधुनिक विज्ञानकी उन्नतिके मूलमें यही निगूढ़ तत्त्व निहित है कि बिना परीक्षा किये किसी बातको स्वीकार नहीं करना चाहिये। युक्ति तो परीक्षा करनेका साधनमात्र है। युक्ति हमें रास्ता नहीं दिखला सकती। परीक्षाका अर्थ है प्रत्यक्ष कर लेना, अनुभव कर लेना। हिप्नॉटिज्म अर्थात् वशीकरण-विद्याको पश्चिम देशवासी पहले-पहल अवज्ञाकी दृष्टिसे देखते थे। लेकिन जब एक डाक्टरने साहसपूर्वक परीक्षा की एवं परीक्षाके अनन्तर वह उससे भी अधिक साहसके साथ उस विद्याका प्रचार करने लगा, तब कहीं बहुत दिनोंके प्रचारके बाद आज यूरोप और अमेरिकामें हिप्नॉटिज्म अर्थात् वशीकरण-विद्याको विज्ञानके स्थानपर आसन दिया जाने लगा है। यूरोप और अमेरिकाकी देखा-देखी हमारे देशके भी पाश्चात्य शिक्षाके अभिमानी व्यक्ति हिप्नॉटिज्म अर्थात् वशीकरण-विद्यापर विश्वास करने लगे हैं। तथापि आज भी इस विषयमें जितनी खोज करनेकी आवश्यकता है उसकी तुलनामें कुछ भी काम नहीं हो रहा है।

आधुनिक युगके शिक्षितजन ऐसा आक्षेप करते हैं कि योगविद्या अतीन्द्रिय विषयोंको लेकर जिस प्रकारसे आलोचना करती है उसके साथ ज्ञानका कोई सम्बन्ध नहीं है। कारण, जिस बातको हम व्यक्त नहीं कर सकते, जिस ज्ञानको हम दूसरेके सामने नहीं रख सकते, जिस विद्याको हम दूसरेको दान नहीं कर सकते, वह विद्या, वह ज्ञान, कुछ धोखेकी बात-सी हो जाती है! सम्भव है योगीजन भ्रमसे स्वप्नवत् अयथार्थ ज्ञानको यथार्थ ज्ञान समझ बैठे हों! समाधिकी सहायतासे जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे हमारे देशके भी आधुनिक शिक्षितजन स्वप्नवत् मिथ्या समझते हैं एवं विरोधी पक्षकी बातें सुनकर अपनी राय कायम कर लेते हैं।

योगियोंका कहना है कि योगकी विभूतियोंकी आवश्यकता इसलिये होती है कि उनकी सहायतासे यह प्रत्यक्ष देख लिया जाय कि जीवात्मा जीवशरीरसे भिन्न वस्तु है। इन विभूतियोंकी सहायतासे साधक श्रद्धावान् बनता है एवं और भी तीव्र उत्साहके साथ अपने साधनमें जुट जाता है। योगकी विभूतियाँ ऐसी वस्तु नहीं हैं जो दूसरोंको न दिखलायी जा सकें। समाधिमें प्राप्त ज्ञान भी ऐसा अव्यवहार्य पदार्थ नहीं है जिसके साथ जीवनका कोई सम्बन्ध न हो। इन्द्रियातीत ज्ञानका अर्थ यह नहीं है कि वह इन्द्रियग्राह्य ज्ञानका विरोधी होता है। एक दूसरेका परिपूरक है, प्रतिकूल नहीं है। मनःशक्तिकी खोज करनेवाले विचक्षण पण्डितगण आज पाश्चात्य देशमें भी इस बातको स्वीकार करने लगे हैं कि इन्द्रियोंकी सहायता न लेकर भी मनुष्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है। (देखिये 'Extrasensory Perceptions', 'New Frontiers of the Mind,' etc. by Dr. Rhine and 'Mental Radio' by Upton Sinclair, 'Man the Unknown' by Dr. Alexis Carrel, 'Psychical Research' by Barrett इत्यादि ग्रन्थ)।

कुछ अनुभूतियाँ ऐसी भी होती हैं जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता। बल्कि यह कहना और अधिक सत्य है कि किसी भी अनुभूतिको भाषाकी सहायतासे व्यक्त नहीं किया जा सकता। गुड़का आस्वादन करके हम दूसरेको नहीं समझा सकते कि गुड़का स्वाद कैसा होता है। दूसरोंको गुड़ चखाकर ही हम बता सकते हैं कि गुड़का स्वाद कैसा है। मीठा, कडुआ इत्यादि शब्दोंमें भावोंको हम तभी ग्रहण कर सकते हैं जब हम उन भावोंको

अपनी अनुभूतिमें लावें। जिस व्यक्तिने जीवनमें कभी किसी मीठी वस्तुका स्वाद न लिया हो उसे कोई कैसे समझावे कि मीठा क्या वस्तु है ? जो व्यक्ति जन्मसे अंधा है उसे कोई कैसे समझावे कि प्रकाश क्या वस्तु है ? इसी प्रकार योगियों-के अनुभूतिगम्य ज्ञानको दूसरोंको बोधगम्य कैसे कराया जा सकता है, जबतक कि दूसरे भी उसी समाधि-अवस्थामें प्राप्त ज्ञानको अपनी अनुभूतिमें न लावें ? एक दृष्टान्त ले लीजिये— योगियोंका कहना है कि शब्दकी चार अवस्थाएँ होती हैं। उसकी चतुर्थ अवस्थामें ही व्यावहारिक जगत्में काम चलता है। इस व्यावहारिक शब्दको योगकी भाषामें 'वैखरी शब्द' कहा जाता है। यह योगकी दृष्टि, जिसकी सहायतासे हम शब्दकी तीन और अव्यक्त अवस्थाओंकी अनुभूति प्राप्त करते हैं, वैज्ञानिक रीतिसे कैसे मिथ्या प्रमाणित हो सकती है ? जिस व्यक्तिने उस दृष्टिको प्राप्त नहीं किया है उसे हम कैसे समझा सकते हैं कि यह दृष्टि यथार्थ है ? प्रसङ्गतः यह भी उल्लेख करना लाभदायक होगा कि आज इस बीसवीं शताब्दीमें भी, विज्ञानकी अप्रत्याशित उन्नति होनेपर भी, भाषागत शब्दकी उत्पत्तिके बारेमें कहने लायक कुछ भी खोज नहीं हुई है। शब्दकी उत्पत्तिके बारेमें तन्त्रशास्त्रमें एवं मन्त्र-शक्तिकी आलोचनाके प्रसङ्गमें योगकी दृष्टिसे जितनी चर्चा हुई है, उसको समझनेकी भी शक्ति किसी आधुनिक विद्याभिमानी भारतवासी-की नहीं है। अतः आधुनिक विज्ञानकी रीतिसे भाषागत शब्दकी उत्पत्तिके बारेमें यथेष्ट अनुसन्धान करना अवसर-प्राप्त है।

वैज्ञानिक रीतिसे किसी बातकी आलोचना करनेके पूर्व यह परमावश्यक होता है कि जिन घटनाओंके आधारपर अनुसन्धानका कार्य प्रारम्भ करना हो, उन घटनाओंका संग्रह कर लिया जाय। अब प्रश्न यह होता है कि इन घटनाओंका संग्रह कैसे किया जाय Telepathy अर्थात् दूसरेके मनकी बातोंको बिना पूछे अथवा देश-देशान्तर-में रहते हुए भी जान लेना, अथवा बिना शब्द उच्चारण किये, इन्द्रियोंकी सहायता न लेते हुए, दूसरेको अपनी बात बता देना एक घटना है या नहीं ? यदि यह भी एक यथार्थ घटना है तो फिर दूसरा प्रश्न यह उठता है कि किस रीतिसे, किस कारण, कैसे ऐसा सम्भव होता है। Maurice Maeterlink, Alexis Carrel इत्यादि आधुनिक शिक्षा प्राप्त किये हुए वैज्ञानिक एवं चिन्तनशील महानुभावगण Telepathy रूप घटनाके अस्तित्वको मुक्तकण्ठसे स्वीकार करते हैं। [देखिये 'The Unknown Guest' by Maurice Maeterlink and 'Man The Unknown', etc. by Alexis Carrel] इसी प्रकार सर्वप्रथम हमें यह जान लेना है कि योगदर्शनमें बतायी हुई घटनाओंका अस्तित्व है या नहीं ? यदि है तो फिर यह प्रश्न उठेगा कि कैसे वे सब घटनाएँ घटती हैं। योगियोंके पास न जाकर, योगियोंसे उनकी बातें समझनेकी चेष्टा न करके कैसे हम अनायास ही पाश्चात्य शिक्षाभिमानी विद्वज्जनोंकी तरह योगकी बातोंको कुसंस्कार एवं अलीक कहकर उड़ा दे सकते हैं ? ऐसा करना अपनी कूपमण्डूकताका परिचय देना होगा।

हिन्दूधर्मकी मर्मकथा यह है कि प्रत्यक्ष किये बिना किसी बातको स्वीकार करनेसे धर्म-साधन अधूरा होता है। केवल कुछ सिद्धान्तोंको जबानी स्वीकार करना ही धर्माचरण नहीं है। साध्य, साधन और साधक, अथवा भगवान्, भक्ति, और भक्त, इनके परस्पर सम्बन्ध इतने ओतप्रोत और घनिष्ठ हैं कि एकको छोड़कर दूसरेका अस्तित्व सम्भव नहीं है। और-और साधनोंके साथ योग-साधन भी एक प्रकृष्ट उपाय है, जिसकी सहायतासे साध्य वस्तुको हम निश्चय रूपमें प्राप्त कर सकते हैं। भारतीय धर्म क्रियाके आधारपर प्रतिष्ठित है। क्रियाविहीन होकर धर्माचरण सम्भव नहीं है। जैसे परीक्षाके मार्गसे ही वैज्ञानिक सिद्धान्तोंकी प्रतिष्ठा होती है, वैसे ही आत्मानुभूतिकी सहायतासे ही धार्मिक सिद्धान्तोंकी भी प्रतिष्ठा होती है। योगका मार्ग आत्मानुभूति करनेका एक श्रेष्ठ मार्ग है। आत्मानुभूति करना और प्रत्यक्ष करना एक ही बात है।

योगदर्शनका मूल तत्त्व यह है कि एकाग्र मनःशक्तिकी सहायतासे एवं यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि साधन और क्रियाओंसे व्यक्ति अपनी क्रमोन्नतिको असम्भावनीय रूपमें आगे बढ़ा सकता है। मनुष्योंकी इन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्त करनेके साधन हैं। हमारी इन्द्रियोंकी शक्ति सीमित है, इस कारण हमारा ज्ञान भी बहुत संकीर्ण एवं अपूर्ण है। वैज्ञानिक जगत्में यन्त्रोंके आविष्कारसे हम अपनी इन्द्रियोंकी शक्तिको अभावनीय रूपमें बढ़ा लेते हैं। इस प्रकार मनुष्योंको यन्त्रोंका व्यवहार करनेकी शक्ति खूब प्राप्त हो जाती है। एवं बाह्य प्रकृतिपर हम बहुत प्रभुत्व करने लगते हैं। लेकिन मनुष्य इस प्रकारसे अपनी प्रकृतिपर विशेष प्रभुत्व नहीं कर पाता। योग साधनसे मनुष्य अपनी प्रकृतिपर भी प्रभुत्व स्थापित कर लेता है और बाह्य प्रकृतिपर भी। योगसाधनकी सहायतासे मनुष्य अपनी इन्द्रियोंकी शक्तिको सर्वथा रूपान्तरित कर लेता है। अपने

व्यक्तित्वको रूपान्तरित करके विश्व संसारको भी मनुष्य अनिर्वचनीय रूपमें देख पाता है। योगसाधनके परिणाम-स्वरूप मनुष्यकी जैविक क्रमोन्नति (Biological evolution) बहुत शीघ्र सम्पन्न होती है। साधारण प्राकृतिक नियमोंके अनुसार भी जीवोंकी क्रमोन्नति हो रही है। इसका क्रम इतना धीमा है कि सहस्र वत्सरोंमें भी उन्नतिका परिमाण पकड़ा नहीं जा सकता। लेकिन योगसाधनकी सहायतासे इस उन्नतिके क्रमको हम इतना तीव्र कर सकते हैं कि शत-सहस्र वत्सरोंका काम हम दस-बीस सालमें ही कर ले सकते हैं। इन बातोंका सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि योगके मार्गका अवलम्बन करके कोई भी मनुष्य इन सब बातोंकी परीक्षा कर सकता है। योगकी सहायतासे कोई भी व्यक्ति अपनी प्रकृतिको रूपान्तरित कर सकता है। लेकिन दूसरे व्यक्तिको इससे अधिक लाभ नहीं हो सकता, सिवा इसके कि वह एक ज्वलन्त दृष्टान्त अपने सामने देखता है। लेकिन यन्त्रोंके आविष्कारसे सभी मनुष्योंको समानरूपसे लाभ होता है। इसका कारण यह है कि पदार्थ-विज्ञानका लक्ष्य है बाह्य प्रकृतिको जानना, और योगका लक्ष्य है अन्तःप्रकृतिको जानना। लेकिन अन्तःप्रकृतिको जाननेसे बाह्य प्रकृतिको भी जाननेकी शक्ति प्राप्त की जा सकती है। अवश्य ही इस शक्तिको व्यवहारमें लाना या न लाना व्यक्तिके स्वभावपर निर्भर करता है।

भारतीय धर्म एकाधारमें दर्शन एवं विज्ञान है। पाश्चात्य समाजमें साधारणरूपसे दर्शन, विज्ञान एवं धर्ममें विशेष अन्तर है। कारण, उन देशोंमें दार्शनिक सिद्धान्तोंको व्यावहारिक रूपमें लानेकी चेष्टा नहीं हुई है। और वहाँकी धार्मिक भावना कुछ निर्दिष्ट वाक्योंपर ही प्रतिष्ठित होनेके कारण उन देशोंमें विज्ञान, धर्म एवं दर्शनशास्त्रमें बहुत पार्थक्य हो गया है। भारतवर्षके लिये ये बातें लागू नहीं हैं। भारतीय सिद्धान्तके अनुसार यदि दार्शनिक सिद्धान्तोंका व्यावहारिक रूप न होता तो उनका कोई मूल्य नहीं समझा जाता। इसलिये भारतवर्षमें लक्ष्य, साधन और साधक, ये तीन एक दूसरेके साथ ऐसे बँधे हुए हैं जैसे उँगलियाँ हाथके साथ बँधी हुई हैं। योगके साधनके लिये भी इस नियमका व्यतिक्रम नहीं है।

आधुनिक मनोविज्ञानकी द्रुत उन्नतिके कारण आज वैज्ञानिकोंको प्रतीत होने लगा है कि मनुष्योंमें इतनी छिपी हुई शक्तियाँ हैं जिनके प्रयोगके बारेमें हम अभी कुछ भी नहीं जानते। इतना अवश्य समझा जाने लगा है कि एकाग्र मनकी शक्ति प्रबल है। वैज्ञानिक आविष्कारके मूलमें भी एकाग्र मनःशक्ति ही काम देती है। सर्वोपरि इस बातमें कोई सन्देह नहीं कि प्रकृतिके रहस्यका उद्घाटन करनेमें एकाग्र मनःशक्तिको छोड़कर और कोई साधन ही नहीं है। योगका रहस्य भी मनःशक्तिको एकान्त रूपमें एकाग्र करनेकी प्रक्रियामें निहित है। वैज्ञानिकगण भी मनःशक्तिको एकाग्र करते हैं, लेकिन उस एकाग्र करनेकी प्रक्रियाको वे नहीं जानते। आइन्स्टाइन, प्लांक इत्यादि बड़े-बड़े धुरन्धर वैज्ञानिकोंने इस बातको मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया है कि वैज्ञानिक खोजके मूलमें एकाग्र मनः-शक्ति ही फलवती है।

अन्तमें और दो बातें कह देना आवश्यक है। एक तो यह कि किसी बातको सुन लेना उसे जानना नहीं है। जाननेमें अर्थात् प्रत्यक्ष करनेमें और किसी बातको सुन लेने या समझ लेनेमें बहुत अन्तर है। Psycho-analysis की प्रक्रियामें यह देखा गया है कि किसी बातको सुन लेनेसे ही दबी हुई भावनाओंका प्रभाव विलीन नहीं होता। एक दृष्टान्तको ले लीजिये। एक नवविवाहिता युवती हलुआ बना रही थी। इतनेमें अपने प्रवासी पतिको सामने आते देखकर क्षणभरके लिये उस युवतीका मन चञ्चल हो उठा। इस अन्यमनस्कताके कारण हलुआ जल गया। कुछ मुहूर्तके बाद ही युवतीने अपनी अवस्थाको जान लिया। लेकिन इस घटनाके बादसे जले हुए हलुएकी बू उसकी नाकसे गयी नहीं। बहुत चिकित्सा हुई, लेकिन कुछ उपकार नहीं हुआ। भारतकी सामाजिक रीति-नीतिके अनुसार वह युवती अन्य घरवालोंके सामने अपने पतिके प्रति आकृष्ट होनेके कारण लज्जित हो गयी थी। लेकिन युवतीको पता न था कि इस लज्जाके मुहूर्तमें हलुआ जल गया था। और इसीलिये मानसिक कारणोंसे उसकी नाकसे जले हुए हलुएकी बू गयी नहीं। यदि उस युवतीको केवल इतना ही बता दिया जाता कि अपने पतिको किसी घड़ीमें अचानक देखनेके कारण कुछ क्षणके लिये वह आकृष्ट हुई थी तो उसका रोग दूर नहीं होता। Psycho-analysis का कहना है कि प्रश्नके बाद प्रश्नकी सहायतासे उस युवतीको उस मुहूर्तमें ले जाना है जिस मुहूर्तमें उस युवतीने अपने पतिको देखकर लज्जाका अनुभव किया था। उस अनुभूतिकी पुनरावृत्ति कराना है, तभी उसका रोग दूर हो सकता है। केवल उस घटनाके कह देनेसे ही काम नहीं

चलेगा। सुनने और जाननेमें यह अन्तर है। अर्थात् अनुभूतिमें प्राप्त ज्ञान ही प्रकृत ज्ञान है। योगके मार्गसे हम अनुभूतिलब्ध ज्ञानको प्राप्त होते हैं।

उपर्युक्त दृष्टान्त निराधार नहीं है, इस प्रकारके रोगोंकी चिकित्सा Psycho-analysis की प्रक्रियाके अनुसार की जाती है।

दूसरी बात यह है कि योगके मार्गसे मनुष्योंकी यथार्थ जीव-विज्ञानकी दृष्टिसे अभूतपूर्व क्रमोन्नति होती है। मनुष्योंमें स्वभावसे ही जो गुण विद्यमान हैं, कुछ व्यक्त एवं बहुत कुछ अव्यक्त अवस्थामें जो शक्तियाँ छिपी हुई हैं, योगकी प्रक्रियाके बलसे वे शक्तियाँ परिस्फुट होती हैं। उदाहरणरूप यह बताया जा सकता है कि इन्द्रियोंकी सहायता न लेकर किसी वस्तुको देखना या जानना वैसा ही स्वाभाविक है जैसा आँख खोलकर इन्द्रियोंकी सहायतासे किसी वस्तुको देखना या जानना है। अमेरिकाके 'ड्यूक' विश्वविद्यालयमें तथा इंग्लैंड, फ्रांस आदि देशोंमें भी Psychical Research Society की देख-रेखमें मानसिक शक्तिके बारेमें बहुत खोज हो रही है। जगत्प्रसिद्ध वैज्ञानिकगण इन सब परीक्षाओंमें वैज्ञानिक रीतिसे भाग ले रहे हैं। उन सब परीक्षाओंके फल वैज्ञानिक पत्रिकाओंमें प्रकाशित होते रहते हैं। जो व्यक्ति इन सब पत्रिकाओंसे परिचित हैं वे मेरी इस बातको स्वीकार करेंगे कि मनुष्योंमें स्वभावसे ही ऐसी शक्तियाँ मौजूद हैं जिन्हें साधारण व्यक्ति अलौकिक अर्थात् असंभव समझते हैं। योग वह वैज्ञानिक मार्ग है जिसकी सहायतासे मनुष्य अपने शरीर और मनके ऊपर पूर्ण प्रभुत्व कर पाता है, और इन्द्रियग्राह्य एवं अतीन्द्रिय जगत्के बारेमें अव्यर्थ सन्धान लगा सकता है।

श्रीरामचरितमानसके प्रणयनका दिन

(लेखक—पं० श्रीरेवारामजी पाण्डेय तथा श्रीरासबिहारीजी 'शरण')

नौमी भौम बार मधु मासा।
अवधपुरीं यह चरित प्रकासा॥
जेहि दिन राम जनम श्रुति गावहिं।
तीरथ सकल 'तहाँ' चलि आवहिं॥
असुर नाग खग नर मुनि देवा।
आइ करहिं रघुनायक सेवा॥
जन्म महोत्सव रचहिं सुजाना।
करहिं राम कल कीरति गाना॥
मज्जहिं सज्जन बृंद बहु पावन सरजू नीर।
जपहिं राम धरि ध्यान उर सुंदर स्याम सरीर॥
(दोहा ३३, ३४ श्रीबालकाण्ड)

इस उद्धरणमें 'तहाँ' शब्द आया है जिससे कई महानुभाव यह निष्कर्ष निकालते हैं कि उपर्युक्त पंक्तियोंकी रचना अवधपुरीमें नहीं हुई थी, बल्कि किसी अन्य स्थानमें हुई थी (क्योंकि उनके मतानुसार गुसाईंजी अयोध्याजीमें बैठकर उसी स्थानके लिये 'तहाँ' शब्दका प्रयोग न करते, बल्कि 'तहाँ' के स्थानमें 'इहाँ' शब्दका प्रयोग होता)। परन्तु यह सिद्धान्त ठीक नहीं जँचता। ऐसा अर्थ करनेवाले महानुभाव 'तहाँ' के साथ ही आनेवाली 'चलि आवहिं' क्रियापर लक्ष्य नहीं देते। इसी भाँति 'आइ करहिं' क्रियापर भी उन सज्जनोंका ध्यान आकर्षित नहीं होता। यदि उक्त पंक्तियाँ यथार्थ ही दूसरे स्थानमें लिखी गयी होतीं तो 'तीरथ सकल तहाँ चलि जावहिं' होता, न कि 'चलि आवहिं'—जैसा कि चौपाईमें लिखा मिलता है। इसी प्रकार 'आइ करहिं' के स्थानमें 'जाइ करहिं' पाठ होता; क्योंकि कोई मनुष्य किसी एक स्थानपर बैठकर किसी दूसरे स्थानके लिये 'आवहिं' और 'आइ करहिं' का प्रयोग न करके 'जावहिं' और 'जाइ करहिं' का ही प्रयोग करेगा और यही व्यावहारिक एवं शुद्ध भी प्रतीत होता है। तुलसीदासजी भी (यदि उक्त पंक्तियाँ उन्होंने अवधपुरीके बाहर किसी दूसरे स्थानमें लिखी होतीं) 'चलि आवहिं' और 'आइ करहिं' के स्थानमें 'चलि जावहिं' और

'जाइ करहिं' सुगमतासे रख सकते थे। किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। इससे यही सिद्ध होता है कि उक्त पंक्तियाँ उन्होंने अयोध्याहीमें बैठकर लिखी थीं, कहीं अन्यत्र नहीं। रह गयी 'तहाँ' शब्दकी बात, सो उसका प्रयोग यहाँपर 'जहाँ' के अर्थमें किया गया मालूम होता है। इस प्रकार उपर्युक्त पंक्तिका अर्थ होगा—

'वेद कहते हैं कि अयोध्या ऐसा स्थान है जहाँ (तहाँ) राम-जन्मके दिन समस्त तीर्थ चलकर आते हैं।'

इस प्रकार अर्थ करनेमें न कोई बाधा है और न शंकाकी भी कोई बात रह जाती है। इस प्रकार हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि उक्त पंक्तियाँ अवधपुरीमें ही लिखी गयी थीं (न कि किसी दूसरे स्थानमें)।

अब देखना यह है कि 'मानस' के प्रणयनका दिन कौन-सा है—भौमवार या बुधवार। गणना करनेपर उस नवमीको भौमवार न मिलनेसे कई महानुभावोंकी यह धारणा हो गयी है कि 'गुसाईंजी पहले ('मानस' प्रारम्भ करनेके समय) रचना-तिथि लिखना भूल गये थे। इसलिये दोहराते समय जब उन्हें अपनी भूल मालूम हुई, तब उन्हें स्मरण आया कि वह तिथि 'चैत्र शुक्ल पक्षकी नौमी' थी, क्योंकि उस दिन अयोध्यामें राम-जन्ममहोत्सव था। वारका स्मरण करनेपर उन्हें 'भौमवार' याद पड़ा, फलतः इसी आशयकी पंक्तियाँ उन्होंने और जोड़ दीं और उस समय (पंक्तियाँ जोड़नेके समय) वे अयोध्यामें नहीं थे।'

उपर्युक्त शंका निर्मूल मालूम पड़ती है, क्योंकि उक्त नवमी भौमवारको था या बुधवारको, यह भली-भाँति तभी मालूम हो सकता है जब कि संवत् १६३१ का कोई प्रामाणिक पञ्चाङ्ग उपलब्ध हो। नहीं तो गणनामात्रहीसे कोई यह निश्चयरूपसे नहीं कह सकता कि नवमीको मंगलवार न था। क्योंकि सब लोग जानते हैं कि एक ही दिन प्रायः दो तिथियाँ भी पड़ जाया करती हैं और (ऐसी दशामें) ३०० वर्ष पहलेकी गणना करनेमें १ दिनकी भूल होना कुछ कठिन नहीं है। हम यह पहले ही सिद्ध कर चुके हैं कि जिस दिन तुलसीदासजीने उक्त पंक्तियाँ लिखी थीं उस दिन वे अयोध्याहीमें थे, अन्यत्र नहीं; अतः राम-जन्ममहोत्सवकी तिथि एवं वार उन्हें भली प्रकार विदित थे तथा स्मरण भी थे। इसलिये उन्होंने जितने निश्चयसे 'नवमी तिथि' लिखी है उतने ही निश्चयसे 'भौमवार' भी लिखा है, केवल अनुमानसे नहीं लिखा है।

यदि थोड़ी देरके लिये यह मान भी लिया जाय कि तुलसीदासजीने 'रचना-तिथि' अयोध्याके बाहर ही लिखी थी, तो भी 'नवमी भौमवार' उन्होंने निश्चय-पूर्वक लिखा है, यह मानना पड़ेगा; क्योंकि यह तो निर्विवाद है कि 'मानस-प्रणयन' नवमीको हुआ और तुलसीदासजी उस दिन अयोध्यामें ही थे—जन्मोत्सवमें। जब राम-जन्मोत्सवमें नवमीके दिन थे तुलसीदासजी अयोध्याहीमें, तो उस तिथि और दिवसका स्मरण उनके मानस-पटसे मिट जाय, यह असम्भव है! क्योंकि, वह मनुष्य जिसने 'रामचरितमानस' रचनेको ही संसारमें जन्म लिया था उसी ग्रन्थरत्नके प्रणयनके दिनके सम्बन्धमें इतनी भारी भूल कर डाले, असम्भव है। देखिये—

'कलि कुटिल जीव निस्तार हित बालमीकि तुलसी भयो'

इससे यह सिद्ध होता है कि कविवर तुलसीदास-जीका जन्म केवल मानस-रचनाके लिये ही हुआ था। और जब एक साधारण कविनक अपनी 'चाकलेट रचना' की भी तारीख और दिन नहीं भूलता, तब तुलसीदास-जैसे महाकविके लिये 'रामचरितमानस'-जैसे महाकाव्यकी रचना-तिथि एवं वारका भूल जाना

सर्वथा असम्भव है। इसके अतिरिक्त जिस महापुरुष एवं विश्वकविके वर्णनकी सावधानियाँ और उसकी सूक्ष्म दृष्टि मानसके पाठकोंपर भली प्रकार विदित हैं तथा जिसकी लिखी और सारी तिथियाँ तथा वार प्रामाणिक एवं दुरुस्त हैं, वह बुधवारकी जगह भूलसे भौमवार लिख देता, यह सम्भव नहीं। यदि वार (भौमवार) उन्होंने स्मृतिहीसे लिखा होता और उसके निश्चयमें उन्हें विश्वास न होता, तो उनका ब्रह्म कभी उसे लिखनेको प्रेरित नहीं करता। उन्होंने अपनी कृति ('मानस') की कई नकलें (कापियाँ) स्वतः की थीं, यदि उन्हें 'वार'के विषयमें सन्देह होता तो वे अवश्य जैसे बनता वैसे उसे दुरुस्त कर देते। अथवा जिन्हें उस समय उनकी कृति पढ़ने, पाठ करने या प्राप्त करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था, वे गोस्वामीजीका ध्यान इस ओर अवश्य आकर्षित करते, विशेषकर मधुसूदनजी सरस्वती-जैसे विद्यावारिधि और स्वामी नन्दलालजी-जैसे गुणज्ञ।

नीचे दिये गये प्रमाण भी 'मानस' का भौमवारही-को रचा जाना सिद्ध करते हैं—

(१) 'राम-जन्म' और 'श्रीरामचरितमानस-जन्म' एक ही तिथि और एक ही दिन हुए हैं और श्रीराम-जन्म मंगलवारको हुआ है जिसका 'गीतावली' में इस प्रकार संकेत है—

> चैत चारु नौमी सिता मध्य गगन गत भानु।
> नखत जोग ग्रह लगन भले, दिन मंगल मोद निधान॥

(२) मंगलवारको कोई-कोई 'दूषित वार' मानते हैं, इसलिये यदि केवल स्मृतिके आधारपर तुलसीदास-जीको मंगलवार याद आया होता तो वे उसे अवश्य निकालनेका प्रयत्न करते (जब कि कई महानुभावोंकी गणनाके अनुसार नवमीको बुधवार भी था) और देखते कि उस नवमीको मंगलवार ही था या और दिन। परन्तु यथार्थमें जब उन्हें पूर्ण निश्चय था कि उस दिन मंगलवार ही था, तब उन्होंने (विवश होकर) मानस-प्रणयनका दिन (दूषित समझते हुए भी) मंगलवार ही उद्घोषित किया।

(३) त्रिकालदर्शी शंकरसे 'फुर' होनेका वे वरदान माँग चुके थे और वह उन्हें प्राप्त भी हो गया था। इसलिये 'मानस' में भूलको स्थान ही नहीं रह जाता और इस तरह रामचरितमानस पूर्ण सत्य है, यह मानना पड़ेगा।

आरती

मैं प्रभु-नीराजना करूँ।
निज शरीरको पात्र बनाऊँ, रोम-रोम प्रति दीप करूँ॥
मथ निज हृदय-क्षीरसागरको, श्रद्धाका शुचि घृत पाऊँ।
उससे शुभ शरीर-दीपकको परम प्रेमसे भर लाऊँ॥
पुलकावलि-वर्तिका बनाऊँ, विरहानलसे दीप्त करूँ।
उच्छ्वासोंसे पवन बचाऊँ, प्रेमाञ्चलकी ओट करूँ॥
चिनगारियाँ उठें आँसूकी, आहोंका काजल निकले।
प्रभु-वियोगमें बनूँ आरती, फिर संयोग मिले न मिले॥

—श्रीप्रकाशचन्द्र वर्मा।

नारी

(पाश्चात्य समाजमें और हिन्दू समाजमें)

(लेखक—श्रीचारुचन्द्र मित्र एटर्नी-एट-ला)

इस समय शारदा एक्टके कारण कन्याओंका विवाह बड़ी उम्रमें होने लगा है। इससे भी बड़ी हानि हो रही है। लोग कहेंगे कि वह कानून तो केवल १५ वर्षसे कम उम्रकी कन्याका ही विवाह करनेपर दण्डका विधान करता है, अतः इससे कोई विशेष हानि नहीं होती। परन्तु बात ऐसी नहीं है, क्योंकि प्रायः गरीबोंकी रजस्वला कन्याएं साधारण द्रव्य या किसी अन्य वस्तुके लोभमें पड़कर दुष्ट बुद्धिवाले पुरुषोंके द्वारा ठगी जा सकती हैं। अभिभावक (संरक्षक) उनकी ठीक-ठीक देखभाल नहीं कर सकते। बहुतेरे तो उन्हें भोजन-वस्त्र देनेमें भी समर्थ नहीं होते। कन्याओंको अपना पेट भरनेके लिये स्वयं चेष्टा करनी पड़ती है। ऐसी दशामें इस प्रकारके लोभमें पड़ने और ठगे जानेकी सम्भावना प्रायः सभी देशोंमें होती है। दुष्ट बुद्धिवाले पुरुषोंको दण्ड दिलानेकी सामर्थ्य भी सबमें नहीं होती। इस प्रकारकी सतीत्व नष्ट कन्याओंका भविष्य जीवन कितना शोचनीय और कष्टपूर्ण होगा, इसपर विचार करनेसे ही स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि शारदा एक्ट कितना अकल्याणकारक है। दूसरी बात याद रखनेकी यह है कि हमारे देशमें भूकम्प, अकाल, बाढ़ और महामारी, कोई-न-कोई विपत्ति किसी-न-किसी प्रदेशमें लगी ही रहती है। ऐसी स्थितिमें इस प्रकारकी अविवाहिता युवतियोंका पालन करना संरक्षकके लिये बड़ा ही कठिन हो जाता है। इसी कारण कन्याओंका पहलेसे विवाह कर दिया जाता है कि बुरे दिन आ पड़नेपर वह दूसरे गाँवमें अपने स्वामीके मातृ या पितृकुलमें, कहीं-न-कहीं, आश्रय पा सके। यह काम जीवन-बीमाके समान है, और हमारी देशकी दशाकी दृष्टिसे उसकी अपेक्षा भी कहीं अधिक उपयोगी और कईगुना मंगलप्रद है। गरीबोंके जीवनके सुख-दुःख, आशा-भरोसा तथा विचार-धाराके विषयमें जानकारी न रखनेके कारण अमीर सुधारक लोग इन बातोंका विचार नहीं कर पाते; अतएव कानून बनाकर इस प्रकारकी भयानक विपत्तिके समय उन्हें आश्रयहीन करके उनका कल्याण करना चाहते हैं। इससे कल्याण न करके वे उनका उलटा सर्वनाश कर रहे हैं, यह बात पाश्चात्यसभ्यताके व्यामोहमें विमूढ़ होनेके कारण उन्हें नहीं सूझती। बुरी दशामें जरा-से फटे चिथड़ेके लिये और मुट्ठीभर चावलके लिये जो उन अविवाहित नवयुवतियोंको अपना शरीर बेचनेके लिये बाध्य होना पड़ता है, और इसके परिणामस्वरूप भविष्य जीवनमें उन्हें भयङ्कर दुर्दशा भोगनी पड़ती है, इस ओर उनका ध्यान नहीं जाता! तीसरी बात यह है कि देशकी परम्परागत प्रथाके पक्के बाँधको एक बार कानूनके द्वारा तोड़ देनेपर फिर कोई मर्यादा न रहनेसे विवाहकी अवस्था क्रमशः बढ़ती जायगी, इसपर भी वे विचार नहीं करते। कानून बनाकर सुधारक लोग किसी एक निश्चित उम्रमें ही विवाह करा ही नहीं सकते, वे तो प्रत्यक्षरूपसे कहते हैं कि कन्याओंके विवाहकी अवस्था और भी बढ़ानी चाहिये और जबतक स्त्री और बाल-बच्चोंके पालनमें वे पूर्ण समर्थ नहीं हो जाते तबतक युवकोंको भी विवाह करना उचित नहीं। सुधारक लोग प्रायः सभी अंग्रेजी पढ़े लिखे और पाश्चात्य भावोंसे युक्त होते हैं, इस कारणसे और अपनी भोगेच्छाकी पूर्तिके लिये भी वे सम्मिलित कौटुम्बिक प्रथासे अलग रहते हैं, अतएव उनकी आर्थिक दशा और लोगोंकी अपेक्षा अच्छी होती है। तथापि उनके पुत्र विवाह करनेकी इच्छा नहीं करते। क्योंकि वे पैतृक धनके द्वारा अनायास प्राप्त होनेवाले भोग-विलासमें रत रहते हैं और जानते हैं कि अपने पिताके समान अर्थोपार्जनमें वे समर्थ नहीं हैं और विश्व-विद्यालयकी शिक्षाके द्वारा अर्थोपार्जनकी अब वैसी सुविधा भी नहीं है। इस प्रकार स्त्री और सन्तानके प्रतिपालनमें समर्थ तरुणोंकी संख्या क्रमशः घटती आ रही है। अतएव विवाहकी उम्र क्रमशः बढ़ती जा रही है, अविवाहित भी बढ़ते जा रहे हैं। विवाह करनेपर कन्या उत्पन्न हो सकती है, उसका विवाह करना पड़ेगा—इस प्रकारकी दुश्चिन्तामें पड़कर युवकगण विवाहकी और भी इच्छा नहीं करते। इस कारणसे भी विवाहकी अवस्था बढ़ रही है। दहेजकी माँग भी बढ़ रही है और इससे कन्याओंके माता-पिताओंका जीवन भी दुःखमय होता जा रहा है। थोड़े ही दिनोंमें अतीत कालकी कुलीन ब्राह्मण-कन्याके समान अधिकांश नवयुवती कन्याओंको

बहुत समयतक और बहुतोंको सदा ही अविवाहित रहना पड़ेगा, तथा इसका कुपरिणाम भी समाजको भोगना ही पड़ेगा। हम पाश्चात्य ढंगकी सभा-समितियाँ बनाकर, जोशीली भाषामें व्याख्यान झाड़कर हिन्दू-समाजको और वरके पिता-अभिभावक आदिको गालियाँ देकर उसके निवारण करनेकी चेष्टा कर रहे हैं। परन्तु इसका न तो कोई फल दिखलायी देता है और न दे ही सकता है, इसपर हम विचार नहीं करते। यहाँ माँग और पूर्तिके नियम (Law of demand and supply) से काम चल रहा है। व्याख्यानोंके द्वारा इस नियमका प्रतिरोध नहीं हो सकता। इस सर्वनाश करनेवाली कुप्रथाके निवारणका एक-मात्र उपाय यही है कि हम पाश्चात्योंका अनुकरण करना छोड़कर अपने देशके प्राचीन आदर्शकी ओर देखें, सम्मिलित कौटुम्बिक प्रथाका पुनः संगठन करें और उसके द्वारा पारस्परिक साहाय्य, सहानुभूति और प्रेम प्राप्तकर स्त्री-पुत्र आदिके पालन करनेमें समर्थ पात्रोंकी संख्या बढ़ावें। जबसे सम्मिलित कौटुम्बिक प्रथा टूटने लगी तभीसे दहेज-निर्णयकी प्रथा प्रारम्भ हो गयी और जितना ही उसका प्रभाव घट रहा है उतनी ही दहेज-प्रथा बढ़ रही है। सम्मिलित कौटुम्बिक प्रथा पाश्चात्य देशोंकी सहयोग प्रथा (Co-operative System) के समान दरिद्रताके दूर करनेमें बड़ी उपयोगी है। बल्कि प्रेम, भक्ति, कृतज्ञता प्रभृति सद्वृत्तियोंके ऊपर अवलम्बित होनेके कारण यह उसकी अपेक्षा भी कहीं अधिक उपयोगी और प्रीतिप्रद है। हमारे तरुणवृन्द जो रूसके साम्यवादियोंके कार्यकी ओर ललचायी आँखोंसे देख रहे हैं, उनके सिद्धान्तकी मूल भित्ति तथा हमारे सम्मिलित कौटुम्बिक प्रथाकी मूल भित्ति एक ही है,—परिवारके सभी मनुष्योंका सभीके कल्याणके लिये यथासाध्य चेष्टा करना तथा सबको उनकी आवश्यकताके अनुसार भोग प्राप्त होना (From each according to his ability—to each according to his needs)। अन्तर इतना ही है कि वे देशको दो-चार commune में विभक्त करते हैं और हमारा देश असंख्य commune में विभक्त था। प्रत्येक सम्मिलित परिवार पृथक्-पृथक् एक commune है, तथा इसमें रक्तका आकर्षण और एकत्र निवास करनेके कारण व्यक्तिगत प्रेम—केवल सकाम प्रेम नहीं—परिवारके सभी व्यक्तियोंको जो हार्दिक सहायता प्रदान करता है, वैसा समस्त देशके लिये होना सम्भव नहीं। रूसमें एक या दो-चार पुरुषोंके आधिपत्यको बढ़ानेके लिये व्यक्तिगत विशिष्टता (Individuality), व्यक्तिगत (individual) स्वाधीनता, व्यक्तिगत उद्भाविनी शक्ति (Initiative) और उसको कार्यमें परिणत करनेकी शक्ति—सभी क्षीण होनेके लिये बाध्य हैं, इससे सबका साम्य—एक प्रकारकी अवस्था भी तो नहीं होती। सम्मिलित कौटुम्बिक प्रथा तुल्याधिकार-वाद (साम्यवाद) की मूल भित्तिपर प्रतिष्ठित होनेके कारण उसके प्रभावसे इतने दिनोंतक अत्यन्त दीन-दुःखीका भी जीवन उपभोगयोग्य था, वे पशुके समान हाँके नहीं गये। सभी स्त्रियोंका विवाह होता था। स्त्रियोंने पुरुषोंके साथ विषम प्रतियोगितामें अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तिके लिये अनुपयोगी, स्वास्थ्यके लिये हानिकर एवं सन्तानके लिये विशेष अनिष्टजनक अर्थोपार्जनसम्बन्धी कर्मोंके दबावसे छुटकारा पा रक्खा था। सभी स्त्रियाँ अपने-अपने मातृत्वका उपभोग प्राप्त करती थीं। सन्तानके पालन-पोषणमें सम्मिलित परिवारके अन्य सभी लोगोंकी समय-समयपर सहायता प्राप्त होती रहनेके कारण अधिक सन्तान होनेपर भी माताओंका जीवन अत्यन्त कष्टकर, स्वास्थ्यके लिये हानिप्रद तथा अधिक चिन्ताशील नहीं होता था। विवाहिता स्त्रियोंको भी पाश्चात्योंकी भाँति सन्ततिनिरोधकारी उपायोंका अवलम्बन लेनेके लिये बाध्य नहीं होना पड़ता था, भ्रूण-हत्या नहीं करनी पड़ती थी, पुरुषोंकी कामसहचरी होकर, उनके आमोद-प्रमोद, खेल-कूद, बात-चीत और कार्योंमें योग देकर, अपनी विशिष्टताका नाश कर, नकली पुरुष सजकर नारी-जीवनको सफल माननेकी भूल नहीं करनी पड़ती थी, तथा अधिक उम्रकी स्त्रियोंको नवयुवतीका स्वाँग भरनेकी आवश्यकता नहीं होती थी। आजकलकी भाँति बहुत समयतक सन्ततिनिरोधके द्वारा स्नायुओंको विकृत करने, बहुत समयतक पृथक् रहनेके लिये अभ्यास करने तथा पुरुषोंके साथ प्रतियोगितामें अर्थोपार्जनसम्बन्धी कार्य करने न जाकर सम्मिलित कौटुम्बिक प्रथामें विवाहित जीवनमें जो पारस्परिक त्यागशीलताकी आवश्यकता है उसे क्षीण नहीं करना पड़ता था, विवाहित जीवन अशान्तिप्रद नहीं होता था, विवाह-विच्छेद (तलाक़) की आवश्यकता नहीं पड़ती थी, बीमारी और बुढ़ापेमें कारावासकी निर्जनताका अनुभव नहीं करना पड़ता था, बल्कि पुरुष और स्त्रीका सम्बन्ध सदा ही मधुर और सम्मानयुक्त था।

इस सम्मिलित कौटुम्बिक प्रथाके टूटनेके कारण ही

सबका जीवन अत्यन्त दुःखप्रद और दुश्चिन्ताग्रस्त हो गया है, स्त्रियोंको अत्यन्त दुर्दशा भोगनी पड़ रही है। उच्च श्रेणीकी स्त्रियोंको भी अन्नके लिये लालायित होकर दूसरोंका दरवाजा देखना पड़ रहा है। तीस-चालीस वर्ष पहलेतक उन्हें कभी दूसरेका द्वार नहीं देखना पड़ा, अर्थोपार्जनकी आवश्यकता नहीं हुई, घरवालोंके द्वारा ही उनका पालन होता था। परन्तु इस समय जो कुछ हो रहा है, उसे देखते यह कहना पड़ता है कि कुछ ही दिनोंमें यह देखनेमें आयगा कि अधिकांश स्त्रियोंका बहुत समयतक विवाह नहीं हो रहा है। इससे पाश्चात्य देशमें जो विषमय परिणाम हो रहा है, उसकी अपेक्षा कहीं अधिक भयानक परिणाम यहाँ अवश्यम्भावी है। इस देशकी स्त्रियोंकी दुर्दशा बड़ी ही भयानक होगी; परन्तु दुःखकी बात है कि कोई इस ओर ध्यान नहीं देता। सम्मिलित कौटुम्बिक प्रथाके अंगभूत आत्मीयोंके मनोंसे सहायता करनेकी जिम्मेवारीका ज्ञान अबतक पूर्णरूपसे नष्ट नहीं हो गया है, तो भी यह देखा जाता है कि बड़े घरोंकी स्त्रियोंकी भी, जिनके आत्मीयगण अब भी धनी हैं, दुर्गति हो रही है तथा वह क्रमशः बढ़ती जा रही है; फिर अन्य श्रेणीके स्त्रियोंकी तो कैसी दुर्दशा हो सकती है! मेरा निवेदन है कि इस बातपर सब लोग, विशेषतः स्त्रीसमाज अवश्य विचार करे। सम्मिलित कौटुम्बिक प्रथाकी जड़का छिन्न जाना ही स्त्रियोंकी दुर्दशाका मूल कारण है। इसकी पुनः प्रतिष्ठाके लिये यदि सब चेष्टा न करेंगे, शिक्षापद्धति यदि उसके अनुकूल न बनायी जायगी तो इस गरीब देशमें कोई दूसरा उपाय नहीं हो सकता। भयानक सूखेके समय चुल्लूभर पानीके सहारे खेतकी फसलको जीवित रखनेकी चेष्टाके समान, महलों सहृदय पुरुषोंकी चेष्टा भी इस देशकी नारियोंको भीषण दुर्गतिसे मुक्त करनेमें सफल नहीं हो सकती। अत्यन्त धनवान् इंगलैंडमें भी देखा जाता है कि २९ वर्षकी उम्रवाली ७५.७ प्रतिशत, ३० वर्षकी ४३.५ प्रतिशत, ३५ वर्षकी २७ प्रतिशत और ४० वर्षकी २१ प्रतिशत स्त्रियाँ अविवाहिता ही रह जाती हैं। हम लोगोंके अत्यन्त गरीब होनेके कारण उनकी अपेक्षा कहीं अधिक संख्यामें स्त्रियोंका बहुत दिनोंतक अविवाहिता रहना अवश्यम्भावी है। प्रथम यौवनमें ही इन्द्रियाँ प्रबल होती हैं; मन, प्राण और अंग-अंगसे प्रेमकी प्रवृत्ति प्रकृतितः ही उत्पन्न होती है। युवतियोंको उसीके रोकनेके लिये बाध्य होना पड़ता है, उपेक्षिता बनकर चुपचाप अपमान सहन करना पड़ता है। इससे हृदय विषाक्त हो उठता है और इसके बाद विवाह होनेपर भी वह तृप्तिका कारण नहीं होता। कुछ दिन पूर्व बंगालमें कुलीन प्रथाका अनुसरण करनेके कारण दस-पंद्रह हजार ब्राह्मणकन्याओंको बड़ी दुर्दशा भोगनी पड़ी थी, उसके लिये सहृदय शिक्षित समाजने इस सामाजिक प्रथाकी अत्यन्त निन्दा की थी। परन्तु आज वही शिक्षितसमाज पाश्चात्य समाज-संगठन और विवाहप्रथाका अनुसरण कर देशकी सभी स्त्रियोंको उसी दुर्दशाका उपभोग करानेके लिये उद्यत हो रहा है, यह बात उनकी समझमें नहीं आती। अन्तर केवल इतना ही देखा जाता है कि उन कुलीन कन्याओंमें बहुतोंका नाममात्रके लिये विवाह होता था, बहुतेरी सपत्नियाँ थीं, इससे वे सभी स्वामिसुखसे वञ्चित थीं; फिर भी हम देखते हैं कि उस समय कुलीन कन्याओंका ननिहालमें अपने मामाकी कन्याओंकी तरह ही बहुत दिनोंतक प्रतिपालन होता रहता था, ब्राह्मण होनेके कारण वे अन्य श्रेणियोंके लोगोंसे भी सम्मानपूर्ण आदर और सहायता पाती थीं। परन्तु अब तो पिता-माताकी मृत्युके बाद इन स्त्रियोंको जीविकाके लिये दूसरोंकी गुलामी करनी ही पड़ेगी, अधिकांशमें उन्हें दासी या रसोइनका काम करना पड़ेगा; क्योंकि इस देशमें दूसरे उपायसे जीविकोपार्जन करना सुलभ नहीं है। पाश्चात्य देशोंमें जिनको अर्थोपार्जनकी विशेष आवश्यकता है, उन्हें भी इसी प्रकार गुलामी (विशेषतः कारखानोंमें मजदूरी) करनी पड़ती है, और करनी पड़ती है प्रकट या गुप्तरूपमें वेश्यावृत्ति। इस प्रकार दूसरोंकी गुलामी करनेको ही हमारे सुधारक भाई नारीस्वत्वाधिकारका प्रचार कहकर अपने देशकी युवतियोंको समझा रहे हैं।

बहुत समयतक अविवाहित अवस्थामें नवयुवतियोंको विधवाओंके ही सदृश स्वामिसुखसे रहित जीवन बिताना पड़ेगा। उन्हींके समान शून्यहृदयताका उपभोग करना पड़ेगा, अथवा गुप्तरूपसे वासनाकी तृप्ति करनी पड़ेगी। उच्च कुलकी बालविधवाओंकी वैधव्यदशाको देखकर हिन्दू-समाजकी इतनी निन्दा की जाती है, उसको नारी-निग्रही (स्त्री-समाजपर अत्याचार करनेवाला) बतलाया जाता है। जिस प्रकार बँगला वीराङ्गना काव्यमें कैकेयीने शुक-सारिकाको 'परम अधर्माचारी रघुकुलपति' यह बोली सिखानेकी इच्छा की, उसी प्रकार हमारे देशभक्त सुधारकोंने युवक-युवतियोंको 'हिन्दू-समाज परम नारी-निग्रही है' यह बोली बोलना सिखलाया है। वे लोग नारीनिग्रहको दूर करनेके उद्देश्यसे पाश्चात्य

विवाहप्रथाका अनुसरण कर रहे हैं और उसी प्रकार समाजका गठन भी कर रहे हैं। देखिये, विधवाओंकी संख्या कितनी है। १० से १५ वर्ष उम्रकी बालिकाओंमें समस्त हिन्दू भारतवर्षमें २ प्रतिशत बाल-विधवाएँ हैं; बंगालमें प्रतिशत ३.८, विहारमें २.६ (विहार और बंगालमें ही बाल-विवाहका अधिक प्रचार है)। १५ से ४० वर्ष उम्रकी समस्त हिन्दू भारतवर्षमें १३.८, विहारमें १०.८ और बंगालमें २३.२ विधवाएँ हैं (Census Report 1921, Vol. I, Page 167)। हमने पिछले लेखमें दिखलाया है कि इंगलैंडमें १५ से २० वर्षकी उम्रवाली ९८.८ प्रतिशत, २० से २५ वर्ष उम्रवाली ७५.७ प्रतिशत, २५ से ३० वर्ष उम्रवाली ४३.५ प्रतिशत, ३० से ३५ वर्ष उम्रवाली २७ प्रतिशत और ३५ से ४० वर्ष उम्रवाली २१ प्रतिशत युवतियाँ और स्त्रियाँ अविवाहिता हैं। अब इंगलैंडकी इन दीर्घकालतक अविवाहिता नारियोंकी, तथा अपने देशकी विधवाओंकी संख्याकी तुलना करके देखिये, बाल-विधवाओंकी संख्याके साथ इन चिरकुमारियोंकी संख्याकी तुलना कीजिये। आप देखेंगे कि सभी उम्रकी इंगलैंडकी कुमारियोंकी संख्या हमारी विधवाओंकी अपेक्षा भी अधिक है। इससे स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि प्रायः सभी जातियोंमें अनेकों कारणोंसे कुछ स्त्रियोंको स्वामिसुखसे वञ्चित रहना ही पड़ता है। हिन्दू-समाजमें ऐसी स्त्रियोंकी संख्या इंगलैंड आदि देशोंकी अपेक्षा बहुत ही कम है। हिन्दू-समाजने सब पुरुषोंको विवाह करनेके लिये बाध्य करके और सम्मिलित परिवार तथा जातिभेद प्रथाके द्वारा विवाह करनेकी सुविधा करके, इस बातके लिये यथासाध्य पूरी चेष्टा की है कि जिसमें सभी स्त्रियाँ स्वामिसुखसे वञ्चित न होने पावें, अपने तन-मन-प्राणसे प्रेम करके स्वामीके प्रेमको प्राप्त करें और उससे अपने प्रेम प्रवण हृदयको सरस बनावें और जीवनकी सफलताको प्राप्त करें। यद्यपि हिन्दू-समाजके उच्च श्रेणीके अंदर विधवा-विवाह निषिद्ध होनेके कारण कुछ स्त्रियाँ बालविधवा रह जाती हैं, परन्तु देखा जाता है कि प्रायः सभी देशोंमें उच्च श्रेणीके अंदर निम्न श्रेणीकी अपेक्षा स्त्रियोंकी संख्या अधिक होती है। विधवा-विवाह न होनेपर सब पुरुषोंको—विधुरोंको भी कुमारीके साथ ही विवाह करना पड़ता है; अतएव कुमारियोंकी संख्या इससे कम होती है।

अब विचारिये कि बाल-विधवा रहनेकी अपेक्षा चिर-कुमारी रहना समाजके लिये तथा समष्टिरूपसे नारीवर्गके लिये कहाँतक श्रेयस्कर है? पहली दृष्टिमें तो पूर्ण यौवनप्राप्त स्त्रियोंका अविवाहित दशामें पड़े रहना वैधव्यका ही नामान्तर मात्र है। अन्तर केवल यही है कि पाश्चात्य देशकी कुमारियोंको विवाहिता होनेकी आशा रहती है, इससे उनकी विलासिता-में कोई बाधा नहीं पड़ती। उच्च कुलकी हिन्दू-विधवाओंको वैसी आशा नहीं होती, उनको विलासिताका त्याग करना पड़ता है। बहुत लोग इन दोनोंमें कुमारीकी अवस्थाको अधिक वाञ्छनीय समझते हैं। किन्तु जब हम देखते हैं कि पाश्चात्य देशकी उन कुमारियोंमें (जिनकी संख्या हमारे देशकी बालविधवाओंकी अपेक्षा कहीं अधिक है) कितनी ही जीवनभर अविवाहिता ही रह जाती हैं, वे सदा ही आशा करती हैं और सदा ही उनकी वह आशा टूटती रहती है! अन्तमें उन्हें आशा छोड़नी पड़ती है और जीवनभर उपेक्षा-जनित अपमानकी आगमें जलना पड़ता है और बार-बार जहरकी ही घूँटें पीनी पड़ती हैं। अतएव उनके लिये वह आशा कष्ट बढ़ानेवाली ही होती है, उन्हें यूनानी कथाओंके अनुसार टैण्टलसकी-सी यन्त्रणा भोगनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त जब कुछ स्त्रियोंको अविवाहिता रहना ही पड़ता है, तब दूसरी स्त्रियोंका दो या अधिक बार विवाह करना—स्वामीके सहवास-सुखको प्राप्त करना किस प्रकार न्यायसंगत है, इस बातको हमारे सुधारक नहीं विचारते। अतएव कहना पड़ेगा कि समस्त नारी-समाजके कल्याणका विचार करके ही उच्च श्रेणीके लोगोंमें—जहाँ स्त्रियोंकी संख्या अधिक होती है, विधवा-विवाहका निषेध किया गया है, जिससे सभी स्त्रियोंका एक बार विवाह हो सके। यदि ऐसा न किया जाय तो इसका परिणाम यह होगा कि रूपवती धनी विधवाओंका विवाह हो जायगा और गरीब तथा रूपहीन कुमारीका एक बार भी विवाह नहीं हो सकेगा। इससे गरीबोंके ऊपर अत्याचार होगा। आजकल उच्च श्रेणीमें जो दहेजकी प्रथा भयानकरूपसे बढ़ रही है उसे देखनेमें विधवा-विवाहका प्रचार कुमारियोंके कल्याणके लिये कभी वाञ्छनीय नहीं हो सकता।

पाश्चात्य देशकी कुमारियोंको विवाहकी आशासे ही पुरुषोंमें मिलना पड़ता है, उनके आमोद-प्रमोद, खेल-कूद, बातचीतमें योग देना पड़ता है। स्वाभाविक ही कामवासना जाग्रत् होती है तो उसके रोकनेकी चेष्टा करती हैं। इससे बहुधा अनेकों प्रकारके विकट रोग हो जाते हैं। मनस्तत्त्वका विश्लेषण करनेवालोंने इसे स्पष्ट दिखलाया है। बहुत

उनका अधःपात अनिवार्य हो जाता है और भोग-लोलुपताके कारण अपना शरीर बेचना पड़ता है, फलतः वे अत्यन्त विपद्ग्रस्त हो जाती हैं। बहुधा उन्हें भ्रूणहत्या करनेके लिये बाध्य होना पड़ता है, जारज सन्तानका पालन करना पड़ता है और विवश होकर वेश्या बननेके लिये मजबूर होना पड़ता है। हिन्दू-समाजमें उच्च वर्णकी विधवाओंको इस प्रकारकी विपत्तियोंसे बचानेके लिये ही ब्रह्मचर्यका महान् आदर्श सामने रखकर उनको उस अवस्थाके योग्य बनानेके लिये ही संयमकी शिक्षाका विधान किया गया है और उसके अन्तर्गत भाँति-भाँतिके नियम बनाये गये हैं। इस प्रकारकी संयमशिक्षा केवल उन्हींके लिये कल्याणप्रद नहीं है, बल्कि अन्य स्त्रियोंके और समाजके लिये भी मंगलजनक है, इस बातको समझानेकी हम आगे चेष्टा करेंगे। इन नियमोंका पालन करना अत्यन्त कठिन है, यह बात ठीक है। परन्तु कामपर विजय प्राप्त करना भी तो अत्यन्त कठिन कार्य है—खासकर मानसिक। इसके लिये दूसरा कोई सहज उपाय अबतक दृष्टिगोचर नहीं हुआ। इस संयमशिक्षाके अन्तर्गत आहारादि-के विषयमें बहुत निषेधका विधान किया गया है तथा उपवास करना, विलासिताका त्याग करना, पुरुषोंमें न आना-जाना, वस्त्रपूजा करना आदि। इन्हीं नियमोंकी कठोरताके कारण हिन्दू-समाजको कहा जाता है कि वह नारी-निग्रही (स्त्रीसमाजपर दमन करनेवाला) है। परन्तु जब हम देखते हैं कि त्यागमूर्ति हिन्दू-विधवा त्यागी तपस्वीकी भाँति धर्म समझकर सहज ही इन नियमोंका पालन करती है और बकवादी निन्दकोंके ऐसा अत्याचार सहकर भी वह अपने दीर्घजीवन, स्वास्थ्य और कष्टसहिष्णुताके लिये प्रसिद्ध है (जैसा कि Census Report से प्रकट है), तब इन नियमोंके शुभ फलको देखकर इन्हें लाभप्रद और शिक्षाप्रद ही समझना ठीक है, अत्याचारके निदर्शन नहीं। रोमन कैथलिक संन्यासी और संन्यासिनी (Monks and nuns) स्वेच्छासे ही प्रायः अपने नियमोंका पालन करते हैं। जो लोग उच्च आदर्श-जीवन व्यतीत करना चाहते हैं, उनके लिये भी ये सारे नियम बड़े उपयोगी हैं। अतएव इन्हें 'नारी-निग्रह' का निदर्शन बतलाना सर्वथा अन्याय है। आधुनिक अंग्रेजी चिकित्साशास्त्रमें भी उपवासकी उपयोगिता मानी गयी है। व्रतादिका पालन करनेसे इच्छा-शक्तिके विकासमें (Training and development of the will) सहायता मिलती है, तथा रोमन कैथलिक पादरी बहुधा इस प्रकारके नियमोंका पालन करते रहते हैं। कामपर विजय प्राप्त करना बड़ा ही कठिन है। पुरुषोंके साथ स्वतन्त्रतापूर्वक मिलने-जुलनेसे बहुधा क्षणिक मानसिक दुर्बलताके कारण सधवाओंका भी जब अधःपात हो जाता है, तब कुमारी और विधवाकी तो बात ही क्या है। पाश्चात्य उपन्यासोंमें इसका यथेष्ट वर्णन है। इसका परिणाम भी बहुत ही भयानक होता है। इसी कारण इसका निषेध किया गया है। आजकल पाश्चात्योंके कथनकी प्रतिध्वनि करते हुए चरित्रहीन लोग भी यह कहते सुने जाते हैं कि स्त्रियोंको स्वतन्त्रतापूर्वक पुरुषोंमें न मिलने देना—स्त्रियोंपर घोर अत्याचार करना है। परन्तु जब स्वतन्त्रतापूर्वक मिलने-जुलनेसे यदि अधःपात होता है—(बहुधा होता ही है, जैसा कि अंग्रेजी और भारतीय भाषाओंके उपन्यासोंमें प्रायः वर्णन देखा जाता है और घटनाएँ भी देखी-सुनी जाती ही हैं) अनेकों घर बरबाद हो जाते हैं और इसका बुरा फल स्त्रियोंको ही भोगना पड़ता है, ऐसी अवस्थामें तो यह कहना उचित है कि हिन्दुओंने स्त्रियोंके कल्याणकी इच्छासे ही उनका पुरुषोंके साथ स्वतन्त्रतापूर्वक मिलना-भेंटना बंद किया था।* जो लोग इसमें दोष देखते हैं उनको तो मानवचरित्र और मानस-शास्त्रका कुछ भी ज्ञान नहीं है या वे देवताओंसे भी श्रेष्ठ हैं अथवा मनमाना सुयोग ढूँढनेवाले हैं।

कोई भी बुद्धिमान् पुरुष ऐसा नहीं देखा जाता जो घरमें जहाँ-तहाँ जहर फैलाकर रखता हो। स्त्रियोंका स्वतन्त्रतापूर्वक मिलना-जुलना स्त्रियोंके लिये जहरके समान अशुभ फल देनेवाला होता है, ऐसी अवस्थामें उसे रोकनेको दूषित बतलाना उन्हींका काम है जो यथार्थ परिस्थितिको समझते नहीं हैं और किसी लहरके साथ बह रहे हैं। पाश्चात्योंका समाज-संगठन ही ऐसा अपूर्ण और दूषित है कि उसमें स्त्रियोंको पुरुषोंसे मिलने-जुलनेके लिये बाध्य होना पड़ता है, परन्तु हमारे यहाँ वैसी बात नहीं है; फिर भी हम इस बातको नहीं समझते। फिर जब यह देखा जाता है कि सन्तान-वत्सल हिन्दू-समाजके व्यवस्थापकोंने उच्च वर्णकी विधवाओंके लिये ही कठोरतम नियमोंका

* इंग्लैण्डके समान मनुष्यचरित्रका ज्ञाता फ्रांसीसी Balzac लिखता है—

"The sanctity of woman is incompatible with the duties and liberties of society. To emancipate women is to corrupt them."

(See 'A woman of thirty')

निर्माण किया है, निम्न श्रेणीके लिये नहीं, और वे नियम बनानेवाले भी उच्च वर्गके ही थे, तब यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये नियम कन्याओंके कल्याणके लिये ही बनाये गये हैं। यदि ऐसा न होता तो वे अपनी कन्याओंके लिये बहुत ही सहज नियम बनाते और निम्न वर्गके लिये अत्यन्त कठोर नियम।

विधवाओंके लिये विलासिता-त्यागका नियम भी अत्यन्त आवश्यक है। पहलेसे ही विलासिताके त्यागमें अभ्यस्त न होनेसे अवसर आनेपर बहुतोंको बड़ी विपत्तियाँ भोगनी पड़ती हैं। इसके अनेकों दृष्टान्त पाश्चात्य उपन्यासोंमें भरे पड़े हैं। इसके सिवा हिन्दूसमाज-गठनमें सभी स्त्रियोंके पालन-पोषणका भार पुरुषोंके ऊपर रहता है। मुख्य पालन करनेवाले पतिके न रहनेसे उसकी कमाई तो सम्मिलित परिवारमें आती नहीं; इसलिये सम्मिलित कुटुम्बमें जो दूसरे पुरुष होते हैं, उन्हींपर यह भार रहता है—जो उनके लिये भारी होता है अधिकांश लोग गरीब होते हैं, यह बात याद रखने-योग्य है। जिसके किये बिना काम नहीं चलता, ऐसा खर्च करना भी किसी किसी समय गरीबोंके लिये अत्यन्त कष्टप्रद होता है। जिनको आत्मसम्मानका खयाल है, वे बहुत ही आवश्यक वस्तुको छोड़कर और किसी भी चीजके लिये दूसरे-पर भार डालना नहीं चाहते। जिन विधवाओंके घरवाले धनी हैं, वे यदि किसी प्रकार बढ़िया कपड़े, गहने या अन्य विलासकी सामग्रियोंका उपभोग करें, तो जिनके घरवाले धनी नहीं हैं—अधिकांशमें हैं भी नहीं—उनको भी देखा-देखी वैसी वस्तुओंकी इच्छा होगी, और न मिलनेपर उन्हें कष्ट होगा, उनकी मर्यादा जाती रहेगी, माँगनेपर घरवालोंको दुःख होगा, तथा इससे मनोमालिन्य पैदा होगा। सब विधवाओंके लिये एक-सा ही नियम रहे तो किसीको कोई कष्ट न होगा, और सम्मानकी हानि भी न होगी। इसीलिये विधवाओंके हिन्दूजातिमें त्यागके एक-से नियम हैं। हिन्दू-विधवाओंका वेष पाश्चात्यदेशीय Sisters of Mercy के सफेद कपड़ोंकी भाँति निर्दिष्ट (uniform) है। वह निर्दिष्ट पोशाक (uniform) जिस प्रकार पाश्चात्य देशमें सम्मानसूचक है हम भी यदि त्यागधर्मका यथार्थ सम्मान करें तो हमारी विधवाओंके वेषका भी उसी प्रकार सम्मान होना चाहिये। इसके अतिरिक्त यह भी याद रखना चाहिये कि जिन्हें काम-वासनापर विजय प्राप्त करनी है, उनके लिये विलासिताका त्याग तो बहुत छोटी बात है।

इस प्रकार संयम और त्यागका अभ्यास करके विधवाएँ बड़े ही उच्च आदर्शपूर्ण जीवन व्यतीत करनेके योग्य बनती हैं। हिन्दूसमाजकी विधवाओंके लिये पूजा-व्रतादिकी व्यवस्था की गयी थी कामनाको भगवान्की ओर लगानेके उद्देश्यसे! आधुनिक मनस्तत्त्वके विश्लेषणकारियोंके शब्दोंमें उन्नत करने (Sublimake)के उद्देश्यसे,तथा उसके द्वारा सर्वभूतोंके हितार्थ जीवन व्यतीत करने, एवं हिन्दूजीवनके श्रेष्ठ आदर्श निष्काम कर्मकी शिक्षयित्रीके पदपर प्रतिष्ठित होकर उसके द्वारा सबको अनु-प्राणित करनेके उद्देश्यसे। हिन्दुओंने विधवाओंके इस दुर्भाग्यको ही उनको उच्चतम, महत्तम जीवनमें पहुँचानेकी पहिली सीढ़ी बनानेकी चेष्टा की थी, उन्हें महत्तम जीवनके अनन्त सुख और शान्तिकी अधिकारिणी बनानेकी इच्छा की थी, और इसमें उन्हें सफलता भी मिली थी। त्यागशीलता, सेवा-परायणता और परार्थपरता स्त्रियोंके मातृत्वके अंगभूत प्रकृति-प्रदत्त गुण हैं। इन गुणोंके विकासकी उनमें स्वाभाविक ही पटुता होती है; नारीहृदयकी उर्वरा भूमिमें इन सब गुणोंका विशद विकास करनेकी चेष्टा की गयी थी; और इसमें सफलता भी प्राप्त हुई थी। सम्मिलित परिवारकी और जातिभेदकी प्रथाके द्वारा समस्त स्त्रियोंका सदा ही पुरुषोंके द्वारा पालन-पोषण हुआ करता था—all women were endowed for all time—केवल गर्भके अन्तिम महीने और प्रसवके बाद कुछ दिनोंके लिये ही नहीं—जिसके पानेसे आधुनिक पाश्चात्योंके नारीस्वत्वाधिकारका प्रसार सफल हो जाता है। इस सुविधाके कारण धन कमानेके लिये स्वार्थमूलक संघर्षमें नहीं आना पड़ता, उनकी प्राकृतिक परार्थपरता कलुषित नहीं होने पाती। अतएव उपयुक्त शिक्षाप्रणालीके द्वारा उनका पूर्ण विकास सहज ही हो जाता था। यही कारण है कि इस देशमें कर्म और धर्मशीला नारियोंका कभी किसी समय भी अभाव नहीं हुआ। इसी कारण केवल भारतके ही इतिहासमें देखा जाता है कि 'अशिक्षिता' या सामान्य प्राथमिक शिक्षामात्र प्राप्त की हुई विधवाओंने विपत्तिके समयमें भी राज्यभारको ग्रहणकर अत्यन्त दक्षताके साथ राज्यकार्य-का सञ्चालन किया था। उनके सुन्दर यश और कीर्तिसे भारतीय इतिहास समुज्ज्वल हो रहा है। पुण्यशीला अहल्या-बाई, रानी कर्मदेवी और रानी दुर्गावतीकी जीवन-कथा सभीको विदित है। इनकी अपेक्षा कुछ सङ्कीर्ण कर्मक्षेत्रमें रानी भवानी, लक्ष्मीबाई और शरत्सुन्दरीका नाम भी उल्लेखयोग्य है।

इस प्रकार यथार्थ महत्त्वकी अधिकारिणी होनेके कारण गृहस्थ-जीवनमें आज भी गाँव-गाँव और घर-घरमें त्यागशीला;

सेवापरायणा तथा परोपकारशीला विधवाएँ वर्तमान हैं। उन्हींके प्रभावसे आज भी गाँव-गाँवमें जलाशय हैं, जिनसे सर्वसाधारणको जल प्राप्त होता है; मन्दिर, अतिथिशाला और धर्मशालाएँ हैं, जहाँ अनाथ, भिक्षुक और संन्यासी आश्रय पाते हैं। रोग और शोकसे व्यथितोंकी सेवा प्रधानतया कौन करती हैं? उनके लिये कौन रातों जागती हैं? उन्हें कौन सान्त्वना देती हैं? मातृहीन बच्चोंके लिये कौन माताके स्थानको ग्रहण करती हैं? माताओंको सन्तानप्रतिपालनमें कौन सहायता देती है? वे हैं—एक ही सादा वस्त्र पहननेवाली, एक ही समय भोजन करनेवाली, और परसेवाव्रतमें रत रहनेवाली, मूर्तिमान् त्यागस्वरूपा, प्रशान्त गम्भीरमूर्ति महीयसी हिन्दू विधवाएँ! (इसके अतिरिक्त वे इस प्रकार दूसरोंकी सन्तानका पालन करती हुई मातृत्वके सुखका भी उपभोग करती हैं और उनकी भक्ति-श्रद्धा भी प्राप्त करती हैं।) इस पवित्र विधवा-जीवनके दृष्टान्तके प्रभावसे, तथा स्वामीकी मृत्यु होनेपर उनको इसी प्रकार सर्वत्याग करना पड़ेगा, यह जानकर सभी हिन्दू-स्त्रियाँ विलास-आसक्तिका त्याग करना सीखती हैं, सर्वत्याग करनेके लिये तैयार होती हैं, उन्हें त्यागके लिये उपयुक्त हृदयबलकी दृढ़ता प्राप्त होती है, दूसरोंके दुर्व्यवहारसे उनका कर्तव्य-ज्ञान शिथिल नहीं होता, वे हृदयमें बल पाती हैं। इस प्रकार सभी त्यागशीलताके—परार्थपरताके यथार्थ महत्त्वकी अधिकारिणी बनती हैं, यथार्थ महत्त्वका अनुसरण करनेमें किसी भी प्रकारके त्यागसे वे मुँह नहीं मोड़तीं, उनका प्रभाव सभीके ऊपर पड़ता है। हिन्दू-कन्याको जन्मसे ही जो त्यागका पाठ पढ़ाया जाता है, वह उसकी महत्त्ववृद्धिके लिये ही। इसीलिये वे महाराणा प्रतापके साथ अरवली पहाड़के जंगली प्रदेशोंमें घासकी रोटी खाकर जीवन धारण करनेमें दुःख नहीं मानतीं। इसीलिये वे माता-पिता और पतिके दुःखोंमें अपना हाथ बँटाकर सुखपूर्वक उनके दुःखको हल्का कर देती हैं। और तो क्या, इस महत्त्वका, परार्थपरताका प्रभाव आज भी हमारी पतिता वेश्याओंमें भी पाया जाता है! यही देखकर उनके दुःखमय जीवनके प्रति सहानुभूतिसे द्रवित होकर प्रतिभाशाली उपन्यासकार शरद्बाबूने लोगोंकी दृष्टि और सहानुभूतिको उनकी ओर आकर्षित किया है!

सभी हिन्दू-स्त्रियोंका जीवन इस प्रकार परार्थपरता और त्यागशीलताके यथार्थ महत्त्वसे प्रभावित होनेके कारण ही पतिके दुर्व्यवहारमें भी वे अपने पति और अन्योंके प्रति कर्तव्यका निरन्तर पालन करती रहती हैं, तथा प्रायः देखा जाता है कि कुछ दिनोंके बाद पतिको ही उनके महत्त्वके सामने सिर झुकाना पड़ता है, अपने दुर्व्यवहारके लिये पश्चात्ताप करना पड़ता है, और उन्हें प्रसन्न करनेकी चेष्टा करनी पड़ती है। हमारी स्त्रियोंके इन गुणोंके कारण ही हमारे घरोंमें शान्ति, प्रेम और सन्तोष है; साधारण झगड़ेमें—आपसकी साधारण-सी भूलमें पाश्चात्योंकी तरह हमारे घरोंकी बरबादी नहीं होती। इसी कारण हमारी स्त्रियाँ घरकी 'लक्ष्मी' कही जाती हैं। हमारी स्त्रियाँ सेवा-धर्मसे अनुप्राणित हैं, इसीलिये वे अपनेको 'दासी' कहकर परिचय देनेमें ही अपना गौरव समझती हैं। राजपुत्रके जीवनका आदर्श जिस प्रकार Ich Dien (I serve, मैं दास हूँ) शब्दोंमें प्रकाशित होता है, उसी प्रकार इनके जीवनका आदर्श भी 'मैं दासी हूँ' इन्हीं शब्दोंमें प्रकाशित है और इसीके प्रभावसे—

गृहाङ्गनोंने सीख लिया है अपने घरको फैलाना—
स्वजन बने हैं पास-पड़ोसी, बान्धव अतिथि अनाथ;
भोग बँधे रहते हैं उनके संयमके ही साथ।

(अपूर्ण)

'शरणागत'

माँगत सम्पति हौं न कुबेरकी, राज नहीं सुरराजको माँगत।
त्यों अवधेश जु कल्पलता, सुरधेनु, सुमेरु नहीं अनुरागत॥
पारथ भीमको माँगौं नहीं बल बुद्धि न माँगौं विरञ्चिकी जागत।
केवल माँगौं यही करुणानिधि सेवक श्रीपदकी शरणागत॥

—श्रीअवधविहारी श्रीवास्तव 'अवधेश' साहित्यालङ्कार

नरेशका साधन

कहानी

(लेखक—श्री 'चक्र')

(१)

'उधर उस बड़े पेड़के नीचे कल उन्हें देखा था। उसीके आस-पास कहीं होंगे।' थके हुए नरेशको मित्रके इन वचनोंसे कुछ सन्तोष आया। इस कड़ी धूपमें सात मील पैदल यात्रा करनेके पश्चात् उसके लिये एक-एक पद चलना भारी पड़ रहा था। प्यासकी पीड़ा ऊपरसे।

दोनों उन वृक्षोंके झुरमुटके समीप पहुँचे। उनके मुखपर प्रसन्नताकी लहर दौड़ गयी। एक वृक्षके नीचे एक कौपीनधारी संन्यासी पृथिवीपर सिद्धासन लगाये ध्यानस्थ-से बैठे थे। उनका शरीर इकहरा और रंग साँवला था। ललाटपर सात्त्विक तेज था। समीप ही एक मिट्टीका पात्र जलसे भरा हुआ रक्खा था।

पहले दोनों मित्र नीचे गंगाजीके किनारे गये, आचमन किया, हाथ-पैर धोये, तृषा शान्त की। फिर ऊपर आकर उन महात्माजीको प्रणाम करके एक ओर बैठ गये। आहट होनेसे महात्माजीके अर्धनिमीलित नेत्र खुले, दोनोंने पुनः प्रणाम किया। 'नारायण!' महात्माजीने बहुत धीर एवं गम्भीर स्वरसे पूछा 'कब आये?' मित्रसेनने बतला दिया 'अभी आये हैं।'

बातचीतका क्रम आगे बढ़ा। 'इन्हींके विषयमें कल कह रहा था। ये मेरे मित्र हैं। एक सम्पन्न एवं सम्भ्रान्त कुलके एकमात्र उत्तराधिकारी हैं। उच्च शिक्षा भी पायी है, पर आजकल पता नहीं क्यों इधर-उधर घूमते रहते हैं। घरसे जाते हैं तो महीनों पता ही नहीं लगता कि कहाँ गये। किसीको कुछ बतलाते भी नहीं। पिताजीको बड़ा कष्ट होता है, वे मुझे बार-बार समझानेको कहते हैं।' नरेशकी ओर संकेत करके मित्रसेनने महात्माजीको बतलाया।

नरेश संकोचसे मस्तक झुकाये चुपचाप पृथिवीकी ओर देख रहा था। महात्माजीने बड़े प्रेमसे पूछा 'क्यों भैया! तुम घरसे कहाँ जाते हो? जाकर क्या करते हो? तुम्हारी इच्छा क्या है?' किसीके सामने रोनेका नरेशके लिये आज पहला ही अवसर था। उसके नेत्रोंसे बड़ी-बड़ी आँसुओंकी बूँदें पृथिवीपर टपकने लगीं। भरे स्वरमें उसने कहा 'आपसे क्या छिपाना है? जीवनके लक्ष्यको ढूँढ़नेके लिये पता नहीं कितना भटका, कितने महात्माओंके चरणोंमें गया; पर किसीने इस तुच्छ प्राणीको अपनी कृपाका अधिकारी नहीं समझा। आज आपके श्रीचरणोंमें पहुँचा हूँ। आपकी तनिक कृपासे इस अधमका उद्धार हो जायगा।' महात्माजीके चरणोंको पकड़कर वह फूट-फूटकर रोने लगा।

महात्माजीने उसे उठाया, शान्त किया। जब वह तनिक आश्वस्त हुआ तो समझाने लगे 'भाई! आत्मकल्याण कोई ऐसी वस्तु थोड़े ही है कि कोई तुम्हें उठाकर दे देगा। अरे! आत्माका कल्याण आत्माके—अपने-आपके द्वारा ही हो सकता है। दूसरा तुम्हें पथ बतला सकता है, अपनी शक्तिभर तुम्हारी सहायता कर सकता है; पर साधन तो स्वयं ही करना होगा।

दूसरेका कार्य है तुम्हें प्रगति देना, चलना तुमको होगा। इस प्रकार भटकते रहोगे तो कुछ होनेसे रहा। पहले चित्तको शुद्ध करो, विचारके द्वारा आसक्तिका नाश करो और उपासनाके द्वारा चित्तकी

एकाग्रता प्राप्त करो। विषयासक्तिके नष्ट होनेपर जब चित्तमें एकाग्रता आ जायगी तो स्वतः उस निश्चल चित्तमें स्वरूपकी स्फूर्ति होगी।'

नरेशने विचारका स्पष्टीकरण चाहा और महात्माजीने बड़े विस्तारसे उसे जगत्‌का मिथ्यात्व, विषयोंकी दुःखरूपता और वैराग्यकी शान्तिका वर्णन सुनाया। उपासनाकी शास्त्रीय पद्धति भी उसकी रुचि एवं अधिकारके अनुसार उसे बतायी। अन्तमें चलते समय नरेशने पूछा 'पुनः कब दर्शन होंगे?' उत्तर मिला 'तुम दूसरेकी अपेक्षा क्यों करते हो? दर्शन हो, इसमें आग्रह क्यों? मनुष्यपर नहीं, भगवान्‌पर अवलम्बित रहो। मेरी नहीं, अपने इष्टकी अपेक्षा करो। तुम्हारी समस्त आवश्यकताओंकी पूर्ति और तुम्हारे समस्त विघ्नोंकी शान्ति वहींसे होगी।' दोनोंने महात्माजीको प्रणाम किया और लौटे।

(२)

बड़ी तीव्र गतिसे साधनका क्रम चला। आरम्भके कुछ दिनों केवल साधनकी ही धुन थी। दिनभर और रात्रिमें भी, नरेश प्रायः अपने एकान्त कमरेमें जप या पूजा-पाठ अथवा ध्यान करता रहता। जैसे आरम्भमें कोई अखाड़ेमें जाकर प्रथम दिन शक्तिभर व्यायाम कर ले तो दूसरे दिन उठनेकी भी शक्ति न रहेगी, ठीक उसी प्रकार मनसे प्रथम ही इतना अधिक श्रम लिया गया कि वह श्रान्त हो गया, विद्रोही हो गया।

अधिक-से-अधिककी धुन नरेशपर सवार थी, उसे अभ्यासका अर्थ अवगत न था। प्रतिक्रिया होनी ही थी, मन अब बहुत परिश्रम करनेपर भी पूजा-पाठमें नहीं लगता था। दिनभर तो दूर, आध घंटे बैठना भी भारी पड़ने लगा। 'पूजा-पाठमें रक्खा क्या है? पता नहीं, ईश्वर है भी या यह सब केवल अन्धपरम्परा है! फिर कर लेंगे, अभी तनिक घूम आयें।' आदि ऐसी बातें और तर्क मनमें आने लगे जिन्हें न कभी सोचा था और न जिनकी कभी सम्भावना ही थी।

कभी-कभी बड़ा पश्चात्ताप होता। घंटों बैठकर नरेश भगवान्‌के सामने कातर प्रार्थना करता, रोता। अपनी चञ्चलतापर उसे बहुत दुःख था। प्रार्थना विफल तो होती ही नहीं; धीरे-धीरे पहली प्रतिक्रिया शान्त हो गयी। आरम्भिक आवेश चला गया था, अब धीरे-धीरे साधनका क्रम बढ़ा। अब अभ्यास होने लगा, मन क्रमशः अधिकाधिक उसमें प्रवृत्त होने लगा। वे कुतर्क जैसे आये थे वैसे ही अपने आप हृदयसे दूर हो गये। साधनमें आनन्द भी आने लगा।

सहसा वासनाएँ प्रबल हो गयीं--इतनी प्रबल जितनी जीवनमें कभी न हुई थीं। स्वभाव चिड़चिड़ा हो गया। बात-बातपर झुँझलाहट होती थी। स्वार्थवृत्ति अत्यन्त बलवान् हो गयी, किसीका अपनी वस्तुओंको छूना भी पसंद न था। दिनभर विषयोंका चिन्तन मन करता रहता। पता नहीं क्या-क्या पाप करनेके विचार उठते थे। प्रयत्न करनेपर भी विषय मनसे न निकलते थे। विचार-शक्ति कुण्ठित-सी हो गयी, वैराग्य विदा हो गया प्रतीत होता था।

नरेशको क्या पता था कि गंदे भवनको स्वच्छ करते समय एक बार धूल उड़कर उसे भर देती है, बुझते दीपकी शिखाकी भाँति साधनके द्वारा नष्ट होती हुई वासनाएँ एक बार वेगसे उभड़ उठती हैं। वह घबड़ा गया इस परिस्थितिसे। वह सोचने लगा 'साधनके द्वारा मेरी कुछ उन्नति तो हुई नहीं, उलटे मेरा पतन हो गया। मैं ऐसी स्थितिमें आ गया जिससे अच्छी स्थिति तो साधन आरम्भ करनेके पूर्व ही थी।' कोई

मार्ग सूझता न था। व्याकुल होकर वह पुनः भगवान्‌के सम्मुख रोने लगा। बारंबार रोता और प्रार्थना करता।

एक बात अच्छी हुई, इस व्याकुलतामें भी उसने साधन छोड़ा नहीं। कई बार उसने सोचा भी 'ऐसे साधनसे क्या लाभ! अब साधन नहीं करूँगा।' पर यह बात विचारोंतक ही रह गयी। पता नहीं क्यों नित्य समयपर वह अपने एकान्त कमरेमें पूजा करने जा बैठता। निश्चित जप भी करता। इच्छा न होनेपर भी कोई अज्ञात शक्ति उससे यह करा लेती थी। सम्भवतः अब यह उसका स्वभाव बन गया था, जिसे कि वह छोड़ना चाहनेपर भी न छोड़ सका।

धीरे-धीरे विचार जागृत हुआ। वासनाएँ शिथिल पड़ने लगीं। चित्तमें शान्तिका प्रादुर्भाव हुआ। क्रोध और चिड़चिड़ापन पता नहीं कहाँ लापता हो गये। अब उसे अपनी प्रथम स्थितिपर हँसी आती थी। स्पष्ट प्रतीत होता था कि वह तो एक बच्चों-जैसी विचार-शून्य अवस्था थी। हृदय प्रेमसे आप्लावित हो उठा। किसी भी प्राणीको प्यार करनेमें, कुछ देनेमें, किसीकी सेवा करनेमें अपूर्व आनन्द आता था। स्वार्थ पता नहीं किधर भाग गया। अपने शरीरका ध्यान रहता भी तो नाम मात्रको।

किसी भूखेको भोजन करानेपर नरेशको तृप्तिका अनुभव होता। शीतमें वह अपने वस्त्र दूसरोंको दे डालता और स्वयं उष्णताके सुखका अनुभव करता। लोग सोचने लगे कि वह पागल हो गया। सचमुच वह पागलोंकी भाँति रहने लगा था। चाहे जहाँ भी बैठ रहता, कहीं भी लेट जाता, सदा कुछ गुनगुनाता रहता। किसीको देखकर अनायास ही खिलखिलाकर हँसने लगता और कभी अकारण फूट-फूटकर रोने लगता। किसीको भी दण्डवत् करने लगता।

कहाँकी पूजा और कैसा पाठ! नरेशसे अब सब छूट गया! घरके लोग पागल समझकर निराश हो गये थे। वह कभी बैठता तो नेत्र बंद किये घंटों ध्यानस्थ बैठे रहता, कभी घूमने निकल जाता तो फिर उसे पकड़कर ही वापिस लाना पड़ता। किसी भी स्थानपर बैठकर किसी भी वस्तुकी पूजा करने लगता। उसे स्वयं भी पता न था वह क्या कर रहा है।

लोगोंको कुछ धैर्य हुआ, नरेशका पागलपन दूर होने लगा। पहले तो वह प्रायः गम्भीर रहने लगा। दिनभर बैठा रहता, किसीसे बोलतातक न था। किसीने कुछ खिला दिया तो खा लिया और जल पिला दिया तो पी लिया। स्वयं कुछ भी नहीं करता था। धीरे-धीरे बोलने लगा, नित्यकर्म भी नियमसे होने लगे। कोई कुछ पूछता तो प्रेमभरे शब्दोंमें उत्तर भी मिल जाता।

(३)

इच्छाके विना कुछ हुआ नहीं करता। नरेश सब कुछ करता था दूसरोंकी प्रेरणासे। पर यह प्रेरणा कबतक चलती। एक दिन स्वभावतः वह उठा और गङ्गा किनारे चलने लगा। पता नहीं कबतक चलता रहा, इच्छा हुई तो बैठ गया। यह गृहत्याग था भी और नहीं भी था। त्यागनेका सङ्कल्प नहीं उठा था, पर अब लौटनेकी इच्छा भी नहीं होती थी। घरके लोग सन्ध्यातक तो प्रतीक्षामें रहे, रात्रिको अन्वेषण क्या होता। प्रातः जितना हो सकता था पता लगाया गया, पर पता लगा नहीं।

नरेशकी यात्रा चलती रही। विना माँगे कोई खिला देता या पिला देता तो उसीसे शरीर-पोषण होता। आज यहाँ तो कल वहाँ। प्रातः उठते ही चल देता और फिर जहाँ मन आता वहीं रुक जाता। रात्रिका विश्राम फिर उसी स्थलपर होता। शरीरके सुख-दुःख या मानापमानका पता भी न था। कहाँ क्या होता है इसे कौन देखे।

एक दिन गङ्गाकिनारे पटनेसे लगभग ७५ मील पूर्व नरेश एक बटवृक्षके नीचे चलता हुआ बैठ गया। यह उसकी अन्तिम यात्रा थी। वह वहाँसे फिर नहीं उठा। ग्राम समीप था, उसमें एक बड़े श्रद्धालु ब्राह्मण रहते थे। उन्होंने स्नानसे लौटते हुए वटके नीचे एक साधुको ध्यानस्थ देखा। घरसे प्रसाद ले आये, बड़ी देरतक प्रतीक्षा करनेपर भी जब ध्यान भङ्ग न हुआ तो उन्होंने पुकारा। नेत्र खुल गये, पर प्रसाद करनेकी प्रार्थनाका कोई उत्तर नहीं मिला। अन्तमें अपने हाथसे ब्राह्मण देवताने उनके मुँहमें ग्रास दिये। स्वयं जल पिलाया, मुख धो दिया।

यही क्रम उस ब्राह्मणका सम्भवतः दो-तीन महीने चला। अन्तमें जब एक दिन वह महात्माजीको प्रसाद कराने आया तो बहुत पुकारनेपर भी उनका ध्यान भङ्ग न हुआ। हिलाया, झकझोरा, पर सब व्यर्थ। निराश लौटना पड़ा। दिनमें कई बार चेष्टा हुई, पर महात्माजी ध्यानसे नहीं जगे। पन्द्रह-बीस दिनके पश्चात् एक दिन प्रातः उस ब्राह्मणको उनका शरीर शीतल मिला। वह निष्प्राण था। ब्राह्मणपर कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह घर-द्वार छोड़कर उसी स्थानपर कुटिया बनाकर भजन करने लगा। लोग उस ब्राह्मणको सिद्ध महात्मा मानते थे। उसकी समाधिपर अब भी कामना-पूर्तिके लिये लोगोंकी भीड़ लगी रहती है।

सच्ची शरण

(ले०—बहिन श्रीरैहाना तैयबजी)

एक बड़ा कमरा है, आरास्ता, पैरास्ता, खूबसूरत और कीमती सामान व सजावटसे सुशोभित। जमीन सुंदर ईरानी कालीनोंसे गुलजार बनी हुई है, दीवारोंपर उम्दा तस्वीरें लगी हैं, कौच, कुरसियाँ, तकिये निहायत नफीस और मौजूँ रंगोंके रेशमी गिलाफ़ पहने अपनी-अपनी शान दिखा रहे हैं। मेजोंपर पीतलका सामान चमक रहा है, और बड़े-छोटे गुलदानोंमें बेहिसाब फूल इस शोभाको दुगुनी बढ़ा रहे हैं। मतलब यह कि यह शानदार कमरा इन्सानके शौक और हौसिलेका एक कामिल नमूना है, जो अपने ऐशोआरामके लिये सारी ही कुदरतको अपनी खिदमतमें लगा देता है; जो अपनी इच्छाओंको पूरी करनेके लिये पत्थर और धातुसे लेकर बिजलीतकपर अधिकार जमानेसे पीछे नहीं हटता!····कमरा लोगोंसे भरा है। हर तरफ उम्दा पोशाकें आँखोंको खैंचती हैं, और रंग-बिरंगे रत्नोंकी झलझलाहट नजरको चौंधिया-सी देती है····क्या शान है!····किसकी शान?···· हर चीजकी शान! लकड़ीकी शान, धातुकी शान, पत्थरकी शान, कपड़ेकी शान, फूलोंकी शान। और उससे बढ़कर, इन्सानकी शान!····और उससे भी बढ़कर भगवान्‌की शान!····हाँ, आखिरमें जाकर तो इसे खुदाहीकी शान मानना पड़ेगा, क्योंकि हर शानमें उसीकी शान समायी है। 'अल्हम्दुलिल्लाह!' यानी, सब तारीफ़ है अल्लाहकी! इस महावाक्यमें सभी कुछ आ जाता है—'हे अर्जुन! हर श्रेष्ठ चीज़-की श्रेष्ठता मुझीसे है।' इन्सान अगर इस बातको याद रक्खे तो? तो संसार 'मोहजाल' मिटकर वैकुण्ठ, या अर्शेमुअल्ला, हो न बन जाय? 'अल्हम्दुलिल्लाह!' पाठ करना कितना सहल है, याद रखना किस क़दर मुश्किल!········

मेरी आँख एक गुलदानपर पड़ती है, जिसमें बड़े-बड़े सुर्ख गुलाब गोया अपना खूनेजिगर बहाकर इस शोभाको और बढ़ा रहे हैं; उनके दिलोंसे याकूती शुले निकल रहे हैं, गोया वे झुँझलाकर कह रहे हों—'हमारी खुदाईको, ऐ इन्सान, तूने अपने ऐशकी कनीज बना दी! याद रख मगर—हमारा रूप, हमारी रंगोबू तेरे कमरेकी खूबसूरतीपर कुरबान क्यों न हों, पर हमारी रूह तो बागों और गुलिस्तानोंमें

आजाद घूम रही है !'....एक गुलाबपर नजर ठहरी—और मैं चौंक उठी।

वह बड़ा कमरा अपनी शानो-सजावटसमेत आँखोंसे ओझल हो गया। लोगोंकी आवाजें—उनकी गुफ्तगू, बहसें, छेड़छाड़ और हास्यविनोद—गोया दूर और दूर हटने लगे, मंद और मंद पड़ने लगे, यहाँतक कि मेरी बढ़ती अंदरूनी खामोशीमें गर्क़ हो गये। मेरे सामने सच्चा शरणभाव मूर्तिमान् होकर लहलहा रहा था।

एक बड़ा सुर्ख़ गुलाब दीवारसे टेका लगाये खड़ा था। आहाहा! क्या खूब! उसकी टहनी और पत्तियाँ दूसरे गुलाबोंसे मिली-जुली थीं, पर खुद कुछ अजब, दिलफ़रेब बेपरवाहीसे कमरे, गुलदान और अपने लहराने, मलकाते साथियोंकी ओरसे पीठ फेरकर दीवारमें मुँह छिपाये, वैराग्य, बेखुदी, कुरबानी और सम्पूर्ण शान्तिकी तस्वीर बना हुआ था! गोया गुलाबोंमें यह मुनी था। उस कमरेकी सभी चीजें—बड़ी-छोटी, हलकी-भारी—चलायमान थीं—हटायी जा सकती थीं। हिलायी जा सकती थीं। पर देखिये, इस गुलाबकी अक़्लमंदी, कि उसने उसी एक चीजका सहारा ले रक्खा था जो अचल और अटल थी, जो अपने ही सहारे खड़ी थी, जिसको किसी और सहारेकी जरूरत ही न थी! मेरे दिमागमें बिजलीके वेगसे खयाल दौड़ा—'वाह रे सच्चे भक्त! भगवानके मंगलमय चरणोंको प्राप्त करके उन्हींपर माथा टेक दिया!.... मायाके जंजालको त्यागकर, मायापतिहीके सीनेमें मुँह छिपा लिया!....गुरु पुष्पराज, तुमको हमारे हजारों प्रणाम हों!'

....

भाई गुलाब, हमें भी यह शरणागतिका सबक़ सिखला दो न! तुम तो निर्भय हो बैठे, लिहाज हमें भी निर्भयताकी राह बतला दो! हम भी तुम्हारी ही तरह जगत्के विशाल गुलदानमें भरे पड़े हैं। हम यहाँ कैसे आये और हमारा यहाँ क्या काम है!.... क्या किसी मौजीले मालिकके शौक़का सामानमात्र हैं! नहीं! दिमाग इसे क़बूल नहीं करता। सिर्फ़ इसीलिये हम नहीं बनाये गये थे। अगर हमारा काम इतना ही है, तो हमें इतने बड़े-बड़े हौसिले, ऐसी दिव्य प्रेरणाएँ क्यों दी जाती हैं!—अरे, यह तो हमारे अहङ्कार व अभिमानकी आवाज है, दिलकी नहीं! वरना हमारे मालिकके दीदार करके, उनकी महिमा, उनके सौन्दर्य, उनके कमालपर फ़रेफ़्ता होकर तो हम यही कहेंगे—'धन्य हैं हम, जो मालिकने हमें अपने खिलौने बनानेके लायक़ समझा!....'

कभी-कभी हम अपने नक़्लीदी रूप और गुण-सौन्दर्यपर इतराते हुए, जीवन-कमरेको अपनी ही मिलकियत समझ बैठते हैं। मान लेते हैं यह हमारा है; इसके, इसकी सजावटके, इसकी शानोशौकतके हमीं मालिक हैं। फिर जब मुरझाकर हम उस कमरेसे निकाले जाते हैं, और किसी कूड़े-कचरेके ढेरपर फेंक दिये जाते हैं, तो हमारा अभिमान ख़ाकमें मिलकर जलील मौत मरता है....हम उस वक़्त कहाँ जाते हैं!....अरे! ख़ाक बनकर क्या हम उसी मालिककी चरण-रज नहीं बनते, जिसने हमें चुनकर अपने कमरेमें रक्खा था!....पुष्प बनकर तो हम सिर्फ़ उसके गुलदान सजाते रहे, पर धूल होकर तो हमें उसके जिस्मे मुबारकको छू लेनेका, उससे लिपट जानेका, उसमें प्रवेश करके उसीका हिस्सा बन जानेका इख़्तियार मिल गया!

कुछ अजब तमाशा है यह! हम 'हम' भी हैं, और 'वह' भी हैं! हम सजावट भी हैं, और खार भी हैं; गुलाम भी हैं, आजाद भी हैं; मालिकके खिलौने भी हैं, और उसके प्रियतम भी हैं! हम ख़ाक भी हैं और मालिकके सीनेकी शोभा भी हैं!....हम क्या हैं, क्या नहीं हैं!....हम कुछ नहीं हैं और सभी कुछ हैं! उसके बग़ैर हम हैं ही नहीं; उससे मिले, तो हमीं हम हैं—हमारे सिवा कुछ भी नहीं!........

ऐ गुलाब! हे गुरु महाराज! आपको हमारे साष्टाङ्ग प्रणाम!........

सुननेवाले लाखों हैं, सुनानेवाले हजारों हैं, समझनेवाले सैकड़ों हैं, परन्तु करनेवाले कोई विरले ही हैं। सच्चे पुरुष वही हैं और सच्चा लाभ भी उन्हींको प्राप्त होता है जो करते हैं।

उपदेश करो अपने लिये, तभी तुम्हारा उपदेश सार्थक होगा। जो कुछ दूसरोंसे करवाना चाहते हो, उसे पहले स्वयं करो। नहीं तो तुम्हारा उपदेश नाटकके अभिनयके सिवा और कुछ भी नहीं है।

नाटकमें हरिश्चन्द्र, प्रह्लाद, शंकराचार्य और चैतन्य महाप्रभुके पार्ट बहुत कुछ किये जाते हैं, परन्तु इनसे उन पार्ट करनेवालोंको सिवा नौकरीके और क्या मिलता है। ऐसे ही कोरे अभिनयसे तुम्हारा आत्मिक लाभ कुछ भी नहीं है। अभिनय छोड़कर आचरण करो।

संसारमें भली-बुरी दोनों ही चीजें हैं। जो जिसका ग्राहक है, उसे वही मिलती है। तुम बुरीको छोड़कर भलीके ग्राहक बनो। फिर देखो, तुम्हें भली-ही-भली मिलेगी। हाट उसी मालकी लगा करती है, जिसके खरीदार होते हैं।

इस सूत्रको याद रक्खो—भगवान्‌का चिन्तन ही परम लाभ है, और भगवान्‌की विस्मृति ही परम हानि है। और इसके अनुसार भगवान्‌का चिन्तन करते हुए ही जगत्‌के सब काम करनेकी चेष्टा करो।

भगवान्‌पर जो तुम्हारा विश्वास है, उसे कभी डिगने न दो; जहाँतक बढ़ सके, बढ़ाओ। भगवान्‌में विश्वास एक महान् बल है। भगवान्‌में विश्वास रखनेवाला पुरुष ही भीतरी शत्रुओंपर विजय प्राप्त करके निर्भय हो सकता है।

किसीसे डरो मत; डरो बुरे आचरणोंसे, अपने हृदयकी गंदगीसे, और भगवान्‌के प्रति होनेवाले अविश्वाससे। जिसके मनसे भगवान्‌का विश्वास उठ गया, यह निश्चय समझो कि उसकी आध्यात्मिक मृत्यु ही हो गयी।

किसीके द्वारा अपनी कोई महत्त्वपूर्ण सेवा बन पड़े तो बदला चुकाने जाकर उसका तिरस्कार न करो। सच्ची सेवाका बदला तुम चुका ही नहीं सकते। तुम तो बस, कृतज्ञताभरे हृदयसे, जहाँतक अपनेसे बने सब तरहसे उसकी सेवा ही करते रहो। और सच्चे दिलसे ऐसी चेष्टा करो, जिससे उसको न तो तुमसे सेवा करानेमें सङ्कोच हो, और न अपनी सेवाका वह बदला ही समझे।

सेवा करके भूल जाओ, कराके याद रक्खो। दुःख पाकर भूल जाओ, देकर याद रक्खो; भला करके भूल जाओ, कराके याद रक्खो; बुरा कराके भूल जाओ, करके याद रक्खो।

दूसरेके दोषोंका न प्रचार करो, न चर्चा करो और न उन्हें याद ही करो। तुम्हारा इसीमें परम लाभ है। भगवान् सर्वान्तर्यामी हैं, वे किसने किस परिस्थितिमें, किस नीयतसे कब क्या किया है, सब जानते हैं, और वे ही उसके फलका भी विधान करते हैं। 'तुम बीचमें पड़कर अपनी बुद्धिका दीवाला क्यों निकालने जाते हो, और झूठी-सच्ची कल्पना करके दोषोंको ही बटोरते हो!' 'शिव'

दैनिक कल्याण-सूत्र

१ जून गुरुवार—जैसे प्यासके मारे छटपटाता हुआ प्राणी जलका स्मरण करता है, वैसे ही भगवान्‌का स्मरण करो।

२ जून शुक्रवार—जैसे बहुत ही बढ़े हुए जाड़ेसे पीड़ित मनुष्य अग्निका स्मरण करता है, वैसे ही भगवान्‌का स्मरण करो।

३ जून शनिवार—जैसे सर्वोच्च श्रेणीकी पतिव्रता स्त्री अपने पतिका स्मरण करती है, वैसे ही भगवान्‌का स्मरण करो।

४ जून रविवार—जैसे बहुत ही डरा हुआ मनुष्य किसी समर्थ शरण्यका स्मरण करता है, वैसे ही भगवान्‌का स्मरण करो।

५ जून सोमवार—जैसे अत्यन्त लोभी मनुष्य धनका स्मरण करता है, वैसे ही भगवान्‌का स्मरण करो।

६ जून मंगलवार—जैसे कामातुर मनुष्य स्त्रीका स्मरण करता है, वैसे ही भगवान्‌का स्मरण करो।

७ जून बुधवार—जैसे इकलौते पुत्रकी माँ अपने पुत्रका स्मरण करती है, वैसे ही भगवान्‌का स्मरण करो।

८ जून गुरुवार—जैसे प्यासा पपीहा मेघका स्मरण करता है, वैसे ही भगवान्‌का स्मरण करो।

९ जून शुक्रवार—जैसे अँधेरेमें भटकता हुआ मनुष्य प्रकाशका स्मरण करता है, वैसे ही भगवान्‌का स्मरण करो।

१० जून शनिवार—जैसे अत्यन्त थका हुआ पुरुष विश्रामका स्मरण करता है, वैसे ही भगवान्‌का स्मरण करो।

११ जून रविवार—जैसे विद्याव्यसनी पुरुष विद्याका स्मरण करता है, वैसे ही भगवान्‌का स्मरण करो।

१२ जून सोमवार—जैसे प्राणियोंको अपने प्राण प्यारे होते हैं, वैसे ही प्यारसे भगवान्‌का स्मरण करो।

१३ जून मंगलवार—जैसे सबको अपना शरीर प्यारा लगता है, वैसे ही प्यारसे भगवान्‌का स्मरण करो।

१४ जून बुधवार—जैसे छोटा बच्चा माको याद करता है, वैसे ही भगवान्‌का स्मरण करो।

१५ जून गुरुवार—जैसे भूलकर घरसे बिछुड़ा हुआ मनुष्य घरका स्मरण करता है, वैसे ही भगवान्‌का स्मरण करो।

१६ जून शुक्रवार—भगवान्‌को भूलकर संसारमें सुख चाहना वैसा ही है, जैसा बालूको जल समझकर उससे प्यास बुझानेकी इच्छा करना।

१७ जून शनिवार—भगवान्‌के भजन बिना शरीर वैसे ही व्यर्थ है, जैसे कपड़ेमें बाँधा हुआ जल।

१८ जून रविवार—भगवान्‌का आश्रय छोड़कर संसार-सागरसे पार होनेकी इच्छा करना वैसा ही है, जैसे बिना हाथवाले मनुष्यका हाथोंसे तैरकर समुद्रको पार करनेकी इच्छा करना।

१९ जून सोमवार—भगवान्‌पर विश्वास न रखकर सत्य, अहिंसा आदिका पालन करना वैसा ही है, जैसा बिना ही नींवके पत्थरकी इमारत बनाना।

२० जून मंगलवार—भगवान्‌पर भरोसा न करके जीवनकी सफलताका मनोरथ करना वैसा ही है, जैसा मनके लड्डुओंसे भूख मिटाना।

२१ जून बुधवार—भगवान्‌का आश्रय छोड़कर दूसरेसे आशा करना वैसा ही है, जैसे घरके खजानेको त्यागकर भाड़ झोंकने जाना।

२२ जून गुरुवार—भगवान्‌को न चाहकर जगत्‌से प्रेम करना वैसा ही है, जैसा प्राणहीन मुर्देसे प्रेम करना।

२३ जून शुक्रवार—भगवान्‌के बलका तिरस्कार करके अपने बलपर भरोसा करना वैसा ही है, जैसा बिना जलकी नदीसे नहर निकालना।

२४ जून शनिवार—भगवान्‌का चिन्तन छोड़कर विषयोंका चिन्तन करना वैसा ही है, जैसा अमृत छोड़कर जहर पीना।

२५ जून रविवार—भगवान्‌का भजन छोड़कर भोगोंमें फँसना वैसा ही है, जैसा बहुमूल्य हीरेको खोकर काँच ले लेना।

२६ जून सोमवार—भगवान्‌पर निर्भर न करके अपनी अहंकारभरी चेष्टापर निर्भर करना वैसा ही है, जैसा बालूकी दीवारसे हाथीको बाँधना।

२७ जून मंगलवार—भगवान्‌को जाने बिना विद्याका खजाना वैसा ही है, जैसे सुगन्धसे अनभिज्ञ ऊँटपर कपूर या चन्दनका बोझा।

२८ जून बुधवार—भगवान्‌को न पहचानकर आनन्द ढूँढ़ने जाना वैसा ही है, जैसा मृगका शालके पेड़में कस्तूरीकी गन्ध सूँघने जाना।

२९ जून गुरुवार—भगवान्‌को पहचाने बिना शरीरकी शोभा वैसी ही है, जैसे मुर्देकी सजावट।

३० जून शुक्रवार—भगवान्‌को जाने बिना धर्मकी बात वैसी ही है, जैसी प्राणहीन हड्डियोंकी ठठरी।

दीन-विनय

मेरे प्राणधन, जीवनेश्वर सदाशिव !
कृपा कर, उमावर, महेश्वर सदाशिव !
यह जीवन-तरी, नाथ ! आवर्तमें है;
निहारो, सँभारो, उबारो, सदाशिव !
कहा जिसने मैं हूँ शरण, उसको तारा;
मुझे क्यों बिसारा, दयामय सदाशिव !
नहीं देख सकते-कोई हाथ जोड़े,
इधर भी निहारो कृपा कर, सदाशिव !
कृपाका भिखारी मैं दरपर पड़ा हूँ;
कहाँ सो रहे हो, दयालो सदाशिव !
जो जीवन दिया नाथने, नाथका हो—
यही याचना इक मेरी है, सदाशिव !
निकल जायँ मम प्राण यह रटते-रटते—
सदाशिव ! सदाशिव ! सदाशिव ! सदाशिव !
महामंत्र हो यह हृदयमें, अधरपर,
शिवा-शिव ! शिवा-शिव ! शिवा-शिव ! सदाशिव !

—श्यामनारायण मिश्र 'श्याम'

संकीर्त्तन

(लेखक—श्रीराधेकृष्णजी गुप्त)

अखिलविश्वाधार, भक्त-कल्पतरु, विश्वविमोहन श्यामसुन्दरके नाम, रूप, गुण इत्यादिका कीर्त्तन तन्मयता, तल्लीनता, कातरता तथा विह्वलतायुक्त करना—यह कीर्त्तन-भक्तिका स्वरूप है। कीर्त्तन करते हुए भक्त अपने हृदयाम्बुजको प्रभुके चरणोंपर न्योछावर कर देता है। कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है। हृदयमें अनुपम उल्लास एवं प्रफुल्लताका आविर्भाव होता है। शरीर शिथिल हो जाता है। कभी भावावेशमें वह नृत्य करने लगता है, कभी मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ता है। उसकी दशा अवर्णनीय होती है। प्रेमाश्रुकी धारा प्रवाहित होती रहती है। ऐसे ही भक्त उस सतत भक्तप्रेमी भगवान्‌को अतिशय प्रिय हैं। भगवान्‌के वचन हैं—

> वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
> रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
> विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
> मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥
>
> (भागवत ११। १४। २४)

अर्थात् जिसकी वाणी गद्गद हो जाती है, हृदय द्रवित हो जाता है, जो बारंबार ऊँचे स्वरसे नाम लेकर मुझे पुकारता है, कभी रोता है, कभी हँसता है और कभी लज्जा छोड़कर नाचने लगता है तथा जो ऊँचे स्वरसे मेरा गुणगान करता है—ऐसा भक्तिमान् पुरुष जगत्‌को पवित्र कर देता है।

द्विगुणित कार्य हुआ! स्वयं तो पवित्र हुआ ही, संसारको भी पवित्र करनेकी वह क्षमता रखता है। प्रभुके प्रेममें मस्त रहता है, संसारको प्रभुमय देखता है। फिर लज्जा अथवा संकोचकी आवश्यकता ही कहाँ रही। वह प्रभुमें लय हो जाता है।

> एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
> जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
> हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
> त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥
>
> (श्रीमद्भागवत)

'ऋषभनन्दन कवि राजा जनकसे कहते हैं कि जो पुरुष हरिके नाम-कीर्त्तनको ही अपने सम्पूर्ण जीवनका एकमात्र प्रधान उद्देश्य बना लेता है उसके हृदयमें अनुराग उत्पन्न होता है, हृदय द्रवीभूत हो जाता है। वह कभी हँसता है, कभी रोता है, कभी चिल्लाता है, कभी गाता है और कभी पागलकी तरह नाचने लगता है। उसको बाह्यज्ञान नहीं रहता, वह अपने प्रभुके प्रेममें मतवाला हो जाता है।'

वास्तवमें प्रेमका पथ निराला है। इसमें कितनी मधुर अनुरक्ति है—कितना हृदयका उल्लास है! प्रभुकी सन्निकटता प्राप्त हो गयी। मिलनका इससे सजीव तथा भावमय चित्र नहीं खींचा जा सकता। वास्तवमें यही ब्रह्मानन्द है, बल्कि ब्रह्मानन्द भी इसके सामने फीका है—यह अनिर्वचनीय है।

प्रभु भक्तवत्सल हैं। भक्तकी इस भावतीव्रता, प्रेमाधिक्य, आत्मसमर्पण तथा आत्मविस्मरणसे प्रभुका वत्सलता स्वयमेव प्रस्फुटित हो उठती है। वे उसके वशमें हो जाते हैं—उसके हाथ बिक जाते हैं। भक्तकी प्रभुका सान्निध्य प्राप्त करनेकी उत्कट अभिलाषासे प्रभु द्रवित हो जाते हैं। अर्जुनसे भगवान्‌ने कहा है—

> गीत्वा तु मम नामानि नर्तयेन्मम सन्निधौ।
> इदं ब्रवीमि ते सत्यं क्रीतोऽहं तेन चार्जुन॥
>
> (महाभारत)

'हे अर्जुन ! जो मेरे नामोंका गान करता हुआ, मुझे अपने समीप मानकर मेरे सामने नाचता है, मैं सत्य कहता हूँ कि मैं उसके द्वारा खरीद लिया जाता हूँ ।'

धन्य हो भक्तवत्सल ! तुम्हारी भक्तवत्सलताकी पराकाष्ठा हो गयी ! इतनी बड़ी प्रतिज्ञा और फिर निश्चयपूर्वक ! कितना सुगम पथ है ! न तो दुष्कर योग-साधनाओंकी आवश्यकता है और न 'कृपानकी धारा' के समान ज्ञानके पंथपर चलनेकी; यहाँ तो केवल प्रेमकी आवश्यकता है ।

उपर्युक्त परमानन्दको प्राप्त करनेका भी एकमात्र साधन भगवन्नाम-कीर्तन ही है । प्रभुका कृपा-भाजन बननेके लिये, अनन्य प्रेमकी प्राप्तिके हेतु, उसी कल्याणमय संकीर्तनकी शरणमें जाना उचित है । उस महामहिमके नाम-कीर्तनसे व्यथित हृदय शान्तिको प्राप्त होता है । महाप्रभु चैतन्यदेवकी वाणी है--

चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापणं
श्रेयःकैरवचन्द्रिकावितरणं विद्यावधूजीवनम् ।
आनन्दाम्बुधिवर्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं
सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्णसंकीर्तनम् ॥

'श्रीकृष्ण-कीर्तनसे चित्तरूपी दर्पण निर्मल हो जाता है अर्थात् चित्तकी समस्त वासनाएँ, जो उसको आच्छादित किये रहती हैं, दूर हो जाती हैं । विषय-वासनारूपी महादावाग्निजनित सन्तापको श्रीकृष्ण-कीर्तन शीतल कर देता है । जिस प्रकार चन्द्रोदयसे कुमुदिनीका पुष्प विकसित होता है उसी प्रकार श्रीकृष्ण-कीर्तनसे आत्माका पुष्प विकसित होता है । हरि-कीर्तनसे विद्या (ज्ञान) रूपी वधूके प्राण हुलस उठते हैं, आनन्दका समुद्र लहरा उठता है । पद-पदपर पूर्णामृतका स्वाद देनेवाला, समस्त जगत्‌की आत्माको नाम-प्रेममें नहला देनेवाला श्रीकृष्ण-कीर्तन सर्वोपरि विराजमान है ।'

कितना महान् लाभ ! कितना महान् परिवर्तन करनेकी क्षमता ! यह कितना उत्तम साधन है ! चाहे कितना भी दुराचारी हो, भगवान्‌की शरण होकर उनके नाम-गुणका कीर्तन करनेवाला साधु बन जाता है ! भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥
(गीता ९ । ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त हुआ मुझे निरन्तर भजता है, वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला हो गया । इसलिये वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और शाश्वत शान्तिको प्राप्त होता है । हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता ।'

यह कीर्तन-भक्तिकी महिमा है । इस प्रकार अनन्यतापूर्वक भगवान्‌के नाम-गुणोंका कीर्तन करनेसे मनुष्य परम शान्तिको प्राप्त होता है, जैसा कि कहा है—

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥
(गीता ९ । १४)

'भक्तजन निरन्तर मेरे नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए, मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करते हुए और बारंबार प्रणाम करते हुए सदा मेरे ध्यानमें लगे हुए अनन्यतासे उपासना करते हैं ।'

भगवन्नाम-कीर्तनकी महिमा अमित है, उसका प्रभाव अद्भुत है । भाव अथवा कुभावसे, स्वच्छन्दता अथवा विवशतासे कीर्तन करनेवालेको महान् फल होता है ।

अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्तिते सर्वपातकैः ।
पुमान् विमुच्यते सद्यः सिंहत्रस्तैर्मृगैरिव ॥

'अवश होकर भी हरिकीर्त्तन करनेपर पापीके सम्पूर्ण पाप उसे छोड़कर उसी प्रकार शीघ्र भाग जाते हैं जिस प्रकार सिंहसे डरकर मृग भाग जाते हैं।'

जब अवशतासे हरिनाम लेनेका यह फल है, तो 'स्वान्तःसुखाय' अथवा परमार्थप्राप्तिके हेतु किये हुए कीर्तनका कितना अतुलित प्रभाव होगा! अवशता क्या, हँसी अथवा निन्दाके भावसे भी कीर्त्तन करनेसे पाप नष्ट हो जाते हैं—

साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः॥

'किसी सङ्केतसे, परिहाससे, सङ्गीतादिमें विश्रामके लिये अथवा अवज्ञासे जो नाम-कीर्तन करता है, वह भी सब पापोंसे मुक्त हो जाता है।'

भगवन्नाम-कीर्त्तनमें वह दिव्य शक्ति है जो पापात्माद्वारा किये जानेपर भी उसके पापोंको हर लेती है। जिस प्रकार अमृतका यह साधारण गुण है कि चाहे पान करनेवाला उसके गुणको जाने अथवा न जाने, वह अपना फल अवश्य ही प्रदर्शित करता है, उसी प्रकार नामामृतका किसी प्रकार भी पान करनेसे उसका फल अवश्यमेव होगा। पान करनेवालेके पाप विलीन हो जायँगे, हृदयका मल नष्ट हो जायगा, वह शनैः-शनैः स्वयमेव भगवान्का अनन्य भक्त हो जायगा।

ज्ञानतोऽज्ञानतो वापि वासुदेवस्य कीर्त्तनात्।
तत्सर्वं विलयं याति तोयस्थं लवणं यथा॥

'ज्ञानसे हो अथवा अज्ञानसे, किसी प्रकार भी किये हुए श्रीकृष्ण-कीर्त्तनसे सर्वपाप उसी प्रकार विलीन हो जाते हैं जिस प्रकार जलमें डालते ही लवण गल जाता है।'

विना इच्छाके भी उच्चारण किये हुए नामसे पाप दूर हो जाते हैं—

हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः।
अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः॥

'जैसे अनिच्छासे स्पर्श किया हुआ भी अग्नि स्पर्श करनेवालेको जला ही देता है, उसी प्रकार दुष्ट पुरुषोंद्वारा स्मरण किया हुआ हरि-नाम उनके पापोंको हर लेता है।'

नाम-कीर्त्तनसे हृदयका मल दूर होकर चित्त अत्यन्त स्वच्छ हो जाता है, जिस प्रकार तपाये हुए सोनेकी आभा उज्ज्वल हो जाती है।

सर्वधर्मबहिर्भूतः सर्वपापरतस्तथा।
मुच्यते नात्र सन्देहो विष्णोर्नामानुकीर्त्तनात्॥
(वैशम्पायनसंहिता)

'सर्वधर्मत्यागी और सब पापोंमें निरत पुरुष भी यदि हरिनाम-कीर्त्तन करे तो पापोंसे छूट जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।'

जीवनका लक्ष्य है मोक्ष प्राप्त करना अथवा भगवान्के परमधामको प्राप्त करना। इसीके लिये ज्ञान, योग इत्यादि साधनाएँ निर्दिष्ट हैं। राम-नाम-कीर्त्तन 'अघ-खग-बधिक' तो है ही, वह परमेश्वरके परमपदपर भी पहुँचानेमें समर्थ है। अनन्य श्रद्धायुक्त भक्तके लिये तो कहना ही क्या, दोषयुक्त पापात्माको भी वह परमपद प्राप्त करानेमें समर्थ है—

अविकारी विकारी वा सर्वदोषैकभाजनः।
परमेशं पदं याति रामनामानुकीर्त्तनात्॥
(विष्णुपुराण)

'विकाररहित, विकारी या समस्त दोषभाजन पुरुष भी राम-नाम-कीर्त्तनसे परमात्माके परमपदको प्राप्त होता है।'

पापोंका प्रायश्चित्त करनेके लिये ही सम्पूर्ण जप-तप निर्दिष्ट हैं। विना पापोंके नष्ट हुए भगवत्साक्षात्कार अथवा परमपदकी प्राप्ति नहीं हो सकती। पापोंके नाश करनेका एकमात्र सरल उपाय सङ्कीर्त्तन करना है—

यन्नामकीर्त्तनं भक्त्या विलापनमनुत्तमम्।
मैत्रेयाशेषपापानां धातूनामिव पावकः॥

'हे मैत्रेय, जैसे अग्नि धातुओंके मलको दग्ध कर

देता है उसी प्रकार प्रेमपूर्वक हरिनाम-कीर्तन सब पापोंको जलाकर नष्ट कर देता है।'

उपर्युक्त प्रकारसे नाम-कीर्तनपरायण होनेसे पापाच्छादित हृदय-गगन नाम-भास्करके प्रखर प्रकाशसे उज्ज्वल हो जाता है और साधक निष्कामभावसे कीर्तन करता हुआ अयाचित कैवल्यको प्राप्त होता है।

नाम-संकीर्त्तनकी महिमा अथवा महत्ता तब अपेक्षाकृत अत्यधिक हो जाती है जब कलियुगका सम्बन्ध उपस्थित होता है। मनुष्योंकी तामसी प्रवृत्ति, धर्मलोलुपता, साधनकी दुर्लभता, अविद्या-अन्धकारसे आच्छन्न कर्मपथ, पापोंमें अनुराग, अहंकारकी गर्वमूलक वृत्ति इत्यादि कलियुगकी विशेषताएँ हैं। ये सभी मनुष्यको परमात्माकी सन्निधि प्राप्त करानेमें बाधक तथा वास्तविक और शाश्वत शान्ति-प्राप्तिके पथमें कण्टक हैं। ऐसे युगमें, जो दोषोंका भाजन है, मनुष्य मोक्ष किस प्रकार प्राप्त कर सकता है? इसका एकमात्र सरल, सुखद, सरस तथा सुलभ मार्ग संकीर्त्तन है। श्रीमद्भागवतमें कविश्रेष्ठ शुकदेव मुनि राजा परीक्षित्से कहते हैं—

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्त्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत्॥

(श्रीमद्भागवत)

'हे राजन्! इस दोषोंसे भरे हुए कलियुगमें एक महान् गुण यह है कि केवल श्रीकृष्णके नाम-कीर्त्तनसे ही मनुष्य कर्मबन्धनसे मुक्त होकर परमात्माको प्राप्त कर लेता है।'

ईश्वरप्राप्तिके हेतु इतना अल्प श्रम केवल कलियुगमें ही है। कृतयुगमें ध्यान एवं कठोर तप, त्रेतामें बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान तथा द्वापरमें विधिपूर्वक पूजन करनेसे मनुष्य ईश्वरको प्राप्त करनेमें समर्थ हो सकता था; किन्तु अनीति तथा दोषयुक्त इस कलियुगमें नाम-कीर्त्तन करके सरलतासे ही वह निःसंशय परम-पदको प्राप्त कर सकता है।

मनुष्यकी आयु अल्प है, साधन-सामग्री सुलभ नहीं है। अतएव उपर्युक्त साधनोंका समुचित रीतिसे आचरण इस समय दुष्कर ही नहीं, असम्भवप्राय है। मनकी त्वरित गतिसे ध्यान होना कठिन है। वैदिक यज्ञादिमें स्वरभंग, उच्चारण इत्यादिमें थोड़ी असावधानतासे विपरीत फल हो जानेका भय रहता है। न तो विधिपूर्वक अर्चना करनेकी ही क्षमता है। अतएव कलियुगमें कीर्त्तन ही सबसे सरल उपाय है। सर्वोत्तम युग कौन है, यह जाननेके इच्छुक मुनियोंसे भगवान् व्यासदेवने कहा था—

यत्कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन यत्।
द्वापरे यच्च मासेन अहोरात्रेण तत्कलौ॥
तपसो ब्रह्मचर्यस्य जपादेश्च फलं द्विजाः।
प्राप्नोति पुरुषस्तेन कलिः साध्विति भाषितम्॥

(महाभारत)

'हे द्विजो! सत्ययुगमें दस वर्ष परिश्रम करनेसे, त्रेतामें एक वर्ष और द्वापरमें एक मास परिश्रम करनेपर तप, ब्रह्मचर्य, जप आदिसे जो फल प्राप्त होता है— वही फल कलियुगमें एक दिन और रात्रिके परिश्रमसे प्राप्त हो जाता है। इसीलिये कलियुगको मैंने 'साधु' कहा।' कलियुग इसीलिये सर्वश्रेष्ठ युग है, क्योंकि—

ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ सङ्कीर्त्य केशवम्॥

(श्रीमद्भागवत)

'सत्ययुगमें ध्यान करनेसे, त्रेतामें यज्ञ करनेसे तथा द्वापरमें अर्चना करनेसे जो फल प्राप्त होता है वही फल कलियुगमें केशवके कीर्त्तन करनेसे प्राप्त होता है।'

वही फल और फिर उसके अल्पांश समयमें— कितनी अधिक सुविधा है!

कलियुगमें नामके गुण बहुत अधिक हैं। किसी भी कर्मके प्रायश्चित्तके हेतु नाम पर्याप्त है। परमार्थके अन्य कार्योंमें कुछ भी न्यूनता हो—जो कुछ भी अशुद्धि हो—वह सब संकीर्त्तनसे पूर्ण हो जाती है—

मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रं देशकालार्हवस्तुतः ।
सर्वं करोति निश्छिद्रं नामसङ्कीर्तनं हरेः ॥
(श्रीमद्भागवत)

'मन्त्र, तन्त्र, देश, काल, योग्यता और पवित्रतासे न्यून कर्मको हरिनाम-सङ्कीर्तन पूर्ण कर देता है ।'

तप, यज्ञादि क्रियाओंमें अपूर्णताका होना प्रायः सम्भव-सा रहता है । उन क्रियाओंमें भूल एवं न्यूनताको हरिनाम-सङ्कीर्तन पूर्ण कर देता है—

यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु ।
न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम् ॥
(स्कन्दपुराण)

'जिनके स्मरण और नाम-कीर्तनसे तप, यज्ञादि कर्मोंकी न्यूनता उसी क्षण पूर्ण हो जाती है, उन अच्युतको मैं नमस्कार करता हूँ ।'

कलियुग पापोंकी खान है । सर्वत्र पापोंकी ओर ही मनुष्योंकी प्रवृत्ति परिलक्षित होती है । कायिक, वाचिक, मानसिक, अनेक प्रकारके पापोंके कारण मनुष्य घोर भवसागरमें निमग्न हो रहा है । उन पापोंसे छूटनेका एकमात्र उपाय हरिनाम-कीर्तन ही है ।

तन्नास्ति कर्मजं लोके वाग्जं मानसमेव वा ।
यत्र वै क्षप्यते पापं कलौ गोविन्दकीर्तनात् ॥

'संसारमें कायिक, वाचिक अथवा मानसिक कोई ऐसा पाप नहीं है जो कलियुगमें श्रीगोविन्दके नाम-कीर्तनसे नष्ट न हो जाता हो ।'

मनुष्योंमें पापोंका बाहुल्य है । उन पापोंसे निवृत्तिके लिये तथा परमानन्दप्राप्तिके लिये अन्य युगोंमें बतायी हुई विधिके अनुसार प्रायश्चित्त करना अत्यन्त दुष्कर है । अतः इस युगमें पापशमनके लिये एकमात्र उपाय हरिनाम-सङ्कीर्तन ही है—

कीर्तनादेव कृष्णस्य विष्णोरमिततेजसः ।
दुरितानि विलीयन्ते तमांसीव दिनोदये ॥
नान्यत्पश्यामि जन्तूनां विहाय हरिकीर्तनम् ।
सर्वपापप्रशमनं प्रायश्चित्तं द्विजोत्तम ॥
(पद्मपुराण)

'अमित प्रभावशाली श्रीकृष्ण या श्रीविष्णुके नाम-कीर्तनसे मनुष्यके सब पाप दूर हो जाते हैं, जैसे सूर्यके उदयसे अन्धकार नष्ट हो जाता है । हे द्विजोत्तम ! मनुष्यमात्रको आनन्द देनेवाला और सब पापोंका नाश करनेवाला हरि-कीर्तनको छोड़कर कलियुगमें दूसरा प्रायश्चित्त नहीं है ।'

हमारा युग अतिशय चञ्चल है । धर्ममार्गोंकी सर्वत्र अवहेलना है । युगके प्रभावसे ध्यान इत्यादि अन्य मार्गोंके अवलम्बनमें संसारासक्त, धर्मज्ञानरहित, श्रद्धा-विश्वासहीन मनुष्योंका मन कदापि अग्रसर नहीं हो सकता । मन बहुत ही चञ्चल है, वह मनुष्यके हृदयको मथित कर डालता है । वह बलवान् तथा दृढ़ है—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ६ । ३४)

'अर्जुन भगवान्‌से कहते हैं कि हे कृष्ण ! मन अतिशय चञ्चल बलवान् तथा दृढ़ है और प्रमथन स्वभाववाला है । उसका निग्रह करना (रोकना) वायुके निग्रहके समान कठिन है ।' तब भगवान्‌ने कहा—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥
(६ । ३५)

अर्थात् 'हे अर्जुन ! निःसन्देह मन चञ्चल है, कठिनतासे वशमें होनेवाला है; परन्तु हे महाबलशाली कुन्तीपुत्र ! अभ्यास और वैराग्यसे यह वशमें हो जाता है ।'

परन्तु ऐसे समयमें जब कि संसारमें अत्यधिक आसक्ति है, मन विषयोंमें लिप्त है, वैराग्य तथा ध्यान-द्वारा उस स्थितिको प्राप्त करनेका अभ्यास भी निष्फल हो सकता है । अतएव कीर्तनसे ही भगवान्‌की अनन्य भक्ति प्राप्त हो सकती है; क्योंकि उसमें नियमबद्धता नहीं है, वह सम्पूर्ण जीवमात्रके लिये समानरूपसे लाभकारी है—

न देशकालनियमः शौचाशौचविनिर्णयः ।
परं सङ्कीर्त्तनादेव राम रामेति मुच्यते ॥

रामनाम उच्चारण करनेमें न तो देश, काल इत्यादिका नियम है और न पवित्रता अथवा अपवत्रिता-का ही प्रश्न है। वह सरल है—सुगम है। उसमें शनैः-शनैः मनकी एकाग्रता अपने-आप हो जाती है और अनन्यता तथा तल्लीनताका प्रादुर्भाव होता है।

नाम-जप करनेसे कीर्त्तन करना अधिक महत्त्वपूर्ण है। इससे अधिक पुण्य होता है, अधिक लाभ होता है। संकीर्त्तनकी तुमुल ध्वनि जो कि दूरतक पहुँचती है, उससे सम्पूर्ण जीव-जन्तु, चर-अचरका कल्याण होता है। वे उस नामके श्रवणसे परमगतिके अधिकारी हो जाते हैं, क्योंकि श्रवणकी महिमा भी अत्यधिक है। अतएव कीर्त्तन करनेवाला स्वयं तो मुक्तिको प्राप्त होता ही है, सुननेवालोंको भी तार देता है।

'परहित सरिस धर्म नहिं भाई' के अनुसार कीर्त्तन करनेवालोंको कहीं अधिक फल मिलेगा, क्योंकि वे अन्य कितने ही प्राणियोंको मोक्षप्राप्तिके पथपर ले जाते हैं। नाम-जपसे यह लाभ नहीं होता, क्योंकि वह तो अपने ही लिये किया जाता है।

उच्च स्वरसे नाम-कीर्त्तन करनेसे और भी लाभ यह होता है कि नाम जो कि उच्च स्वरसे उच्चारण किया जाता है, मस्तिष्कमें गूँजता रहता है। कीर्त्तनकारका मन अन्य स्थानपर न जाकर उसी नामीके स्वरूपमें एकीभूत होनेकी चेष्टा करता है। इससे मनकी एकाग्रता शीघ्र ही हो जाती है और वह तन्मय हो जाता है।

जपतो हरिनामानि स्थाने शतगुणाधिकः ।
आत्मानं च पुनात्युच्चैर्जपञ्श्रोतॄन् पुनाति च ॥

हरिनाम-जप करनेवालेकी अपेक्षा उच्च स्वरसे नाम-कीर्त्तन करनेवाला सौगुना श्रेष्ठ है, क्योंकि जप करनेवाला तो केवल अपनेको पवित्र करता है किन्तु कीर्त्तन करनेवाला अपनेको तो पवित्र करता ही है, सुननेवाले जीव-जन्तु, पशु-पक्षी, कीट-पतंग सबको पवित्र कर देता है।

अतएव उच्च स्वरसे नाम-कीर्त्तन नाम-जपसे भी अधिक गुणयुक्त है। कीर्त्तनसे न केवल एक संकुचित स्थानका ही वायुमण्डल पवित्र होता है प्रत्युत उससे लोकका कल्याण होता है।

नामकी महिमा अतुलनीय है। 'नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं'। नाम लेनेसे भवसागर सूख जाता है और मनुष्य उसे पैदल ही पार कर लेता है। नाममें नामीसे अधिक शक्ति विद्यमान है—'राम न सकहिं नाम गुन गाई'। नामके उच्चारणसे ही प्रेमका प्रादुर्भाव होता है—

सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें । आवत हृदयँ सनेह बिसेषें ॥

विना रूप देखे ही नामका स्मरण कीजिये, हृदयमें अनुपम स्नेहका उद्रेक होता है। नामके बलसे श्री-कैलासवासी शिवजी तारक मन्त्र देकर काशीमें मरने-वालेको मुक्ति देते हैं। अध्यात्मरामायणमें शिवजी कहते हैं—

अहो भवन्नाम गृणन् कृतार्थो
वसामि काश्यामनिशं भवान्या ।
मुमूर्षमाणस्य विमुक्तयेऽहं
दिशामि मन्त्रं तव रामनाम ॥

(अध्यात्मरामायण)

शिवजी कहते हैं—हे प्रभो ! मैं आपके नामका सदा उच्चारण करता हुआ कृतार्थ होकर पार्वतीसहित काशीमें निरन्तर वास करता हूँ और मरते हुए लोगोंकी मुक्तिके हेतु आपके रामनामका उपदेश दिया करता हूँ।

भगवान्के नाममें वह शक्ति निहित है जो नामीका साक्षात्कार करा देती है, इसलिये मुक्ति-प्राप्तिमें बाधा नहीं पड़ती। श्रीचैतन्य महाप्रभुने कहा है—

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-
स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः ।
एतादृशी तव कृपा भगवन्ममापि
दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः ॥

'हे भगवन् ! आपने अनेकों नामोंमें अपनी पूर्ण शक्ति सन्निहित कर दी है और नामस्मरणमें समयका कोई नियम नहीं रक्खा है ! आपकी तो मेरे ऊपर इतनी कृपा है किन्तु मेरा दुर्भाग्य कि आपके सर्वशक्तिमान् नाममें मेरा अनुराग नहीं हुआ ।'

अस्तु ! भगवान्के नामकीर्त्तनमें संलग्न पुरुष कभी-कभी अज्ञान अथवा वृत्तियोंसे प्रभावित होकर अनेक दोषोंका भाजन बन जाता है । जबतक मन पूर्णतया भगवन्नाम-कीर्त्तनमें अथवा भगवान्की भक्तिमें तल्लीन नहीं हो जाता, चित्तमें अहंभाव (जिसका निवारण अतीव दुष्कर है) का लेश भी रहता है, तबतक इन दोषोंका होना अज्ञानवश स्वाभाविक-सा हो जाता है; किन्तु जब वह कीर्तनका अभ्यास करते-करते दृढ़ अध्यवसाय तथा निर्मल चित्तवाला हो जाता है तब ये दोष नहीं रहते । कीर्तनका प्रभाव भी तत्क्षण न होनेका कारण दोषोंका होना ही है । नाम-कीर्तनके निम्नलिखित दोष हैं—

सन्निन्दासति नामवैभवकथा श्रीशेशयोर्भेदधी-
रश्रद्धा श्रुतिशास्त्रदैशिकगिरां नाम्न्यर्थवादभ्रमः ॥
नामास्तीति निषिद्धवृत्तिविहितत्यागौ हि धर्मान्तरैः
साम्यं नाम्नि जपे शिवस्य च हरेर्नामापराधा दश ॥

'सत्पुरुषोंकी निन्दा, अश्रद्धालुओंमें नाम-महिमा कहना, विष्णु और शिवमें भेदबुद्धि, वेद, शास्त्र और गुरुकी वाणीमें अविश्वास, हरिनाममें अर्थवादकी कल्पना (अर्थात् उसकी महिमा केवल स्तुतिमात्र है—ऐसी धारणा), नामके बलसे विहितका त्याग और निषिद्धका आचरण, अन्य धर्मोंकी नामसे तुलना, ये सब भगवान् विष्णु और शिवके नामोच्चारणमे दश दोष हैं ।'

कीर्त्तन-भक्तिकी प्राप्ति इन दसों अपराधोंको त्यागनेसे ही होती है । दोषोंके पापको मिटानेमें ही बहुत-सा कीर्त्तनका फल लग जाता है, अतएव दोषोंसे यथाशक्ति बचना चाहिये ।

नामापराधयुक्तानां नामान्येव हरन्त्यघम् ।
अविश्रान्तप्रयुक्तानि तान्येवार्थकराणि च ॥
(पद्मपुराण)

'नामापराधी लोगोंके पापको नाम ही नष्ट करता है । निरन्तर नाम-कीर्त्तन करनेसे सभी मनोरथ सिद्ध होते हैं ।'

नामसे लौकिक मनोरथ सिद्ध तो हो जाते हैं, किन्तु उनकी सिद्धिमें नामका प्रयोग करना अपनेको ठगना है ! अतएव मनोरथ तो ईश्वर-प्राप्तिका ही होना चाहिये ।

यह नाम-कीर्त्तन ही भवसागरको पार करनेके लिये नौका है । जगत्में उसीका जीवन सार्थक है जिसने इस नौकापर आरूढ़ होनेका आनन्द प्राप्त कर लिया । मनुष्य-जन्म पाकर भी जो इस नौकापर आरूढ़ नहीं होता उसके समान मूर्ख कौन होगा ! यमराजने कहा है—

जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयं
चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दम् ।
कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि
तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यान् ॥
(श्रीमद्भागवत ६ । ३ । २९)

'जिनकी जिह्वा एक बार भी भगवान्के नाम-गुणका कीर्त्तन नहीं करती, जिनका चित्त हरिके चरणारविन्दों-का स्मरण नहीं करता, जिनका मस्तक एक बार भी श्रीकृष्णके चरणकमलोंपर नहीं झुकता और जिन्होंने कभी भगवान्का भजन-पूजन नहीं किया, उन सब पापि-योंको मेरे यहाँ लाया करो ।'

तस्मात् सङ्कीर्त्तनं विष्णोर्जगन्मङ्गलमंहसाम् ।
महतामपि कौरव्य विद्ध्यैकान्तिकनिष्कृतम् ॥
(श्रीमद्भागवत ६ । ३ । ३१)

'श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि हे परीक्षित् ! जब यमराजने ऐसा कहा है तब तुम यह निश्चय समझो कि भगवान्का नाम-कीर्त्तन मूलसहित महापापोंका ऐकान्तिक प्रायश्चित्त है और प्राणियोंको धर्मार्थकाममोक्षरूप मंगलका देनेवाला है ।'

जिह्वां लब्ध्वापि यो विष्णुं कीर्त्तनीयं न कीर्त्तयेत्।
लब्ध्वापि मोक्षनिःश्रेणिं स नारोहति दुर्मतिः॥

'जो जिह्वा पाकर भी भगवान्‌का कीर्तन नहीं करते वे दुर्मति मोक्षकी सीढ़ियोंको पाकर भी चढ़नेसे वञ्चित रह जाते हैं।'

अतएव कीर्त्तन-जैसा सुलभ, सुखद तथा सरस मार्ग अन्य नहीं है। उसका अनुसरण करना हमारा परम कर्त्तव्य है। यही आत्यन्तिक सुख-शान्ति प्राप्त करनेका साधन है तथा यावत् साधनोंका मूल है। जो भक्त इस भक्तिके वास्तविक स्वरूपमें तल्लीन रहता है, वह पुण्य-दर्शन है, जैसा कि भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—

नामयुक्तान् जनान् दृष्ट्वा स्निग्धो भवति यो नरः।
स याति परमं स्थानं विष्णुना सह मोदते॥
तस्मान्नामानि कौन्तेय भजस्व दृढमानसः।
नामयुक्तः प्रियोऽस्माकं नामयुक्तो भवार्जुन॥
(महाभारत)

'नाम-कीर्त्तन करनेवाले पुरुषोंको देखकर जो प्रसन्न होता है वह परमधामको प्राप्त होकर मुझ विष्णुके साथ आनन्द करता है। इसलिये, हे कौन्तेय! दृढ़ चित्तसे नामका भजन करो, क्योंकि नामयुक्त-पुरुष मुझे बड़ा प्रिय है। हे अर्जुन तुम भी नामयुक्त बनो।'

उस पुण्य-दर्शनके दर्शनमात्रसे सुखी होनेवालेको यह योगिदुर्लभ गति मिलती है, तब उस नामयुक्तको इससे भी कहीं उत्तम स्थान मिलेगा, यह निर्विवाद है। अनन्य चित्तसे कीर्त्तन करनेवाला प्रभुका प्रेमपात्र बन जाता है। यह अनन्यता प्रभुके कीर्त्तनका एकमात्र आश्रय ग्रहण करनेसे प्राप्त होती है। कीर्त्तन करनेवालेका मानस-सरोवर निर्मल हो जाता है, जिसमें प्रेमाम्बुजका विकास होता है। चाहे मनुष्य कितना भी दुरात्मा, नीच तथा 'अघ-खानि' क्यों न हो, नामकी पाप-निवारण-शक्तिके सम्मुख उसके पाप तत्काल दग्ध हो जाते हैं और कैवल्यकी प्राप्ति क्या, प्रभुकी सन्निधि मिल जाती है।

तदेव पुण्यं परमं पवित्रं
गोविन्दगेहे गमनाय पत्रम्।
तदेव लोके सुकृतैकपात्रं
यदुच्यते केशवनाममात्रम्॥
(पद्मपुराण)

'इस जगत्‌में केशवनामका उच्चारण ही एकमात्र परम पवित्र पुण्य है और भगवान् गोविन्दके परमधामको ले जानेवाला है। वही इस लोकमें एकमात्र पुण्यवान् है, जो केशव-नामका उच्चारण करता है।'

कलियुगके लिये कीर्त्तन ही सबसे सरल तथा सर्वोत्तम मार्ग है; बल्कि यही एक मार्ग है, ऐसा कहें तब भी अत्युक्ति न होगी।

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

'कलियुगमें श्रीहरिनाम-कीर्त्तन ही एकमात्र परम साधन है, उसको छोड़कर अन्य कोई उपाय नहीं है! नहीं है!! नहीं है!!!

भगवन्नाम-जप

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

सदाकी भाँति इस बार भी पौषसे होलीतक दस करोड़ मन्त्र-जप करने-करानेके लिये कल्याणके प्रेमी पाठक-पाठिकाओंसे प्रार्थना की गयी थी । हर्षका विषय है कि अबतक २४,६९,८२,४०० मन्त्रजपकी सूचना निम्नलिखित ४६७ स्थानोंसे आ चुकी है । नाम जोड़नेसे इससे सोलहगुनी संख्या होगी । जिन संस्थाओं, संतजनों तथा प्रेमियोंने स्वयं जप किया तथा दूसरोंसे करवाया, उन सबके हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं । जिन जगहोंसे सूचना आयी है, उनके नाम निम्नलिखित हैं—

अकलतरा, अगुवानपुर, अजक-शिलचंदर, अजमेर, अडाम, अथरी, अदलाना, अन्दमऊ, अन्धारी, अमरपुर, अमरावती, अमरौधा, अमीनाबाद, अमृतसर, अम्बाबाप, अम्बाह, अल्मोड़ा, अलवर, अलीगढ़, असनी, असौआ, अहमदाबाद, आज़मगढ़, आभीरोला, आरमूर, आरा, आशापुरी रोड, आँधसी, इगलास, इन्दौर, इनोद, इलाहाबाद, हरिश्चपुर, इसौली, ईगुई माधोगढ़, ईलोल, उज्जैन, उदनाबाद, उधमपुर, उन्नाव, उमरेठ, उमरेडी, उरई, उस्काबाजार, उसुर, ऊकाढ़ा, एरच, ओरछा, ओलपुरा, ओसादण, औड़, अंकलेश्वर, अंकोला, अँटियावाड़, ककरखा, काकिल्लामारि, कटक, कन्डनस्थान, कनड़, कपड़वंज, करनपुर, करनपुर बाजार, करनाल, कराँची, कलकत्ता, कल्याणदुर्ग, कसरावाँ, कहानी, काकूपुर, कानपुर, कापरेन, कासगंज, कासर, काशीपुर, कुचवाड़ा, कुटियाना, कुडाव, कुम्हरिया, कुरीचित्तरपुर, कृष्णनगर, केनिया (अफ्रिका), केसरिया, केमहटा, केरा, कैराना, कोयलगढ़, कोहड़ा, कोहाट, कंचन, कंजर, कँहवा, काँके, काँकर, खजुरी, खरवा, खरौना, खापाबिहारी, खारी बाउली, खुरई, खुर्जा, खैराबाद, गर्वा, गढ़ उमरिया, गढ़वा, गढ़ोटा, गया, गरीफा, गहलू, गाजना, गिढौर, गुजरानवाला, गुलावरम्, गुंडरदेही, गुमला, गुरुघाट, गुलबर्गा, गोप्पल, गोंदिया, गोदोली, गोरखपुर, गोलबाजार, गंगापुर, गंगापुर सिटी, घमापुर, घरबारगाँव, घाटमपुर, घासझोनौला, चटकरी, चण्डीपुर, चन्दौसी, चहुटा, चाणस्मा, चाँदराना, चाँदा, चालीसगाँव, चुनार, चैनपुर, चौमू, छतरपुर स्टेट, छतवाँ कलाँ, छतियाना, छितौनी, छिन्दवाड़ा, छपरा, जबलपुर, जमालपुर, जमुनिया, जम्मू, जयपुर, जऊगाँव, जलालखेड़ा, जलालपुर, जलेश्वर, जाफराबाद, जालन्धर छावनी, ज्याटाटोल नैपाल, जुंसा, जूनागढ़, जोडियाबंदर, जोलपा, जोवट, जोशीमठ, जौनपुर, झगरपुर, झांसी, झोंझक, झूँझनू, टाँडा बादली, टिकारी, टिमरनी, टेहटा, टूठा, डभोई, डारेसलम (अफ्रीका), डुमरिया, डेहरी, डोमापुर, तन्दूर, तलवन्दी खुर्द, तिलोई, तिमरी, तेआर, थाम, थुमा, दतिया, दरिया पुरडीह, दरियाबाद, दलसिंगसराय, दहेगाँव, दादर, दामोदरपुर, दिल्ली, दिलीपनगर, दिल्ली-शाहदरा, देरापुर, देवास-सीनियर, दोंडाइचा, दौलताबाद, धनबाद, धरमराय, धारवाड़, धौरहरा, नयी-दिल्ली, नजीबाबाद, नडियाद, नन्दन गार्डेन, नन्दबाई, नरायनपुर, नवसारी, नहीअर, नाइहाटी, नागपुर, नागलपुर, नागोतार, नादुरा, नापा, नापाधर, नामकुम, नारंगपट्टी, निजामाबाद, नियाजीपुर, नूराबाद, नैनीताल, नैरोबी (अफ्रिका) पकड़ीबाजार, पकावाँ, पटना, पटियाला, पडरौना, परसेल, परैया, पलिया-पश्चिम, प्रतापगढ़, पाटन, पारल, पालियाद, पाली, पालीखुर्द, पालीताणा, पिथोरा, पिथोरागढ़, पिन्डदादनखाँ, पिन्डरई, पिन्डीघेब, पिपराखेम, पिपरिया, पिपरिया-सुजानी, पिपलाज, पिलखुवा, पिहरा, पीपरझरी हट्टा, पीपलरावाँ, पीलीभीत, पीलूदरा, पुल्लिमामिड्डी, पैकोलिया, पैवी, पोखरी, पोरबंदर, पौणाघ, पौनी, फतेहगढ़, फतेहपुर, फलधारा, फिरोजपुर, फिल्लौर, फुलेरा, फैजाबाद, फैजुल्लापुर, फोर्टसण्डेमन, बछरावाँ, बटवारा, बड़का राजपुर, बड़ोदा, बदौसा, बनवासि, बनारस, बम्बई, बरताल, बरेली, बरेवा, बलरामपुर, बलसाड, बवरीनंगल, ब्यावर, बंगरहट्टा,

बागरू, बाढ़ापुर, बान्द्रा, बाराबंकी, बालकपुर, बालसमुन्द, बालाघाट, बालापुर, बालोद-संजारी, बाँकुड़ा, बाँदीकुई, बाँस-गाँव, बाँसवाड़ा, बाँसी, बिरकोना, बिरमा, बिरसोला, बिलन्दा, बिलासपुर, बिष्णुपुर, बिहारशरीफ, बीकानेर, बीनाइटावा, बीनागंज, बुगरासी, बुटवल बाजार, बुन्जी, बुरहानपुर, बेगमाबाद, बेपचिनमर्डि, बेतुल, बेलखरियाका पुरा, बैर, बैरी, भटरा भद्रपुरा (ओमनगर), भभुआ, भमोरी, भरतपुर, भलगाम, भवाना, भागलपुर, भादकोल, भालावली, भावनगर, भीलाड़, भोगाँव, मउरानीपुर, मकसूदनगढ़, मणिनगर, मथुरा, मद्रास, मनाण, मलडीहा, मल्लेश्वरम्, महराजगंज, महिशारि, महोबा, मंडला, मंसूरपुर, मांडवला, मांडल (मेवाड़), मांडल (गुजरात), मांडला (रंगून), मिर्जागंज, मिर्जापुर, मीठी, मीरपुर, मुंगराबाद, मुन्द्रासन, मुरादाबाद, मुसावली, मूड़ाडीह कलाँ, मूँदी, मेंडरहा, मेनहाक-खुर्द, मेरठ, मेहसाना, मोसरी, मोर्वी, रजमक, रजोई, रसड़ा, रंगून, राजकोट, राजदान, राजपुर, रामगढ़, रामपिरील महचा, रामपुरा, रायपुर, रायपुरचोर, रावतसर, रावलपिण्डी, रियासी, रिवाड़ी, रीवाँ, रुड़की, रुपौली, रेहल, रोहतक मण्डी, लखनऊ, लखीमपुर खीरी, लाहोर, लिलिया, लुनावला, लैया, वबई, वर्षोला, वर्धा, वसकी, वाठशाला-पुरम्, वाढ़वान सिटी, वाह, वांकल, विक्रमपुर, विजयनगर, विजयानगरम्, विनोदपुर, विरमगाम, शकलडीहा, शमियरगंज, शाहजहाँपुर, शिकारपुर (सिन्ध), शिमला, शिवराजपुर, शिवसागर, शेरगढ़, शेरपुर, शोलापुर, शतशाला, संडीला, समी, सरदारशहर, सरलाही, सराय, सरोठ, सहजनवाँ, संतोषपुर, सादरा, सायला, सालोन, सासाराम, सिकन्दरपुर-खास, सिकन्द्रा, सिकन्द्रा-राऊ, सिंगापुर, सिवोली, सिवनी छपरा, सीआणी, सीकर, सीतापुर, सीमल-खेड़ी, सुखासन, सुरजन नगर, सुल्तानपुर, सुल्तानपुरा, सुवायू, सूरत, सूरतगढ़, सोनादा, सोमेश्वरगढ़, हणुछजा, हरदोई, हरपुर, हरसी, हरिद्वार, हरीपुरा, हरीसाल, हल्दीबाड़ी, हसुआ, हंटरगंज, हापुड़, हिनोला, हुमेलवा, हुबली सिटी, हैदराबाद (सिन्ध), हैदराबाद (दक्षिण), हैदरगढ़, होशंगाबाद।

व्यवस्थापक—

नाम-जप विभाग

पश्चात्ताप

(गीत)

सुअना आज उड़ा पिंजड़ेसे, खिड़की खुली रही दइया!

समझमें भरी भयानक भूल—

करमें भूल, धरमें भूल;

पकड़ ली शाख, छोड़ दी मूल;

मुरगो निकल गई दरबेसे, टटिया खुली रही दइया!

भूलने रची बुरी तकदीर,

भूलसे बिगड़ गई तदबीर,

भूलमें लगा मौतका तीर;

कोई चोर घुस गया चुपके, साँकर खुली रही दइया!

नजरमें भरी भूलकी धूल—

चलनमें भूल, वचनमें भूल;

खानमें भूल, पानमें भूल;

साँप जा छिपा बिलके भीतर, केंचुली पड़ी रही दइया!

—शिवनारायण वर्मा

कल्याणकी पुरानी फाइलें तथा विशेषाङ्कोंका ब्योरा

(इनमें कमीशन नहीं है । डाकखर्च हमारा)

प्रथम वर्ष–संवत् १९८३-८४ कुछ नहीं है । (अप्राप्य)

द्वितीय वर्ष–विशेषाङ्क भगवन्नामाङ्क नहीं है । केवल अङ्क २, ३, ६ हैं । मूल्य ≡) प्रति ।

तृतीय वर्ष–विशेषाङ्क भक्ताङ्क मूल्य १।।) सजिल्द १।।।≡) साधारण अङ्क २, ४, ५ वें को छोड़कर सब हैं । मूल्य ।) प्रति ।

चतुर्थ वर्ष–विशेषाङ्क गीताङ्क नहीं है । साधारण अङ्क ३, ४ को छोड़कर सब मौजूद हैं, मूल्य ।) प्रति ।

५ वाँ वर्ष–विशेषाङ्क रामायणाङ्क नहीं है । साधारण अङ्क केवल १०, १२ हैं । मूल्य ।) प्रति ।

६ टाँ वर्ष–विशेषाङ्क कृष्णाङ्क नहीं है । फुटकर अङ्क १० वाँ और ११ वाँ है, मूल्य ।) प्रति ।

७ वाँ वर्ष–विशेषाङ्क ईश्वराङ्क नहीं है । साधारण अङ्क सब हैं । मूल्य ।) प्रति ।

८ वाँ वर्ष–विशेषाङ्क शिवाङ्क नहीं है । साधारण अङ्क चौथेको छोड़कर सब हैं, मूल्य ।) प्रति ।

९ वाँ वर्ष–शक्ति-अङ्क नहीं है । साधारण अङ्क ३, ६ को छोड़कर सब हैं । मूल्य ।) प्रति ।

१० वाँ वर्ष–योगाङ्क सपरिशिष्टाङ्क (तीसरा नया संस्करण) ३।।) सजिल्द ४) साधारण अङ्क ४ को छोड़कर सब मौजूद हैं ।
मूल्य ।) प्रति ।

११ वाँ वर्ष–वेदान्ताङ्क सपरिशिष्टाङ्क ३) सजिल्द ३।।), पूरी फाइलसहित अजिल्द ४≡) सजिल्द दो जिल्दोंमें ५≡)

१२ वाँ वर्ष–संत-अङ्क तीन भागोंमें मूल्य ३।।) पूरी फाइलसहित ४≡) सजिल्द दो जिल्दोंमें ५≡)

१३ वाँ वर्ष मानसाङ्क (केवल प्रथम खण्ड) मूल्य ३।) सजिल्द ४)

१४ वाँ वर्ष–[illegible] वार्षिक मूल्य ४≡), विदेशमें ६।≡) (१० शि०), वर्मामें ५)

व्यवस्थापक—**कल्याण-कार्यालय, गोरखपुर**

THE KALYANA-KALPATARU

(English Edition of the Hindi Kalyan)

Special Numbers and old files for sale.

Annual Subscription: Inland Rs. 4/8/- Burma Rs. 5/- and Foreign Rs. 6/10/- or 10 Shillings.

1. Kalyana-Kalpataru, Vol. I., 1934 (Complete file of 12 numbers including the Special God Number) pp. 836, Illustrations 63; Unbound Rs. 4/8/-; Cloth-bound Rs. 5/4/-
2. Kalyana-Kalpataru, Vol. II., 1935 (Complete file of 12 numbers including the Special Gita Number) pp. 787; Illustrations 37; Unbound Rs. 4/8/-; Cloth-bound Rs. 5/4/-
3. Kalyana-Kalpataru, Vol. III., 1936 (Complete file of 12 numbers including the Special Vedanta Number) pp. 795; Illus. 45; Unbound Rs. 4/8/-; Cloth-bound Rs. 5/4/-

Kalyana-Kalpataru, Vol. IV., 1937 (11 ordinary issues only) price each As. 5/-

Kalyana-Kalpataru, Vol. V. 1938 (Complete file of 12 numbers including the Special Divine Name Number) Unbound Rs 4/8/-; Cloth-bound Rs. 5/4/-

God Number of K. K., 1934, pp. 307, Illus. 41; Unbound Rs. 2/8/-; Cloth-bound Rs. 3/-/-

7. Gita Number of K. K., 1935, pp. 251, Illustrated; Unbound Rs. 2/8/-; Cloth-bound Rs. 3/-/-
8. Vedanta Number of K. K., 1936, pp 248, Illus.; Unbound Rs. 2/8/-; Cloth-bound Rs 3/-/-
9. Krishna Number of K. K., 1937, not available.
10. The Divine Name Number of K. K. 1938, pp. 332, Illus., Rs. 2/8/-; Cloth-bound Rs. 3/-/-
11. The Dharma Tattva Number of Kalyana-Kalpataru, 1939, Rs. 2/8/-; Cloth-bound Rs. 3/-/-

MANAGER—
'Kalyana-Kalpataru', Gorakhpur (INDIA).

Postage free in all cases.

Regd. No. A. 1724.

स्मरण-कीर्तनका माहात्म्य

यस्मिन्न्यस्तमतिर्न याति नरकं स्वर्गोऽपि यच्चिन्तने
विघ्नो यत्र निवेशितात्ममनसो ब्राह्मोऽपि लोकोऽल्पकः।
मुक्तिं चेतसि यः स्थितोऽमलधियां पुंसां ददात्यव्ययः
किं चित्रं यदघं प्रयाति विलयं तत्राच्युते कीर्तिते॥
कलिकल्मषमत्युग्रं नरकार्त्तिप्रदं नृणाम्।
प्रयाति विलयं सद्यः सकृद्यत्रापि संस्मृते॥
सकृत्स्मृतोऽपि गोविन्दो नृणां जन्मशतैः कृतम्।
पापराशिं दहत्याशु तूलराशिमिवानलः॥
जनार्दनं भूतपतिं जगद्गुरुं स्मरन् मनुष्यः सततं महामुने।
दुःखानि सर्वाण्यपहन्ति साधयत्यशेषकार्याणि च यान्यभीप्सते॥

—विष्णुपुराण

जिनमें चित्त लगा लेनेपर मनुष्य नरकगामी नहीं होता, जिनका चिन्तन करनेपर स्वर्ग भी विघ्नरूप जान पड़ता है, जिनमें मन लग जानेपर ब्रह्मलोकका आनन्द भी तुच्छ प्रतीत होता है, जो अविनाशी शुद्ध बुद्धिवाले पुरुषोंके हृदयमें स्थित होकर उन्हें मुक्ति प्रदान करते हैं, उन अच्युतका कीर्तन करनेसे यदि पाप नष्ट हो जाते हैं तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

कलियुगके अत्यन्त उग्र पाप जो मनुष्योंको नरक-कष्ट प्रदान करते हैं, वे भी भगवान्‌का एक बार स्मरण करते ही विलीन हो जाते हैं। जिस प्रकार आग रूईके ढेरको क्षणभरमें जला देती है उसी प्रकार गोविन्दका एक बार स्मरण करते ही सैकड़ों जन्मोंके पापोंके ढेर स्वाहा हो जाते हैं।

हे महामुने! सब प्राणियोंके प्रभु जगद्गुरु जनार्दनका निरन्तर स्मरण करनेसे मनुष्य अपने समस्त दुःखोंको दूर कर डालता है और अपने अशेष अभीष्ट कार्योंको साध लेता है।

कल्याण

वर्ष
१३

अंक
१२

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण [illegible]

वार्षिक मूल्य
भारतमें ४≥)
विदेशमें ६॥≥)
(१० शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें [illegible]
विदेशमें [illegible]
(८ पेंस)
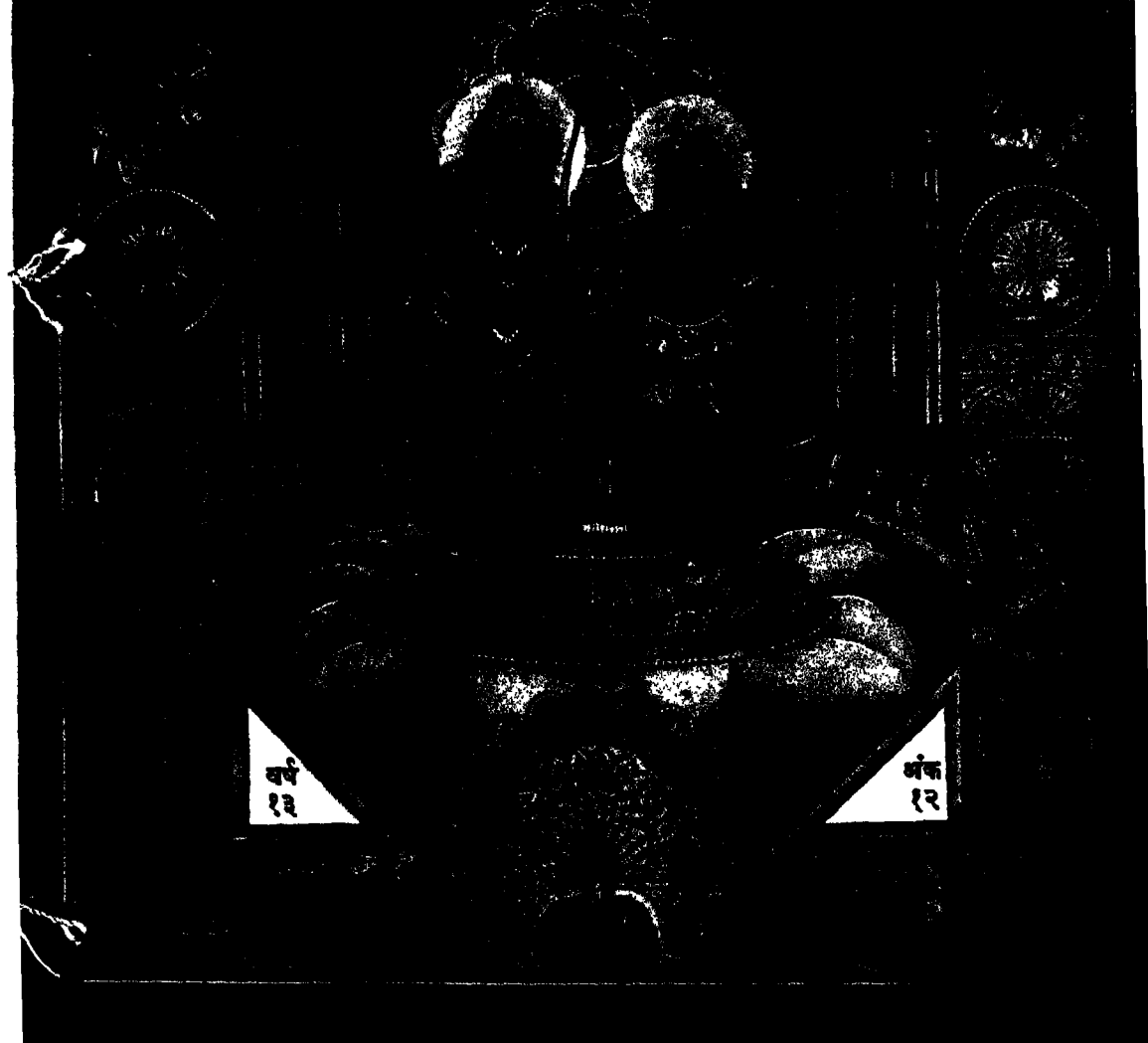
श्रीहरिः

मँगानेवालोंको शीघ्रता करनी चाहिये

मानसांक
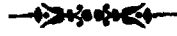
कल्याण जुलाई सन् १९३९ ई० की

विषय-सूची

विषय — पृष्ठ-संख्या

पुराने-नये ग्राहकोंकी सेवामें नम्र निवेदन

(१) यह तेरहवें वर्षका १२वाँ यानी अन्तिम अंक है। इस अंकमें सभी पुराने ग्राहकोंका सालाना चन्दा पूरा हो जाता है।

(२) १४वें वर्षका पहला अंक 'श्रीगीतातत्त्वांक' होगा। गीतातत्त्वांकके तीन खण्ड होंगे (अगस्त, सितम्बर और अक्टूबर)। तीनों अलग-अलग प्रतिमास प्रकाशित होंगे। तीनोंका मूल्य ४) होगा। परन्तु पुराने-नये ग्राहकोंको अधिक कुछ भी नहीं देना पड़ेगा। उन्हें बड़ी दुर्लभ चीज सहज ही ४≈) देनेसे मिल जायगी।

(३) पुराने और नये ग्राहकोंको चन्देके (लवाजमके) रुपये ४≈) तुरन्त भेज देने चाहिये। इस बार अंक जल्दी निकलेगा, इससे और भी जल्दी करनी चाहिये। नहीं तो वी० पी० पहुँचनेमें बहुत देर हो जायगी।

(४) जिन महानुभावोंने ग्राहक बनाये हैं और बना रहे हैं, उनके हम हृदयसे कृतज्ञ हैं। निष्काम सेवा भगवत्सेवा ही है। इस बार अंक बहुत बड़ा होनेसे तथा अंकोंको सुन्दर बनानेमें बहुत अधिक खर्च हो जायगा। इसलिये विशेष चेष्टा करके नये सालके ग्राहक बनाने चाहिये।

(५) इस बार गीतातत्त्वांक बहुत ही उपादेय, सुन्दर, सुबोध, शिक्षाप्रद होगा। श्रीमद्भगवद्गीता सम्पूर्ण सटीक होनेके साथ ही इसमें बहुत ही उत्तम-उत्तम लेख भी रहेंगे। सम्भव है बहुत जल्दी संस्करण समाप्त हो जाय, इसलिये ग्राहक बननेवालोंको बहुत जल्दी करनी चाहिये।

(६) ग्राहकोंको चाहिये अपने मनीआर्डरके कूपनमें पूरा पता नाम, गाँव, डाकघर तथा जिलेका नाम साफ अक्षरोंमें लिखें। पुराने ग्राहक अपने ग्राहकनम्बर जरूर लिखें। नये ग्राहक 'नया' शब्द लिखें। नहीं तो कल्याण देरसे पहुँच सकता है।

(७) पुस्तकों तथा चित्रोंकी माँग गीताप्रेसको अलग लिखें। डाकके नियमानुसार 'कल्याण' के साथ और चीजें नहीं जा सकतीं।

(८) कल्याणके प्रेमी प्रत्येक सज्जन और प्रत्येक बहिन एक-एक दो-दो नये ग्राहक जरूर बना देनेकी चेष्टा करें।

(९) कल्याणका नया वर्ष '१ अगस्त' से शुरू होता है। पूरे सालके ही ग्राहक बनाये जाते हैं।

(१०) सजिल्द गीतातत्त्वांक बहुत देरसे जायगा। पहले जिल्द बाँधनेका अवकाश नहीं मिलता, इसलिये क्षमा करें।

(११) जिन सज्जनोंको ग्राहक नहीं रहना हो वे कृपापूर्वक पहलेसे एक कार्ड लिखकर जरूर सूचना दे दें, ताकि व्यर्थ वी० पी० भेजकर कल्याण-कार्यालयको नुकसान न उठाना पड़े। आपके तीन पैसेके खर्चसे कार्यालयके नौ आने बच जायँगे।

व्यवस्थापक—कल्याण, गोरखपुर

ग्वालिनोका प्रेम

ग्वालिनी प्रगट्यो पूरन नेह

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
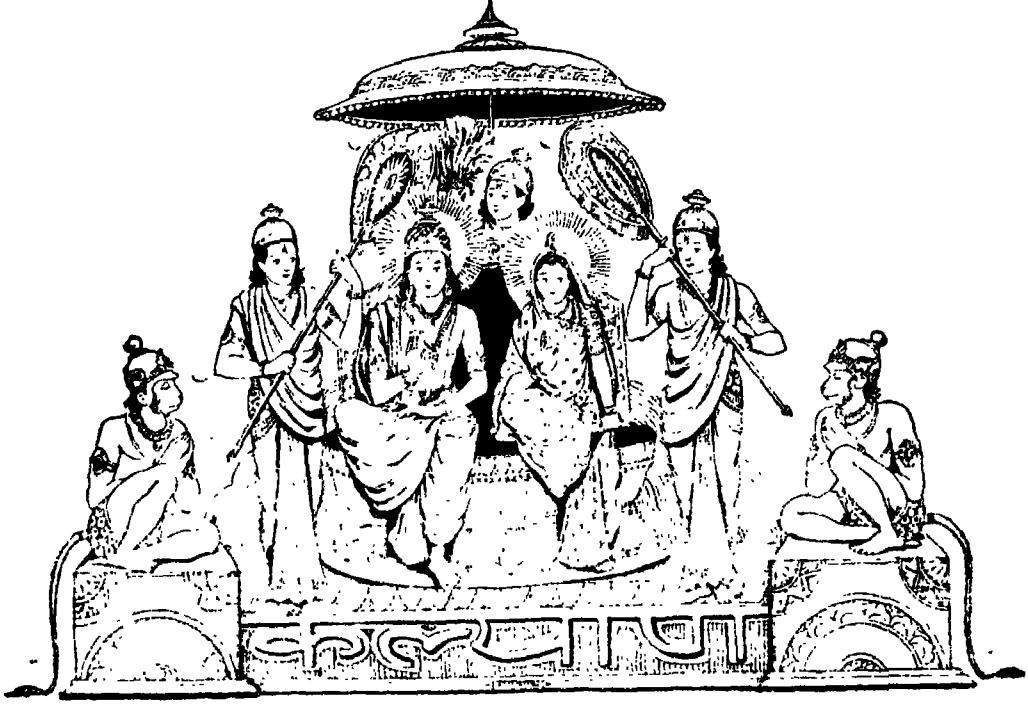
नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्गं सीतासमारोपितवामभागम् ।
पाणौ महासायकचारुचापं नमामि रामं रघुवंशनाथम् ॥

वर्ष १३ | गोरखपुर, आषाढ़ १९९६, जुलाई १९३९ | संख्या १२ पूर्ण संख्या १५६

गोपी-प्रेम

दधि बेचत ब्रज गलिन फिरै ।
गोरस लेन बोलावत कोऊ, ताकी सुधि नेकहु न करै ॥ टेक ॥
उनकी बात सुनत नहिं श्रवननि, कहति कहा ये घर न जरै ।
दूध दह्यो ह्यां लेत न कोऊ, प्रातहि ते सिर लिये ररै ॥ १ ॥
बोलि उठति पुनि लेहु गोपालहिं घर-घर लोक-लाज निदरै ।
सूरश्यामको रूप महारस जाके बल काहू न डरै ॥ २ ॥

—सूरदासजी

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—पूज्य स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

(श्वेताश्वतरोपनिषद्)

[मणि ११]

(गताङ्कसे आगे)

हे संन्यासियो ! इस प्रकार सांख्य-योगरूप उपायसे उत्पन्न हुए ब्रह्मज्ञानसे अधिकारी पुरुषोंको स्वयंज्योति आत्मदेव प्रतीत होता है। स्वयंज्योति आत्माको सूर्य-चन्द्रादि तेज प्रकाश नहीं कर सकते, किन्तु स्वयंज्योति आत्मा ही उनको प्रकाश करता है। भाव यह है कि सूर्यादि बाह्य तेजोंको प्रकाश करनेवाला चिदाभासयुक्त अन्तःकरणकी वृत्तिरूप ज्ञान है; वह वृत्तिरूप ज्ञान भी जब स्वयंज्योति आत्माका प्रकाश नहीं कर सकता तो वृत्तिज्ञानके विषय सूर्यादि बाह्य जड तेज स्वयंज्योति आत्माका प्रकाश न कर सकें तो इसमें कहना ही क्या है। हे संन्यासियो ! ऐसा स्वयंज्योति परमात्मा ही सर्वजीवोंके हृदयमें स्थित है, वही तीनों लोकोंमें स्थित है और वही आत्मसाक्षात्कारसे कार्यसहित अविद्याका नाश करके 'हंस' संज्ञाको प्राप्त होता है। वही परमात्मदेव बडवाग्निरूप है, वही जठराग्निरूप है और वही विराट्रूप है। ऐसे परमात्माका जो अधिकारी अपने आत्मारूपसे साक्षात्कार करता है, वह संसाररूप मृत्युका उल्लंघन कर ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है।

हे संन्यासियो ! इस लोकमें 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकारके आत्मज्ञानके सिवा दूसरा कोई उपाय ब्रह्मभावकी प्राप्तिका नहीं है, किन्तु जीव-ब्रह्मका अभेदज्ञान ही ब्रह्मभावकी प्राप्तिका साधन है; इसलिये मुमुक्षुओंको श्रवणादि साधनोंसे ब्रह्मज्ञान अवश्य सम्पादन करना चाहिये। यह परमात्मदेव सम्पूर्ण चराचर जगत्को सामान्य तथा विशेषरूपसे जानता है, सर्वजगत्का कारण है, कालका भी काल है और सर्वगुणोंसे सम्पन्न है। परमात्मदेव ही क्षेत्रज्ञरूप जीवका, मायाका तथा मायाके सत्त्व आदि गुणोंका पतिरूप है। परमात्मदेव ही जीवोंको पुण्य-पापरूप कर्मोंका सुख-दुःखरूप फल देता है। परमात्मा ही जीवोंके बन्ध-मोक्षका कारण है। वही जगत्की व्यवस्था और जगत्का पालन करता है। हे संन्यासियो ! प्रपञ्चरूपसे देखा हुआ परमात्मदेव जीवोंको बन्धकी प्राप्ति कराता है और जन्म-मरणादि विकारोंसे रहित देखा हुआ परमात्मा जीवोंको मोक्षरूप अमृतकी प्राप्ति कराता है। परमात्मदेव अपने ज्ञानस्वरूपमें स्थित होकर सर्व जगत्का पालन करता है और उसे अपनी आज्ञामें चलाता है। परमात्मदेवके ऐश्वर्यसे अधिक ऐश्वर्यवाला कोई नहीं है। ऐसे परमात्माका ही अधिकारियोंको अपने आत्मारूपसे जानना चाहिये। हे संन्यासियो ! मैं श्वेताश्वतर मुनि परमात्माकी जिस प्रार्थनासे आत्म-साक्षात्कारको प्राप्त हुआ हूँ, इस प्रार्थनाको मैं तुमसे कहता हूँ; उसे सुनो—

प्रार्थना—हे परमात्मदेव ! आप पूर्व हिरण्यगर्भको उत्पन्न करके उसको ज्ञानसहित चारों वेद देते हैं, आपकी प्राप्ति केवल आत्मज्ञानसे ही होती है ! मैं मुमुक्षु आपकी शरण आया हूँ। आप हस्त-पादादि अवयवोंसे रहित हैं, क्रियासे रहित हैं, शान्तस्वरूप हैं, सुखरूप हैं, सर्व जीवोंके आत्मारूप हैं, सर्व दोषोंसे रहित हैं, कारणसे रहित हैं और सेतुके समान मोक्षरूप अमृतको धारण

करनेवाले हैं! जैसे काष्ठोंको जलाकर अग्नि अपने स्वरूपमें स्थित होता है उसी प्रकार कार्यसहित मायारूप उपाधिसे रहित होकर आप अपने अद्वितीय रूपमें स्थित होते हैं। ऐसे आप अद्वितीय परमात्मदेवकी शरणमें मैं मुमुक्षु आया हूँ!

हे संन्यासियो! जब मैंने परमात्मदेवसे इस प्रकार प्रार्थना की, तब परमात्मदेवने कृपा करके मुझे मोक्षका कारणरूप आत्मज्ञान प्रदान किया। उस ज्ञानके प्रभावसे मैं श्वेताश्वतर ऋषि परमात्मदेवको अपने आत्मारूपसे देखने लगा। परमात्माके ज्ञान विना जीवोंको कभी मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती, किन्तु परमात्माके ज्ञानसे ही मोक्षरूप अमृतकी प्राप्ति होती है।

आत्मज्ञान विना मोक्षका अभाव

हे संन्यासियो! यह देहधारी जीव यदि कभी चर्मके समान आकाशको एकत्र कर ले, तो आत्मज्ञान विना भी मोक्षको प्राप्त हो जाय; परन्तु जैसे चर्मके समान आकाश एकत्र नहीं हो सकता, उसी प्रकार आत्मज्ञान विना मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इस श्रुतिमें यही बात कही गयी है—

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥

जब मनुष्य चर्मके समान आकाशको एकत्र कर लेंगे, तो परमात्मदेवके विना जाने दुःखोंकी निवृत्ति हो जायगी। हे संन्यासियो! जिस परमात्माका मैंने तुमको उपदेश किया है, उस परमात्माको ही मुमुक्षुओंको जानना चाहिये। वह परमात्मा अपनी मायाशक्तिसे उस सर्व जगत्‌का कारण होता है, वही मेरा, तुम्हारा और सब स्थावर-जङ्गमका आत्मारूप है और सर्व भेदसे रहित है। हे संन्यासियो! जैसे शुद्ध आकाशमें नाना प्रकारके मेघ कल्पित हैं, उसी प्रकार परमात्मामें पूर्वोक्त काल-स्वभावादि कारण कल्पित हैं। जैसे भ्रान्त पुरुषको आकाशमें गन्धर्वनगर प्रतीत होता है, उसी प्रकार अविवेकी पुरुषोंको परमात्मदेवमें मायासहित जगत् प्रतीत होता है। जैसे स्वप्न-अवस्थामें एक ही स्वप्नद्रष्टा अनेकरूप हो जाता है, उसी प्रकार एक ही परमात्मदेव अविद्या-दोषसे अनेकरूप हो जाता है। जैसे सुषुप्ति अवस्थामें नेत्रादि इन्द्रियों और रूपादि विषयोंके लय होनेपर जीव किञ्चित् भी द्वैत-प्रपञ्चको नहीं देखता, उसी प्रकार मोक्ष अवस्थामें आत्मज्ञानसे कार्यसहित अविद्याके नाश होनेपर विद्वान् पुरुष किञ्चित् भी द्वैत-प्रपञ्च नहीं देखता। जैसे जागनेपर सर्व स्वप्न-पदार्थोंका लय हो जाता है, उसी प्रकार आनन्दस्वरूप आत्माके ज्ञानसे अधिकारियोंका सर्व प्रपञ्च लय हो जाता है। ऐसे आत्मज्ञानका कल्याणकामी पुरुषोंको अवश्य सम्पादन करना चाहिये।

आत्मज्ञानकी दुर्लभता

हे संन्यासियो! जिस आत्मज्ञानका मैंने तुमको उपदेश किया है, वह आत्मज्ञान अत्यन्त दुर्लभ है। क्योंकि नाना प्रकारके तप करनेसे प्रसन्न हुए देवता भी मनुष्योंको आत्मज्ञानका उपदेश नहीं करते, किन्तु अनेक प्रकारके लौकिक वर देते हैं। जो अधिकारी वरोंसे सन्तुष्ट नहीं होता, उसीको सत्यपाशमें बँधे हुए देवता आत्मज्ञानका उपदेश करते हैं, जैसे पूर्व सत्यपाशमें बँधे हुए यमराजने नचिकेताको ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया था। यह बात तपके प्रभावसे तुम जानते ही हो।

शङ्का—हे भगवन्! जब ब्रह्मविद्या ऐसी दुर्लभ है, तो आपने सभामें स्थित होकर उसका हमको क्यों उपदेश दिया?

समाधान—हे संन्यासियो! इस विषयमें मेरा विचार सुनो—ये ब्रह्मविद्याके अधिकारी संन्यासी

मेरे आश्रमपर आये हैं। यदि मैं इनको ब्रह्मविद्याका उपदेश नहीं करूँगा, तो दूसरा कौन करेगा? मेरे समान दूसरेमें ब्रह्मवेत्तापन निश्चित नहीं है। दध्यङ् अथर्वण ऋषिके समान मैं श्वेताश्वतर ऋषि भी सब जीवोंके उपकारके लिये प्रवृत्त हुआ हूँ, इसलिये इन अतिथि संन्यासियोंसे ब्रह्मविद्या गुह्य रखना उचित नहीं है। ऐसा विचार कर मैंने तुमको ब्रह्मविद्याका उपदेश किया है। इसके सिवा एक बात और भी है कि जो विद्वान् अधिकारियोंको ब्रह्मविद्याका उपदेश करता है, उसपर परमेश्वर भी प्रसन्न होता है। इस कारण भी मैंने तुमको दुर्लभ ब्रह्मविद्याका उपदेश किया है।

देवी-हे डोरुशङ्कर! श्वेताश्वतर ऋषि इस प्रकार संन्यासियोंको ब्रह्मविद्याका उपदेश करके चुप हो गये। वेद-वेदाङ्गके तात्पर्यको जाननेवाले इन श्वेताश्वतर ऋषिने तपके प्रभावसे और ईश्वरके प्रसादसे आत्मसाक्षात्कारको प्राप्त होकर अपने आश्रममें आये हुए अत्याश्रमी परमहंस संन्यासियोंको आत्मज्ञानका उपदेश किया था। हे वत्स! इस लोकमें ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, इन तीन आश्रमियोंसे परमहंस संन्यासी श्रेष्ठ हैं, इसलिये श्रुतिमें उनको अत्याश्रमी कहा है। ऐसे अत्याश्रमी संन्यासी श्वेताश्वतर मुनिसे ब्रह्मज्ञानको प्राप्त होकर सुखी हुए।

हे प्रियदर्शन! यह ब्रह्मज्ञान अत्यन्त पवित्र है। ब्रह्ममात्र कार्यसहित अज्ञानकी निवृत्तिका और परमानन्दरूप मोक्षकी प्राप्तिका कारण है। मुमुक्षु मुनियोंको इसका सेवन करना चाहिये। इस आत्मज्ञानको वेदान्तोंमें गुह्यरूपसे कथन किया है और यहाँ प्रसङ्गमें पुराकल्परूपसे कथन किया है। जिस वेदभागमें पूर्व वृद्ध पुरुषोंके सृष्टि आदि व्यवहार कथन किये हों, उस वेदभागका नाम पुराकल्प है। जैसे यहाँ प्रसङ्गमें पूर्व ब्रह्मवेत्ता वृद्ध ब्राह्मणोंका जगत्‌के कारणका विचार करनेको समागम हुआ है, इसका नाम पुराकल्प है। हे सौम्यदर्शन! जिस विचारको मनमें रखकर श्वेताश्वतर ऋषि चुप हो गये थे, उस विचारको सुन—

जो पुरुष शम-दमादि साधनोंसे रहित हो, जिसका चित्त विषयासक्त हो, ऐसा पुरुष यदि किसी दयालु ब्रह्मवेत्ता गुरुके सामने ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिकी प्रार्थना भी करे, तो भी ब्रह्मवेत्ता गुरुको उस विषयासक्त पुरुषको ब्रह्मविद्याका उपदेश कभी न करना चाहिये। यदि वह पुरुष शमादि साधन-सम्पन्न तथा ब्रह्मविद्याका अधिकारी भी हो परन्तु पुत्र अथवा शिष्यभावसे रहित हो, तो भी उसे ब्रह्मविद्याका उपदेश नहीं करना चाहिये। यदि ब्रह्मवेत्ता गुरु किसी प्रीतिआदि निमित्तसे परवश हुआ हो, तो भी उसको गुरु-भक्तिसे रहित पुरुषको ब्रह्मविद्याका यथार्थ तात्पर्य कभी न कहना चाहिये। जो पुरुष विवेकादि चारों साधनोंसे युक्त हो, प्रमादसे रहित हो और ब्रह्मवेत्ता गुरुको साक्षात् परमेश्वरके समान देखता हो, ऐसे गुरुभक्त अधिकारी पुरुषको ब्रह्मवेत्ता गुरु ब्रह्मविद्याका उपदेश करे। गुरुभक्त अधिकारी ही ब्रह्मविद्याके मोक्षरूप फलको प्राप्त होता है। गुरुभक्तिसे रहित पुरुष यदि दैवयोगसे ब्रह्मविद्याका अध्ययन भी करता है, तो भी ब्रह्मविद्याके फलको प्राप्त नहीं होता; उसे तो अनर्थकी ही प्राप्ति होती है। यह बात व्यास भगवान् आदिने भी कथन की है—

> गुरुं यो मानवैरन्यैः समं पश्यति मोहतः।
> न तस्यास्मिन् न वै लोके सुखं नैव परत्र वा॥

जो पुरुष प्रमादसे ब्रह्मविद्याका उपदेश करनेवाले गुरुको दूसरे मनुष्योंके समान देखता है, उसको इस लोक या परलोकमें कहीं सुखकी प्राप्ति नहीं होती, किन्तु दुःख ही प्राप्त होता है। और भी कहा है—

कर्मणा मनसा वाचा गुरुं यो नाऽवमन्यते ।
स याति नरकान् घोरान् महारौरवसंज्ञितान् ॥

अर्थ—जो पुरुष शरीर, मन, वाणीसे ब्रह्म-विद्याप्रदाता गुरुकी अवज्ञा करता है, वह महान् घोर रौरव नरकोंको प्राप्त होता है । और भी कहा है—

एकाक्षरप्रदातारं गुरुं यो नैव मन्यते ।
स मूढो नरकं याति यावदाभूतसंप्लवम् ॥

अर्थ—ब्रह्मविद्याके एक अक्षरमात्रको उपदेश करनेवाले गुरुको जो पुरुष नहीं मानता, वह मूढ जगत्के प्रलयपर्यन्त रौरव नरकमें निवास करता है । और भी कहा है—

कृतघ्नानां हि ये लोका ये लोका ब्रह्मघातिनाम् ।
मृत्वा तानभिसंयाति गुरुद्रोहपरो नरः ॥

अर्थ—कृतघ्न और ब्रह्महत्यारे मरकर जिन नरकादि लोकोंको प्राप्त होते हैं, उन्हीं लोकोंको गुरु-द्रोही प्राप्त होता है । और भी कहा है—

स महापातकी ज्ञेयस्तथोपपातकीत्यपि ।
गत्वा कल्पसहस्रान्ते विष्ठायां जायते कृमिः ॥

अर्थ—ब्रह्मविद्याका उपदेश करनेवाले गुरुके साथ जो द्रोह करता है, उसे महापातकी तथा उपपातकी जानना चाहिये; ऐसा गुरुद्रोही रौरवादि नरकोंको प्राप्त होकर वहाँ हजार कल्पतक वास करता है और पश्चात् विष्ठाका कृमि होता है । अथवा सर्वविद्याओंकी प्राप्तिमें गुरु ही कारण है, इसलिये अधिकारियोंको महादेवके समान गुरुका पूजन करना चाहिये, अथवा शिवके पूजनसे भी गुरुका पूजन अधिक करना चाहिये ।

शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे शिवो न हि ।
शिवादप्यधिकं तस्माद् गुरुं यत्नेन पूजयेत् ॥

अर्थ—शिव भगवान्के क्रुद्ध होनेपर अधिकारीकी गुरु रक्षा कर सकता है, परन्तु गुरुके क्रुद्ध होनेपर शिव रक्षा नहीं कर सकते; इसलिये शिवसे भी अधिक गुरुका पूजन करना चाहिये ।

हे प्रियदर्शन ! जो पुरुष अभिमानसे अपने गुरुकी अवज्ञा करता है, उसके पापकर्मकी निवृत्ति करनेवाला कोई प्रायश्चित्त नहीं है । क्योंकि ब्रह्म-हत्यादि पापोंकी निवृत्ति करनेवाले प्रायश्चित्त धर्मशास्त्रमें देखनेमें आते हैं, परन्तु गुरुद्रोहीके पापकी निवृत्तिका प्रायश्चित्त किसी शास्त्रमें नहीं मिलता । इस लोकमें ब्रह्महत्या सबसे बड़ा पाप है । ब्रह्महत्यारेके किये हुए उपकारका न माननेवाला कृतघ्न अधिक पापी होता है । कृतघ्नसे भी गुरुद्रोही अति पापी होता है; क्योंकि अधिकारियोंका गुरु ही पिता-माता है, गुरु ही देव है, गुरु ही बन्धु है, गुरु ही मित्र है और गुरु ही सुहृद् है । ऐसे गुरुसे द्रोह करनेवाला कृतघ्नसे भी अधिक पापी है, इसमें संशय नहीं है । 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इस श्रुतिमें ब्रह्मवेत्ताको ब्रह्म कहा है; इसलिये अधिकारी आत्मज्ञानसे जिस ब्रह्मको प्राप्त होता है, वह ब्रह्म ब्रह्मवेत्ता गुरुसे अभिन्न है । इसलिये ब्रह्मवेत्ता गुरुकी अवज्ञासे ब्रह्मकी ही अवज्ञा होती है । और 'अयमात्मा ब्रह्म' इस श्रुतिमें आत्माका ब्रह्मके साथ अभेद कहा है, इसलिये ब्रह्मकी अवज्ञासे आत्माकी ही अवज्ञा होती है । 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं' इत्यादिक श्रुतियोंमें सम्पूर्ण जगत्को आत्मा-रूप कहा है, इसलिये आत्माकी अवज्ञासे सर्व-जगत्की अवज्ञा होती है । अवज्ञारूप हनन शस्त्रके हननसे भी अत्यन्त दारुण है । क्योंकि शस्त्रसे हनन किया हुआ क्षणमात्र ही दुःख पाता है, कभी-कभी नहीं भी पाता; किन्तु अवज्ञारूप शस्त्रसे हनन किया हुआ स्मृतिद्वारा मरणपर्यन्त दुःख पाता है । इसलिये गुरुद्रोहसे सर्वजगत्को हनन करनेवाला गुरुद्रोही सुखी नहीं हो सकता । इसलिये कल्याणाभिलाषीको शरीर, मन अथवा वाणीसे ब्रह्मवेत्ता गुरुको प्रसन्न ही करना चाहिये

और शिवादि देवताओंके पूजनके समान सावधान होकर गुरुका पूजन करना चाहिये।

ब्रह्मवेत्ता गुरु शिष्यसे जिस कार्यके करनेको कहे, वही कार्य शिष्यको प्रसन्नमनसे करना चाहिये और अपने शरीरकी रक्षाकी भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये।

राजा दिलीपकी कथा

राजा दिलीपके बहुत कालतक कोई पुत्र न हुआ। पुत्रकी वाञ्छासे एक बार गुरु वशिष्ठकी आज्ञासे रानीसहित राजा नन्दिनी गौकी सेवा करने लगे। प्रातःकाल ही राजा-रानी दोनों गौकी पुष्प, माला, चन्दनादिसे पूजा करते; पश्चात् राजा गौको वनमें ले जाता, हरी-हरी दूब खोद-खोदकर चराता, ठंडा जल पिलाता, वृक्षकी छायामें जब नन्दिनी बैठ जाती, तो पंखेसे मच्छर, डाँस आदि उड़ाया करता। इस प्रकार दिनभर सेवा करता, सन्ध्याको घरपर लाता, तब राजा-रानी दोनों फिर गौकी पूजा करते और उसे गुरु-आश्रममें पहुँचा देते। ऐसा करते-करते बीस दिन हो गये। इक्कीसवें दिन जब राजा गौको वनमें ले गया, तो अकस्मात् एक व्याघ्र नन्दिनीको भक्षण करने दौड़ा। गौ उसे देखकर सहम गयी और राजाकी ओर करुणाभरी आँखोंसे देखने लगी, मानो व्याघ्रसे रक्षा करनेको कहती है। राजाने तुरंत ही धनुषपर बाण चढ़ाकर व्याघ्रपर चलाया; परन्तु बाण धनुषमें ही लगा रह गया, धनुषसे निकला नहीं! राजा विस्मित होकर सोच करने लगा, तब व्याघ्र गर्जना करता हुआ मनुष्यकी वाणीमें इस प्रकार बोला—

व्याघ्र—हे राजन्! मैं रुद्रका गण हूँ, रुद्र भगवान्‌की आज्ञासे इस वृक्षके नीचे रहता हूँ, और उसकी रक्षा करता हूँ। जो कोई पशु वृक्षके नीचे आ जाता है,उसको भक्षण करके अपनी क्षुधाकी निवृत्ति करता हूँ। आज यह गौ रुद्र भगवान्‌की भेजी हुई यहाँ आ गयी है; यह मेरा भोजन है, इसको भक्षण करके मैं अपनी क्षुधाकी तृप्ति करूँगा! तेरा बाण रुद्रकी कृपासे मुझपर चल नहीं सकता, इसलिये तेरा प्रयत्न करना व्यर्थ है! मुझे अपना पेट भरने दे, तू गौको छोड़कर चला जा! जब तू इसकी रक्षा कर ही नहीं सकता तो तू गुरुका अपराधी भी नहीं हो सकता। क्योंकि जब तेरा वश ही नहीं चलता, तो तू निर्दोष है! इसके सिवा तू राजा है, समर्थ है, एक गौके बदले हजारों गौएँ देकर गुरुको प्रसन्न कर सकता है; फिर एक गौके लिये तुझे सोच करना उचित नहीं है! भूखेको भोजन न देना अथवा उसका भोजन छीन लेना, यह भी तो पाप है; भूखेको भोजन कराना पुण्य है। मेरे भोजन करनेसे तुझे पुण्य ही होगा, पाप नहीं लगेगा; इसलिये जा और गुरुको बहुत-सी गौएँ देकर और अपनी परवशता बताकर प्रसन्न कर ले, अधिक सोच-विचार मत कर! रुद्र भगवान्‌के भेजे हुए भोजनका मुझे भोग लगाने दे!

व्याघ्रकी युक्तियुक्त बातें सुनकर और रुद्र भगवान्‌की शक्तिसे अपना सामर्थ्य रुका हुआ देखकर राजा दिलीप इस प्रकार कहने लगा—

राजा—हे रुद्रगण! तेरा कथन ठीक है; परन्तु गुरुकी वस्तुकी जो पुरुष अपने प्राण देकर भी रक्षा नहीं करता, वह पातकी होता है! तू भी तो तन-मनसे इसकी रक्षा करता है। यह गौ गुरुको बहुत प्यारी है, हजार गौ देनेसे भी गुरु प्रसन्न नहीं हो सकते! यदि तू भूखा है तो मुझे खा ले और इसके बदले गुरुकी इस गौको छोड़ दे। बछड़ा दूध पीनेके लिये अपनी माताके आनेकी बाट देख रहा होगा और माता भी सन्ध्या होनेपर अपने बछड़ेको दूध पिलानेके लिये उत्सुक हो रही होगी! गुरुजी भी मेरी बाट देख रहे होंगे कि सन्ध्या होनेवाली है, हमारा शिष्य गौको चराकर ला रहा होगा। इन तीनोंकी आशापर फाँस मत मार और तू मुझे भक्षण करके अपनी क्षुधाकी निवृत्ति कर ले!

व्याघ्र-(हँसकर) अरे राजन्! तू मूढ़ क्यों हुआ है? नयी उमर है, सुन्दर शरीर है, हृष्ट-पुष्ट अवयव हैं, एक गौके लिये अपने प्राण क्यों देता है? राजाको प्रजाका पालन करनेसे महान् पुण्य होता है। जिस राजाकी प्रजा दुखी होती है वह राजा अवश्य नरकगामी होता है, तेरे मरनेसे तेरी प्रजा विना राजाकी होकर महादुःखी होगी। जीता रहा तो प्रजाका पालन करके पुण्यकी कमाई करेगा और गुरुको भी धन-धाम, ग्राम-जागीर देकर प्रसन्न कर लेगा। फिर व्यर्थ ही अपनी जान क्या खोता है?

राजा-हे रुद्र-गण! यह तेरा कथन ठीक नहीं है; गुरुकी सेवा ही परमसेवा है, गुरुसेवासे ही सब कुछ मिलता है! प्रजाका पालन राजाका धर्म अवश्य है, परन्तु गुरुसेवा परम धर्म है! गुरुकी वस्तु मुझे प्राणसे भी प्यारी है, प्राण देकर भी मैं गौकी रक्षा करूँगा।

इतना कहकर राजाने धनुष-बाण हाथसे रख दिया। आज मेरा नश्वर शरीर [illegible] के काम आवेगा और गुरुकी गौके प्राण बच जायँगे, इस उमंगसे राजा पृथिवीपर गिर पड़ा और आँखें बंद करके और आशा एवं प्रतीक्षा करने लगा कि कब व्याघ्र आकर मुझे खावे और मेरी गुरुसेवा पूरी हो! इतनेहीमें ये प्यारे मधुर शब्द उसके कानमें आये—हे वत्स! तेरा कल्याण हो! खड़ा हो जा, तेरा मनोरथ पूर्ण होगा; तू मेरा और गुरुका सच्चा भक्त है। वसिष्ठजीकी कृपासे मेरा मारनेवाला कोई नहीं है, तेरी परीक्षा लेनेके लिये मैंने ही व्याघ्रका दूसरा रूप धारण किया था! राजा दिलीपने नेत्र खोलकर देखा तो व्याघ्र वहाँ नहीं था, नन्दिनीने ही उपर्युक्त वचन कहे थे। राजा उठ खड़ा हुआ और गौको लेकर गुरु-आश्रममें पहुँचा। पीछे नन्दिनी और गुरुकी कृपासे रानीने गर्भ धारण किया और नौ मास पीछे रघुका जन्म हुआ, जिसकी कीर्ति विश्वमें विख्यात है।

हे प्रियदर्शन! राजा दिलीपने तो लौकिक पुत्रकी कामनासे गुरुकी ऐसी भक्ति की कि गुरुकी गौकी रक्षाके लिये अपने प्राण न्यौछावर कर दिये, तो अखण्ड सुखरूप ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये शिष्य गुरुकी जितनी सेवा करे उतनी ही थोड़ी है। हे वत्स! शिष्यको अपने कानोंसे सर्वदा गुरुकी कीर्ति सुननी चाहिये, मुखसे गुरुकी स्तुति करनी चाहिये! यदि शिष्यके सामने कोई दुष्ट पुरुष गुरुके दूषण कथन करे, तो शिष्यको यथाशक्ति उसका अपमान ही करना चाहिये; यदि अपमान करनेमें समर्थ न हो, तो वहाँसे दूर चला जाना चाहिये। यदि दूर जानेमें भी असमर्थ हो, तो अपने कान बंद कर लेने चाहिये। सारांश यह है कि कल्याणकामीको शिवादि देवताओंके समान रात-दिन सावधान होकर गुरुभक्ति करनी चाहिये, गुरुभक्तिसे अधिकारीको मोक्षरूप पुरुषार्थकी प्राप्ति होती है। श्रुति भगवती कहती है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

अर्थ—जिस पुरुषकी परमात्मदेवमें परम भक्ति है, और जैसी परमात्मदेवमें भक्ति है, वैसी ही गुरुमें है, उस गुरुभक्तकी बुद्धिमें ही ये वेदान्तशास्त्रके पदार्थ प्रकाश करते हैं। गुरुभक्तको ही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चारों प्रकारका पुरुषार्थ प्राप्त होता है। अथवा जैसे ब्रह्मचर्य आश्रममें पुरुष ईश्वराराधन तथा वेदाध्ययनादिमें सावधान होकर बर्तता है, उसी प्रकार अधिकारीको गुरुकी भक्तिमें सावधान रहना चाहिये। क्योंकि यदि दैवयोगसे अधिकारी ब्रह्मचर्यादि साधनोंसे भ्रष्ट भी हो जाय, तो यदि गुरु शिष्यपर प्रसन्न होता है, तो शिष्यको प्रायश्चित्तादि उपायोंसे शोधन कर सकता है और यदि शिष्य गुरुसे विमुख होता है तो उसकी रक्षा करनेवाला प्रायश्चित्तादि कोई उपाय नहीं है।

गुरौ विमुखतां याते विमुखाः सर्वदेवताः ।
भवन्ति क्रियमाणं च पुण्यं पापं हि जायते ॥

अर्थात्—ब्रह्मविद्याके उपदेष्टा गुरुसे जो पुरुष विमुख होता है, उससे सब देवता विमुख हो जाते हैं और गुरुसे विमुख हुआ पुरुष यदि पुण्य भी करता है, तो पुण्य भी पापरूप हो जाता है। इसलिये कल्याणाकांक्षीको सब प्रकारसे देवताके समान गुरुका पूजन करना चाहिये । और शम-दमादि गुणोंसे तथा आत्मसाक्षात्कारसे युक्त जीवन्मुक्त संन्यासियोंको भी सब प्रकारसे अपने गुरुका पूजन करना चाहिये । स्मृतिका वचन है—

यावदायुस्त्रयो वन्द्या वेदान्तो गुरुरीश्वरः ।

अर्थ—जबतक विद्वान्की आयु है तबतक उसको वेदान्तशास्त्र, वेदान्तके उपदेशक गुरु और ईश्वर, इन तीनोंका पूजन करना चाहिये। भाव यह है कि जब विधि-निषेधसे रहित जीवन्मुक्त संन्यासियोंको भी गुरुका पूजन अवश्य करना चाहिये, तो दूसरोंका तो कहना ही क्या है ? इसलिये इन संन्यासियोंको यद्यपि मेरे उपदेशसे आत्मसाक्षात्कार हुआ है, तो भी इनको अपने-अपने गुरुका पूजन करनेको उनके गुरुओंके पास अवश्य जाना चाहिये ।

हे प्रियदर्शन ! इस अभिप्रायको मनमें रखकर श्वेताश्वतर मुनि चुप हो गये और उनके अभिप्रायको जानकर विद्वान् संन्यासी श्वेताश्वतर मुनिकी यथायोग्य स्तुति करके अपने-अपने गुरुओंके समीप चले गये। हे डोलशंकर ! पूर्व ब्राह्मणोंने जगत्के कारणका विचार करके तथा मायाशक्तिका दर्शन करके जो ब्रह्मविद्या कथन की थी, उसीका श्वेताश्वतर मुनिने संन्यासियोंको उपदेश किया था; वही ब्रह्म मैंने तुमसे कथन किया !

पाठक ! ब्रह्म सच्चिदानन्दरूप है; माया असत्, जड और दुःखरूप है । स्वरूपके न जाननेसे मायाकी सिद्धि होती है, स्वरूपके ज्ञानसे माया कहीं भी दिखायी नहीं देती, केवल आनन्दस्वरूप चैतन्यघन ब्रह्म ही भासता है । चिन्मात्र ब्रह्म ही सत्य है, जडता कहीं भी नहीं है—यही बात नीचेके छन्दमें दिखलायी गयी है—

जडता कहीं भी नहीं है

(१)

परमाणु नहिं, नहिं काल ही, न स्वभाव कारण विश्वका ।
नहिं नियति, यदृच्छा नहीं, न अभाव कारण विश्वका ॥
नाहीं प्रकृति, नहिं ब्रह्म ही, मायेश कर्ता विश्वका ।
मायेशकी जो ले शरण, सो भेद पाता विश्वका ॥

(२)

सच्चित तथा आनन्दघन, यह ब्रह्मका स्वस्वरूप है ।
मिथ्यापना जडरूपता, अरु दुःख मायारूप है ॥
मायेश माया-शक्तिसे उत्पन्न करता विश्व है ।
संसारभरको मोहनी, माया स्वयं निस्तत्त्व है ॥

(३)

माया-पिशाचीवश हुआ नर विश्व जड बतलाय है ।
ज्ञानी अमानीको कहीं जडता नजर नहिं आय है ॥
जडता कहीं भी है नहीं, चैतन्य सारा विश्व है ।
परिपूर्ण सबमें एकरस, चिन्मात्र केवल तत्त्व है ॥

(४)

एकाग्र कीजे चित्तको, निर्मल बना मन लीजिये ।
अति सूक्ष्म करके बुद्धि, अपनी दृष्टि अणुपर दीजिये ॥
जडता नहीं अणु माहिं किंचित् जडपना भ्रममात्र है ।
अणु है नहीं, चैतन्य है, अणु-अणु बसा चिन्मात्र है ॥

(५)

योगी समाहितचित्त जिस-जिस द्रव्यको हैं देखते ।
नहिं देखते हैं द्रव्य, केवल ब्रह्मको हैं देखते ॥
है ब्रह्म ही निश्चय सभी, जडका न किंचित् लेश है ।
अक्षय निरामय तत्त्व ही चिन्मात्र विभु अविशेष है ॥

(६)

सम्यक् न जिनकी दृष्टि है, जडवत् उन्हें जग भासता ।
है ब्रह्म ही चिद्रूप सो, जडका नहीं कुछ वासता ॥
अक्षर अखण्डित एक शिव, ध्रुव शान्त शाश्वत नित्य है ।
नाना यहाँ कुछ है नहीं, चिन्मात्र केवल सत्य है ॥

(७)

अंधा पुरुष ज्यों विश्वभरमें है अँधेरा मानता।
विक्षिप्त मन नर मूढ़ त्यों ही विश्वको जड जानता॥
तत्त्वज्ञ सम्यग्दर्शि सबमें देखता है आत्म ही।
जग आत्ममय है देखता, सर्वत्र देखे ब्रह्म ही॥

(८)

जो सत्य द्रष्टा होय है, सब विध शिवमय देखता।
भीतर तथा बाहर दसों दिश एक सुखमय देखता॥
नाना नहीं है लेश, केवल ब्रह्म ही सर्वत्र है।
सम, नित्य, अद्वय, एक, अव्यय तत्त्व अज, चिन्मात्र है॥

(९)

अहरूपमें जो भासता, निश्चय सभी सो भ्रांति है।
है रोग जिसको भ्रांतिका, पाता कभी नहिं शांति है॥
जब ज्ञान सम्यक् होय है, भ्रम-भेद सब मिट जाय है।
अक्षर अकिंचन शुद्ध संवित् देखनेमें आय है॥

(१०)

कर वृत्तियोंमें ब्रह्मका पहिले निरन्तर ध्यान रे।
फिर वृत्तियोंसे रहित कर तू ब्रह्म-अनुसंधान रे॥
एकाग्र मन हो ध्यान-से, तब ज्ञान सम्यक् पायगा।
उड़ जायगा सब विश्व, भोला! ब्रह्म ही रह जायगा॥

कुं०—ज्ञानी मुनि श्वेताश्वतर, यतिजन श्रुति संवाद।
पढ़ैं सुनैं जे धीर नर, चढ़ैं मुक्ति प्रासाद॥
चढ़ैं मुक्ति प्रासाद, गर्भमें लौट न आवैं।
बनैं भूपके भूप, राज्य निष्कंटक पावैं॥
भोला! तज भ्रम-भेद, नरककी यही निसानी।
जो तज देता भेद, वही है योगी ज्ञानी॥

इति एकादशमणि।

पूज्यपाद स्वामीजी श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके उपदेश

(प्रेषक—भक्त रामशरणदासजी)

(१) जो भजन करते हुए यह चाहे कि मुझे ज्वर न हो, तकलीफ न हो, उसे भगवान् चौदह जन्ममें भी नहीं मिलेंगे। दुःखोंको सहन करते हुए और भगवान्‌का स्मरण करते हुए चलते चलो, यही मुक्ति है। भगवच्चिन्तनमें जो आनन्द है, वह आनन्द समाधिमें भी नहीं है। एक दिन श्रीजी भगवान्‌को पंखा झल रही थीं कि उन्हें सहसा समाधि लग गयी और हाथसे पंखा गिर गया। चेत होनेपर श्रीजीने कहा कि हमें ऐसी समाधि भी नहीं चाहिये जो हमें सेवासे वञ्चित रक्खे। समाधि सेवाके आगे क्या चीज है?

(२) प्रश्न—महाराजजी निन्दा कैसे छूटे?

उत्तर—कोशिश करो। खुर्जामें एक भक्त केदारनाथ-जी थे, वे कभी क्रोध नहीं करते थे। एक दिन उन्हें अपने एक नौकरपर किसी कारणवश क्रोध आ गया, किन्तु पीछे वे बहुत पछताये और रातको ही जाकर उन्होंने उससे माफी माँगी। एक दिन एक साधु उनके यहाँ आये और भिक्षाको कहा। भक्तजीने आसन बिछाकर उन्हें बड़े प्रेमसे भिक्षा कराने बैठाया। साधु जब भिक्षा करने लगे तो भक्तजीने उन्हें एक चमचा खीर और परोस दी। साधुने मना किया, भक्तजीने प्रेमसे एक चमचा और परोस दी। इसपर साधुने उनके मुँहपर एक तमाचा जड़ दिया। भक्तजी बिल्कुल शान्त रहे। अगले दिन फिर आप उनके पास गये और कहा कि महाराज, आज भी मेरे ही यहाँ भिक्षा करनी होगी।

(३) प्र०—कोई अपने ऊपर अत्याचार करे तो?

उ०—अपने ऊपर अत्याचार होनेपर भी सहन करे, तभी सहनशक्ति है।

(४) अन्तर्यामीकी प्रेरणा बिना कुछ नहीं

होता । इसलिये यदि कोई हमारा अपमान करता है तो उसे भी अन्तर्यामीकी प्रेरणा ही समझनी चाहिये और उस समय भगवन्नाम-कीर्तन करना चाहिये । चुप हो जाना ही सहनशक्ति नहीं है, बल्कि हृदयमें भी प्रसन्नता होनी चाहिये ।

(५) जो घोर सहनशक्तिवाला है, वही तत्त्वज्ञानी है । सबकी गाली तथा निन्दा सहन करे और ऐसा समझे कि फूल बरस रहे हैं । दो महात्मा थे, वे कहीं जा रहे थे । किसी बागमें किसीने आम तोड़ लिये थे । मालीने जब इन्हें बागके सामने जाते देखा तो इन्हींको चोर समझा । दोनोंको उसने खूब मारा । महात्मा शान्त रहे और सब सहते रहे । इसपर सहसा देवता आकाशसे उतर आये । पीछेसे उनका चेला आ रहा था । जब मालीने उसे मारा तो वह चेला मालीसे लड़ने-झगड़ने लगा । झटसे देवता ऊपर आकाशमें चले गये । साधुओंने पूछा कि आप लोगोंने ऐसा क्यों किया ? क्यों तो आप उतरकर आये और क्यों तुरंत ही ऊपर चले गये ? देवताओंने कहा कि गुरु ऐसे न सही, परन्तु तुमने चेला तो ऐसा कर ही रक्खा है । इसीसे हम चले गये । हम तो तुम्हारी सहनशक्ति देखकर आये थे ।

(६) भक्तिमार्ग श्रुतिसे भी परे है । श्रुतिमें भक्तिमार्गका इतना प्रतिपादन किया गया है कि कुछ ठीक नहीं ।

(७) कर्म स्वतन्त्र, भक्ति स्वतन्त्र, ज्ञान स्वतन्त्र—तीनों स्वतन्त्र हैं । तीनोंसे मुक्ति होती है । तीनों बन्धनके कारण नहीं । आजकल यह रोग हो गया है कि कुछ लोग भक्तिको परतन्त्र समझते हैं । लेकिन भक्ति परतन्त्र नहीं, स्वतन्त्र है । गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

भक्ति सुतंत्र सकल गुन खानी ।
बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी ॥

(८) दो ही मार्ग प्रधान हैं—एक भक्तिमार्ग, दूसरा ज्ञानमार्ग । ज्ञानमार्गी तैरकर जाता है । भक्तिमार्गवाला इस प्रकार जाता जिस प्रकार कोई लड़का अपने पिताकी गोदमें बैठा हो और पिता नौकामें बैठा हो तथा मल्लाह उसे पार कर दे । उस लड़केको पता ही नहीं चलता कि कहाँ नाव है और कौन उसे चलाता है । वह तो निश्चिन्त हो पिताकी गोदमें बैठा रहता है । यह भक्तिमार्ग है ।

(९) मृत्युसे डरना केवल मूर्खोंका काम है । क्योंकि अगर किसीका पुराना कपड़ा छीनकर उसे नया कपड़ा पहननेको दिया जाय तो वह कितना खुश होगा । इसी प्रकार इस पुराने शरीरको छुड़ाकर हमें नया शरीर दिया जा रहा है, यह देखकर खुशी मनानी चाहिये । श्रीभगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्गीतामें भी अपने श्रीमुखसे कहा है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

(१०) प्र०—महाराजजी, कोई स्त्री-शिक्षाकी बात कहिये ।

उ०—स्त्रियाँ बक-बक करना बंद कर दें, यही उनके लिये सबसे बड़ी शिक्षा है । लड़ें-भिड़ें नहीं, और ज्यादा पढ़ें-लिखें नहीं; प्राचीन आचार-विचारसे रहें, खिलाने-पिलानेमें किसीको कमी-बेशी न करें; सबको एक-सा भोजन दें, किसीको मोटी रोटी, किसीको पतली रोटी—ऐसा न करें । तभी घरमें प्रेम रहेगा । सबसे प्रेम करें और पतिके अतिरिक्त किसी दूसरेको स्वप्नमें भी न देखें ।

गृहस्थमें परमार्थ-साधन

(कुछ वर्ष पूर्व पटनेमें दिया हुआ ब्रह्मचारी श्रीप्रभुदत्तजी महाराजका लिखित भाषण)

सुखं शयाना निलये निजेऽपि
नामानि विष्णोः प्रवदन्ति मर्त्याः।
ते निश्चितं तन्मयतां व्रजन्ति
गोविन्द दामोदर माधवेति॥

मेरे एक श्रद्धास्पद मित्रने आज यह आदेश दिया कि कुछ गृहस्थ-धर्मके सम्बन्धमें लिखो। यद्यपि मैं आपके ही घरोंमें पैदा हुआ, पला-पोसा और पढ़ा; किन्तु घर छोड़े मुझे एक युगसे भी बहुत अधिक समय हो गया। मुझे गृहस्थ-धर्मका कुछ भी अनुभव नहीं और न इतनी योग्यता ही मैं अपनेमें समझता हूँ कि आप सब महानुभावोंके समक्षमें इतनी बड़ी जिम्मेवारीके विषयमें कुछ कह सकूँ। किन्तु मैंने जो भी कुछ थोड़ा-बहुत पढ़ा है, साधु-महात्माओंसे सुना है और जो कुछ जानकारी प्राप्त की है, उसके अनुसार कुछ न कहूँ—यह भी ठीक नहीं; अतः इस विषयमें मेरे जो भी कुछ विचार हैं, उन्हें आपके सामने उपस्थित करता हूँ।

मेरे मित्रका मतलब, जहाँतक मैं समझ सका हूँ, यही है कि गृहस्थीमें रहते हुए—गृहस्थ-धर्मका पालन करते हुए हम अपनी पारमार्थिक उन्नति कैसे कर सकते हैं? इस प्रश्नमें यह तो निश्चय ही है कि पारमार्थिक उन्नति करना मनुष्यका मुख्य कर्तव्य है। अब बहुत-से लोग यह कहते हैं कि बिना घर-द्वार छोड़े परमार्थ-पथकी ओर हम बढ़ ही नहीं सकते, इसके लिये हमें घर-द्वार, स्त्री-परिवार सबसे सम्बन्ध तोड़ना ही होगा। बहुत-से कहते हैं—नहीं, इसके लिये यह आवश्यक नहीं कि घर-बार छोड़ा ही जाय; घर-बारमें रहते हुए भी पारमार्थिक उन्नति या प्रभु-प्राप्ति हो सकती है। दोनों बातोंमें कोई भी ठीक हो, दोनों दशाओंमें प्रभुप्राप्ति ही मुख्य कर्तव्य रहा। अब एक तीसरी श्रेणी ऐसे लोगोंकी भी है, जो परमार्थको मानते ही नहीं।

कैसा ईश्वर, कहाँकी आध्यात्मिकता? जैसे बने तैसे शरीरको सुखी रक्खो, इन्द्रियोंके भोगोंको जुटाओ, उन्हींमें आनन्द उड़ाओ। धर्म-कर्म, परमार्थ-परमात्मा व्यर्थकी चीजें हैं। ऐसे लोगोंके लिये अपना मन ही ईश्वर है, सांसारिक विषय ही उनके लिये धर्म हैं। उनके लिये यह प्रश्न नहीं है। यहाँ तर्कद्वारा यह सिद्ध नहीं करना है कि परमात्मा अमुक वस्तु है, परमार्थ यह है। यहाँ तो केवल यही विचार करना है कि गृहस्थमें रहकर भी पारमार्थिक उन्नति हो सकती है क्या?

पहले आप धर्मको समझें—धर्म क्या वस्तु है? प्राणिमात्रकी स्वाभाविक प्रवृत्ति इन्द्रिय-भोगोंकी ओर है, उस वृत्तिको एक मर्यादाके भीतर कर देनेका ही नाम धर्म है। जैसे प्राणिमात्रकी इच्छा विषय-भोगकी रहती है। कीट-पतंग, पशु-पक्षी, सभी विषय-भोग करते हैं; उनके यहाँ माता-बहिन, दिन-रात्रि, ऋतु-कालका कोई विशेष विचार नहीं। अतः उनके लिये धर्म भी नहीं, वे स्वभावके वश होकर जो भी करें। पशुओंकी ही भाँति विषय-वासना मनुष्योंमें भी रहती है। भूख जिस प्रकार पशुओंको लगती है, उसी प्रकार मनुष्योंको भी सताती है; निद्रा पशु-पक्षी भी लेते हैं, मनुष्य भी। अपने विपरीत बात होनेपर पशु भी भयभीत होते हैं, मनुष्य भी; मैथुन पशु-पक्षी भी करते हैं, मनुष्य भी। तब मनुष्योंमें और पशुओंमें अन्तर क्या रहा? अन्तर यही है कि पशु अपने स्वभावानुसार वासनाओंके वशीभूत हैं, वे स्वेच्छासे इन सबको संयममें नहीं ला सकते। जैसे पशुओंको

जभी घास-दाना डाल दो तभी वे उसे खाने लगेंगे। किन्तु मनुष्य, यदि वह धार्मिक जीवन बिताना चाहता है, यह देखेगा कि खानेकी वस्तु कौन लाया है, इस समय उसे खाना चाहिये या नहीं और पहले उसे भगवान्‌के अर्पित कर, तुलसीपत्र डालकर, तब स्वयं ग्रहण करेगा। पशुओंमें यह विवेक नहीं है कि अमुक मेरी माता है या बहिन, उनके लिये सब समान हैं; मनुष्य इन सब बातोंमें संयम कर सकता है। उसकी बुद्धिमें यह विवेक जाग्रत् रहता है कि यह मेरी माता है, यह बहिन है, यह परस्त्री है, इत्यादि। सारांश यह है कि विषयोन्मुख प्रवृत्तिको एक मर्यादामें लाकर विषयोंमें बर्तना, यही धर्म है।

हम स्वभावतः इन्द्रियोंके अधीन हैं, हमारी इन्द्रियाँ सदा विषयोंको चाहती हैं। जब हमारा मन कामवासनासे युक्त होता है, तो उसे कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान नहीं रहता। उस समय हमारी रक्षा धर्म ही करता है। अरे, यह हम क्या कर रहे हैं ! यह तो अधर्म है, पाप है; इसे करनेसे हम नीचे गिर जायँगे—परमार्थ-पथसे च्युत हो जायँगे, प्रकाशसे हटकर अन्धकारकी ओर चले जायँगे। हमें विषयोंसे हटाकर जो प्रकाशकी ओर ले जाता है, वही धर्म है। 'धर्म' शब्द बड़ा व्यापक है, इसके अनेकों भेद हैं, यह अनेकों अर्थोंमें प्रयुक्त होता है।

हमारा मन विषयोंकी ओर जाय ही नहीं, यह तो सर्वश्रेष्ठ बात है। हमारे मनमें घर-गृहस्थीकी वासना ही न उठे, इससे बढ़कर और क्या बात होगी। हमें परमात्माको छोड़कर संसारके किसी पदार्थकी स्मृति ही न हो, यह सर्वोत्तम स्थिति है। ऐसे मनुष्योंके लिये गृहस्थधर्मकी उत्तमता बताना हास्यास्पद है। जिनके मनमें विकार ही नहीं, उनसे विकार-निरोधकी बातें कहना भारी भूल है; किन्तु जो वासनाओंसे युक्त हैं, गृहस्थमें फँसे हुए हैं, क्या उनका उद्धार नहीं हो सकता ? उनके लिये भी कोई उपाय है ? शास्त्रोंका सिद्धान्त है—हाँ, उनके लिये भी उपाय है; विधिवत् गृहस्थ-धर्मका पालन करते हुए वे परमार्थ-पथकी ओर अग्रसर हो सकते हैं। सच्ची बात तो यह है कि गृहस्थ-धर्म ही एक ऐसा धर्म है, यही आश्रम एक ऐसा आश्रम है, जिसका विधिवत् पालन किया जाय तो यह अन्य तीनों आश्रमोंका आश्रयदाता बन जाता है।

युगोंके अनुसार कर्तव्योंमें भी गौणता और मुख्यता हो जाती है। सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग—ये चार युग माने गये हैं। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—ये चार आश्रम हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चार वर्ण हैं। पहले यह परिपाटी थी कि ब्राह्मण चारों आश्रमोंका अधिकारी होता था; ब्राह्मणका बालक पहले ब्रह्मचारी होता था, फिर पाणिग्रहण करके गृहस्थाश्रममें प्रवेश करता था, थोड़े दिन गृहस्थमें रहकर फिर उसे भी छोड़कर वानप्रस्थ-आश्रमको स्वीकार करता था और अन्तमें इहलौकिक एवं पारलौकिक सभी सुखोंको छोड़कर संन्यासी हो जाता था। क्षत्रिय ब्रह्मचर्य एवं गृहस्थ-आश्रममें रहकर तब वानप्रस्थी बनकर तपस्या करने वनमें चले जाते थे और वानप्रस्थ-धर्मका ही अन्ततक पालन करते थे। वैश्य ब्रह्मचर्य और गृहस्थ, दो धर्मोंका पालन करते थे और शूद्र केवल गृहस्थी रहकर ही चारों वर्णोंकी सेवाके कार्यमें रत रहते थे। सत्ययुगमें लोगोंकी वृत्ति स्वभावतः त्यागकी ओर रहती थी, उन्हें त्याग-धर्म सिखाना नहीं पड़ता था। प्रकृति तो सदासे ही अधोगामिनी होती है; ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, लोगोंका त्यागमय जीवन भोगमय जीवनके रूपमें परिणत होता गया, त्रेताके लोग त्याग-धर्मकी अपेक्षा स्वभावतः प्रवृत्ति-धर्ममें रुचि रखने लगे। द्वापरमें तो यहाँतक हुआ कि भोगोंके लिये मार-काट, युद्ध, छल-कपट सब होने लगा। फिर कलियुगका तो पूछना ही

क्या। इसमें तो धर्मके तीन पैर कट गये। अनेक प्रकारके अधर्म फैल गये। वर्णाश्रम-धर्म छिन्न-भिन्न हो गया, वर्णोंमें संकरता आ गयी, आश्रम तो प्रायः लुप्त-से ही हो गये। धर्मकी प्रवृत्ति लोगोंके मनसे उठ गयी। लोग विषय-परायण, लम्पट और कामी बन गये। ऐसे युगमें भी हम परमार्थ-साधन कर सकते हैं क्या? यदि कर सकते हैं तो कैसे कर सकते हैं? यही विचारणीय विषय है।

इस युगमें जो एकान्तमें रहकर योग-साधन कर सकते हैं वे करें, वे हमारे लिये परम पूज्य हैं। जन-सम्पर्कसे दूर रहकर, और अरण्यमें एकाकी, निःस्पृह और शान्त बनकर, जो सत्-असत्का विवेक करते हुए ब्रह्म-चिन्तन कर सकते हैं, वे वन्दनीय हैं, प्रातःस्मरणीय हैं; किन्तु इसे सर्वसाधारण लोग नहीं कर सकते। सर्वप्रथम तो हमारे ऊपर शासन करनेवाले ही विदेशी और विधर्मी हैं, वर्णधर्म इतना सङ्कुचित और छिन्न-भिन्न हो गया है कि स्मृतियोंमें जिन वर्णोंके जो धर्म बताये गये हैं उनका विधिवत् पालन करनेवाले शायद सौमें एक भी न मिलें। आश्रमोंका तो एक प्रकारसे लोप ही हो गया है। मनुस्मृति तथा दूसरी स्मृतियोंमें जिस प्रकारके ब्रह्मचारियोंका वर्णन है, वैसे ब्रह्मचारी आज देखनेमें नहीं आते। आयुके आठवें, दसवें या बारहवें वर्षमें घर छोड़कर गुरुके घर रहना; प्रतिदिन भिक्षा माँगकर गुरुको अर्पण करके प्रसाद पाना; रोज अग्निमें आहुति देना; मेखला, दण्ड, मृगचर्म, कमण्डलु धारण करना; गुरुसेवामें रत रहना; गर्मी-सर्दीको सहन करना; विधिवत् वेदोंका अध्ययन करना—इस प्रकारका आचरण करनेवाला एक भी विद्यार्थी देखनेमें नहीं आता। गुरुकुल ही नहीं रहे तो वैसे ब्रह्मचारी कहाँसे हों। आज जो गुरुकुलके नामसे संस्थाएँ खुली हैं वे तो अंगरेजी कालेज-स्कूलोंकी तरह ही हैं। उनमें और प्राचीन गुरुकुलोंमें तो इतना अन्तर है जितना अन्धकार और प्रकाशमें होता है। प्राचीन कालमें गृहस्थका मुख्य धर्म होता था अग्निकी रक्षा करना। गृहस्थीके अग्निहोत्रकी अग्नि न बुझने पावे, इसी लिये पत्नीकी आवश्यकता होती थी और इसीलिये गृहस्थ-धर्म कठोर माना जाता था। मरते समय सभी गृहस्थ उसी अग्निसे जलाये जाते थे। पाण्डवोंने अपनी यज्ञीय अग्निको अखण्ड बनाये रखनेके लिये कितने प्रयत्न किये थे। गृहस्थका मुख्य धर्म अग्निरक्षा, अग्निपूजा, अग्निहोत्र ही था। आज कितने गृहस्थियोंके घरमें अग्निहोत्र होता है, कितने घरोंमें अखण्ड अग्नि रहती है?

वानप्रस्थ आश्रमके बड़े कठिन नियम बताये गये हैं। वानप्रस्थीको केवल अपनी अग्निहोत्रकी अग्निकी रक्षाके लिये ही कुटी या पहाड़की गुफाका आश्रय लेना चाहिये; वह गर्मीमें पञ्चाग्नि तपे, जाड़ोंमें कण्ठतक जलमें डूबकर तप करे। वर्षामें बिना छायाके स्थानमें रहे। जोते हुए खेतका धान्य न खाय, इत्यादि। संन्यासियोंके लिये तो और भी कठिन नियम बताये गये हैं। वे एक जगह नहीं रह सकते, भिक्षा माँगकर ही जीवन बिता सकते हैं, व्याख्यान नहीं दे सकते, इत्यादि बहुत-सी बातें हैं।

इन शास्त्रीय नियमोंका यदि कोई विधिवत् पालन कर सकते हों तो बहुत ही उत्तम बात है, वे पुरुष धन्य हैं; किन्तु समय ऐसा आ गया है कि इन नियमोंका पालन कठिन हो गया है। आज शुद्ध पदार्थ नहीं मिलते। गौका घी दवाके लिये भी प्राप्य नहीं है। एकान्तमें बैठनेके लिये कहीं स्थान नहीं मिलता। जंगलोंमें एक-एक इंच जमीन नाप ली गयी है, उसपर सरकारी कब्जा हो गया है। वहाँ हम अग्नि नहीं जला सकते, लकड़ी नहीं काट सकते। पिछले दिनों मैं नैपाल गया था। वहाँ ऐसा कानून है कि पुलिसको पता चलनेपर कि अमुक जगह कोई साधु बैठा है पुलिस उसे

जबर्दस्ती वहाँसे निकाल देगी, उसे खुद पहाड़के नीचे कर आवेगी। गंगोत्रीसे १८ मील ऊपर गौमुखके पास जहाँ श्रीगंगाजीका असली उद्गम है, जहाँ सब लोग नहीं जा सकते, सदा बर्फ रहती है, वहाँ मैं गया था; वहाँ भी आप कुटी नहीं बना सकते, रह नहीं सकते। यदि रहना हो तो टेहरी सरकारसे आज्ञा लेनी होगी। जंगली फल-मूलोंकी बात तो अब सचमुच एक कहानी ही रह गयी है। हम आज अनुमान भी नहीं कर सकते कि लाखों ऋषि-मुनि केवल जंगली फल-मूलोंसे ही कैसे निर्वाह करते रहे होंगे। मैं इस तलाशमें बहुत घूमा कि कहीं ऐसा जंगल मिले जहाँ खाने भरको कैसा भी फल मिल जाय तो मैं वहीं रहने लगूँ, किन्तु कई जगह घूमनेपर और लोगोंसे पूछनेपर भी ऐसी कोई जगह नहीं मिली जहाँ ऐसे फल-मूल मिल सकें। सारांश यह कि एकान्तमें रहनेके लिये जगहका मिलना भी कठिन हो गया है।

अब तो सच पूछिये तो जो भी कुछ साधन बन सकता है, घरहीमें रहकर बन सकता है। ईमानदारीके साथ जीवन बिताया जाय तो इससे बढ़कर इस युगमें दूसरा कोई उपाय ही नहीं है। हम घरकी झंझटोंसे क्यों ऊब जाते हैं? इसलिये कि हम अपनेको कर्ता मानते हैं; यह हमारी सबसे बड़ी भूल है। सबसे पहले तो गृहस्थीको यह याद रखना है कि जो भी कुछ करते है प्रभु ही करते हैं, हम तो उनके यन्त्र हैं; वे जैसा कराते हैं वैसा होता है, और वे अच्छा ही कराते हैं। भगवत्-स्मृति बनी रहे, इसके लिये अभ्यास करना है।

घरमें रहते हुए तपस्यामय जीवन बितानेका प्रयत्न करना चाहिये। हमारे देखते-देखते कितने आदमी मर गये! वे जिन चीजोंको मेरी-मेरी कहते थे, उन सबको छोड़कर वे चले गये, यह तो हम रोज ही देखते हैं। फिर भी हम समझते नहीं। एक किस्सा है कि एक सेठजी नौकासे गंगा पार जा रहे थे। सेठजीने मल्लाहसे पूछा—तुम्हारे भाई हैं? उसने कहा—'बड़ा भाई था, वह मर गया।' सेठजीने पूछा—'कैसे मरा?' मल्लाहने कहा—'गंगाजीमें डूब गया।' सेठजी—'तुम्हारा पिता कैसे मरा?' मल्लाहने कहा—'वह भी गंगाजीमें डूबकर मरा।' फिर पूछा—'बाबा कैसे मरा?' उसने कहा—'वे भी गंगाजीमें डूबकर मरे।'

तब सेठजीने झुँझलाकर कहा—'तुम ऐसे वाहियात कामको छोड़ क्यों नहीं देते?' मल्लाह चुप हो गया।

थोड़ी देर बाद उसने पूछा—'सेठजी, आपके पिताजी कैसे मरे?' सेठजीने कहा—'घरमें।' मल्लाहने पूछा—'और बाबा कहाँ मरे?' सेठजीने कहा, 'घरमें।' तब मल्लाहने गम्भीरतासे कहा—'सेठजी, जिस घरमें इतने लोग मर गये, उस घरको आप छोड़ क्यों नहीं देते?'

तब सेठजीने कहा—'भैया, घर छोड़ दें तो रहें कहाँ? कहीं भी तो रहना ही है।' झट मल्लाह भी बोल उठा,—'सेठजी, इस कामको छोड़ दें तो करें क्या? कुछ भी तो करना ही है।'

मतलब कहनेका यही है कि हमें एक दिन मरना है, यह स्मृति बनी रहे तो इतना पाप हम न करें। हम जो यह छल-कपट करते हैं, झूठ-सच बोलते हैं, यही सोचकर करते और बोलते हैं कि इसका उपयोग हम सदा करते रहेंगे। यदि हम भगवान्‌को अपना स्वामी मानकर उनका विश्वास करके काम करें तो हमें जो ये व्यर्थकी इतनी चिन्ताएँ होती हैं, वे कदापि न हों।

जीवनमें यदि नम्रता न हो तो वह परमार्थकी ओर बढ़ ही नहीं सकता। हम जो दूसरोंको नीचा समझते हैं, यह हमारा अहङ्कार है। परमार्थके पथिकको सदा नम्रताकी आवश्यकता है। अरे इन छोटे-मोटे पदोंपर, तनिक-सी जमीनपर इतना अभिमान करते हो ! ये हमें परमार्थसे भ्रष्ट करनेवाले विचार हैं। अतः परमार्थके पथिकको बड़ी नम्रतासे देवमन्दिरोंमें भगवान्‌के सम्मुख, ब्राह्मणों, साधु-महात्माओं और विद्वानोंके सम्मुख प्रणाम करना चाहिये। पहला साधन यही है— साधु पुरुषोंका संग, तथा भगवत्-विग्रहों एवं अपनेसे बड़ोंको प्रणाम करना।

घरमें रहकर भी ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किया जाता है। शास्त्रोंकी जैसी आज्ञा है, उसके अनुसार बर्ताव करना अर्थात् केवल सन्तानोत्पत्तिके लिये ऋतुकालमें अपनी विवाहिता पत्नीको वीर्यदान देना और शेष समय संयम-नियमसे रहना, यह भी एक प्रकारका ब्रह्मचर्य-व्रत ही है और यह घरहीमें रहकर किया जा सकता है। किसीको मन, वाणी, शरीरसे कष्ट न पहुँचाना, एवं अपनेसे जितना बन सके दूसरोंकी सहायता करना, यह परमार्थके पथिकका प्रधान कर्तव्य है।

गृहस्थमें रहते हुए सभी प्रकारके लोगोंसे काम पड़ता है, सभी तरहके लोग मिलते हैं, सभी तरहकी बातें सुननी पड़ती हैं; अतः मनुष्यको चाहिये कि वह भरसक वाणीपर संयम रक्खे। कभी कोई ऐसा कटु शब्द न बोले जो दूसरोंको दुःखदायी हो। वाणीका संयम ही सर्वश्रेष्ठ संयम है। भरसक ऐसा प्रयत्न किया जाय कि असत्य मुखसे निकले ही नहीं; यदि कभी भूलसे असत्य निकल जाय तो उसके लिये कुछ प्रायश्चित्त करे। जैसी स्थिति भगवान्‌ने दी हो, उसीमें सन्तुष्ट रहकर अपने कर्तव्यका दृढ़ताके साथ पालन करते रहना, यही मनुष्यका परम धर्म है।

बहुत-से लोगोंको यह कहते सुना गया है कि महाराज, क्या करें, हमारा काम ही ऐसा वाहियात है कि विना झूठ बोले, विना बेईमानी किये काम ही नहीं चलता। यह बात ठीक भी है, आजकल हमारी प्रवृत्ति इतनी गिर गयी है कि हम झूठ-कपटके आदी बन गये हैं। ऐसी स्थितिमें झूठ-कपटसे बचना कठिन तो अवश्य है और परमार्थका मार्ग सहज है सो नहीं— किन्तु असम्भव नहीं है, यदि हम इसपर कमर कस लें। ऐसा करनेसे आरम्भमें कुछ कष्ट तो जरूर होगा, असुविधा भी दीखेगी; किन्तु यदि हम सत्यका पल्ला पकड़े रहे तो अन्तमें सुख-ही-सुख है, आनन्द-ही-आनन्द है। वास्तवमें रुपये-पैसेमें सुख थोड़े ही है, आनन्द तो मनका धर्म है। लाखों रुपये होते हुए भी जिसे मानसिक ग्लानि है वह सबसे बड़ा दुखी है और जिसे मानसिक शान्ति है वह भिक्षुक होते हुए भी सुखी है। और ऐसी शान्ति सत्यका आश्रय ग्रहण करनेपर ही मिल सकती है।

काम न तो कोई अच्छा है, न बुरा; सभी कामोंमें कुछ-न-कुछ दोष रहता ही है। जो कर्तव्य तुम्हारे सामने है, उसीका दृढ़ताके साथ पालन करो। महाभारत-में इस विषयके अनेकों दृष्टान्त हैं। किसी ब्राह्मण-कुमारके माता-पिता वृद्ध थे, वह उनकी सेवा छोड़कर तपस्या करने चला गया। एक वृक्षके नीचे बैठकर उसने घोर तपस्या की। तपके प्रभावसे उसे सिद्धि प्राप्त हो गयी। ऊपरके वृक्षपर दो पक्षी कोलाहल कर रहे थे, उस तपस्वी युवकने उनकी ओर रोषभरी दृष्टिसे देख भर दिया। देखते ही वे मरकर गिर पड़े। तपस्वीको अपनी तपस्यापर बड़ा घमंड हुआ, वह भिक्षा करने एक गृहस्थके दरवाजेपर गया। 'नारायण हरि' की आवाज लगायी। घरकी मालकिन अपने पतिकी सेवामें लगी हुई थी, इससे उसे भिक्षा लानेमें देर हो गयी। इसपर तपस्वीको क्रोध आ गया और वे

बोले—इसे मेरे तप-बलका पता नहीं है ! भीतरसे उस पतिव्रताने कहा—'महाराजजी' यहाँ पेड़के पक्षी नहीं हैं जो आपकी दृष्टिसे ही मर जायँ। आप अभी खड़े रहिये, मैं पतिसेवामें लगी हूँ। तपस्वीको बड़ा आश्चर्य हुआ। जब वह पतिसेवासे निवृत्त होकर भिक्षा देने आयी, तब तपस्वीने नम्रतासे पूछा—'माता, उन पक्षियोंके मरनेका तुम्हें कैसे पता चला ?' पतिव्रताने कहा—'महाराजजी ! पतिसेवा करना ही मेरा प्रधान कर्तव्य है, उसी धर्ममें मैं लगी रहती हूँ; इसीके प्रभाव-से मुझे सब सिद्धियाँ प्राप्त हैं। मुझे अब अधिक अवकाश नहीं है; आप अधिक जानना चाहें तो अमुक व्याधके पास जाइये, वह आपको अधिक उपदेश दे सकेगा।'

तपस्वी सीधे व्याधके पास गये। वह मांस बेच रहा था। तपस्वीको देखते ही उसने कहा—'महाराज, अमुक पतिव्रताने आपको भेजा है ? आप बैठिये, कुछ देर बाद मैं आपसे बातें करूँगा।' तपस्वीके आश्चर्यका ठिकाना न रहा। वह बैठा रहा। मांस बेचकर वह व्याध तपस्वीको अपने घर ले गया। वहाँ अपने माता-पिताकी विधिवत् सेवा करनेके बाद व्याधने कहा—'भगवन् ! ये मेरे माता-पिता ही मेरे परम देवता हैं। इनकी सेवा करना ही इस समय मेरा प्रधान कर्तव्य है। और उस कर्तव्यका मैं बड़ी तत्परतासे पालन करता हूँ। इसीके प्रभावसे मुझे सिद्धियाँ प्राप्त हैं।

इस प्रकार व्याधने उस तपस्वीको बहुतसे उपदेश दिये और अन्तमें तपस्वीसे कहा—'तुम जाकर अपने माता-पिताकी सेवा करो, यही तुम्हारा कर्तव्य है।' महाभारतमें उस व्याधका उपदेश व्याध-गीताके नामसे प्रसिद्ध है, वह बड़ा ही सुन्दर है।

इसका भाव यही है कि मनुष्य ईमानदारीके साथ अपने कर्तव्योंका पालन करते हुए घरमें रहकर भी सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

जो भी काम आपको मिला है, उसका यथोचित-रूपसे सत्यताके साथ पालन कीजिये और अपने जीवनको सदाचारमय और भक्तिमय बना लीजिये। जिस परिवारमें प्रेम है, सत्यताका पालन होता है, छोटे लोग बड़ोंका आदर करते हैं, वह घर तो सचमुच भूवैकुण्ठ है। मैंने ऐसे कई परिवार देखे हैं, जिनमें छोटेसे लेकर बड़ेतक सभी भगवान्के प्रेममें रँगे-से हैं। दिनभर अपना-अपना काम करते हैं, शामको सब एक साथ बैठ जाते हैं। कोई कथा कहते हैं, सब लोग सुनते हैं; फिर सब मिलकर कीर्तन करते हैं। भगवान्का भोग लगाकर सब प्रसाद पाते हैं और प्रातः-सायं सभी मिलकर भगवान्की उपासना करते हैं। ऐसा गृहस्थ-जीवन यदि बीते तो यह तो त्याग-जीवनसे भी बढ़कर है। घरमें भगवान्की पूजा हो, नियमसे भगवान्की सेवा होती हो, तुलसीका बिरवा घरमें हो, सभी चरणामृत लेते हों, सब मिलकर भगवान्की किसी-न-किसी रूपमें उपासना करते हों, छोटे लोग बड़ोंका आदर करते हों, उनकी आज्ञा मानते हों तो वह घर नहीं, पारमार्थिक आश्रम है।

घरमें रहते हुए भी घोर त्यागमय जीवन बिताया जा सकता है। गङ्गा किनारे एक महात्मा अच्युत मुनिजी थे, वे मुझे बताते थे कि पंजाबमें एक सरकारी नौकर थे। पेन्शन लेनेके बाद वे घरके एक कमरेमें ही रहते थे। घरसे भोजन आ जाता। लड़के केवल दर्शन कर जाते, उन्हें घरके किसी कामसे मतलब नहीं। घरमें सबसे प्यारा उनका पोता मर गया। बारह-तेरह दिनतक उन्हें पता भी नहीं चला। जब पतोहू एक दिन प्रणाम करने गयी, वह रो पड़ी। तब उन्हें पता चला।

बुलंदशहरमें एक वैद्यजी हैं, वे अपने बच्चोंमें ही रहते हैं। बारह वर्षतक वे ऊपरसे नीचे नहीं

उतरे, बड़े स्वस्थ हैं। यह एक दृष्टान्त दिया। इस प्रकारका जीवन तो एक प्रकारसे त्यागमय जीवन ही है। घरमें काम करते हुए भी परमार्थ-साधन हो सकता है। कोई भी एक निष्ठा घरमें रहकर दृढ़ हो जाय; बस, उसीमें कल्याण है। एक निष्ठा दृढ़ हो जानेपर बाकी सब बातें गौण हो जाती हैं। जैसे महाराज हरिश्चन्द्रने 'जो माँगो सो दें' यह निष्ठा कर ली थी। इसके पीछे प्रजापालनका कर्तव्य उनके लिये गौण हो गया। भक्तमालमें ऐसी बहुत-सी कथाएँ आती हैं। जिनकी अतिथिसेवा ही एकमात्र निष्ठा थी, उन्होंने अतिथि-सेवाके लिये अपने प्राणोंकी परवा नहीं की। जिन्होंने साधुसेवा ही अपनी निष्ठा बना ली थी, उन्होंने डाका डालकर भी साधुसेवा की और भगवान् उनसे प्रसन्न हुए। इस प्रकार सत्यका, जपका, ध्यानका, कीर्तनका कोई एक दृढ़ नियम हो तथा और सब कार्योंको कर्तव्य समझकर करते जायँ तो हम घरमें रहकर भी प्रभु-प्राप्ति कर सकते हैं।

बातें बहुत कहनी थीं, किन्तु अब समय नहीं; इसलिये उसी श्लोकका अर्थ देकर जो इस निबन्धके पूर्व उद्धृत किया है, अपने वक्तव्यको समाप्त करता हूँ—

'अपने घरहीपर रहकर सुखपूर्वक लेटे-लेटे ही जो भगवान्के गोविन्द, दामोदर, माधव आदि नामोंका प्रेमपूर्वक उच्चारण करते हैं, वे निश्चय ही प्रभुमें तन्मयताको प्राप्त करते हैं।'

वैराग्य-चर्चा

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके एक व्याख्यानके आधारपर)

वैराग्यका विषय बड़े ही महत्त्वका है। वन हो, पहाड़ हो, गंगाका किनारा हो—ऐसे स्थलोंमें वैराग्यकी चर्चा अधिक शोभा देती है। ऋषि-महात्मालोग वनों, पहाड़ों और गंगातटपर रहकर ही तप किया करते थे। अब भी उत्तराखण्डमें रहनेसे स्वाभाविक ही वैराग्य होता है। वहाँके स्थानोंमें वैराग्यके परमाणु ओतप्रोत हैं। वैराग्यके योग्य भूमि हो, वक्ता वैराग्यमय हो और श्रोता सत्पात्र हों तो वैराग्यका वर्णन करते ही वैराग्य जागृत हो जाता है—वैसे ही, जैसे कामीके हृदयमें कामिनीके वर्णनसे काम जागृत हो जाता है। वैराग्यकी बात वैराग्यवान् ही कह सकता है। सच्चे वैराग्यवान् पुरुषको तो कहनेकी भी जरूरत नहीं पड़ती, उसके साथ तो वैराग्य मूर्तिमान् होकर चलता है। वह जिस मार्गसे जाता है, उस मार्गमें मानो वैराग्यकी बाढ़ आ जाती है। उसके नेत्रोंसे वैराग्यका भाव निकलकर सब जगह व्याप्त हो जाता है।

वैराग्यके साथ उपरामता लगी रहती है और उसके साथ भगवान्का ध्यान लगा रहता है। आगे वैराग्य, बीचमें उपरामता, पीछे ध्यान, इस प्रकार तीनों साथ-साथ चलते हैं—जैसे वन जाते समय राम, सीता और लक्ष्मण चलते हैं। रामके साथ सीता रहती ही हैं, साथ ही रामके बिना लक्ष्मणको चैन नहीं और लक्ष्मणके बिना रामको चैन नहीं रहता। राम सीताको बीचमें रखते हैं। जहाँ सच्चा वैराग्य हो, ध्यान होता हो, साधन तीव्र हो, वहाँ उपरामता रहती ही है। इसी प्रकार भक्तिके साथ उसके दोनों पुत्र ज्ञान और वैराग्य रहते ही हैं। ज्ञान, वैराग्य बूढ़े हो जाते हैं; पर उनकी माँ भक्ति कभी वृद्ध नहीं होती।

वैराग्यवान्के दर्शनमात्रसे वैराग्य हो जाता है, फिर उसके इशारेसे—व्याख्यानसे वैराग्य हो जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? वैराग्यवान्के व्याख्यानसे तो वेश्याका हृदय भी पलट जाता है। दत्तात्रेयजीके दर्शनसे एक वेश्याको वैराग्य हो गया। ठाकुर हरिदासजीके सम्पर्कमें आकर दूसरी वेश्या वैराग्यवान् हो गयी। इसी प्रकार और भी कई उदाहरण दिये जा सकते हैं।

'वीतरागविषयं वा चित्तम् ।' वीतराग पुरुषका ध्यान करनेवालेको परमात्माका ध्यान लग जाता है। शुकदेवजी राजा परीक्षित्की सभामें जा रहे हैं, रास्तेमें बालक उनके ऊपर धूल फेंकते हैं; पर वे उनकी ओर ध्यानतक नहीं देते, अपनी मस्तीमें चले जाते हैं। सभामें पहुँचनेपर उनका महान् आदर होता है। शुकदेवजीमें अलौकिक उपरामता थी, अलौकिक वैराग्य था। नदीके किनारे स्त्रियाँ नहा रही थीं। शुकदेवजी उसी मार्गसे होकर निकल गये, पर किसीने लज्जा नहीं की। जब वेदव्यासजी आये तो उनको देखकर सभी स्त्रियोंने लज्जावश कपड़े पहन लिये। वेदव्यासजीने इसका कारण पूछा, तब स्त्रियोंने कहा कि 'शुकदेवजीकी दृष्टिमें स्त्री-पुरुषका भेद ही नहीं है। आप हमें स्त्री समझते हैं, इसलिये हमने मर्यादावश आपको देखकर कपड़े पहन लिये।' इतनी भारी उपरामता शुकदेवजीमें थी!

जडभरतजीपर भी वैराग्यका इतना नशा चढ़ा रहता था, मानो किसीने शराब पी ली हो! शराबका नशा तामसिक है, अन्नका राजसिक है और वैराग्यका सात्त्विक है। जडभरत वैराग्य और उपरामताके सात्त्विक नशेमें चूर रहते थे। तीनों जन्मकी बातें उनको याद थीं! मस्त बने बैठे रहते थे। घरवालोंने उन्हें मूर्ख समझ रक्खा था। पर जडभरतजीको किसीकी परवा नहीं थी। देवी भद्रकालीकी बलिके लिये जडभरतजीको राजाके आदमी पकड़ ले गये, उन्होंने उनकी गरदनपर तलवार मारनेको ज्यों ही हाथ उठाया कि देवी प्रकट हो गयीं और उन्होंने मारनेवालोंको मार डाला। तत्पश्चात् देवीने जडभरतजीको वरदान माँगनेके लिये कहा। देवीके आग्रहसे उन्होंने यही वर माँगा कि 'मेरे मारनेवालोंको जिला दो।' ऐसे ही एक बार राजा रहूगणकी पालकीमें जडभरतजी जोत दिये गये, वे अपने नित्यके अभ्यासके अनुसार कूदते-फाँदते चलने लगे। राजाने यह देखकर उन्हें बहुत डाँटा-डपटा तथा मारनेकी धमकी दी। जडभरतजी राजाकी बातोंको शान्तिपूर्वक सुनते रहे और अन्तमें उन्होंने उसकी बातोंका बड़ा सुन्दर और ज्ञानपूर्ण उत्तर दिया। जब राजाने इस प्रकारका सुन्दर उत्तर उस पालकी ढोनेवाले मनुष्यसे सुना तो उसके मनमें यह निश्चय हो गया कि हो-न-हो, ये कोई छद्मवेषधारी महात्मा हैं। वह तुरन्त पालकीसे उतरकर जडभरतजीके चरणोंमें गिर पड़ा और लगा उनसे गिड़गिड़ाकर क्षमा माँगने। दयालु जडभरतजीने उसे उपदेश दिया।

ध्यान लगानेके लिये सौ युक्तियोंकी एक युक्ति वैराग्य है। युक्तियाँ तो फिर अपने-आप उपजने लगती हैं। ध्यान करनेवाले योगी महात्मालोग वैराग्यका ही आश्रय लेते हैं।

'ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः।'

फलतः, **'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।**

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।'

—इत्यादि

इन श्लोकोंके अनुसार उनकी स्थिति हो जाती है। गीताके प्रायः सभी अध्यायोंमें वैराग्यकी बातें हैं। जब वैराग्यकी इतनी महिमा है, तब पर-वैराग्यका तो कहना ही क्या है?

संसारके पदार्थोंमें आसक्ति न होनेका नाम वैराग्य है। संसारके किसी भी भोगमें आसक्ति न रहे, प्रीति न रहे, लगाव न रहे—यहाँतक कि ब्रह्मलोकके सम्पूर्ण भोग भी काकविष्ठावत् प्रतीत होने लगें; यही वैराग्य है। भोग्य पदार्थोंकी ओर वृत्तियाँ ही न जायँ, यह उपरामता है। वैराग्ययुक्त उपरामता ही श्रेष्ठ है, बिना वैराग्यके उपरामता कच्ची होती है। ऋषभदेवजीमें बड़ी भारी उपरामता थी, गौतमबुद्धसे भी बढ़कर! ऋषभदेवजीके समान उपरामताका कोई दूसरा उदाहरण नहीं मिलता। संसारमें विचरते हुए भी उन्हें संसारका ज्ञान न था। वनमें आग लगी है,

किन्तु उन्हें इस बातका पता भी नहीं। अन्तमें शरीरमें आग लग गयी, शरीर आगमें जलकर भस्म हो गया; पर ऋषभदेवजीको तब भी आगका पता न चला। यह उपरामताकी सीमा है। ऐसी मस्तीमें स्थित हो जाया जाय कि कुछ पता ही न चले। शरीरका अध्यास ही न रह जाय! किसी भी संन्यासी अथवा गृहस्थमें ऐसी उपरामता आ जाय तो वह बहुत प्रशंसनीय है। केवल भीतरी उपरामता भी कम महत्त्वकी बात नहीं है। आत्माके कल्याणके लिये तो भीतरी उपरामताकी ही विशेष आवश्यकता है। राजा जनकमें बाहरी उपरामता नहीं थी। वास्तवमें तो उनकी दृष्टिमें जगत्‌का अभाव ही था। शुकदेवजीमें बाहरी-भीतरी दोनों प्रकारकी उपरामता थी। जनकजीने शुकदेवजीसे कहा था—'महाराज, आपमें बाहरी और भीतरी—दोनों प्रकारकी उपरामता है, अतः आप मुझसे श्रेष्ठ हैं। आपको कुछ सीखना नहीं है। जाकर ध्यान लगाइये।' यह सुनकर शुकदेवजी चले गये, जाकर उन्होंने ध्यान लगाया। ध्यान लगाते ही उनको समाधि लग गयी, भगवान्‌की प्राप्ति हो गयी।

समुद्रमें अनेकों नदियोंका जल पड़ता है; परन्तु वह ज्यों-का-त्यों गम्भीर है, अपनी महिमामें परिपूर्ण है। ऐसे ही ज्ञानी, महात्मा, विरक्त, निष्कामी पुरुष अपनी महिमामें परिपूर्ण होते हैं। उन्हें संसारके पदार्थ आप-से-आप आकर प्राप्त होते हैं। वे व्यवहार भी करते हैं, परन्तु विकारको नहीं प्राप्त होते; उन्हें शान्ति ही प्राप्त होती है (देखिये गीता २। ७०)। ज्ञानी महात्माकी दृष्टिमें संसारका अत्यन्त अभाव होता है और संसारी नास्तिक पुरुषोंकी दृष्टिमें परमात्माका अत्यन्त अभाव है। विषयी पुरुषके मनमें यह शंका रहती है कि परमात्मा है या नहीं। किन्तु नास्तिक कहता है कि 'परमात्मा है ही नहीं।' इसी प्रकार ज्ञानीके लिये संसार नहीं है। सच्ची उपरामता वैराग्यसे ही होती है। उसीका फल है ब्राह्मी स्थिति। उसे जो प्राप्त कर लेता है, वह मोहको नहीं प्राप्त होता। अन्तकालमें भी उस स्थितिके प्राप्त हो जानेपर ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है। गीताके दूसरे अध्यायके ६८, ६९, ७०, ७१, ७२ इन श्लोकोंमें महात्माओंके स्वाभाविक वैराग्य एवं उपरामताका दिग्दर्शन कराया गया है। ६८वें, ६९वें श्लोकमें उपरामताकी तथा ७०वें और ७१वें श्लोकमें वैराग्यकी बातें कही गयी हैं। ये प्राप्त पुरुषोंके लक्षण हैं और साधकोंके लिये यही साधन हैं। इनको लक्ष्यमें रखकर साधन करनेवाले विरक्त पुरुषोंका भाव और आचरण संसारी पुरुषोंकी अपेक्षा विलक्षण होते हैं।

रागी और विरागी पुरुषोंमें रात-दिनका अन्तर है, अन्धकार और प्रकाश-जितना अन्तर है। वास्तवमें तो वैराग्यवान् पुरुषकी पहचान होना ही कठिन है। कपूरकी गन्धको कुत्ता और कस्तूरीकी गन्धको गदहा क्या पहचान सकता है? वैराग्यवान् पुरुष ही वैराग्यवान्‌की स्थितिका थोड़ा अनुमान कर सकता है। जो पदार्थ रागी पुरुषको प्रिय होते हैं, वे वैराग्यवान्‌को उलटे ही प्रतीत होते हैं। मान-बड़ाई रागी पुरुषको अमृत-सी लगती है, पर वैराग्यवान्‌को वह विष-सी प्रतीत होती है। रागीको इत्र, फुलेल, लवेंडर आदि सुगन्धित द्रव्य अच्छे लगते हैं; पर वैराग्यवान् इनको घृणाकी दृष्टिसे देखता है। दोनोंकी रुचि विपरीत होती है। मखमलका गद्दा रागीको अच्छा मालूम देता है, पर वैराग्यवान्‌को वह दुःखरूप प्रतीत होता है। जहाँ मन आया वहीं पड़ रहे; भूमि हो या चटाई, उसके लिये सब बराबर है—वैराग्यके नशेमें उसे सब कुछ अमृत-तुल्य भासता है। वैराग्यवान्‌की वृत्तियाँ तनी हुई होती हैं। किसी स्थानपर रातको रागी-विरागी सभी सो रहे हों, जाड़ा पड़ रहा हो, आस-पास दुशाले, कम्बल और चद्दरियाँ पड़ी हों; उस स्थितिमें रागीका हाथ सर्वप्रथम दुशालेपर पड़ेगा। कम्बलपर वह तभी हाथ डालेगा, जब दुशालेसे उसकी सर्दी दूर होती नहीं दीखेगी।

परन्तु वैराग्यवान्का हाथ उस स्थितिमें भी स्वाभाविक ही चट्टियोंपर जायगा, दुशाले अथवा कम्बलपर नहीं।

वैराग्यवान्को जो सुख प्राप्त होता है, वह रागीको कभी नहीं मिलता। वैराग्यवान्का सुख सात्त्विक सुख होता है। जहाँ फूलोंकी वर्षा हो रही होगी वहाँ वह जायगा ही नहीं। उसे तो संसारके सभी सुख बुरे मालूम होते हैं। संसारके सुख ही क्यों, देवता उसके सामने विमान लेकर आवें तो भी वह उनकी ओर आँख उठाकर नहीं देखेगा, उल्टा उन्हें देखकर घबड़ा जायगा। उसे तो यों ही अनन्त सुख मिल रहा है। दधीचिके पास इन्द्र जाता है, ऋषि ध्यानमें मस्त हैं। आँख खुलनेपर इन्द्र उन्हें कुछ उपदेश सुनानेके लिये कहता है। ऋषि कहते हैं—'इन्द्र! तेरा सुख कुत्तोंका-सा है।' जिस स्थितिमें इन्द्रलोकका सुख—इन्द्राणीका सुख भी कुत्तोंके सुख-सा लगता है, वह कितने अगाध सुखकी स्थिति है, जरा इसका विचार तो कीजिये! छोटे बच्चे मखमलके कोट पहनते हैं, गोटेकी कामदार टोपी पहनते हैं, खिलौनोंको लेकर खूब आमोद-प्रमोद करते हैं। वे अपने पितासे कहते हैं कि 'तुम भी खेलो।' पर पिता उनके इस आग्रहपर हँसता है। बालकके चमकीले कपड़ोंसे हम सबको स्वाभाविक ही वैराग्य होता है, वे हमें अच्छे नहीं लगते। इसी प्रकार वैराग्यवान् पुरुषोंको जो भोगकी चीजें देते हैं, उनकी इस चेष्टापर वैराग्यवान् हँसते हैं। उनकी वृत्तियोंमें वैराग्यके कारण इतना आनन्द भरा रहता है कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उसे अमृतकी भी उपमा नहीं दी जा सकती! उनके हृदयमें क्षण-क्षणमें आनन्दकी लहरें उठा करती हैं। हम उनकी स्थितिको कैसे समझें, वैराग्य हो तो कुछ समझें भी। साँपके काटनेपर जिस प्रकार क्षण-क्षणमें विषकी लहरें आती हैं, समुद्रमें जिस प्रकार जलकी लहरें उठती हैं, बिजलीका करेण्ट छू जानेपर जिस प्रकार रक्तमें दुःखद लहरें उठती हैं, वैसे ही वैराग्यमें सुखकी लहरें उठती हैं। वास्तवमें ये उदाहरण भी वैराग्यजनित सुखकी लहरोंको समझा नहीं सकते। उनको समझानेके लिये संसारमें कोई उदाहरण है ही नहीं। यदि कामी पुरुषका दृष्टान्त दें तो उसको शान्ति, आनन्दका क्या पता! लोभीको पारस मिलनेपर जो आनन्द मिलता है, उसके साथ भी इसकी तुलना नहीं दी जा सकती; क्योंकि उस आनन्दके साथ यह भय भी लगा रहता है कि उस पारसको कोई छीन न ले जाय। पारसके छिन जानेके भयके साथ उसे अपनी मृत्युका भी भय रहता है कि इस पारसके पीछे कोई उसे मार न दे। अस्तु, वैराग्यवान्के अनन्त सुखके सामने सांसारिक सुखका कोई भी उदाहरण नहीं ठहरता। रागीको संसारके विषयभोगोंको भोगनेमें जो आनन्द प्रतीत होता है, वैराग्यवान्को वही दुःख प्रतीत होता है। वैराग्यवान्पर वैराग्यका ऐसा नशा चढ़ा रहता है कि भोगोंकी ओर वह दृष्टि ही नहीं डालता, उनमें उसे रस ही नहीं मिलता। वह तो वैराग्यके रसमें ही सराबोर रहता है। उपरामता होनेपर जो रस मिलता है, वह वैराग्यसे भी अधिक होता है। और भगवान्के ध्यानमें तो और भी विशेष सुख मिलता है। गीताके ५वें अध्यायका २१वाँ श्लोक देखिये—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥

इस सुखको कैसे समझाया जाय! सारा जगत् तो परमात्मस्वरूप अमृतसागरकी एक बूँदके आभासमें ही आनन्दित हो रहा है—मुग्ध हो रहा है; ध्यानजनित सुख उसकी एक बूँदके समान है। जिसकी बूँदमें इतना सुख है, उस सुखसागरके साक्षात् मिल जानेपर कितना अपार सुख मिलता है, उसे कोई समझा नहीं सकता। वह तो मन-वाणीसे अतीत है।

मुरारिदास

हो रसिया, मैं तो शरण तिहारी।
नहिं साधन बल बचन-चातुरी,
एक भरोसो चरणे गिरिधारी॥
कहडु तुँ बरिया मैं तो नीच भूमि की,
गुणसागर पिया तुमहि सँवारी॥
मैं अति दीन बालक तुम शरणे,
नाथ न दीजे अनाथ बिसारी॥
निज जन जानि सँभारोगे प्रीतम,
प्रेमसर्नी नित जाउँ बलिहारी॥

मध्यप्रान्त-छत्तीसगढ़ परगनेके बिलौदाँ गाँवके पास एक टूटे हुए मन्दिरकी सीढ़ियोंपर एक पागल-सा लड़का बड़े ही मधुरस्वरमें भैरवीकी तान अलाप रहा है। प्रातःकालका समय है। अभी उषा गगनांगनमें अरुणसे आँखमिचौनी खेल रही है। पक्षियोंकी चह-चहसे सारा बगीचा गहगहा रहा है और बगीचेके पास ही एक जीर्ण-शीर्ण बहुत पुराना मन्दिर है, जिसके जगमोहनमें पीपल और पाकरके पेड़ उग आये हैं, चिड़ियोंने घोंसले बना रक्खे हैं और गिलहरियां स्वच्छन्द विचरण कर रही हैं। ऐसी सुनसानमें कोई विरही अपनी धुनमें अलमस्त गा रहा है; आप ही गा रहा है, आप ही सुन रहा है—

हो रसिया मैं तो शरण तिहारी!

× × ×

लगभग तीन सौ वर्ष पूर्वकी यह बात है, परन्तु लगती है जैसे कलकी हो। एक अत्यन्त अकिञ्चन ब्राह्मणके घर मुरारीका जन्म हुआ। इस कङ्गाल, निरीह परिवारमें इतना सुन्दर-सुघड़, इतना स्वस्थ और प्रसन्न बालक अबतक हुआ ही न था। जैसे यशोदाका लाल हो। ऐसे सुन्दर बच्चेको पाकर माता-पिताके घर मानो कञ्चनका मेह बरस गया—ऐसा मालूम होता था मानो उन्होंने जो कुछ पाना था सब पा लिया। मुरारीको गोदमें लेकर माँ लोरियाँ सुनाती और वह लोरी भी कितनी प्यारी-प्यारी! माताके आनन्दका कोई ठिकाना न था। वह गरीबनी लोक, परलोक सब कुछ भुलाकर अपने प्राणाधारको दुलराया करती। और हर समय मीठे-मीठे गीत सुनाकर बालकका मन बहलाती। प्रातःकाल जगाते समय, भोजन कराते समय, चोटी गूँथते समय, नहलाते समय, सुलाते समय—जब देखिये वह कोई-न-कोई गीत गाकर अपने प्यारे शिशुको रिझाती रहती। इस प्रकार मुरारीको संगीतका रस माताके दूधके साथ मिला था। प्रायः जब वह गाय चराने जाता तो अपने संगी-साथियोंमें बैठकर मातासे सुने हुए गीत गाया करता। देखनेमें सुन्दर था ही, वाणी भी बड़ी ही मधुर थी। इस कारण उसे जो देखता वही प्यार करने लगता। जिधरसे निकलता, दस-पाँच साथ लग जाते। गाँवकी स्त्रियाँ और बच्चे उसे प्राणोंसे भी अधिक चाहते थे, वह जहाँ कहीं मिलता उससे गाँवकी स्त्रियाँ आरजू करतीं—'हाँ मुरारी भैया, वह गीत एक बार सुना तो दो; तुम्हें हम माखन-मिसरी खिलायेंगी।' उनका कहना था कि मुरारी तान छेड़ देता—

भाग गयो मेरो भाजन फोर।
कहा री कहूँ ? सुन, मात यशोदा, और माखन खायो सब चोर॥
लरका पाँच-सात सँग लीने, रोके रहत साँकरी खोर।
मारगमें कोउ चलन न पावत, लेत हाथ ते दूध मरोर॥
समझ न परत याहि ढोटा की, रात दिवस रहे गोरस ढँढोर।
आनंदे फिरत फाग सों खेलत, तारी देत हँसत मुख मोर॥
सुंदर स्याम रँगीलो ढोटा, सब ब्रज बाँध्यो प्रेम की डोर।
परमानंद सयानी ग्वालिन लेत बलैयाँ अंचर छोर॥

गाँवकी ग्वालिनें इसी गीतको बार-बार सुनतीं। उन्हें ऐसा लगता मानो उनका यह परम प्यारा मुरारी वस्तुतः वही मुरारी था जिसने बाँसुरी बजा-बजाकर गोपियोंको मनमाना नाच नचाया था। वे अपने आनन्द-रसके लिये कभी-कभी मुरारीको पीली रेशमी धोती पहना देतीं, नीचेतक लटकती हुई वनमाला गलेमें डाल देतीं, बड़े-बड़े बालोंकी कबरी बाँधकर उसमें मोरकी पाँख खोंस देतीं और हाथमें एक लकुटिया और मुरली दे देतीं। मुरारीकी बड़ी-बड़ी आँखें और साँवले मुखड़ेको वे जब काजल और चन्दनकी खौरसे सजा देतीं तो सचमुच वह त्रिभुवन-मोहन श्यामसुन्दर-सा सलोना लगने लगता। इसपर जब वे उसके पैरोंमें घुँघुरू बाँध देतीं और उसे ताली दे-देकर नचाने लगतीं तब तो कुछ और ही समाँ बँध जाता था।

परन्तु यह राग-रंग अधिक दिन न चल सका। चलता कैसे ? जिसे प्रभु अपनानेको होते हैं, उसे बलात् अपनी ओर खींच लेते हैं और उसके सारे सम्बन्ध क्षीण और शिथिल कर देते हैं। पहले पिताका देहान्त हुआ, कुछ दिन बाद माँने भी साथ छोड़ दिया! अन्तिम समय माँने प्यारसे मुरारीको छातीसे लगा लिया, और उसके गालोंको चूमती हुई आँसूभरे शब्दोंमें बोली—'मैं जा रही हूँ, वहीं जा रही हूँ जहाँ सबको एक-न-एक दिन जाना है। कोई रोते हुए जाता है, कोई हँसते-हँसते। मैं हँसते-हँसते जाती हूँ; क्योंकि मैंने तुम्हारे हृदयमें श्रीकृष्ण-प्रेमकी लता रोप दी है, उसे सींचकर पल्लवित-पुष्पित कर दिया है और मैं देख रही हूँ वह लता तुम्हारे हृदयमें लहलहा उठी है! जो सबकी सँभाल रखते हैं, वे ही तुम्हारी भी सँभाल रक्खेंगे—मैं नाहक चिन्ता क्यों करूँ ? तुम जहाँ रहो, प्रभुके प्रेममें छके रहो—यही मेरा अन्तिम आशीर्वाद है। भगवान् तुम्हारा सब प्रकार मङ्गल करें……………!'

माताके चले जानेके बाद मुरारीको वह घर काटने-सा लगा। बार-बार उसके हृदयमें माँके स्नेहकी स्मृति उमड़ आती। ऐसा मालूम होता मानो माँ साक्षात् उसके सामने खड़ी है और कह रही है—'मैं तुम्हें छोड़कर कहाँ गयी हूँ ? तुम्हारे हृदयमें जो प्रेमकी लता लहलहा उठी है, मैं उस लताकी छायामें बहुत सुखसे सो रही हूँ।' माताकी एक-एक बात मुरारीको याद आती और उस यादमें वह विह्वल हो उठता। ऐसी दशामें वह प्रायः गाँवसे बाहर जाकर उस टूटे हुए मंदिरकी सीढ़ियोंपर बैठकर जो जीमें आता गाया करता।

चारों ओरसे अपनेको सर्वथा अनाथ और आश्रय-हीन पाकर मुरारीके मनमें गाँव छोड़ देनेकी बात प्रायः आया करती। वह सोचता, यहाँ अब क्या रक्खा है जो मैं रहूँ ? एक माँ थी, उसने भी साथ छोड़ दिया; अब यहाँ किसके लिये रहना है ? परन्तु मुरारी जब कभी मंदिरके पास जाकर बैठता तो उसे बड़ी शान्ति मिलती। इसीलिये वह अधिकाधिक मंदिरके पास ही रहता। गाँवकी स्त्रियाँ उससे स्नेह करतीं, उसपर दया रखतीं; परन्तु स्वयं मुरारीका चित्त उचट गया था। कभी-कभी अपने घरसे कुछ भोजन लाकर कोई माता मुरारीको खिला जाती, उसे प्यार करती, पुचकारती और कहती—'बेटा! तुम्हारी माँ नहीं है तो क्या हुआ, हम सभी तो तुम्हारी

माताएँ ही हैं, तुम इतना बिलग क्यों मानते हो ?' मुरारी कुछ भी नहीं बोलता, मन मारकर रह जाता।

एक बार लगातार तीन दिनतक मुरारीको कुछ भी खानेको न मिला। न किसीने उससे पूछा, न वह स्वयं किसीके यहाँ गया ही। भूख-प्याससे प्राण व्याकुल थे, परन्तु फिर भी उसके मनमें यह बात नहीं आयी कि गाँवमें जाकर किसीके यहाँ कुछ खा ले। आधी रात बीत चुकी थी। चारों ओर सन्नाटा था, परन्तु मुरारीके हृदयकी वही दशा हो रही थी जो मानो सूख जानेपर तालाबकी होती है। बेज़ार होकर मुरारी धीरे-धीरे गुनगुनाने लगा—

बिसर न जाओ मेरे मीत । यह वर माँगूँ मैं नीत ॥
मैं मतिमंद कछु नहिं जानूँ; नहिं कछु तुम सँग हीत ।
बाँह गहेकी लाज है तुमको, तुम सँग मेरी जीत ॥
तुम रीझो ऐसो गुन नाहीं, अवगुणकी हूँ भीत ।
अवगुन जानि बिसारोगे जीवन, होऊँगी मैं बहुत फजीत ॥
मेरे दृढ़ भरोसो जिय में, तजिहौ न मोहन प्रीत ।
जन अवगुन प्रभु मानत नाहीं, यह पूरब की रीत ॥
दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ, गाऊँ निस दिन गीत ।
प्रेमसखी समझूँ नहिं ऊँडी, एक भरोसो चीत ॥

आज मुरारी जानता था कि मेरा यह अन्तिम संगीत है और प्रभुके चरणोंमें मेरी यह आखिरी भेंट है। आज उसका स्वर लड़खड़ा रहा था—आँसुओंकी झड़ी लगी हुई थी, प्राण छटपटा रहे थे। इस जनाकीर्ण जगतीमें वह अपनेको सर्वथा एकाकी पा रहा था, जिसके आगे-पीछे कोई भी न हो। परन्तु जिसका कोई नहीं होता उसके प्रभु होते हैं।

मुरारी गीत पूरा नहीं कर पाया था, लड़खड़ाकर बीचहीमें बेहोश होकर गिर पड़ा और बार-बार एक ही पंक्ति 'तजिहौ न मोहन प्रीति'—बस, यही गुनगुनाने लगा। इतनेमें वह देखता क्या है कि उस जीर्ण-शीर्ण मंदिरसे कोई देवी सुन्दर वस्त्राभरणोंसे सुसज्जित, त्रैलोक्यसुन्दरी, अग-जग-मोहिनी यकायक निकली। एक हाथमें नाना व्यञ्जनोंसे भरा हुआ सोनेका थाल और दूसरे हाथमें शीतल जलसे भरी हुई चमचमाती हुई झारी। उसने मुरारीके सिरको गोदमें रखकर कहा, 'बेटा! जिसकी कोई भी सुध लेनेवाला नहीं होता उसकी सुध मैं लेती हूँ। सारा संसार मेरी सन्तान है। सबके लिये मेरे हृदयमें अपार प्रीति और व्यथा है। मैं किसीकी उपेक्षा करूँ, यह कैसे हो सकता है ? तुम्हारा दुःख देखकर मैं रो पड़ी। उठो, भोजन करो।' मुरारी समझ नहीं रहा है कि यह सब क्या हो रहा है। वह अब भी अर्ध-चेतन दशामें है। माता अपने हाथोंसे उसे खिलाने लगी। खिला-पिलाकर माँने प्यारसे उसके सिरको सहलाया। मुरारी माताकी गोदमें सिर रखकर बेखबर सो गया। दूसरे दिन उसकी नींद खुली तो दिन निकल आया था, लोगोंका चलना शुरू हो गया था। गायें चरनेके लिये छूट चुकी थीं, पक्षी अपने-अपने घोंसलोंमेंसे बाहर निकलकर आहारकी खोजमें उड़ गये थे।

जागनेपर मुरारीकी दशा एक विक्षिप्तकी-सी हो गयी। रातकी बात वह सोचता और बुक्का फाड़-फाड़कर रोता। घंटों रोया करता। कई दिनतक ऐसा ही चला। अब कुछ होश हुआ तो एक अजीब सनक सूझी। जो भी मिल जाता उसीके चरणोंमें गिरता, माँ-माँ पुकारता और बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे उसकी चरण-रज सिर-आँखोंपर लगाता। राह चलने-वाला ब्राह्मण हो या चाण्डाल, मुरारीके लिये सभी साक्षात् जगज्जननी राधारानी ही थीं। धीरे-धीरे बात फैल गयी और वहाँके नरेशको मुरारीकी सारी कहानी मालूम हुई। उसने उसे पकड़ मँगाया और उसके इस अनाचारपर उसे देश-निर्वासनका दण्ड दिया। मुरारीको अब किसी देशसे क्या मतलब था ? उसके लिये तो सभी भूमि गोपालकी हो चुकी थी। उसने पूरी मस्तीमें आकर राजाको एक दर्दभरा गीत सुनाया—

कमलमुख देखत तृप्ति न होय ।
यह सुख कहा सुहागिन जानै, रही निसा भर सोय ॥
ज्यों चकोर चाहत उडुराजै चंदवदन रही जोय ।
नेक अकोर देत नहिं राधा, चाहत पियहि निचोय ॥
हम तौ अपनो सर्बस दीनो, एक प्रान बपु दोय ।
भजन भेद न्यारो परमानँद जानत बिरलो कोय ॥

मुरारीको अब कुछ भी कहना-सुनना नहीं था । क्या कहता ! उनके हृदयमें तो 'एक' ही रम रहा था, दूसरा कोई था ही नहीं कि कुछ कहे-सुने । वैष्णवोंमें जो जातिभेद करते हैं, पीपल और तुलसी-को जो वृक्ष मानते हैं, शालग्रामको जो शिला मानते हैं, वे घोर पातकके भागी होते हैं । मुरारी छत्तीसगढ़को नमस्कार कर पाँव पयादे चल पड़ा और कई महीने बाद वृन्दावन—अपने प्यारेके देशमें पहुँचा । वहाँ उसका एकमात्र काम था यमुनाके किनारे-किनारे घूमना; कभी नाचना, कभी गाना, कभी यों ही खिलखिलाकर हँसना और फिर तुरन्त दहाड़ मारकर रोना !

यों मिले इश्कमें मिटकर मुझे हासिल मेरा,
ज़र्रः ज़र्रः तेरे कूचेका बने दिल मेरा ।

ऐसा ही होता है । प्रेमका नशा प्रेमी ही जानता है । प्रेमी अपने प्यारेके चरणोंमें त्रिभुवनको निछावर कर देता है—लोक-परलोकको लुटा देता है । इश्कका हाल किसी आशिकसे पूछिये । जलनेका मजा परवानासे पूछिये । मुरारीको दुनिया पागल कहती, परन्तु उस पागलपनका शरूर कैसा होता है वह क्या जाने ? यह पागलपन किसी खुशनसीबको ही—कभी मयस्सर होता है ।

मुरारीने 'पुरानी प्रीत' के अनुसार वृन्दावनके एक-एक स्थानको पहचान लिया और पहचाना उस मधुवनमें लीला करनेवालेकी पदध्वनिको । भक्तोंके लिये भगवान् कहीं दूर थोड़े हैं ! जहाँ हृदयका पट खुला कि भीतर-बाहर 'वही वह' रह जाते हैं ।

मनुष्यलोकमें निष्कपट प्रेम तो मिलता ही नहीं । कदाचित् किसीको मिल भी जाय तो उसे प्रेमका सारभूत विरह नहीं प्राप्त होता । यदि किसीको विरह भी प्राप्त हो जाय तो फिर वह जीवित तो कदापि रह ही नहीं सकता । विरहकी अग्नि जब धधक उठती है तो मनुष्यको कुछ भी सुहाता नहीं । सदा अपने प्यारेका ही चिन्तन बना रहता है । मन और इन्द्रियाँ सब चेष्टारहित होकर निश्चल हो जाती हैं । यह स्तम्भकी दशा है । शरीरमें एक अजीब तरहकी मीठी गुदगुदी, कँपकँपी होने लगती है और फिर शरीर पसीनेसे लथपथ हो जाता है । अनायास आँखोंसे गङ्गा-यमुना बह चलती हैं । रोनेमें एक अपूर्व सुख मिलता है । मुखसे स्पष्ट अक्षर नहीं निकलते, वाणी लड़खड़ाने लगती है, कण्ठ गद्गद हो जाता है । मुखपर एक प्रकारकी उदासी, पीलापन छा जाता है, आकृति कुछ-की-कुछ हो जाती है । शरीरके सभी अङ्ग पुलकित हो उठते हैं और फिर ऐसी बेहोशी आती है कि प्रेमी लोक-परलोकसे बेखबर होकर धड़ामसे पृथ्वीपर गिर पड़ता है । विरहके इस अलौकिक आनन्दमें छका हुआ मुरारी यमुनाके किनारे-किनारे अलमस्त डोल रहा है । जो भी उसे देखता है, वही प्रेमकी उमड़ती हुई लहरोंमें बह जाता है ! यह है प्रेमका दिव्य प्रभाव !

परन्तु यहाँ मुरारीके जानेके बाद छत्तीसगढ़नरेश-की दशा विचित्र हो गयी । राजमदमें चूर उन्होंने मुरारीको निर्वासित तो कर दिया, पर जब होश ठिकाने आया तब वे स्वयं अपने अपराधोंके लिये ग्लानिमें गलने लगे । यह पश्चात्ताप भी कितना सुन्दर

वस्तु है ! पत्थरको मोम बना देता है। राजा अन्तःपुरमें विलख-विलखकर रोने लगे—'हाय ! मैंने संत-अवज्ञा की, मैंने भगवान्‌का अपमान किया । अपना अपमान तो भगवान् सह लेते हैं, परन्तु अपने भक्तका अपमान उनके लिये सर्वथा असह्य होता है । यदि संत मुरारीको मैं लौटा न लाया तो मेरा और मेरे परिवार तथा राज्यका शीघ्र ही महान् अनिष्ट हो सकता है । मैं भगवान्‌के सामने क्या मुँह दिखलाऊँगा !' इस प्रकार उन्हें रोते-विलखते देख रानीने बहुत समझाया-बुझाया और दूसरे दिन राजा अपनी रानी तथा सामन्तोंके साथ मुरारीदासको मनाने वृन्दावनको चल दिये । वृन्दावन पहुँचकर राजाने पता चलवाया । मुरारीका नाम तो कोई जानता न था, परन्तु लोगोंने यह बतलाया कि यमुनाकिनारे एक पागल अलमस्त घूमा करता है—कभी गाता है, कभी हँसता है, कभी गाता है, कभी नाचता है । किसीसे न कोई बात करता है, न कभी किसीकी ओर देखता ही है । अपनी ही धुनमें मस्त रहता है । जो कुछ मिल गया खा लिया, जहाँ जीमें आया सो गया । न ऊधोका लेना, न माधोका देना ।

राजा समझ गये—हो न हो, वह मुरारीदास ही होगा; वे नंगे पैर ही यमुनाकी ओर चल पड़े । जेठकी दुपहरी ! चिलबिलाती हुई धूप और आग बरसाती हुई लू । राजा अपने मन्त्री तथा रानीके साथ यमुनाके किनारे-किनारे घूम रहे हैं—संत मुरारीदासकी टोहमें । देखते क्या हैं कि दूर—बहुत दूर, मुरारीदास यमुनाजीके किनारे तपती हुई बालूपर नृत्य कर रहे हैं—शरीरका कुछ भी होश-हवास नहीं है, नाचते जा रहे हैं, जो मनमें आता है गाते जाते हैं ! थोड़ी देरमें क्या देखते हैं कि नाचना-गाना बन्दकर मुरारीदास यमुनाजलमें किलोलें कर रहे हैं—ठीक जैसे माँकी गोदमें नन्हा-सा शिशु खेल रहा हो ! घण्टों पानीमें ही तैरते और किलकारियाँ छोड़ते रहे । राजाने घाटके पास जाकर साष्टाङ्ग दण्डवत् किया और अपने अपराधोंके लिये गिड़गिड़ाकर क्षमायाचना की ।

परन्तु संतोंको किसीका अपराध स्मरण ही कहाँ रहता है ? उनका स्वभाव तो एक अबोध शिशुका-सा हो जाता है—जिसमें न काम है न क्रोध है, न द्वेष है न ईर्ष्या है, न मोह है न आसक्ति है । मुरारीदासने राजाकी ओर एक बार देखा और फिर जोरसे ठहाका लगाकर हँस पड़े । राजाको ऐसा मालूम हुआ मुरारीदास उन्हें पहचान ही नहीं रहे हैं । वस्तुतः मुरारीदास उन्हें अब पहचान नहीं रहे थे । उनके लिये तो सब कुछ श्रीवासुदेव हो चुका था । राजाने छत्तीसगढ़ लौट चलनेकी बहुत-बहुत अनुनय-विनय की, परन्तु अब मुरारीदासको छत्तीसगढ़से क्या करना था ! वे तो स्वधाम, अपने प्राणप्यारेके धाममें आ चुके थे; अब यहाँसे लौटना क्या ? उन्मत्तकी-सी इस अवस्थामें उनके लिये अब कहीं भी आने-जानेका प्रश्न ही रह नहीं गया था ! आखिर राजाका मन कैसे मानता ? उन्हें तो अपने कियेपर गहरी ग्लानि हो रही थी । उन्होंने पालकी मँगवायी । बलात् मुरारीदासको उसमें बिठाकर छत्तीसगढ़की ओर लिवा चले । महाराज स्वयं उस पालकीमें लगे और रानी तथा सामन्तोंको भी लगाया ! मुरारीदास जा तो रहे थे, परन्तु उनके मनमें वृन्दावन छूटनेकी कसक अवश्य थी ।

दो महीने रास्तेमें लग गये । छत्तीसगढ़ पहुँचकर राजाने बहुत बड़ा उत्सव-समारोह किया । राज्यभरके

ब्राह्मणोंको अन्न-वस्त्र तथा मुहरें बाँटीं । साधु-महात्माओंका अभ्यागत किया और उनकी चरण-धूलिमें अभिषेक किया । मुरारीदासके लौटनेपर मानो छत्तीसगढ़में नवीन प्राण, नवीन चेतनाकी स्फूर्ति हो आयी । सर्वत्र आनन्द-मंगलकी बधाइयाँ होने लगीं । राज्यभरमें धूम मच गयी । राजाकी सारी जीवनचर्या पलट गयी । साधु-संग और प्रजापालनमें ही उनका सारा समय बीतने लगा । प्रजामें उनको नारायण-बुद्धि हो गयी और उनकी सेवामें राजाको बड़ा सुख मिलने लगा । संतोंके समागमका यही शुभ परिणाम होता है—उनकी कृपासे जब अंतर्दृष्टि खुलती है तो सारा नक्शा ही बदल जाता है ।

मुरारीदास यहां भी अपने गांववाले टूटे मन्दिरकी सीढ़ियोंपर ही दिन-रात व्यतीत करते । बराबर भीड़ लगी रहती दर्शनार्थियोंकी । वे सबसे यही कहते—'मेरे दर्शनमें क्या रक्खा है, दर्शन करो अपने हृदयके ही भीतर उस बहुरूपिया हरिका । वे बड़े ही दयालु हैं—सबपर दया करते हैं और अवश्यमेव करते हैं—आवश्यकता है बस, हृदय खोलनेकी ! हृदयके भीतर ही तो हरि छिपे हैं—उन्हें खोजो, उन्हें पकड़ो, उन्हें पहचानो ।' इतना कहकर वे झर-झर रोने लगते ।

एक दिन प्रातःकाल लोगोंने देखा—मुरारीदासकी कंथा और करवा वहीं मन्दिरकी सीढ़ियोंपर पड़े हुए हैं, परन्तु मुरारीदास अब वहां नहीं हैं । लोगोंने बहुत खोजा-ढूंढ़ा, परन्तु कहीं कोई उस पागलका पता न चला ! लोगोंने सोचा—चला गया होगा वह साँवरेके देश !
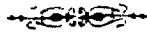
कल्याण

पद्धतियोंके फेरमें न पड़कर अपनेको भगवानपर छोड़ दो; रास्तोंकी छान-बीन न करो और न किसी रास्तेकी खाक ही छानो; अगर तुम अपनेको सर्वथा निराधार मानकर उनपर छोड़ सके तो वे सर्वाधार ही तुम्हारे परमाधार बन जायँगे । तुम्हारा हाथ पकड़कर, दिव्य प्रकाशकी ज्योति दिखलाकर—अधिक क्या, गोदमें उठाकर खिलाते-पिलाते और आनन्द देते ले चलेंगे ।

पर जब तुम उनकी गोदमें आ गये तब तुम्हें चलनेकी और कहीं पहुँचनेकी चिन्ता कैसी; तुम तो निहाल हो चुके, उनकी गोदको पाकर । भगवानकी शरणागति यही है । जो भगवान्‌के शरण होकर उसका कोई दूसरा फल चाहता या समझता है, वह सब कुछ छोड़कर भगवान्‌के आश्रयमें आया ही नहीं ।

—शिव

दस प्रकारकी नौ-नौ बातें

(माननेकी और छोड़नेकी)

किसी व्यक्तिके घर आनेपर नौ अमृत खर्च करें—(१) मीठे वचन (२) सौम्य दृष्टि (३) सौम्य मुख (४) सौम्य मन (५) खड़े होना (६) स्वागत पूछना (७) प्रेमसे बातचीत करना (८) पास बैठना और (९) जाते समय पीछे-पीछे जाना ।

इससे गृहस्थकी उन्नति होती है ।

दूसरोंको बहुत कम खर्चकी नौ वस्तुएँ गृहस्थोंको जरूर देनी चाहिये- (१) आसन (२) पैर धोनेको जल (३) यथाशक्ति भोजन (४) जमीन (५) बिछौना (६) घास (७) पीनेको जल (८) तेल और (९) दीपक ।

इनसे गृहस्थकी अभीष्टसिद्धि होती है ।

नौ बातें उन्नतिमें बाधक हैं; इसलिये उनका त्याग करना चाहिये—(१) चुगली या निन्दा (२) परस्त्री-सेवन (३) क्रोध (४) दूसरेका बुरा करना (५) दूसरेका अप्रिय करना (६) झूठ (७) द्वेष (८) दम्भ और (९) जाल रचना ।

इनके त्यागसे उत्तम लोकोंकी प्राप्ति होती है ।

नौ काम गृहस्थोंको रोज अवश्य करने चाहिये—(१) स्नान (२) सन्ध्या (३) जप (४) होम (५) स्वाध्याय (६) देवपूजन (७) बलिवैश्वदेव (८) अतिथिसेवा और (९) श्राद्ध-तर्पण ।

इनसे सुखकी प्राप्ति होती है ।

नौ बातें गृहस्थको गुप्त रखनी चाहिये—(१) जन्म-नक्षत्र (२) मैथुन (३) मन्त्र (४) घरके छिद्र (५) वञ्चना (६) आयु (७) धन (८) अपमान और (९) स्त्री ।

इनके प्रकाश करनेसे अनेकों प्रकारकी हानियाँ होती हैं ।

नौ बातें गृहस्थको प्रकाश करनी चाहिये—(१) छिपकर किया हुआ पाप (२) निष्कलंकता (३) ऋणदान (४) ऋणशोधन (५) उत्तम वंश (६) खरीद (७) बिक्री (८) कन्यादान और (९) गुण-गौरव ।

इनसे गृहस्थकी उन्नति होती है ।

नौ जनोंको गृहस्थको जरूर दान देना चाहिये—(१) माता (२) पिता (३) गुरु (४) दीन (५) अनाथ (६) उपकार करनेवाला (७) सत्पात्र (८) मित्र और (९) विनयशील ।

यह दान अनन्त फलदायक होता है ।

नौ आदमियोंको दान नहीं देना चाहिये—(१) खुशामदी (२) स्तुति करनेवाला (३) चोर (४) कुवैद्य (५) व्यभिचारी (६) धूर्त (७) शठ (८) कुश्तीका पेशा करनेवाला और (९) अपराधी ।

इनको देनेसे कोई फल नहीं होता ।

नौ वस्तुओंको किसी हालतमें विपत्ति पड़नेपर भी नहीं देना चाहिये—(१) सन्तानके रहते सर्वस्व-दान (२) पत्नी (३) शरणागत (४) दूसरेकी

रक्खी हुई चीज (५) बन्धक रक्खी हुई चीज (६) कुलकी वृत्ति (७) आगेके लिये रक्खी हुई चीज (८) स्त्री-धन और (९) पुत्र ।

इनके देनेपर प्रायश्चित्त किये बिना शुद्धि नहीं होती ।

ये नौ नवक अवश्य पालन करने योग्य हैं । इनसे सुख-समृद्धिकी वृद्धि होती है । अब एक नवक और है, जो धर्मरूप है और जिसके पालनसे अत्यन्त पारमार्थिक लाभ होता है ।

(१) सत्य (२) शौच (३) अहिंसा (४) क्षमा (५) दान (६) दया (७) मनका निग्रह (८) अस्तेय और (९) इन्द्रियोंका निग्रह ।

इन दस नवकोंका पालन करनेसे लोक, परलोक दोनों बनते हैं ।

(स्कन्दपुराण-काशीखण्ड, पूर्वार्द्धसे सङ्कलित)

दैनिक कल्याण-सूत्र

१ जुलाई शनिवार—जो भगवान्‌के महत्त्वको जान लेता है, वह तो भगवान्‌को ही भजता है ।

भगवान्‌की इस मधुर वाणीपर ध्यान दो—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥

मैं ही सबकी उत्पत्तिका कारण हूँ और सारे जगत्‌की चेष्टा मुझसे ही होती है । इस प्रकार जाननेवाले भावुक बुद्धिमान् भक्त मुझको ही भजते हैं ।

२ जुलाई रविवार—भगवान्‌का प्रेमसे भजन करो, फिर अज्ञानका अँधेरा तो भगवान् आप ही मिटा देंगे । उन्होंने घोषणा की है—

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥

भजन करनेवालोंपर अनुग्रह करके मैं स्वयं ही उनके अन्तःकरणमें स्थित होकर सारे अज्ञानान्धकारको अपनी प्रकाशमयी ज्ञानज्योतिसे नष्ट कर देता हूँ ।

३ जुलाई सोमवार—भगवान्‌की अनन्त महिमा है, इतना बड़ा संसार तो उनकी महिमाके एक अंशमात्रमें स्थित है । भगवान्‌ने बतलाया है—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥

अर्जुन ! तुम क्या करोगे बहुत जानकर, इस सारे जगत्‌को मैंने एक अंशमात्रमें धारण कर रक्खा है ।

४ जुलाई मंगलवार—भगवान्‌के दर्शनकी सच्ची उत्सुकता हो तो अर्जुनकी भाँति प्रार्थना करो, वे तुम्हें दर्शन देंगे ।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥

हे प्रभो ! यदि आपके मतमें मैं आपका रूप देख सकता हूँ, तो हे योगेश्वर ! अपने अविनाशी स्वरूपके मुझे दर्शन कराइये ।

५ जुलाई बुधवार—भगवान्‌की भक्ति करो, फिर भगवान्‌का ज्ञान और उनके दर्शन दुर्लभ नहीं हैं । भगवान्‌ने स्वयं घोषणा की है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

हे अर्जुन ! इस प्रकार अनन्यभक्तिसे मैं तत्त्वसे जाना जा सकता हूँ, प्रत्यक्ष देखा जा सकता हूँ और मुझमें प्रवेश किया जा सकता है ।

६ जुलाई गुरुवार–अनन्यभक्ति करनेवाले भजनानन्दी भक्त कितने श्रेष्ठ हैं, यह जानना हो तो भगवान्‌की इस वाणीका स्मरण करो —

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

जो भक्त मनको मुझमें लगाकर परम श्रद्धाके साथ नित्य-निरन्तर मुझको भजते हैं, मेरे मतमें वे सर्वश्रेष्ठ योगी है ।

७ जुलाई शुक्रवार–संसारसागरसे तरनेकी चिन्ता न करो, भगवान्‌में मन लगाओ; फिर वे केवट बनकर अपने आप ही पार कर देंगे । उन्होंने पुकारकर कहा है—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

हे अर्जुन ! मुझमें चित्तको प्रवेश कर देनेवाले उन भक्तोंको मैं स्वयं बहुत ही शीघ्र मृत्युरूप संसारसागरसे बड़े सुखके साथ पार कर देता हूँ ।

८ जुलाई शनिवार–चिन्ता न करो, अपने-आप ऊपरको उड़ चलोगे । भगवान्‌के इन वचनोंको याद करो–

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥

मुझमें मन लगाओ, मुझमें ही बुद्धिको लगा दो, फिर निस्सन्देह मुझमें ही निवास करोगे ।

९ जुलाई रविवार–जो भगवान्‌के प्यारे होते हैं, उनके ये लक्षण हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, सबके मित्र, दुःखियोंपर दया रखनेवाले, ममता और अहंकारसे रहित, सुख-दुःखकी प्राप्तिमें सम, अपराध करनेवालेको भी सुख पहुँचानेवाले, सदा सन्तुष्ट, तन, मन, वचनको जीते हुए, मुझमें युक्त हुए, दृढनिश्चयी और मन, बुद्धिको मुझमें अर्पण किये हुए जो भक्त हैं, वे मुझको बहुत प्यारे हैं ।

१० जुलाई सोमवार–भगवान्‌के प्यारे भक्तके ये लक्षण भी हैं ।

भगवान्‌ने कहा है—

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥

जिससे किसी भी जीवको उद्वेग नहीं होता, जो स्वयं किसी भी जीवसे उद्विग्न नहीं होता और जो हर्ष, डाह, डर और उद्वेग आदिसे रहित है, वह भक्त मुझको प्यारा है ।

११ जुलाई मंगलवार–भक्तोंके और भी लक्षण ये हैं—

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

जो भक्त किसी वस्तुकी अपेक्षा नहीं रखता, बाहर–भीतरसे शुद्ध रहता है, मुझे भजनेमें बड़ा चतुर है, किसीका पक्ष नहीं लेता, किसी भी अवस्थामें

व्यथित नहीं होता और लौकिक लाभके लिये किसी कार्यका आरम्भ नहीं करता, वह भक्त मुझको बड़ा प्यारा है।

१२ जुलाई बुधवार—भक्तोंके कुछ और लक्षण—

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥

जो किसी भी लौकिक लाभमें हर्षित नहीं होता, हानिमें द्वेष नहीं करता, किसी भी प्रतिकूल अवस्थामें शोक नहीं करता और अनुकूल अवस्थाकी आकांक्षा नहीं करता तथा शुभाशुभ सभी कर्मोंका लौकिक लाभकी दृष्टिसे त्याग कर देता है, वह भक्त मुझको बड़ा प्रिय है।

१३ जुलाई गुरुवार—भक्तोंके ये लक्षण भी हैं—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥

जो शत्रु-मित्र, मान-अपमान, सर्दी-गर्मी, सुख-दुःखादि द्वन्द्व और निन्दा-स्तुतिमें समान भाव रखता है, संसारमें जिसकी कहीं आसक्ति नहीं है, जो मेरे मननमें लगा रहता है, हरेक हालतमें सन्तुष्ट रहता है और अपना घर नहीं बनाता, ऐसा स्थिरबुद्धि भक्त मुझको बड़ा प्रिय है।

१४ जुलाई शुक्रवार—भगवान्के तत्त्वज्ञानको प्राप्त करनेके बीस उपाय हैं, इनपर ध्यान दो। इनमें नौ ये हैं—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥

बड़प्पनका अभिमान न करना, दम्भ न करना, अहिंसा, क्षमा, मन-वचनकी सरलता, गुरुकी श्रद्धापूर्वक सेवा, बाहर-भीतरकी शुद्धि, स्थिरता और मन, इन्द्रियोंका निग्रह।

१५ जुलाई शनिवार—तीन उपाय ये हैं—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥

इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंमें वैराग्य, अहंकारका अभाव, जन्म, मरण, बुढ़ापा और बीमारी आदिके दुःख-दोषोंको बार-बार देखना।

१६ जुलाई रविवार—तीन उपाय ये हैं—

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥

पुत्र, स्त्री, घर और धन आदिमें आसक्तिका अभाव, ममताका अभाव और अनुकूल तथा प्रतिकूल वस्तुओंकी प्राप्तिमें चित्तका सदा सम रहना।

१७ जुलाई सोमवार—तीन उपाय ये हैं—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि॥

भगवान्में अनन्य योगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति, एकान्तदेशका सेवन और जनसमुदायमें अप्रीति।

१८ जुलाई मंगलवार—दो उपाय ये हैं—

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥

अध्यात्मज्ञानमें नित्य स्थिति और तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको सर्वत्र देखना, यह सब ज्ञान है

और जो इससे विपरीत है, उसे अज्ञान कहा गया है।

१९ जुलाई बुधवार—भगवान् सर्वत्र हैं, उनकी इस अमर वाणीपर ध्यान दो—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥

वह परमात्मा समस्त चराचर भूतोंके बाहर और भीतर परिपूर्ण है। चराचर भी वही है। परन्तु सूक्ष्म होनेसे जाननेमें नहीं आता। अत्यन्त समीप और बहुत दूर जहाँ देखो, वहीं वह-ही-वह है।

२० जुलाई गुरुवार—भगवान् ही सब कुछ हैं। उनके इस उपदेशपर ध्यान दो—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥

इस देहमें रहकर भी वह पुरुष मायासे परे है, वही सबका साक्षी है, वही अन्दरसे अनुमति देनेवाला है, वही भरण-पोषण करनेवाला और वही भोक्ता है। वह सबका महान् ईश्वर है और वही सच्चिदानन्दघन परमात्मा कहा जाता है।

२१ जुलाई शुक्रवार—परमात्मा सबमें रहकर भी लिप्त कैसे नहीं होता—

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते॥

जैसे सर्वत्र व्याप्त आकाश अपनी सूक्ष्मताके कारण लिप्त नहीं होता, वैसे ही देहमें सर्वत्र स्थित परमात्मा भी अपनी महिमामें स्थित होनेके कारण लिप्त नहीं होता।

२२ जुलाई शनिवार—एक ही परमात्मा सबको प्रकाशित कैसे करता है?

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥

जैसे एक ही सूर्य इस समस्त विश्वको प्रकाशित करता है, वैसे ही एक ही परमात्मा समस्त भूत-जगत्‌को प्रकाशित करता है।

२३ जुलाई रविवार—तीनों गुण स्वाभाविक ही नीचेकी ओर चलते हैं; इनसे ऊपर उठनेकी चेष्टा करते रहो, तीनों ही बाँधनेवाले हैं—

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥

हे निष्पाप! उन तीनों गुणोंमें प्रकाशक और विकाररहित सत्त्वगुण निर्मलताके कारण सुख और ज्ञानके सम्बन्धसे बाँधता है।

२४ जुलाई सोमवार—रजोगुण तो और भी नीचा है और वह कर्मोंकी बेड़ीसे बाँधे रखता है—

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्॥

हे अर्जुन! आसक्तिरूप रजोगुण कामना और आसक्तिसे ही उत्पन्न होता है। वह जीवात्माको कर्मोंके और उनके फलोंके सम्बन्धसे बाँधता है।

२५ जुलाई मंगलवार—तमोगुण तो बन्धनरूप ही है और इसके बन्धन भी बड़े निम्नश्रेणीके और दूषित होते हैं।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥

हे अर्जुन! सब देहाभिमानियोंको मोहित करनेवाले तमोगुणको अज्ञानसे उत्पन्न जानो। वह जीवोंको

प्रमाद (करनेयोग्य कार्योंके त्याग और न करने-योग्यके ग्रहण), आलस्य और निद्राके द्वारा बाँधता है।

२६ जुलाई बुधवार—तमोगुणको दबाकर रजोगुणको बढ़ाओ और रजोगुणको सत्त्वकी ओर लगाकर सत्त्वगुणमें स्थित हो जाओ और उस सत्त्वको भगवान्‌के अर्पण करके गुणातीत बन जाओ। याद रक्खो, सबके आश्रयस्थान एकमात्र भगवान् ही हैं। भगवान्‌ने घोषणा की है—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

अविनाशी ब्रह्म, अमृत, सनातनधर्म और अखण्ड एकरस आनन्द—इन सबकी प्रतिष्ठा मैं ही हूँ।

२७ जुलाई गुरुवार—भगवान्‌का वह दिव्य धाम अलौकिक है, उसीकी चाह करो। भगवान कहते हैं—

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

उस प्रकाशमय परम धामको सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि प्रकाशित नहीं कर सकते। जिस परमपदको प्राप्त होकर मनुष्य संसारमें वापस नहीं लौटते, वही मेरा परम धाम है।

२८ जुलाई शुक्रवार—भगवान्‌को पुरुषोत्तम जान लो; फिर तुमसे उनका भजन छूटेगा ही नहीं। भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

हे अर्जुन! इस प्रकार जो ज्ञानी पुरुष मुझको पुरुषोत्तम जानता है, वही सब कुछ जानता है और वह सब प्रकारसे मुझको ही भजता है।

२९ जुलाई शनिवार—भगवान्‌के भजनमें सबसे बड़े बाधक तीन हैं। इनका त्याग कर दो—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

काम, क्रोध और लोभ—ये आत्माकी अधोगति करनेवाले तीन नरकके दरवाजे हैं। अतएव इन तीनोंका त्याग करना चाहिये।

३० जुलाई रविवार—भगवान् तुम्हें बहुत प्यार करते हैं, उनके विलक्षण प्रेमको देख-सुनकर सब तरहसे उन्हींके बन जाओ। भगवान्‌ने बड़े प्रेमसे अर्जुनके प्रति कहा है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

हे अर्जुन! तुम मुझमें मन लगा लो, मेरे ही भक्त बन जाओ, मेरी ही पूजा करो और मुझको ही नमस्कार करो। मैं सच-सच कहता हूँ, प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, तुम मुझको ही प्राप्त होओगे! तुम मुझे बड़े प्यारे हो।

३१ जुलाई सोमवार—ऐसे प्यारे भगवान्‌पर अपनेको न्योछावर कर दो, सब कुछ छोड़कर उनके आश्रयमें चले जाओ। देखो, वे किस प्रकारका आश्वासन देते हुए कैसी स्नेहभरी वाणीसे पुकार-पुकारकर तुम्हें अपनी ओर बुला रहे हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

सब धर्मोंको छोड़कर एक मेरे शरण आ जाओ, मैं तुम्हें सारे पापोंसे मुक्त कर दूँगा, चिन्ता न करो।

श्रीभरत-महिमा

(लेखक—पं० श्रीगोपीनाथजी)

(पूर्वप्रकाशितसे आगे)

श्रीलक्ष्मणजी इस प्रकार कहते हुए नीति-रस तो भूल गये और वीर-रसका वृक्ष मानो पुलकावलीरूपी पुष्पोंसे फूल उठा। उन्होंने और क्या कहा सो सुनिये—

अनुचित नाथ न मानब मोरा। भरत हमहि उपचार न थोरा॥
कहँ लगि सहिअ रहिअ मनु मारें। नाथ साथ धनु हाथ हमारें॥

छत्र जाति रघुकुल जनमु राम अनुग जगु जान।
लातहुँ मारें चढ़ति सिर नीच को धूरि समान॥

आप कहते हैं कि नीच-से-नीच संसारमें धूल है, वह भी लात मारनेसे सिरपर चढ़ती है तो महाराज हम भरतके हाथसे वैसा अपमान कैसे सहन कर सकते हैं! हमारे हाथमें भी तो धनुष-बाण है। इतना कहते ही—

उठि कर जोरि रजायसु मागा। मनहुँ बीर रस सोवत जागा॥
बाँधि जटा सिर कसि कटि भाथा। साजि सरासनु सायकु हाथा॥

और बोले—

आजु राम सेवक जसु लेऊँ। भरतहि समर सिखावन देऊँ॥
राम निरादर कर फलु पाई। सोवहुँ समर सेज दोउ भाई॥
आइ बना भल सकल समाजू। प्रगट करउँ रिस पाछिल आजू॥
जिमि करि निकर दलइ मृगराजू। लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू॥
तैसेहिं भरतहि सेन समेता। सानुज निदरि निपातउँ खेता॥
जौं सहाय कर संकरु आई। तौ मारउँ रन राम दोहाई॥

धन्य, धन्य है श्रीगोस्वामीजीकी रचना! लक्ष्मणजीके इन वचनोंमें कैसा अद्भुत वीररस दिखाया है कि पढ़ते-पढ़ते रोंगटे खड़े हो जाते हैं। लक्ष्मणजीके इन रोषयुक्त वचनोंको सुनकर और उनकी शपथको समझकर समस्त लोक और लोकपाल घबड़ा गये और उन्होंने भड़भड़ाकर भाग जाना चाहा।

इतनेमें लक्ष्मणजीके भुजबलकी सराहना करती हुई आकाशवाणी हुई कि हे तात! तुम्हारे प्रताप और प्रभावको कौन कह सकता है और कौन जाननेवाला है!

जो कुछ बुरा-भला काम हो उसे सोच-समझकर करना चाहिये, यही सबका मत है। उतावलीमें झटपट ऐसा काम कर डालना जिससे पीछे पछताना पड़े, इसे वेद और चतुर पुरुष बुद्धिमानी नहीं कहते।

यह आकाशवाणी सुनकर लक्ष्मणजी सकुचा गये, तब बड़े आदरके साथ श्रीराम-जानकीजीने उनका सम्मान करके कहा कि हे तात! तुमने सच कहा, राजपदका मद और नशा सबसे कठिन होता है; परन्तु इस राजमदसे वही लोग मतवाले हो जाते हैं जिन्होंने साधुओंकी सभाका सेवन नहीं किया। अब देखिये मानसकारकी रचनाका चमत्कार कि कैसे प्रभावशाली वचनोंद्वारा श्रीरामजी भरतजीकी महिमाका सार्टीफिकट देते हैं। श्रीरामजी कहते हैं—

सुनहु लखन भल भरत सरीसा। बिधि प्रपंच महँ सुना न दीसा॥

भरतहि होइ न राज मदु बिधि हरि हर पद पाइ।
कबहुँ कि काँजी सीकरन्हि छीरसिंधु बिनसाइ॥

तिमिरु तरुन तरनिहि मकु गिलई। गगनु मगन मकु मेघहिं मिलई॥
गोपद जल बूड़हिं घटजोनी। सहज छमा बरु छाड़ै छोनी॥
मसक फूँक बरु मेरु उड़ाई। होइ न नृपमदु भरतहि भाई॥
लखन तुम्हार सपथ पितु आना। सुचि सुबंधु नहिं भरत समाना॥
सगुनु खीरु अवगुन जलु ताता। मिलइ रचइ परपंचु बिधाता॥
भरतु हंस रबिबंस तड़ागा। जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा॥
गहि गुन पय तजि अवगुन बारी। निज जस जगत कीन्हि उजिआरी॥
कहत भरत गुन सीलु सुभाऊ। प्रेम पयोधि मगन रघुराऊ॥

वाह! वाह! सच है—

जौं न होत जग जनम भरत को। सकल धरम धुर धरनि धरत को॥

इधर श्रीरामचन्द्रजीके आश्रममें यह संवाद हो रहा है, उधर भरतजी आकर मन्दाकिनी नदीमें स्नान करते हैं और सारे समाजको नदीपर ही टिका माताजी, गुरुजी और मन्त्रियोंसे आज्ञा लेकर अपने छोटे भाई शत्रुघ्नजी और सखा निषादको रास्ता दिखानेको साथ लेकर वहाँ चले जहाँ श्रीराम-सीताजी विराजमान हैं। श्रीभरतजी अपनी माताका करतब समझकर अति लज्जित होते हुए करोड़ों कुतर्क मनमें करते हैं कि श्रीराम-जानकीजी

मेरा नाम सुनकर ही उठकर और कहीं न चल दें; माताके मतेमें जानकर जो कुछ करें थोड़ा है, परन्तु अपनी ओर समझकर मेरे पापों और अवगुणोंको क्षमा करके अपना लेंगे; चाहे मुझे मनसे मलीन जानकर त्याग दें चाहे अपना सेवक मानकर आदर करें, मैं तो श्रीरामचन्द्रजीकी जूतियोंकी ही शरण हूँ ! क्योंकि श्रीरामचन्द्रजी उत्तम स्वामी हैं और सब दोष तो मुझ सेवकका ही है ! फिर केवटने ऊँचाईपर चढ़कर वह वटवृक्ष दिखाया जिसके बीच श्रीरघुनाथजीकी कुटिया है और तुलसीके सुन्दर पेड़ अनेक प्रकार शोभायमान हैं, जो कोई-कोई तो स्वयं श्रीरामचन्द्रजीके लगाये हैं और कोई श्रीलक्ष्मणजीने रोपे हैं। और उस वृक्षकी छायामें श्रीसीताजीने अपने कमलसमान कोमल हाथोंसे सुन्दर वेदी बनायी है, जहाँ बैठकर श्रीरामजी मुनीश्वरोंकी मण्डलीके साथ बैठकर इतिहास, वेद, पुराण आदि शास्त्र सुनते हैं !

फिर भरतजीकी चाह देखिये—

सखा बचन सुनि बिटप निहारी। उमगे भरत बिलोचन बारी॥
करत प्रनाम चले दोउ भाई। कहत प्रीति सारद सकुचाई॥
हरषहिं निरखि राम पद अंका। मानहुँ पारसु पायउ रंका॥
रज सिर धरि हियँ नयनन्हि लावहिं। रघुबर मिलन सरिस सुख पावहिं॥

× × × ×

सखहि सनेह बिबस मग भूला। कहि सुपंथ सुर बरषहिं फूला॥
निरखि सिद्ध साधक अनुरागे। सहज सनेहु सराहन लागे॥

इतना लिखकर श्रीमानसकार क्या ही सुन्दर कहते हैं:—

होत न भूतल भाउ भरत को। अचर सचर चर अचर करत को॥

श्रीरामचन्द्रजीके पुनीत आश्रममें प्रवेश करते ही सब दुःखकी अग्नि शान्त हो गयी, जैसे योगीको परमार्थप्राप्ति हो गयी हो। दूसरे उन्होंने क्या देखा कि लक्ष्मणजी श्रीरामजीसे कुछ प्रश्न कर रहे हैं और श्रीरामजी उत्तर दे रहे हैं। उनके मस्तकपर जटाजूट है, तनपर मुनियोंके-से वस्त्र हैं, तरकस कसे हुए हैं, हाथमें बाण और कंधेपर धनुष है और वेदीपर मुनीश्वर और साधुओंके समाजमें सीताजीसमेत श्रीरामजी ऐसे विराजमान हैं कि मानो साक्षात् रति और कामदेवने ही मुनियोंका-सा भेष धारण किया हो। उनका इस रूपमें दर्शन करते ही भरतजी मगन-मन होकर सब सुध-बुध भूल गये और—

पाहि नाथ कहि पाहि गोसाईं। भूतल परे लकुट की नाईं॥
बचन सपेम लखन पहिचाने। करत प्रनामु भरत जियँ जाने॥

× × × ×

कहत सप्रेम नाइ महि माथा। भरत प्रनाम करत रघुनाथा॥
उठे रामु सुनि पेम अधीरा। कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा॥

अहा हा ! भरतजीका नाम सुनते ही भगवान् श्रीरामजी प्रेममें ऐसे अधीर होकर उठे कि वस्त्र कहीं, निषंग कहीं, धनुष कहीं और तीर कहीं खिसक पड़े। और क्या किया !

बरबस लिए उठाइ उर लाए कृपानिधान।
भरत राम की मिलनि लखि बिसरे सबहि अपान॥

श्रीगोस्वामीजी फिर कहते हैं—

मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी। कबि कुल अगम करम मन बानी॥
परम पेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥
कहहु सुपेम प्रगट को करई। केहि छाया कबि मति अनुसरई॥

× × ×

अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मनु बिधि हरि हर को॥
सो मैं कुमति कहौं केहि भाँती। बाज सुराग कि गाँडर ताँती॥

फिर क्या हुआ—

मिलनि बिलोकि भरत रघुबर की। सुर गन सभय धकधकी धरकी॥

अर्थात् श्रीरामजी और भरतजीकी ऐसी अगाध प्रीतिकी मिलन देखकर देवतालोग भयभीत हो गये और छाती धक-धक धरकने लगी कि श्रीरामचन्द्रजी उनके प्रेम-संकोचके वश होकर अयोध्या न चले जावें। फिर श्रीसीताजीके कमलसमान चरणोंमें सिर झुकाया। श्रीरामजीने बार-बार प्रणाम करते हुए भरतजीको बलपूर्वक उठाया और उनके सिरपर हाथ फेरकर अपने पास बैठा लिया। श्रीसीताजी भी भरतजीके प्रेममें मग्न हो गयीं, उन्हें देहकी सुध-बुध न रही, मन-ही-मन आशीर्वाद दिया। भरतजी उनका भाव भी अपने अनुकूल देखकर शोकरहित हुए और उनके हृदयका अन्देशा जाता रहा। अब क्या दशा इन सबकी है, वह सुनिये—

कोउ किछु कहइ न कोउ किछु पूँछा। प्रेम भरा मन निज गति छूँछा॥

अर्थात् सब प्रेममें मग्न अपनी सुध-बुध भूल गये हैं। कोई कहे क्या और पूछे क्या ! ऐसी दशामें केवटको जब कुछ होश आया तब उसने निवेदन किया कि हे नाथ ! मुनिनाथ वशिष्ठजीके साथ सब माताएँ, नगरनिवासी, राजसेवक, सेनापति और मन्त्रीगण भी वियोगसे विकल होकर यहाँ आ गये हैं।

गुरु महाराजका आगमन सुनते ही श्रीरामचन्द्रजी झट उठ खड़े हुए और लक्ष्मणजीसहित उनकी अगवानीको चले। सीताजीके पास शत्रुघ्नजीको छोड़ भरतजी भी साथ हो लिये। श्रीरामने गुरु महाराजको प्रणाम किया, उन्होंने दौड़कर उनको हृदयसे लगा लिया। फिर क्षणभरमें सबसे (अनेक रूप धारण करके) मिले, जैसे करोड़ों घड़ोंमें सूर्यकी परछाईं एक साथ ही पड़ती है। फिर गुरु महाराजसे प्रार्थना की कि चलिये, आश्रमको अपने चरणोंसे पवित्र कीजिये और सब माताओं तथा ब्राह्मण-मंत्रियोंको साथ लेकर आश्रममें पधारें। सीताजीने गुरु महाराजके चरणोंपर गिरकर प्रणाम किया, तथा गुरुपत्नी और ब्राह्मणकी स्त्रियों एवं सब सासुओंको प्रणाम कर आशीर्वाद प्राप्त किया।

आश्रममें पहुँचकर गुरु महाराजने दशरथजीके स्वर्गवासका समाचार कहा, और अपने वियोग-दुःखके कारण पिताजीकी मृत्यु सुनकर भगवान् बहुत ही विकल हुए और गुरु महाराजकी आज्ञानुसार पिताका तर्पण आदि किया। जब पितृकर्मसे शुद्ध होकर दो-तीन दिन बीते तो श्रीरामजी गुरु महाराजसे कहते हैं कि हे महाराज! सब लोग कन्द-मूल-फल आहार करते दुखी हो रहे हैं; भाइयों, माताओं और मन्त्री आदिकी यह दशा देखकर मेरा एक-एक दिन युगके समान बीत रहा है. अतः भरतादि सबको साथ लेकर अयोध्या जाइये ।

उधर भरतजीकी यह दशा है कि न दिनको भूख न रातको नींद है, बड़े भारी सोचसे व्याकुल हो तड़फड़ा रहे हैं कि कैसे श्रीरामचन्द्रजीका अयोध्या चलना हो। इसी सोचमें पड़े हैं कि गुरु महाराजने उनको बुला भेजा और वहाँ सब महाजन, मन्त्री आदि एकत्र हो गये। मुनिराजने कहा कि श्रीरामचन्द्रजी स्वतन्त्र भगवान्, सत्यव्रत, पिताके आज्ञापालनमें दृढ़, धर्मका पालन करनेवाले हैं; किस प्रकार उनका अयोध्या चलना हो—सोचकर बताओ, वही किया जावे। किसीको इसका उत्तर देनेकी सामर्थ्य न हुई। उस समय सबकी मौन दशा देखकर श्रीभरतजी हाथ बाँधकर बोले—महाराज! यह मेरा परम दुर्भाग्य है कि आप मुझसे उपाय पूछते हैं; आप ब्रह्माकी गति, होनहारको भी टाल सकते हैं; आप ही कोई उपाय सोचिये।

श्रीगुरु महाराज कहते हैं कि क्या करूँ, श्रीरामजीकी कृपासे ही सब हो सकता है। एक उपाय समझमें आता है कि तुम दोनों भाई उनके बदले वनमें जाना अङ्गीकार करो और राम-लक्ष्मणजीको अयोध्या लौटा लें। गुरु महाराजके यह वचन सुनकर भरतजी परम प्रसन्न हो आनन्दसे शरीरमें फूले न समाये। मानसकार लिखते हैं—

मन प्रसन्न तन तेज बिराजा। जनु जिय राउ रामु भए राजा॥

× × × ×

कहहिं भरतु मुनि कहा सो कीन्हे। फलु जग जीवन्ह अभिमत दीन्हे॥
कानन करउँ जनम भरि बासू। एहि तें अधिक न मोर सुपासू॥

फिर क्या हुआ?

भरत बचन सुनि देखि सनेहू। सभा सहित मुनि भए बिदेहू॥
भरत महा महिमा जलरासी। मुनि मति ठाढ़ि तीर अबला सी॥

अहा! भरतजीका ऐसा स्नेह श्रीरामचन्द्रजीमें देखकर मुनि महाराज सब सभासमेत देहकी सुध-बुध भूल गये। भरतजीकी महिमा मानो गंभीर समुद्र है और वशिष्ठजीकी बुद्धि उसके तीरपर अबलाकी नाईं ठिठककर रह गयी है।

गा चह पार जतनु हियँ हेरा। पावति नाव न बोहितु बेरा॥

उस महिमारूपी समुद्रके पार पानेकी इच्छासे बहुत उपाय किये; परन्तु इसके लिये कोई नाव, जहाज़ या बेड़ा नहीं दिखायी दिया। जब साक्षात् वशिष्ठजीकी यह दशा है तो फिर और कौन भरतकी बड़ाई कर सकता है? भला कहीं सरोवरकी सीपीमें समुद्र समा सकता है? यह संवाद हो चुकनेके बाद वशिष्ठजी सब समाजको साथ लेकर श्रीरामजीके पास आये। श्रीरामने आदरसहित सबको आसन दिये और मुनीश्वरकी आज्ञा पाकर सारा समाज बैठ गया। उस समय मुनि महाराजने श्रीरामजीसे कहा कि हे राम! आप सर्वज्ञ, सुजान और धर्म, नीति, गुण और ज्ञानके निधान हो; सबके अन्तरमें बसते हो; सबका भाव-कुभाव जानते हो; पुरजन, माता और भरतजीका जिसमें हित हो वही उपाय कीजिये।

श्रीरामचन्द्रजी उत्तरमें कहते हैं कि हे महाराज! उपाय तो सब आपहीके हाथ है। आपकी आज्ञा शिरोधार्य है और इसीमें सबकी भलाई है। पहले जो मुझे आज्ञा हो कहिये, सिरपर धारण करके पालन करूँगा। फिर जिस-जिसको जो-जो उचित समझें आज्ञा दीजिये, वे सब सेवककी नाईं उसे मानेंगे।

वशिष्ठजी कहते हैं कि हे राम, आपने जो कहा सो सच है; पर भरतजीके स्नेहने मेरा विचार नहीं रक्खा, उसकी

भक्तिके वश होकर मेरी बुद्धि भोरी हो गयी है, कुछ नहीं कह सकती; सो मेरे विचारमें भरतजीका विनय आदरसे सुनकर उनकी रुचि रखकर जो किया जाय वही अच्छा होगा, श्रीमहादेवजीको साक्षी रखकर यह प्रार्थना बारंबार करता हूँ।

श्रीभरतजीपर गुरु महाराजका ऐसा भारी अनुराग देखकर श्रीरामजी अति प्रसन्न हुए और भरतजीको धर्मधुरन्धर और तन-मन-वचनसे अपना आज्ञाकारी जान वशिष्ठजीसे ये सुन्दर और मंगलमय वचन बोले—

नाथ सपथ पितु चरन दोहाई। भयउ न भुवन भरत सम भाई॥
उर जानत अस अनुरागू। को कहि सकइ भरत कर भागू॥

अपना छोटा भाई है, इस विचारसे उसके मुखपर बड़ाई करनेमें संकोच होता है। हाँ, जो भरत कहें वही करनेमें भलाई है। यह कहकर श्रीरामजी चुप हो गये। यह सुनकर वशिष्ठजी भरतजीसे कहते हैं कि संकोच त्यागकर दयासागर प्यारे भाई श्रीरामजीसे अपने हृदयकी बात साफ़-साफ़ कह दो।

श्रीभरतजी यह सुन और श्रीरामजीका रुख देख अपने सिरपर सब भार समझ कुछ नहीं कह सकते। फिर विचारकर—

पुलकि सरीर सभाँ भए ठाढ़े। नीरज नयन नेह जल बाढ़े॥

और हाथ जोड़कर अमृतमयी वाणीमें कहते हैं कि मेरा सब कहना तो गुरु महाराजने निभा दिया, इससे अधिक मैं क्या कहूँ। मैं अपने स्वामी श्रीरामचन्द्रजीका स्वभाव जानता हूँ, वे तो अपराधीपर भी कभी क्रोध नहीं करते। आपने बालकपनसे मेरा साथ नहीं छोड़ा और न कभी मेरा मन भंग किया—हर खेलमें मुझे ही जिताया कि मेरा मन दुखी न हो। और मैंने भी इस संकोचसे कभी उनसे आँख उठाकर बात नहीं की, केवल आँखें उनके दर्शनोंकी प्यासी रही हैं और आजतक उनके दर्शनसे तृप्ति नहीं हुई। पर क्या कहूँ, आज विधाता मेरा यह दुलार न सह सका और माताके बहाने उसने यह अनर्थ कर दिया। यह मेरे ही दुर्भाग्यका अथाह समुद्र है। मैं सब ओरसे हार गया हूँ, मुझे केवल एक ही भरोसा है कि एक तो कृपालु गुरु महाराज हैं और उसपर दयावान् स्वामी श्रीसीतारामजी हैं; इससे परिणाम भला प्रतीत होता है। पिताजीका मरण तो प्यारे रामजीके बिछोहसे हुआ और कैकेयी माताकी खोटी बुद्धिका सब संसार साक्षी है। इस दुःखसे और सब माताएँ तथा समस्त अयोध्यावासी नर-नारी कठिन ज्वरकी आगमें जल रहे हैं। इस सारे अनर्थका मूल मैं ही अभागा हूँ। जिनको देख मार्गके साँप और बिच्छूतक अपने कठिन और तीक्ष्ण विषको त्याग देते हैं, ऐसे राम-लक्ष्मण और जानकी जिस कैकेयीको बुरे लगे उसके पुत्रको छोड़ विधाता ऐसा कठिन दुःख और किसे सहाते।

भरतजीकी यह अति विकलतापूर्ण तथा दुःख, प्रेम और नम्रतासे भरी वाणीको सुनकर सारी सभा ऐसी हो गयी मानो कमलोंके वनपर पाला पड़ गया हो, और सबके सिर सोचसे झुक गये। गुरु महाराजने भरतजीको पुरानी कथाएँ सुनाकर धीरज दिया और श्रीरामचन्द्रजी इस प्रकार मनोहर वचन बोले—

हे प्यारे, मनको उदास मत करो और जीवकी गति ईश्वरके अधीन मानकर धैर्य धरो। हे तात! तीनों काल और तीनों लोकोंमें जो-जो पुण्यात्मा जन हुए हैं वे सब तुम्हारे नीचे हैं, अर्थात् तुम्हारा दर्जा उनसे बहुत ऊँचा है; मनसे भी तुमपर कुटिलाईका सन्देह करनेसे लोक-परलोक दोनों बिगड़ जायँगे और—

मिटिहहिं पाप प्रपंच सब अखिल अमंगल भार।
लोक सुजसु परलोक सुखु सुमिरत नामु तुम्हार॥

हे प्यारे! मैं तुम्हें भलीभाँति जानता हूँ; परन्तु क्या करूँ, मनमें बड़ी दुविधा हो रही है। पिताजीने मुझे वनवास देकर भी अपने सत्यको रक्खा और मेरे स्नेहका प्रण रखते हुए शरीरको त्याग दिया। ऐसे पिताका वचन मेटनेमें बड़ा विषाद होता है, उससे भी बढ़कर तुम्हारा संकोच है। इसपर भी गुरु महाराजने आज्ञा दी है, इसलिये जो कुछ तुम कहो अवश्य वही करनेको मैं तैयार हूँ—

मनु प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करौं सोइ आजु।
सत्यसंध रघुबर बचन सुनि भा सुखी समाजु॥

अर्थात् मन प्रसन्न कर, संकोचको त्याग, जो तुम कहो वही आज करूँ। सत्यप्रतिज्ञ श्रीरामचन्द्रजीके ये वचन सुनकर सब समाज तो सुखी हो गया, पर सब देवताओंसमेत इन्द्र काँप गया कि अब काम बिगड़ना चाहता है—भरतजीके कहनेसे श्रीरामचन्द्रजी लौट आयँगे, क्योंकि श्रीरामजी तो भक्तोंकी भक्तिके वशमें हैं। सब एक दूसरेके कान लगलगाकर अपना-अपना माथा धुनते और कहते हैं कि अब तो

देवताओंका काम भरतजीके हाथमें है। ऐसी दशामें और कोई उपाय नहीं सूझता; सब कोई मन-ही-मन श्रीभरतजीकी शरण जाओ और उनका ही स्मरण करो, इसीसे उद्धार होगा। इस विचारको जान देवताओंके गुरु बृहस्पतिजीने देवताओंसे कहा कि तुम्हारा अहोभाग्य है कि भरतजीकी भक्ति तुम्हारे मनमें आयी—उनके चरणोंका अनुराग सब आनन्द-मंगलकी जड़ है। हे देवताओ! भरतजीका प्रभाव देखा, जिनके सहज स्वभावके वशमें स्वयं श्रीरामचन्द्रजी हो रहे हैं! मनको स्थिर करो, भरतजीको श्रीरामचन्द्रजीकी परछाहीं समझो, डरो मत।

अब भरतजीकी दशा सुनिये—

जब भरतजीने अपने ही सिरपर सारा भार जाना और देखा कि श्रीरामचन्द्रजी जो कुछ वे कहेंगे करनेको तैयार हैं तो उन्होंने मनमें करोड़ों अनुमान करके यही स्थिर किया कि जब श्रीरामचन्द्रजीने अपना प्रण त्याग मेरा प्रण रक्खा है और ऐसा भारी प्रेम और स्नेह किया है तो उन्हींकी आज्ञाका पालन करनेमें मेरा भला है। सेवकका धर्म तो स्वामीके आज्ञापालनमें ही है, जो सेवक स्वामीको संकोचमें डालकर अपना काम निकालना चाहता है उसकी बुद्धि नीच है। ऐसा सोचकर वे हाथ जोड़कर निवेदन करते हैं कि हे स्वामी करुणानिधान! अब कृपा कर वही कीजिये जिससे मुझ सेवकका भला हो और प्रभुके हृदयमें संकोच न हो। सेवकका भला तो इसीमें है कि अपने सब सुख और लोभको त्यागकर स्वामीकी सेवा करे। सबका स्वार्थ तो स्वामीके लौट चलनेमें ही है, परन्तु आपकी आज्ञा पालनेसे करोड़ों प्रकारकी भलाई है—इसीमें सब स्वार्थ और परमार्थका सार है और यही सब पुराणोंका फल और सुन्दर गतिका शृंगार है। हे महाराज! एक मेरी विनती सुन लीजिये, फिर जैसा उचित हो कीजिये। मैं राजतिलककी सब सामग्री साथ लेकर आया हूँ, मनमें जँचे तो उसे सफल कीजिये। छोटे भाई शत्रुघ्नके सहित मुझे वनको भेज सबको सनाथ कीजिये; नहीं तो लक्ष्मण-शत्रुघ्नको वापिस भेज दीजिये, मैं आपके साथ चलूँगा—

सानुज पठइअ मोहि बन कीजिअ सबहि सनाथ।
नतरु फेरिअहिं बंधु दोउ नाथ चलौं मैं साथ॥

नतरु जाहिं बन तीनिउ भाई। बहुरिअ सीय सहित रघुराई॥
जेहि बिधि प्रभु प्रसन्न मन होई। करुनासागर कीजिअ सोई॥
देवँ दीन्ह सबु मोहि अभारू। मोरें नीति न धरम बिचारू॥
कहउँ बचन सब स्वारथ हेतू। रहत न आरत कें चित चेतू॥
उतरु देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवकु लखि लाज लजाई॥

× × × ×

अब कृपाल मोहि सो मत भावा। सकुच स्वामि मन जाइ न पावा॥

× × × ×

प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि जो जेहि आयसु देब।
सो सिर धरि धरि करिहि सबु मिटिहि अनट अवरेब॥

भरतजीके ऐसे पवित्र वचन सुनकर देवता लोग अति प्रसन्न हो-होकर और भरतजीको 'धन्य-धन्य' कहते हुए फूल बरसाने लगे। अयोध्यावासी दुविधाके वश हो गये और तपस्वी वनवासी लोग बहुत प्रसन्न हो गये कि श्रीरामजीके वनमें ही रहनेकी संभावना है! श्रीरामचन्द्रजी संकोचवश चुप रह गये कि क्या उत्तर दें। इतनेमें ही जनकजीके आनेका समाचार मिला और सारा समाज उनके स्वागतको उठ गया। यह संवाद यहाँ-का-यहीं रहा।

तदनन्तर महाराज जनकजी सारे समाजसहित चित्रकूटमें पहुँचते हैं। वहाँ जनकजीका रनवास श्रीसीताजी तथा उनकी सासुओंसे मिलनेको जाता है, तब अवध और मिथिलाकी रानियोंमें बात-चीत होती है और श्रीकौसल्याजी इन शब्दोंमें भरतजीकी महिमाका बखान करती हैं—

लखनु रामु सिय जाहुँ बन भल परिनाम न पोचु।
गहबरि हियँ कह कौसिला मोहि भरत कर सोचु॥

और क्या कहती हैं—

राम सपथ मैं कीन्हि न काऊ। सो करि कहउँ सखी सति भाऊ॥
भरत सील गुन बिनय बड़ाई। भायप भगति भरोस भलाई॥
कहत सारदहु कर मति हीचे। सागर सीप कि जाहिं उलीचे॥
जानउँ सदा भरत कुलदीपा। बार बार मोहि कहेउ महीपा॥
कसें कनकु मनि पारिखि पाएँ। पुरुष परिखिअहिं समयँ सुभाएँ॥

इतना कहकर कौसल्याजी जनकरानी सुनयनाजीसे प्रार्थना करती हैं कि हे रानी! राजा जनकजीसे समय पाकर अपनी ओरसे समझाकर कहना कि यदि राजाका मन मान जावे तो लक्ष्मणजीको रख लें और भरतजी रामजीके साथ रहें। क्योंकि मुझे भरतजीकी बड़ी चिन्ता है—भरतजीके मनमें बड़ा गहरा स्नेह श्रीरामजीका है, उनके वियोगमें कुछ अनर्थ न हो जावे! यह सब सुनकर विदेह-

रानी विदा होती हैं और अपने डेरेपर आकर एकान्तमें जनकजीसे कौसल्याजीकी वाणी और भरतजीकी महिमाका बखान करती हैं। उस समय जनक महाराज—

सुनि भूपाल भरत ब्यवहारू। सोन सुगंध सुधा ससि सारू ॥
मूदे सजल नयन पुलके तन। सुजसु सराहन लगे मुदित मन ॥

और कहते हैं—

सावधान सुनु सुमुखि सुलोचनि। भरत कथा भव बंध बिमोचनि ॥
धरम राजनय ब्रह्म बिचारू। इहाँ जथामति मोर प्रचारू ॥
सो मति मोरि भरत महिमाही। कहै काह छलि छुअति न छाँही ॥

अहा! महाराज विदेह ऐसे ज्ञानी अपने मुखसे कह रहे हैं कि धर्म, राजनीति, ब्रह्मविचारतक मेरी बुद्धिकी पहुँच है। पर मेरी ऐसी बुद्धि भरतजीकी महिमाका वर्णन करना तो एक ओर रहा, किसी छलसे उसकी छायाको भी छूतक नहीं सकती। क्या गोस्वामीजीने जनकराजके मुखसे भरतजीकी महिमा दिखायी है?

फिर जनकजी क्या कहते हैं—

निरवधि गुन निरुपम पुरुषु भरतु भरतसम जानि।
कहिअ सुमेरु कि सेर सम कबिकुल मति सकुचानि ॥

× × × ×

भरत अमित महिमा सुनु रानी। जानहिं रामु न सकहिं बखानी ॥
बरनि सप्रेम भरत अनुभाऊ। तिय जिय की रुचि लखि कह राऊ ॥
बहुरहिं लखनु भरतु बन जाहीं। सब कर भल सबके मन माहीं ॥

जनकजी कहते हैं कि मित्रके गुणोंकी सीमा नहीं और मित्रकी उपमाका कोई पुरुष नहीं है, ऐसे भरतजीको भरतजीके ही समान जानकर और किसीकी उपमा उनके साथ देनेमें कवियोंकी बुद्धि ऐसे सकुचायी कि जैसे कोई सुमेरु पर्वतको तौलनेमें एक सेरके बराबर कहनेमें सकुचावे। हे रानी! सुनो, भरतजीकी महिमा श्रीरामचन्द्रजी तो अवश्य जानते हैं; पर वे भी उसका वर्णन नहीं कर सकते। लक्ष्मणजी लौट जायँ और भरतजी श्रीरामजीके साथमें रहें, इसमें भलाई तो अवश्य है—

देबि परंतु भरत रघुबर की। प्रीति प्रतीति जाइ नहिं तरकी ॥
भरतु अवधि सनेह ममता की। जद्यपि रामु सीम समता की ॥
परमारथ स्वारथ सुख सारे। भरत न सपनेहुँ मनहुँ निहारे ॥
साधन सिद्धि राम पग नेहू। मोहि लखि परत भरत मत एहू ॥

भोरेहुँ भरत न पेलिहहिं मनसहुँ राम रजाइ।
करिअ न सोचु सनेह बस कहेउ भूप बिलखाइ ॥

इसके अनन्तर कुछ दिन बीत जानेपर श्रीरामजी फिर गुरु वशिष्ठजीके पास जाकर प्रार्थना करते हैं कि हे स्वामी! भरत, सब नगरनिवासी, सब माताएँ शोकसे व्याकुल और वनमें रहनेसे दुखी हो रही हैं और सारे समाजसमेत राजा जनकजीको भी दुःख सहते हुए बहुत दिन हो गये, जो मुझसे देखा नहीं जाता। इसका जो उचित हो उपाय कीजिये, सबका भला आपहीके हाथमें है। वशिष्ठजी उनके शील-सङ्कोचकी बड़ाई करके श्रीरामजीको अपने आश्रमको भेजकर आप जनकजीके पास जाते हैं, उनको श्रीरामजीके वचन सुनाते हैं। जनकराजजी सोचमें पड़कर वशिष्ठजीके साथ भरतजीके पास जाते हैं, भरतजी आगे आकर उनका स्वागत करते हैं। राजा जनक भरतजीसे कहते हैं कि हे तात! श्रीरामचन्द्रजी सत्यव्रती हैं, धर्ममें रत रहते हैं, सबके शील-सङ्कोचसे कष्ट उठा रहे हैं, ऐसी दशामें हमलोग क्या करें सो कहो।

भरतजी पुलकायमान होकर, नेत्रोंमें जल भरकर, बड़ा धीरज धरकर कहते हैं कि श्रीरामचन्द्रजी हमारे प्यारे हैं, आप पिताके समान पूज्य हैं और कुलगुरु वशिष्ठजी माता-पितासे भी बढ़कर हितकारी हैं। विश्वामित्र आदि सब ऋषि भी विराजमान हैं और आप स्वयं ज्ञानके समुद्र हैं। ऐसी दशामें मैं क्या कह सकता हूँ? मैं तो श्रीरामजीका सेवक हूँ और सेवकका धर्म संसारमें सबसे कठिन है। इसलिये धर्मव्रती श्रीरामजीका रुख देखकर, मुझको पराधीन जान जो सबकी सम्मति हो और जिसमें सबका भला हो, स्नेह पहचानकर वही कीजिये; मैं तो एक शिशु सेवकके समान आज्ञाकारी हूँ।

भरतजीके ये वचन सुनकर, जो अति कोमल और मधुर हैं और थोड़े-से अक्षरोंमें जिनमें बहुत गम्भीर भाव भरा है, भरतजीको साथ ले सारा-का-सारा समाज श्रीरामजीके पास चल दिया। सबको राम-प्रेमसे पूर्ण और विशेषकर भरतजीको राम-भक्तिमें तन्मय देख फिर देवताओंमें हड़बड़ी और महान् चिन्ता हुई और इन्द्र घबड़ाये कि श्रीरामजी महासङ्कोची स्वामी और भक्तिके वश हैं, अतः काम बिगड़ा ही चाहता है और बड़ी दीनतासे सरस्वतीका स्मरण किया और उनसे प्रार्थना की कि अपनी माया करके भरतजीकी मतिको किसी प्रकार फेर दें। सरस्वतीजी इन्द्रादि देवताओंको महामूर्ख और स्वार्थी जान ताड़नापूर्वक बोलीं—

मासन कहहु भरत मति फेरू। लोचन सहस न सूझ सुमेरू ॥

बिधि हरि हर माया बड़ि भारी। सोउ न भरतमति सकइ निहारी॥
सो मति मोहि कहत करु भोरी। चंदिनि कर कि चंडकर चोरी॥
भरत हृदयँ सिय राम निवासू। तहँ कि तिमिर जहँ तरनि प्रकासू॥
अस कहि सारद गइ बिधि लोका। बिबुध बिकल निसि मानहुँ कोका॥

धन्य है श्रीभरतजीकी अगाध महिमा कि सरस्वती भी हार मानकर और यह कहकर कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सबको भारी माया मिलकर भी भरतजीकी मतिको फेरना तो क्या, उसकी ओर देख भी नहीं सकती, ब्रह्मलोकको चल दी और देवतालोग निराश होकर प्रपञ्च रचनेपर उतारू हो गये और यही सोच रहे हैं कि सारी बात अब भरतजीके हाथमें है।

जनकजीके सारे समाजके साथ श्रीरामजीके पास पहुँचकर वशिष्ठजीने सारा संवाद और भरतजीकी वाणी श्रीरामजीसे वर्णन कर कहा कि हे रामजी! मेरी भी यही अनुमति है कि तुम जैसी आज्ञा दो वैसा किया जावे। श्रीरामजी यह सुनकर हाथ जोड़कर बोले कि साक्षात् आपकी और राजा जनकजीकी उपस्थितिमें मेरा कुछ कहना सर्वथा अनुचित है; जैसी आपकी और मिथिलापतिकी आज्ञा होगी मुझे आपकी सौगंद है कि मैं वही शिरपर धारणकर करूँगा। श्रीरामजीका यह शपथ सुनकर गुरु वशिष्ठजी और राजा जनकजी सकुचा गये, किसीसे कुछ उत्तर देते न बना और सब भरतजीकी ओर देखने लगे कि यही कुछ कहें।

भरतजी यह दशा सबकी देख सबको हाथ जोड़ प्रणाम करते हुए गद्गद वचन इस प्रकार बोले कि हे स्वामी! मैं क्या करूँ! आप समर्थ, शरणागतका पालन करनेवाले, गुणग्राहक और सब अवगुण और पापोंका नाश करनेवाले हैं। हे महाराज! आप-सरीखे स्वामी आप ही हैं और स्वामीकी शपथ लेकर कहता हूँ कि मेरे-जैसा अयोग्य भी मैं ही हूँ। मैंने इतनी बड़ी ढीठता की कि आपकी आज्ञा बिना लिये ही यहाँ चला आया, किन्तु आपने इसपर भी मेरा दुलार रक्खा। आपकी आज्ञा मेटनेवाला संसारमें कहीं भी कोई नहीं हो सकता। इसलिये आपकी आज्ञा पालनेसे बढ़कर और कोई सेवा नहीं हो सकती—वही आज्ञारूप प्रसाद मुझ सेवकको मिले। भरतजी यह कहकर प्रेमके वश विवश हो गये। शरीरसे पुलकायमान और आँखोंमें आँसू भरे हुए उन्होंने अकुलाकर श्रीरामजीके पैर पकड़ लिये, उस स्नेहकी दशाका वर्णन असम्भव है।

कृपासिन्धु भगवान् श्रीरामजीने उनका बड़ा भारी आदर-सम्मान करके उनका हाथ पकड़कर अपने पास बैठा लिया और भरतजीकी विपत्ति और प्रेम देख सारी सभा रामजीसमेत प्रेमवश शिथिल हो गयी।

इस अवसरका बखान करते हुए मानसकार श्रीगोस्वामीजी वर्णन करते हैं कि श्रीभरतजीकी नित्यकी प्रीति, नम्रता और बड़ाई सुननेमें परम सुख देनेवाली और वर्णन करनेमें महा कठिन है। जिनकी भक्तिके लवलेशको देखकर सब मुनीश्वर, गुरु वशिष्ठ और राजा जनक-जैसे ज्ञानी भी प्रेममें मग्न हो गये उन भरतजीकी महिमाका कोई कैसे वर्णन करे। गोस्वामीजी कहते हैं कि उन्हींकी भक्तिके प्रभावसे तो मेरे हृदयमें सुबुद्धि उत्पन्न हुई—

भरत बिमल जसु बिमल बिधु सुमति चकोर कुमारि।
उदित बिमल जन हृदय नभ एकटक रही निहारि॥

श्रीभरतजीकी ऐसी प्रार्थना सुनकर श्रीरामजीके मुखारविन्दसे मानसकार, देखिये, क्या अमृतमय वचन श्रीभरतजीकी महिमामें कहलाते हैं—

तात भरत तुम्ह धरम धुरीना। लोक बेद बिद परम प्रबीना॥
करम बचन मानस बिमल तुम्ह समान तुम्ह तात।
गुर समाज लघु बंधु गुन कुसमयँ किमि कहि जात॥

फिर श्रीरामजी ऐसी अपूर्व प्रशंसा करके कहते हैं—

जानहु तात तरनि कुल रीती। सत्यसंध पितु कीरति प्रीती॥
समउ समाजु लाज गुरजन की। उदासीन हित अनहित मनकी॥
तुम्हहि बिदित सबही कर करमू। आपन मोर परम हित धरमू॥
मोहि सब भाँति भरोस तुम्हारा। तदपि कहउँ अवसर अनुसारा॥

× × ×

राजकाज सब लाज पति धरम धरनि धन धाम।
गुर प्रभाउ पालिहि सबहि भल होइहि परिनाम॥

सहित समाज तुम्हार हमारा। घर बन गुर प्रसाद रखवारा॥
मातु पिता गुर स्वामि निदेसू। सकल धरम धरनीधर सेसू॥
सो तुम्ह करहु करावहु मोहू। तात तरनि कुल पालक होहू॥

× × × ×

सो बिचारि सहि संकटु भारी। करहु प्रजा परिवारु सुखारी॥
बाँटी बिपति सबहिं मोहि भाई। तुम्हहि अवधि भरि बड़ि कठिनाई॥
जानि तुम्हहि मृदु कहउँ कठोरा। कुसमयँ तात न अनुचित मोरा॥
होहिं कुठायँ सुबंधु सहाए। ओड़िअहिं हाथ असनिहु के घाए॥

स्वामिभक्त श्रीभरतजीने परम सन्तोषपूर्वक श्रीस्वामी रामजीकी आज्ञाको शिरोधार्य कर लिया । श्रीमानसकार कहते हैं—

धन्य भरत जय राम गोसाईं । कहत देव हरषित बरिआईं ॥
मुनि मिथिलेस सभाँ सब काहू । भरत बचन सुनि भयउ उछाहू ॥
भरत राम गुन ग्राम सनेहू । पुलकि प्रसंसत राउ बिदेहू ॥
सेवक स्वामि सुभाउ सुहावन । नेमु पेमु अति पावन पावन ॥

× × × ×

एक कहहिं रघुबीर बड़ाई । एक सराहत भरत भलाई ॥

फिर श्रीरामजीकी आज्ञा लेकर अभिषेकके लिये साथ लाया हुआ सब तीर्थोंका जल अगाध पवित्र कूपमें डालकर, पाँच दिनमें चित्रकूटके सब तीर्थस्थल देखकर श्रीभरतजी रामजीसे विदा माँगते हैं और कोई अवलम्ब माँगते हैं कि जिसके भरोसे वे चौदह वर्षकी अवधि पूरी कर सकें । श्रीरामजी विवश होकर अपनी खड़ाऊँ उन्हें देते हैं, जिन्हें भरतजी अपने सिरपर रख लेते हैं । भरतजी यह खड़ाऊँका सहारा पाकर ऐसे प्रसन्न होते हैं मानो उन्होंने श्रीरामजी और सीताजीको साथ ले लिया हो ।

जब विदा होते समय श्रीरामजी प्यारे भरतजीसे भुजा भरकर मिलते और छातीसे लगाते हैं तो उस स्नेहका रस वर्णन नहीं हो सकता । श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—

तन मन बचन उमग अनुरागा । धीर धुरंधर धीरजु त्यागा ॥

× × × ×

मुनि गन गुर धुर धीर जनक से । ग्यान अनल मन कसें कनक से ॥
जे बिरंचि निरलेप उपाए । पदुम पत्र जिमि जग जल जाए ॥
तेउ बिलोकि रघुबर भरत प्रीति अनूप अपार ।
भए मगन मन तन बचन सहित बिराग बिचार ॥
जहाँ जनक गुर गति मति भोरी । प्राकृत प्रीति कहत बड़ि खोरी ॥

अब भरतजीने अयोध्यापुरीमें आकर प्रजागण आदि सबको बुलाकर, सबका समाधान कर उनको अच्छी भाँतिसे बसाया और सब माताओंकी सेवा शत्रुघ्नजीको सौंपकर आप गुरु वशिष्ठजीके घरपर गये । और उनकी आज्ञा पाकर—

मुनि सिख पाइ असीस बड़ि गनक बोलि दिनु साधि ।
सिंघासन प्रभु पादुका बैठारे निरुपाधि ॥

और फिर क्या किया—

राम मातु गुर पद सिरु नाई । प्रभु पद पीठ रजायसु पाई ॥
नंदिगावँ करि परन कुटीरा । कीन्ह निवासु धरम धुर धीरा ॥
जटा जूट सिर मुनि पट धारी । महि खनि कुस साँथरी सँवारी ॥
असन बसन बासन ब्रत नेमा । करत कठिन रिषि धरम सप्रेमा ॥
भूषन बसन भोग सुख भूरी । मन तन बचन तजे तिन तूरी ॥
अवध राजु सुरराजु सिहाई । दसरथ धनु सुनि धनदु लजाई ॥
तेहिं पुर बसत भरत बिनु रागा । चंचरीक जिमि चंपक बागा ॥
रमा बिलासु राम अनुरागी । तजत बमन जिमि जन बड़भागी ॥

× × × ×

देह दिनहुँ दिन दूबरि होई । घटइ तेजु बलु मुख छबि सोई ॥
नित नव राम प्रेम पनु पीना । बढ़त धरम दलु मनु न मलीना ॥

× × × ×

भरत रहनि समुझनि करतूती । भगति बिरति गुन बिमल बिभूती ॥
बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं । सेस गनेस गिरा गमु नाहीं ॥
नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदयँ समाति ।
मागि मागि आयसु करत राज काज बहु भाँति ॥
पुलक गात हियँ सिय रघुबीरू । जीह नामु जप लोचन नीरू ॥
लखन राम सिय कानन बसहीं । भरतु भवन बसि तप तनु कसहीं ॥
दोउ दिसि समुझि कहत सबु लोगू । सब बिधि भरत सराहन जोगू ॥
मुनि ब्रत नेम साधु सकुचाहीं । देखि दसा मुनिराज लजाहीं ॥
परम पुनीत भरत आचरनू । मधुर मंजु मुद मंगल करनू ॥
हरन कठिन कलि कलुष कलेसू । महामोह निसि दलन दिनेसू ॥
जन रंजन भंजन भव भारू । राम सनेह सुधाकर सारू ॥

इस प्रसंगके अन्तमें श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी यह छन्द लिखकर अपनी भक्ति और भरतजीकी महिमाका परिचय देकर अयोध्याकाण्डको समाप्त करते हैं—

सिय राम प्रेम पियूष पूरन होत जनमु न भरत को ।
मुनि मन अगम जम नियम सम दम बिषम ब्रत आचरत को ॥
दुख दाह दारिद दंभ दूषन सुजस मिस अपहरत को ।
कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को ॥

श्रीभरतजीकी अगाध महिमाका कोई पारावार नहीं है । जब हनुमानजी संजीवनबूटीका पर्वत लिये भरतजीके दर्शन करते हैं और फिर श्रीरामचन्द्रजीके कुशलसे लौटनेका समाचार लेकर भरतजीकी दशा देखते हैं और फिर भरतजी विमानसे उतरते हुए रामजीसे जब मिलते हैं, इन सभी प्रसंगोंमें उनकी महिमा प्रकट है । पाठक इन प्रसंगोंका स्वयं पाठ करें । अब मैं यहीं अपनी लेखनीको विश्राम देता हूँ और उतने समयको धन्य मानता हूँ जो भरतजीके परम पुनीत आचरणकी महिमाके वर्णनमें व्यय हुआ और प्रार्थना करता हूँ कि जन्म-जन्मान्तरमें मुझ दीन-मलीनको भी श्रीभरतजीकी प्रेम-भक्तिका लवलेशमात्र प्राप्त हो ।

नाम-जपकी साधना

(लेखक—स्वामीजी श्रीतपस्यानन्दजी महाराज)

जप किसे कहते हैं ?

'जप' का धात्वर्थ है हृदयमें भगवान्‌का नाम लेना। जपमें किसी मन्त्रको या नामको उसके अर्थकी भावना करते हुए बारंबार भीतर-ही-भीतर दुहराया जाता है। स्फुट वाणीसे कुछ नहीं कहा जाता। जपका वास्तविक स्वरूप यही है। परन्तु व्यवहारमें इसके दो रूप और भी प्रचलित हो गये हैं, अधिकार-भेदसे। मन्त्र या नामका उच्चारण जीभ और होठके द्वारा इस प्रकार भी किया जा सकता है जिसमें जप करनेवाला उसे सुनता रहे, और कोई न सुने। जप करनेकी एक विधि यह भी है कि वाणीद्वारा स्पष्टरूपसे नाम या मन्त्रका उच्चारण किया जाय, जिसमें और लोग भी उसे सुन सकें। परन्तु जपमें और प्रार्थना-स्तुतिमें बड़ा अन्तर है। जपमें मन्त्र या नाम छोटा-सा होता है और उसीकी लगातार आवृत्ति की जाती है तथा यह कार्य व्यक्तिगतरूपसे ही होता है, सामूहिकरूपमें नहीं। जपमें मुख्य बात नाम या मन्त्रकी लगातार आवृत्ति ही है, इसीलिये प्रणाली यह है कि अँगुलियों-पर या मालापर जपकी संख्या रक्खी जाती है।

संसारके प्रायः सभी मुख्य धर्मोंमें जपकी प्रथा प्रधान एवं व्यापक रूपसे चली आयी है। जो धर्म जितने गहरे तथा गम्भीर हैं, उनमें जपकी महत्ता उतनी ही अधिक स्वीकार की गयी है। प्रत्येक आस्तिक रोमन कैथलिक मालाका व्यवहार करता है। यही बात मुसलमानोंके साथ है। वे भी तसबीह (माला) रखते और जप करते हैं। बौद्ध तथा हिन्दूधर्ममें तो, जहाँ धार्मिक क्रिया-कलापका इतना विस्तार है, प्रायः प्रत्येक साधनामें जप एक मुख्य अंग हो गया है। इस प्रकार यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि संसारके प्रायः सभी धर्मोंने एकमतसे आध्यात्मिक उत्थान एवं विकासके लिये जपकी उपयोगिताको स्वीकार किया है और उसे बहुत ऊँचा स्थान दिया है।

जपका मनोवैज्ञानिक रहस्य

यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं कि साधनरूपमें जपका महत्त्व इसी कारण इतना अधिक है कि इसके द्वारा चित्तकी वृत्तियोंको एकाग्र कर ध्येय वस्तुपर ठहरानेमें बड़ी मदद मिलती है। चित्तको एकाग्र करनेकी इस क्रियामें दो बातें होती हैं। पहली बात तो यह होती है कि साधकको अपना चित्त समस्त बाह्य पदार्थोंसे हटाना पड़ता है और फिर जब चारों ओरसे हटकर उसकी चित्तवृत्तियाँ एकाग्र हो जाती हैं तो साधक उन्हींको अपना लक्ष्य बनाकर इस प्रकार चेतनाके रहस्यको समझनेकी चेष्टा करता है। जपके मनोवैज्ञानिक महत्त्वको ठीक-ठीक हृदयङ्गम करनेके लिये यह आवश्यक है कि साधक ऊपर बतायी हुई प्रक्रियाकी विशिष्ट कठिनाइयोंपर ध्यान दे। बाहरके किसी पदार्थपर चित्तको एकाग्र करना आसान है। यदि मनुष्यकी ज्ञातव्य विषयमें थोड़ी भी रुचि है तो उस विषयकी स्थिरता तथा उसका निश्चित आकार-प्रकार स्वयं ही उसके मनको भागनेसे रोककर उसीपर स्थिर करनेमें सहायक होगा। इसके अतिरिक्त जब हम किसी बाह्य पदार्थपर चित्तको जमाते हैं तो मन उतने समयके लिये अपने स्वरूपका लक्ष्य छोड़ देता है और अपनेको एक बाह्य एवं स्थूल साँचेमें ढालकर तदाकार बन जाता है।

परन्तु बाह्य पदार्थोंसे चित्तको हटाकर जब हम अपने भीतर ले जाकर उसे टिकाना चाहते हैं तो उस

समय बड़ी कठिनाईका सामना करना पड़ता है; क्योंकि भीतरमें न तो वैसी कोई मूर्ति ही है, न आकृति ही, जहाँ चित्तको ठहरनेका आधार मिले और जहाँसे चित्त भाग न सके । साधक जैसे ही अपनी इन्द्रियोंको बाह्य वस्तुओंसे हटाकर मनको ढीला छोड़ देता है तथा निर्विषय करनेकी चेष्टा करता है—जो मनको अन्तर्मुखी करनेकी प्रथम सीढ़ियाँ हैं—तो उस समय मनकी तरलता इतने विकटरूपमें सामने आने लगती है कि साधक उसे देखकर घबड़ा उठता है । ऐसी अवस्थामें होता क्या है कि साधकके चित्त-रूपी पर्देपर ऐसे-ऐसे चित्र, ऐसी-ऐसी स्मृतियाँ, जो किसी बाह्य वस्तुके चिन्तनमें उसे कभी नहीं सतातीं, सिनेमाकी फिल्मकी तरह बड़ी तेजीसे दौड़ने लगती हैं, और उसका चित्त, जिसने अभी आत्म-निरीक्षणका अभ्यास प्रारम्भ किया होता है, उधरसे बलात् खींचा जाकर नाना प्रकारकी अतीत स्मृतियों एवं चित्र-विचित्र कल्पनाओंके जालमें फँस जाता है । फिर मन समग्ररूपसे चित्र बनानेके काममें ही लग जाता है । मनकी ऐसी ही अवस्थाको लक्ष्यमें रखते हुए अर्जुनने भगवान्से कहा था—

> चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
> तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥

'हे कृष्ण ! यह मन बड़ा चञ्चल और प्रमथन स्वभाववाला है, बड़ा ही दृढ़ और बलवान् है । इसलिये उसको वशमें करना मैं वायुको वशमें करनेकी भाँति अति दुष्कर मानता हूँ ।'

ऐसी स्थितिमें यदि साधक आत्मनिरीक्षण तथा ध्यानका अभ्यास करना चाहे तो उसके लिये केवल दो ही मार्ग रह जाते हैं । एक तो यह कि उसका मन अपने ही संकल्प-विकल्पका द्रष्टा बनकर अपनी ही लीलाओंको देखते रहनेका अभ्यास करे, अर्थात् अपने भीतर जो चित्र, संकल्प या मूर्तियाँ खड़ी होती हों उन्हें तटस्थ होकर केवल देखा भर करे । परन्तु इसमें बड़ा खतरा यह है कि द्रष्टा अपने स्थानसे भ्रष्ट होकर दृश्यमें ही जा मिले । क्योंकि मनके रचे हुए चित्रों और संकल्प-विकल्पोंमें इतना मादक आकर्षण रहता है कि उन्हें अलगसे देखते रहना और उनमें लुभा न जाना कठिन है । अथवा वह एक थके हुए संतरीकी तरह निद्रासे अभिभूत होकर सो जायगा । ये ही दो खतरे इस साधनामें हैं । यदि कोई साधक पूरी सावधानीके साथ इन दोनों प्रत्यवायोंको जीत सके और अन्ततक दर्शककी भाँति तटस्थ बना रहे तो मनकी उछल-कूद शीघ्र ही बंद हो जायगी और ध्यानकी प्रगाढ़ स्थिति शीघ्र ही प्राप्त हो जायगी ।

परन्तु जो व्यक्ति ध्यानकी इस प्रक्रियाको कठिन अथवा असम्भव मानता है, उसे नाम-जपके द्वारा ही चित्तकी एकाग्रता तथा ध्यानका अभ्यास करना होगा । यहाँ हम नामकी रसात्मक अनुभूतिकी चर्चा न कर केवल मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे ही नामकी साधनापर विचार करेंगे, जिसमें यह प्रकट हो जाय कि नाम-जपकी साधनासे किस प्रकार आत्म-निरीक्षण एवं मनकी सतर्कतामें सहायता मिलती है । सबसे पहली और मुख्य बात तो यह है कि अर्थकी भावनाके साथ जब नाम-जप किया जाता है तो चित्तकी गतिके लिये एक निश्चित मार्ग तैयार हो जाता है और टिकावके लिये उसे एक सहारा मिल जाता है, जिससे मन इधर-उधर भागने अथवा नाना प्रकारके संकल्प-विकल्प करनेसे बचा रहता है । घोड़ेको जब सधाते हैं तो उसकी आँखोंके दोनों ओर आड़ कर देते हैं, जिसमें वह केवल सामने देख पाता है, इधर-उधर नहीं ताक सकता । ठीक इसी प्रकार मनकी सारी गतिको एक ही दिशामें मोड़कर उसे साधा जाता है । इसके अतिरिक्त यदि मन अपनी ध्येय वस्तुसे हटकर

इधर-उधर भटकने भी लगे तो लगातार नाम-जप करते रहनेसे किसी-न-किसी क्षण उसकी स्मृति होगी ही। उस समय मनको एक झटका-सा लगेगा और फिर वह अपने निश्चित मार्गपर चलने लगेगा, जिसपर हम उसे चलाना चाहते हैं। इस प्रकार मनकी लगामको बार-बार खींचनेसे उसकी चञ्चलता धीरे-धीरे कम हो जाती है और वह ठीक रास्तेपर चलने लगता है। आत्म-निरोक्षणके अभ्याससे भी, जैसा कि हम पहले कह आये हैं, पीछे यही स्थिति प्राप्त हो जाती है।

परन्तु जपमें जो मनकी क्रिया होती है, उसपर अधिक गहरा विचार करनेपर यह पता चलेगा कि इसमें अत्यधिक सावचेती तथा सतर्कताकी आवश्यकता होती है, क्योंकि एक ही नाम अथवा मंत्रकी बार-बार आवृत्ति करनेपर चित्तमें जो चित्र या मूर्ति बनती है उसपर चित्तको जमाये रखना खिलवाड़ नहीं है। मंत्रकी आवृत्तिसे धीरे-धीरे चित्तमें जो एक भावधारा उत्पन्न होती है, उसमें दो प्रत्यवाय, दो बाधाएँ ऐसी विकट होती हैं जिनके कारण उस भावधाराके छिन्न-भिन्न होनेका भय रहता है। पहली कठिनाई तो यह होती है कि चित्तमें संकल्प-विकल्पोंका उठना बंद नहीं होता—बार-बार वह मनमाने दृश्य ला-लाकर उपस्थित करता है, जिससे उस क्षीण भावधाराके टूटने तथा मार्गसे हट जानेका भय रहता है। दूसरी बाधा यह है कि मन कभी भी अपनी जप-साधनासे विरत होकर आलस्य और नींदका शिकार हो जा सकता है, जिससे कि वह भावधारा कठोर होकर जड़ताका एक ठोस पुंज बन जा सकती है। दोनों ही अवस्थाओंमें चित्तकी निर्विषयता एवं एकाग्रता टूट जाती है। इसलिये जपके ठीक तरहसे चलानेका अर्थ केवल इतना ही नहीं है कि जिस भावकी आप आवृत्ति करते हैं, उसीपर चित्तको एकाग्र करनेकी चेष्टा करें; परन्तु साथ ही इस बातकी भी खूब सावधानी रक्खें कि हृदयका रस पूर्णतः उसी ओर प्रवाहित होता रहे और भीतर इतना होश बना रहे कि जिसमें मन थककर या मार्ग छोड़कर नींदकी शरण न ले ले, तन्द्रामें लीन न हो जाय।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मनको द्रष्टा बनाने तथा मनुष्यके क्षुद्र 'अहं' के पीछे रहनेवाली सत्य वस्तुके स्वरूपका अनुसन्धान करनेके अभ्यासके लिये जिन-जिन बातोंकी आवश्यकता है, वे सब बातें हमें जपके साधनमें प्राप्त होती हैं।

भक्तिके अंगरूपमें जपका साधन

जपकी साधनाके महत्त्वको भलीभाँति हृदयङ्गम करनेके लिये उसपर मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे ही विचार करना पर्याप्त नहीं है। उसके साथ ही यह भी जानना चाहिये कि जपका भक्तिके साथ क्या सम्बन्ध है। कारण कि जिसकी हम बार-बार आवृत्ति एवं चिन्तन करते हैं, वह कोई सामान्य शब्द नहीं है—वह तो भगवान्‌का पावन नाम है। और यह स्मरण रहे कि भगवान्‌के नामकी शक्ति अपार है। भागवत-का वचन है कि शास्त्रोंमें जिन-जिन प्रायश्चित्तोंका विधान पाया जाता है, उनसे खास-खास पापोंका ही मार्जन होता है। परन्तु नामकी साधनासे तो पापकी वृत्ति ही उच्छिन्न हो जाती है—जड़-मूलसे। इसी कारण नामकी साधना सर्वोपरि एवं सबसे निराली है। नामकी अतुल शक्तिका निदर्शन पुराणकी निम्नलिखित आख्यायिकामें हुआ है। एक बार भगवान् श्रीकृष्ण तुलापर बैठे और सत्यभामाजीने उन्हें तौलनेके लिये सुवर्ण और रत्नोंकी बहुत बड़ी ढेरी तराजूके दूसरे पलड़ेपर रक्खी। परन्तु भगवान् जिस पलड़ेमें बैठे थे, वह जमीनसे उठातक नहीं। तब रुक्मिणीजीने तुलसीके एक पत्तेपर भगवान्‌का नाम

लिखकर उसे दूसरे पलड़ेपर रक्खा । ऐसा करते ही भगवान्‌वाला पलड़ा एकदम ऊपर उठ गया । जो साधक नामकी इस अपार महिमाको समझकर पूर्ण श्रद्धा एवं विश्वासके साथ नाम-साधनामें प्रवृत्त होता है, वह वस्तुतः एक ऐसी शक्ति प्राप्त कर रहा है जो उसके सम्पूर्ण अस्तित्वको आमूलतः पलट देगी और उसका जीवन कुछ और ही हो जायगा । क्योंकि भगवान्‌का नाम भगवान्‌से भिन्न नहीं है—किम्बहुना नाम तो भगवान्‌की अपेक्षा भी अधिक महिमामय है, अधिक तेजस्वी है, जैसा कि ऊपरकी कथासे स्पष्ट हो जाता है । नाम-साधनाके आरम्भमें साधककी इच्छाएँ और वासनाएँ अपनी हिलोरमें उसके मनको एक बार भले ही चंचल कर दें; परन्तु यदि साधक अपनी श्रद्धा और आस्थामें अडिग रहा, स्खलित नहीं हुआ तो यह नाम ही उसके समस्त योग-क्षेमका वहन करने लगता है । और उस समय साधककी इच्छाएँ तथा वासनाएँ वैसे ही दब जाती हैं, जैसे पत्थरसे दबा देनेपर कागज । इतना ही नहीं, नामकी निरंतर साधनासे हृदयमें भगवान्‌की प्रीति उत्पन्न होती है, उनके चरणोंमें अपने आपको लुटा देनेकी साध जगती है, और मन शीघ्र ही अपने इष्टके स्वरूपमें लीन हो जाता है, जो जीवनका सच्चा स्वरूप है । अपने भीतर ही अपनी खोयी हुई 'निधि' के दर्शन हो जाते हैं । अथवा नाम-जपका साधक नामके द्वारा भगवान्‌को पुकार सकता है कि प्रभु उसके अन्तःपुरमें पधारकर उसके हृदयरूपी सिंहासन-पर विराजमान हों । वह नामके द्वारा अपनी हृदय-गुफामें सोयी हुई शक्तिको जगा सकता है । बार-बारकी आतुर पुकार उस दिव्य शक्तिको जगा देती है और जब वह शक्ति जग जाती है तो मनुष्यकी पाशविक चेतना धीरे-धीरे दिव्य ईश्वरीय चेतनामें परिणत हो जाती है ।

इस प्रकार धीरे-धीरे किन्तु निश्चितरूपसे नाम-जपके द्वारा मनुष्यके अन्तःकरणमें एक अद्भुत एवं अकल्पित परिवर्तन हो जाता है—मनुष्य कुछ-का-कुछ हो जाता है, पशुसे देवता बन जाता है । नाम-जप किस प्रकार मनुष्यको उस अज्ञात एवं सुदूर लक्ष्यतक पहुँचा देता है और वह भी ऐसे मार्गोंसे जिनकी सत्तापर ही हमें विश्वास नहीं होता जबतक हम उनपर चलकर उनको जाँच नहीं लेते, इसे श्रीरामकृष्ण परमहंसने बड़े ही सुन्दर ढंगसे समझाया है । वे कहते हैं—'जपका अर्थ है एकान्तमें बैठकर, मन-ही-मन भगवान्‌का नाम लेना । यदि श्रद्धा और भक्तिके साथ नाम लिया जाय और मन-प्राणको उसीमें लीन करनेकी चेष्टा होती रहे तो निश्चय ही भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है । उनका दर्शन, स्पर्श, सम्भाषण सब कुछ मिल सकता है । मान लो, एक लकड़ीका बहुत बड़ा शहतीर गंगाजीके अंदर डाल दिया गया है और उसका एक छोर सींकरसे बाँधकर उस सींकरका दूसरा छोर किनारेपर एक मजबूत खूँटेसे बाँध दिया गया है । यदि तुम सींकर पकड़े-पकड़े चले जाओ तो तुम गंगामें डुबकी लगा सकते हो और उसीके सहारे-सहारे उस शहतीरतक पहुँच सकते हो । इसी प्रकार यदि तुम नाम-जपकी साधनामें पूर्णतया लग जाओ, तल्लीन हो जाओ, तो यह निश्चय मानो कि तुम एक-न-एक दिन भगवान्‌को अवश्य-अवश्य प्राप्त कर लोगे ।'

अर्थपर लक्ष्य रखते हुए जपने और यों ही जपनेमें भेद

नाम-जपके साधकोंके लिये एक और बहुत महत्त्वकी बात कहनी रह गयी है । क्या यों ही—बिना समझे-बूझे नाम जपते रहनेमें भी कोई लाभ है या नाम-जपसे लाभ उठानेके लिये उसके अर्थ और भावपर लक्ष्य रखना आवश्यक है ? बुद्धि तो निस्सन्देह

यही निर्णय देगी कि जहाँतक हो सके सबको अर्थपर दृष्टि रखते हुए ही नाम-जप करना चाहिये । परन्तु प्रश्न पेचीदा है, इसपर कुछ अधिक गौर करनेकी आवश्यकता है । कई ऐसे विश्वासके धनी हो गये हैं, जिनकी यही मान्यता है कि चाहे जैसे भी हो भगवान्‌का नाम लिये जाओ, नाममें स्वयं इतनी शक्ति है कि चाहे तुम उसके अर्थपर दृष्टि रक्खो या न रक्खो, नाम अपना काम स्वयं कर लेगा । वे एक दृष्टान्त देकर अपनी बातको पुष्ट करते हैं, कहते हैं कि पानी पीते ही प्यास बुझ जाती है—चाहे तुम जानो या न जानो कि पानीमें कौन-कौनसे गुण हैं । इस दृष्टान्तमें दोष दिखलानेकी आवश्यकता नहीं है । ऐसा माननेवालोंकी नीयत और विश्वास तो अवश्य ही स्तुत्य हैं । हमें यह माननेमें भी कोई आपत्ति नहीं है कि न जपनेकी अपेक्षा किसी प्रकार भी नाम जपना बहुत ही लाभप्रद और कल्याणकारी है । परन्तु इस सिद्धान्तमें एक बहुत बड़ी कचाई है, जिसे प्रत्येक साधकको समझ लेना चाहिये । यदि साधक ऐसा मान बैठे कि यों ही नाम जपते जाना चाहिये तो उसके आध्यात्मिक जीवनमें एक अजीब शिथिलता और सुस्ती आ जायगी । उसकी सारी भक्ति एक खानापूरीके रूपमें हो जायगी—बस, एक बँधी-बँधायी प्रणाली तथा परिपाटीके भीतर उसकी साधना घुटती रहेगी । साधनामें एक जीवित-जागृत विश्वास तथा सक्रिय चेष्टाका अभाव हो जायगा और रह जायगा केवल एक निश्चेष्ट पुण्य कमानेका भाव, जिसमें हृदय-की सारी शंकाओंपर पत्थर सरकाकर केवल पुण्य लूटनेकी ही लालसा मुख्य हो जाती है । संक्षेपमें कहना चाहें तो हम यों कह सकते हैं कि ऐसी भावनाका पोषण कर मनुष्य 'सुभीतेका धर्म' (comfortable religion) अंगीकार कर लेता है ।

जब यों ही, बिना अर्थपर लक्ष्य रखते हुए, नाम-जप करनेमें उतना लाभ नहीं है तो फिर नामके घटक वर्णोंके रहस्यपूर्ण अर्थ करना भी व्यर्थ-सा ही है, हानिकर भले ही न हो । इस प्रकार बारीकियाँ निकालनेसे उन लोगोंकी श्रद्धा और रुचि अलबत्ता जाग सकती है, जो कठोर दार्शनिक हैं और जिन्हें ऐसी ही बातें रुचिकर होती हैं जिनमें कुछ रहस्य अथवा अलौकिकताकी गन्ध आती हो । परन्तु एक सच्चे भक्तके लिये तो यह धारणा ही यथेष्ट है कि जिस नामका वह जप कर रहा है, वह भगवान्‌का है—अतएव दिव्य है; इस धारणासे ही उसके भीतर प्रभु-प्रेमकी ज्वाला जाग उठेगी और उसका चित्त प्रभुमें लीन हो जायगा । नाम-जपमें मुख्य बात यह नहीं है कि आप भगवान्‌के नाम अथवा मन्त्रमें अर्थकी बारीक-से-बारीक खूबियाँ—सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भाव निकाल सकते हैं या नहीं । मुख्य बात तो आपके भावकी शुद्धता एवं सबलता है, जिससे कि आप नाम-जपके साथ भगवान्‌का सम्बन्ध जोड़ सकें । यदि चित्तपर नाम-जपसे सम्बन्धित तथ्यों और अनेक प्रकारके अर्थोंका बोझा न हो तथा उन तथ्यों और अर्थोंको ठीक क्रमसे तथा परस्पर सम्बन्धके साथ स्मरण रखनेका फालतू काम जिम्मे न हो तो उपर्युक्त सिद्धान्तके अनुसार नाम-जप करनेसे अधिक सफलता मिल सकती है ।

इस सत्यका निदर्शन निम्नलिखित इतिहाससे भलीभाँति हो जाता है । महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव दक्षिण भारतमें तीर्थयात्राके लिये निकले थे । मार्गमें उन्हें संस्कृतके एक प्रकाण्ड पण्डित मिले, जो गीतापर संस्कृतमें पाण्डित्यपूर्ण प्रवचन कर रहे थे । श्रोताओंमें एक ऐसे सज्जन भी थे जो संस्कृतसे सर्वथा अनभिज्ञ थे। परन्तु फिर भी प्रवचन सुनते समय उनकी आँखोंसे आनन्दाश्रुओंका अजस्र प्रवाह चल रहा था । उनसे पूछा गया कि आप प्रवचन समझ तो कुछ भी नहीं रहे हैं, फिर इतना रो क्यों रहे हैं ? वे बोले—भाई, मैं तो गीता सुनते समय यही देख रहा हूँ कि रथमें बैठे हुए अर्जुनको भगवान् श्रीकृष्ण उपदेश कर रहे हैं । ऐसी प्रगाढ भक्ति और अटूट विश्वास था उनका गीताके भगवद्वाणी होनेमें—उनके लिये इतना

ही पर्याप्त था और इतनेहीसे उन्हें यह दिव्य अनुभव हो रहा था । गीताकी दार्शनिक एवं नैतिक बारीकियों-के विस्तृत विवेचनसे उन्हें क्या मतलब था ? भगवान्‌के नामके सम्बन्धमें भी बहुत अंशोंमें यही सिद्धान्त लागू है । नामका वास्तविक अर्थ उसीने समझा है, जिसकी नाममें श्रद्धा और प्रेम है, उसकी अमोघ एवं अतुलनीय दिव्य शक्तिमें विश्वास है; उसकी व्याकरणसम्बन्धी तथा दार्शनिक सूक्ष्मताओंसे परिचित होनेकी उतनी आवश्यकता नहीं ।

अब अन्तमें हम नामके सम्बन्धमें परमहंस रामकृष्ण-देवके विचारोंका उल्लेख कर इस लेखको समाप्त करेंगे। कोई धर्मोपदेशक परमहंसजीसे यह कह रहे थे कि भगवत्प्राप्तिके लिये 'नाम' लेना ही पर्याप्त है । इसके उत्तरमें परमहंसदेवने उनसे यह कहा—'हाँ महाराज, मैं भी यह मानता हूँ कि भगवान्‌के नामका अमित प्रभाव है, परन्तु क्या विना प्रेमके नाम लेना वस्तुतः 'नाम लेना' कहा जायगा ? आत्मामें प्रभुके लिये भूख जगनी चाहिये, एक तड़प होनी चाहिये । जीभसे तो राम-राम रट रहे हैं, परन्तु मन कञ्चन-कामिनीमें उलझ रहा है—ऐसे नाम लेनेसे क्या लाभ ? साँप झाड़नेवाले गारुड़ मन्त्र तो पढ़ते ही हैं, साथ ही गोंइठेका धुआँ भी करते हैं । खाली मन्त्र पढ़नेसे काम नहीं चलता । इसमें रत्तीभर भी शक नहीं कि भगवान्‌का नाम लेनेसे मनुष्यके सारे पाप धुल जाते हैं । परन्तु अभी एक क्षण नाम लिया और दूसरे ही क्षण अनेक प्रकारके पापाचरणोंमें लग गये—ऐसा नाम लेना किस काम-का ! ऐसे लोगोंमें इतनी हिम्मत नहीं होती, इतना मानसिक बल नहीं होता कि वे शपथ ले लें, व्रत ले लें कि जो कुछ हो गया सो तो हो गया, अब भविष्यमें पाप नहीं करेंगे, पापके रास्ते जायँगे ही नहीं । गंगामें स्नान करनेसे अवश्य ही सारे पाप धुल जाते हैं, परन्तु स्नान करके जो पुनः पापमें प्रवृत्त हो जाते हैं, उनकी क्या दवा है ? उनके लिये क्या उपाय है ? उनके सम्बन्धमें शास्त्र कहते हैं कि उनके पाप किनारेके वृक्षोंपर जाकर ताकमें बैठे रहते हैं और ऐसे मनुष्य जब स्नान करके उधरसे निकलते हैं, पाप उन वृक्षोंसे कूदकर पुनः उनके सिरोंपर जा बैठते हैं । इसलिये भाई ! सदा-सर्वदा भगवान्‌का नाम लो, हर घड़ी उसे पकड़े रहो; परन्तु साथ ही प्रभुसे यह प्रार्थना भी करते रहो कि हे प्रभो ! मुझे अपना प्रेम प्रदान करो, अपनी प्रीति दो । हे प्रभो ! कामिनी, काञ्चन और कीर्ति-जैसे नश्वर पदार्थोंमें जो मेरी आसक्ति है वह सब नष्ट हो जाय और हृदयके सम्पूर्ण अनुरागसे मैं तुम्हें ही भजूँ, तुम्हारा ही गुण गाऊँ !'

किन्तु भगवान्‌का नाम लेते ही हमारी पूर्ण अनुरक्ति भगवान्‌में नहीं हो जाती—इस कारण हमें निराश और हताश होकर नाम-जपकी साधनाको छोड़ नहीं देना चाहिये । क्योंकि कुछ ही दिनके अभ्यासके अनन्तर नामका चमत्कार दीखने लगेगा और हमारा उससे लाभ होगा, अवश्य होगा । यदि श्रद्धा है, सचाई है, लगन है तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि मनुष्य समय पाकर आध्यात्मिक जीवनकी उच्चतर सीढ़ियोंपर चढ़ेगा और उसका अधिकाधिक विकास होगा । इस सम्बन्धमें भी परमहंस रामकृष्णदेव, महाप्रभु चैतन्यदेवके वचनोंको उद्धृत करते हुए, कहते हैं—'भगवान्‌के नाममें अपार शक्ति है । तुरंत ही इससे लाभ भले ही न प्रतीत हो, परन्तु कुछ दिन नामकी साधना करते रहनेपर अवश्य ही लाभ होगा । मकानकी मुँडेरपर डाला हुआ बीज भी किसी समय जमीनपर पहुँच जाता है और जलके संसर्गको पाकर अङ्कुरित होता है तथा क्रमशः उसमें पत्ते, फूल और फल भी लगने लगते हैं; चाहे यह सब उस दिन ही क्यों न हो जब कि मकानमें दरारें पड़कर वह फट जाय और गिर पड़े। इसलिये धैर्यके साथ साधना करते रहना चाहिये—देर-सबेरका प्रश्न मनको क्यों मथे !'

ईश्वरका आकर्षण

(लेखक—दीवानबहादुर श्री के० एस० रामस्वामी शास्त्री)

चरम तत्त्वोंके सम्बन्धमें मानवीय विचार-धाराओं-पर जिस किसीने भी गम्भीरतापूर्वक विचार किया होगा, वह उनमें मिलनेवाली समानताओंसे आश्चर्य-चकित हुए विना नहीं रह सकता और वह इस सस्ते और आत्मवञ्चनापूर्ण विचारको भी स्वीकार नहीं कर सकता कि केवल पूर्वने अथवा केवल पश्चिमने ही आध्यात्मिक अनुभवोंका ठेका ले रक्खा है। किन्तु भारतकी विशेषता यह है कि यहाँ सर्वोच्च सत्योंका केवल ज्ञान ही नहीं था वरं वे कार्य और व्यवहारमें परिणत किये गये थे, सर्वसाधारणके जीवनमें उनका व्यापक प्रयोग किया गया था, अनेक व्यक्तियों वा महात्माओंने उनमें पूर्ण सिद्धि प्राप्त की थी और उनके द्वारा व्यावहारिक अनुभूतिकी प्रक्रियाओंका ज्ञान परम्परासे चलता रहा। ईश्वरसम्बन्धी साधनाओंका वैभवपूर्ण भाण्डार आज भी भारतमें प्राप्य है और अब भी यहाँ ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने इन साधनाओंमें अपना सम्पूर्ण जीवन लगा दिया है और ईश्वर-प्राप्ति तथा ईश्वर-साक्षात्कारके कार्यमें इन साधनाओंकी प्रामाणिकताका भी अनुभव किया है।

आध्यात्मिक अनुभूतियों एवं प्रेरणाओंके क्षेत्रमें तो सिद्ध-महात्माओंकी एक ही भाषा होती है। पूर्व और पश्चिम दोनोंकी सर्वोच्च विचार-धाराएँ आत्मा और परमात्माके अस्तित्व तथा अंशांशिभाव अथवा अभिन्नताके रूपमें दोनोंका निकट सम्बन्ध स्वीकार करती हैं। साकार भगवान्‌के साथ भी जीवके निकट सम्बन्धका अनुभव ज्ञानसहकृत भक्तिके द्वारा दोनों ही भूभागोंमें समानरूपसे किया गया है। आकारसे अतीत (जिसे भूलसे निराकार कहा गया है) ईश्वर-तत्त्वके साथ एकत्वके सम्बन्धकी अनुभूति भक्तिसे अनुप्राणित ज्ञानके द्वारा होती है। इसे हम सर्वोच्च दार्शनिक विचारका निष्कर्ष अथवा सार मान सकते हैं। इस प्रकारका विचार पूर्व और पश्चिम दोनोंके सर्वोच्च दार्शनिक धर्म और धार्मिक तत्त्वज्ञानमें मिलता है।

यद्यपि साधारण ईश्वरवाद (जो कतिपय गौण सैद्धान्तिक अन्तरोंके होते हुए भी सभी विश्वधर्मोंमें समानरूपसे विद्यमान है) ईश्वरको मानवीरूपमें या साकार मानता है, परन्तु पूर्व और पश्चिमकी सर्वोच्च विचार-धारा ईश्वरके आकारसे अतीत रूपकी अनुभूति करनेकी ओर ही प्रवृत्त हुई है। ईश्वर निर्विशेष, अनिर्वचनीय तथा नाम-रूपसे परे है; वह सम्पूर्ण गुणों एवं विशेषणोंसे अतीत है; वह एक है, नित्य है और अनन्त है। वह मन और वाणीसे अग्राह्य है। इसलिये उसे जाना नहीं जा सकता, न उसका वर्णन ही किया जा सकता है। उनकी केवल 'एकमेवाद्वितीयम्' के रूपमें अभेद-दृष्टिसे अनुभूति की जा सकती है। भगवान् शङ्कराचार्यके ग्रन्थोंमें ईश्वरका यह उदात्त स्वरूप हमें देखनेको मिलता है। एकहार्टके ग्रन्थोंमें भी हमें वही सुदूर ध्वनि सुनायी पड़ती है—'गुण और रूपका सारतत्त्व।' वह फिर कहता है—'उसके अंदर सिवा उसके और कुछ नहीं है।' ईश्वरके इस स्वरूप-के सम्बन्धमें विना सोचे-विचारे यह व्यङ्ग्यपूर्ण आक्षेप करना कि यह केवल निषेधात्मक स्वरूप है, सरासर मूर्खता है। यह तो निषेधका ही निषेधक है।

उपर्युक्त निरूपणसे ही जगत्, आत्मा और परमात्माकी अभिन्नताके रहस्यात्मक दार्शनिक सिद्धान्तकी

उत्पत्ति एवं घोषणा होती है। वेदका कथन है—'तत्त्वमसि' और 'अहं ब्रह्मास्मि।' ('वह परमात्मा तू ही है' एवं 'मैं ब्रह्म हूँ')। ईशोपनिषद्में एक बड़े मन्त्रके द्वारा इस सिद्धान्तको अद्भुत ढंगसे व्यक्त किया गया है। उपासक सूर्यदेवसे प्रार्थना करता है कि वे चकाचौंध उत्पन्न करनेवाली अपनी रश्मियोंको एकत्र करके दृष्टिसे ओझल कर दें। वह अनुभव करता है कि सूर्यके स्वर्णमय बिम्बने नित्य सत्यकी विभूतिको छिपा या ढक रक्खा है—('हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्')। जब चौंधियानेवाली रश्मियाँ नहीं चमकतीं और दृष्टिमें बाधा नहीं डालतीं तब श्रद्धालु सत्यका अन्वेषक क्या देखता है ? वह कहता है—'मैं तेरा अत्यन्त दिव्य एवं मङ्गलमय रूप देखता हूँ। सौरमण्डलके अन्दर रहनेवाला ईश्वर मैं ही हूँ।'

पश्चिममें एकहार्ट घोषित करता है—'ईश्वर वही है, जो मैं हूँ। ईश्वरके साथ अभिन्नताकी अनुभूति करनेके लिये जीवको ईश्वरकी समानताका भाव छोड़ देना चाहिये। सीधे-सादे लोग ईश्वरको इस रूपमें देखनेका स्वप्न देखते हैं मानो वह उनके सामने खड़ा हो और वे उसके सामने खड़े हों। ऐसी बात नहीं है। ईश्वर और हम ज्ञानकी दृष्टिसे एक हैं।' इसके साथ ही एकहार्टने साकार ईश्वरको भी स्वीकार किया है और उसे आत्माकी निधि कहकर वर्णन किया है। हमें ईश्वरको पकड़कर अपने वशमें कर लेना चाहिये, जिससे हम ईश्वरसे मिलकर एक हो जायँ और उसीमें रहें, उसीमें चलें-फिरें और उसीमें हमारा अस्तित्व हो। सूफियोंने इस अनुभूतिका उल्लासपूर्ण शब्दोंमें वर्णन किया है। वही ध्वनि हमें वर्ड्सवर्थ, शेली और इमर्सनकी रचनाओंमें भी मिलती है।

ईश्वरकी ऐसी रहस्यात्मक, घनिष्ठ और पूर्ण अनुभूति (जिसमें उसे एक, परिपूर्ण और अनन्तरूपमें अनुभव किया जाता है) एक दार्शनिक सिद्धान्तमात्र नहीं है, वरं वह कल्याण, मोक्ष तथा सर्वोच्च आनन्दकी स्थिति है। जो मनुष्य इस स्थितिको प्राप्त कर लेता है, वह मृत्युके चक्रसे छूट जाता है—('मृत्युमुखात्प्रमुच्यते')। यही वह सत्य है जिसका कठोपनिषद्में बड़ी बारीकीके साथ वर्णन किया गया है। ज्ञानके साधनसे अवगति (अनुभूति) होनी ही चाहिये। श्रीशङ्कराचार्यने बार-बार कहा है कि अवगति ही धर्म है—('अवगतिर्हि पुरुषार्थः अवगतिपर्यन्तं ज्ञानम्')। धर्मका अर्थ सम्प्रदाय, दुराग्रह, क्रियाकलाप अथवा पौराणिक गाथाएँ नहीं है, ईश्वरकी प्रत्यक्ष अनुभूति और अवगति ही धर्म है।

योगकी रहस्यानुभूति और उसकी सिद्धियाँ तथा भक्तिकी अवस्थामें भावोंका उद्रेक, ये ईश्वरके साथ एकता स्थापित करनेके दूसरे उपाय हैं। किन्तु इस विचारकी पराकाष्ठा हमें शाङ्करसिद्धान्तमें देखनेको मिलती है। ईश्वर जगत्का स्रष्टा है और सब जीवोंका स्वामी है। किन्तु यह सापेक्षिक दृष्टिसे ही है। परमार्थ अथवा तात्त्विक दृष्टिसे सृष्टि है ही नहीं और आत्मा स्वयं परमात्मा है। एकहार्ट कहता है—'जिन पदार्थोंकी सृष्टि हुई है, वे कुछ नहीं हैं।' शङ्करका कथन है कि माया अथवा अविद्या न तो सत् है, न असत् है, वरं अनिर्वचनीय है; वही जगत्का आविर्भाव करती है, जिसका तात्त्विक अथवा परमार्थ-दृष्टिसे अस्तित्व नहीं है, केवल सापेक्षिक दृष्टिसे ही अस्तित्व है। साम्प्रदायिक विचारके लोग चाहे जो कहें, आचार्य शङ्करने ईश्वरवाद और अद्वैतवादका अद्वितीय ढंगसे समन्वय किया है। वे बताते हैं कि प्रकृतिमें स्वयं गति नहीं हो सकती। सृष्टिको अपने प्रयोजनके अनुसार स्वयं ईश्वर ही

संचालित करते हैं। जगत्‌की व्यवस्था उन्हींका सङ्कल्प है। वे सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ हैं। वे जगत्‌के अभिन्ननिमित्तोपादानकारण हैं। इस तरह आत्मा, परमेश्वर और ब्रह्मकी एकता—नहीं, नहीं, अभिन्नतामें ही विश्वकी विचार-धाराकी पराकाष्ठा देखनेको मिलती है। यह अवगति केवल कल्पनाप्रियता ही नहीं है। यह आत्माकी अत्यन्त गहरी अनुभूति है। यह आध्यात्मिक गूढ़ अनुभव ससीममें असीमकी अनुभूति है। फिश्ते (Fichte) ने इसका सारतत्त्व निम्नाङ्कित शब्दोंमें व्यक्त किया है—

'अनन्त एवं अविनाशी तत्त्वके साथ एक हो जाने और उसमें मिल जानेकी भावना समस्त मर्त्यजीवनके मूलमें पायी जाती है। इस प्रकार अमरत्वकी दीन-हीन सन्तान अपने पैतृक गृहसे बिछुड़कर सदा-सर्वदा अपनी दिव्य पैतृक सम्पत्तिसे घिरी होनेपर भी भयवश उसे प्राप्त करनेकी हिम्मत नहीं करती और मरुभूमिमें अनिश्चितरूपसे इतस्ततः घूमती-फिरती है। अपने आश्रयस्थानोंके तेजीके साथ मिटते जानेके कारण उसे अन्तमें इस बातका स्मरण होता है कि मुझे अपने पिताके घरके अतिरिक्त और कहीं विश्राम नहीं मिल सकता·········उस एकमें विश्राम एवं निवास करना ही परमानन्द है। अनेकता और विभेदके चङ्गुलमें पड़कर छिन्न-भिन्न हो जाना ही दुःख है। इसलिये आनन्दमय वा मुक्त होनेकी शर्त यह है कि अनेकसे अपना प्रेम हटाकर पुनः एकमें ले जायँ।'

श्रीमानस-शंका-समाधान

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी)

शंका—श्रीरामचरितमानसके उत्तरकाण्डके आरम्भमें श्रीभरतजीने कहा है —

जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥

अर्थात् 'प्रभु श्रीरामचन्द्रजी सेवकका अवगुण कभी नहीं मानते। वे दीनबन्धु और अत्यन्त मृदुल स्वभावके हैं।' इस कथनसे क्या सिद्ध होता है? परमेश्वर श्रीरामचन्द्रजी न्यायी हैं अथवा अन्यायी? यदि न्यायी हैं तो कैसे?

समाधान—परमेश्वर श्रीरामचन्द्रजीमें अन्याय कहाँ! वे दीनबन्धु, अत्यन्त कोमल स्वभाववाले और करुणाके धाम होते हुए भी परम न्यायाधीश हैं। सबसे पहले 'जन' शब्दको समझ लेना चाहिये। अरण्यकाण्डमें महर्षि नारदजीके प्रति ये श्रीमुखके वाक्य हैं—

गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई।
तहँ राखइ जननी अरगाई॥
प्रौढ़ भएँ तेहि सुत पर माता।
प्रीति करइ नहिं पाछिलि बाता॥
मोरें प्रौढ़ तनय सम ग्यानी।
बालक सुत सम दास अमानी॥
जनहि मोर बल निज बल ताही।
दुहु कहँ काम क्रोध रिपु आही॥

यहाँ 'जन' शब्दका स्पष्टीकरण 'बालक सुत' अर्थात् दूध पीनेवाले बच्चेकी उपमा देकर किया गया है और सरकार श्रीरामचन्द्रजी अपनेको स्वयं माताके स्थानमें बतला रहे हैं—'करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालकहि राख महतारी॥' ऐसी स्थितिमें विचारनेकी बात है कि स्तन पीनेवाला बालक जब माताकी गोदसे उतरकर खेलते-खेलते साँप या अग्निको खिलौना समझता हुआ अज्ञानतावश उसे पकड़ने दौड़ता है, तब माता अपने उस बालकको दोषी मानकर उसका न्याय करने बैठती है अथवा

दौड़कर उसकी रक्षा करनेमें अपना दोष मानती है ! हाँ, जब वही नादान बच्चा सयाना हो जाता है, तब वह माता अपने उस 'प्रौढ़ तनय' पर प्रीति तो वैसे ही करती है, परन्तु 'नहिं पाछिलि बाता' अर्थात् पहलेके समान उसकी रखवारी करना छोड़ देती है और उसको सुधारनेके लिये उसकी जरा-जरा-सी गलतियोंको भी अवगुण मानकर उसपर कठिन शासन किया करती है तथा उस अवस्थामें ऐसा न करनेमें ही अन्याय समझती है। ठीक यही बात भगवान् और उनके जनोंके बीच है। कारण यह है कि जो जन सर्वभावसे श्रीभगवान्‌के सच्चे शरणागत एवं प्रपन्न होते हैं, उनके मन-वचन-कर्म तीनोंपर भगवान्‌का ही साम्राज्य रहता है। वे अपनेको कठपुतलीकी भाँति और अपने प्रभुको पुतली नचानेवाले सूत्रधार—यंत्रीकी भाँति मानकर तद्गत, तल्लीन और तदधीन रहते हैं। जब उन जनोंके अन्तःकरण विलग रहते ही नहीं, तब अवगुण किसमें माना जाय ? जिनका 'अहं' और 'मम' दोनों ही प्रभुके बन रहे हैं (देखिये आलवन्दारस्तोत्रमें—'मम नाथ ! यदस्ति योऽस्म्यहं सकलं तद्धि तवैव माधव। नियतस्वमिति प्रबुद्धधीरथवा किं नु समर्पयामि ते।') जो तनु और तनकी छायाकी भाँति भगवान्‌की प्रेरणासे ही अपना हिलना-डोलना मानते हैं, उन जनोंका अवगुण मानना ही अन्याय कहा जा सकता है। और इसीलिये उपर्युक्त प्रसंगमें सरकार श्रीनारदजीसे स्पष्ट कह देते हैं—

> सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा।
> भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥

अर्थात् जो सर्वोपायशून्य तथा अनन्यगति होकर मेरा भजन करते हैं, उन्हींके साथ 'निज जन' के नाते यह दया और दीनबन्धुता निबाही जाती है। इसी प्रकार मानसके और-और प्रसंगोंमें वैसे जनोंके लिये ऐसे वचनोंके कई प्रमाण पाये जाते हैं। यथा किष्किन्धाकाण्डमें श्रीमारुतिजीके प्रति ये वचन कहे गये हैं—

> समदरसी मोहि कह सब कोई।
> सेवक प्रिय अनन्य गति सोई॥
> सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
> मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी हनुमान्‌जीसे कह रहे हैं कि 'मुझ परमात्मा परमेश्वरको सब लोग समदर्शी अर्थात् सारे जगत्‌को एक दृष्टिसे देखनेवाला कहते हैं; परन्तु इस जगत्‌में जो जीव अनन्यगति होकर मेरा सेवक बन जाता है, उसीसे मैं प्रियभावका नाता मानता हूँ। क्योंकि उसकी बुद्धिमें सेवक और स्वामी—केवल दो ही रह जाते हैं, वह अपनेको सेवक मानता है और चराचर जगत्‌को स्वामिरूप मानता है। अतः जब उसकी दृष्टिमें स्वामीके अतिरिक्त और कुछ रह ही नहीं जाता, तब मैं किसके साथ उसकी बराबरी करके उसके लिये समदृष्टि कर सकूँ। इसीलिये उसे प्रिय मानता हूँ।'

पुनः अवधकाण्डमें चित्रकूटकी सभाके समय भी इसी प्रकारके वचन कहे गये हैं—

> सुनु सुरेस उपदेसु हमारा। रामहि सेवकु परम पिआरा॥
> मानत सुखु सेवक सेवकाईं। सेवक बैर बैरु अधिकाईं॥
> जद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गहहिं न पाप पूनु गुन दोषू॥
> करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा॥
> तदपि करहिं सम बिषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा॥

ऐसे ही और भी बहुत-से प्रमाण श्रीमानसग्रन्थमें भरे पड़े हैं तथा समस्त श्रुति, स्मृति, शास्त्र, पुराण और इतिहासादि ग्रन्थोंमें भी ऐसे ही प्रमाण अधिकाधिक मिलते हैं। भला भगवान् श्रीरामचन्द्रजी भी कभी अन्यायका सहारा ले सकते हैं !

सियावर रामचन्द्रकी जय !

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

श्रीनारायणदेव और उनके भक्तोंके वही चीज काममें आ सकती है, जिसमें किसीका ममत्व न हो। जबतक किसी चीजपर किसीका ममत्व बना रहता है, तबतक वह भगवान्‌के अर्पण नहीं हो सकती। जब संसारका एक साधारण सत्पुरुष भी किसी दूसरेकी वस्तुको काममें नहीं लाता, तब भगवान् किस तरह काममें ला सकते हैं ? यद्यपि सब कुछ भगवान्‌का ही है, परन्तु जबतक मनुष्य किसी वस्तु-परसे अपना अधिकार हटा नहीं लेता तबतक श्रीनारायणदेव उसे स्वीकार नहीं करते।

जैसे कभी किसी भले आदमीके घरमें कोई पक्षी अंडा दे देता है तो जबतक अंडा फोड़कर उसके बच्चे उड़ नहीं जाते एवं जबतक वह पक्षी उस घोंसलेसे अपना सम्बन्ध रखता है, तबतक वह भला आदमी उस जगहपर अपना अधिकार नहीं जमाता। यद्यपि वह लोकदृष्टिमें सब प्रकारसे अपने उस मकान-का मालिक है, उसका मकानपर पूरा अधिकार है, फिर भी वह उस स्थानको अपने अधिकारमें नहीं लेता।

इस प्रकार जब एक साधारण दयालु पुरुष भी दूसरेके अधिकारमें गयी हुई अपनी वस्तुको अपने अधिकारमें नहीं लेता, तब श्रीनारायणदेव और उनके मर्मको जाननेवाले उनके प्रेमी भक्त कब ऐसी किसी वस्तुको अपने उपयोग एवं अधिकारमें ले सकते हैं ! अर्थात् कभी नहीं ले सकते। जब उस पक्षीके बच्चे उड़ जाते हैं तथा वह पक्षी भी उस घोंसलेको छोड़कर चला जाता है, तब मकानमालिक उस जगहको काममें लेता है। परम दयालु भगवान् तथा उनके प्रेमी भक्त भी ऐसे ही अपने मकानको काममें लेते हैं। पक्षीके उड़ जानेपर मकानमालिक चाहे तो उसके घोंसलेकी लकड़ियोंको भी काममें ला सकता है, क्योंकि अब उस पक्षीका उस घर और घोंसलेमें ममत्वभाव नहीं रह गया। चाहे घरका मालिक अब उस घोंसलेमें आग ही क्यों न लगा दे, उस पक्षीको उसके ऐसा करनेसे कोई सुख-दुःख नहीं होगा। इसी प्रकार जब कोई मनुष्य ममता छोड़कर भगवान्‌की किसी वस्तुको भगवान्‌के अर्पण कर देता है, तब श्रीनारायणदेव बहुत हर्षके साथ उस वस्तुको अपने काममें ले लेते हैं।

भगवान्‌के भक्तोंकी भी ऐसी ही बात है, क्योंकि भक्त तो अपने मालिकके अनुसार ही चलते हैं। जो स्वामीकी आज्ञा और रुचिके अनुसार चले, वही तो भक्त है। ऐसे ही भक्तोंके श्रीनारायणदेव भी अधीन हो जाते हैं—जैसा कि श्रीगीताजीके अध्याय ४, श्लोक ११ में लिखा है। जो भक्त अपना सर्वस्व भगवान्‌के अर्पण कर देता है, श्रीनारायणदेव भी अपना सर्वस्व उसके अर्पण कर देते हैं। फिर भी भक्तको यह भाव कदापि नहीं रखना चाहिये कि अपना सब कुछ दे देनेपर श्रीनारायणदेवका सब कुछ

मुझे मिल जायगा। ऐसा भाव रखनेवाला श्रीनारायणदेवका अतिप्रिय नहीं होता। उसे तो यही भाव रखना चाहिये कि श्रीनारायणदेवका सर्वस्व मैं नहीं चाहता। मेरी तो यही प्रार्थना है कि श्रीनारायणदेव मुझको तथा अपनी सब वस्तुओंको अपना लें, इसके अतिरिक्त मैं उनसे मुक्ति भी नहीं माँगता। इसपर यदि कोई कहे कि किसलिये तुम ऐसी प्रार्थना करते हो, तो उसका उत्तर यही है कि केवल प्रेमके लिये। इसपर भी कोई पूछे कि प्रेम किसलिये चाहते हो तो उसका उत्तर भी यही होना चाहिये कि प्रेमके लिये ही प्रेम चाहता हूँ, और किसी वस्तुके लिये नहीं।

(२)

आपने भजन-सत्सङ्गके पुरुषार्थकी न्यूनता लिखी, सो उसका कारण समझना चाहिये। भगवान् और शास्त्रोंमें विश्वास होनेसे तथा भजन-सत्सङ्गको सर्वोत्तम समझनेसे ही भगवत्प्राप्तिके पुरुषार्थकी वृद्धि होती है। आपने लिखा कि भीतरके सङ्कल्प बहुत उठते हैं— इतने उठते हैं कि उनका कुछ ठिकाना नहीं, सो ठीक है। भीतरके त्यागसे ही सङ्कल्पका नाश हो सकता है। जो कुछ सङ्कल्प उठे उसको मिथ्या जानकर उसका तिरस्कार कर देना चाहिये अर्थात् व्यर्थ समझकर उसे छोड़ देना चाहिये। संसारकी ओरसे हर समय बेपरवा रहना चाहिये। संसारके सङ्कल्प अर्थात् चिन्तनको प्रतिक्षण भुलानेकी चेष्टा करनी चाहिये और आनन्दमूर्ति भगवान्के दिव्य स्वरूपको चित्तमें जमाये रहना चाहिये। इससे सङ्कल्पोंका नाश तो होगा ही, भगवान्की स्मृति भी सदा बनी रहेगी, जो भगवत्प्राप्तिका प्रधान साधन है।

आपने पहले लिखा था कि 'आपकी चिट्ठी पढ़कर आनन्द तो बहुत हुआ, किन्तु आपकी लिखी बातें मुझे लगी नहीं।' सो ठीक है। परन्तु आपको मेरी बातोंसे आनन्द हुआ, यह भी कैसे समझा जाय? सच्चा आनन्द तो उसीको समझना चाहिये जो किसी बातको धारण करनेसे होता है। आपने आनन्दकी बात लिखी, सो आपकी कृपा है। धारण भी उन्हींकी बात होगी, जिनकी आज्ञाओंको कोई टाल नहीं सकता। मैं तो आपकी कृपा और प्रेमके कारण जो मनमें आता है, लिख देता हूँ और इसीलिये आपको मेरी बातोंसे आनन्द भी आता है। यदि आपकी प्रीति न होती तो आपको मेरा पत्र पढ़नेसे आनन्द नहीं आता।

आप जिस कामके लिये आये हैं, उसे जल्दी पूरा करना चाहिये। समय बीता जा रहा है। जो समय भगवान्के ध्यानमें, नाम-जपमें तथा सत्सङ्गमें बीतता है, वही रहता है। जो समय संसारके कामोंमें जाता है, वह बीत जाता है। आपको एक पल भी संसारके मिथ्या कामोंमें नहीं लगाना चाहिये। यदि संसारका काम शरीरसे करना ही पड़े तो भगवान्के नामका जप और स्वरूपका ध्यान करते हुए ही करना चाहिये। प्रतिदिन ऐसी ही चेष्टा करनी चाहिये और चेष्टा भी बहुत जोरकी होनी चाहिये। आजतक जितनी चेष्टा की, उससे बहुत अधिक चेष्टा करनी चाहिये। ऐसी आदत डाल लेनी चाहिये कि भगवान्के ध्यानके बिना एक पल भी न रहा जाय तथा उसके अतिरिक्त और कोई बात अच्छी न लगे। आँख और कान भगवान्की ही बात देखें-सुनें, मन भगवान्के भजन, ध्यान और सत्सङ्गमें ही रमा रहे तथा संसारके अन्य सब कार्योंसे विरक्ति हो जाय— ऐसी चेष्टा बराबर करते रहना चाहिये। भय, सङ्कोच, मान, बड़ाई, शील, सब कुछ छोड़कर एकमात्र ध्यानसहित नारायणके नामकी ही शरण लेनी चाहिये। वही आपका है। बाकी सब तो मिथ्या है, कल्पित है, स्वप्नवत् है। ध्यान ऐसा होना चाहिये

कि शरीरका भी ज्ञान न रहे। आपको एकान्तमें निरन्तर साधन करनेके लिये पर्याप्त समय मिलता है या नहीं? मेरे एक मित्र तो कहते थे कि उन्हें कलकत्तेमें भी करीब १४ घण्टे एकान्तमें साधनके लिये मिल जाते हैं।

(३)

भगवान्‌की स्मृतिमें भूलें अधिक होती हैं, इसका उपाय तो तीव्र अभ्यासकी चेष्टा ही है। और भगवान्‌में प्रेम बढ़ानेका उपाय पूछा, सो भगवान्‌के गुणानुवादको बाँचने, सुनने, कहने और उसके लक्षण, आशय, प्रभावकी ओर लक्ष्य करनेसे भगवान्‌में प्रेम-भाव बढ़ सकता है। ये सब बातें भी भजन और सत्सङ्गका तीव्र अभ्यास करनेसे ही सिद्ध होती हैं।

भजन-सत्सङ्ग अधिक हो, इसके लिये तीव्र इच्छाकी ही आवश्यकता है। किसी वस्तुको पानेकी तीव्र इच्छा होती है, तो उसके लिये प्रयत्न और चेष्टा स्वाभाविक ही अधिक होती है। जिसको रुपयोंकी आवश्यकता होती है, वह रुपयोंका ही चिन्तन और रुपयोंके लिये ही तन-मनसे चेष्टा एवं प्रयत्न करता है। उसके मनमें हर समय प्रायः इसी बातकी चिन्ता रहती है कि रुपये किस प्रकार पैदा हों! वह रुपया पैदा करनेके विचारमें अपने तन-मनको अर्पण कर देता है। इसी प्रकार जिनको भगवान्‌से मिलनेकी इच्छा होती है उनके मन-बुद्धि ऊपर लिखे अनुसार भगवान्‌को अर्पित हो जाते हैं।

कोई आदमी अधिक बीमार होता है और वैद्य कहता है कि अमुक वस्तुके प्रयोगसे रोगी बच सकता है, तब उस वस्तुके लिये जैसी चेष्टा होती है, वैसी ही चेष्टा भजन और सत्सङ्गके लिये होनी चाहिये। तीव्र इच्छा होनेसे ही तीव्र चेष्टा होती है और तीव्र चेष्टा होनेसे ही सत्-वस्तुकी प्राप्ति होती है। संसारकी मिथ्या वस्तुएँ तो चेष्टा करनेपर भी शायद न मिलें और मिल जानेपर भी उनसे रोगीको लाभ हो या न हो; परन्तु भजन और सत्सङ्गके लिये जो चेष्टा की जाती है, वह अवश्य सफल होती है। भजन-सत्सङ्गरूपी औषधका लगातार बहुत दिनोंतक सेवन करनेसे जन्म-मरणरूपी बीमारी-का अवश्य नाश होता है। सत्‌की चेष्टा कभी व्यर्थ नहीं जाती।

जपमें भूल होनेकी बात लिखी, सो जपका अधिक अभ्यास करनेसे ही जपकी भूल मिटती है। प्रेमके बिना भी प्रसन्न मनसे जपका अभ्यास करते रहनेसे आगे चलकर प्रेमसहित जप भी हो सकता है। जप जिस समय निरन्तर होने लगता है, उस समय प्रेमसहित ही होता है। वैराग्य होनेसे तो बिना चेष्टा किये भी जप और ध्यान निरन्तर होने लगते हैं और भजन, ध्यान, सत्सङ्गसे ही वैराग्य होता है। भगवत्‌की स्मृति हर समय बनी रहे, ऐसी इच्छा ही भगवान्‌के निरन्तर चिन्तनमें हेतु है। जप करने समय भगवत्-विषयकी स्फुरणाओंको बलात्कारसे बढ़ानेका अभ्यास करना चाहिये। वैसा अभ्यास करनेसे जपके साथ ध्यानकी वृद्धि और संसारकी वासनाका क्षय हो सकता है।

सत्ता और आसक्तिसे रहित स्फुरणा हो तो कोई हर्जकी बात नहीं है। संसारकी सत्ता और उसके प्रति आसक्तिके नाशके उपाय जप और सत्सङ्ग ही हैं, अतः उसके लिये तीव्र अभ्यासकी आवश्यकता है। भगवान्‌के नामकी याद हर समय बनी रहनी चाहिये। ऐसा अभ्यास होनेपर आगे चलकर संसारसे वैराग्य तथा भगवान्‌के स्वरूपमें स्थिति भी हो सकती है।

श्रीपरमात्मदेवकी कृपा तो सदा सबपर है; जो ऐसा निश्चय कर लेता है, वही भगवान्‌की कृपाका पात्र है। उसको भगवान् शीघ्र ही मिल जाते हैं। क्योंकि भगवान्‌के विना मिले उसको चैन ही नहीं पड़ती। संसार और शरीरको मिथ्या तथा नाशवान् देखनेसे और सर्वव्यापी परमात्माको आनन्दस्वरूप एवं पूर्ण देखनेसे भी वैराग्य हो सकता है। संसारसे यदि घृणा हो जाय तो संसारका चिन्तन कम हो सकता है और संसारको मिथ्या, कल्पित तथा दुःखरूप देखनेसे संसारके प्रति घृणा हो सकती है।

प्रेमका उपाय लिखा ही जा चुका है। भगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन, भगवन्नामका जप तथा सत्सङ्ग ही प्रेम उत्पन्न करनेके उपाय हैं। जपके लिये जितनी ही अधिक चेष्टा होगी, उतना ही अधिक वह हमसे बन पड़ेगा। जो आदमी भगवान्‌को सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, दयासिन्धु तथा बिना ही कारण हित करनेवाला जानता है, वह कभी उनसे किसी बातके लिये प्रार्थना नहीं करेगा। यदि प्रार्थना करेगा भी तो केवल प्रेमभावसहित उनके निरन्तर चिन्तनके लिये ही करेगा।

हर समय नामस्मरणका अभ्यास हो जानेपर पीछे बहुत समयतक ध्यानकी स्थिति भी रह सकती है। भगवान्‌को याद रखते हुए ही संसारका काम हो, ऐसी चेष्टा करनी चाहिये। संसारके कामोंसे भजन-ध्यानको बहुत ही उत्तम और अनमोल समझना चाहिये। संसारके कामोंमें चाहे जितना हर्ज हो जाय, किन्तु संसारके मिथ्या कामोंके लिये भजन-ध्यान तो छूट ही नहीं सकता—ऐसी पक्की धारणा हो जानेपर संसारका काम करते हुए भी भजन हो सकता है। संसारके काम नदीके प्रवाहके समान हैं। इसमें पड़कर जो पुरुष भगवान्‌के चरणरूपी नौकाको ध्यानद्वारा पकड़ लेता है अथवा भगवान्‌के नामरूपी रस्सेको पकड़ लेता है, वही इसमें डूबनेसे बच सकता है; पर जो नदीके प्रवाहमें बह जाता है, उसकी बहुत दुर्दशा होती है।

मुझे प्रार्थनाकी बात नहीं लिखनी चाहिये। भजन-सत्सङ्ग अधिक होनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है और तब धारणा होनेमें देर नहीं लगती। अन्तःकरण शुद्ध हो जानेपर संसारकी कामना रह ही नहीं सकती। इसके लिये चेष्टा तो आपकी है ही, और भी अधिक पुरुषार्थ करना चाहिये। इस काममें अभ्यास ही प्रधान है और अभ्यास भगवान्‌की कृपासे स्वतन्त्र है। दिन बीतते जा रहे हैं, आपको मनमें विचारना चाहिये—'मैंने इस संसारमें आकर क्या किया? इसी प्रकार यदि और समय भी बीत गया तो जल्दी कैसे काम बनेगा? समयको अनमोल समझकर अनमोल काममें ही लगाना चाहिये। मरनेके बाद संसारके रुपये और भोग किस काम आवेंगे? असली वस्तु तो वही है, जो भगवान्‌से अधिकाधिक प्रेम करावे। बाकी सब मिट्टी है। सोनेके और पत्थरके पहाड़ोंमें क्या अन्तर है? दोनोंमेंसे एक भी वस्तु साथ जानेवाली नहीं है। शरीर भी मिट्टीमें मिल जानेवाला है। ऐसा जानकर इस संसारसे पूर्ण लाभ उठाना चाहिये। भगवान्‌के भजन-ध्यानके बिना एक पल भी व्यर्थ क्यों जाय? अतः एक-एक पलका हिसाब रखते हुए उसे भजन-ध्यानमें लगाना चाहिये। संसारके सारे पदार्थ मिथ्या हैं। मिथ्या कार्योंमें अपने अनमोल समयको नहीं गँवाना चाहिये।

दीनबन्धुको प्रत्यक्ष दीनवत्सलता

पौने दो वर्ष बीत गये। श्रावणका महीना था। मैं डिस्ट्रिक्टबोर्डके अस्पतालमें पड़ा कराह रहा था। अश्मरी (पथरी) की भयानक पीड़ा थी। पेशाबकी थैलीमें पत्थर हो गया था। जीना दूभर हो रहा था। बार-बार मृत्युका आवाहन करता था, परन्तु ऐसे घोर कष्टके समय उसकी कृपा अत्यन्त दुर्लभ हो जाया करती है। सारी चेष्टाएँ विफल हो चुकी थीं। अस्पतालके डाक्टरोंने उपचार करनेमें कोई कसर उठा नहीं रक्खी। बेचारे रातके १२ या १ बजे भी आकर देख-भाल करनेमें नहीं चूकते। उनका मैं अत्यन्त ऋणी हूँ। स्थानीय स्कूलके छात्र भी जब अवकाश पाते मुझे आकर घेर लेते। अपने भूतपूर्व शिक्षकको इस दारुण रोगमें फँसे देखकर उन्हें बड़ा दुःख होता। मेरे ग्रामीण भाइयोंका भी ताँता लगा रहता। बड़े-बड़े लोग भी आकर बराबर देख जाते। मैं सबको कभी तो आश्वासन देता और कभी फूट-फूटकर उनके सामने खूब रोता। माँ सिरहाने बैठकर मेरे आँसू पोंछा करतीं और स्वयं भी रोतीं। बड़े भाई साहबके दुःखका पारावार न था। सर्वस्व बेचकर भी वे मेरी चिकित्सा करानेको तैयार हो गये। इधर मेरी अवस्था प्रतिदिन बिगड़ती ही जाती थी। 'मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की।' पटने ले जानेकी सम्मति होती, परन्तु मैं इस योग्य नहीं था कि कहीं ले जाया जा सकूँ। मुझे विश्वास हो गया कि अब मरी मृत्यु समीप है। चारों ओरसे निराशा हो गयी। मैं प्रत्येक व्यक्तिको बड़ी करुण दृष्टिसे देखता। सब मुझसे छूट रहे हैं, इस विचारसे अत्यधिक दुःख होता; परन्तु उस समय मृत्यु बड़ी ही आनन्दप्रद वस्तु थी। मैं शीघ्रातिशीघ्र उसे आनेके लिये प्रार्थना करता था। अन्तमें उससे भी निराशा हो गयी। 'कबतक इस घोर कष्टमें मैं पड़ा रहूँगा' इस विचारसे धैर्य छूट गया।

उस दिन मङ्गलवार था। रात आधीसे ऊपर बीत चुकी थी। किसीने मेरे कानमें कहा—'सर्वरोग कै औषध नाम।' डूबतेको तिनकेका सहारा मिला। उस निराशामें कुछ आशाकी झलक मालूम होने लगी। मैं जोर-जोरसे भगवान् श्रीकृष्णका नाम उच्चारण करने लगा। आखिर करता क्या—विषपान करना चाहता था, परन्तु विष देता कौन? कुएँमें कूदकर प्राण देनेकी बात सोचता, परन्तु उसके पास जानेकी शक्ति कहाँ थी! बस, 'हारे' को हरिनाम, 'सुने री मैंने निरबल के बल राम' के अनुसार अपने दीनबन्धु शरणागतपाल भगवान् श्रीकृष्णको पुकारने लगा—उसी व्याकुलतासे जैसे माँ द्रौपदीने वस्त्रहरणके समय उन्हें पुकारा था। फिर क्या था, उनकी कृपा हो ही गयी। औषध शीघ्र काम कर गयी। मेरी पीड़ा पलभरमें नष्ट हो गयी। मैं आनन्द और कृतज्ञतासे गद्गद हो गया। चारों ओर मुझे प्रभुमय प्रतीत होने लगा। मेरे पास शब्द नहीं कि मैं उस आनन्दका वर्णन कर सकूँ। मैं अपनेको प्रभुके अति निकट पाकर फूले नहीं समाया। मैं इसी भावावेशमें मग्न था कि मेरे मित्र पोस्टमास्टरसाहब तथा डाक्टरसाहबने मुझसे तबियतका हाल पूछा। मैंने अत्यन्त कृतज्ञतापूर्वक उत्तर दिया, 'आप लोगोंने मेरे लिये बड़ा कष्ट किया। रात बहुत कम रह गयी है, आकर आराम कीजिये। मैं पूर्णरूपसे स्वस्थ हूँ। भगवान्‌ने मेरा दुःख सुन लिया और मेरी सारी पीड़ा हर ली।' डाक्टरसाहब इन्जेक्शन देने आये थे। उन्हें मेरी बातपर विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने इसे केवल Chance (संयोग) समझा और हँसते हुए बोले, 'इनको Mania (पागलपन) हो गया है।' मुझे भी हँसी आ गयी। उन्हें भला, यह गूढ़ रहस्य क्या समझमें आता! 'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।'

तबसे मैं बराबर सुखी हूँ। भला, वह कोई ऐसी-वैसी औषध थोड़े ही थी जिससे रोगकी पुनरावृत्ति हो। यह रोग मुझे क्यों हुआ था, इसका रहस्य मुझे अब समझमें आया। मुझे अपनी सेवाओंका कुछ अहङ्कार हो गया था। मैं समझता था कि जितना मैं दूसरोंके लिये कर सकता हूँ, उतना दूसरे मेरे लिये कभी नहीं कर सकते। परन्तु उस भयानक रोगके आक्रमणने ठीक उलटा सिद्ध करके मेरे अहङ्कारका नाश कर दिया। यह रोग नहीं, बल्कि मेरे अज्ञान और दर्पकी औषध थी। बोलो भगवान् श्रीकृष्णकी जय!

—श्री'रघुनन्दन'

सुखकी खोज

(लेखक—श्रीमुकुलालजी श्रीवास्तव)

एक मनुष्य एक दूकानमें कपड़े मोल ले रहा था। दूकानदार उसके सामने तरह-तरहके कपड़े रख रहा था, पर उसे कोई पसन्द न आता था। कभी कहता कि इसका रंग जरा ज्यादा गाढ़ा हो गया है, कभी कहता कि इसका रंग तो एकदम फीका है और कभी कहता कि यह बिना रंगका होता तो अच्छा होता। ग्राहक जिस ढंगका कपड़ा चाहता दूकानदार वैसा ही कपड़ा सामने ला रखता। अन्तमें एक ऐसा कपड़ा ग्राहकके पास लाया गया जिसमें उसे रंग आदि किसी बातकी कमी नहीं दिखायी दी। उसने मनमें कहा कि कपड़ा तो सुन्दर है, किन्तु इसमें भी कुछ-न-कुछ कमी अवश्य है—दिल नहीं भरता; काश इससे भी अधिक सुन्दर होता! दूकानदारको घंटों तंग किया था, उसे अब खीझते देखकर वही कपड़ा मोल ले लिया और ग्राहक घरकी ओर चल पड़ा। मनमें सोचने लगा कि इस कपड़ेमें भी कौन-सी कमी रह गयी है। कैसा कपड़ा होता तो मुझे पसन्द आता? मैं सचमुच क्या ढूँढ़ रहा हूँ और उसे पा नहीं रहा हूँ?

यह ग्राहक ही नहीं, हम सभी निरन्तर उस वस्तुकी खोजमें प्रयत्नशील रहते हैं जिससे हमें पूर्ण आनन्दकी प्राप्ति हो सके। मिष्टान्न आदि खाना, अनेकानेक दृश्य, नृत्य, नाटक, सिनेमा आदि देखना, संगीत सुनना, विषयोपभोग आदिमें लिप्त होना, कलाकारोंकी कलाओंका आस्वाद लेना, कवियोंकी कविताओंमें मनको संलग्न करना आदि नाना प्रकारके उपाय हम उस पूर्ण आनन्दकी प्राप्तिके निमित्त सदैव किया करते हैं; परन्तु क्या हमें तृप्ति होती है? क्या हमारे हृदयकी प्यास शान्त होती है? हृदयके भीतरसे तो यही आवाज निकलती रहती है कि वह वस्तु जिसकी खोज की जा रही है, नहीं मिली—वह वस्तु नहीं मिली! हमारे समस्त प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं। इसका क्या कारण है?

देखिये श्रीतुलसीदासजी क्या कहते हैं—

मैं हरि साधन करइ न जानी,
जस आमय भेषज न कीन्ह तस, दोष कहा दिरमानी।

रोग कुछ और ही है और दवा कुछ और ही हो रही है। तब भला रोगसे मुक्ति कैसे हो सकती है। आखिर वह कौन-सी दवा है, वह कौन-सा उपाय है, जिससे अभिवाञ्छित सुख प्राप्त किया जा सकता है?

उपर्युक्त प्रश्नका उत्तर हमें सहज ही मिल सकता है, यदि हम यह जान लें कि सुख कहाँ है। यह तो निर्विवाद निश्चित है कि सुखकी खोजकी ओर ही सबकी प्रवृत्ति है। दार्शनिक, वैज्ञानिक, कलाकार, गणितज्ञ, युवा-वृद्ध, अमीर-गरीब, सबकी प्रवृत्ति इसीलिये है कि उनके भिन्न-भिन्न साधनोंका परिणाम सुख ही हो। यह प्रवृत्ति हममें क्यों और कहाँसे

आयी ? यदि हम किसी बीजको अङ्कुरित होते, अङ्कुरको बढ़ते, पल्लवित एवं पुष्पित होते देखकर यह पूछें कि बीजमें यह बढ़ने आदिकी प्रवृत्ति कहाँसे आयी तो हमें तत्काल ही यह उत्तर मिलेगा कि बीजमें यह प्रवृत्ति बाहरसे नहीं आयी वरं उसीमें यह प्रवृत्ति निहित है। इसी तरह हममें सुख ही खोजनेकी जो प्रवृत्ति है उसका कारण कोई बाह्य प्रेरणा नहीं है वरं वह अपने अन्तःकरणमें ही निहित है। यदि यह प्रवृत्ति बाह्य प्रेरणासे होती तो वह भिन्न-भिन्न युगों और भिन्न-भिन्न मनुष्योंमें एक-सी नहीं दिखायी देती। संतोंने बतलाया है कि हमारी आत्मा आनन्दराशि है, सभी सुखोंका उद्गम-स्थान अथवा अक्षय भण्डार है। हम सचमुच उसीको ढूँढ़ते रहते हैं। किन्तु इस बातका बोध न होनेके कारण हम उस मृगकी तरह जो अपनी ही कस्तूरीकी सुगन्धकी खोजमें सारा वन छान डालता है अनेकानेक असमर्थ उपायोंका अवलम्बन करते हैं। अनन्त सुख-राशिके अपने अंदर वर्तमान रहते हुए भी हम बाह्य वस्तुओंमें उसकी खोज करते हैं। परिणाममें निश्चय ही असफलता हमारे हाथ लगती है। यदि पुष्प अपनी सुगन्धकी खोज करे तो उसका यह प्रयत्न अवश्य ही हास्यास्पद होगा। जो वस्तु जहाँ है उसकी खोज वहीं होनी चाहिये। हम स्वयं सुख-राशि हैं। हम इस सुख-राशिको क्या ढूँढ़ते हैं, स्वयं अपनेको ही ढूँढ़ते हैं। फिर अपनेको बाहर इन्द्रियकृत संसारमें, इन्द्रिय-गोचर प्रपञ्चमें ढूँढ़ना कैसा ? इन्द्रियोंद्वारा ढूँढ़नेसे तो प्रपञ्च ही हाथ आता है। अपने आपको, उस सुख-राशिको, प्रपञ्चमें ढूँढ़ना ही महा अज्ञान है। संत नानकका इस विषयमें यह अमूल्य उपदेश है—

> काहे रे बन खोजन जाई।
> सरब निवासी सदा अलेपा, तोही संग समाई ॥१॥
> पुष्प मध्य ज्यों बास बसत है, मुकुर माहिं जस छाई।
> तैसे ही हरि बसै निरंतर, घट ही खोजौ भाई ॥२॥
> बाहर भीतर एकै जानो, यह गुरु ग्यान बताई।
> जन नानक बिन आपा चीन्हैं, मिटै न भ्रम की काई ॥३॥

इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि हम चाहे अनन्त कालतक प्रपञ्चमें सुखकी खोज करते रहें, परन्तु वह वहाँ कदापि नहीं मिलेगा। अतएव जिन इन्द्रियोंके द्वारा प्रपञ्च अनुभवमें आता है उनकी प्रवृत्तियोंको रोककर अपने अंदर विद्यमान अनन्त सुखकी प्राप्तिके लिये सबको प्रयत्न करना चाहिये।

हृदयकी चाह

योगिन मैं बन जाऊँ, साँवरिया तेरी।
योगिन बनकर बन-बन डोलूँ, तेरे ही गुण गाऊँ।
निज उरकी कम्पित वीणापर प्रेमका राग सुनाऊँ ॥ साँवरिया तेरी ॥
निठुर जगतके कोलाहलसे दूर कहीं चल जाऊँ।
निर्जन वनमें कुटी बनाकर, तेरा ध्यान लगाऊँ ॥ साँवरिया तेरी ॥
पुतलीका प्याला कर, प्रियतम ! दृग-झोली लटकाऊँ।
दर्शन-भिक्षा चाह हृदयमें, घर-घर अलख जगाऊँ ॥ साँवरिया तेरी ॥
ना मैं और किसीको देखूँ, ना तुमको दिखलाऊँ।
मन-मन्दिरका बंदी करके, नैन-कपाट लगाऊँ ॥ साँवरिया तेरी ॥

—श्रीहोमवती देवी

महात्मा हरिदासजी

(लेखक—श्रीशिवनारायणजी 'योगी')

लगभग दो सौ वर्षकी बात है। श्रीवृन्दावनमें यमुनातटपर मनोरम स्थलीमें रामानन्दी वैष्णव महात्मा श्रीहरिदासजी महाराज अपने शिष्योंके साथ निवास करते थे। उस पुण्यभूमिकी शोभा विचित्र थी। मालती, माधवी आदि लताओंकी अनुपम सुगन्धित समीर बहा करती थी। प्रफुल्लित पुष्पोंपर भ्रमरोंके झुंड अपनी झङ्कारसे कुञ्जोंको मुखरित करते थे। कोयलोंकी कूक तथा तोते आदि पक्षियोंका कलरव सांसारिक प्रपञ्चोंसे मलिन मानसको निर्मल बना देते थे। मयूरोंका नृत्य भक्तोंको घनश्यामके प्रेममें नृत्य करनेके लिये उत्साहित करता था।

महात्मा हरिदासजी महाराज तेजस्वी-तपस्वी थे। उनके हृदयमें भगवत्प्रेमकी सरिता बहा करती थी। यदि किसी महान् तपस्वीके हृदयमें प्रेमामृत प्रवाहित होता है तो स्वर्णमें सुगन्धके सदृश सुशोभित होता है। महात्माजीको अलौकिक प्रेम प्राप्त था। हृदयमें केवल प्राणाधारके दर्शनोंकी ही प्रबल वासना थी। उठते-बैठते, सोते-जागते, भगवान्‌के विरहमें प्रेमाश्रु बहाया करते थे। उत्कट उत्कण्ठाने बढ़ते-बढ़ते विशाल स्वरूप धारण कर लिया था। रात्रिमें जागरण करके भगवद्दर्शनोंकी प्रतीक्षा करते हुए वे भगवान्‌से प्रार्थना किया करते थे।

एक दिन महात्माजी विरहातुर बैठे हुए थे। चाँदनी रात थी। सामने कालिन्दीकी तरङ्गें चन्द्र-किरणोंसे खेल रही थीं। बालुका चमचमा रही थी। चारों ओर प्रशान्त वायुमण्डल था। महात्माजीके हृदयमें सहसा दैन्यभावका स्फुरण हुआ। वे सोचने लगे कि 'अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंके स्वामी, ब्रह्मादि देवशिरोमणियोंको नचानेवाली मायाके स्वामी, परिपूर्ण ब्रह्म जगदीश्वरका दर्शन मुझ महापतित क्षुद्र प्राणीको किस प्रकार हो सकेगा! हे दयामय! मैं आपके योग्य नहीं।' उनके हृदयमें दीनताका मानो सागर ही उमड़ पड़ा। उस महासमुद्रमें महात्माजी डूब गये। विरहमें विह्वल होकर उन्होंने अपना सर्वस्व प्यारेको समर्पण कर दिया। दीनवत्सल, प्रेमसिन्धु, करुणानिधान भगवान् भी भक्तका विरह नहीं सह सके और तत्क्षण प्रकट हो गये। महात्माजी निर्निमेष नेत्रोंसे उनका दर्शन करने लगे।

मनोहर मुसकानयुक्त मुखारविन्दपर घुँघराले केश छिटक रहे थे। मणियोंसे मण्डित मुकुट दिव्य वर्णके पुष्पोंसे सुशोभित था। कानोंमें कुण्डल झलमला रहे थे। नेत्रोंमें मनोहारिणी चितवन थी। पीताम्बर श्यामल सुकुमार अङ्गोंपर झलक रहा था। वनमाला चरणोंतक लटक रही थी। महात्माजी इस रूपमाधुरीमें निमग्न हो गये। भगवान्‌ने चेत कराया। अपना करकमल मस्तकपर फेर दिया। महात्माजीने चरणोंपर मस्तक रख दिया। भगवान् अमृतमयी वाणीसे बोले—'तुम जगन्नाथपुरी जाओ! इस वर्ष आषाढ़में विग्रह परिवर्तन होगा। पहला विग्रह तुम ले आओ, और इसी स्थलपर वृन्दावनमें स्थापित करो। मैं सब प्रकारसे तुम्हारी रक्षा करूँगा।'

आज्ञा देकर भगवान् अन्तर्द्धान हो गये। महात्माजी वियोगसे व्याकुल होकर छटपटाने लगे। भगवान्‌की आज्ञाका स्मरण करके महात्माजीने धैर्य धारण किया और अपने सुयोग्य शिष्योंको साथ लेकर कीर्तन करते हुए जगन्नाथपुरीकी ओर चल दिये। बीहड़ वन, सर-सरिताएँ, पर्वत तथा कण्टकाकीर्ण मार्गको तय करते हुए चार महीनेमें महात्माजी जगन्नाथपुरी पहुँचे।

मार्गका घोर परिश्रम पुरीमें पदार्पण करते ही दूर हो गया और हृदयमें दिव्य आनन्द भर गया ।

श्रीजगन्नाथधाम जिसने नहीं देखा, उसने क्या देखा ! भगवान्‌ने अपना अचिन्त्य, अनन्त, ऐश्वर्य-सागर वहाँ प्रवाहित किया है । अब भी आषाढ़में जिस समय वहाँ रथयात्रा होती है, महाविशाल तीन रथ चलते-चलते जब ठहर जाते हैं, तो सहस्रों मनुष्योंका परिश्रम व्यर्थ हो जाता है । सभी प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं । तदनन्तर भक्तोंकी प्रार्थनासे जब वे स्वतः ही वेगके साथ चलते हैं, उस समय महान् आश्चर्य होता है । रथयात्राके समय लाखों नर-नारी एकत्रित होते हैं । प्रतिवर्ष यह महोत्सव बड़ी धूमधामसे सम्पन्न होता है । रथयात्राका महोत्सव तो था ही, दूसरे विग्रह-परिवर्तनका भी योग था । ३६ वर्षके पश्चात् जब दो आषाढ़ आते हैं, तब श्रीजगन्नाथजीके कलेवर बदले जाते हैं । बड़ी भारी प्रतिष्ठा होती है । यज्ञ होता है, वेदपाठ होता है और नाना प्रकारसे अभिषेक किया जाता है । इस प्रकार यह महोत्सवमें भी महोत्सव था । इस समय जगन्नाथपुरीमें करोड़ों यात्री दूर-दूर देशोंसे आये हुए हैं । आनन्दका समुद्र उमड़ रहा है ।

इसी समय हमारे चरित्रनायक महात्माजी भी वहाँ आ पहुँचे । अभिषेक होनेमें चार दिन शेष थे । महात्माजीने पुजारियोंके पास जाकर अपना परिचय दिया और भगवान्‌की आज्ञा उन्हें कह सुनायी । पुजारियोंने कहा—'हमको कुछ भी अधिकार नहीं है । आप राजा साहबसे मिलें ।' श्रीमहात्माजी राजा साहबसे मिलने गये । राजा साहबने महात्माजीका तेजोमय मुखमण्डल देखकर उन्हें उठकर साष्टाङ्ग प्रणाम किया और प्रसन्न मनसे परिचय पूछकर आनेका कारण पूछा । महात्माजीने भगवान्‌की आज्ञा सुना दी । राजा साहबने कहा—'महाराज ! सर्वदासे यही नियम चला आया है कि प्रथम विग्रह समुद्रमें प्रवाहित कर दिये जाते हैं । आज हम नयी प्रणाली कैसे चला सकते हैं ! महाराज ! हम इस कार्यके लिये असमर्थ हैं । आपको भगवान्‌की आज्ञा हुई होगी, किन्तु हमको तो भगवान्‌की आज्ञा नहीं हुई । अतएव क्षमा करें ।'

महात्माजी—'राजन् ! यदि विग्रह सागरमें प्रवाहित होंगे तो मेरा शरीर भी सागरमें प्रवाहित होगा । क्योंकि मैं अपनी इच्छासे नहीं आया हूँ ।' राजा साहबने कुछ उत्तर नहीं दिया । महात्माजी समुद्रतटपर आकर प्रशान्त मनसे भगवान्‌का ध्यान करने लगे । अन्न-जल त्यागकर एकाग्र चित्तसे उसी भुवनमोहन रूपका स्मरण करने लगे, जिस रूपका वे प्रथम दर्शन कर चुके थे ।

अर्धरात्रिका समय है । राजा साहब शयन कर रहे हैं । राजा साहबने देखा, श्रीजगन्नाथजी प्रकट हुए । उनके मुखारविन्दपर कुछ क्रोध झलक रहा है । मेघके समान गम्भीर वाणीसे बोले—'वे महात्माजी मेरी आज्ञासे ही आये हैं । तुम भक्तोंका तिरस्कार करते हो ! जाओ, उनसे क्षमा माँगो और उनकी आज्ञाका पालन करो । मेरा एक विग्रह अब वृन्दावनमें भी रहेगा ।'

राजा साहब अत्यन्त भयभीत हो गये और जाग पड़े । थर-थर काँपते हुए शय्यासे उठकर कर्मचारियों-को उन महात्माजीका पता लगानेके लिये रात्रिमें ही आज्ञा दी । बहुत ढूँढ़-खोजके अनन्तर पता लग गया । राजा साहब समुद्रतटपर उसी समय जाकर महात्माजी-के चरणोंमें गिर पड़े और बारंबार क्षमा-याचना करने लगे ।

प्रातःकाल धूमधामसे राजा साहबने महात्माजीका

पूजन किया। जगन्नाथपुरीमें यह समाचार बिजलीकी भाँति चारों ओर फैल गया। महात्माजीके दर्शनार्थ दौड़कर लोग आने लगे। उस समय महोत्सवमें एक अपूर्व आनन्दोल्लास छा गया।

अभिषेकके अनन्तर राजा साहबने एक विशाल रथमें श्रीजगन्नाथजी, श्रीबलदाऊजी, श्रीसुभद्राजीको विराजमान कराया। धन-धान्य तथा सेनाके साथ महात्माजीको विदा किया। रथके सहित धूमधामसे कीर्तन करते हुए महात्माजीने कई महीनोंमें वृन्दावनमें पदार्पण किया। जिस स्थानपर स्वयं भजन करते थे उसी सुरम्य स्थानपर एक सुन्दर मन्दिर बनवाकर महात्माजीने वे विग्रह स्थापित किये। वृन्दावनमें वही दिव्य स्थान, वही दिव्य विग्रह, वही सुन्दर मन्दिर आज भी वर्तमान है। सामने यमुनाजी बह रही हैं। नीचे घाट बना हुआ है, जिसे 'जगन्नाथ घाट' कहते हैं। आज भी इस स्थानपर अपूर्व दिव्यता विराज रही है। भजनमें स्वाभाविक मन लगता है। शान्तिका साम्राज्य-सा छाया हुआ है।

वृन्दावनमें श्रीजगन्नाथजी भक्तोंको आज भी दिव्य अनुभव, दिव्य चमत्कार दिखाया करते हैं। अभी तीन वर्ष पूर्व वृद्धा माता श्रीरामजी देवी श्रीजगन्नाथजीकी सेवा करती थीं। उनका दर्शन जिन्होंने किया है, वे जानते हैं कि माताजी कैसी तपस्विनी, तेजस्विनी और प्रेमकी मूर्ति थीं। उनको कई बार भगवान्‌के दर्शन हुए थे। निरन्तर उनको भगवान्‌की सेवामें ही सुख प्राप्त होता था। उनके समयकी कुछ सच्ची घटनाएँ हम नीचे उद्धृत करते हैं—

(१) एक बार माताजी भगवान्‌को पुष्प और तुलसी चढ़ा रही थीं। सहसा श्रीजगन्नाथजीका विग्रह तेजोमय हो गया और विग्रहसे श्वासोच्छ्वास होता हुआ दिखायी दिया। भगवान्‌के श्वासकी वायु स्पर्श करके वे घबड़ा गयीं तथा मूर्छित होकर गिर पड़ीं। आध घंटेके पश्चात् उनको बाह्य ज्ञान हुआ। यह घटना ११ वर्ष पहलेकी है।

(२) एक बार माताजी हरिद्वार गयी हुई थीं। मन्दिरमें पुजारीने भोग लगाया। माताजी उस समय हरिद्वारमें ध्यान कर रही थीं। ध्यानमें जगन्नाथजी प्रकट हुए और वह थाल सम्मुख दिखाकर बोले—'आज भोजन मैंने नहीं पाया है। आज अमुक त्रुटि रह गयी है।' माताजीको व्याकुलता हुई और उन्होंने तत्क्षण पुजारीजीको पत्र लिखा। उस दिन जो-जो पदार्थ भोगमें लगाये गये थे वे लिखे और त्रुटि भी लिख भेजी। उस पत्रकी यहाँ सब बातें सत्य पाकर सभीको महान् आश्चर्य हुआ। उस दिनसे सेवामें अत्यन्त सावधानी रक्खी जाने लगी। यह घटना ६ वर्ष पूर्वकी है।

(३) एक बार मन्दिरमें भण्डारा हो रहा था। एक बड़े पात्रमें यमुनाजीसे जल आया और उसी पात्रमें दाल चढ़ा दी गयी। अच्छी प्रकार जब दाल बन गयी तो पात्र सहसा उलट पड़ा और उसमेंसे एक जीवित मछली निकली। वह छोटी-सी मछली जलती हुई दालमें कैसे जीवित रही! यह एक अद्भुत घटना लगभग २० वर्ष पहलेकी है।

(४) मन्दिरके पास एक कुआँ बना हुआ है। उस कुएँमें लगभग बीस हाथ जल भरा हुआ था। एक यात्री जल भरने गया, वह अकस्मात् जल भरते हुए गिर पड़ा। उसने जगन्नाथजीका ध्यान किया। ध्यान करते ही उसे एक प्रकाश दिखायी दिया और कुएँमें जल एक हाथ ही रह गया। वह आनन्दसे कुएँमें खड़ा हो गया। उसे निकाला गया तो वह हँस रहा था, चोटका नामोनिशान भी न था। उसके निकलते ही पुनः जलमें बीस हाथ

जल हो गया। यह घटना लगभग २५ वर्ष पहलेकी है।

(५) एक बार मन्दिरमें एक अत्यन्त मनोहर छड़ी मिली। उसकी चमक विलक्षण थी। वह न लोहेकी प्रतीत होती थी, न काठकी, न पीतलकी। वह दिव्य ही थी। उसको पाकर उसकी पूजा होने लगी। जिस दिनसे वह आयी उसी दिनसे मन्दिरमें आनन्दकी लहर-सी आने लगी। भक्तोंको दिव्य अनुभव होने लगे। धन-धान्यसे भी आश्रम परिपूर्ण हो गया। एक दिन माताजीने उसका यमुनातटपर पूजन किया। पूजनके अनन्तर जिस समय उसे रक्खा, उसी समय वह छड़ी जैसे मनुष्य चलता है इस प्रकार जाकर यमुनामें विलीन हो गयी। यह घटना लगभग १५ वर्ष पहलेकी है।

(६) एक बार आषाढ़में रथयात्राके दिन सन्ध्या-समय आरती होनेवाली थी। अँधियारा हो चुका था। उसी समय यमुनातटकी ओरसे एक सुकुमार साँवला बालक आया। उसके कपोलोंपर बाल बिखर रहे थे। उसका सौन्दर्य देखकर माताजीने पूछा—'भैया, तुम कहाँ रहते हो?' बालकने मुस्कराकर कहा—'यमुनाकिनारे।' माताजीने फिर पूछा—'तुम्हारे पिताका क्या नाम है?' बालकने हँसकर बात टाल दी। पुजारी मन्दिरमें था, माताजीने पुजारीसे कहा—'प्रसाद लाकर इनको दीजिये।' जिस समय पुजारी प्रसाद लाया, उसी क्षण वह बालक अन्तर्द्धान हो गया। ये सब घटनाएँ जिन्होंने आँखोंसे देखी हैं वे भक्तगण अब भी वृन्दावनमें विद्यमान हैं। यह घटना लगभग १६ वर्ष पूर्वकी है।

अन्न-दोष

(लेखक—श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी, एम० ए०)

संसारके बड़े-बड़े तत्त्ववेत्ताओंका मत है कि कर्मका सिद्धान्त अत्यन्त गहन तथा दुर्विज्ञेय तो है ही, साथ ही वह अटल भी है। ऐसे ही और भी सिद्धान्त हैं, जिनका संस्थापन बहुत प्राचीनकालमें हमारे ऋषि-महर्षियोंने किया था और जो युग-युगके अनुभवसे सर्वथा निर्भ्रान्त सिद्ध हुए हैं। दुःखकी बात है कि आधुनिक सभ्यता, जो अपने क्षणिक प्रकाशसे जगत्भरको चौंधिया रही है, दुराग्रहवश हमारे प्राचीन सिद्धान्तोंपर गम्भीर एवं निष्पक्ष विचार करनेके लिये तैयार नहीं है, यद्यपि उसीको आगे चलकर आँखें खुलनेपर उन सिद्धान्तोंकी सत्यता स्वीकार करनी पड़ती है। इसीलिये यह कहा जाता है कि जहाँ पाश्चात्योंका ज्ञान समाप्त हो जाता है, पौर्वात्योंका ज्ञान वहाँसे प्रारम्भ होता है। गीताके सोलहवें अध्यायको सामने रखकर यदि हम विचार करें तो यह बात हमें स्पष्ट हो जायगी कि वर्तमान सभ्यता आसुरीवृत्तिका लीलास्थल बन रही है। पारस्परिक ईर्ष्या, स्वार्थप्रियता, जड-पूजा तथा करोड़ों दीन-हीन पददलितोंके प्रति कठोर उपेक्षाका भाव आदिके दारुण दृश्य किसी भी 'सभ्य' और 'सुसंस्कृत' देशमें देख लीजिये—जिन्हें देखकर आप अनुमान लगा सकेंगे कि यह आसुरी सभ्यता हमें किस भयानक सत्यानाश-की ओर लिये जा रही है!

हमारी प्राचीन संस्कृतिके लिये यह कठिन परीक्षाका समय है। हमारा यह कर्तव्य है कि अपने ही हितके लिये एक बार हम अपने प्राचीन आचारों एवं रीति-रिवाजोंपर ध्यान दें। अब भी हमारे लिये निराश होनेकी कोई बात नहीं है। हम

भारतकी सन्तानोंको भगवान्ने ऐसी शारीरिक एवं मानसिक शक्तियाँ दी हैं, जिनके लिये देवता भी तरसते हैं। इनमेंसे जिन लोगोंने प्राचीन ऋषि-महर्षियोंद्वारा निर्णीत सिद्धान्तोंको जीवनमें आजमाया है, उनमेंसे कइयोंने जीवनकी समस्याको हल कर लिया है और जीवनका सार-तत्त्व प्राप्त कर लिया है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

इस लेखमें हम भोजनके सम्बन्धमें कुछ विचार करेंगे। स्थानके संकोचसे हम बहुत विस्तारमें नहीं जायँगे। जिन्हें इस विषयकी ओर विशेष अभिरुचि हो, उन्हें इसपर विचार करनेके लिये प्राचीन ग्रन्थोंमें पर्याप्त सामग्री मिल सकती है।

भोजनकी पवित्रताके सम्बन्धमें सबसे मुख्य बात यही है कि वह न्यायोपार्जित पैसेका हो। यही कारण है कि कुछ लोग 'अपरिग्रह' का नियम ले लेते हैं, वे किसीसे कुछ भी ग्रहण नहीं करते। इसका अभिप्राय यह हुआ कि अन्यायके पैसेसे खरीदा हुआ अन्न या किसी ऐसे पुरुषका अन्न, जो स्वयं सच्चा और ईमानदार नहीं है, भरसक कभी ग्रहण नहीं करना चाहिये।

प्रसंगवश अन्यायोपार्जित धन अथवा घूसका प्रश्न भी यहाँ आ जाता है। जीवनमें सबसे बड़ा पाप यही है कि मनुष्य अन्यायद्वारा धनका उपार्जन करे या घूस ले। जो इन प्रलोभनोंके शिकार बन जाते हैं, वे यह नहीं जानते कि वे अपने ही हितकी सदाके लिये हानि कर रहे हैं। अन्यायोपार्जित धन ठहरता नहीं। वह जैसे आता है, वैसे ही चला भी जाता है। जो वस्तु अनायास प्राप्त होती है, वह अनायास ही खो भी जाती है, परन्तु इसका परिणाम भयानक होता है। जिसे ऐसे पैसोंकी चाट और चसका लग जाता है, वह स्वाभाविक ही अनाप-शनाप खर्च करने लगता है। और जब ऐसी आमदनीका रास्ता बंद हो जाता है तो उसकी तबाही आ जाती है। हम सभी ऐसे आदमियोंको जानते हैं जो एक बार अन्यायका पैसा पाकर खूब चमके, परन्तु चमके सदाके लिये बुझ जानेके लिये। उनमेंसे बहुतोंका अन्त तो महान् दुःखदायी होता है।

जैसा अन्न वैसा मन—यह एक वैज्ञानिक सत्य है। तान्त्रिक साधना करनेवाले इस बातको जानते हैं कि उपासनाके समय हम जिस प्रकारके आसनपर बैठते हैं, उसका हमारे चित्तपर कैसा प्रभाव पड़ता है। व्याघ्रचर्मपर बैठकर जप करनेसे चित्तपर कुछ और ही प्रभाव पड़ेगा और मृगचर्मपर बैठकर करनेसे कुछ और। इसी प्रकार तान्त्रिक दीक्षामें भी शिष्यको दीक्षा लेनेके पूर्व कई दिनतक उपवास करना पड़ता है और तब किसी एक ही प्रकारका अन्न जो गुरु बतलावे खाना पड़ता है तथा एक विशेष स्थानपर विशेष शैलीसे सोना पड़ता है। इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है कि उसके इस समयके स्वप्नोंपर विशेष ध्यान दिया जाता है और उन स्वप्नोंके आधारपर यह निश्चय किया जाता है कि उसके लिये कौन-सा मन्त्र उपयुक्त होगा।

अन्यायोपार्जित धनसे जो अन्न प्राप्त होता है, वह रक्तमें सना हुआ अन्न है—

भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्।

श्राद्धकर्ममें क्या-क्या होता है, इससे जो भलीभाँति परिचित हैं, वे जानते हैं कि श्राद्धका अन्न खाना आध्यात्मिक दृष्टिसे साधारण बात नहीं है। शास्त्रोंमें यह लिखा है कि श्राद्धका अन्न खा लेनेपर ब्राह्मण इतनी माला गायत्रीका जप करे, तब वह उस अन्नके दोषसे छूट सकता है। इसी प्रकार शनि, राहु और केतु आदि ग्रहोंको शान्त करनेके लिये जो दान दिया जाता है, उसे ग्रहण करना भी खिलवाड़ नहीं

है। यह तो एक प्रकारसे दाताके सारे पापों और कष्टोंका बोझा अपने सिर ओढ़ना है। मुझे कई ऐसे उदाहरण मालूम हैं जिनमें ऐसे दान लेनेवालोंका महान् अनिष्ट हो गया है। यहाँ उनके सम्बन्धमें विस्तारपूर्वक लिखनेका अवकाश नहीं है।

हमारे धर्मशास्त्रोंमें लिखा है कि नित्य प्रातः-सायं हमें अपने माता-पिताके चरणोंमें मस्तक टेककर प्रणाम करना चाहिये। परन्तु वे बीमार हों तो उन्हें दूरसे ही हाथ जोड़कर प्रणाम कर लेना चाहिये। यह व्यवस्था एक-दूसरेके स्पर्शसे होनेवाले सूक्ष्म परमाणुओंके आदान-प्रदानके नियमोंके आधारपर की गयी है। इसीलिये सबसे हाथ मिलाना या सबको गले लगाना हानिकर सिद्ध हो सकता है। जिन्होंने हैगार्ड (Haggard) का 'आयेशा' उपन्यास पढ़ा है, उन्हें स्मरण होगा कि जब लियो विन्सीने, जो इस मर्त्यलोकका ही एक प्राणी था, आयेशाका—जो देवलोककी आत्मा थी अथवा आध्यात्मिक दृष्टिसे बहुत उन्नत थी—आलिङ्गन किया तो उसी समय उसके प्राण-पखेरू उड़ गये। इसी विषयपर अच्छी तरहसे विचार करनेपर 'स्वयंपाक'—अपने हाथसे भोजन बनानेके सिद्धान्तकी भी पुष्टि होती है। स्वयंपाकमें जो आनन्द मिलता है, वह तो दूसरी ही बात है। यदि कोई बुरे आचरणका मनुष्य भोजन बनाता है तो उसके शरीर और मनकी गंदगी भोजनमें अवश्य प्रवेश करेगी ही, इसमें कोई सन्देहकी बात नहीं है। सुननेमें तो यह बात अजीब-सी मालूम होगी, परन्तु इसे हम परीक्षा करके देख सकते हैं कि किसी हत्यारेके हाथका बना हुआ भोजन करनेसे मनुष्यको हत्याके स्वप्न आने लगेंगे।

दृष्टि-दोषकी बात भी इससे मिलती-जुलती ही है। यह बात निर्विवाद है कि जिस समय आप भोजन कर रहे हैं, उस समय कोई भूखा आदमी लोभभरी दृष्टिसे आपको खाते हुए देखे तो आप उस अन्नको कठिनतासे पचा सकेंगे। प्रायः रसोइये यह नहीं चाहते कि अच्छी वस्तु सारी-की-सारी उनके मालिक ही खा जायँ। परिणाम यह होता है कि उनकी दूषित दृष्टि उस पदार्थपर पड़ जाती है। कई बार हम देखते हैं कि कोई पूर्णतः स्वस्थ मनुष्य सात्त्विक एवं हितकर भोजन करके उठता है और उठते ही उसे कै हो जाती है। प्रत्यक्षमें इसका कोई कारण नहीं दिखायी देता, परन्तु कारण तो ऊपर लिखा ही जा चुका है। इसलिये सबसे सुरक्षित मार्ग यही है कि भोजन बनाने और परोसनेका कार्य हमारी माता, बहिन, स्त्री या लड़कीके ही जिम्मे रक्खा जाय; उनसे हमें दृष्टि-दोषका भय नहीं होगा। दूसरे सम्बन्धी भी हमारे लिये भोजन बना और परोस सकते हैं; परन्तु माँ, स्त्री और कन्या तथा बहिनको ही इस कामके लिये सबसे उत्तम माना गया है। ये जब परोसेंगी तो यह चाहेंगी कि आप उत्तम-से-उत्तम भोजनका अधिक-से-अधिक अंश ग्रहण करें; यदि आप उनका भी कुछ अंश ले लें तो भी वे प्रसन्न ही होंगी। इसीलिये इनके हाथसे बना हुआ तथा परोसा हुआ भोजन अधिक प्राणपोषक, स्वास्थ्यवर्द्धक और बलदायी होता है। माँके हाथका भोजन मिल जाय तब तो पूछना ही क्या! वह तो साक्षात् अमृत ही होता है। वे लोग वस्तुतः भाग्यशाली हैं, जिन्हें माँके हाथका बनाया हुआ भोजन मिलता है, और इसका रस वे ही जानते हैं जिन्हें वह अमृत प्राप्त है।

हमारे शास्त्र यह कहते हैं कि भोजनका कुछ अंश पहले अग्निको तथा अन्य देवताओंको अर्पण करना चाहिये। इस विषयका तात्त्विक विवेचन करनेका यह स्थल नहीं है। संक्षेपमें इतना ही कहना अलम् होगा कि अग्नि तथा अन्य देवताओंको भोजनका कुछ अंश देना वस्तुतः हमारे लिये, हमारे शरीर तथा मनके लिये परम लाभदायक है। जो ऐसा नहीं करते वे नाना

प्रकारकी बीमारियों तथा अन्य प्रकारके कष्टोंको निमन्त्रण देते हैं ।

भोजनकी पवित्रताके सम्बन्धमें ऊपर जितनी भी बातें कही गयी हैं, उन सबका ध्यान रखते हुए भोजन करनेवालेको यह भावना करनी चाहिये कि हम जो कुछ खाते हैं, वह हमारे शरीरकी रचनाके अन्तर्भूत असंख्य प्राणियोंकी तृप्तिके लिये आहुतिरूप है । वास्तवमें भोजनके एक-एक ग्राससे हम अपने पञ्च प्राणोंको—प्राण, अपान, व्यान, उदान और समानको—आहुति देते हैं अथवा इसी बातको दूसरे ढंगसे समझना चाहें तो हम यों समझ सकते हैं कि जो अन्न हम ग्रहण करते हैं वह तो है ब्रह्मा, उसका रस है विष्णु और उसे पचानेवाला है शिव—

अन्नं ब्रह्मा रसो विष्णुर्भोक्ता देवो महेश्वरः ।
एवं ध्यात्वा तु यो भुंक्ते सोऽन्नदोषैर्न लिप्यते ॥

संक्षेपमें कहनेका अभिप्राय यह है कि हमें ऐसे ही पैसेसे खरीदा हुआ अन्न खाना चाहिये, जो हमने स्वयं न्यायसे अर्जन किया हो या जो हमें किसी भले और सच्चे आदमीसे प्राप्त हुआ हो । भोजन या तो हम स्वयं अपने हाथसे बनावें या जिनका आचार-विचार ठीक हो वे बनावें । जो हमारा वस्तुतः प्रेमी और शुभचिन्तक हो, वही हमें भोजन परोसे और भोजन करते समय हमारे पास वे ही लोग रहें जिनकी हमारे ऊपर शुभदृष्टि है । भोजन, जहाँतक बने, सर्वथा एकान्तमें ही करना चाहिये और भोजन करते समय बोलना ठीक नहीं । भोजनके समय विचारोंको संयत रखना चाहिये, और क्रोध, ईर्ष्या या प्रतिशोध अथवा बदला लेनेके भावको मनमें नहीं आने देना चाहिये । खाते समय यदि आप ऐसे भावोंको मनमें आने देंगे तो यह निश्चय जान रखिये—उस अन्नसे आपका जो मन बनेगा, उसमें वैसे ही बुरे भाव भरे रहेंगे और इससे आपकी महान् क्षति होगी । भोजन करते समय चित्तको सर्वथा शान्त और प्रसन्न रखना चाहिये । भोजन करते समय आपको कोई ऐसा संवाद न सुनावे, जिससे आपको चिन्ता अथवा उद्वेग हो—इसका भी ध्यान रहे । जो लोग फोटोग्राफी जानते हैं, उन्हें पता है कि प्लेटको खोलनेमें कितनी सावधानी रखनी पड़ती है । संतानके भावी कल्याणके लिये गर्भाधानके समय भी ऐसी ही सावधानी रखनी चाहिये और हृदयको पवित्र भावोंसे भरे रहना चाहिये । भोजनके समय भी ऐसी ही सावधानीकी आवश्यकता है । यदि प्लेट खोलनेमें गड़बड़ी हो गयी तो चित्र ही खराब हो जायगा । इसी प्रकार यदि भोजन करते समय तुम्हारी चित्तवृत्ति शान्त और सुस्थिर न रही तो यह समझ लो कि तुम्हारे स्वास्थ्य तथा मनपर इसका बुरा प्रभाव पड़ेगा ही । जैसा करोगे वैसा पाओगे, यह सिद्धान्त सभी दिशाओंमें सही है ।

भोजनकी सफाई आदिके सम्बन्धमें, जिसपर आधुनिक विज्ञान इतना अधिक जोर देता है, हमने यहाँ कुछ भी नहीं लिखा है । उदाहरणके लिये—बासी भोजन स्वास्थ्यके लिये हानिकर है; अधिक मिर्च-मसाला पाचनमें गड़बड़ी पैदा कर देता है; भोजन ठूँस-ठूँसकर नहीं करना चाहिये; भोजनके समय जल जितना कम हो सके लेना चाहिये; एक ही थालमें दो या अधिक आदमियोंका एक साथ भोजन करना हानिकर है । चलते-फिरते भोजन नहीं करना चाहिये; एक ही पात्रसे कई आदमियोंको जल नहीं पीना चाहिये, जबतक वह मिट्टीसे खूब साफ न कर लिया जाय । और जिस बर्तनमें आप भोजन कर रहे हैं, वह किस धातुका बना हुआ है—इसपर भी पूरा ध्यान रखना चाहिये ।

गीताके सत्रहवें अध्यायके श्लोक ७से १० तकमें भोजनके सम्बन्धमें बहुत-सी बातें आ गयी हैं और प्रत्येक मनुष्यको अपना भोजन तदनुकूल ही बनानेकी चेष्टा करनी चाहिये ।

हानि क्या ?

कहानी

(लेखक—श्री 'चक्र')

अवधूतजीके इस विशाल मठ एवं वैभवका भी एक इतिहास है। आज ही प्रथम बार वे ऐसे विरक्त नहीं हुए। उनका प्रारम्भिक जीवन भी ऐसा ही था। जब वे गुरुसे उपदेश ग्रहणकर वहाँसे विदा हुए, उस समय उनका वैराग्य अत्यन्त तीव्र था। हाथ ही उनके पात्र थे और कौपीनमात्र उनकी सम्पत्ति थी। बिना माँगे जो कुछ मिल जाता वही खा लेते। रात्रिमें चाहे जिस वृक्षके नीचे भूमिपर ही सो रहते।

आज जहाँ अपने गाँवके पास विशाल मठ है, वहाँ उस समय जंगल था। ठीक मठके स्थानपर एक बबूल, एक नीम और एक शीशमका पेड़ था। सन्ध्याके पश्चात् तो इधर आते डर लगता था। दिनमें चरवाहे यहाँ पशु चराया करते थे।

बीस वर्ष पहलेकी बात है, अवधूतजी कहींसे आकर उसी नीमके नीचे बैठ गये। गोपालोंके द्वारा गाँवमें समाचार पहुँचा, हमने भोजन लाकर उन्हें भोजन कराया। दो-चार और भी भक्तजन आ गये। हमलोगोंने जितने भी धार्मिक प्रश्न किये, अवधूतजीने सबका बड़ा सुन्दर उत्तर दिया। हमें उनपर बड़ी श्रद्धा हो गयी। सब लोगोंने उनसे कुछ दिन यहीं विराजनेकी प्रार्थना की। पहले तो उन्होंने कह दिया 'मैं तीन दिनसे अधिक एक स्थानपर नहीं ठहरता।' पर फिर लोगोंके बहुत आग्रह करनेपर स्वीकार करते हुए कहा—'अच्छा, यदि तुमलोगोंकी इच्छा है तो ऐसा ही सही। इसमें हानि ही क्या है ?'

उस समय चौमासा लगा ही था। एक-दो दिन बाद ही बादल दिखायी देने लगे। हमलोगोंसे यह नहीं देखा जाता था कि महात्माजी वर्षामें खुले स्थानमें रहें। बहुत आग्रह करनेपर भी जब उन्होंने गाँवमें चलना स्वीकार नहीं किया, तो हमलोगोंने वहीं एक फूसकी झोंपड़ी डाल देनेकी प्रार्थना की। बहुत आग्रह करनेपर 'हानि ही क्या है ?' कहकर महात्माजीने आज्ञा दे दी।

(२)

वर्षा बीत गयी। झोंपड़ीमें आग्रह करके वर्षाके कीड़ोंसे बचनेके लिये एक लकड़ीका तख़्ता डाल दिया गया था। गाँवमेंसे सबके घरसे एक-एक दिन भिक्षा आ जाती थी। मैंने आग्रह किया और सन्ध्याको दूध लेना भी स्वीकार हो गया।

सर्दीमें अवधूतजी नंगे सिकुड़ते थे। शौचके लिये भी पात्र नहीं था। भक्तोंने आग्रह किया। 'हानि ही क्या है ?' दो कम्बल और एक कमण्डलु स्वीकार हो गये। कौपीनके अतिरिक्त किसीने एक चद्दर भी दे दी।

सहसा एक दिन झोंपड़ीमें आग लगी और बाबाजीकी कुटिया जल गयी। चद्दर, कौपीन, कम्बल सब जल गये। हम सबने सोचा कि फूसकी कुटियामें तो यह डर बना ही रहेगा। कुछ लोग एकत्र हुए। अवधूतजीसे आग्रह करके आज्ञा ले ली गयी। कच्ची कुटिया बन गयी। जला हुआ सामान फिर आ गया। पर कच्ची कुटियामें भी लीपने-पोतनेका झगड़ा था। वर्षामें वह आधी गिर भी गयी। अतः चंदा करके सबने उसे वर्षाके पश्चात् ही पक्की बना दिया।

अवधूतजीकी प्रसिद्धि दूर-दूरतक हो गयी थी।

बड़े-बड़े लोग उनके दर्शन करने आया करते थे। फल-फूलकी कुटियामें ढेरी लगी रहा करती थी। कम्बल फटा देख किसीने शाल लाकर रख दिये। अब बाबाजी बहुत अस्वीकार भी नहीं करते थे। आग्रह करनेपर कह देते 'रख दो, हानि ही क्या है!' आवश्यकतावश कुटियामें थोड़े-से वस्त्र, पात्र और बाबाजीकी रुचि देखकर पुस्तकें भी रख दी गयीं।

भक्तोंने कुटियाके चारों ओर फुलवारी लगा दी। पशु जब फूलोंको नष्ट करने लगे तो एक घेरा बना दिया गया। एक माली भी अन्तमें रखना पड़ा। कुटियामें पुस्तकोंके बढ़ जानेसे आलमारी बनानी पड़ी। अब सामान बढ़ गया तो उसके लिये एक अलग कुटिया बनवा दी गयी। मालीके लिये भी एक कच्ची झोंपड़ी डाली गयी।

एक दिन बाबाजी एक गायको प्रेमसे पुचकार रहे थे। गायका स्वामी वहीं पहुँच गया। उसने गाय बाबाजीको भेंट कर दी। गायके लिये गोशाला बनी। एक नौकर भी उसकी सेवाके लिये रखना पड़ा। गायके चारेके लिये एक भक्तने कुछ खेत भी बाबाजीके नामसे लगा दिये। जमींदारने कुटियाके आसपासका पूरा वन बाबाजीको दे दिया।

धीरे-धीरे इसी क्रमसे यह विशाल मठ बना। इतनी भूमि मठके नामसे लगी। भक्तोंकी पूजाके लिये मन्दिर बना। कुआँ बना, कथाभवन बना। घोड़े और हाथी भी आ गये। बाबाजी अवधूतसे मठाधीश हो गये।

(३)

बाबाजी न तो अब पहले-जैसे सरल थे और न त्यागी। मठाधीश होनेके साथ उनका स्वभाव भी वैसा ही बन गया। अब वे उसीके घर भिक्षा करते, जहाँ पूरी दक्षिणा मिलनेकी आशा होती। मठमें भी धनियोंका सम्मान होने लगा। दीनोंकी वहाँ पूछ नहीं रह गयी।

तितिक्षा अब अवधूतजीसे कोसों दूर थी। उनका पलंग अब राजाओंके समान सजता था। जहाँ जाते वहीं सेवक उनके बैठनेके लिये गलीचा साथ ले जाता। रेशमी वस्त्र ही पहनते थे। पैरोंमें बहुमूल्य जूता रहता था। मठसे बाहर निकलते तो हाथीपर। सेवक साथमें माला लिये चलते थे। पूरा राजाओं-जैसा ठाट हो गया।

कोई किसीका पशु यदि भूलकर भी मठके किसी खेत या वाटिकामें पहुँच जाता तो वह तुरंत हवालात भेज दिया जाता। किसीके रोने-गिड़गिड़ानेका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता था। हाँ, यदि कोई सम्पन्न पुरुष कह दे तो दूसरी बात।

अवधूतजी विद्वान् तो थे ही। दूर-दूर जाकर कथा एवं उपदेशोंसे उन्होंने बहुत-सा द्रव्य एकत्र कर लिया। बड़े-बड़े लोग उनके शिष्य हो गये। उनका बहुत सम्मान होने लगा। उनका वैभव, ऐश्वर्य, सम्मान तो तुम देख ही चुके हो। इस विषयमें बहुत नहीं कहना चाहता।

अवधूतजीको आज इस नग्न अवधूतवेशमें हरिद्वार गंगा-किनारे देखकर तुम्हें आश्चर्य होगा। पर उनकी इस परिवर्तित दशाका भी एक सुन्दर इतिहास है।

अवधूतजीने रुपयोंका लेन-देन भी आरम्भ कर दिया था। अवसर पड़नेपर गाँवके लोग उनसे रसीद लिखकर रुपया लेते और सूदके साथ वापिस कर देते थे। अपनी लड़कीके ब्याहके लिये राममनोहरने उनसे दो सौ रुपया लिया। उसे एकमात्र खेतीका ही तो भरोसा था। संयोगसे दूसरे साल उसके गल्लेमें आग लग गयी। अनाजकी फसल अच्छी नहीं हुई। वह न तो बाबाजीका रुपया दे सका और न सूद ही।

उसने बाबाजीसे बहुत अनुनय-विनय की, पर इन्होंने अपने मैनेजरपर ही सब छोड़ दिया। मैनेजर

कुछ भेंट-पूजा चाहता था, जो उसे मिल न सकी। उसने दावा कर दिया। न्यायालयने बाबाजीके पक्षमें निर्णय दे दिया। अन्तमें उन्हीं रुपयोंके बदले मैनेजरने राममनोहरके हल, बैल तथा घर भी कुर्क करा लिया। वह बेचारा बिना घर-द्वारका हो गया।

(४)

जाड़ेके दिनोंमें रोता-चिल्लाता स्त्री और बच्चोंके साथ राममनोहर मठपर पहुँचा। मठके द्वारपालोंने उसे भीतर नहीं जाने दिया। संयोगवश उसी समय अवधूतजी बाहर निकले। राममनोहरने पृथ्वीपर मस्तक टेककर उन्हें प्रणाम किया। अपने हृदयकी ज्वाला दबाकर वह बोला—'महाराजजी! यदि मैं आपका रुपया मारना चाहता रहा होऊँ तो मुझसे भगवान् समझेंगे। साधुके साथ मुझे उलझना तो है नहीं। मेरा मकान और सामान लेकर आप सुखी हों। मुझे अपनी चिन्ता तो है नहीं; पर इस जाड़ेमें ये नन्हे-नन्हे बच्चे अवधूत बने मारे-मारे फिरेंगे, यही दुःख है। अच्छा जैसा इनका प्रारब्ध होगा भोगेंगे। केवल दर्शन करने आया था। अब मातृभूमिसे निर्वासित हो रहा हूँ, फिर सम्भवतः दर्शन न हों।'

अश्रुवर्षा करते हुए उसने पुनः प्रणाम किया और मुड़ चला। काष्ठकी भाँति बाबाजी स्तम्भित खड़े थे। उन्होंने भरे कण्ठसे पुकारा 'भैया राममनोहर!' वह लौट आया। बाबाजीका हृदय बदल चुका था। एक सेवकने आज्ञा पाकर कागज-कलम लाकर दिया। बाबाजीने कुछ लिखकर उसी सेवकको दे दिया और राममनोहरसे बोले—'भाई! तुम्हीं लोगोंका दिया हुआ तो मेरा यह सब वैभव है। रुपया मेरा कैसा! जाओ, अपने घर लौटो। मैनेजर नहीं रोकेगा, मेरा तुमपर कोई ऋण नहीं।' वह लौटता तो न था, पर हम सबने समझाकर उसे लौटा दिया।

बाबाजी वहीं बैठ गये। उनका चेहरा उदास हो रहा था। वे अपने आप कहने लगे—'गुरुजीने तुझे पहले ही कहा था कि 'मायाका प्रलोभन बड़ा भयंकर होता है। तनिक-सी ढिलाईमें सब चौपट। 'मैं हूँ'—इस 'अहं'से ही तो इतना बड़ा संसार बन जाता है; फिर जहाँ संसार है, वहाँ पतनको आते कितनी देर! अतः बहुत बचकर रहना। तनिक भी प्रमाद मत करना।' पर तूने उन वचनोंपर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। तू अपने मनके धोखेमें आकर उसीपर विश्वास करता रहा। अब देख कि तू कहाँसे कहाँ पहुँच गया। तनिक-सी ढिलाई करके नियमको शिथिल करनेमें क्या हानि है, यह देख लिया! क्या अब तू पुनः उसी स्थितिको प्राप्त हो सकेगा?

अच्छा! चल, अब भी सम्हल जा।' बाबाजी उदास मनसे मठमें लौट आये।

(५)

दूसरे ही दिन गाँवमें यह समाचार फैल गया कि अवधूतजी रात्रिमें ही मठसे कहीं चुपचाप चले गये। अपने पहननेके वस्त्र भी वे छोड़ गये थे। न तो किसीको पता था और न कोई साथ गया था। पलंगपर एक कागज मिला, जिसमें लिखा था 'मैं अवधूत हूँ; इतने दिन भ्रष्ट हो गया था, अब पुनः अपने पथपर जा रहा हूँ। मेरे पथमें विघ्न डालकर पापभागी बननेका कोई प्रयत्न न करे। मठकी सम्पत्ति दीनोंमें बाँट दी जावे। सबके कर्ज मैंने छोड़ दिये। भूमि और मठकी स्थायी सम्पत्ति धनहीन लोगोंकी चिकित्साके काममें आवे।'

आज तीन महीनेके बाद इस वेशमें अवधूतजीके हरद्वारमें दर्शन हुए हैं। आओ, उन्हें प्रणाम कर लें। मैंने केशवके साथ जाकर अवधूतजीको प्रणाम किया। पहचानकर वे मुसकुराये और 'हरिः ॐ' कहकर एक ओर चलते बने।

उलहना

(१)

यदुनन्दन हमसे रूठे हैं, रो-रोकर प्राण बुलाते हैं।
करुणानिधान करुणासागर कानोंपर बात उड़ाते हैं॥
हम जग-जीवन जीवन-धनको पड़-पड़कर पाँव मनाते हैं।
कुछ बात है लेकिन जिद्दकी-सी, वह और बिगड़ते जाते हैं॥
अच्छा रूठो! जो होना हो, प्रभुकी इच्छा अनुसार रहे।
दीनोंके करुणा-क्रन्दनका, लेकिन कुछ सोच-विचार रहे॥

(२)

सुखदायक है, अति उत्तम है, दासोंको सदा तरसाया करो।
प्राणेश्वर! जाओ, व्रजभरमें छलिया, चितचोर कहाया करो॥
संकीर्ण घरोंमें ग्वालोंके, हृदयेश्वर! रंग रचाया करो।
अबलाओंका माखन हरकर, सर्वेश्वर! नाम कमाया करो॥
नाता टूटा, झगड़ा छूटा, क्यों सिरपै किसीका भार रहे।
क्या होना है—दिखला देंगे, यदि जीवित किसी प्रकार रहे॥

(३)

नंगे पग दौड़े आते हो, गजराजसे गहरा नाता है।
सुख-सेज छोड़कर धाते हो, गोवत्स अगर रंभाता है॥
व्रज-वनिताओंका प्रेम तुम्हें वन-वीथिनमें नचवाता है।
ग्वालों-बालोंके आँगनमें क्यों हृदय-कमल खिल जाता है॥
प्राणोंके तारोंपर मेरे जीवन-धनकी झंकार रहे।
लेकिन वह अँखियाँ फिरी रहें, दुखकी लयका विस्तार रहे॥

(४)

इन जरा-मरण-संततोंका स्वामी अनन्त कहलाया है।
विख्यात पतितपावन होकर पतितोंसे गौरव पाया है॥
असुरारि अधम-उद्धारनका अधमोंने मान बढ़ाया है।
दुखभंजन आरतपाल बने दीनों-दुखियोंकी माया है॥
हो प्रणतपाल, प्रण पालो ना! सीधा-सच्चा व्यवहार रहे।
स्वामी-सेवकके झगड़ेमें, देखेंगे किसकी हार रहे॥

(५)

यदि प्रेमशून्य है मन मेरा, तो प्रेम-सुधा बरसा दीजे।
मधुमय अनन्त आकर्षणसे उस छविकी लगन लगा दीजे॥
मोहन! मेरे अन्तस्तलमें वह मधुमय पीर उठा दीजे।
मेरे इन आकुल प्राणोंपर चरणोंका चिह्न बना दीजे॥
बसिये आकर इन नैनोंमें, सारा संसार असार रहे।
बन्धन कट जाये दुनियाका, और खुला कृपाका द्वार रहे॥

(६)

इस अंधकारमय जीवनमें एक जीवन-ज्योति जगा देना ।
सुखमय संसार बना देना, मेरा अस्तित्व मिटा देना ॥
नश्वर पथके भूले-भटके, प्रीतम-पथ-पथिक बना देना ।
मेरे इन पागल प्राणोंको प्राणेश्वरतक पहुँचा देना ॥
इस रक्त-मांसमें जीवनका 'बेकल' जबतक संचार रहे ।
राधा-माधवका सुमिरन हो, 'गोविन्द' नाम आधार रहे ॥

—श्रीकेदारनाथ 'बेकल'

गृहस्थ-जीवन एक समझौता है !

(लेखक—श्रीरामनाथजी 'सुमन')

दुनिया एक अजीब-सी जगह है । लोग आते हैं, जाते हैं और सब अरमानोंकी एक बस्ती दिलोंमें बसाये हुए । यों मालूम यह पड़ता है मानो यहाँ कोई नियम नहीं है—कोई व्यवस्था नहीं है, और जो चीज एकके लिये जहर है वही दूसरेके लिये अमृत है । समुद्रकी अनन्त लहरोंकी तरह एक इच्छा दूसरीके ऊपर उठती है और हमें चैन नहीं लेने देती । स्वस्थ जवान आदमियोंको जिन्दगी और परिस्थितिसे ऊबकर और परेशान होकर मैं मौतके लिये तड़पते देखता हूँ और ऐसे बूढ़े, जो खा नहीं सकते, पी नहीं सकते, चल-फिर और उठ नहीं सकते,—मतलब हर तरहसे लाचार, लालसाओंकी एक दुनिया लिये कुछ और जीनेके लिये प्रतिक्षण मर रहे हैं । जिनका घर भरा-पूरा है और लाखों बैंकमें हैं, ऐसे आदमी गृहत्यागी होकर फकीरकी धूनी रमा लेते हैं और जिसको मशक्कत और मजूरीसे १५) मिलते हैं वे अपने कुटुम्बोंसे चिपटे हुए हैं । धनवान् रोता है और कहता है इससे तो मेरे नौकर अच्छे हैं । गरीब रोता है कि ये धनवान् उसकी छातीपर बैठे भोग-विलास कर रहे हैं । वह दुःख-भरी निराशा और लालसासे उन बाबुओंकी ओर देखता है जो अपने साथ एक सजी हुई, तमाशेकी चीज-सी, श्रीमतीको लिये उसपर डाँट-फटकार करते और ईमानदारीका उपदेश देते, चीजें-पर-चीजें खरीदते और उन्हें उसके सिरपर यों लादते चले जा रहे हैं जैसे उसके कंधे और सिर इसीलिये बनाये गये हों और उसके लिये वजनका कुछ ख़्याल करना जरूरी नहीं है । एक सन्तानके लिये तरस रहा है, दूसरा सन्तानको पाकर दुनिया सिरपर उठाये हुए है । अच्छी, हरी-भरी गृहस्थियाँ देखते-देखते मिट जाती हैं और जिनको मिटना है, वे मानो अमृत पीकर दुनियामें आये हैं ।

जब मैं देखता हूँ तो यह सब एक अजीब तमाशा-सा लगता है । जैसे हमारी आँखोंके आगे एक अत्यन्त विविधतामय चित्रपर तह-पर-तह खुलता जा रहा हो । क्या अच्छा होता कि हम सिर्फ़ इसके

तमाशाई रह सकते—दर्शक बनकर इसे देख सकते; पर मुश्किल यह है कि हम भी उसीके अंग हैं और अगर नहीं हैं तो बहुत जल्द बन जाते हैं। हमें भी उस चक्करमें घूमना है और स्टेजपर अपना पार्ट अदा करना है।

यह पार्ट अदा करनेमें बड़ी सहूलियत हो अगर हम अपने अंदर विनोदकी वृत्ति पैदा कर लें और ठीक-ठीक समझ लें कि क्या करनेसे जिन्दगीमें जो इतनी खराश और तुर्शी है, इतनी पीड़ा और दुःख है, वह दूर किया जा सकता है या कम किया जा सकता है।

चूँकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, इसीलिये वह गृहस्थ भी है। गृह-जीवन समाजका एक लघु चित्र है। समाजकी नींव मिलनसारी, एकता, स्वार्थोंके समन्वय और सामञ्जस्यपर है। यह बात समाजके लिये जितनी ठीक है उससे भी ज्यादा गृहस्थ-जीवनके लिये ठीक है। जो आदमी इसे नहीं समझता कि जिन्दगी एक समझौता है और विवाहित जीवन पूरा-का-पूरा समझौते और समन्वय, मेल-जोल, आदान-प्रदानकी एक श्रेष्ठ साधनाका जीवन है, वह मानो आँख रहते हुए भी देखकर चलनेसे इन्कार करता है। सैकड़ों लहलहाती हुई गृहस्थियाँ इस बातको न समझनेके कारण श्मशान बन गयी हैं। सैकड़ों दिल इसपर ध्यान न देनेके कारण फट गये हैं। उनमें खटाई पड़ गयी है। वे रोते हैं, कराहते हैं, मसोसते हैं, सिसकते हैं। उनका दम घुट रहा है और जिन्दगी भारी पड़ गयी है।

कुछ दिन हुए एक अजनबी सज्जन मेरे यहाँ आये। अकस्मात् इनका आगमन हुआ। गोरे-चिट्टे, सुन्दर चेहरा, भरपूर जवानी, स्वास्थ्य भी कुछ बुरा नहीं। देखनेसे मालूम हुआ आदमी दिलका भला है। उनका चेहरा दूसरोंमें अपने प्रति विश्वास उत्पन्न करता था। मैं इन्हें जानता न था, न इनके आनेकी कोई सूचना मुझे थी। इसलिये मैंने प्रश्नभरी आँखोंसे उनकी ओर देखा। बड़ी नम्रता और संकोचसे उन्होंने मुझसे कुछ समय माँगा और एकान्तमें बात करनेकी इच्छा प्रदर्शित की। खैर, मैं उन्हें अलग ले गया; खूब खुलकर बातें हुईं। वे सारी बातें उस व्यक्तिके गृहस्थ-जीवनसे सम्बन्ध रखती थीं और उनका विवरण देना न यहाँ इष्ट है और न उस आदमीके प्रति न्याय ही होगा। पर उन बातोंका सारांश इतना ही है कि यह सज्जन आगरेके रहनेवाले, अच्छे पढ़े-लिखे और घरके सम्पन्न हैं। इन्होंने मेरी पुस्तक 'भाईके पत्र' पढ़ी थी तथा समय-समयपर पत्रिकाओंमें निकलनेवाले गृहस्थ एवं विवाहित जीवन-सम्बन्धी मेरे अधिकांश लेखोंको भी इन्होंने पढ़ा था। इससे उनकी मेरे प्रति एक सद्भावना—जिसे श्रद्धा भी कह सकते हैं—थी। उनके मनमें यह ख़याल था कि मैं गृहस्थ-जीवनकी विशिष्ट समस्याओं या कठिनाइयोंके बारेमें उनका कुछ पथ-प्रदर्शन कर सकता हूँ। इसलिये वे आये। उन्होंने अपनी पत्नीकी बड़ी तारीफ़ की और उसके प्रति अपने प्रेमका मुझे विश्वास भी दिलाया। पर दोनों एक-दूसरेसे प्रेम करते हुए, दोनोंके शुभाकांक्षी होते हुए भी, आचरणमें कुछ ऐसी बातें कर जाते थे कि दोनोंके दिल मिल नहीं पाते थे। दोनोंको अपनी इस असफलतापर दुःख था; वे सोचते थे, सब कुछ पाकर भी हम सुखी नहीं हो पाते।

बात इतनी है कि दोनोंके जीवन और कार्य करनेकी दृष्टियोंमें, ढंगमें कुछ भेद है। और पति

महोदय अपनी दृष्टि और कार्य-प्रणालीके प्रति इतना आग्रह रखते हैं, उसपर इतना ज़ोर देते हैं कि एक विभेद ठोसरूप धारण कर लेता है। और सम्पूर्ण शुभाकांक्षाओं और सहानुभूतियोंके बावजूद दोनों रह-रहकर टकरा जाते हैं। पतिका कहना है कि मैं जो कुछ अपनी पत्नीसे चाहता हूँ वह कुछ अपने सुखके लिये नहीं है; वह उसीकी उन्नतिके लिये और उसीको समर्थ और शक्तिमान् बनानेके लिये आवश्यक है। फिर पति महोदय सार्वजनिक जीवनके प्रति भी कुछ आकृष्ट हैं और चाहते हैं कि पत्नी खिंचकर उनके साथ आ जाय तो समाजमें कुछ उपयोगी कार्य कर सकनेका रास्ता सरलतासे निकल आवे और उन दोनोंकी मर्यादा और सामर्थ्यमें भी सुधार और विकास हो। पत्नी पतिकी इन आकांक्षाओंके प्रति सजग तो है और उनके प्रति सहानुभूति भी रखती है, पर उसका स्वभाव कुछ ऐसा है कि वह अपने घरकी तरफ़, अपने बाल-बच्चोंकी तरफ़ और गृहस्थ-जीवनकी दूसरी बहुतेरी दैनिक आवश्यकताओंकी तरफ़ अधिक आकृष्ट है और अपने बच्चोंके पालन-पोषण तथा संस्कारको उसने जीवनमें अधिक महत्त्व दे रक्खा है।

मैंने इस भाईसे जो कहा, वही सबसे कहनेकी आवश्यकता है। वह यह है कि भरसक अपने सिद्धान्तोंके अनुसार जीवन व्यतीत करते हुए भी हमें अपने घरवालों, अपने साथियों तथा समाजके अन्य लोगोंके प्रति काफ़ी उदारता और सहिष्णुताका व्यवहार करना चाहिये। जैसे हम अपनेको अपने विश्वासके अनुकूल चलनेको स्वतन्त्र मान लेते हैं और तदनुकूल आचरणका अधिकार भी चाहते हैं, वैसे ही दूसरोंके विश्वास और अधिकारको भी हमें मानना चाहिये। 'मेरा ही मार्ग और धर्म ठीक है' इसको लेकर ही दुनिया नरक बन गयी है। मेरा मार्ग मेरे लिये ठीक हो सकता है और मैं दूसरोंसे भी उसपर चलनेको कहूँगा, पर मेरी सम्मति न स्वीकार करनेवालोंके साथ लड़ाई या ज़ोर-ज़बर्दस्ती नहीं करूँगा। यदि यह बात न मानी जाय तो एक क्षण दुनियाका काम नहीं चल सकता।

दुनियामें जो इतना दुःख और कष्ट, इतनी हाय-हाय है, उसके मूलमें यदि हम जायें तो वहाँ यही बात मिलेगी कि आदमी खुद अपनेको तो बड़ी सहानुभूति और उदारतासे देखता है और दूसरोंकी ज़रा-ज़रा-सी बातोंपर एक तूमार खड़ा कर देता है। यह दुनियामें रहनेका बिल्कुल ग़लत तरीक़ा है। हम अपनी ग़लतीकी लम्बी-चौड़ी सफ़ाई देते हैं; परिस्थितियोंकी दोहाई देनेसे नहीं चूकते; अपनी विवशता दिखलाकर दूसरोंसे हमदर्दीका दावा करते हैं; पर दूसरोंकी राईभर ग़लतीको पहाड़के रूपमें देखते हैं। मैं मानता हूँ कि इस दृष्टिकोणको लेकर कोई आदमी सुखी नहीं हो सकता।

फिर मैत्री, प्रेम और सामञ्जस्यके लिये कुछ यह अनिवार्य नहीं है कि जीवनकी तफ़सीलकी बातोंमें पति-पत्नी या और लोग हर वक़्त एक ही राय रखते हों। इतना ही कि अलग-अलग राय रखते हुए भी दोनोंके दिलोंमें एक-दूसरेके प्रति वफ़ादार रहने, एक-दूसरेको ईमानदारी और सचाईके साथ समझनेकी कोशिश हो। दोनोंमें एक-दूसरेके लिये दर्द और अपनेपनका भाव हो। एक-दूसरेके गुणोंको देखनेकी तरफ़ ध्यान हो और छोटी-मोटी बातोंपर इतना ध्यान न दिया जाय कि ज़िन्दगीके वास्तविक तत्त्वोंके प्रति,

उन चीजोंके प्रति जिनपर जीवनके सुखका दारोमदार है, अन्याय और उपेक्षा हो ।

मैंने इन मित्रसे कहा और उसे दोहराता हूँ कि आपने खामखा अपनी जिन्दगीमें खलिश पैदा कर रक्खी है । यह बैठे-बिठाये दुःख खरीदना है और जिस जमीनमें फूल उग सकते हैं उसमें काँटे बोना है । कोई भी जीवन एकाङ्गी दृष्टिकोण लेकर जब चलता है तो सिवा दुखी और असहिष्णु होनेके और वह क्या हो सकता है ? फिर विवाहित जीवन तो किसी तरह केवल एक बिन्दु या क्षेत्रमें समर्पित होकर फूल-फल नहीं सकता । वह विविध दृष्टिकोणों और विविध स्वार्थोंके सामञ्जस्यकी साधना है, जिसमें सब न सिर्फ अपना बल्कि दूसरोंका हित भी देखते हैं और यह अनुभव करनेकी कोशिश करते हैं कि दूसरोंके हितसे अपना हित अलग नहीं है—उसीके साथ जुड़ा हुआ है । इसलिये आपकी पत्नी यदि सदा आपके साथ सभा-सोसायटियोंमें नहीं जा सकती अथवा आपकी मित्रमण्डलियोंका साथ नहीं दे सकती तो इसमें दुखी होने लायक तो कोई बात नहीं है—तबतक जबतक वह आपके प्रति ईमानदार और वफ़ादार है; जबतक आपके जीवनसे उसकी सहानुभूति है; जबतक वह आपके प्रेम-सूत्रसे बँधी हुई है और आप फूलें-फलें एवं सुखी हों इसकी चिन्ता भी रखती हो—इसके लिये सचाईके साथ कोशिश भी करती हो । विवाहमें पति-पत्नी दोनोंका व्यक्तित्व लोप नहीं हो जाता बल्कि दोनों-की सहायतासे दोनोंका व्यक्तित्व विकसित होता और मानव-समाजसे विस्तृत और सहानुभूतिके सम्बन्धोंमें जुड़ता है । जहाँ आग्रह है तहाँ स्वार्थ है । इसलिये पत्नीके झुकावको लेकर इतना दुखी होनेकी जरूरत क्या है ? आखिर वह कोई अनुचित काम तो करने जा नहीं रही है ।

चाहे समाजको हम स्थायी या पेशेवर वर्गोंमें बाँटें या न बाँटें, पर सब काम सब लोग कर नहीं सकते । जीवनमें विविधता निरर्थक नहीं है । प्रत्येक प्राणीका अपने संस्कार, परिस्थिति और प्रेरणाके अनुसार अलग-अलग प्रवृत्तियोंकी तरफ़ झुकाव होता है और हम सबको एक ही प्रवृत्तिको ग्रहण करनेके लिये विवश नहीं कर सकते । ऐसा होनेसे व्यक्तिका विकास रुक जायगा; वह एक यन्त्रमात्र रह जायगा; अपनी विवेचन और चुनावकी शक्ति खो देगा और समाज अव्यवस्थित तथा त्रस्त हो जायगा । आवश्यकता इतनी ही है कि हम विभिन्न प्रवृत्तियोंको ग्रहण करके भी अपनेको सङ्कुचित न होने दें; सबके कार्योंकी ओर सहानुभूति-की दृष्टि डालें और उनके बीच विरोधकी जगह ऐक्य-की अनुभूति करें ।

हमारे उपर्युक्त मित्रकी पत्नी किसी प्रकार उनके जीवनके विकास या उन्नतिमें बाधक नहीं है । वह समाजके उत्तरदायित्वका एक भारी बोझ वहन कर रही है । अपने पतिसे उसकी समाज-सेवा कुछ कम नहीं है—हाँ, वह इतनी वाचाल नहीं है और शायद सेवा एवं त्यागके गम्भीर नामोंका उपयोग करनेकी कला भी उसे नहीं मालूम है । यदि वह पतिके मार्गपर पड़े कङ्कर और काँटोंको चुन रही है तो पतिके साथ-साथ क्या उसकी यात्रा जारी नहीं है ? उसका काम उस श्रमिकका काम है जिसने मकानकी नींवमें बड़ी ईमानदारीके साथ कंकरियाँ डाली हैं, सुर्खी पीटी है और नींवको इतना पुष्ट कर दिया है कि उसपर सुन्दर एवं विशाल मकान उठाये जा सकते हैं । अवश्य ही जो दर्शक इस भव्य भवनको देखने आयेगा वह उसमें किये रङ्ग एवं चित्रकारीको देखकर आश्चर्यसे दाँतों-तले उँगली दबा लेगा और उस शिल्पकार एवं चित्रकारकी प्रशंसा करेगा । उस समय उसका ध्यान उस गरीब

मजदूरकी ओर न जायगा जिसकी मेहनतसे कूटी-पीटी गयी नींवपर यह विशाल भवन खड़ा है। पर इससे उसके कार्यका महत्त्व कुछ घट नहीं जाता। दुनिया प्रदर्शन-प्रिय है; पर दुनियाके विकास और निर्माणके मूलमें प्रदर्शन-प्रियता नहीं, कर्त्तव्य एवं प्रेमकी आराधना है।

किसी पतिका अपनी पत्नी (अथवा कुटुम्बके एक सदस्यका दूसरे)से अपने ही मार्गपर चलनेका आग्रह न न्यायोचित है और न सम्भव ही है। ऐसा करना विवाहित जीवनकी जड़में कुल्हाड़ी मारना है। विवाहित जीवन अनुभूतियों एवं सहानुभूतियोंके क्षेत्र-विस्तारका क्रियात्मक अभ्यास है। इसका आदर्श ही समाप्त हो जाता है यदि हम एक हठ पकड़कर बैठ जायँ और सबसे आशा करें कि वह जिन्दगीकी हर बातमें हमारा ही अनुकरण और अनुसरण करे। जो पति ऐसा चाहता है वह पत्नीके मानो प्राण हरण कर लेता है।

मैं मानता हूँ, बहुतेरी स्त्रियाँ पुरुषके प्रभुत्वको मानकर सिर झुका देती हैं। पर यह पुरुषकी श्रेष्ठता-की स्वीकृति नहीं है; यह अपनी विवशता और बेचारगीकी अनुभूति है। बहुत सम्भव है, तुम दबाओ और तुम्हारी पत्नी तुम्हारी आज्ञापर 'डिटो' (एवन) कर दे—ओठ हिला दे; पर उसी क्षण उसकी आत्मा मुरझाने लगती है और प्राणोंके उगते और खिलते हुए अङ्कुर सूखने लगते हैं। एक जीवित, तेजस्वी, प्राणमय पत्नीकी जगह हम शिथिल, अर्द्धमृत और विवेकशून्य प्राणीकी जीवनमें प्रतिष्ठा करने लगते हैं। कैसा यह आश्चर्य है!

इस तरहकी बातें बहुत कही जा सकती हैं और उदाहरण भी बढ़ाये जा सकते हैं। कहनेका तात्पर्य इतना ही है कि समाज-जीवनकी यात्रामें, विवाहित जीवनके क्षेत्रमें, क्या जिन्दगीके प्रत्येक क्षेत्र और विस्तारमें, यह बात सदा याद रखनेकी है कि जिस नींवपर मनुष्यके सब प्रयत्न खड़े हैं, जिस सिद्धान्त और विश्वासपर समाज खड़ा है, वह समझौते और सामञ्जस्यका सिद्धान्त है। अविवाहित या विवाहित कोई आदमी इसे भूलकर एक कदम नहीं चल सकता और चलता है तो वह अवाञ्छनीय परिणामोंका शिकार होता है।

इसलिये जो युवक विवाहित जीवन अङ्गीकार कर चुके हैं या जो विवाह करने जा रहे हैं और जो चाहते हैं कि यह विवाहित जीवन एक बोझ, एक दुःख, एक गतानुगति और काँटे-सी चुभनेवाली चीज बनकर न रह जाय, बल्कि फूल-सा खिल उठे और सुगन्धकी तरह जीवनके कण-कणमें बस जाय, उसके लिये बहुत जरूरी है कि वह इस बातको अच्छी तरह समझ ले। अज्ञानकी वजहसे और स्थितिको गलत समझनेके कारण हजारों गृहस्थियाँ उजड़ जाती हैं। आदमी जान-बूझकर मूर्ख नहीं बनना चाहता और न जानते हुए दुःख खरीदना चाहता है। आदमीकी जिन्दगी अकसर खराब इसलिये नहीं होती कि उसमें सहानुभूति या सचाईकी कमी होती है। मैंने अनेक ऐसे घरोंको मिटते देखा है जिनमें पति और पत्नी दोनों अच्छे, नेक, शरीफ और एक-दूसरेको प्रेम करनेवाले थे। मुश्किल यह है कि झगड़े जिन्दगीके उद्देश्य, लक्ष्य या बड़े सवालोंपर उतने नहीं पैदा होते जितने छोटे-छोटे और देखनेमें गैर-जरूरी मसलोंपर पैदा होते हैं। आदमी सोचता

है—इनपर क्या ध्यान देना है। उधर जहर नीचे इकट्ठा होता जाता है और हम चौकन्ने तब होते हैं जब नासूर पड़ जाता है। नासूरका कायदा है कि वह हमें अकसर धोखा देता है। जब वह नीचेसे सड़ रहा होता है तब ऊपरसे हमें स्वस्थ दिखायी देता है और जब हमें उसकी ओरसे कोई भय नहीं होता तब वह एकाएक फूटकर बह निकलता है।

तो मैं कह यह रहा था कि दाम्पत्य-जीवनमें पीड़ा और दुःखका अनुभव अकसर इसलिये नहीं होता कि पति-पत्नी एक-दूसरेको सुखी करनेको उत्कण्ठित नहीं होते वरं इसलिये होता है कि हम एक खास रास्तेपर ही चलनेका हठ पकड़ लेते हैं— प्रकृति और स्वभावकी भिन्नताको भूल जाते हैं और सपनों और झूठे तथा उन्मादक अरमानोंकी दुनियामें उड़ने लगते हैं।

मैं एक मित्रको जानता हूँ जो अपनी पत्नीके लिये खुशीसे प्राण दे सकते हैं। उनके इस दावेमें मुझे अविश्वास करनेका कोई कारण नहीं है। पर अकसर मैंने देखा है कि उस वक्त जब 'क' कहना चाहिये, वह 'ख' कह जाते हैं; जब चुप रहना चाहिये तब एक व्यङ्ग मुखसे निकालनेका लोभ समेट नहीं सकते। जब जरा हँसाने और गुदगुदानेकी जरूरत है तब वे चेहरा बना लेते हैं। जब पत्नी उनके मुँहकी ओर प्रश्न-सूचक दृष्टिसे देखती है, जब वह उनसे कुछ बात-चीत, कुछ सुनना, दिलकी दो बातें करना चाहती है तब उनका शास्त्रका अध्ययन करना और वैज्ञानिक विषयोंपर चिन्ता करना जरूरी हो उठता है। इससे दिलोंमें प्रेम और वफ़ादारी होते हुए भी दोनों दिल सतहके अन्दर अलग-ही-अलग रह जाते हैं। दोनों मिलनेके लिये तड़पते होते हैं पर मिल नहीं पाते। और एक बार यह अकड़नेका, यह झूठे मानका अंदाज आया कि हम दुःख और विवशताकी खाईमें गिर पड़ते हैं, हाथ-पाँव मारते हैं पर निकल नहीं पाते। इस लाचारीपर हममें खीझ और पश्चात्तापका भाव पैदा होता है— हम रोते हैं, पर हमारे आँसू बिल्कुल व्यर्थ चले जाते हैं।

जैसा कि मैं बहुत बार कह चुका हूँ, दाम्पत्य-जीवनके सुख बड़े-बड़े सिद्धान्तोंपर उतने निर्भर नहीं हैं जितने उन सिद्धान्तोंका दैनिक जीवनमें हम प्रयोग किस प्रकार करते हैं, इसपर निर्भर है। हम प्रेम और उदारताकी बातें बहुत करते हैं, निरभिमानताकी सीख देनेमें सबसे आगे होते हैं; पर जब जरूरत पड़ती है कि हम इनसे काम लें न जाने हमारी दृढ़ता कहाँ लोप हो जाती है।

हम जीवनके आधारभूत सत्योंके प्रति अकसर इतना कम जागरूक रहते हैं कि आश्चर्य होता है। और मेरा ख्याल है कि अधिकांश व्यक्ति जितना इस बातको भूलते हैं उतना और किसी बातको नहीं कि गृहस्थ-जीवन समझौतोंका जीवन है—इसपर कदम-कदमपर आकांक्षाओं और अरमानोंपर नियन्त्रण एवं शासन है तथा अनेक जीवनों, उनके अनुभवों एवं अनुभूतियों, उनकी कल्पनाओं और विश्वासोंका यह सामञ्जस्य है। यह औसत, यह समन्वय ही सुखका मार्ग है और उन्नतिकी सीढ़ी है। यदि तुम इसे जीवनकी यात्रामें चलते हुए सदा याद रख सको तो तुम्हारे पाँवमें काँटे न चुभेंगे और जो काँटे तलुवों-तले आयेंगे वे फूल बनकर तुम्हारे चरणोंका वन्दन करेंगे।

सन्तोष

(लेखक—श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)

संसारमें यदि किसी वस्तुका वास्तवमें अभाव है तो वह सन्तोषका है। 'सन्तोषमें ही परम सुख है'—यह हमारे शास्त्रकारोंका वचन है; किन्तु आधुनिक सभ्यतामें जीवनके लिये जहाँ अनेक नये सिद्धान्तोंकी रचना हुई है, वहाँ सन्तोषके विषयमें भी नये नियम बने हैं। आप पूछ सकते हैं कि ऐसा क्यों होता है? इसका कारण है। यदि नया समाज यह कहता है कि सन्तुष्ट व्यक्ति मुर्दा होता है, सन्तोषकी भावनाके जागृत होते ही विकासका क्रम समाप्त हो जाता है तथा सन्तोषके परे ही प्रगति होती है, तो एक प्रकारसे बहुत गलत बात भी नहीं है। जिस प्रकार धार्मिक सिद्धान्तोंमें कहीं-कहीं अर्थका अनर्थ किया जाने लगा है, अविद्याके कारण हम धर्मके तत्त्वका निस्सार अर्थ लगाने लगे हैं, उसी प्रकार सन्तोषीका अर्थ 'आलसी' हो गया है।

किन्तु यदि मूर्तिपूजाके महत्त्वको न समझनेवाला उसे बुरी दृष्टिसे देखे अथवा वर्ण-व्यवस्थाका मर्म न जाननेवाला उसे निरर्थक वस्तु समझे तो इससे इन दोनों चीजोंकी महत्ता नहीं घटती। यह हो सकता है कि कुछ मूर्तिपूजक स्वयं अपना कर्तव्य न समझते हों—पर इससे भी वस्तुविशेषकी प्रधानता नहीं कम होती। इसी प्रकार सन्तोषकी भी माया है। जो निरुद्यमी होता है, निष्फल होता है, असफल होता है, वह अपनी कमीको छिपानेके लिये अपनेको सन्तोषी कहकर संसारको धोखा देना चाहता है। जो विना ज्ञान-विज्ञानका, विना माया-ममताका हनन किये केवल पाखण्डी साधु होता है, वह भी इसी प्रकार अपनेको सन्तोषी जीव कह सकता है। पर इससे सन्तोषनामक महान् वस्तुकी महत्ता कम नहीं होती।

नयी सभ्यताने हरेक प्राणीको 'आगे बढ़ो' का मन्त्र दिया है। पर इसके साथ ही, कहाँतक बढ़ो, यह नहीं बतला सकी; क्योंकि इसका स्वयं उसे ज्ञान नहीं है। बढ़ना—ठीक बात है। पर कैसे बढ़ना, यह भी बतलाना चाहिये। 'आगे बढ़ो'का मतलब दूसरेको गिराते हुए बढ़ना है, तो उससे क्या लाभ हुआ? यदि प्रगतिका मतलब दूसरेकी अवनति हुई, तो इससे किसका कल्याण होगा? यदि स्वाधीनताका अर्थ—स्वराजका अर्थ किसीकी पराधीनता हुई, तो इससे क्या सचमुच किसीको कोई लाभ हुआ? और नयी सभ्यतामें हम यह क्यों नहीं सोचते कि जिसे हम प्रगति कह रहे हैं, वह वास्तवमें वही है? जिसे हम 'आगे बढ़ना' कहते हैं, वह क्या एक तृष्णाका गन्दा रूप तो नहीं है? जिसे हम समाजका महापुरुष समझते हैं क्या वह लोगोंको उन्मत्त तो नहीं बना रहा है और लोग मृगतृष्णाके शिकार तो नहीं हैं?

यह बात सोचनेकी है और इसपर काफी सोचना चाहिये। इसमें हमारा स्वार्थ भी है। उस प्रगति, उस विकास, उस धन या समृद्धिसे क्या लाभ जिससे मानसिक सुख न प्राप्त हो! यदि हमारा मन रोज़ एक-न-एक विचारमें मग्न नहीं बल्कि पीड़ित है, यदि हम एक पग आगे बढ़ाते हैं और मानसिक उलझनोंको भी उतना आगे बढ़ा देते हैं तो क्या इससे हमें कोई लाभ हुआ! इसी प्रकार परेशानियोंमें उलझा हुआ मन उसी दिन शान्त होता है जब कि प्राणपखेरू उड़ जाता है और प्रेतरूपमें भी आत्मा भटका करती है। दुनियाके हरेक कार्यका उद्देश्य सुखी होना है। सुख शरीरका नहीं, मनका चाहिये। मनका सुख किसे प्राप्त है, किसे नहीं, यह कहना तो बहुत

कठिन है; पर विरलोंको ही प्राप्त है, यह कहना सरल है—गलत नहीं ।

हम समझते हैं कि धनी व्यक्ति बड़ा सुखी होगा । उसे, और चाहे जो हो, रोजके लिये पेट भरनेकी समस्या नहीं है । पर यदि आपके पास काफी पैसा हो, भोजनका अच्छा-से-अच्छा सामान सुलभ हो, फिर भी पेटकी बीमारीके कारण आप एक दाना भी न खा सकते हों तो आप अपनेको सुखी समझियेगा या उसे जो एक मुट्ठी चना खाकर कँकरीली जमीनपर ऐसी गहरी नींद सोता है मानो वह मखमलके गद्देपर लेटा हो ! मखमलके गद्देपर भी लेटनेवाले उस गरीबके समान गहरी नींद नहीं सो पाते । ऐसा क्यों होता है ? एकको धन इकट्ठा करनेकी चिन्ता है, दूसरेको पेटभर भोजनकी । पेट जल्दी भर जाता है । धनका घड़ा कभी भरता ही नहीं । इस विषयमें मुझको जार्ज बर्नर्ड शॉकी एक बहुत सुन्दर उक्ति याद है—

'जिस आदमीके दाँतमें दर्द होता है, वह यह सोचता है कि जिसके दाँतमें दर्द नहीं है वही परम सुखी है !' (A man with toothache considers that everybody with sound teeth is happy.)

आगे चलकर बर्नर्ड शॉ कहते हैं—

'यही दशा गरीबोंकी है, जो हरेक अमीरको सुखी समझते हैं ।' (The same is the case with the poor, who think every rich man is happy.)

मनकी आग

उपर्युक्त कथन बिल्कुल सत्य है । मानसिक सुख संसारमें बड़ी तपस्यासे प्राप्त होता है । उसे पाना सहल है, यदि हमको सत्संग प्राप्त हो । आज यूरोपकी दशा देखिये ! क्या हिटलर सुखी है ? उसके मनपर कितना बड़ा बोझ है ! उसने अपने राष्ट्रमात्रको तृष्णा-से पागल बना रक्खा है । क्या मुसोलिनी सुखी है ! वह रात-दिन पराया राज्य जीतनेका प्रयास करता रहता है । क्या ब्रिटेनका प्रधान मन्त्री सुखी है ? उसे अपने पापसे कमाये राज्यको बचाकर रखनेकी बड़ी चिन्ता है । क्या जापानका शासक प्रसन्न है ? क्या धनान्ध अमेरिका सुखी है ? आप अच्छी तरहसे सोचिये कि इनमेंसे कोई भी सुखी या प्रसन्न है अथवा नहीं ? विचार करनेसे आपको ज्ञात होगा, आप स्वयं समझ जायँगे कि जरूर इन सभीके मनमें एक ऐसी भयंकर आग जल रही है, जिससे इनका और इनके राष्ट्रमात्र-का शरीर झुलस रहा है । इनके पास किसी पूर्वजन्मकी तपस्याके कारण अधिकार है, धन है, बल है; पर इनके शरीरका रोम-रोम दूसरोंसे कुछ छीननेके लिये या अपना कुछ छिन जानेके भयसे पीड़ित है, मस्त है । क्या आप इनके ऐसा सुख चाहते हैं ? बड़े-बड़े वैज्ञानिक खोज करनेवाले पण्डित एक पुर्जा बनाते हैं, दूसरा बनाते हैं—वे बनाते ही चले जाते हैं, उनका काम पूरा नहीं होता । कोई दो आदमी मारनेवाला, कोई दो सौ मारनेवाला, कोई दो हजार मारनेवाला बमका गोला बना रहा है; पर किसीको यह ज्ञात नहीं है कि कितनोंकी जान लेनेके बाद उसका उद्देश्य पूरा होगा, इसलिये हरेक ऐसी खोजमें है जिससे संसारकी समूची सृष्टि ही स्वाहा हो जावे ! एक देश कहता है कि विवाहकी प्रणाली ही गलत है, जिसे जो मनमें आवे करे । दूसरा देश कहता है कि विवाह करना चाहिये । इस प्रकार रूस और जर्मनी दोनों दो प्रकारके प्रयोग कर रहे हैं । फ्रांसको फिक्र है कि सुन्दरियाँ चेहरेकी हिफ़ाजत कम करें और सन्तान उत्पन्न करें, चीनमें फिक्र है कि सन्तान कम पैदा हों तो पेट भरनेका सवाल हल हो जावे । इस प्रकार चारों ओर प्रयोग हो रहे हैं और हम भारतीय अपने प्राचीन महा पुरुषोंको पुराने खूसट समझकर स्वयं भी ऐसे प्रयोगोंमें हाथ बटाना चाहते हैं । यही बड़े खतरे-की बात है ।

मानसिक सुखका महत्त्व

सुखकी कोई परिभाषा नहीं । किसीको चोरीमें, दया करनेमें, पाप करनेमें सुख मिलता है; किसीको नेकी करनेमें । पर आप जब चाहें किसी चोरसे पूछ लें, वह चोरी करनेमें जितना ही सुख पाता है उतना ही भीतरसे कोई चीज उसे काटती है, मना करती है, धिक्कारती है । बुढ़ापेमें वेश्या केवल पाखण्ड करनेके लिये ही तपस्विनी नहीं हो जाती, बल्कि वह अनुभव करने लगती है कि उसका यौवनका पाप गलती था, भूल था । मनका सुख कितना महान् होता है, इसका केवल उदाहरण ही दे देना काफ़ी न होगा । कुछ प्रत्यक्ष अनुभव भी करना चाहिये । यों तो शास्त्रवचन है कि—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।

मन ही मनुष्यके बन्धन और मोक्षका कारण होता है । यदि मन साफ़ और सुखी है तो मनुष्य भी संसारकी नौकाको पार कर ले जायगा । यदि उसीको राग लगा है, वह मैला हो रहा है, तो फिर संसारका कोई भी भौतिक-तथा पार्थिव अभ्युदय उसे सुखी नहीं कर सकता । मानसिक सुख तो उसे मिलता है जिसके लिये—

धैर्यं यस्य पिता क्षमा च जननी
शान्तिश्चिरं गेहिनी ।
सत्यं सूनुरयं दया च भगिनी
भ्राता मनःसंयमः ॥

अर्थात् धैर्य जिसका पिता हो, क्षमा जिसकी माता हो, शान्ति जिसकी गृहिणी हो, सत्य जिसका पुत्र हो, दया जिसकी बहिन हो और जिसका भाई उसका मनःसंयम हो········ऐसा व्यक्ति वास्तवमें सुखी है, सन्तोषी है और वही संसारमें सबसे सफल, सबसे महान् और सबसे अधिक सम्पन्न है । जो दूसरेके विनाश या पतनमें, दूसरेके बाल-बच्चोंको भूखों मारकर स्वयं अपना पेट भरनेमें प्रसन्न रहता है, उस अभागेको कभी सुख मिलेगा ही नहीं, क्योंकि वह सृष्टिके साधारण नियमका अनादर कर रहा है । जो यह भी नहीं जानता कि सबकी आत्मा एक है, सबमें एक ही सच्चिदानन्द भगवान् विराजमान हैं, हर एकका शरीर भिन्न, पर प्राण एक है—वही किसीको पराया समझेगा, कष्ट देगा । पर एक आदमीका गला काटनेसे अपने गलेमें भी छेद होता है, एकका हनन करना, एकके परिवारको कष्ट देना अपनी आत्माको भी वज्राघातसे पीडित करना है—यह बात जो समझ लेता है, वही मानसिक सुख भोग सकता है । जिस प्रकार आकाशमें एक चन्द्रमा नदीकी लहरोंमें हजारों चन्द्रमाके रूपमें प्रतिविम्बित होता है, उसी प्रकार परब्रह्मके प्रतिविम्बस्वरूप भवसागरके हम सब प्राणी हैं । फिर परस्परका राग-द्वेष कैसा ! इसीलिये महात्मा गांधीका भारतके लिये यह सिद्धान्त बहुत ही सुन्दर है कि—'स्वराज्य तो जरूर लेना पर अँग्रेजोंके प्रति राग या द्वेष रखकर नहीं । हम और वे अभिन्न हैं । वे हमको पराधीन रखकर ऐसा पाप कर रहे हैं जिससे हमारी उनकी आत्माका हनन होता है । इसलिये स्वराज्यद्वारा हम उनको उस पापसे बचाना चाहते हैं ।'

और अगर मान लीजिये कि आपने सबको दबाकर, सबको कुचलकर परम शक्ति प्राप्त कर ली तो भी क्या होगा ? रावण और महिषासुर, कंस और वृत्रासुर, इनको भी अपनी महाशक्तिके कारण प्राणसे हाथ धोना पड़ा । हैनिबल, सीजर, नेपोलियन—किसीका जमाना न रहा । महाविजयी सिकन्दर भी अपने साथ क्या ले गया ?

लाया था क्या सिकन्दर, दुनियाँसे ले चला क्या !
थे हाथ दोनों खाली, बाहर कफनके निकले !!

यही दशा संसारकी है । फिर भी मन नहीं मानता

और इधर-उधर चक्कर लगाया करता है । यही प्रभुकी माया है—

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।

किन्तु प्रभुने हमें सचेत करनेके लिये काफी कह दिया है । वे हमें काफी समझा चुके हैं कि अपने समान हरेक प्राणीसे प्रेम करो । परायी स्त्री या पराये द्रव्यको आँख उठाकर देखो भी नहीं । इससे कुछ भी लाभ न होगा । जब तुम परायी चीज़पर आँख डाल सकते हो, तो दूसरा भी तुम्हारे साथ वही कर सकता है । इसलिये तुमको अपहरण ही नहीं करना है, आत्मरक्षा भी करनी है ! इस संघर्षका कहाँपर अन्त होगा ! कवि कहता है—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता-
स्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः ।
कालो न यातो वयमेव याता-
स्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः ॥

'इस संसारके भोग नहीं समाप्त होते, हमीं समाप्त हो जाते हैं । तपस्या नहीं समाप्त होती, हमीं समाप्त हो जाते हैं । समय नहीं जाता, हमीं चले जाते हैं । और तृष्णा नहीं बूढ़ी होती, हमीं बूढ़े हो जाते हैं ।' भर्तृहरिका दूसरा श्लोक है—

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयं
मौने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम् ।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयं
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम् ॥

अर्थात् भोगमें रोगका भय रहता है, कुलवान्को कुलकी मर्यादाके नाशका भय रहता है, धनीको राजाका डर है, मौनीको भूखों मरनेका भय है, बलवान्को शत्रुका भय है, सुन्दरताको बुढ़ापेका डर है, विद्वान्को वादविवादका, गुणीको दुष्टका, शरीरको यमराजका—इस प्रकार संसारकी हरेक वस्तुमें भय है; यदि कोई वस्तु निर्भय है तो वह वैराग्य है ।

वैराग्यका अर्थ घर-द्वार छोड़कर गेरुआ धारण कर लेना ही नहीं है । जो भी वीतराग हो, स्थितप्रज्ञ हो, सुख-दुःखमें समान रहता हो, वही वैरागी है ।

जीवनका साधारण खेल

सुख-दुःख जीवनका साधारण खेल है । उसमें पागल होनेकी कौन-सी बात है ! ध्यान रखिये कि यदि आप इस समय हँस रहे हैं तो आपसे बहुत नज़दीक कहीं कोई रो रहा होगा । इसी प्रकार अगर मैं रो रहा हूँ तो दूरपर कोई हँस भी रहा है । एकके यहाँ शादी और दूसरेके यहाँ गमी-यह तो मामूली बात है । आज हँसना है तो कल ज़रूर रोना है । आज मैं हँसता हूँ तो शायद किसीको रुलाकर ! या मेरे सुखकी हँसी मेरे हृदयके भीतरकी धधकती आगको छिपानेकी चेष्टामात्र हो । इसलिये सुख-दुःखकी लम्बी व्याख्या कर मानसिक सुखकी हत्या करनेसे क्या लाभ !

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा ।

अपनेको सुखी और दुखी करनेवाले हम स्वयं हैं । कोई दूसरा हमको कष्ट दे सकता है, यह ग़लत बात है । फिर भी यदि मन नहीं मानता और वह भटकना चाहता है और दूसरेसे राग-द्वेष करना चाहता है, तो क्या कहा जाय—

न कोई दोस्त है अपना, न दुश्मन है कोई याँ पर ।
अबस दिलमें किसीसे है कहीं मेहरोंकी है आयाँ !!

इस दुनियामें न तो कोई दोस्त है, न दुश्मन ! बेकार किसीसे राग और द्वेष क्यों रखते हो ? अगर हम राग-द्वेष रखना बन्द कर दें तो जिस सन्तोषकी बात मैंने पहले कही थी, उसकी प्राप्तिमें कोई देर न रहे ।

मनुष्यकी शक्तियाँ सीमित होती हैं । अपने कार्यका लक्ष्य भी सीमित रखना बुरा नहीं है । यदि एक

आदमी विश्वविजयी बनना चाहता है तो वह भले ही उसके लिये प्रयास करे, पर यदि वह चाहता है विश्वविजयी बनना और चेष्टा करता है कि विश्वप्रेमी भी बनूँ तो दोनों बातें नहीं हो सकतीं। आज यूरोपकी अशान्तिका प्रधान कारण यह है कि यूरोपवासी यही नहीं जानते कि उनके जीवनका लक्ष्य क्या है—धन कमाना, मौज करना, पराया राज्य हड़पना और विनाशके साधन ढूँढ़ना। ये कार्य आज युगोंसे चले आ रहे हैं और कभी भी समाप्त नहीं हुए। इसी प्रकार जीवन भी इन्हीं कार्योंके स्वप्नोंमें समाप्त हो जाता है। जीवन एक विकट पहेली है—पर इसको सुलझानेका सबसे सीधा और सरल उपाय यह है कि—

(१) भगवान्‌में अटल श्रद्धा रक्खे।

(२) राग-द्वेष, सुख-दुःख और पीड़ासे विचलित न हो।

(३) निरुद्यमी न हो; किन्तु जिस किसी भी दशामें रहे, सन्तुष्ट रहे।

यदि आज हम इन तीनों बातोंको अपना लें तो हम अपना और संसारका कितना बड़ा कल्याण कर सकते हैं, यह बात यहाँ संक्षेपमें समझायी नहीं जा सकती। यह तो केवल मनमें समझनेकी बात है। पर इसके लिये, आत्मसन्तोष तथा मनका सुख प्राप्त करनेके लिये, यह नितान्त आवश्यक है कि कभी भी—किसी भी दशामें—मनुष्य दूसरेका अभ्युदय या विकास देखकर जरा भी न जले। एक पश्चिमीय महात्माके इस कथनको याद रक्खे कि 'यदि तुझे एक रोटी मिलती है तो याद रख कि तेरी क़िस्मतमें सिर्फ़ आधी रोटी थी, आधी तो भगवान्‌ने अपने पाससे जोड़ दी है!' बहुत ही दुरुस्त बात है! इसीको और अच्छी तरहसे एक शायर समझाता है—

> ग़ाफ़िल मुक़ाम रश्क नहीं जाये शुक्र है।
> सबसे बुरा तो एकसे बेहतर बना दिया॥

डाह करनेकी—दूसरेकी बढ़तीको देखकर अपना मुकाबला करनेकी जरूरत नहीं है; क्योंकि चाहे तू सबसे बुरी हालतमें क्यों न हो, तुझसे भी ज़्यादा बुरी हालतमें कम-से-कम एक आदमी तो मिलेगा ही।

और एक उर्दू शायर कहता है—

> १—क़ाबिले तारीफ़ क्या तक़सीम मयख़ानेमें है।
> जितनी जिसकी प्यास उतनी उसके पैमानेमें है॥
>
> २—बेश औ कमपर बहस, रिन्दों न करनी चाहिये।
> जो बड़े-से खुममें है, छोटे-से पैमानेमें है॥
>
> ३—मयकशों! मयकी कमी-बेशी पै नाहक जोश है।
> यह तो साक़ी जानता है, किसको कितना होश है॥

कितना साफ़ अर्थ है। यह तो भगवान् जानता है कि किसको कितना होश है, इसलिये कमी-बेशीपर इतने परेशान क्यों हो! शास्त्रवचन है—

'वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः'

थोड़े धनको प्रभूत समझकर प्रसन्न रहो! इसका यह अर्थ नहीं है कि उद्योग न करो—पर अपनी आत्माको दरिद्र और निर्बल न समझकर, उसे महान् और सर्वसम्पन्न समझकर, तृष्णाको न बढ़ने दो; क्योंकि तृष्णाके बढ़नेसे ही संसारकी सब विपत्ति आती है और आज हमारे भारतीय बन्धु यदि पश्चिमीय सभ्यताकी तृष्णा तथा असन्तोषके शिकार बन जायँगे तो उनको जो भयङ्कर कष्ट उठाना पड़ेगा उसकी कोई व्याख्या नहीं की जा सकती। इसलिये अभीसे सतर्क रहना उचित है। सन्तोषकी महत्ताको समझकर सन्तोषी बने रहनेसे जीवनको जो सुख मिलता है, भविष्य जिस प्रकार उज्ज्वल होता है—उसको आँखके सामने रखकर चलनेसे ही हमारा-आपका सबका कल्याण है। अन्यथा हमको भी पश्चिमीय पैशाचिकताका शिकार बनना पड़ेगा। अतएव बन्धुओ! सन्तोषको अपनाओ।

संत-वाणी

१—जबतक मैं-मेरा है, तबतक तुम उल्टी ही राहपर हो। जहाँ निःस्वार्थता और सच्ची श्रद्धा है, वहीं धर्मका बल है।

२—जहाँ उपदेश अधिक होता है, वहाँ गम्भीरता कम होती है। जहाँ गम्भीरता अधिक होती है, वहाँ उपदेश कम होता है।

३—भगवान्‌ने तुम्हारे लिये जो रच रक्खा है, उसका विरोध करना तुम्हारे ओछे स्वभावका परिचयमात्र है।

४—जगत्‌की तमाम चीजोंके रचनेवाले भगवान्‌को प्राप्त करना किसी भी चीजको प्राप्त करनेकी अपेक्षा सहज है; तो भी तुम उससे दुनियावी चीज ही चाहते हो, यह कैसी बात है?

५—जो मनुष्य स्वर्गादि सुखोंके लिये ईश्वरकी पूजा करता है, वह तो अपनी ही पूजा करता है। और जो ईश्वरके लिये ईश्वरकी सेवा करता है, वह भी ईश्वरको जानता नहीं; क्योंकि ईश्वरको न तो तुम्हारे द्वारा सेवा करानेकी जरूरत है, न चाह ही है। जो ईश्वरको प्रेमके लिये पूजता है, जिससे पूजे बिना रहा ही नहीं जाता, वही यथार्थ पूजता है।

६—साधु पुरुषका यह लक्षण है कि वह जिस किसीसे भी मिलता है, बाहरसे ही मिलता है। भीतरसे तो वह सदा ईश्वरसे मिलता रहता है।

७—जो मनुष्य हर हालतमें अपनेको और तमाम वस्तुस्थितियोंको भगवान्‌में ही देखता है, वही तमाम वस्तुओंकी इच्छाका त्याग कर सकता है।

८—अपनी दुनियावी स्थिति और शक्तिपरसे विश्वास उठ जाना भी प्रभुकी महत्त्वपूर्ण सेवा है, क्योंकि ऐसा होनेपर ही मनुष्य ईश्वर-सेवाकी योग्यता प्राप्त करता है।

९—जो भी भक्त या साधु अपने ज्ञान-वैराग्यके लिये मनमें गर्व रखता है, वह तो ज्ञान-वैराग्यका उपहास ही करता है। क्योंकि यदि उसके मनसे संसारकी सत्यता और मोह-ममता निकल जाती तो फिर संसारसे वैराग्य करनेपर उसे जरा भी गर्व क्यों होता? तुम अपने किसी भी वैराग्य या निवृत्तिके लिये क्या गर्व करते हो? ईश्वरके निकट तुम्हारा यह सब कुछ मच्छरकी पाँखके बराबर है।

१०—जिस मनुष्यका मन प्रभु-चिन्तनकी ज्योतिसे प्रकाशित है और जिसमें सदा प्रभुका ही विश्वास भरा है, वही सच्चा ज्ञानी है।

११—इन चार बातोंका पालन करोगे तो तुमसे शुद्ध साधना हो सकेगी। १—भूखसे कम खाना, २—लोकप्रतिष्ठाका त्याग, ३—निर्धनताका स्वीकार और ४—ईश्वरकी इच्छामें सन्तोष।

१२—भोजन अपवित्र होता है तो एकान्तमें भी उत्तम साधना नहीं हो सकती। और ईश्वरके अर्पण किये बिना कोई भी वस्तु पवित्र हो नहीं सकती।

१३—अन्यायसे प्राप्त की हुई वस्तुका उपभोग करनेवाले तमाम अंगोंमें पाप लिपट जाता है। अपनी इच्छा न होनेपर भी ऐसा आदमी पापमें ही डूबता जाता है। जो मनुष्य न्यायपूर्वक मिली हुई पवित्र वस्तुका उपयोग करता है उसके तमाम अंग साधनाके अनुकूल ही बर्तते हैं।

१४—जो सच्ची निवृत्ति चाहता है उसे चाहिये कि वह तमाम पापोंको और उलटी समझको छोड़ दे।

(संकलित)

* कल्याण *

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचारसम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र।

ग्राहक-संख्या———— गोरखपुर————

प्रिय ग्राहक महोदय!

सप्रेम हरिस्मरण।

इससे पहले ज्येष्ठके "कल्याण" द्वारा आपकी सेवामें नये वर्षका मूल्य भेजनेकी सूचना दी जा चुकी है। आपने अबतक इस सालका मूल्य नहीं भेजा हो तो अब तुरन्त भेज दें। क्योंकि जिनका मूल्य कार्यालयमें आ जायगा उनकी सेवामें कल्याण पहले भेजा जायगा।

यदि आप वी० पी० से मँगवाना चाहते हों तो आपको कोई सूचना भेजनेकी विशेष आवश्यकता नहीं है। क्योंकि जिन ग्राहकोंका मूल्य नहीं आवेगा और मनाही भी नहीं आवेगी उनकी "कल्याण" मँगवानेमें सम्मति समझकर समयपर गीतातत्त्वांककी ४≥) की वी० पी० भेज दी जायगी।

यदि इस वी० पी० के साथ "कल्याण" की कोई फाइल या अंकविशेष मँगवाना हो तो लिखनेसे भेजा जा सकता है।

जो सज्जन किसी कारणवश इस वर्ष ग्राहक न रहना चाहते हों वे हमपर कृपा करके इस अङ्कके पाते ही इसी कागजके साथका कार्ड काटकर हमें ग्राहक न रहनेकी सूचना दे दें ताकि उनको वी० पी० नहीं भेजें और उनको एवं अपनेको कष्ट और हानिसे बचा सकें। आपके तीन पैसेके खर्चेसे "कल्याण" की नौ आनेकी बचत होगी।

यदि कार्यालयकी भूलसे आपके रुपया भेज देनेपर भी, या मनाही कर देनेपर भी, या पहले वी० पी० छुड़ा चुकनेपर भी, वी० पी० चली जाय तो कृपया उसे यथासाध्य प्रयत्न करके किसीको ग्राहक बनाकर रख लें। इस थोड़े-से परिश्रमसे कार्यालय कुछ हानिसे बच जायगा।

वी० पी० डाकघरमें सिर्फ ७ दिन रुकती है। उसके छुड़ानेमें देर करनेसे वी० पी० लौट आवेगी और कल्याण-कार्यालयको बेमतलब नुकसान पहुँचेगा, साथ ही आप गीतातत्त्वांकके रहस्यपूर्ण वर्णन पढ़ने और उसके चित्रोंके दर्शन करनेसे वञ्चित होंगे। इसलिये वी० पी० पहुँचते ही छुड़ा लेनी चाहिये।

वी० पी० के विषयमें कुछ पूछना हो तो कल्याणके रैपरपर आपके पतेके पास छपे हुए ग्राहक-नम्बरसहित तुरन्त ही लिखें। नम्बर न लिखनेसे गोलमाल होनेका भय है।

आपका कृपाभिलाषी—

व्यवस्थापक.

सूचना

(१) वी० पी० के रुपये हमें मिलनेपर ही आपका नाम ग्राहक-श्रेणीमें लिखा जाकर अगले अङ्क यथासमय प्रतिमास भेजे जा सकेंगे।

(२) कल्याणके रैपरपर छपे पतेमें किसी भी प्रकार-की भूल हो तो तुरन्त सूचना देनी चाहिये। अन्यथा भविष्यमें अङ्क पहुँचनेमें गड़बड़ी हो सकती है।

(३) कृपया ग्राहक-नम्बर नोट कर लें और पत्र देते समय अवश्य लिखें।

(४) वी० पी० के ऊपरका कवर सँभालकर रक्खें।

यहाँसे काटिये।

श्रीहरिः

ग्राहक नं०———— अवश्य लिखिये!

मैनेजर कल्याण!

गोरखपुर

सप्रेम राम राम। गीतातत्त्वांक वी० पी० से भेजनेकी सूचना मिली।

हम इस वर्ष कल्याणके ग्राहक अवश्य / नहीं रहेंगे। कल्याण का वा० मू० ४≥) मनीआर्डरसे भेजते हैं। वी० पी० द्वारा नहीं भेजें।

भवदीय—

नाम ————

पता ————

————

P. O. ( )

नोट—यदि आपको वी० पी० मँगाना स्वीकार हो तो कार्ड लौटानेकी आवश्यकता नहीं है।

श्रीहरिः

कल्याणके अमूल्य विशेषांक और फाइलें

(कल्याणका वार्षिक मूल्य ४≋) है ।)

१–दूसरे वर्षके कुछ अंक–प्रति अंक ≋) तीन आने । (भगवन्नामांक नहीं है)
२–श्रीभक्तांक पृष्ठ २५०, चित्र ५५ दूसरा नवीन संस्करण मूल्य १॥) सजिल्द १॥।≋)
३–चौथे वर्षके कुछ अंक–प्रति अंक ।) चार आने (गीतांक नहीं है)
४–छठे वर्षके कुछ अंक–प्रति अंक ।) चार आने (कृष्णांक नहीं है)
५–सातवें वर्षके कुछ अंक–प्रति अंक ।) चार आने (ईश्वरांक नहीं है)
६–दशवें वर्षका योगांक ३॥) स० ४) अन्य साधारण कुछ अंक—प्रति अंक ।) चार आने ।
७–११वें वर्षकी फाइल (वेदान्तांकसहित) मूल्य ४≋) दो जिल्दोंमें ५≋)
८–१२वें वर्षकी फाइल (संतांकसहित) मूल्य ४≋) दो जिल्दोंमें ५≋)
९–१३वाँ वर्ष मानसांक प्रथम खण्ड केवल ३॥) स० ४) कुछ साधारण अंक प्रति अंक ।) चार आने।

'Kalyana-Kalpataru' (English Edition of Kalyan) Annual Subscription Rs. 4/8.

10. God-Number (Illustrated Pages 307) Rs. 2/8.
11. Gita-Number (Illustrated Pages 251) Rs. 2/8.
12. Vedanta-Number (Illustrated Pages 248) Rs. 2/8.
13. Divine Name-Number (Illustrated Pages 332) Rs. 2/8.
14. Dharma-Tattva-Number (Illustrated Pages 336) Rs. 2/8.

तीन पैसेका टिकट लगाइये

POST CARD

Kalyan Karyalaya
GORAKHPUR.
U. P.

मैं आपके इन मित्रोंको ग्राहक बनाकर भेजता हूँ। इनका एक वर्षका मूल्य वी० पी० द्वारा वसूल कर लें। मनीआर्डरद्वारा भेजता हूँ।

नाम
पता
P.O.

नाम
पता
P.O.

यदि गीतातत्त्वांककी वी० पी० के साथ "कल्याण" के ऊपर लिखे अंकोंमेंसे कोई मँगवाना हो तो हमें सूचित करनेसे सेवामें भेजा जा सकता है।

मनीआर्डर फार्म

आपका चन्दा भेजनेके लिये मनीआर्डर फार्म ज्येष्ठके अंकमें भेजा जा चुका है। आपके मित्रोंको ग्राहक बनाकर उनका चन्दा भेजनेके लिये जितने फार्म चाहिये, लिखकर मँगवा लेनेकी कृपा करें।

बार-बार विनय

ग्राहक-नम्बर

साल समाप्त होता है। आप नये वर्षका चन्दा भेजें या किसी कारण ग्राहक रहना न चाहें तो 'कल्याण' के गीता-तत्त्वांककी वी० पी० न भेजनेकी सूचना हमें दे दें–दोनों ही बातोंमें आपके पूरे पतेसहित आपका ग्राहक-नम्बर लिखना जरूरी है जो रैपरपर आपके पतेके साथ छपा हुआ है। ग्राहकनम्बर कृपया नोट कर लें।

व्यवस्थापक—
कल्याण, गोरखपुर

* कल्याणके नियम *

उद्देश्य—भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचार-समन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका यत्न करना इसका उद्देश्य है।

नियम

(१) भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वर-परक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। **लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं।**

(२) इसका डाकव्यय और विशेषांकसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ४≈) और भारतवर्षसे बाहरके लिये ६॥≈) नियत है। बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए, पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता।

(३) 'कल्याण' का वर्ष अंगरेजी अगस्त माससे आरम्भ होकर जुलाईमें समाप्त होता है, अतः ग्राहक अगस्तसे ही बनाये जाते हैं। वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं, किन्तु अगस्तके अंकसे। कल्याणके बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते; छः या तीन महीनेके लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते। 'कल्याण' प्रतिमास अंगरेजी महीनेकी पहली तारीखको निकलता है।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें स्वीकारकर प्रकाशित नहीं किये जाते।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका 'कल्याण' न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये। डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें बड़ी अड़चन होगी।

(६) पता बदलनेकी सूचना कम-से-कम १५ दिन पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। **लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम-पता साफ-साफ लिखना चाहिये।** महीने-दो महीनोंके लिये बदलवाना हो तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये।

(७) अगस्तसे बननेवाले ग्राहकोंको रंग-बिरंगे चित्रोंवाला अगस्तका अङ्क (चालू वर्षका विशेषांक) दिया जाता है। विशेषांक ही अगस्त तथा वर्षका पहला अङ्क होता है। फिर जुलाईतक महीने-महीने नये अङ्क मिला करते हैं। 'कल्याण' के सातवें वर्षसे ग्यारहवें वर्षतक भाद्रपद-अङ्क परिशिष्टाङ्करूपमें विशेषांकके अन्तमें प्रतिवर्ष दिया गया है।

(८) चार आना (एक संख्याका मूल्य) मिलनेपर नमूना भेजा जाता है। ग्राहक बननेपर वह अङ्क न लेवें तो।) बाद दिया जा सकता है।

आवश्यक सूचनाएँ

(९) 'कल्याण' में किसी प्रकारका कमीशन या कल्याणकी किसीको एजन्सी देनेका नियम नहीं है।

(१०) पुराने अङ्क, फाइलें तथा विशेषांक कम या रियायती मूल्यमें प्रायः नहीं दिये जाते।

(११) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ **ग्राहक-संख्या** अवश्य लिखनी चाहिये।

(१२) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है।

(१३) **ग्राहकोंको चन्दा मनीआर्डरद्वारा भेजना चाहिये** क्योंकि वी० पी० के रुपये प्रायः देरीसे पहुँचते हैं।

(१४) ग्राहकोंको **वी० पी० मिले, उसके पहले ही** यदि **वे हमें रुपये भेज चुके** हों तो तुरन्त हमें एक कार्ड देना चाहिये और हमारा (फ्री डिलेवरीका) उत्तर पहुँचनेतक वी० पी० रोक रखनी चाहिये, नहीं तो हमें व्यर्थ ही नुकसान सहना होगा।

(१५) प्रेस-विभाग और कल्याण-विभाग अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्र-व्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये।

(१६) सादी चिट्ठीमें टिकट कभी नहीं भेजना चाहिये।

(१७) मनीआर्डरके कूपनपर रुपयोंके तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर, पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये।

(१८) प्रबन्धसम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनीआर्डर आदि **'व्यवस्थापक "कल्याण" गोरखपुर'** के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि **'सम्पादक "कल्याण" गोरखपुर'** के नामसे भेजने चाहिये।

(१९) स्वयं आकर ले जाने या एक साथ एकसे अधिक अङ्क रजिस्ट्रीसे मँगानेवालोंसे कुछ कम नहीं लिया जाता।

(२०) 'कल्याण' गवर्नमेण्टद्वारा यू० पी०, आसाम, बिहार, उड़ीसा, बम्बई प्रेसीडेन्सी और सी० पी० आदि प्रान्तीय शिक्षा-विभागके लिये स्वीकृत है। उक्त प्रान्तोंकी संस्थाओंके सञ्चालकगण (तथा स्कूलोंके हेडमास्टर) संस्थाके फण्डसे 'कल्याण' मँगा सकते हैं।

Regd. No. A. 1724.

गोपी-प्रेम

ग्वालिनी प्रगट्यो पूरन नेहु ।
दधि भाजन सिर पै धरयो री, कहत गोपालहि लेहु ॥
कौन सुने, कासों कहूँ री, काकें सुरत सँकोच ।
काको डर पथ अपथ को री, को उत्तम, को पोच ॥
बाट घाट निज पुर गली, जहाँ तहाँ हरि नाम ।
समझायें समझै नहीं, वाहि सिख दै बिथक्यो गाम ॥
दीपक ज्यों मंदिर बरै, बाहिर लखै न कोय ।
तृन परसत प्रज्वलित भयो, गुप्त कौन बिधि होय ॥
पान कियें जस बारुनी मुख झलकत, तन न सँभार ।
पग डगमग .जित-तित धरै, बिथुरी अलक लिलार ॥
सरिता निकट तड़ाग कें दीनो कूल बिदार ।
नाम मिट्यो, सरिता भई, कौन निबेरै बारि ॥
लज्जा तरल तरंगिनो, गुरुजन गहरी धार ।
दोउ कुल कूल, परमित नहीं, ताहि तरत न लागी बार ॥
बिधि भाजन ओछो रच्यो, लीला सिंधु अपार ।
उलटि मगन तामें भयो, कौन निकासनहार ॥
चित आकरष्यो नंद कें मुरली मधुर बजाय ।
जिहिं लज्जा जग लाजयो, सो लज्जा गई लजाय ॥
प्रेम मगन ग्वालिन भई सूरदास प्रभु संग ।
नयन श्रवन मुख नासिका ज्यों कंचुकि तजत भुजंग ॥